आचार्य श्री उमास्वामी विरचित

मोक्षशास्त्र

अर्थात्

तत्वार्थसूत्र

सटीक

टीका संग्राहक
रामजीभाई माणेकचन्द दोशी एडवोकेट

हिन्दी अनुवादक
पण्डित परमेष्ठीदासजी न्यायतीर्थ
ललितपुर (उ प्र)

प्रकाशक
श्रीमती सोनीदेवी पाटनी
कल्याणमल राजमल पाटनी सिद्धचेतना ट्रस्ट, कलकत्ता
एव
पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट
ए-4 बापूनगर जयपुर

प्रथम छह संस्करण ·	12 हजार 600
(1963 से जुलाई 92 तक)	
सप्तम् संस्करण :	3 हजार
(26 जनवरी 1996)	
कुल योग :	15 हजार 600

मूल्य पचास रुपये

मुद्रक ग्राफिक आर्ट्स प्रिन्टर्स
जयपुर

प्रकाशकीय

आचार्य उमास्वामी द्वारा विरचित 'मोक्षशास्त्र' ग्रंथ के इस अष्टम संस्करण का प्रकाशन करते हुए हमें हार्दिक प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है।

आचार्य उमास्वामी द्वारा रचित इस ग्रंथ का दिगम्बर जैन समाज में महत्वपूर्ण स्थान है। जैन आगमों में संस्कृत भाषा में रचा गया सर्वप्रथम शास्त्र होने से इसका महत्व और भी अधिक बढ गया है। इस ग्रंथ पर आचार्य पूज्यपाद ने सर्वार्थसिद्धि, आचार्य अकलंक देव ने राजवार्तिक एवं विद्यानन्दि ने श्लोकवार्तिक जैसी टीकायें लिखी। जो जैन साहित्य की अद्भुत निधियां हैं। आध्यात्मिकसत्पुरुष पूज्य श्री कानजी स्वामी के प्रवचनों से प्रभावित होकर उनकी छत्रछाया में माननीय श्री रामजीभाई माणकचन्दजी दोशी, एडवोकेट ने आध्यात्मिक दृष्टिकोण से विस्तृत भाष्यरूप टीका गुजराती में तैयार की जिसका हिन्दी अनुवाद पण्डित परमेष्ठीदासजी ने किया। इस ग्रंथ के संदर्भ में विस्तृत जानकारी स्वयं श्री रामजीभाई ने अपनी प्रस्तावना में आगे लिखी है।

श्री रामजीभाई माणकचन्दजी दोशी उन प्रमुख लोगों में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखते थे जिन्हें लम्बे अरसे तक पूज्य श्री कानजीस्वामी का सान्निध्य प्राप्त हुआ। उनके समागम के द्वारा जो ज्ञान उन्होंने प्राप्त किया उसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह तत्वार्थसूत्र की टीका स्वयं है। इसके अतिरिक्त कई स्वतंत्र पुस्तकें भी उनके द्वारा लिखी गई है। श्रीरामजीभाई दीर्घकाल तक दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट सोनगढ के अध्यक्ष रहे हैं। उनके कार्यकाल में सोनगढ में अभूतपूर्व निर्माणकार्य हुए है। तत्वप्रचार की दिशा में उनके द्वारा किये गये कार्य चिरस्मरणीय रहेंगे।

प्रस्तुत प्रकाशन की कीमत कम करने हेतु जिन महानुभावों ने हमें अपना आर्थिक सहयोग प्रदान किया है उनकी सूची आगे के पृष्ठों में प्रकाशित की गई है। हम सभी दान दाताओं का हृदय से आभार मानते हैं। प्रकाशन की सम्पूर्ण व्यवस्था विभाग के प्रभारी श्री अखिल बंसल ने सम्हाली है जिसके लिए वे बधाई के पात्र हैं।

इस अनुपम ग्रंथ के माध्यम से आप अपना आत्मकल्याण कर भव का अभाव करें ऐसी हमारी मंगल भावना है।

अध्यक्ष
श्रीमती सोनीदेवी पाटनी
मन्नालाल रतनलाल पाटनी सिद्धचेतना ट्रस्ट
कलकत्ता

महामंत्री
पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट
जयपुर

प्रस्तुत संस्करण की कीमत कम करने वाले दातारों की सूची

42860 रु. प्रदान करने वाले श्री भगवानजी भाई कचराभाई शाह लन्दन

1000 रु. प्रदान करने वाले : श्रीमती सुधाबेन दुष्यन्त शाह-बम्बई श्री सुरेन्द्रभाई जेठाभाई-सिकन्दराबाद, श्री प्रभाकरभाई कामदार-अहमदाबाद, श्री विजयकुमारजी चिवटे-बेलगांव, श्री माणकचन्दजी लुहाडिया-दिल्ली

600 रु. प्रदान करने वाले श्री सरदारमलजी जैन-बैरसिया

501 रु. प्रदान करने वाले : श्रीमती बसन्तीदेवी ध.प. श्री हरकचन्दजी छावडा- सीकर, श्री मुनेन्द्रभारजी जैन-जयपुर श्री गोपीचन्दजी लखमीचन्दजी पारमार्थिक ट्रस्ट-रतलाम, श्रीमती नलिनी प्रफुल्लकुमारभाई दोशी-बम्बई श्रीमती प्रमिला जैन एवं जैन-जयपुर, गुप्तदान, श्री विनयदक्ष चैरिटेबल ट्रस्ट-बम्बई श्रीशान्तिनाथ सोनाज-अकलूज।

500 रु. प्रदान करने वाले श्रीमती अनूनदेवी ध प भंवरलालजी पहाडिया-कुचामनसिटी, श्री विमलकुमारजी जैन "नीरू केमीकल्स"-दिल्ली, ब्र हीरालालजी खुशालचन्दजी दोशी-माण्डवे, श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मण्डल-कानपुर श्रीमती पुष्पाबेन कान्तिभाई मोटाणी-बम्बई श्रीमती जशवन्तबेन प्रवीणभाई वोरा-बम्बई श्रीमती रूपाबेन देवाग कामदार एवं अनिलभाई-बम्बई श्री हिम्मतलाल हरिलाल शाह-बम्बई, श्रीमती त्रिशलाबाई प्रभाकर सावनी-औरंगाबाद, एक मुमुक्षु -देवलाली श्रीमती जसीबेन दमाणी- सोनगढ, श्री वीरचन्दभाई चतुर्भुजजी अजमेरा, श्री अनन्तभाई कामदार-पूना श्रीमती हीराबेन-इन्दौर, श्री हंसमुखलालजी जेवहरीलालजी गाँधी-सतरामपुर।

301 रु. प्रदान करने वाले : श्री तखतराजजी जैन-कलकत्ता श्रीमती कान्ताबाई ध.प. पूनमचन्दजी छावडा-इन्दौर श्री प्रेमचन्दजी सघवी-जयपुर, श्री राजेन्द्रकुमारजी नरसिंहपुरा-इन्दौर, श्री सुमनचन्दजी विनीतकुमारजी जैन आगरा, श्रीमती कुसुमलता-सेमारी, श्री फूलचन्दजी विमलचन्दजी झांझरी-उज्जैन श्रीमती अचरज निहालचन्दजी- जयपुर।

251 रु. प्रदान करने वाले : श्री देवीलालजी कस्तूरचन्दजी जैन-बम्बई, महिला मुमुक्षु मण्डल -जयपुर, श्री अनन्तकुमारजी पाटनी-रतलाम, स्व.गुलाबचन्दजी वाकलीवाल की पुण्यस्मृति में-जयपुर, श्री राजेशजी विनायका-रतलाम श्री आनन्दीलालजी द्वारा आनन्द मेडिकल-रतलाम, श्री गुलाबचन्दजी जैन-बीना, प्रो कृष्णाराव ए गोसावी-औरंगाबाद, श्री नरेन्द्रकुमारजी जैन-खतौली, ब्र श्रीचन्दजी सुन्दरलालजी जैन -सोनगढ़, श्री प्रेमचन्दजी जैन-सोनीपतसिटी।

250 रु. प्रदान करने वाले . श्री मांगीलालजी पदमचन्दजी पहाडिया-इन्दौर, श्रीमती चन्दनश्री जैन- रायपुर, श्री शान्तिलालजी पाटनी-रतलाम, श्रीमती माणकबाई ध.प. श्री माणकचन्दजी अजमेरा-इन्दौर, स्व.निर्मल रमणीकलालजी घड़ियाली-मोरवी।

201 रु. प्रदान करने वाले : श्री ताराचन्दजी जैन-जयपुर, श्रीमती पानादेवी ध प. श्री मोहनलालजी सेठी-गोहाटी, श्रीमती इन्द्रमणीदेवी ध प. स्व आनन्दीलालजी-रामगढ केन्ट, स्व.श्रीमती उमरावदेवी ध.प. श्री जगनमलजी सेठी-इम्फाल, माफिक ऑफसेट प्रिंटर्स-जयपुर, श्रीमती सुशीलाबाई ध प श्री जवाहरलालजी जैन -विदिशा, श्री हजारीलालजी फूलचन्दजी गोयल-भोपाल, श्रीमती सुशीलाबाई ध प. श्री नन्दनकुमारजी सिंघई-इन्दौर।

151 रु. प्रदान करने वाले : श्री कमल शान्ती, श्री जयन्तीभाई धनजीभाई दोशी-बम्बई, चौधरी फूलचन्दजी जैन द्वारा मनोज एण्ड कम्पनी-बम्बई।

101 रु. प्रदान करने वाले : श्रीमती शशिप्रभा सोनी-जयपुर, श्री हरकचन्दजी नवीनकुमारजी पाटनी-जयपुर, श्रीहुकमचन्दजी छाबड़ा, श्री कन्हैयालालजी मोठिया-रतलाम, श्री मदनलालजी चूडीवाला-रतलाम, श्री महावीरजी छाबड़ा-जयपुर श्रीमती हीराबाई चुन्नीलाल जैन पारमार्थिक ट्रस्ट चन्देरी।

कुल योग 70407 =00

मोक्षशास्त्र हिन्दी टीका

प्रस्तावना

(१) शास्त्र के कर्ता और उसकी टीकाएँ

१ इस मोक्षशास्त्र के कर्ता भगवान श्री उमास्वामी आचार्य हैं। भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव के मुख्य शिष्य थे। श्री उमास्वाति' के नाम से भी वे पहिचाने जाते हैं। भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्य के पश्चात् वे आचार्य पद पर विराजमान हुए थे। वे विक्रम सम्वत् की दूसरी शताब्दी में हो गये हैं।

२ जैन समाज में यह शास्त्र अत्यन्त प्रसिद्ध है। इसकी एक विशेषता यह है कि जैन आगमों में संस्कृत भाषा में सर्वप्रथम इसी की रचना हुई है। इस शास्त्र पर श्री पूज्यपाद स्वामी अकलंक स्वामी और श्री विद्यानन्दि स्वामी जैसे समर्थ आचार्यदेवों ने विस्तृत टीका की रचना की है। श्री सर्वार्थसिद्धि राजवार्तिक श्लोकवार्तिक अर्थप्रकाशिका आदि ग्रंथ इसी शास्त्र की टीकाएँ हैं। बालक से लेकर महापण्डितों तक के लिये यह शास्त्र उपयोगी है। इस शास्त्र की रचना अत्यन्त आकर्षक है। अत्यल्प शब्दों में प्रत्येक सूत्र की रचना है और वे सूत्र सरलता से याद रखे जा सकते हैं। अनेक जैन उन सूत्रों को मुखाग्र करते हैं। जैन पाठशालाओं की पाठ्यपुस्तकों में यह एक मुख्य है। हिन्दी में इस शास्त्र की कई आवृत्तियाँ छप गई हैं।

(२) शास्त्र के नाम की सार्थकता-

३ इस शास्त्र में आचार्य भगवान ने प्रयोजनभूत तत्त्वों का वर्णन बड़ी खूबी से भर दिया है। पथभ्रांत संसारी जीवों को आचार्यदेव ने मोक्षका मार्ग दर्शाया है प्रारम्भ में ही 'सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र की एकता मोक्षमार्ग है'–ऐसा बतलाकर निश्चय सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का वर्णन किया है। इस प्रकार मोक्षमार्ग का प्ररूपण होने से यह शास्त्र 'मोक्षशास्त्र' नाम से पहिचाना जाता है। और जीव–अजीवादि सात तत्त्वों का वर्णन होने से 'तत्त्वार्थसूत्र' नाम से भी प्रसिद्ध है।

(३) शास्त्र के विषय-

४ यह शास्त्र कुल १० अध्यायों में विभक्त है और उनमें कुल ३५७ सूत्र हैं। प्रथम अध्याय में ३३ सूत्र हैं उनमें पहले ही सूत्र में निश्चय सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र तीनों की एकता को मोक्षमार्ग रूप से बतलाकर फिर निश्चय सम्यग्दर्शन और निश्चय सम्यग्ज्ञान का विवेचन किया है। दूसरे अध्याय में ५३ सूत्र हैं उसमें जीवतत्त्व का वर्णन है। जीव के पाँच असाधारण भाव, जीव का लक्षण तथा इन्द्रिय योनि जन्म, शरीरादि के साथ के सम्बन्ध का विवेचन किया है। तीसरे अध्याय में ३९ तथा चौथे अध्याय में ४२ सूत्र हैं। इन दोनों अध्यायों में संसारी जीवों को रहने के स्थान रूप अधो मध्य, उर्ध्व–इन तीन लोकों का वर्णन है और नरक तिर्यन्च मनुष्य तथा देव–इन चार गतियों का विवेचन है। पाँचवें अध्याय में ४२ सूत्र हैं और उसमें अजीवतत्त्व का वर्णन है इसलिये पुद्गलादि अजीव द्रव्यों का वर्णन किया है–यह इस अध्याय की मुख्य विशेषता है। छठवें अध्याय में २७ तथा सातवें अध्याय में ३९ सूत्र हैं–इन दोनों अध्यायों में आस्रवतत्त्व का वर्णन है। छठवें अध्याय में प्रथम आस्रव के स्वरूप का वर्णन करके फिर आठों कर्मों के आस्रव के कारण बतलाये हैं। सातवे अध्याय मे शुभास्रव का वर्णन है उसमें बारह व्रतों का वर्णन करके उसका आस्रव के कारण में समावेश किया है। इस अध्याय में श्रावकाचार के वर्णन का समावेश हो जाता है। आठवें अध्याय में २६ सूत्र हैं और उसमें बंधतत्त्व का वर्णन है। बंध के कारणों का तथा उसके भेदों का और स्थिति का वर्णन किया है। नवमें अध्याय में ४७

सो निश्चय मोक्षमार्ग है। और जहाँ जो मोक्षमार्ग तौ है नहीं, परन्तु मोक्षमार्ग का निमित्त है, व सहचारी है, ताकौं उपचारकरि मोक्षमार्ग कहिए, सो व्यवहार मोक्षमार्ग है जातैं निश्चय-व्यवहार का सर्वत्र ऐसा ही लक्षण है। सांचा निरूपण सो निश्चय, उपचार निरूपण सो व्यवहार, तातैं निरूपण अपेक्षा दो प्रकार मोक्षमार्ग जानना। एक निश्चय मोक्षमार्ग है, एक व्यवहार मोक्षमार्ग है। ऐसे दोय मोक्षमार्ग मानना मिथ्या है। बहुरि, निश्चय-व्यवहार दोउनिकूं उपादेय माने है, सो भी भ्रम है। जातैं निश्चय-व्यवहारका स्वरूप तो परस्पर विरोध लिये है।' जातैं समयसार विषै ऐसा कहा है-

'व्यवहारोभूयत्थो भूयत्थो देसिदो दु सुद्धणओ' याका अर्थ-व्यवहार अभूतार्थ है। सत्य स्वरूप को न निरूपे है, किसी अपेक्षा उपचार करि अन्यथा निरूप है बहुरि शुद्धनय जो निश्चय है, सो भूतार्थ है। जैसा वस्तुका स्वरूप है तैसा निरूपे है, ऐसे इन दोउनिको अर्थात् दोनों नयों का स्वरूप तो विरुद्धता लिये है।

प्रवचसार गाथा २७३-७४ मे तथा टीका मे भी कहा है कि 'मोक्षतत्त्व का साधनतत्त्व 'शुद्ध ही है' और वही चारों अनुयोगों का सार है।

१३ निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र तो विरुद्ध है ही, परन्तु निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से व्यवहार सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का स्वरूप तथा फल परस्पर विरुद्ध है, इसलिये ऐसा निर्णय करने के लिये कुछ आधार निम्नोक्त दिये जाते हैं।-

१ श्री नियमसारजी (गुजराती अनुवादित) पृष्ठ स १४६ निश्चयप्रतिक्रमण अधिकार की गाथा ७७ से ८१ की भूमिका

२	नियमसार	गाथा	९१	पृष्ठ	१७३ कलश नं १२२,
३	"	"	९२	"	१७५ टीका
४	"	"	१०६	"	२१५ कलश-१५५ नीचे की टीका.
५	"	"	१२१	"	२४४ टीका,
६	"	"	१२३	"	२४६ टीका,
७	"	"	१२८	"	१५६ से १६० टीका तथा फुटनोट,
८	"	"	१४१	"	२८२ गाथा १४१ की भूमिका

प्रवचनसारजी (पाटनी ग्रंथमाला) में देखो-

९	गाथा	११ टीका पृष्ठ	सं १२-१३
१०	"	४-५ " "	" ७
११	"	१३ की भूमिका तथा टीका पत्र १४-१५	
१२	"	७८ टीका पृष्ठ ८८-८९	
१३	"	९२ टीका पृष्ठ १०४-५	

१४ गाथा १५९ तथा टीका पृष्ठ २०३ (तथा इस गाथा के नीचे पं श्री हेमराजजी की टीका पृष्ठ न २२०) (यह पुस्तक हिन्दी में श्री रायचन्द्रजी ग्रन्थमाला की देखना)

१५ गाथा २४८ तथा टीका पृष्ठ ३०४ (तथा उस गाथा के नीचे पं हेमराजजी की टीका हिन्दी पुस्तक रायचन्द्र ग्रंथमाला की)

१६ गाथा २४५ तथा टीका पृष्ठ ३०१,

१७ गाथा १५६ तथा टीका पृष्ठ २०१

श्री अमृतचन्द्राचार्यकृत समयसारजी कलशों के ऊपर श्री राजमल्लजी टीका (सूरत से प्रकाशित) पुण्य–पाप अधिकार कलश ४ पृष्ठ १०३–४

कलश	५	पृष्ठ	१०४–५
	६	"	१०६ (इसमें धर्मी के शुभभावों को बंध मार्ग कहा है।)
"	८	"	१०८
"	६	"	१०६
"	११	"	११२–११३ (यह सभी कलश श्री समयसार पुण्य पाप अधिकार में हैं वहाँ से भी पढ़ लेना)

योगिन्द्रदेवकृत योगसार गाथा दोहा न ७१ में पुण्य को भी निश्चय से पाप कहा है।
योगिन्द्रदेवकृत योगसार गाथा दोहा न ३२, ३३ ३४ ३७
श्री कुन्दकुन्दाचार्य कृत मोक्षपाहुड गाथा ३१
समाधिशतक गाथा १६
पुरुषार्थसिद्धयुपाय गाथा २२०
पंचास्तिकाय गाथा १६५, १६६–६७–६८–६६
प बनारसीदासकृत नाटक समयसार में पुण्य पाप अधिकार

कलश	१२	पृष्ठ	१३१, ३२
	७	"	१२६ २७
"	८	"	१२७ २८

समयसारजी शास्त्र मूल गाथा टीका गाथा ६६, ७० ७१, ७२ ७४ ६२ गाथा ३८ तथा टीका गाथा २१० २१४ २०६–२०७–२६७ गाथा टीका पढ़ना।

१४५ से १५१, १८१ से १८३ पृष्ठ २६५ (परस्पर अत्यन्त स्वरूप–विपरीतता होने से)

३०६–७ (शुभभाव व्यवहार चारित्र निश्चय से विषकुम्भ) २६७ गाथा में श्री जयसेनाचार्य की टीका में भी स्पष्ट खुलासा है।

श्री मोक्षमार्ग प्रकाशक (देहली सस्ती ग्रंथमाला) पृष्ठ न ४ २७–२८–३२–३३–३४–३७–४०–४१–४२–४४ ३६०–६१, ३६५ से ३७१ (३७१, ३७५, ७६ ७७ पृष्ठ मे विशेष बात है) ३७२ ३७३–७५–७६–७७–६७ ४०७–८, ४५७ ४७१–४२

व्यवहारनय के स्वरूप की मर्यादा

१४–समयसार गाथा ८ की टीका में कहा है कि 'व्यवहारनय म्लेच्छ भाषा के स्थान पर होने से परमार्थ का कहने वाला है इसलिये व्यवहारनय स्थापित करने योग्य है परन्तु वह व्यवहारनय अनुसरण करने योग्य नहीं है।' फिर गाथा ११ की टीका मे कहा है कि व्यवहारनय सब ही अभूतार्थ है इसलिये वह अविद्यमान असत्य अर्थ को अभूतअर्थ को प्रगट करता है शुद्धनय एक ही भूतार्थ होने से सत्य भूत अर्थ को प्रगट करता है। बाद में कहा गया है कि इसलिये जो शुद्धनय का आश्रय लेते हैं वे ही सम्यक अवलोकन करने से सम्यग्दृष्टि हैं दूसरे सम्यग्दृष्टि नहीं हैं। इसलिये कर्मों से भिन्न आत्मा के देखनेवालों को व्यवहारनय अनुसरण करने योग्य नहीं है।'

गाथा ११ के भावार्थ में श्री प जयचन्दजी ने कहा है कि–

प्राणियों को भेदरूप व्यवहार पक्ष तो अनादिकाल से ही है, और इसका उपदेश भी बहुधा सर्व प्राणी परस्पर करते हैं। और जिनवाणी में व्यवहारनय का उपदेश शुद्धनय का हस्तावलम्बन (सहायक) जानकर बहुत किया है, किन्तु उसका फल संसार ही है। शुद्धनय का पक्ष तो कभी आया नहीं और उसका उपदेश भी विरल है,– वह कहीं कहीं पाया जाता है। इसलिये उपकारी श्रीगुरु ने शुद्धनय के ग्रहण का फल मोक्ष जानकर उसका उपदेश प्रधानता से दिया है, कि–'शुद्धनय भूतार्थ है, सत्यार्थ है, इसका आश्रय लेने से सम्यग्दृष्टि हो सकता है, इसे जाने विना जब तक जीव व्यवहार मे मग्न है तब तक आत्मा का ज्ञान–श्रद्धानरूप निश्चयसम्यक्त्व नहीं हो सकता"। ऐसा आशय समझना चाहिये।।११।।

१५–कोई ऐसा मानते हैं कि प्रथम व्यवहारनय प्रगट हो और बादमे व्यवहारनय के आश्रय से निश्चयनय प्रगट होता है अथवा प्रथम व्यवहारधर्म करते करते निश्चयधर्म प्रगट होता है तो वह मान्यता योग्य नहीं है, कारण कि निश्चय–व्यवहार का स्वरूप तो परस्पर विरुद्ध है।

(मोक्षमार्ग प्रकाशक देहली–पृष्ठ स ३६६)

१ निश्चयसम्यग्ज्ञान के बिना जीव ने अनन्तवार मुनिव्रत पालन किये परन्तु उस मुनिव्रत के पालन को निमित्तकारण नहीं कहा गया१, कारण कि सत्यार्थ कार्य प्रगट हुए बिना साधक (निमित्त) किसको कहना?

प्रश्नः–'जो द्रव्यलिगी मुनि मोक्ष के अर्थी गृहस्थपनों छोडि तपश्चरणादि करैं है, तहाँ पुरुषार्थ तो किया, कार्य सिद्ध न भया, तातैं पुरुषार्थ किये तौ कछू सिद्धि नाहीं।

ताका समाधानः—अन्यथा पुरुषार्थकरि फल चाहे, तो कैसे सिद्धि होय? तपश्चरणादिक व्यवहार–साधन विषै अनुरागी होय प्रवर्त्तै, ताका फल शास्त्र विषै तो शुभबन्ध कह्या है, अर बहु तिसतैं मोक्ष चाहै है, तो कैसे सिद्धि होय। अत यहु तौ भ्रम (मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ ४५६ देखो) है।'

२ मिथ्यादृष्टि की दशा मे कोई भी जीव को कभी भी 'सम्यक् श्रुतज्ञान' हो सकता नहीं, जिसको सम्यक् श्रुतज्ञान प्रगट हुआ है उसे ही 'नय' होते हैं, कारण कि 'नय' ज्ञान वह सम्यक् श्रुतज्ञान का अश है अशी बिना अंश कैसा? 'सम्यक् श्रुतज्ञान' (भाव श्रुतज्ञानें) होते ही दोनू नय एक ही साथ होते हैं, प्रथम और पीछे ऐसा नहीं है, इसप्रकार सच्चे जैनधर्मी मानते हैं।

३ वस्तुस्वरूप तो ऐसा है कि चतुर्थ गुणस्थान से ही निश्चय सम्यग्दर्शन प्रगट होता है और उसी समय सम्यक् श्रुतज्ञान प्रगट होता है, सम्यक् श्रुतज्ञान मे दोनू नय अंशो का सद्भाव एकी साथ है आगे पीछे नय होते नहीं। निजात्मा के आश्रय से जब भावश्रुतज्ञान प्रगट हुआ तब अपना ज्ञायकस्वभाव तथा उत्पन्न हुई जो शुद्धदशा उसे आत्मा के साथ अभेद मानना वह निश्चय नयका विषय, और जो अपनी पर्याय में अशुद्धता तथा अल्पता शेष है वह व्यवहारनय का विषय है। इस प्रकार दोनो नय एक ही साथ जीवको होते हैं। इसलिये प्रथम व्यवहारनय अथवा व्यवहारधर्म और बाद में निश्चयधर्म ऐसा वस्तुस्वरूप नहीं है?

१६-प्रश्न–निश्चयनय और व्यवहारनय समकक्ष हैं, ऐसा मानना ठीक है?

उत्तरः-नहीं, दोनों नयको समकक्षी मानने वाले एक सम्प्रदाय हैं वे दोनों को समकक्षी और दोनों के आश्रय से धर्म होता है ऐसा निरूपण करते हैं परन्तु श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव तो स्पष्टरूप से कहते हैं कि भूतार्थ के (निश्चय के) आश्रय से ही हमेशा धर्म होता है, पराश्रय से कभी अशमात्र भी सच्चा धर्म (हित) नहीं होता। हाँ, दोनों नयों का तथा उनके विषयों का ज्ञान अवश्य करना चाहिये। गुणस्थान अनुसार जैसे–जैसे भेद आते हैं वह जानना प्रयोजनवान है परन्तु दोनों समान हैं–समकक्ष हैं ऐसा कभी नहीं है, कारण कि दोनों नयों के

विषय मे और फल मे परस्पर विरोध है इसलिये व्यवहारनय के आश्रय से कभी भी धर्म की उत्पत्ति, वृद्धि और टिकाना होता ही नहीं ऐसा दृढ श्रद्धान करना चाहिए समयसारजी में भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव कृत ११वीं गाथा को सच्चा जैनधर्म का प्राण कहा है इसलिये उस गाथा और टीका का मनन करना चाहिये। गाथा निम्नांकित है –

व्यवहारनय अभूतार्थ दर्शित शुद्धनय भूतार्थ है
भूतार्थ के आश्रित जीव सुदृष्टि निश्चय होत है। (काव्य में)

१७-प्रश्न –व्यवहार–मोक्षमार्ग को मोक्ष का परम्परा कारण कहा है वहाँ क्या प्रयोजन है?

समाधान १ सम्यग्दृष्टि जीव अपने शुद्धात्मद्रव्य के आलम्बन द्वारा अपनी शुद्धता बढाकर जैसे–जैसे शुद्धता द्वारा गुणस्थान में आगे बढेगा तैसे–तैसे अशुद्धता (शुभाशुभ का) अभाव होता जायेगा और क्रमश शुभभाव का अभाव करके शुक्लध्यान द्वारा केवलज्ञान प्रगट करेगा ऐसा दिखाने के लिये व्यवहार–मोक्षमार्ग को परम्परा निमित्त कारण कहा गया है। यह निमित्त दिखाने के प्रयोजन से व्यवहारनय का कथन है।

२ शुभभाव ज्ञानी को भी आस्रव (बंध के कारण) होने से वे निश्चयनय से परम्परा भी मोक्ष का कारण हो सकते नहीं। श्री कुन्दकुन्दाचार्य कृत द्वादशानुप्रेक्षा गाथा ५६ में कहा है कि कर्मों का आस्रव करने वाली क्रिया से परम्परा भी निर्वाण प्राप्त हो सकते नहीं इसलिये संसार–भ्रमण के कारण रूप आस्रव को निंद्य जानो।। ५६।।

३ पंचास्तिकाय गाथा १६७ मे श्री जयसेनाचार्य ने कहा है कि– श्री अर्हंतादिमें भी राग छोडने योग्य है' पीछे गाथा १६८ में कहा है कि धर्मी जीवका राग भी (निश्चयनय से) सर्व अनर्थ का परम्परा कारण है।

४ इस विषय में स्पष्टीकरण श्री नियमसारजी गाथा ६० (गुजराती अनुवाद) पृष्ठ ११७ फुटनोट न ३ में कहा गया है कि 'शुभोपयोगरूप व्यवहारव्रत शुद्धोपयोग का हेतु है और शुद्धोपयोग मोक्षका हेतु है ऐसा गिन करके यहाँ उपचार से व्यवहारव्रत को मोक्ष के परम्परा हेतु कहा है वास्तव में तो शुभोपयोगी मुनि के योग्य शुद्ध परिणति ही (शुद्धात्मद्रव्य को आलम्बन करती होने से) विशेष शुद्धिरूप शुद्धोपयोग हेतु होती है इसप्रकार इस शुद्धपरिणति में स्थित जो मोक्ष के परम्परा हेतुपना का आरोप उसके साथ रहा हुआ शुभोपयोग में करके व्यवहारव्रत को मोक्ष का परम्परा हेतु कहने में आता है। परन्तु जहाँ शुद्धपरिणति ही न हो वहाँ रहा हुआ शुभोपयोगमें मोक्ष के परम्परा हेतुपने का आरोप भी कर सकते नहीं कारण कि जहाँ मोक्ष का यथार्थ हेतु प्रगट हुआ ही नहीं–विद्यमान ही नहीं वहाँ शुभोपयोग में आरोप किसका करना?'

५ और पंचास्तिकाय गाथा १५६ (गुज अनुवाद) पृष्ठ २३३–३४ मे फुटनोट न ४ मे कहा है कि–'जिनभगवान के उपदेश में दो नयों द्वारा निरूपण होता है। वहाँ निश्चयनय द्वारा तो सत्यार्थ निरूपण किया जाता है और व्यवहारनय द्वारा अभूतार्थ उपचरित निरूपण किया जाता है

प्रश्न-सत्यार्थ निरूपण ही करना चाहिये अभूतार्थ उपचरित निरूपण किसलिये किया जाता है?

उत्तर जिसे सिंहका यथार्थ स्वरूप सीधा समझमें नहीं आता हो उसे सिंहके स्वरूप के उपचरित निरूपण द्वारा अर्थात् बिल्ली के स्वरूप के निरूपण द्वारा सिंहके यथार्थ स्वरूप की समझ की ओर ले जाता है उसी प्रकार जिसे वस्तु का यथार्थ स्वरूप सीधा समझ में न आता हो उसे वस्तुस्वरूप के उपचरित निरूपण द्वारा वस्तुस्वरूप की यथार्थ समझ की ओर ले जाते हैं। और लम्बे कथन के बदले में संक्षिप्त कथन करने के लिये भी व्यवहारनय द्वारा उपचरित निरूपण किया जाता है। यहाँ इतना लक्ष्य में रखने योग्य है कि–जो पुरुष बिल्ली के निरूपण को ही सिंह का निरूपण मानकर बिल्ली को ही सिंह समझ ले वह तो उपदेश के

ही योग्य नहीं है, उसी प्रकार जो पुरुष उपचरित निरूपण को ही सत्यार्थ निरूपण मानकर वस्तुस्वरूप को मिथ्यारीति से समझ बैठे वह तो उपदेश के ही योग्य नहीं है।

यहा एक उदाहरण लिया जाता है-

साध्य-साधन सम्बन्धी सत्यार्थ निरूपण इस प्रकार है कि-'छठवें गुणस्थान में वर्तती हुई आंशिक शुद्धि सातवें गुणस्थान योग्य निर्विकल्प शुद्ध परिणति का साधन है।' अब, छठवें गुणस्थान में कैसी अथवा कितनी शुद्धि होती है,-इस बात को भी साथ मे समझाना हो तो, विस्तार से ऐसा निरूपण किया जाता है कि 'जिस शुद्धि के सद्भाव में, उसके साथ-साथ महाव्रतादि के शुभ विकल्प हठ रहित, सहजरूप से प्रवर्तन हों वह छठवें गुणस्थान योग्य शुद्धि सातवें गुणस्थान योग्य निर्विकल्प शुद्ध परिणति का साधन है।' ऐसे लम्बे कथन के बदले में ऐसा कहा जाये कि 'छठवें गुणस्थान में प्रवर्तमान महाव्रतादि के शुभ विकल्प सातवें गुणस्थान योग्य निर्विकल्प शुद्ध परिणति का साधन है', तो यह उपचरित निरूपण है। ऐसे उपचरित निरूपण में से ऐसा अर्थ निकालना चाहिए 'महाव्रतादि के शुभ विकल्प (साधन) नहीं किन्तु उनके द्वारा जिस छठवें गुणस्थान योग्य शुद्धि को बताना था वह शुद्धि वास्तव में सातवे गुणस्थान योग्य निर्विकल्प शुद्ध परिणति का साधन है।

६ परम्परा कारण का अर्थ निमित्तकारण है, व्यवहार-मोक्षमार्ग को निश्चय मोक्षमार्ग के लिये भिन्न साधन-साध्यरूप से कहा है, उनका अर्थ भी निमित्तमात्र है। जो निमित्त का ज्ञान न किया जाय तो प्रमाण-ज्ञान होता नहीं, इसलिये जहाँ-जहाँ उसे साधक, साधन, कारण, उपाय, मार्ग, सहकारी कारण, बहिरंग हेतु कहा है वे सभी उस-उस भूमिका के सम्बन्ध में जानने योग्य निमित्त कारण कैसा होता है, उसका यथार्थ ज्ञान कराने के लिये है।

जो गुणस्थान अनुसार यथायोग्य साधकभाव, बाधकभाव और निमित्तो को यथार्थतया न जाने तो वह ज्ञान मिथ्या है। कारण कि उस सम्बन्ध में सच्चे ज्ञानके अभाव में अज्ञानी ऐसा कहता है कि भावलिंगी मुनिदशा नग्न दिगम्बर ही हो ऐसी कोई आवश्यकता नहीं है तो उनकी यह बात मिथ्या ही है, कारण कि भावलिंगी मुनि को उस भूमिका में तीन जाति के कषाय चतुष्टय का अभाव और सर्व सावद्य योगका त्याग सहित २८ मूलगुणों का पालन होते हैं इसलिये उसे वस्त्र का सम्बन्धवाला राग अथवा उस प्रकार का शरीर का राग कभी भी पालन होता ही नहीं ऐसा निरपवाद नियम है, वस्त्र रखकर अपने को जैनमुनि मानने वाले को शास्त्र में निगोदगामी कहा है। इस प्रकार गुणस्थानानुसार उपादान निमित्त दोनों का यथार्थ ज्ञान होना चाहिये। साधक जीवका ज्ञान ऐसा ही होता है जो उस भेद को जानता संता प्रगट होता है। समयसार शास्त्र में गाथा १२ में मात्र, इस हेतु से व्यवहारनय को जानने के लिये प्रयोजनवानपना बताया है।

स्व श्री दीपचन्दजी कृत ज्ञानदर्पण पृष्ठ २६-३० में कहा है कि-याही जगमाहीं ज्ञेय भावको लखैया ज्ञान, ताकौ धरि ध्यान आन काहे पर हेरे है। परके संयोग तैं अनादि दुःख पाये अब, देखि तू सँभारि जो अखंड निधि तेरै है। वाणी भगवानकी कौ सकल निचौर यहै, समैसार आप पुण्यपाप नाहिं नेरै है। यातैं यह ग्रंथ शिव पंथको सधैया महा, अरथ विचारि गुरुदेव यौं परेरै है ।।८५।।

व्रत तप शील संजमादि उपवास किया, द्रव्य भावरूप दोउ बन्ध को करतु हैं। करम जनित तातैं करम को हेतु महा, बन्ध ही कौ करे मोक्षपथ कौं हरतु हैं। आप जैसी होई ताकौं आपकै समान करै, बन्ध ही कौ मूल यातैं बधकौं भरतु हैं। याकौं परम्परा अति मानि करतूति करैं, केई महामूढ भवसिंधु मैं परतु हैं।।८६।। कारण समान काज सब ही बखानतु हैं, यातैं परकियामाहीं परकी धरणि है। याहि तै अनादि द्रव्य किया तौ अनेक करी, कछु नाहिं सिद्धि भई ज्ञान की परणि है। करम को वंस जामैं ज्ञान को न अंश कोउ, बढै भववास

मोक्षपथ की हरनि है। याते परक्रिया उपादेय तौ न कही जाय, ताते सदाकाल एक बन्ध की ढरनि है।।८७।।
पराधीन बाधायुक्त बंध की करैया महा सदा विनाशीक जाको ऐसो ही सुभाव है। बंध उदै रस फल जीमैं चार्यो एक रूप शुभ व अशुभ किया एक ही सभाव है। करम की चेतना मैं कैसो मोक्षपंथ तापै मानै ते मूढ हीए जिनके विभाव है। जैसो बीज होय ताको तैसो फल लगै जहाँ यह जग माहिं जिन आगम कहाव है।।८८।।

शुभोपयोग के समय में सम्यग्दृष्टि की कैसी श्रद्धा है?

९८—श्री प्रवचनसार गाथा ११ में तथा टीका में धर्म–परिणत जीव के शुभोपयोग को शुद्धोपयोग से विरोधी शक्ति सहित होने से स्व–कार्य (चारित्र का कार्य) करने के लिये असमर्थ कहा है हेय कहा है। इससे ऐसा सिद्ध होता है कि–ज्ञानी धर्मी के शुभभाव में भी किंचित भी शुद्धि का अंश नहीं है कारण कि वह वीतरागभावरूप मोक्षमार्ग नहीं है बन्धमार्ग ही है ऐसी बात होने पर भी जहाँ ज्ञानी के (धर्मी के) शुभभाव को व्यवहार मोक्षमार्ग कहा है वह उपचार से कहा है।

प्रश्न: किस अपेक्षा से वह उपचार किया है?

उत्तर—व्यवहारचारित्र के साथ निश्चयचारित्र हो तो वह (शुभभाव) निमित्तमात्र है इतना ज्ञान कराने की अपेक्षा वह उपचार किया है ऐसा समझना।

प्रश्न—उपचार भी कुछ हेतु से किया जाता है तो यहाँ वह हेतु क्या है?

उत्तर—निश्चयचारित्र के धारक जीव को छठवाँ गुणस्थान का वैसा ही शुभराग होता है परन्तु ऐसा व्यवहार से विरुद्ध प्रकार का राग कभी भी होता ही नहीं कारण कि उस भूमिका में तीन प्रकार की कषाय शक्ति के अभाव सहित महामन्द प्रशस्तराग होता है उसे महा मुनि नहीं छूटता जानकर उसका त्याग करते नहीं भावलिंगी मुनियों को कदाचित् मन्दराग के उदय से व्यवहारचारित्र का भाव होता है परन्तु उस शुभभाव को ही हेय जानकर दूर करना चाहते हैं और उस–उस काल में ऐसा ही राग होना सम्भव है–ऐसा राग पुरुषार्थ से (अपनी स्वसन्मुखता की कमजोरी से) आये बिना रहता नहीं किन्तु मुनि उसे दूर से अतिक्रान्त कर जाते हैं। इस हेतु से यह उपचार किया है ऐसा समझना। इसप्रकार सम्यग्दृष्टिके दृढ श्रद्धा होती है।

इस सम्बन्ध में मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ ३७६–७७ में कहा है कि–

"बहुरि नीचली दशाविषै केई जीवनिकै शुभोपयोग अर शुद्धोपयोग का युक्तपना पाइये है। तातैं उपचारिकरि व्रतादिक शुभोपयोगकौं मोक्षमार्ग कह्या है। वस्तु विचारतैं शुभोपयोग मोक्षका घातक ही है। जातैं बंधको कारण सोई मोक्षका घातक है ऐसा श्रद्धान करना। बहुरि शुद्धोपयोग ही कौं उपादेय मानि ताका उपाय करना। शुभोपयोग-अशुभोपयोगकौं हेय जानि तिनके त्याग का उपाय करना। जहाँ शुद्धोपयोग न होय सकै तहाँ अशुभोपयोगकौं छोडि शुभ ही विषै प्रवर्तना। जातैं शुभोपयोगतैं अशुभोपयोग मैं अशुद्धता की अधिकता है।

बहुरि शुद्धोपयोग होय, तब तो परद्रव्य का साक्षीभूत ही रहै है। तहाँ तौ किछू परद्रव्यका प्रयोजन ही नाहीं। बहुरि शुभोपयोग होय, तहाँ बाह्य–व्रतादिककी प्रवृत्ति होय, अर अशुद्धोपयोग होय, तहाँ बाह्य अव्रतादिक की प्रवृत्ति होय। जातैं अशुद्धोपयोग कै अर परद्रव्यकी प्रवृत्ति कै निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध पाइये है। बहुरि पहले अशुभोपयोग छूटि शुभोपयोग होई पीछे शुभोपयोग छूटि शुद्धोपयोग होई ऐसी क्रम परिपाटी है। परन्तु कोई ऐसे मानै कि शुभोपयोग है सो शुद्धोपयोग कौ कारण है जैसे अशुभ छूटकर शुभोपयोग हो है तैसे शुभोपयोग छूटि शुद्धोपयोग हो है। जो ऐसैं ही कार्य कारणपना हो तो शुभोपयोग का कारण अशुभोपयोग ठहरे। (तो ऐसा नहीं है) द्रव्यलिंगी के शुभोपयोग तो उत्कृष्ट ही है शुद्धोपयोग होता ही नाहीं तातैं

परमार्थ तैं इनके कार्य–कारणपना है नाहीं। जैसे अल्परोग निरोग होने का कारण नहीं, और भला नहीं तैसे शुभोपयोग भी रोग समान है भला नही है। (मोक्षमार्ग प्रकाशक देहली पृष्ठ ३७५ से ३७७) सभी सम्यग्दृष्टियो को ऐसा श्रद्धान होता है, परन्तु उसका अर्थ ऐसा नही है कि वे व्यवहारधर्म को मिथ्यात्व समझते हों, और ऐसा भी नही है कि उसे सच्चा मोक्षमार्ग समझते हों।

१६ प्रश्न–शास्त्र में प्रथम तीन गुणस्थानों में अशुभपयोग और ४,५,६ गुणस्थान में अकेला शुभोपयोग कहा है वह तारतम्यता की अपेक्षा से है या मुख्यता की अपेक्षा से है?

उत्तर–वह कथन तारतम्यता अपेक्षा नही है परन्तु मुख्यता की अपेक्षा से कहा है (मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ ४०१ देखो) इस संबध में विस्तार से देखना हो तो प्रवचनसार (रायचन्द ग्रंथमाला) अध्याय ३ गाथा ४८ श्री जयसेनाचार्य की टीका पृष्ठ ३४२ में देखो।

२० प्रश्न–शास्त्र में कई जगह शुभ और शुद्ध ,परिणाम से कर्मो का क्षय होता है ऐसा कथन है, अब शुभ तो औदयिक भाव है– बन्ध का कारण है, ऐसा होने पर भी शुभभाव से कर्मो का क्षय बताने का क्या प्रयोजन है?

उत्तर–(१) शुभ परिणाम रागभाव (मलिन भाव)होने से वे किसी भी जीव के हों सम्यक्दृष्टि के हों या मिथ्यादष्टि के हो किन्तु वे मोहयुक्त उदयभाव होने से सम्यग्दृष्टि का शुभभाव भी बन्ध ही का कारण है, संवर–निर्जरा का कारण नही है और यह बात सत्य ही है, जिसे इस शास्त्र में पृष्ठ ४५७ से ४६२ मे अनेक शास्त्र के प्रमाण द्वारा दिखाया है।

(२) शास्त्र के कोई भी कथन का अर्थ करना हो तो प्रथम यह निर्णय करना चाहिए कि वह किस नय का कथन है? ऐसा विचार करने पर सम्यग्दृष्टि के शुभभावों से कर्मो का क्षय होता है–यह कथन व्यवहारनय का, है, इसलिये उसका ऐसा अर्थ होता है कि वास्तव मे वह शुभ तो कर्म–बन्ध का ही कारण है परन्तु सम्यग्दृष्टि के नीचे की भूमिका में ४ से १० गुणस्थान तक शुद्ध परिणाम के साथ वह भूमिका के योग्य शुभभाव निमित्तरूप होते है, उसका ज्ञान कराना इस उपचार का प्रयोजन है ऐसा समझना।

(३) एक ही साथ शुभ और शुद्ध परिणाम से कर्मो का क्षय जहां पर कहा हो वहां उपादान और निमित्त दोनो उस–उस गुणस्थान के समय होते है और इस प्रकार के ही होते हैं–विरुद्ध नही, ऐसा बताकर उसमें जीव के शुद्धभाव तो उपादान कारण हैं और शुभभाव निमित्त कारण हैं ऐसे इन दो कारणों का ज्ञान कराया है, उसमे निमित्त कारण अभूतार्थ कारण है–वास्तव मे कारण नहीं है इसलिये शुभ परिणाम से कर्मो का क्षय कहना उपचार कथन है ऐसा समझना।

(४) प्रवचनसार(पाटनी ग्रथमाला) गाथा २४५ की टीका पृष्ठ ३०१ मे ज्ञानी के शुभोपयोगरूप व्यवहार को आश्रव ही कहा है, अत उनसे संवर लेशमात्र भी नही है।

श्री पंचास्तिकाय गाथा १६८ में कहा है कि 'उससे आस्रव का विरोध नहीं हो सकता' तथा गाथा १६६ में भी कहा है कि 'व्यवहारमोक्षमार्ग वह सूक्ष्म परसमय है और वह बन्ध का हेतु होने से उसका मोक्षमार्गपना निरस्त किया गया है। गाथा १५७ तथा उसकी टीका में शुभाशुभ परमचारित्र है बंध मार्ग है मोक्षमार्ग नहीं है।'

५ इस सम्बन्ध में खास लक्ष्य में रखने योग्य बात यह है कि पुरुषार्थसिद्धयुपाय शास्त्र की गाथा १११ का अर्थ बहुत समय से कितेक द्वारा असंगत करने में आ रहा है उसकी स्पष्टता के लिये देखो इस शास्त्र के पृ स ४६१।

उपरोक्त सब कथन का अभिप्राय समझकर ऐसी श्रद्धा करनी चाहिये कि-धर्मी जीव प्रथम से ही शुभरागका भी निषेध करते हैं। अत धर्म-परिणत जीव का शुभोपयोग भी हेय है त्याज्य है निषेध्य है कारण कि वह बंध का ही कारण है। जो प्रथम से ही ऐसी श्रद्धा नहीं करता उसे आस्रव और बंध तत्त्व की सत्यश्रद्धा नहीं हो सकती और ऐसे जीव आस्रव को संवररूप मानते हैं शुभभाव को हितकर मानते हैं इसलिये वे सभी झूठी श्रद्धावाले हैं। इस विषय में विशेष समझने के लिये देखो इस शास्त्र के पृ स ४५७ से ४६२।

व्यवहारमोक्षमार्ग से लाभ नहीं है-ऐसी श्रद्धा करने योग्य है

२१-कितेक लोग ऐसा मान रहे हैं कि शुभोपयोग से अर्थात् व्यवहारमोक्षमार्ग से आत्मा को वास्तव में लाभ होता है तो वह बात मिथ्या है कारण कि वे सब व्यवहार मोक्षमार्ग को वास्तव में बहिरंग निमित्त कारण नहीं मानते परन्तु उपादान कारण मानते हैं। देखो श्री रायचन्द्र ग्रंथमाला के पंचास्तिकाय गाथा ८६ में जयसेनाचार्य की टीका।

वहाँ अधर्मास्तिकाय का निमित्तकारणपना कैसे है यह बात सिद्ध करने में कहा है कि 'शुद्धात्म स्वरूपे या स्थितिस्तस्य निश्चयेन वीतरागनिर्विकल्प स्वसंवेदन कारण व्यवहारेण पुनरर्हत्सिद्धादि परमेष्ठि गुणस्मरणं च यथा, तथा जीव पुद्गलानां निश्चयेन स्वकीय स्वरूपमेव स्थितेरुपादान कारण व्यवहारेण पुनरधर्मद्रव्य चेति सूत्रार्थ'। अर्थ-अथवा जैसे शुद्धात्म स्वरूप में ठहरने का कारण निश्चयन से वीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदन ज्ञान है तथा व्यवहारनय से अर्हन्त, सिद्धादि पंच परमेष्ठियों का गुणों का स्मरण है तैसे जीव-पुद्गलों के ठहरने में निश्चयनय से उनका स्वभाव ही उपादान कारण है व्यवहारनय से अधर्म द्रव्य यह सूत्र का अर्थ है।'

इस कथन से सिद्ध होता है कि-धर्म परिणत जीव को शुभोपयोग का निमित्तपना और गतिपूर्वक स्थिर होने वाले को अधर्मास्तिका निमित्तपना समान है और इस कथन से यह बात जानी जाती है कि निमित्त से वास्तव में लाभहित मानने वाले निमित्त को उपादान ही मानते हैं व्यवहारको निश्चय ही मानते हैं अर्थात व्यवहार मोक्षमार्ग से वास्तव में लाभ मानते हैं इसलिये वे सब मिथ्यादृष्टि हैं श्री मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ ३७८ में भी ऐसा कहा है कि-'यह जीव निश्चयाभास को मानै जानैं हैं। परन्तु व्यवहार साधन को भला जानैं हैं व्रतादि रूप शुभोपयोगरूप प्रवर्तै है तातैं अन्तिम ग्रैवेयक पर्यन्त पद कौं पावै हैं। परन्तु ससार का ही भोक्ता रहै हैं।'

केवलज्ञान, क्रमबद्ध क्रमवर्ती

२२-केवलज्ञान सम्बन्धी अनेक प्रकार की विपरीत मान्यतायें चल रही हैं अत उनका सच्चा स्वरूप

क्या है वह इस शास्त्र में पृष्ठ १६६ से १७७ तक दिया गया है उस मूल बात की ओर आपका ध्यान खींचने मे आता है।

१—केवली भगवान आत्मज्ञ हैं, परज्ञ नहीं हैं, ऐसी भी एक झूठी मान्यता चल रही है परन्तु श्री प्रवचनसार गाथा १३ से ५४ तक टीका सहित उनका स्पष्ट समाधान किया है, उनमें गाथा ४८ मे कहा है कि 'जो एक ही साथ त्रैकालिक त्रिभुवनस्थ पदार्थों को नहीं जानता, उसे पर्याय सहित एक द्रव्य भी जानना शक्य नहीं है', बाद में विस्तार से टीका करके अन्त में कहा है कि–'इस प्रकार फलित होता है कि जो सबको नहीं जानता वह अपने को (आत्मा को) नहीं जानता।' प्रवचनसार गाथा ४९ (पाटनी ग्रथमाला) मे भी बहुत स्पष्ट कहा गया है, गाथा पर टीका के साथ जो कलश दिया है वह खास सूक्ष्मता से पढ़ने योग्य है।

शुद्धोपयोग का फल केवलज्ञान है इसलिये केवलज्ञान प्रगट करने के लिये शुद्धोपयोग अधिकार शुरु करते आचार्यदेव ने प्रवचनसार गाथा १३ की भूमिका में कहा है कि 'इसप्रकार यह समस्त (भगवान कुन्दकुन्दाचार्य देव) शुभाशुभोपयोगवृत्ति को अपास्तकर हेय मानकर, तिरस्कार करके, दूर करके शुद्धोपयोगवृति को आत्मसात (अपने रूप) करते हुए शुद्धोपयोग अधिकार प्रारम्भ करते हैं। उसमें शुद्धोपयोग के फल की आत्मा के प्रोत्साहन के लिये प्रशसा करते हैं' कारण कि शुद्धोपयोग का ही फल केवलज्ञान है।

उस केवलज्ञान के सम्बन्ध में विस्तार से स्पष्ट आधार द्वारा समझने के लिये देखो इस शास्त्र के पृष्ठ स १६६ से १७७ तक।

२—प्रवचनसार गाथा ४७ की टीका मे सर्वज्ञ के ज्ञानस्वभाव का वर्णन करते करते कहा है कि–'अतिविस्तार से बस हो, जिसका अनिवारित फैलाव है, ऐसा प्रकाशमान होने से क्षायिकज्ञान अवश्यमेव सर्वदा, सर्वत्र सर्वथा, सर्वको जानता है' इससे ही सिद्ध होते हैं कि सर्वज्ञेयों का सम्पूर्ण स्वरूप प्रत्येक समय में केवलज्ञान के प्रति सुनिश्चित होने से अनादि अनन्त कमबद्ध कमवर्ती पर्याये केवलज्ञानी के ज्ञान मे स्पष्ट प्रतिभासित हैं और वे सुनिश्चित होने से सब द्रव्यों की सब पर्यायें कमबद्ध ही होती हैं, उलटी–सीधी, अगम्य वा अनिश्चित होती ही नहीं।

३—पर्याय को कमवर्ती भी कहने में आता है, उसका अर्थ श्री पंचास्तिकाय की गाथा १८ की टीका में ऐसा किया गया है कि–'क्योंकि वे (पर्यायें) कमवर्ती होने से उनका स्वसमय उपस्थित होता है और बीत जाता है।' बाद में गाथा २१ की टीका में कहा है कि–'जब जीव द्रव्य को गौणता से तथा पर्याय की मुख्यता से विवक्षित होता है तब वह १ उपजता है २. विनष्ट होता है ३ जिसका स्वकाल बीत गया है ऐसे सत् (विद्यमान) पर्याय समूह को विनष्ट करता है और ४ जिसका स्वकाल उपस्थित हुआ है (आ पहुचा है) ऐसे असत् को (अविद्यमान पर्याय समूह को) उत्पन्न करता है।

४. पचाध्यायी भाग १ गाथा १६७–६८ मे कहा है कि–''कम' धातु है जो पादविक्षेप अर्थ मे प्रसिद्ध है' गमन में पैर दाया–बाया कम से ही चलते हैं उलटे कम से नहीं चलते। इस प्रकार द्रव्यों की पर्याय भी कमबद्ध होती है, जो अपने–अपने अवसर मे प्रगट होती है उसमे कोई समय पहिले की पीछे और पीछे वाली पहिले ऐसे उलटी–सीधी नहीं होती अत प्रत्येक पर्याय अपने स्व–समय मे ही कमानुसार प्रगट होती रहती है।

५ पर्याय को कमभावी भी कहने में आता है श्री प्रमेयकमलमार्तण्ड न्यायशास्त्र मे (परोक्ष परिशिष्ट सूत्र ३ गाथा १७–१८ की टीका में) कहा है कि 'पूर्वोत्तर चारिणो कृतिकाशकटोदयादिस्वरूपयो कार्यकारणयो श्चाग्नि धुमादिस्वरूपयो इति। वे नक्षत्रों का दृष्टान्त से भी सिद्ध होता है कि जैसे नक्षत्रों के गमनका कमभावीपना कभी भी निश्चित कमको छोडकर उलटा नहीं होता वैसे ही द्रव्यों की प्रत्येक पर्यायों का उत्पादव्ययरूप प्रवाह का कम अपने निश्चित कम को छोडकर कभी भी उलटा–सीधा नहीं होता परन्तु स्वसमय में उत्पाद होता रहता है।

६ केवली–सर्वज्ञ का ज्ञानके प्रति सर्वज्ञेयो–सर्वद्रव्यो की त्रिकालवर्ती सर्व पर्याये ज्ञेयपना से निश्चित ही हैं और कमबद्ध हैं उसकी सिद्धि करने के लिये प्रवचनसार गाथा ९९ की टीका में बहुत स्पष्ट कथन है–(विशेष देखो पाटनी ग्रंथमाला द्वारा प्रकाशित प्रवचनसार गाथा) –

गाथा	१०	पृष्ठ	१२	टीका और भावार्थ
"	२३	"	२७–२६	
"	३०	"	४४	"
	३८	"	४५	
"	३९	"	४६	
"	४१	"	४८	"
"	४८–४९		५५ से ५८	
	५१	"	५९	"
	८१	"	१२४-२६	"
"	११३	"	१७७–७८	"
	२००	"	२४३	"

७ श्री समयसारजी शास्त्र की टीका में कलशों की राजमलजी कृत टीका (सूरत से प्रकाशित) में पृष्ठ १० में कहा है कि ताकौ ब्योरो–"यह जीव इतना काल बीत्या मोक्ष जासी इसी न्योपु (नोंध) केवलज्ञान माहे छै।"

८. अवधिज्ञानी, मनःपर्ययज्ञानी भी भविष्य की पर्यायों को निश्चित रूप से स्पष्ट जानते ही हैं और नक्षत्रो सूर्य चन्द्र तथा ताराओं की गति, उदय–अस्त, ग्रहणकाल आदि को निश्चितरूप से अल्पज्ञ जीव भी जान सकते हैं तो सर्वज्ञ वीतरागी पूर्णज्ञानी होने से सर्वद्रव्यों की सर्व पर्यायों को निश्चितरूप से कैसे नहीं जान सकता? अवश्य जानता ही है।

९ इस कथन का प्रयोजन–स्वतंत्र वस्तुस्वरूप का ज्ञान द्वारा केवलज्ञानस्वभावी अपनी आत्मा का जो पूर्णस्वरूप है उसका निश्चय करके सर्वज्ञ वीतराग कथित तत्वार्थो का वास्तविक श्रद्धान कराना और मिथ्या श्रद्धा छुडाना चाहिए। कमबद्ध के सच्चे श्रद्धान में कर्तापने का और पर्याय का आश्रय से छूटकर अपना त्रैकालिक ज्ञातास्वभाव की दृष्टि और आश्रय होता है उसमें स्वसन्मुख ज्ञातापने का सच्चा पुरुषार्थ स्वभाव काल नियत और कर्म इन पाँचों का समूह एक ही साथ होता है यह नियम है। ऐसा अनेकान्त वस्तु का स्वभाव है ऐसा श्रद्धान करना, कारण कि उसकी श्रद्धा किये बिना सच्ची मध्यस्थता आ सकती नहीं।

२३–तत्वज्ञानी स्व पं श्री बनारसीदासजी ने 'परमार्थ वचनिका में ज्ञानी–अज्ञानी का भेद समझने के लिये कहा है कि–

१ अब मूढ तथा ज्ञानी जीव की विशेषणो और भी सुनो,–ज्ञाता तो मोक्षमार्ग साधि जानै, मूढ मोक्षमार्ग न साधि जानै, काहे–यातैं सुनो–मूड जीव आगमपद्धति को व्यवहार कहे, अध्यात्मपद्धति को निश्चय कहे तातैं आगम अग एकान्तपनो साधिकै मोक्षमार्ग दिखावे, अध्यात्म अंग को व्यवहार से (भी) न जानै, यह मूढदृष्टि को स्वभाव याही याही भाँति सूझैं काहे तैं?–यातैं जू–आगम अंग बाह्य कियारूप प्रत्यक्ष प्रमाण है, ताकौ स्वरूप साधिवो सुगम। ताव बाह्यकिया करतो संतो आपकूं मूड जीव मोक्ष को अधिकारी मानै, (परन्तु) अन्तरगर्भित अध्यात्मरूप किया सौ अन्तरदृष्टि ग्राह्य है सो किया मूड जीव न जाने। अन्तरदृष्टि के अभावसौं अन्तरकिया दृष्टिगोचर आवे नाहीं तातैं मिथ्यादृष्टि जीव मोक्षमार्ग साधिवे को असमर्थ है।

२. अथ सम्यग्दृष्टि को विचार सुनो-

सम्यग्दृष्टि कहा कौन सो सुनो–सशय, विमोह, विभ्रम ऐ तीन भाव जामें नाहीं सौ सम्यग्दृष्टि। सशय, विमोह, विभ्रम कहा–ताको स्वरूप दृष्टान्त करि दिखायतु है सो सुनो–जैसैं च्यार पुरुष काहु एकस्थान विषै ठाढे। तिन्हैं चारि हूँ के आगे एक सीपको खण्ड किन्ही और पुरुषनै आनि दिखायो। प्रत्येक एँ प्रश्न कोनौ कि यह कहा है? सीप है कै रूपौ है, प्रथम ही एक पुरुष सशैवालो बोल्यो–कछु नाहीं परत, किधौं सीप है किधौं रूपौ है मोरी दिष्टिविषै याको निरधार होत नाहि नै। भी दूजो पुरुष विमोहवालो बोल्यो कि कछू मोहि यह सुधि नाहीं कि तुम सीप कोनसौं कहतु है रूपो कौनसौं कहतु है मेरी दृष्टिविषै कछु आवतु नहीं तातै हम नांहिनै जानत कि तू कहा कहतु है अथवा चुप है रहे बोले नाहीं गहलरूप सौं। भी तीसरो पुरुष विभ्रमवालो बोल्यो कि–यह तो प्रत्यक्ष प्रमान रूपौ है याको सीप कौन कहै मेरी दृष्टिविषै तो रूपो सूझतु है तातै सर्वथा प्रकार यह रूपो है सो तीनो पुरुष तौ वा सीपको स्वरूप जान्यौ नाहीं। तात तीनो मिथ्यावादी। अब चौथौ पुरुष बोल्यो कि यह तो प्रत्यक्ष प्रमान सीपको खण्ड है यामें कहा धोखो, सीप सीप सीप, निरधार सीप, जाको जु कोई और वस्तु कहै सौ प्रत्यक्ष प्रमाण भ्रामक अथवा अंध, तैसे सम्यग्दृष्टिकौ स्वपरस्वरूपविषै न ससे है, न विमोह, न विभ्रम, यथार्थदृष्टि है तातै सम्यग्दृष्टिजीव अन्तरदृष्टि करि मोक्ष पद्धति साधि जानै। बाह्यभाव बाह्यनिमित्तरूप भानै, सो निमित्त नानारूप है, एकरूप नाहीं, अन्तरदृष्टि के प्रमान मोक्षमार्ग साधै सम्यग्ज्ञान स्वरूपाचरन की कनिका जागै मोक्षमार्ग सांचौ। मोक्षमार्ग कौ साविवौ। यहै व्यवहार शुद्धद्रव्य अकियारूप सो निश्चै। ऐसैं व्यवहार कौ स्वरूप सम्यग्दृष्टि जानै, मूढजीव न जानै न मानै। मूढ जीव बन्ध पद्धति को साधिकरि मोक्ष कहै, सो बात ज्ञाता मानै नाहीं। काहे तैं, यातैं जु बन्ध के साधते बन्ध सधै, मोक्ष सधै नाहीं। ज्ञाता कदाचित् बन्ध पद्धति विचारै तब जानै कि या पद्धतिसौं मेरो द्रव्य अनादिको बन्धरूप चाल्यो आयो है–अब या पद्धतिसों मोह तोरिवो है या पद्धतिको राग पूर्वकी ज्यों हे नर काहे करौ?।

छिनमात्र भी बन्ध पद्धति विषै मगन होय नाहीं सो ज्ञाता अपने स्वरूप विचारै अनुभवै, ध्यावै,गावै,श्रवण करै,नवधा भक्ति ,तप किया अपने शुद्ध स्वरूप सन्मुख होय करि करै। यह ज्ञाता को आचार याही को नाम मिश्रव्यवहार।

(४) अब हेय ज्ञेय उपादेयरूप ज्ञाताकी चाल ताको विचार लिख्यते-

हेय त्यागरूप तौ अपने द्रव्यकी अशुद्धता ज्ञेय-विचाररूप अन्य षट्द्रव्यको स्वरूप उपादेय-आचरनरूप अपने द्रव्यकी शुद्धता, ताकी ब्योरौ-गुणस्थानक प्रमान हेय ज्ञेय उपादेयरूप शक्ति ज्ञाता की होय। ज्यौं ज्यौं ज्ञाताकी हेय ज्ञेय उपादेयरूप वर्धमान होय त्यौं-त्यौं गुणस्थानकी बढवारी कही है गुणस्थानक प्रवान किया। तामैं विशेष इतनी जु एक गुणस्थानकवर्ती अनेक जीव होहिं तौ अनेक रूपको ज्ञान कहिए, अनेकरूपकी क्रिया कहिए। भिन्न-भिन्न सत्ताके प्रवान करि एकता मिलै नाहीं। एक-एक जीव द्रव्य विषैं अन्य अन्यरूप औदयिक भाव होहिं तिन औदयिकभाव अनुसारी ज्ञानकी अन्य अन्यता जाननी। परन्तु विशेष इतनो जु कोऊ जातिको ज्ञान ऐसो न होइ जु परसत्तावलम्बनशीली होइकरि मोक्षमार्ग साक्षात् कहै काहे तैं अवस्था प्रवान (कारण कि अवस्था के प्रमानमें) परसत्तावलम्बक है। जे ज्ञानको परसत्तावलम्बी परमार्थता न कहै जो ज्ञान हो सो स्वसत्तावलम्बनशीली होय ताकै नाऊ ज्ञान। ता ज्ञान (उस ज्ञान) को सहकारभूत, निमित्तरूप नाना प्रकार के औदयिकभाव होहिं तीन्ह औदयिकभावों को ज्ञाता तमासगीर, न कर्ता न भोक्ता, न अवलम्बी तातैं कोऊ यौं कहै कि या भांतिके औदयिकभाव होहिं सर्वथा तौ फलानो गुणस्थानक कहिए सो झूठौ तिनि द्रव्यको स्वरूप सर्वथा प्रकार जान्यौ नाहीं। काहेतैं-यातैं जु और गुण-स्थानककी कौन बात चलावै केवलिके भी औदयिक भावनिकी नानात्वता (अनेक प्रकारता) जानन। केवली के भी औदयिकभाव एकसे होय नाहीं। काहू केवलिको दण्ड कपाटरूप क्रिया उदय होय, काहू केवलिको नाहीं। तौ केवलिविषैं भी उदयकी नानात्वता है तौ और गुणस्थानककी कौन बात चलावै। तातैं औदयिक भाव के भरोसे ज्ञान नाहीं ज्ञान स्वशक्ति प्रवान है। स्व-परप्रकाशक ज्ञानकी शक्ति, ज्ञायक प्रमान ज्ञान, स्वरूपाचरन चारित्र यथानुभव प्रमान यह ज्ञाताको सामर्थ्यपनो।

इन बातनकी ब्योरौ कहाँताई लिखिये, कहाँताई कहिये। वचनातीत इन्द्रियातीत ज्ञानातीत, तातैं यह विचार बहुत कहा लिखहि। जो ज्ञाता होइगो सो थोरो ही लिख्यो बहुत करि समुझैगो जो अज्ञानी होयगो सो यह चिट्ठी सुनैगो सही परन्तु समुझैगो नाहीं। यह वचनिका यथाका यथा सुमति प्रवान केवलिवचनानुसारी [redacted] जो याहि सुनैगो समुझैगो सरदहैगो ताहि कल्याणकारी है भाग्यप्रमाण। इति परमार्थ वचनिका।

२४ समाज में आत्मज्ञान के विषय में अपूर्व जिज्ञासा और जागृति

१. जिसे सत्यकी ओर रुचि होने लगी है जो तत्त्वतत्त्व को समझने और निर्णय करने के इच्छुक है वह समाज, मध्यस्थता से शास्त्रों की स्वाध्याय और चर्चा करके यथार्थ अनेकान्त उपादान-निमित्त, निश्चय-व्यवहार दो नयों की सच्ची व्यवस्था और प्रयोजन तथा मोक्षमार्ग का दो प्रकार से निरूपण हेय-उपादेय और प्रत्येक द्रव्य की पर्यायों की भी स्वतन्त्रता केवलज्ञान और क्रमबद्ध पर्याय आदि प्रयोजनभूत विषयों में उत्साह से अभ्यास कर रहे हैं और तत्त्वनिर्णय के विषय में समाज में विशेष विचारों का प्रवाह चल रहा है ऐसा नीचे के आधार से भी सिद्ध होता है-

२ श्री भारतवर्षीय दिगम्बर जैन संघ मथुरा द्वारा ई. सन् १९५४ में प्रकाशित मोक्षमार्ग प्रकाशक की प्रस्तावना पृष्ठ ९ में शास्त्रीजी ने कहा है कि 'अब तक शास्त्रस्वाध्याय और पारस्परिक चर्चाओं में एकान्त निश्चयी और एकान्तव्यवहारी को ही मिथ्यादृष्टि कहते सुनते आए हैं। परन्तु दोनों नयों का

अवलम्बन करने वाले भी मिथ्यादृष्टि हो सकते हैं। यह आपकी नई और विशेष चर्चा है। ऐसे मिथ्यादृष्टियों के सूक्ष्मभावो का विश्लेषण करते हुए आपने कई अपूर्व बाते लिखी हैं। उदाहरण के लिये आपने इस बात का खण्डन किया है कि मोक्षमार्ग निश्चय–व्यवहाररुप दो प्रकार का है। वे लिखते है कि यह मान्यता निश्चय–व्यवहारलम्बी मिथ्यादृष्टियो की है, वास्तव मे पाठक देखेंगे कि जो लोग निश्चय सम्यग्दर्शन, व्यवहार सम्यग्दर्शन, निश्चय रत्नत्रय, व्यवहार रत्नत्रय, निश्चय मोक्षमार्ग, व्यवहार मोक्षमार्ग इत्यादि भेदो की रात–दिन चर्चा करते रहते है उनके मतव्य से पण्डितजी का मतव्य कितना भिन्न है? इसी प्रकार आगे चलकर उन्होंने लिखा है कि 'निश्चय व्यवहार दोनो का उपादेय मानना भी भ्रम है, क्योंकि दोनों नयो का स्वरुप परस्पर विरुद्ध है, इसलिये दोनो नयो का उपादेयपना नहीं बन सकता। अभी तक तो यही धारणा थी कि न केवल निश्चय उपादेय है और न केवल व्यवहार उपादेय है किन्तु दोनो ही उपादेय है, किन्तु पण्डितजी ने इसे मिथ्यादृष्टियो की प्रवृति बतलाई है।'

आगे पृष्ठ ३० में उद्धरण दिया है कि 'जो ऐसा मानता है कि निश्चयका श्रद्धान करना चाहिये और प्रवृति व्यवहार की करना चाहिये' उन्हे भी मिथ्यादृष्टि बतलाते हैं।

२५. इस शास्त्र की इस टीका के आधारभूत शास्त्र

इस टीका का सग्रह–मुख्यतया श्री सर्वार्थसिद्धि, श्री तत्वार्थ राजवार्तिक, श्री श्लोकवार्तिक, श्री अर्थप्रकाशिका, श्री समयसार, श्री प्रवचनसार, श्री पचास्तिकाय, श्री नियमसार, श्री धवला–जयधवला–महाबंध तथा श्री मोक्षमार्ग प्रकाशक इत्यादि अनेक सत शास्त्रे के आधार पर किया गया है, जिसकी सूची भी इस ग्रथ मे शुरु में दी गई है।

२६. अध्यात्मयोगी सत्पुरुष श्री कानजी स्वामीकी कृपा का फल

मोक्षमार्ग का सत्य पुरुषार्थ दर्शानेदेने वाले, परमसत्य जैनधर्म के मर्म के परगामी और अद्वितीय उपदेशक, आत्मज्ञ, सत्पुरुष श्री कानजी स्वामीसे मैंने इस ग्रथ की पाण्डुलिपी पढ लेने की प्रार्थना की और उन्होने उसे स्वीकारने की कृपा की। फलस्वरूप उनकी सूचनानुसार सुधार करके मुद्रण के लिये भेजा गया। इस प्रकार यह ग्रथ उनकी कृपा का फल है–ऐसा कहने की आज्ञा लेता हूँ। इस कृपा के लिये उनका जितना उपकार व्यक्त करे उतना कम ही है।

२७ मुमुक्षु पाठको से

मुमुक्षुओ को इस ग्रथ का सूक्ष्मदृष्टि से और मध्यस्थरूप से अध्ययन करना चाहिये। सत् शास्त्र का धर्मबुद्धि द्वारा अभ्यास करना सम्यग्दर्शन का कारण है। तदुपरान्त, शास्त्रभ्यास में निम्न बाते मुख्यतया ध्यान मे रखना चाहिये–

१ सम्यग्दर्शन से ही धर्म का प्रारम्भ होता है।

२ निश्चय सम्यग्दर्शन प्रगट किये बिना किसी भी जीव को सच्चे व्रत, सामायिक, प्रतिक्रमण, तप, प्रत्याख्यानादि क्रियाएँ नहीं होती क्योंकि वे क्रियाएँ पाँचवे गुणस्थानमे शुभभावरुप से होती है।

३ शुभभाव ज्ञानी और अज्ञानी दोनो को होता है, किन्तु अज्ञानी जीव ऐसा मानता है कि उससे धर्म होगा, अथवा वह शुभभावरुप व्यवहार करते करते भविष्य मे धर्म होगा, किन्तु ज्ञानियो को वह हेय बुद्धि होने से, उससे ऐसा वे कभी नहीं मानते।

४ पूर्ण वीतरागी दशा प्रगट न हो वहाँ तक पद अनुसार शुभभाव आये बिना नहीं रहते किन्तु उस भाव को धर्म नहीं मानना चाहिये और न ऐसा मानना चाहिए कि उससे क्रमशः धर्म होगा, क्योंकि वह विकार होने से अनन्त वीतराग देवों ने उसे बन्धन का ही कारण कहा जाता है।

५ प्रत्येक वस्तु द्रव्य गुण पर्याय से स्वतंत्र है एक वस्तु दूसरी वस्तु का कुछ कर नहीं सकती परिणमित नहीं कर सकती, प्रेरणा नहीं दे सकती प्रभाव–असर–मदद या उपकार नहीं कर सकती लाभ हानि नहीं कर सकती, मार–जिला नहीं कह सकती सुख–दुख नहीं दे सकती–ऐसी प्रत्येक द्रव्य गुण पर्याय की स्वतन्त्रता अनन्त ज्ञानियों ने पुकार पुकार कर कही है।

६ जिनमत में तो ऐसी परिपाटी है कि पहले निश्चयसम्यक्त्व होता है और फिर व्रत और निश्चयसम्यक्त्व तो विपरीत अभिप्राय रहित जीवादि तत्त्वार्थश्रद्धान है इसलिये ऐसा यथार्थ श्रद्धान करके सम्यग्दृष्टि होना चाहिये।

७ प्रथम गुणस्थान में जिज्ञासु जीवों को ज्ञानी पुरुषों के धर्मोपदेश का श्रवण, उनका निरन्तर समागम, सत्शास्त्र का अभ्यास, पठन–मनन, देवदर्शन, पूजा भक्ति, दानादि शुभभाव होते हैं किन्तु पहले गुणस्थान में सच्चे व्रत–तपादि नहीं होते।

२६ अन्त में मोक्षशास्त्र की गुजराती टीका का हिन्दी अनुवाद करने का कार्य कठिन, परिश्रमसाध्य था उसको पूरा करने वाले श्री पं परमेष्ठीदासजी न्यायतीर्थ धन्यवाद के पात्र हैं।

इस शास्त्र की प्रथमावृत्ति तथा दूसरी आवृत्ति तैयार करने में अक्षरशः मिलान करके जाँचने के कार्य में तथा शास्त्रानुसार स्पष्टता करने के कार्य में प्रेमपूर्वक अपना समय देकर बहुत श्रम किया है इस सहायक के लिये श्री ब्र गुलाबचन्दभाई को आभार सहित धन्यवाद है।

हिन्दी समाज को इस गुजराती मोक्षशास्त्र टीकाका लाभ प्राप्त हो इसलिये इसका हिन्दी अनुवाद करने के लिये तथा दूसरी आवृत्ति के लिये श्री नेमिचन्दजी पाटनी ने पुनः पुनः प्रेरणा की थी और कमल प्रिंटिंग प्रेस में यह शास्त्र सुन्दर रीति से छपाने की व्यवस्था करने के लिये श्री नेमिचन्दजी पाटनी को धन्यवाद है।

इस ग्रंथ का प्रूफरीडिंग शुद्धिपत्र विस्तृत विषय सूची, शब्द सूची आदि तैयार करने का कार्य सावधानी से श्री नेमीचन्दजी बाकलीवाल–मदनगंज ने तथा ब्र गुलाबचन्दजी ने किया है अतः उन्हें भी धन्यवाद है।

रामजी माणेकचन्द दोशी
प्रमुख
श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़

विषय-सूची

सूत्र नम्बर	विषय	पृष्ठ संख्या
	उपसंहार	617 से 621
	अध्याय दसवाँ	
	भूमिका	622
1	केवल ज्ञान की उत्पत्तिका कारण	622
	केवलज्ञान होते ही मोक्ष क्यों नहीं होता है ?	624
2	मोक्ष के कारण और उसका लक्षण	626
	मोक्ष यत्न से साध्य है	627
3-4	मोक्षदशा मे कर्मो के अलावा किसके अभाव होता है ?	628
5	मुक्त जीवों का स्थान	629
6	मुक्त जीव के ऊर्ध्वगमन का कारण	630
7	सूत्र कथित ऊर्ध्वगमन के चारो कारणों के दृष्टान्त	630
8	लोकाग्र से आगे नही जाने का कारण	631
9	मुक्त जीवों मे व्यवहार नय की अपेक्षा से भेद	632
	उपसंहार-मोक्ष तत्त्व की मान्यता सम्बन्धी होनेवाली भूल और उसका निराकरण	635
	अनादि कर्मबन्धन नष्ट होने की सिद्धि	636
	आत्मा के बन्धन की सिद्धि	639
	मुक्त होने के बाद फिर बन्ध या जन्म नही होता	639
	बन्ध जीव का स्वाभाविक धर्म नहीं	640
	सिद्धो का लोकाग्र से स्थानान्तर नही होता	640
	अधिक जीव थोड़े क्षेत्र मे रहते हैं	641
	सिद्ध जीवों के आकार	641
	परिशिष्ट - 1 ग्रन्थ का सारांश	643
	मोक्षमार्ग का दो प्रकार से कथन	643
	व्यवहार मोक्षमार्ग साधन है इसका क्या अर्थ है ?	644
	मोक्षमार्ग दो नहीं	644
	निश्चयमोक्षमार्ग का स्वरूप - व्यवहार मोक्षमार्ग का स्वरूप	644-645
	व्यवहार मुनिका स्वरूप, निश्चयी मुनिका स्वरूप, निश्चयी के अभेदका समर्थन	645
	निश्चय रत्नत्रय की कर्ता, कर्म, करण और सम्प्रदान के साथ अभेदता	647
	अपादान और सम्बन्ध, आधार, क्रिया और गुणस्वरूप के साथ अभेदता	648
	निश्चय रत्नत्रय की पर्याय, प्रदेश और अगुरुलघु स्वरूप के साथ अभेदता	649
	उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वरूप की अभेदता	650
	निश्चय-व्यवहार मानने का प्रयोजन	650
	तत्त्वार्थसार ग्रन्थ का प्रयोजन	651
	इस ग्रन्थ के कर्ता पुद्गल हैं आचार्य नही	651
	परिशिष्ट - 2	653
	प्रत्येक द्रव्य और उसके प्रत्येक समय की पर्याय की स्वतन्त्रता की घोषणा	653
	परिशिष्ट - 3	655
	साधक जीव की दृष्टि को मापने की रीति	655
	अध्यात्मका रहस्य	657
	वस्तुस्वभाव और उसमें किस ओर झुके ?	657
	परिशिष्ट - 4	658
	शास्त्र का संक्षिप्त सार	658

मेरी भावना

अज्ञानतिमिरान्धानां ज्ञानाञ्जनशलाकया ।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥

हम अपनी भावना व्यक्त करने के पहले एवं देव–शास्त्र–गुरु को बारम्बार नमस्कार करने के उपरान्त उन पूज्य गुरुदेव श्री कानजीस्वामी को कोटि–कोटि वन्दन करते हैं, जिन्होंने हम जैसे अनेक मुमुक्षुओं को अज्ञानांधकार से बाहर निकाल कर अनंत–अनंत उपकार किया है, मोक्षमार्ग बताया है।

आज वे हमारे बीच नहीं हैं उनका वियोग हम सब मुमुक्षुओं को असह्य है। अब हमें भगवान कहकर कौन बुलायेगा, पामर को प्रभु कौन कहेगा? स्नेहसिक्त आत्मीय सम्बोधन कौन करेगा? – जब यह विचार आता है तो हृदय भर आता है।

यद्यपि वे आज हमारे बीच नहीं हैं तथापि उनकी वाणी हमें उपलब्ध है, शास्त्रों के रूप में भी और टेपों के रूप में भी। यदि हम चाहें तो उस वाणी के अवगाहन से अपना कल्याण कर सकते हैं। उनकी वाणी में हमारे कल्याण करने की क्षमता है, पर जब हम उसका अवगाहन गहराई से करें, तभी वह वाणी हमारे कल्याण में निमित्त हो सकती है। अपना कल्याण करने की यह पात्रता भी हमें पूज्य गुरुदेव श्री की कृपा से प्राप्त हुई है।

आज समग्र मानव जाति भौतिक सुखों के लिए दौड़ रही है तथा सुविधामयी जीवन के सन्मुख है, ऐसे समय में हे गुरुदेव ! आपने हमें चैतन्यतत्व की महिमा समझायी तथा अन्तर्मुख पुरुषार्थ करने के लिए जागृत करके हमें चतुर्गति से उबार लिया, हम दोनों के ऊपर तथा हमारे परिवार के ऊपर आपका महान उपकार है। आपकी कृपा का पात्र बनकर हम अपने को धन्य अनुभव करते हैं। इस युग में पूज्य गुरुदेव श्री का जन्म मानव समाज के लिए एक आशीर्वाद था। आपने क्रियाकांड की कैद में फंसे हुए प्राणी को जैनधर्म का सच्चा स्वरूप समझाकर उसे क्रियाकांड से मुक्त करके हमें समझाया कि प्रत्येक जीव अपने अन्दर विद्यमान चैतन्यस्वरूप आत्मसत्ताकी अनुभूति करके मोक्षमार्ग प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार आपने भक्तों को भगवान बनने का उपाय बताया है। पू.गुरुदेव श्री के जीवनकाल में अपना जन्म होना अपने भवसागर के तट की निकटता का सूचक है। ऐसे महान गुरु का समागम अनेक जन्मो में संचित पुण्य के उदय से होता है तथा अपने को उनके साथ में रहकर उनकी वाणी सुनकर भवसागर पार होने की देशना का लाभ मिला है यह सब हमें मुक्तिपुरी के पथ पर चलने की प्रेरणारूपी दीपक बनेगा।

सम्वत २०१५ में हमें आध्यात्मिक सत्पुरुष पूज्य गुरुदेव श्री के साथ दक्षिण के तीर्थों की तथा सिद्ध क्षेत्र गिरनार जी की यात्रा करने का शुभ अवसर मिला। इसके पश्चात अनेक बार कुटुम्बी जनों के

हमें सन्मार्ग में लगानेवाले हमारे माता-पिता

हमें धर्ममार्ग में लगानेवाले हमारे पूज्य पिता श्री भगवानजी भाई कचराभाई शाह एवं माता श्री डाहीबेन भगवानजी शाह जब से पूज्य गुरुदेव श्री कानजीस्वामी के सत्समागम में आये, तब से उनके हृदय में सच्चे वीतरागी जिनधर्म की भावना विशेष जागृत हो गई। एक प्रकार से उनका जीवन ही बदल गया। आपने मुम्बासा तथा थाणा में चलनेवाले व्यवसाय से निवृत्ति लेकर पूज्य गुरुदेव श्री के चरण-सान्निध्य में अधिक समय तक रहने के लिए सोनगढ में मकान बनवाया तथा १६ वर्ष तक उनके सत्समागम में रहे। आपने सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के लिए ३० वर्ष तक सत्समागम, अभ्यास और ज्ञान-वैराग्य में यथाशक्ति अपने को लगाए रखा। उनके सोनगढ में रहने का एक उद्देश्य यह भी था कि हम लोग भी बारम्बार सोनगढ आकर आध्यात्मिक और धार्मिक संस्कारों का सिंचन करें और आत्महित के पथ में लगे रहें।

वैसे तो लोक में इस प्रकार की पद्धति है कि माता-पिता के स्वर्गवास के बाद लोग उनकी स्मृति में शास्त्रों का प्रकाशन कराते हैं, प्रकाशन में सहयोग देते हैं, पर हमारे माता-पिता की भावना को देखकर हमें उनके जीवनकाल में ही यह पवित्र कार्य करना उचित लगा। परिणामस्वरूप प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन में महत्वपूर्ण सहयोग दे का संकल्प किया है। यह उनकी पावन प्रेरणा का ही परिणाम है।

उनके उपकारों का स्मरण करते हुए हम उनके बारे में दो शब्द लिखना अपना कर्तव्य समझते हैं।

सन् १९२४ में वावबेराजा (जामनगर) ग्राम के निवासी हमारे पिताश्री १८ वर्ष की उम्र में अपनी आर्थिक स्थिति सुदृढ करने के लिए पूर्व अफ्रीका के किटाले नामक ग्राम में तथा उसके बाद मोम्बासा गये और भरपूर अर्थोपार्जन किया हम सबको उसका उत्तराधिकारी बनाया। यह सब तो ठीक पर उन्होंने जो हमें धार्मिक संस्कार दिये हैं, वह हम सबकी सच्ची और सर्वाधिक महत्वपूर्ण सम्पत्ति है। आपने अपने जीवन में अनेक धार्मिक कार्य सम्पन्न किये हैं।

सर्वप्रथम [illegible] नवम्बर १८५८ में उन्हें जामनगर में दिगम्बर जिन मन्दिर का शिलान्यास करने का लाभ मिला। उनकी भावनानुसार वह जिनमंदिर शीघ्र ही तैयार हो गया और दो वर्ष बाद ही पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी के सान्निध्य में उसका पंचकल्याणक महोत्सव हुआ। आज वह भव्य जिनालय भव्यजनों को आत्माराधना और जिनेन्द्र भक्ति करने का उत्तम धर्मस्थान है।

उसके बाद मोम्बासा (अफ्रीका) में ५ मार्च १८६७ में श्रीमद् राजचन्द्र स्मृतिगृह बनवाया। उसमें सुन्दर सजावट सहित आत्मसिद्धि तथा योगीन्द्रदेव आचार्यकृत योगसार के अनेक दोहे दीवालों पर उत्कीर्ण कराये। उन्हें श्रीमद् राजचन्द्र के वचनामृत के निरन्तर अध्ययन से आत्महित की प्रेरणा मिली थी। इसके

बाद १३ सितम्बर, १९६९ को सोनगढ़ में निर्मित भव्य महावीर कुन्दकुन्द परमागम मंदिर का शिलान्यास करने का अवसर सम्पूर्ण परिवार सहित आपको प्राप्त हुआ।

पूज्य गुरुदेव श्री की आपके प्रति सदैव दयादृष्टि रहती थी और पू. श्री के [illegible] लाभ लिया एवं गहन अध्ययन किया। आपके सोनगढ़ निवास के समय [illegible] पू.गुरुदेव श्री की भवताप शामक मंगल वाणी श्रवण करने का अपूर्व [illegible] था। इस प्रकार हमें हमारे माता-पिता द्वारा जैनधर्म का सत्य स्वरूप समझने को [illegible] भौतिक सुख होते हुए भी आत्मशान्ति के मार्ग पर [illegible] हमें लौकिक और लोकोत्तर सम्पत्ति का उत्तराधिकारी बनाया। [illegible]

इस प्रकार आपने अनेक [illegible] धार्मिक कार्य [illegible] में किए हैं। [illegible] कुटुम्बीजनों को धर्म में लगाया है। अपने [illegible] के घर में भी [illegible] है, जिसमें जिनवाणी के साथ-साथ तीर्थंकरों, आचार्यों के [illegible] गुरुदेवश्री आदि के भी चित्र हैं। मुमुक्षुमण्डल भी हमारे घर ही [illegible] के प्रवचनों के टेप चलते हैं। समय-समय पर विशेष [illegible] होते हैं। जब गुरुदेव श्री नैरोबी पधारे थे, तब वे हमारे घर [illegible] सदा ही असीम कृपा रही है।

वर्तमान में हमारे पिता श्री लन्दन में रहते हैं। [illegible] प्रवचन आदि भी करते हैं।

वीतरागी देव-शास्त्र-गुरु का आश्रय प्राप्त कर [illegible] रहें यही पवित्र भावना है।

हम हैं आपके

पुत्री	पुत्रवधू	पुत्र
चन्द्रमणि	सुशीला	[illegible]
लीलावती	सूर्यकला	[illegible]
मुक्तगौरी	पुष्पा	[illegible]

श्री सर्वज्ञवीतरागाय नमः



श्रीमदाचार्य उमास्वामि-विरचित

मोक्षशास्त्र

गुजराती टीका का हिन्दी अनुवाद

❀ मङ्गलाचरण ❀

मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम् ।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वन्दे तद्गुणलब्धये ॥

अर्थ—मोक्षमार्गके प्रवर्तक, कर्मरूपी पर्वतोंके भेदक अर्थात् नष्ट करनेवाले तथा विश्वके (समस्त) तत्त्वोंके जाननेवाले (आप्त) को उनके गुणोंकी प्राप्तिके हेतु मैं प्रणाम करता हूँ-वन्दना करता हूँ।

संक्षिप्त अवलोकन

(१) इस शास्त्रको प्रारम्भ करनेसे पूर्व संक्षेपमें यह बताना आवश्यक है कि इस शास्त्रका विषय क्या है?

(२) आचार्यदेवने इस शास्त्रका नाम 'मोक्षशास्त्र' अथवा 'तत्त्वार्थसूत्र' रखा है। जगतके जीव अनन्त प्रकारके दुःख भोग रहे हैं और उन दुःखोंसे सदाके लिए मुक्त होने अर्थात् अविनाशी सुख प्राप्त करने के लिये रात-दिन उपाय कर रहे हैं किन्तु उनके वे उपाय मिथ्या होनेसे, जीवोंका दुःख दूर नहीं होता, एक या दूसरे प्रकार दुःख बना ही रहता है। जीव दुःखोंकी परम्परासे क्योंकर मुक्त हों, इसका उपाय और उसका बीजरूपी विज्ञान इस शास्त्रमें बताया गया है, इसीलिये इसका नाम 'मोक्षशास्त्र' रखा गया है।

मूलभूत भूलके विना दुःख नही होता, और उस भूलके दूर होने पर सुख हुये विना नही रह सकता,—यह अबाधित सिद्धान्त है। वस्तुका यथार्थ स्वरूप समझे विना वह भूल दूर नही होती, इसलिये इस शास्त्रमें वस्तुका यथार्थ स्वरूप समझाया गया है, इसीलिये इसका नाम 'तत्त्वार्थसूत्र' भी रखा गया है।

(३) यदि जीवको वस्तुके यथार्थ स्वरूप सम्बन्धी मिथ्या मान्यता [Wrong Belief] न हो तो ज्ञानमे भूल न हो। जहाँ मान्यता सच्ची होती है वहाँ ज्ञान सच्चा ही होता है। सच्ची मान्यता और सच्चे ज्ञान-पूर्वक ही यथार्थ प्रवृत्ति होती है। इसलिए आचार्य देवने इस शास्त्रका प्रारम्भ करते हुए प्रथम अध्यायके पहले ही सूत्रमे यह सिद्धात बताया है कि सच्ची मान्यता और सच्चे ज्ञान-पूर्वक होनेवाली सच्ची प्रवृत्ति द्वारा ही जीव दुःखसे मुक्त हो सकते हैं।

(४) 'स्वयं कौन है' इस सम्बन्धमें जगतके जीवोकी भारी भूल चली आ रही है। बहुतसे जीव शरीरको अपना स्वरूप मानते हैं, इसलिए वे शरीरकी रक्षा करनेके लिए निरन्तर अनेक प्रकारके प्रयत्न करते रहते हैं। जब कि जीव शरीरको अपना मानता है तब जिसे वह समझता है कि यह शारीरिक सुविधा चेतन या जड पदार्थोंकी ओरसे मिलती है उनकी ओर उसे राग होता ही है; और जिसे वह समझता है कि असुविधा चेतन या जड पदार्थों की ओर से मिलती है उनकी ओर उसे द्वेष भी होता ही है। और इस प्रकारकी धारणासे जीवको आकुलता बनी रहती है।

(५) जीवकी इस महान् भूलको शास्त्रमे 'मिथ्यादर्शन' कहा गया है। जहाँ मिथ्या मान्यता होती है वहाँ ज्ञान और चारित्र भी मिथ्या ही होता है, इसलिये मिथ्यादर्शनरूपी भूलको महा पाप भी कहा जाता है। मिथ्यादर्शन भारी भूल है और वह सर्व दुःखों की महान् बलवती जड है,—जीवोको ऐसा लक्ष न होनेसे वह लक्ष करानेके लिए और वह भूल दूर करके जीव अविनाशी सुखकी ओर पैर रखे इस हेतुसे आचार्य देवने इस शास्त्रमे सबसे पहला शब्द 'सम्यग्दर्शन' प्रयुक्त किया है। सम्यग्दर्शनके प्रगट होते ही उसी समय ज्ञान सच्चा हो जाता है, इसलिये दूसरा शब्द 'सम्यग्ज्ञान' प्रयुक्त किया गया है; और सम्यग्दर्शन-ज्ञान पूर्वक ही सम्यक्चारित्र होता है इसलिये 'सम्यक्चारित्र' शब्दको तीसरे स्थान पर रखा है। इस प्रकार तीन शब्दोंका प्रयोग करनेसे कहीं लोग यह न मान बैठें कि—'सच्चा सुख प्राप्त करनेके तीन मार्ग हैं' इसलिये प्रथम सूत्रमें ही यह बता दिया है कि "तीनोंकी एकता ही मोक्षमार्ग है"।

(६) यदि जीवको सच्चा सुख चाहिये है तो पहले सम्यग्दर्शन प्रगट करना ही चाहिये। जगतमें कौन कौनसे पदार्थ हैं, उनका क्या स्वरूप है, उनका कार्यक्षेत्र क्या है, जीव क्या है, वह क्यों दुःखी होता है,—इसकी यथार्थ समझ हो तब ही सम्यग्दर्शन प्रगट होता है, इसलिये आचार्यदेवने दस अध्यायोंमें सात तत्त्वोंके द्वारा वस्तुस्वरूप बतलाया है।

(७) इस—मोक्षशास्त्रके दस अध्यायोंमें निम्नलिखित विषय लिये गये हैं—

१ अध्यायमें—मोक्षका उपाय और जीवके ज्ञानकी अवस्थाओंका वर्णन है।

२ अध्यायमें—जीवके भाव, लक्षण और शरीरके साथ जीवका सम्बन्धका वर्णन किया गया है।

३-४ अध्यायमें—विकारी जीवोंके रहनेके क्षेत्रोंका वर्णन है। इसप्रकार प्रथम चार अध्यायोंमें पहले जीव तत्त्वका वर्णन किया गया है।

५ अध्यायमें—दूसरे अजीव तत्त्वका वर्णन है।

६-७ अध्यायमें—जीवके नवीन विकारभाव (आस्रव) तथा उनका निमित्त पाकर जीवका सूक्ष्म जड़कर्मके साथ होनेवाला सम्बन्ध बताया है। इसप्रकार तीसरे आस्रव तत्त्वका वर्णन किया है।

८ अध्यायमें—यह बताया गया है कि जीवका जड़ कर्मोंके साथ किस प्रकार बन्ध होता है और वह जड़कर्म कितने समय तक जीवके साथ रहते हैं। इसप्रकार इस अध्यायमें चौथे बन्ध तत्त्वका वर्णन किया गया है।

९ अध्यायमें—यह बताया गया है कि जीवके अनादिकालसे न होने वाले धर्मका प्रारम्भ संवरसे होता है, जीवकी यह अवस्था होने पर उसे सच्चे सुखका प्रारम्भ होता है, और क्रमशः शुद्धिके बढ़ने पर विकार दूर होता है, उससे निर्जरा अर्थात् जड़कर्मके साथके बन्धका अंशतः अभाव होता है। इस प्रकार नववें अध्यायमें पांचवां और छट्ठा अर्थात् संवर और निर्जरा तत्त्व बताया गया है।

१० अध्यायमें—जीवकी शुद्धिकी पूर्णता, सर्व दुःखोंसे अविनाशी मुक्ति और सम्पूर्ण पवित्रता—मोक्ष तत्त्व है, इसलिये आचार्य देवने सातवां मोक्ष तत्त्व दसवें अध्यायमें बतलाया है।

(८) मंगलाचरणमें भगवानको 'कर्मरूपी पर्वतोंको भेदनेवाला' कहा है। कर्म दो प्रकारके हैं:—१-भावकर्म, २-द्रव्यकर्म। जब जीव सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रसे भावकर्मरूपी पर्वतोंको दूर करता है तब द्रव्यकर्म स्वयं ही अपने आप हट जाते हैं-नष्ट हो जाते हैं; ऐसा जीवकी शुद्धताका और कर्मक्षयका निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है;—यहाँ यही बताया गया है। जीव जड़कर्मको परमार्थतः नष्ट कर सकता है,—यह कहनेका आशय नहीं है।

(९) मंगलाचरणमें नमस्कार करते हुए देवागमन, समवशरण, चामर और दिव्य-शरीरादि पुण्य-विभूतियोंका उल्लेख नहीं किया गया है, जो तीर्थंकर भगवानके पास होती हैं; क्योंकि पुण्य आत्माका गुण (शुद्धता) नहीं है।

(१०) मंगलाचरणमें गुणोंसे पहचान करके भगवानको नमस्कार किया है। अर्थात् भगवान विश्वके (समस्त तत्त्वोंके) ज्ञाता हैं, मोक्षमार्गके नेता हैं, और उन्होंने सर्व विकारों (दोषों) का नाश किया है,—इसप्रकार भगवानके गुणोंका स्वरूप बतलाकर गुणोंको पहचान करके उनकी स्तुति की है। वैसे निश्चयसे अपनी आत्माकी ही स्तुति की है।



प्रथम अध्याय

निश्चय मोक्षमार्गकी व्याख्या

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः ॥ १ ॥

अर्थः—[सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि] सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र, तीनों मिलकर [मोक्षमार्गः] मोक्षका मार्ग है, अर्थात् मोक्षकी प्राप्तिका उपाय है।

टीका

(१) सम्यक्—यह शब्द प्रशंसावाचक है, जो कि यथार्थताको सूचित करता है। विपरीत आदि दोषोंका अभाव 'सम्यक्' है।

दर्शन—का अर्थ है श्रद्धा, 'ऐसा ही है—अन्यथा नहीं' ऐसा प्रतीति-भाव।

सम्यग्ज्ञान—संशय, विपर्यय और अनध्यवसायरहित अपने आत्माका तथा परका यथार्थज्ञान सम्यग्ज्ञान है।

संशय—'विरुद्धानेककोटिस्पर्शिज्ञानं संशयः'; अर्थात् 'ऐसा है कि ऐसा है' इस-

प्रकार परस्पर विरुद्धतापूर्वक दो प्रकाररूप ज्ञानको संशय कहते हैं, जैसे आत्मा अपने कार्यको कर सकता होगा या जड़के कार्यको ? शुभ रागरूप व्यवहार से धर्म होगा या वीतरागतारूप निश्चयसे ?

विपर्ययः—"विपरीतैककोटिनिश्चयो विपर्ययः", अर्थात् वस्तुस्वरूपसे विरुद्धतापूर्वक 'ऐसा ही है' इसप्रकारका एकरूपज्ञान विपर्यय है, जैसे शरीरको आत्मा जानना।

अनध्यवसायः—'किमित्यालोचनमात्रमनध्यवसायः", अर्थात् 'कुछ है' ऐसा निर्धार-रहित विचार अनध्यवसाय है, जैसे मैं कोई कुछ हूं,—ऐसा जानना।

[विशेष—जीव और आत्मा दोनों शब्द एक ही अर्थमें प्रयुक्त होते हैं।]

सम्यक्चारित्र—(यहाँ 'सम्यक्' पद अज्ञानपूर्वक आचरणकी निवृत्तिके लिये प्रयुक्त किया है।) सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक आत्मामें स्थिरताका होना सम्यक्चारित्र है।

यह तीनों क्रमशः आत्माके श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र गुणोंकी शुद्ध पर्यायें हैं।

मोक्षमार्ग—यह शब्द एकवचन है, जो यह सूचित करता है कि मोक्षके तीन मार्ग नहीं, किन्तु इन तीनोंका एकत्व मोक्षमार्ग है। मोक्षमार्गका अर्थ है अपने आत्माकी शुद्धिका मार्ग, पथ, उपाय। उसे अमृतमार्ग, स्वरूपमार्ग अथवा कल्याणमार्ग भी कहते हैं।

(२) इस सूत्रमें अस्तिसे कथन है, जो यह सूचित करता है कि इससे विरुद्ध भाव जैसे कि राग, पुण्य इत्यादिसे धर्म होता है या वे धर्ममें सहायक होते हैं, इसप्रकारकी मान्यता, ज्ञान और आचरण मोक्षमार्ग नहीं है।

(३) इस सूत्रमें "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि" कहा है, वह निश्चय रत्नत्रय है, व्यवहार रत्नत्रय नहीं है। इसका कारण यह है कि व्यवहार रत्नत्रय राग होनेसे बंधरूप है।

(४) इस सूत्रमें 'मोक्षमार्ग' शब्द निश्चय मोक्षमार्ग बतानेके लिये कहा है—ऐसा समझना चाहिये।

(५) मोक्षमार्ग परम निरपेक्ष है—

"निजपरमात्मतत्त्वके सम्यक् श्रद्धा-ज्ञान-अनुष्ठानरूप शुद्ध रत्नत्रयात्मक मार्ग परम निरपेक्ष होनेसे मोक्षमार्ग है और वह शुद्ध रत्नत्रयका फल निज शुद्धात्माकी प्राप्ति है।"

(श्री कुन्दकुन्दाचार्य कृत नियमसार गाथा २ की टीका)

इस सूत्रमें 'सम्यग्दर्शन' कहा है वह निश्चयसम्यग्दर्शन है—ऐसी बात तीसरे सूत्रसे

सिद्ध होती है, उसीमें निसर्गज और अधिगमज ऐसा भेद कहा है—वह निश्चय सम्यग्दर्शनका ही भेद है। और इस सूत्रकी संस्कृत टीका श्री तत्त्वार्थराजवार्तिकमें जिस कारिका तथा व्याख्या द्वारा वर्णन किया है उस आधारसे इस सूत्र में तथा दूसरे सूत्र मे कथित जो सम्यग्दर्शन है वह निश्चय सम्यग्दर्शन है, ऐसा सिद्ध होता है।

तथा इस सूत्रमे जो "ज्ञान" कहा है वह निश्चय सम्यग्ज्ञान है। अ० १–सूत्र ९ में उसीके पाँच भेद कहे हैं, उसीमें मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान भी आ जाते हैं। इससे सिद्ध होता है कि यहाँ निश्चय सम्यग्ज्ञान कहा गया है।

बादमें इस सूत्रमे 'चारित्राणि' शब्द निश्चयसम्यक्चारित्र दिखानेके लिये कहा है। श्री तत्त्वार्थ रा० वा० मे इस सूत्र कथित सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्रको निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र माना है। क्योंकि व्यवहार सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र (–व्यवहार रत्नत्रय) आस्रव और बंधरूप है, इससे इस सूत्रका अर्थ करने मे यह तीनों आत्माकी शुद्ध पर्याय एकत्वरूप परिणमित हुई है। इसप्रकार शास्त्रकार ने ही बतलाया है—ऐसा स्पष्ट होता है।

पहले सूत्रका सिद्धान्त

(५) अज्ञानदशामें जीव दुःख भोग रहे हैं, इसका कारण यह है कि उन्हें अपने स्वरूपके सम्बन्धमे भ्रम है, जिसे (जिस भ्रमको) 'मिथ्यादर्शन' कहा जाता है। 'दर्शन'का एक अर्थ मान्यता भी है, इसलिये मिथ्यादर्शनका अर्थ मिथ्या मान्यता है। जहाँ अपने स्वरूपकी मिथ्या मान्यता होती है वहां जीवको अपने स्वरूपका ज्ञान मिथ्या ही होता है। उस मिथ्या या खोटे ज्ञानको 'मिथ्याज्ञान' कहा जाता है। जहाँ स्वरूपकी मिथ्या मान्यता और मिथ्या ज्ञान होता है वहाँ चारित्र भी मिथ्या ही होता है। उस मिथ्या या खोटे चारित्रको 'मिथ्याचारित्र' कहा जाता है। अनादिकालसे जीवोंके 'मिथ्यादर्शन–ज्ञान–चारित्र' अपने अपराधसे चले आ रहे हैं, इसलिये जीव अनादिकालसे दुःख भोग रहे हैं।

क्योंकि अपनी यह दशा जीव स्वयं करता है इसलिये वह स्वयं उसे दूर कर सकता है, और उसे दूर करनेका उपाय 'सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र' ही है, दूसरा नहीं,—यही यहां कहा है। इससे सिद्ध होता है कि जीव सतत जो अन्य उपाय किया करता है वह सब मिथ्या हैं। जीव धर्म करना चाहता है, किन्तु उसे सच्चे उपायका पता न होनेसे वह खोटे उपाय किये बिना नहीं रहता, अतः जीवको यह महान् भूल दूर करनेके लिये **पहले सम्यग्दर्शन प्रगट करना चाहिये**। उसके बिना कभी किसीके धर्मका प्रारम्भ हो ही नहीं सकता।

निश्चय सम्यग्दर्शनका लक्षण

तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् ॥ २ ॥

अर्थ—[तत्त्वार्थश्रद्धानं] तत्त्व (वस्तु) के स्वरूपसहित अर्थ-जीवादि पदार्थोंकी श्रद्धा करना [सम्यग्दर्शनम्] सम्यग्दर्शन है।

टीका

(१) तत्त्वोंकी सच्ची (-निश्चय) श्रद्धाका नाम सम्यग्दर्शन है। 'अर्थ' का अर्थ है द्रव्य-गुण-पर्याय, और 'तत्त्व' का अर्थ है उसका भावस्वरूप। स्वरूप (भाव) सहित प्रयोजनभूत पदार्थोंका श्रद्धान सम्यग्दर्शन है।

(२) इस सूत्रमें सम्यग्दर्शनको पहचानेका लक्षण दिया है। सम्यग्दर्शन लक्ष्य और तत्त्वार्थश्रद्धान उसका लक्षण है।

(३) किसी जीवको यह प्रतीति तो हो कि—'यह ज्ञातृत्व है, यह श्वेत वर्ण है' इत्यादि, किन्तु ऐसा श्रद्धान न हो कि—दर्शन-ज्ञान आत्माका स्वभाव है और मैं आत्मा हूं तथा वर्णादिक पुद्गलके स्वभाव हैं और पुद्गल मुझसे भिन्न (पृथक्) पदार्थ है, तो उपरोक्त मात्र 'भाव' का श्रद्धान किंचित्मात्र कार्यकारी नहीं है। यह श्रद्धान तो किया कि 'मैं आत्मा हूं' किन्तु आत्माका जैसा स्वरूप है वैसा श्रद्धान नहीं किया, तो 'भाव' के श्रद्धानके बिना आत्माका श्रद्धान यथार्थ नहीं होता, इसलिये 'तत्त्व' और उसके 'अर्थ'का श्रद्धान होना ही कार्यकारी है।

(आधुनिक हिन्दी मोक्षमार्ग प्रकाशक अ० ९ पृष्ठ ३१७-३१८)

(४) दूसरा अर्थः—जीवादिको जैसे 'तत्त्व' कहा जाता है वैसे ही 'अर्थ' भी कहा जाता है। जो तत्त्व है वही अर्थ है और उसका श्रद्धान सम्यग्दर्शन है। जो पदार्थ जैसा अवस्थित है उसका उसीप्रकार होना सो तत्त्व है, और 'अर्यते' कहने पर निश्चय किया जाय सो अर्थ है। इसलिये तत्त्वस्वरूपका निश्चय तत्त्वार्थ है और तत्त्वार्थका श्रद्धान सम्यग्दर्शन है।

(आधुनिक हिन्दी मोक्षमार्ग प्रकाशक अ० ९ पृष्ठ ३१८)

(५) विपरीत अभिनिवेश (उल्टे अभिप्राय) से रहित जीवादिका तत्त्वार्थश्रद्धान सम्यग्दर्शनका लक्षण है। सम्यग्दर्शनमें विपरीत मान्यता नहीं होती, यह बतलानेके लिये

'दर्शन'से पूर्व 'सम्यक्' पद दिया गया है। जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष-यह सात तत्त्व है—ऐसा चौथे सूत्र में कहेंगे।

(आधुनिक हिन्दी मोक्षमार्ग प्रकाशक अ० ९ पृ० ३१७)

(६) "तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्" यह लक्षण निश्चय सम्यग्दर्शनका है, और वह तिर्यंच आदिसे लेकर केवली तथा सिद्ध भगवानके समानरूपमें व्याप्त है। और वह लक्षण अव्याप्ति-अतिव्याप्ति और असंभव दोषसे रहित है।

१ आधुनिक हिन्दी मोक्षमार्गप्रकाशक अ० ९, पृष्ठ ३२४-३२५ तथा उस शास्त्रका अ० १ परिशिष्ट ४)

(७) 'तत्त्व' शब्दका मर्म—

'तत्त्व' शब्दका अर्थ तत्-पन या उसरूपता है। प्रत्येक वस्तुके-तत्त्वके स्वरूपसे तत्पन है और पर रूपसे अतत्पन है। जीव वस्तु है, इसलिये उसके अपने स्वरूपसे तत्पन है और परके स्वरूपसे अतत्पन है। जीव चैतन्यस्वरूप होनेसे ज्ञाता है और अन्य सब वस्तुये ज्ञेय हैं, इसलिये जीव दूसरे सभी पदार्थोंसे सर्वथा भिन्न है। जीव अपनेसे तत् है, इसलिये उसे अपना ज्ञान स्वतः होता है; और जीव परसे अतत् है, इसलिये उसे परसे ज्ञान नही हो सकता। 'घड़ेका ज्ञान घड़ेके आधारसे होता है' ऐसा कई लोग मानते है, किन्तु यह उनकी भूल है। ज्ञान जीवका स्वरूप है, इसलिये वह ज्ञान अपनेसे तत् है और परसे अतत् है। जीवके प्रतिसमय अपनी योग्यताके अनुसार ज्ञानकी अवस्था होती है, परज्ञेयसंबंधी अपना ज्ञान होते समय परज्ञेय उपस्थित है, किन्तु जो यह मानता है कि उस परवस्तुसे जीवको ज्ञान होता है तो मानो कि वह जीवको 'तत्त्व' नही मानता। यदि घड़ेसे घडा सम्बन्धी ज्ञान होता हो तो नासमझ (अबोध) जीवको भी घडेकी उपस्थिति होने पर घडेका ज्ञान हो जाना चाहिये, किन्तु ऐसा नही होता। इसलिये यह सुनिश्चित है कि ज्ञान स्वतः होता है। यदि जीवको परसे ज्ञान होने लगे तो जीव और पर एकतत्त्व हो जायें, किन्तु ऐसा नहीं होता।

(८) सम्यग्दर्शनकी महिमा—

यदि अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और परिग्रहत्याग मिथ्यादर्शनयुक्त हो तो गुण उत्पन्न करनेकी जगह वे संसारमे दीर्घकाल तक परिभ्रमणकारी दोषोको उत्पन्न करते हैं। जैसे विषयुक्त औषधिसे लाभ नही होता उसीप्रकार मिथ्यात्वसहित अहिंसादिसे जीवका संसार-रोग नहीं

मिटता। जहां मिथ्यात्व होता है वहां निश्चयतः अहिंसादि कदापि नहीं होते। "आत्म-भ्रांति सम रोग नहिं"—इस पदको विशेष ध्यानमें रखना चाहिये। जीवके साथ अनादि कालसे मिथ्यात्व-दशा चली आ रही है इसलिये उसके सम्यग्दर्शन नहीं है, इसलिये आचार्य देव पहले सम्यग्दर्शन प्राप्त करनेका प्रयत्न करनेके लिये बारम्बार उपदेश करते हैं।

सम्यग्दर्शनके बिना ज्ञान, चारित्र और तपमें सम्यक्‌ता नहीं आती, सम्यग्दर्शन ही ज्ञान, चारित्र, वीर्य और तपका आधार है। जैसे आंखोंसे मुखकी सुन्दरता-शोभा होती है वैसे ही सम्यग्दर्शनसे ज्ञानादिकमें सम्यक्त्व सुन्दरता-शोभा आती है।

इसी सबंधमें रत्नकरण्ड श्रावकाचार में कहा है कि—

न सम्यक्त्वसमं किंचित्त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि।
श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्वसमं नान्यत्तनूभृताम्॥ ३४॥

अर्थ:—तीनों काल और तीनों लोकमें जीवोंका सम्यग्दर्शनके समान दूसरा कोई कल्याण और मिथ्यात्वके समान अकल्याण नहीं है।

भावार्थ:—अनंतकाल व्यतीत हो चुका, एक समय-वर्तमान चल रहा है और भविष्यमें अनन्तकाल आयगा,—इन तीनों कालमें और अधोलोक, मध्यलोक तथा ऊर्ध्वलोक,—इन तीनों लोकोंमें जीवका सर्वोत्कृष्ट उपकारी सम्यक्त्वके समान दूसरा कोई न तो है न हुआ है और न होगा। त्रिलोकस्थित इन्द्र, अहमिंद्र, भुवनेन्द्र, चक्रवर्ती, नारायण, बलभद्र या तीर्थंकर इत्यादि चेतन और मणि, मंत्र, औषधि—इत्यादि जड़ द्रव्य,—ये कोई भी सम्यक्त्वके समान उपकारी नहीं हैं। और इस जीवका सबसे अधिक बुरा-अहित करनेवाला मिथ्यात्वके समान दूसरा कोई जड़ या चेतन द्रव्य तीनकाल और तीनलोकमें न तो है, न हुआ और न होगा। इसलिये मिथ्यात्वको छोड़नेके लिये परमपुरुषार्थ करो। समस्त संसारके दुःखोंका नाश करनेवाला और आत्मकल्याणको प्रगट करनेवाला एकमात्र सम्यक्त्व ही है, इसलिये उसके प्रगट करनेका ही पुरुषार्थ करो।

और फिर, सम्यक्त्व ही प्रथम कर्तव्य है,—इस सबंधमें अष्ट पाहुड़में इसप्रकार कहा है,—

श्रावकको पहले क्या करना चाहिये, सो कहते हैं—

गहिऊण य सम्मत्तं सुणिम्मलं सुरगिरीव णिक्कंपं।
तं जाणे झाइज्जइ सावय! दुक्खक्खयट्ठाए॥

(मोक्षपाहुड गाथा-८६)

अर्थः—पहले श्रावकको सुनिर्मल मेरुके समान निष्कंप-अचल (चल, मल और अगाढ दूषणसे रहित अत्यंत निश्चल) सम्यक्त्वको ग्रहण करके दुःखोंके क्षयके लिये उसे (सम्यक्त्वके विषयभूत एकरूप आत्माको) ध्यानमें ध्याना चाहिये।

भावार्थः—पहले तो श्रावकको निरतिचार निश्चल सम्यक्त्वको ग्रहण करके उसका ध्यान करना चाहिये कि जिस सम्यक्त्वकी भावनासे गृहस्थको गृहकार्य संबंधी आकुलता, क्षोभ, दुःख मिट जाय, कार्यके बिगड़ने-सुधरनेमें वस्तुस्वरूपका विचार आये तब दुःख मिट जाय। सम्यग्दृष्टिके ऐसा विचार होता है कि—सर्वज्ञने जैसा वस्तुस्वरूप जाना है वैसा निरंतर परिणमित होता है, और वैसा ही होता है; उसमें इष्ट-अनिष्ट मानकर सुखी-दुःखी होना व्यर्थ है। ऐसे विचारसे दुःख मिटता है, यह प्रत्यक्ष अनुभवगोचर है। इसलिए सम्यक्त्वका ध्यान करनेको कहा है।

अब, सम्यक्त्वके ध्यानकी महिमा कहते हैं—

सम्मत्तं जो झायइ सम्माइट्ठी हवेइ सो जीवो।
सम्मत्तपरिणदो उण खवेइ दुट्ठट्ठकम्माणि॥

(मोक्षपाहुड गाथा-८७)

अर्थः—जो सम्यक्त्वको ध्याता है वह जीव सम्यग्दृष्टि है, और सम्यक्त्वरूप परिणत जीव आठों दुष्ट कर्मोंका क्षय करता है।

भावार्थः—सम्यक्त्वका ध्यान ऐसा है कि यदि पहले सम्यक्त्व न हुआ हो तो भी, उसके स्वरूपको जानकर उसका ध्यान करे तो वह जीव सम्यग्दृष्टि हो जाता है और सम्यक्त्वकी प्राप्ति होने पर जीवके परिणाम ऐसे होजाते हैं कि संसारके कारणभूत आठों दुष्टकर्मोंका क्षय हो जाता है। सम्यक्त्वके होते ही कर्मोंकी गुणश्रेणी निर्जरा होती जाती है। और अनुक्रमसे मुनि होने पर, चारित्र और शुक्लध्यानके सहकारी होने पर सर्व कर्मोंका नाश होता है।

अब इस बातको संक्षेपमें कहते हैं,—

किं बहुणा भणिएण जे सिद्धा णरवरा गए काले ।
सिज्झिहहि जे वि भविया तं जाणइ सम्ममाहप्पं ॥

(मोक्षपाहुड गाथा-८८)

अर्थः—श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव कहते हैं कि—बहुत कहनेसे क्या साध्य है ? जो नरप्रधान भूतकालमें सिद्ध हुये और भविष्यमें सिद्ध होंगे वह सब सम्यक्त्वका ही माहात्म्य जानो।

भावार्थः—सम्यक्त्वकी ऐसी महिमा है कि भूतकालमें जो श्रेष्ठ पुरुष आठ कर्मोंका नाश करके मुक्तिको प्राप्त हुये हैं तथा भविष्यमें होंगे, वे इसी सम्यक्त्वसे हुये हैं और होंगे। इसलिए आचार्यदेव कहते हैं कि विशेष क्या कहा जाय ? संक्षेपमें समझना चाहिये कि मुक्तिका प्रधान कारण यह सम्यक्त्व ही है। ऐसा नहीं सोचना चाहिये कि गृहस्थोंके क्या धर्म होता है ? यह सम्यक्त्व-धर्म ऐसा है कि जो सर्व धर्मोंके अंगको सफल करता है।

अब यह कहते हैं कि जो निरंतर सम्यक्त्वका पालन करते हैं वे धन्य हैं—

ते धण्णा सुकयत्था ते सूरा ते वि पंडिया मणुया ।
सम्मत्तं सिद्धियरं सिविणे वि ण मइलियं जेहिं ॥

(मोक्षपाहुड गाथा-८९)

अर्थः—जिस पुरुषने मुक्तिको प्राप्त करनेवाला सम्यक्त्व और उस सम्यक्त्वको स्वप्नमें भी मलिन नहीं किया—अतिचार नहीं लगाया वह पुरुष धन्य है, वही कृतार्थ है और शूरवीर है वही पंडित है वही मनुष्य है।

भावार्थः—लोकमें जो कुछ दानादि करता है उसे धन्य कहा जाता है तथा जो विवाह यज्ञादि करता है उसे कृतार्थ कहा जाता है जो युद्धमें पीछे नहीं हटता उसे शूरवीर कहते हैं और जो बहुत से शास्त्र पढ़ लेता है उसे पंडित कहते हैं, किन्तु यह सब कथन मात्र है। वास्तवमें तो—जो मोक्षके कारणभूत सम्यक्त्वको मलिन नहीं करता,—उसे निरतिचार पालता है वही धन्य है, वही कृतार्थ है, वही शूरवीर है वही पंडित है वही मनुष्य है, उसके बिना (सम्यक्त्वके बिना) मनुष्य पशु समान है। सम्यक्त्वकी ऐसी महिमा कही गई है।

(६) सम्यग्दर्शनका बल—

केवली और सिद्ध भगवान रागादिरूप परिणमित नहीं होते, और संसारावस्थाको

नही चाहते, यह सम्यग्दर्शनका ही बल समझना चाहिये ।

(आधुनिक हिन्दी मोक्षमार्ग-प्रकाशक, अ० ९ पृष्ठ ३२४)

(१०) सम्यग्दर्शनके भेद—

ज्ञानादिकी हीनाधिकता होने पर भी तिर्यंचादि (पशु आदि) के और केवली तथा सिद्ध भगवानके सम्यग्दर्शनको समान कहा है, उनके आत्म- प्रतीति एक ही प्रकारकी होती है। किन्तु स्वपर्यायकी योग्यताकी अपेक्षा से सम्यग्दर्शनके तीन भेद हो जाते हैं (१) औपशमिक सम्यग्दर्शन, (२) क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन, (३) क्षायिक सम्यग्दर्शन ।

(आधुनिक हिन्दी मोक्षमार्ग-प्रकाशक, अ० ९ पृष्ठ ३२५)

औपशमिक सम्यग्दर्शन—उस दशामे मिथ्यात्वकर्म के तथा अनन्तानुबन्धी कषायके जड़ रजकण स्वयं उपशमरूप होते हैं; जैसे मैले पानीमेंसे मैल नीचे बैठ जाता है अथवा जैसे अग्नि राखसे ढक जाती है । आत्माके पुरुषार्थसे जीव प्रथम सम्यग्दर्शन प्रगट करता है तब औपशमिक सम्यग्दर्शन ही होता है ।*

क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन—इस दशामे मिथ्यात्व और मिश्रमिथ्यात्व कर्मके रजकण आत्मप्रदेशोंसे पृथक् होने पर उनका फल नहीं होता, और सम्यक्मोहनीयकर्मके रजकण उदयरूप होते हैं, तथा अनन्तानुबन्धी कषायकर्मके रजकण विसंयोजनरूप होते हैं ।

क्षायिक सम्यग्दर्शन—इस दशामे मिथ्यात्वप्रकृतिके (तीनों उपविभागके) रजकण आत्मप्रदेशसे सर्वथा हट जाते हैं, इसलिये मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धीकी सातों प्रकृतियोंका क्षय हुआ कहलाता है ।

(११) सम्यग्दर्शनके अन्य प्रकारसे भेद—

सभी सम्यग्दृष्टि जीवोंके आत्माकी-तत्त्वकी प्रतीति एकसी होती है, तथापि

---

* अनादि मिथ्यादृष्टिके औपशमिक सम्यग्दर्शन होने पर मिथ्यात्व, और अनन्तानुबन्धीकी चार,–ऐसी पांच प्रकृतियां उपशमरूप होती हैं । और सादि मिथ्यादृष्टिके औपशमिक सम्यग्दर्शन होने पर जिसके मिथ्यात्वकी तीन प्रकृतियां सत्तारूप होती हैं उसके मिथ्यात्वकी तीन और अनन्तानुबन्धी की चार, ऐसे सात प्रकृतिया उपशमरूप होती हैं, और जिस सादि मिथ्यादृष्टिके एक मिथ्यात्व प्रकृति ही सत्तामे होती है उसके मिथ्यात्व की एक, और अनन्तानुबन्धीकी चार,–ऐसी पांच प्रकृतियां उपशमरूप होती हैं ।

चारित्रदशाकी अपेक्षा से उनके दो भेद हो जाते हैं—(१) वीतराग सम्यग्दर्शन, (२) सराग सम्यग्दर्शन।

जब सम्यग्दृष्टि जीव अपने आत्मामें स्थिर होता है तब उसके निर्विकल्प दशा होती है, तब रागके साथ बुद्धिपूर्वक सम्बन्ध नहीं होता। जीवकी इस दशाको 'वीतराग सम्यग्दर्शन' कहा जाता है। और जब सम्यग्दृष्टि जीव अपनेमें स्थिर नहीं रह सकता तब रागमें उसका अनित्य-सम्बन्ध होता है, इसलिये उस दशाको 'सराग सम्यग्दर्शन' कहा जाता है। ध्यान रहे कि सम्यग्दृष्टि जीव ऐसा कभी नहीं मानता कि शुभ रागसे धर्म होता है या धर्ममें सहायता होती है।

(समयसार जयसेनाचार्य गाथा–१९६)

(१२) सराग सम्यग्दृष्टिके प्रशमादि भाव—

सम्यग्दृष्टिके रागके साथ सम्बन्ध होता है तब चार प्रकारके शुभभाव होते हैं (१) प्रशम, (२) संवेग, (३) अनुकम्पा, (४) आस्तिक्य।

प्रशम—क्रोध-मान-माया-लोभ सम्बन्धी राग-द्वेषादिकी मन्दता।

संवेग—संसार अर्थात् विकारी भावका भय।

अनुकम्पा—स्वयं और पर-सर्व प्राणियों पर दयाका प्रादुर्भाव।

आस्तिक्य—जीवादि तत्त्वोंका जैसा अस्तित्व है वैसा ही आगम और युक्तिसे मानना।

सराग सम्यग्दृष्टिको इन चार प्रकारका राग होता है, इसलिये इन चार भावोंको उपचारसे सम्यग्दर्शनका लक्षण कहा जाता है। जीवके सम्यग्दर्शन न हो तो वे शुभभाव प्रशमाभास, संवेगाभास, अनुकम्पाभास, और आस्तिक्याभास हैं,—ऐसा समझना चाहिये। प्रशमादिक सम्यग्दर्शनके यथार्थ (निश्चय) लक्षण नहीं हैं, उसका यथार्थ लक्षण अपने शुद्धात्माकी प्रतीति है।

(१३) सम्यग्दर्शनका विषय (लक्ष्य) तथा स्वरूप—

प्रश्नः—सम्यग्दृष्टि अपने आत्माको कैसा मानता है ?

उत्तर—सम्यग्दृष्टि अपने आत्माको परमार्थतः त्रिकाल शुद्ध, ध्रुव, अखण्ड चैतन्यस्वरूप मानता है।

प्रश्नः—उस समय जीवकी विकारी अवस्था तो होती है, तो उसका क्या ?

उत्तरः—विकारी अवस्था सम्यग्ज्ञानका विषय है, इसलिये उसे सम्यग्दृष्टि जानता तो है, किन्तु सम्यग्दृष्टिका आश्रय अवस्था (पर्याय-भेद) पर नहीं होता; क्योंकि अवस्थाके आश्रयसे जीवके राग होता है और ध्रुवस्वरूपके आश्रयसे शुद्ध पर्याय प्रगट होती है।

प्रश्नः—सम्यक्त्व (—श्रद्धा) गुण किसे कहते है ?

उत्तरः—जिस गुणकी निर्मलदशा प्रगट होनेसे अपने शुद्धात्माका प्रतिभास (—यथार्थ प्रतीति) हो, अखण्ड ज्ञायक स्वभावकी प्रतीति हो।

(१) सच्चे देव-गुरु-धर्ममें दृढ़ प्रतीति, (२) जीवादि सात तत्त्वोंकी सच्ची प्रतीति, (३) स्व-परका श्रद्धान, (४) आत्मश्रद्धान; इन लक्षणोंके अविनाभाव सहित जो श्रद्धान होता है वह निश्चय सम्यग्दर्शन है। उस पर्यायका धारक सम्यक्त्व (श्रद्धा) गुण है, तथा सम्यग्दर्शन और मिथ्यादर्शन उसकी पर्यायें हैं।

(१४) **'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्'** यह सूत्र निश्चय सम्यग्दर्शनके लिये है, ऐसा पं० टोडरमलजी मोक्षमार्ग प्र० अ० ६ मे कहते हैं—

(१) जो तत्त्वार्थश्रद्धान विपरीताभिनिवेश रहित जीवादि तत्त्वार्थोंका श्रद्धानपना सो सम्यग्दर्शनका लक्षण है, सम्यग्दर्शन लक्ष्य है. यही तत्त्वार्थसूत्रमें कहा है—

तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् ॥ १-२ ॥

पुरुषार्थसिद्धयुपायमें भी इसी प्रकार कहा है—

जीवाजीवादीनां तत्त्वार्थानां सदैव कर्त्तव्यम्।
श्रद्धानं विपरीताभिनिवेशविविक्तमात्मरूपं तत् ॥ २२ ॥

अर्थः—विपरीताभिनिवेशसे रहित जीव-अजीव आदि तत्त्वार्थोंका श्रद्धान सदाकाल करना योग्य है। यह श्रद्धान आत्माका स्वरूप है, चतुर्थादि गुणस्थानमें प्रगट होता है, पश्चात् सिद्ध अवस्थामें भी सदाकाल इसका सद्भाव रहता है—ऐसा जानना।

(सोनगढसे प्रकाशित आधुनिक हिन्दी मोक्षमार्ग प्रकाशक पृ० ३२०-३२१)

इस सम्बन्धमें पृ० ३२३ से ३२५में पंडित टोडरमलजी विशेष कहते है कि—

फिर प्रश्न है कि—छद्मस्थके तो प्रतीति-अप्रतीति कहना सम्भव है, इसलिए वहाँ सप्त तत्त्वोंकी प्रतीति सम्यक्त्वका लक्षण कहा सो हमने माना, परन्तु केवली सिद्ध भगवानके

तो सर्वका जानपना समानरूप है, वहाँ सप्त तत्त्वोंकी प्रतीति कहना संभव नहीं है और उनके सम्यक्त्वगुण पाया जाता है, इसलिए वहाँ उस लक्षणका अव्याप्तिपना आया ?

समाधान—जैसे छद्मस्थके श्रुतज्ञानके अनुसार प्रतीति पायी जाती है, उसीप्रकार केवली-सिद्धभगवानके केवलज्ञानके अनुसार प्रतीति पायी जाती है। जो सप्त तत्त्वोंका स्वरूप पहले ठीक किया था, वही केवलज्ञान द्वारा जाना, वहाँ प्रतीतिका परमावगाढ़पना हुआ, इसीसे परमावगाढ़ सम्यक्त्व कहा। जो पहले श्रद्धान किया था, उसको झूठ जाना होता तो वहाँ अप्रतीति होती, सो तो जैसा सप्त तत्त्वोंका श्रद्धान छद्मस्थके हुआ था, वैसा ही केवली-सिद्ध भगवानके पाया जाता है, इसलिए ज्ञानादिककी हीनता-अधिकता होने पर भी तिर्यंचादिक व केवली-सिद्ध भगवानके सम्यक्त्वगुण समान ही कहा है। तथा पूर्व अवस्थामें यह माना था कि—संवर-निर्जरासे मोक्षका उपाय करना। पश्चात् मुक्त अवस्था होने पर ऐसा मानने लगे कि—संवर-निर्जरासे हमारे मोक्ष हुआ। तथा पहले ज्ञानकी हीनतासे जीवादिकके थोड़े विशेष जाने थे, पश्चात् केवलज्ञान होने पर उनके सर्व विशेष जाने, परन्तु मूलभूत जीवादिकके स्वरूपका श्रद्धान जैसा छद्मस्थके पाया जाता है वैसा ही केवलीके पाया जाता है। तथा यद्यपि केवली-सिद्धभगवान अन्य पदार्थों को भी प्रतीति सहित जानते हैं तथापि वे पदार्थ प्रयोजनभूत नहीं हैं, इसलिए सम्यक्त्वगुणमें सप्त तत्त्वोंहीका श्रद्धान ग्रहण किया है। केवली-सिद्ध भगवान् रागादिरूप परिणमित नहीं होते, संसार अवस्थाको नहीं चाहते, सो यह इस श्रद्धानका बल जानना।

फिर प्रश्न है कि—सम्यग्दर्शनको तो मोक्षमार्ग कहा था, मोक्षमें इसका सद्भाव कैसे कहते हैं ?

उत्तरः—कोई कारण ऐसा भी होता है जो कार्य सिद्ध होने पर भी नष्ट नहीं होता। जैसे किसी वृक्षकी किसी एक शाखासे अनेक शाखायुक्त अवस्था हुई, उसके होने पर वह एक शाखा नष्ट नहीं होती, उसीप्रकार किसी आत्माके सम्यक्त्वगुणसे अनेक गुणयुक्त मुक्त-अवस्था हुई, उसके होने पर सम्यक्त्वगुण नष्ट नहीं होता। इसप्रकार केवली-सिद्ध भगवानके भी तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षण ही सम्यक्त्व पाया जाता है। इसलिए वहाँ अव्याप्तिपना नहीं है।"

(मोक्षमार्ग प्र० पृ० ३२४)

फिर प्रश्न—मिथ्यादृष्टिके भी तत्त्वश्रद्धान होता है, ऐसा शास्त्रमें निरूपण है। प्रवचनसारमें आत्मज्ञानशून्य तत्त्वार्थश्रद्धान अकार्यकारी कहा है, इसलिये सम्यक्त्वका लक्षण

तत्त्वार्थश्रद्धान कहने पर उसमें अतिव्याप्ति दूषण लगता है ?

समाधान—मिथ्यादृष्टिके जो तत्त्वश्रद्धान कहा है, वह नामनिक्षेपसे कहा है, जिसमें तत्त्वश्रद्धानका गुण नहीं; और व्यवहारमे जिसका नाम तत्त्वश्रद्धान कहा जाये वह मिथ्या-दृष्टिके होता है, अथवा आगम द्रव्यनिक्षेपसे होता है। तत्त्वार्थश्रद्धानके प्रतिपादक शास्त्रोंका अभ्यास करता है, उनका स्वरूप निश्चय करनेमें उपयोग नहीं लगता है ऐसा जानना। तथा यहां सम्यक्त्वका लक्षण तत्त्वार्थश्रद्धान कहा है, सो भावनिक्षेपसे कहा है। ऐसा गुणसहित सच्चा तत्त्वार्थश्रद्धान मिथ्यादृष्टिके कदाचित् नहीं होता। तथा आत्मज्ञानशून्य तत्त्वार्थश्रद्धान कहा है वहाँ भी वही अर्थ जानना। जिसके सच्चे जीव-अजीवादिकका श्रद्धान हो उसके आत्मज्ञान कैसे नहीं होगा? होता ही होता है। इसप्रकार किसी भी मिथ्यादृष्टिके सच्चा तत्त्वश्रद्धान सर्वथा नहीं पाया जाता, इसलिये उस लक्षणमे अतिव्याप्ति दूषण नहीं लगता।

तथा जो यह तत्त्वार्थश्रद्धान लक्षण कहा, सो असम्भवी नहीं है क्योंकि सम्यक्त्वका प्रतिपक्षी मिथ्यात्वका यह नहीं है, उसका लक्षण इससे विपरीतता सहित है।

इसप्रकार अव्याप्ति, अतिव्याप्ति, असंभविपनेसे रहित सर्व सम्यग्दृष्टियोंमे तो पाया जाये और किसी मिथ्यादृष्टिमे न पाया जाये—ऐसा सम्यग्दर्शनका सच्चा लक्षण तत्त्वार्थश्रद्धान है।"

(मोक्षमार्ग प्रकाशक अ० ९ पृ० ३२४ से ३२५)

पंचाध्यायी भाग २ मे कहा है कि—

ततोऽनर्थान्तरं तेभ्यः किंचिच्छुद्धमनीदृशम्।
शुद्धं नवपदान्येव तद्विकारादृते परम् ॥१८६॥

अर्थः—इसलिये शुद्धतत्त्व कुछ उन नव तत्त्वोसे विलक्षण अर्थान्तर नहीं है, किन्तु केवल नवतत्त्व सम्बन्धी विकारोंको छोड़कर नवतत्त्व ही शुद्ध है।

भावार्थः—इसलिये सिद्ध होता है कि केवल विकारकी उपेक्षा करनेसे नवतत्त्व ही शुद्ध जीव है। नवतत्त्वोसे कुछ सर्वथा भिन्न शुद्धत्व नहीं है।

अतस्तत्त्वार्थश्रद्धानं सूत्रे सद्दर्शनं मतम्।
तत्तत्त्वं नव जीवाद्या यथोद्देश्याः क्रमादपि ॥१८७॥

अर्थः—इसलिये सूत्रमें तत्त्वार्थका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन माना गया है

और व्यवहारसे भी जीवाजीवादिरूपसे नौ हैं, अतः तदनुसार उन नौ पदार्थोंका कथन करना चाहिये।

इसलिये इस शास्त्रके 'सूत्रमें' निश्चय सम्यग्दर्शनका ही लक्षण है, व्यवहार सम्यग्दर्शनका नहीं, ऐसा निश्चय करना।

दूसरे सूत्रका सिद्धान्त—

संसार-समुद्रसे रत्नत्रयरूपी (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूपी) जहाजको पार करनेके लिए सम्यग्दर्शन चतुर नाविक है। जो जीव सम्यग्दर्शनको प्रगट करता है वह अनंत सुखको पाता है। जिस जीवके सम्यग्दर्शन नहीं है वह यदि पुण्य करे तो भी अनन्त दुःख भोगता है, इसलिये जीवोंको वास्तविक सुख प्राप्त करनेके लिये [1]तत्त्वका स्वरूप यथार्थ समझकर सम्यग्दर्शन प्रगट करना चाहिये। तत्त्वका स्वरूप समझे बिना किसी जीवको सम्यग्दर्शन नहीं होता। जो जीव तत्त्वके स्वरूपको यथार्थतया समझता है उसे सम्यग्दर्शन होता ही है [2]'इन नव तत्त्वोंमें छुपकर सदा विराजते शुद्ध जीव है उसके आश्रयसे सम्यग्दर्शन होता है।'—ऐसे यह सूत्र प्रतिपादित करता है ॥ २ ॥

निश्चय सम्यग्दर्शनके (उत्पत्तिकी अपेक्षासे) भेद—

तन्निसर्गादधिगमाद्वा ॥ ३ ॥

अर्थः—[तत्] वह सम्यग्दर्शन [निसर्गात्] स्वभावसे [वा] अथवा [अधिगमात्] दूसरेके उपदेशादिसे उत्पन्न होता है।

टीका

(१) उत्पत्तिकी अपेक्षासे सम्यग्दर्शनके दो भेद हैं—(१) निसर्गज (२) अधिगमज।

निसर्गज—जो दूसरेके उपदेशादिके बिना स्वयमेव (पूर्व संस्कारसे) उत्पन्न होता है उसे निसर्गज सम्यग्दर्शन कहते हैं।

---

१ श्री समयसार गाथा १७-१८।

२ श्री समयसार गाथा ११ तथा नियमसार गाथा २०।

अधिगमजः—जो सम्यग्दर्शन परके उपदेशादिसे उत्पन्न होता है उसे अधिगमज सम्यग्दर्शन कहते हैं।

(१) जिस जीवके सम्यग्दर्शन प्रगट होता है उस जीवने उस समय अथवा पूर्व भवमे सम्यग्ज्ञानी आत्मासे उपदेश सुना होता है। [उपदिष्टि तत्त्वका श्रवण, ग्रहण—धारण होना; विचार होना उसे देशनालब्धि कहते है] उसके विना किसीको सम्यग्दर्शन नहीं होता। इसका यह अर्थ नही समझना चाहिये कि वह उपदेश सम्यग्दर्शनको उत्पन्न करता है। जीव सम्यग्दर्शनको स्वत अपनेमे प्रगट करता है, ज्ञानीका उपदेश तो निमित्त मात्र है। अज्ञानीका उपदेश सुनकर कोई सम्यग्दर्शन प्रगट नही कर सकता, यह नियम है। और, यदि सद्गुरुका उपदेश सम्यग्दर्शन उत्पन्न करता हो तो, जो जो जीव उस उपदेशको सुनें उन सवको सम्यग्दर्शन हो जाना चाहिये, किन्तु ऐसा नही होता। सद्गुरुके उपदेशसे सम्यग्दर्शन हुआ है,—यह कथन व्यवहारमात्र है,—निमित्तका ज्ञान करानेके लिए कथन है।

(३) अधिगमका स्वरूप इस अध्यायके छट्ठे सूत्रमे दिया गया है। वहां वताया है कि—'प्रमाण और नयके द्वारा अधिगम होता है'। प्रमाण और नयका स्वरूप उस सूत्रकी टीकामें दिया है, वहासे ज्ञात करना चाहिये।

(४) तीसरे सूत्रका सिद्धान्त—

जीवको अपनी भूलके कारण अनादिकालसे अपने स्वरूपके सम्वन्धमें भ्रम वना हुआ है, इसलिये उस भ्रमको स्वय दूर करने पर सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता हैं। जीव जव अपने सच्चे स्वरूपको समझनेकी जिज्ञासा करता है तव उसे आत्मज्ञानीपुरुषके उपदेशका योग मिलता है। उस उपदेशको सुनकर जीव अपने स्वरूपका यथार्थ निर्णय करे तो उसे सम्यक्-दर्शन होता है। किसी जीवको आत्मज्ञानी पुरुषका उपदेश सुननेपर तत्काल सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है, और किसीको उसी भवमे दीर्घकालमें अथवा दूसरे भवमें उत्पन्न होता हैं। जिसे तत्काल सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है उसे **'अधिगमज सम्यग्दर्शन'** हुआ कहलाता है, और जिसे पूर्वके सस्कारसे उत्पन्न होता है उसे **'निसर्गज'** सम्यग्दर्शन हुआ कहलाता है।

[कोई जीव अपने आप शास्त्र पढकर या अज्ञानीका उपदेश सुनकर सम्यग्दर्शनको प्राप्त कर ले ऐसा कभी नही हो सकता है—देशनालब्धिके विषयमे सब प्रश्नोका सम्पूर्ण समाधानवाला लेख देखो—आत्मधर्म वर्ष छठवां अंक न० ११–१२]

जैसे वैद्यकीय ज्ञान प्राप्त करना हो तो वैद्यकके ज्ञानी गुरुकी शिक्षासे वह प्राप्त किया जा सकता है, वैद्यकके अज्ञानी पुरुषसे नहीं, उसीप्रकार आत्मज्ञानी गुरुके उपदेश द्वारा

सम्यग्दर्शन प्राप्त किया जा सकता है, आत्मज्ञानहीन (अज्ञानी) गुरुके उपदेशसे वह प्राप्त नहीं किया जा सकता । इसलिये सच्चे सुखके इच्छुक जीवोंको उपदेशकका चुनाव करनेमें सावधानी रखना आवश्यक है । जो उपदेशकका चुनाव करनेमें भूल करते हैं वे सम्यग्दर्शनको प्राप्त नहीं कर सकते,—यह निश्चित समझना चाहिये ॥ ३ ॥

तत्त्वोंके नाम—

जीवाजीवास्रवबंधसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम् ॥ ४ ॥

अर्थ—[जीवाजीवास्रवबंधसंवरनिर्जरामोक्षाः] १ जीव, २ अजीव, ३ आस्रव, ४ बन्ध, ५ संवर, ६ निर्जरा और ७ मोक्ष—यह सात [तत्त्वम्] तत्त्व हैं ।

टीका

१-जीव—जीव अर्थात् आत्मा । वह सदा ज्ञातास्वरूप, परसे भिन्न और त्रिकाल-स्थायी है । जब वह पर-निमित्तके शुभ अवलम्बनमें युक्त होता है तब उसके शुभभाव (पुण्य) होता है, और जब अशुभावलम्बनमें युक्त होता है तब अशुभभाव (पाप) होता है । और जब स्वावलम्बी होता है तब शुद्धभाव (धर्म) होता है ।

२-अजीव—जिसमें चेतना-ज्ञातृत्व नहीं है, ऐसे द्रव्य पाँच हैं । उनमेंसे धर्म, अधर्म, आकाश और काल यह चार अरूपी हैं तथा पुद्गल रूपी (स्पर्श, रस, गंध, वर्ण सहित) है । अजीव वस्तुएँ आत्मासे भिन्न हैं, तथा अनन्त आत्मा भी एक दूसरेसे पृथक्-स्वतंत्र हैं । पराश्रयके बिना जीवमें विकार नहीं होता परोन्मुख होनेसे जीवके पुण्य-पापके शुभाशुभ विकारी भाव होते हैं ।

३-आस्रव—विकारी शुभाशुभभावरूप जो अरूपी अवस्था जीवमें होती है वह भावास्रव और नवीन कर्म-रजकणोंका आना (आत्माके साथ एक क्षेत्रमें रहना) सो द्रव्यास्रव है ।

पुण्य-पाप दोनों आस्रव और बंधके उपभेद हैं ।

पुण्यः—दया, दान, भक्ति, पूजा, व्रत, इत्यादि जो शुभ भाव जीवके होते हैं वह अरूपी विकारी भाव हैं, वह भाव-पुण्य है, और उसके निमित्तसे जड़ परमाणुओंका समूह स्वयं (अपने ही कारणसे स्वतः) एक क्षेत्रावगाह सम्बन्धसे जीवके साथ बँधता है, वह द्रव्य-पुण्य है ।

पापः—मिथ्यात्व, हिंसा, असत्य, चोरी, अव्रत इत्यादि जो अशुभभाव हैं सो भाव-

पाप है, और उसके निमित्तसे जडकी शक्तिसे जो परमाणुओंका समूह स्वयं बँधता है वह द्रव्य-पाप है।

परमार्थतः—वास्तवमें यह पुण्य-पाप आत्माका स्वरूप नही है, वह आत्माकी क्षणिक अवस्थामें परके सम्बन्धसे होनेवाला विकार है।

४-बंधः—आत्माका अज्ञान, राग-द्वेष, पुण्य-पापके भावमें रुक जाना सो भाव-बंध है। और उसके निमित्तसे पुद्गलका स्वयं कर्मरूप बँधना सो द्रव्य-बंध है।

५-संवरः—पुण्य-पापके विकारीभावको (आस्रवको) आत्माके शुद्ध भाव द्वारा रोकना सो भाव-संवर है, और तदनुसार नये कर्मोंका आगमन रुक जाय सो द्रव्य-संवर है।

६-निर्जराः—अखंडानन्द शुद्ध आत्मस्वभावके लक्षके बलसे स्वरूप-स्थिरताकी वृद्धि द्वारा आंशिकरूपमे शुद्धिकी वृद्धि और अशुद्ध (शुभाशुभ) अवस्थाका आंशिक नाश करना सो भाव-निर्जरा है, और उसका निमित्त पाकर जडकर्मका अंशतः खिर जाना सो द्रव्य-निर्जरा है।

७-मोक्षः—अशुद्ध अवस्थाका सर्वथा-सम्पूर्ण नाश होकर आत्मा की पूर्ण निर्मल-पवित्र दशाका प्रगट होना सो भाव-मोक्ष है, और निमित्तकारण द्रव्यकर्मका सर्वथा नाश (अभाव) होना सो द्रव्य-मोक्ष है।

(२) सात तत्त्वोंमेसे प्रथम दो तत्त्व—'जीव' और 'अजीव' द्रव्य हैं, तथा शेष पांच तत्त्व उनकी (जीव और अजीवकी) संयोगी तथा वियोगी पर्यायें (विशेष अवस्थायें) हैं। आस्रव और बन्ध संयोगी हैं तथा संवर, निर्जरा और मोक्ष जीव-अजीवकी वियोगी पर्यायें हैं। जीव और अजीव तत्त्व **सामान्य** हैं तथा शेष पांच तत्त्व पर्याय होनेसे **विशेष** कहलाते है।

(३) जिसकी दशाको अशुद्धमेसे शुद्ध करना है उसका नाम तो प्रथम अवश्य दिखाना ही चाहिये, इसलिये 'जीव' तत्त्व प्रथम कहा गया है; पश्चात् जिस ओरके लक्षसे अशुद्धता अर्थात् विकार होता है उसका नाम देना आवश्यक है, इसलिये 'अजीव' तत्त्व कहा गया है। अशुद्ध दशाके कारण-कार्यका ज्ञान करानेके लिये 'आस्रव' और 'बंध' तत्त्व कहे गये है। तत्पश्चात् मुक्तिका कारण कहना चाहिये; और मुक्तिका कारण वही हो सकता है जो बंध और बंधके कारणसे उल्टे रूपमें हो; इसलिये आस्रवके निरोध होनेको 'संवर' तत्त्व कहा है। अशुद्धता-विकारके एकदेश दूर हो जानेके कार्यको 'निर्जरा' तत्त्व कहा

है। जीवके अत्यन्त शुद्ध हो जानेकी दशाको 'मोक्ष' तत्त्व कहा है। इन तत्त्वोंको समझनेकी अत्यन्त आवश्यकता है, इसीलिये ये कहे गये हैं। उन्हें समझनेसे जीव मोक्षोपायमें युक्त हो सकता है। मात्र जीव-अजीवको जाननेवाला ज्ञान मोक्षमार्गके लिये कार्यकारी नहीं होता। इसलिये जो सच्चे सुखके मार्गमें प्रवेश करना चाहते हैं उन्हें इन तत्त्वोंको यथार्थतया जानना चाहिये।

(तत्त्वार्थसार सूत्र १ पृष्ठ ७-८, सनातन ग्रन्थमाला १३)

(४) सात तत्त्वोंके होने पर भी इस सूत्रके अन्तमें 'तत्त्वम्' ऐसा एकवचन सूचक शब्द प्रयोग किया गया है, जो यह सूचित करता है कि इन सात तत्त्वोंका ज्ञान करके, भेद परसे लक्ष हटाकर, जीवके त्रिकालज्ञायक-भावका आश्रय करने से जीव शुद्धता प्रगट कर सकता है।

(५) चौथे सूत्र का सिद्धान्त—

इस सूत्रमें सात तत्त्व कहे गये हैं, उनमेंसे पुण्य और पापका समावेश आस्रव और बंध तत्त्वोंमें हो जाता है। जिसके द्वारा सुख उत्पन्न हो और दुःखका नाश हो उस कार्यका नाम प्रयोजन है। जीव और अजीवके विशेष (भेद) बहुतसे हैं। उनमेंसे जो विशेषोंके साथ जीव-अजीवका यथार्थ श्रद्धान करनेपर स्व-परका श्रद्धान हो और उससे सुख उत्पन्न हो, और जिसका अयथार्थ श्रद्धान करनेपर स्व-परका श्रद्धान न हो, रागादिकको दूर करनेका श्रद्धान न हो और उससे दुःख उत्पन्न हो, इन विशेषोंसे युक्त जीव-अजीव पदार्थ प्रयोजनभूत समझने चाहिये। आस्रव और बंध दुःखके कारण हैं तथा संवर, निर्जरा और मोक्ष सुखके कारण हैं, इसलिये जीवादि सात तत्त्वोंका श्रद्धान करना आवश्यक है। इन सात तत्त्वोंकी श्रद्धाके बिना शुद्धभाव प्रगट नहीं हो सकता। 'सम्यग्दर्शन' जीवके श्रद्धागुणकी शुद्ध अवस्था है, इसलिये उस शुद्धभावको प्रगट करनेके लिये सात तत्त्वोंका श्रद्धान-ज्ञान अनिवार्य है। जो जीव इन सात तत्त्वोंकी श्रद्धा करता है वही अपने जीव अर्थात् शुद्धात्माको जानकर उस ओर अपना पुरुषार्थ लगाकर सम्यग्दर्शन प्रगट कर सकता है। इन सात (पुण्य-पाप सहित नौ) तत्त्वोंके अतिरिक्त अन्य कोई 'तत्त्व' नहीं है,—ऐसा समझना चाहिये ॥ ४ ॥

(आधुनिक हिन्दी मोक्षमार्ग प्रकाशक अ० ४ पृष्ठ ७६)

निश्चय सम्यग्दर्शनादि शब्दोंके अर्थ समझनेकी रीति—

नामस्थापनाद्रव्यभावतस्तन्न्यासः ॥५॥

अर्थ—[नामस्थापनाद्रव्यभावतः] नाम, स्थापना, द्रव्य और भावसे [तन्न्यासः] उन सात तत्त्वों तथा सम्यग्दर्शनादिका लोकव्यवहार होता है।

टीका

(१) वक्ताके मुखसे निकले हुये शब्दके, अपेक्षाको लेकर भिन्न भिन्न अर्थ होते हैं; उन अर्थो में व्यभिचार (दोष) न आये और सच्चा अर्थ कैसे हो यह बतानेके लिए यह सूत्र कहा है।

(२) इन अर्थोके सामान्य प्रकार चार किये गये है। पदार्थोंके भेदको न्यास अथवा निक्षेप कहा जाता है। [प्रमाण और नयके अनुसार प्रचलित हुए लोकव्यवहारको निक्षेप कहते हैं।] ज्ञेय पदार्थ अखण्ड है; तथापि उसे जानने पर ज्ञेय-पदार्थके जो भेद (अंश, पहलू) किये जाते हैं उसे **निक्षेप** कहते हैं। और उस अंशको जाननेवाले ज्ञानको नय कहते है। निक्षेप नयका विषय है, और नय निक्षेपका विषयी (विषय करनेवाला) है।

(३) निक्षेपके भेदोंकी व्याख्या—

नाम निक्षेपः—गुण जाति या क्रियाकी अपेक्षा किये विना किसीका यथेच्छ नाम रख लेना सो नाम निक्षेप है। जैसे किसीका नाम 'जिनदत्त' रखा; किन्तु वह जिनदेवके द्वारा दिया हुआ नही है, तथापि लोकव्यवहार (पहचानने) के लिये उसका 'जिनदत्त' नाम रखा गया है। एकमात्र वस्तुकी पहिचानके लिये उसकी जो संज्ञा रख ली जाती है उसे नाम निक्षेप कहते है।

स्थापना निक्षेपः— किसी अनुपस्थित (अविद्यमान) वस्तुका किसी दूसरी उपस्थित वस्तुमे **संबंध** या **मनोभावनाको** जोड़कर आरोप कर देना कि 'यह वही है' सो 'ऐसी भावनाको **स्थापना** कहा जाता है। जहाँ ऐसा आरोप होता है वहाँ जीवोंके ऐसी मनोभावना होने लगती है कि 'यह वही' है।

स्थापना दो प्रकारकी होती है—तदाकार और अतदाकार। जिस पदार्थका जैसा आकार हो वैसा आकार उसकी स्थापनामे करना सो 'तदाकार स्थापना' है। और चाहे जैसा आकार कर लेना सो 'अतदाकार स्थापना' है। सदृशताको स्थापना निक्षेपका कारण नही मान लेना चाहिये, **उसका कारण तो केवल मनोभावना ही है**। जनसमुदायकी यह मानसिक भावना जहाँ होती है वहाँ स्थापना निक्षेप समझना चाहिये। वीतराग-प्रतिमाको देखकर वहुतसे जीवोके भगवान और उनकी वीतरागताकी मनोभावना होती है, इसलिये वह स्थापना निक्षेप है।*

---

* नाम निक्षेप और स्थापना निक्षेपमें यह अन्तर है कि—नाम निक्षेपमे पूज्य-अपूज्यका व्यवहार नही होता और स्थापना निक्षेपमे यह व्यवहार होता है।

द्रव्य निक्षेप —भूत और भविष्यत् पर्यायकी मुख्यताको लेकर उसे वर्तमानमें कहना-जानना सो द्रव्य निक्षेप है। जैसे श्रेणिक राजा भविष्यमें तीर्थंकर होंगे, उन्हें वर्तमानमें तीर्थंकर कहना-जानना, और भूतकालमें हो गये भगवान महावीरादि तीर्थंकरोंको वर्तमान तीर्थंकर मानकर स्तुति करना, सो द्रव्य निक्षेप है।

भाव निक्षेप—केवल वर्तमान पर्यायकी मुख्यतासे जो पदार्थ वर्तमान जिस दशामें है उसे उसरूप कहना-जानना सो भाव निक्षेप है। जैसे सीमंधर भगवान वर्तमान तीर्थंकरके रूपमें महाविदेहमें विराजमान हैं, उन्हें तीर्थंकर कहना-जानना, और भगवान महावीर वर्तमानमें सिद्ध हैं उन्हें सिद्ध कहना-जानना सो भाव निक्षेप है।

(४) जहाँ 'सम्यग्दर्शनादि' या 'जीवाजीवादि' शब्दोंका प्रयोग किया गया हो वहाँ कौनसा निक्षेप लागू होता है, सो निश्चय करके जीवको सच्चा अर्थ समझ लेना चाहिये। सूत्र १ में 'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि' तथा मोक्षमार्ग' यह शब्द तथा सूत्र २ में सम्यग्दर्शन यह शब्द भावनिक्षेपसे कहा है ऐसा समझना चाहिये।

(५) स्थापनानिक्षेप और द्रव्यनिक्षेपमें भेद—

"In Sthapana the connotation is merely attributed It is never there It cannot be there In dravya it will be there or has been there The common factor between the two is that it is not there now, and to that extent connotation is fictitious in both " (English Tatvarth Sutram, page-11)

अर्थ —स्थापनानिक्षेपमें—कल्पना मात्र आरोपित है उसमें वह (मूल वस्तु) कदापि नहीं है वह वहाँ कदापि नहीं हो सकती। और द्रव्यनिक्षेपमें वह (मूल वस्तु) भविष्यमें प्रगट होगी अथवा भूतकालमें थी। दोनोंके बीच सामान्यता इतनी है कि-वर्तमानकालमें वह दोनोंमें विद्यमान नहीं है और उतने अंशमें दोनोंमें कल्पना है। [—तत्त्वार्थसूत्र अंग्रेजी टीका पृष्ठ ११]

(६) पांचवें सूत्रका सिद्धान्त—

भगवानके नामनिक्षेप और स्थापनानिक्षेप शुभभावके निमित्त हैं इसलिये व्यवहार है। द्रव्यनिक्षेप निश्चयपूर्वक व्यवहार होनेसे अपनी शुद्ध पर्याय थोड़े समयके पश्चात् प्रगट होगी यह सूचित करता है। भावनिक्षेप निश्चयपूर्वक अपनी शुद्ध पर्याय होनेसे धर्म है ऐसा

समझना चाहिये। निश्चय और व्यवहारनयका स्पष्टीकरण, इसके बादके सूत्रकी टीका में दिया है ॥५॥

निश्चय सम्यग्दर्शनादिका उपाय—

प्रमाणनयैरधिगमः ॥ ६ ॥

अर्थः—सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय और जीवादि तत्त्वोंका [अधिगमः] ज्ञान [प्रमाणनयैः] प्रमाण और नयों से होता है।

टीका

(१) **प्रमाणः**—सच्चे ज्ञानको-निर्दोष ज्ञानको अर्थात् सम्यग्ज्ञानको प्रमाण कहते हैं। अनन्तगुणों या धर्मका समुदायरूप अपना तथा परवस्तुका स्वरूप प्रमाण द्वारा जाना जाता है। प्रमाण वस्तुके सर्वदेशको (सर्व पहलुओंको) ग्रहण करता है, जानता है।

नयः—प्रमाण द्वारा निश्चित हुई वस्तुके एकदेशको जो ज्ञान ग्रहण करता उसे नय कहते हैं। जो प्रमाण द्वारा निश्चित हुये अनन्तधर्मात्मक वस्तुके एक एक अंगका ज्ञान मुख्यतासे कराता है सो नय है। वस्तुओंमें अनन्त धर्म हैं, इसलिये उनके अवयव अनन्त तक हो सकते हैं, और इसलिये अवयवके ज्ञानरूप नय भी अनन्त तक हो सकते हैं। श्रुतप्रमाणके विकल्प, भेद या अंगको नय कहते हैं। श्रुतज्ञानमे ही नयरूप अंश होता है। जो नय है वह प्रमाणसापेक्षरूप होता है। (मति, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञानमें नयके भेद नही होते।)

(2) "Right belife is not identical with blind faith, It's authority is neither external nor autocratic It is reasoned knowledge. It is a sort of a sight of a thing. You cannot doubt it's testimony. So long as there is doubt, there is no right belief. But doubt must not be suppressed, it must be destroyed. Things have not to be taken on trust They must be tested and tried by every one him-self This sutra lays down the mode in which it can be done. It refers the inquirer to the first laws of thought and to the universal principles of all reasoning, that is to logic under the names of praman and Naya

(English Tatvarth Sutram, page 15)

अर्थः—सम्यग्दर्शन अंधश्रद्धानके साथ एकरूप नहीं, उसका अधिकार आत्माके बाहर या स्वच्छंदी नहीं है, वह युक्तिपुरस्सर ज्ञानसहित होता है, उसका प्रकार वस्तुके दर्शन (देखने) के समान है। आप उसके साक्षीपनेकी शंका नहीं कर सकते। जहाँ तक (स्वस्वरूपकी) शंका है वहाँ तक सच्ची मान्यता नहीं है। उस शंकाको दबाना नहीं चाहिये, किन्तु उसका नाश करना चाहिये। [किसीके] भरोसेपर वस्तुका ग्रहण नहीं किया जाता। प्रत्येकको स्वयं स्वतः उसकी परीक्षा करके उसके लिये यत्न करना चाहिये। वह कैसे हो सकता है, सो यह सूत्र बतलाता है। विचारकताके प्राथमिक नियम तथा समस्त युक्तिमान विश्वके सिद्धान्तों को प्रमाण और नयका नाम देकर उनका आश्रय लेनेके लिये महत्त्वशोधकको यह सूत्र सूचित करता है। [अंग्रेजी तत्त्वार्थ सूत्र पृष्ठ १५]

(३) युक्ति—

प्रमाण और नयको युक्ति कहते हैं। सत्शास्त्रका ज्ञान आगमज्ञान है। आगममें वर्णित तत्त्वोंको यथार्थता युक्ति द्वारा निश्चित किये बिना तत्त्वोंके भावोंका यथार्थ भास नहीं होता। इसलिये यहाँ युक्ति द्वारा निर्णय करनेको कहा है।

(४) अनेकान्त एकान्त—

जैन शास्त्रोंमें अनेकान्त और एकान्त शब्दोंका खूब प्रयोग किया गया है इसलिये उनका संक्षिप्त स्वरूप यहाँ दिया जा रहा है।

अनेकान्त=[अनेक+अंत] अनेक धर्म।

एकान्त=[एक+अंत] एक धर्म।

अनेकान्त और एकान्त दोनोंके दो-दो भेद हैं। अनेकान्तके दो भेद सम्यक्-अनेकान्त और मिथ्या-अनेकान्त तथा एकान्तके दो भेद सम्यक्-एकान्त और मिथ्या-एकान्त हैं। इनमेंसे सम्यक्-अनेकान्त प्रमाण है और मिथ्या-अनेकान्त प्रमाणाभास, तथा सम्यक्-एकान्त नय है और मिथ्या-एकान्त नयाभास है।

(५) सम्यक् और मिथ्या अनेकान्तका स्वरूपः—

प्रत्यक्ष, अनुमान तथा आगमप्रमाणसे अविरुद्ध एक वस्तुमें जो अनेक धर्म हैं उन्हें निरूपण करनेमें जो तत्पर है सो सम्यक् अनेकान्त है। प्रत्येक वस्तु निजरूपसे है और पर-

रूपसे नहीं। आत्मा स्व-स्वरूपसे है,-पर स्वरूपसे नहीं; पर उसके स्वरूपसे है और आत्माके स्वरूपसे नहीं,—इसप्रकार जानना सो सम्यक् अनेकान्त है। और जो तत्-अतत् स्वभावकी मिथ्या कल्पना की जाती है सो मिथ्या अनेकान्त है। जीव अपना कुछ कर सकता है और दूसरे जीवोंका भी कर सकता है,—इसमें जीवका निजसे और परसे-दोनोंसे तत्पना हुआ, इसलिये वह मिथ्या-अनेकान्त है।

(६) सम्यक् और मिथ्या अनेकान्तके दृष्टान्त—

१—आत्मा निजरूपसे है और पररूपसे नहीं, ऐसा जानना सो सम्यक् अनेकान्त है। आत्मा निजरूपसे है और पररूपसे भी है, ऐसा जानना सो मिथ्या अनेकान्त है।

२—आत्मा अपना कुछ कर सकता है, शरीरादि पर वस्तुओंका कुछ नहीं कर सकता,-ऐसा जानना सो सम्यक् अनेकान्त है। आत्मा अपना कर सकता है और शरीरादि परका भी कर सकता है, ऐसा जानना सो मिथ्या अनेकान्त है।

३—आत्माके शुद्धभावसे धर्म होता है और शुभ भावसे नहीं होता, ऐसा जानना सो सम्यक् अनेकान्त है। आत्माके शुद्ध भावसे धर्म होता है और शुभ भावसे भी होता है, ऐसा जानना सो मिथ्या अनेकान्त है।

४—निश्चय स्वरूपके आश्रयसे धर्म होता है और व्यवहारके आश्रयसे नहीं होता, ऐसा जानना सो सम्यक् अनेकान्त है। निश्चय स्वरूपके आश्रयसे धर्म होता है और व्यवहारके आश्रयसे भी होता है, ऐसा समझना सो मिथ्या अनेकान्त है।

५—निश्चय सम्यग्दर्शन प्रगट करनेके बाद स्वावलम्बनके बलसे जितना अंश व्यवहारका (-पराश्रयका) अभाव होता है उतना अंश निश्चय (-शुद्ध पर्याय) प्रगट होता है, ऐसा समझना सो सम्यक् अनेकान्त है। व्यवहारके करते करते निश्चय प्रगट हो जाता है, ऐसा समझना सो मिथ्या अनेकान्त है।

६—आत्माको अपनी शुद्ध क्रियासे लाभ होता है और शारीरिक क्रियासे हानि-लाभ नहीं होता, ऐसा जानना सो सम्यक् अनेकान्त है। आत्माको अपनी शुद्ध क्रियासे लाभ होता है और शारीरिक क्रियासे भी लाभ होता है, ऐसा मानना सो मिथ्या अनेकान्त है।

७—एक (प्रत्येक) वस्तुमें सदा स्वतंत्र वस्तुत्वको सिद्ध करनेवाली परस्पर दो विरोधी शक्तियों [सत्-असत्, तत्-अतत्, नित्य-अनित्य, एक-अनेक इत्यादि] को प्रकाशित करे सो सम्यक् अनेकान्त है।

एक वस्तुमें दूसरी वस्तुकी शक्तिको प्रकाशित करके, एक वस्तु दो वस्तुओंका कार्य करती है,—ऐसा मानना सो मिथ्या अनेकान्त है, अथवा सम्यक् अनेकान्तसे वस्तुका जो स्वरूप निश्चित है उससे विपरीत वस्तुस्वरूपकी केवल कल्पना करके जो उसमें न हो वैसे स्वभावोंकी कल्पना करना सो मिथ्या अनेकान्त है।

८—जीव अपने भाव कर सकता है और पर वस्तुका कुछ नहीं कर सकता—ऐसा मानना सो सम्यक् अनेकान्त है।

९—जीव सूक्ष्म पुद्गलोंका कुछ नहीं कर सकता, किन्तु स्थूल पुद्गलोंका कर सकता है, —ऐसा मानना सो मिथ्या अनेकान्त है।

(७) सम्यक् और मिथ्या एकान्तका स्वरूप—

निजस्वरूपसे अस्तित्वता और पर-रूपसे नास्तित्वता-आदि वस्तुका जो स्वरूप है उसकी अपेक्षा रखकर प्रमाणके द्वारा ज्ञात पदार्थके एकदेशको (एक पहलूको) विषय करनेवाला नय सम्यक् एकान्त है, और किसी वस्तुके एक धर्मका निश्चय करके उस वस्तुमें रहनेवाले अन्य धर्मोंका निषेध करना सो मिथ्या एकान्त है।

(८) सम्यक् और मिथ्या एकान्तके दृष्टान्त—

१—'सिद्ध भगवन्त एकान्त सुखी हैं' ऐसा मानना सो सम्यक् एकान्त है, क्योंकि 'सिद्धजीवोंको बिलकुल दुःख नहीं है' यह बात गर्भितरूपसे उसमें आ जाती है। और सर्व जीव एकान्त सुखी हैं—ऐसा मानना सो मिथ्या एकान्त है, क्योंकि उसमें, अज्ञानी जीव वर्तमान में दुःखी हैं, उसका निषेध होता है।

२—'एकान्त बोधबीजरूप जीवका स्वभाव है' ऐसा मानना सो सम्यक् एकान्त है, क्योंकि छद्मस्थ जीवकी वर्तमान ज्ञानावस्था पूर्ण विकासरूप नहीं है, यह उसमें गर्भितरूपसे आ जाता है।

४—'सम्यग्ज्ञान धर्म है' ऐसा मानना सो सम्यक् एकान्त है, क्योंकि 'सम्यग्ज्ञान पूर्वक वैराग्य होता है'—यह गर्भित रूपसे उसमें आ जाता है। सम्यग्ज्ञान रहित 'त्याग मात्र धर्म है'—ऐसा मानना सो मिथ्या एकान्त है, क्योंकि वह सम्यग्ज्ञान रहित होनेसे मिथ्या त्याग है।

(९) प्रमाणके प्रकारः—

परोक्षः—जो उपात्त* और अनुपात्त÷ पर (पदार्थों) द्वारा प्रवर्ते वह परोक्ष (प्रमाणज्ञान) है।

प्रत्यक्षः—जो केवल आत्मासे ही प्रतिनिश्चिततया प्रवृत्ति करे सो प्रत्यक्ष है।

प्रमाण सच्चा ज्ञान है। उसके पांच भेद है—मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान। इनमेसे मति और श्रुत मुख्यतया परोक्ष हैं, अवधि और मनःपर्यय विकल (-आंशिक एकदेश) प्रत्यक्ष हैं तथा केवलज्ञान सकलप्रत्यक्ष है।

(१०) नयके प्रकारः—

नय दो प्रकारके है-द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। इनमेसे जो द्रव्यपर्यायस्वरूप वस्तुमें द्रव्यका मुख्यतया अनुभव करावे सो द्रव्यार्थिकनय है, और जो पर्यायका मुख्यतया अनुभव कराये सो पर्यायार्थिक नय है।

द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नय क्या है? गुणार्थिक नय क्यों नहीं?

शास्त्रोमे अनेक स्थलों पर द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नयका उल्लेख मिलता है, किन्तु कही भी 'गुणार्थिक नय' का प्रयोग नही किया गया है; इसका क्या कारण है? सो कहते हैं—

तर्क-१:—द्रव्यार्थिक नयके कहनेसे उसका विषय गुण, और पर्यायार्थिक नयके कहनेसे उसका विषय पर्याय, तथा दोनो एकत्रित होकर जो प्रमाणका विषय-द्रव्य है सो सामान्य-विशेषात्मक द्रव्य है; इसप्रकार मानकर गुणार्थिक नयका प्रयोग नही किया है,—यदि कोई ऐसा कहे तो यह ठीक नही है, क्योंकि अकेले गुण द्रव्यार्थिक नयका विषय नही है।

तर्क-२:—द्रव्यार्थिक नयका विषय द्रव्य और पर्यायार्थिक नयका विषय पर्याय हैं; तथा पर्याय गुणका अंश होनेसे पर्यायमे गुण आ गये, यह मानकर गुणार्थिक नयका प्रयोग नही किया है; यदि इसप्रकार कोई कहे तो ऐसा भी नही है; क्योंकि पर्यायमें सम्पूर्ण गुणोंका समावेश नही हो जाता।

नोट—*उपात्त=प्राप्त; (इन्द्रिय, मन इत्यादि उपात्त पर पदार्थ हैं)।

÷अनुपात्त=अप्राप्त, (प्रकाश, उपदेश इत्यादि अनुपात्त पर पदार्थ हैं)।

गुणार्थिक नयका प्रयोग न करनेका वास्तविक कारण—

शास्त्रोंमें द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक-दो नयोंका ही प्रयोग किया गया है। उन दोनों नयोंका वास्तविक स्वरूप यह है—

पर्यायार्थिक नयका विषय जीवकी अपेक्षित बंध-मोक्षकी पर्याय है और उस (बंध-मोक्षकी अपेक्षा) से रहित त्रैकालिक शक्तिरूप गुणोंसे अभेद त्रैकालिक जीवद्रव्य सामान्य वही द्रव्यार्थिक नयका विषय है,-इस अर्थमें शास्त्रोंमें द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयका प्रयोग किया गया है, इसलिये गुणार्थिक नयकी आवश्यकता नहीं रहती। जीवके अतिरिक्त पाँच द्रव्योंके त्रैकालिक ध्रुव स्वरूपमें भी उसके गुणोंका समावेश हो जाता है, इसलिये पृथक् गुणार्थिक नयकी आवश्यकता नहीं है।

शास्त्रोंमें द्रव्यार्थिक नयका प्रयोग होता है, इसमें गंभीर रहस्य है। द्रव्यार्थिक नयका विषय त्रैकालिक द्रव्य है, और पर्यायार्थिक नयका विषय क्षणिक पर्याय है। द्रव्यार्थिक नयके विषयमें पृथक् गुण नहीं है, क्योंकि गुणको पृथक् करके लक्षमें लेने पर विकल्प उठता है और गुण भेद तथा विकल्प पर्यायार्थिक नयका विषय है। *

(११) द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नयके दूसरे नाम—

द्रव्यार्थिक नयको—निश्चय शुद्ध, सत्यार्थ, परमार्थ, भूतार्थ, स्वावलम्बी, स्वाश्रित, स्वतंत्र, स्वाभाविक, त्रैकालिक, ध्रुव, अभेद और स्वलक्षी नय कहा जाता है।

पर्यायार्थिक नयको व्यवहार, अशुद्ध, असत्यार्थ, अपरमार्थ, अभूतार्थ, परावलम्बी, पराश्रित, परतंत्र, निमित्ताधीन, क्षणिक, उत्पन्नध्वंसी, भेद और परलक्षी नय कहा जाता है।

(१२) सम्यग्दृष्टिके दूसरे नाम—

सम्यग्दृष्टिको द्रव्यदृष्टि, शुद्धदृष्टि, धर्मदृष्टि, निश्चयदृष्टि, परमार्थदृष्टि और अन्तरात्मा आदि नाम दिये गये हैं।

(१३) मिथ्यादृष्टिके दूसरे नाम—

मिथ्यादृष्टिको पर्यायबुद्धि, संयोगीबुद्धि, पर्यायमूढ़, व्यवहारदृष्टि, व्यवहारमूढ़, संसारदृष्टि, परावलम्बी बुद्धि, पराश्रितदृष्टि और बहिरात्मा आदि नाम दिये गये हैं।

---

* नयका विशेष स्वरूप जानना हो तो प्रवचनसारके अन्तमें दिये गये ४७ नयोंका अभ्यास करना चाहिये।

(१४) ज्ञान दोनों नयोंका करना चाहिये, किन्तु उसमें परमार्थतः आदरणीय निश्चय नय है,–ऐसी श्रद्धा करना चाहिये।

व्यवहारनय स्वद्रव्य-परद्रव्य अथवा उसके भावोंको या कारण-कार्यादिको किसीका किसीमें मिलाकर निरूपण करता है, इसलिये, ऐसे ही श्रद्धानसे मिथ्यात्व होता है, अतः उसका त्याग करना चाहिये।

निश्चयनय स्वद्रव्य-परद्रव्यको अथवा उनके भावोंको या कारण-कार्यादिको यथावत् निरूपण करता है, तथा किसीको किसीमें नहीं मिलाता, इसलिये ऐसे ही श्रद्धानसे सम्यक्त्व होता है, अतः उसका श्रद्धान करना चाहिये। इन दोनों नयोंको समकक्षी (–समान कोटिका) मानना सो मिथ्यात्व है।

(आधुनिक हिन्दी मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ २५१)

(१५) व्यवहार और निश्चयका फल—

वीतरागकथित व्यवहार, अशुभसे बचाकर जीवको शुभभावमें ले जाता है; उसका दृष्टान्त मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिंगी मुनि हैं। वे भगवानके द्वारा कथित व्रतादिका निरतिचार पालन करते हैं, इसलिये शुभभावके कारण नववें ग्रैवेयक तक जाते हैं, किन्तु उनका संसार बना रहता है। और भगवानके द्वारा कथित निश्चय, शुभ और अशुभ दोनोंसे बचाकर जीवको शुद्धभावमें-मोक्षमें ले जाता है, उसका दृष्टान्त सम्यग्दृष्टि है, जो कि नियमतः मोक्ष प्राप्त करता है।

(१६) शास्त्रोंमें दोनों नयोंको ग्रहण करना कहा है, सो कैसे?

जैन शास्त्रोंका अर्थ करनेकी पद्धति—जैन शास्त्रोंमें वस्तुका स्वरूप समझानेके दो प्रकार हैं;—निश्चयनय और व्यवहारनय।

(१) निश्चयनय अर्थात् वस्तु सत्यार्थरूपमें जैसी हो उसीप्रकार कहना, इसलिये निश्चयनयकी मुख्यतासे जहाँ कथन हो वहाँ उसे तो 'सत्यार्थ ऐसा ही है' यों जानना चाहिये; और—

(२) व्यवहारनय अर्थात् वस्तु सत्यार्थरूपसे वैसी न हो किन्तु परवस्तुके साथका सम्बन्ध बतलानेके लिये कथन हो, जैसे–'घीका घड़ा!' यद्यपि घड़ा घीका नहीं किन्तु मिट्टीका है, तथापि घी और घड़ा दोनों एक साथ हैं, यह बतानेके लिये उसे 'घीका घड़ा'

कहा जाता है। इसप्रकार जहाँ व्यवहारसे कथन हो वहाँ यह समझना चाहिये कि 'वास्तवमें तो ऐसा नहीं है, किन्तु निमित्तादि बतलानेके लिये उपचारसे वैसा कथन है।'

दोनों नयोंके कथनको सत्यार्थ जानना अर्थात् 'इसप्रकार भी है और इसप्रकार भी है' ऐसा मानना सो भ्रम है। इसलिये निश्चय कथनको सत्यार्थ जानना चाहिये, व्यवहार कथनको नहीं, प्रत्युत यह समझना चाहिये कि वह निमित्तादिको बतानेवाला उपचार कथन है।

इसप्रकार दोनों नयोंके कथनका अर्थ करना सो दोनों नयोंका ग्रहण है। दोनोंको समकक्ष अथवा आदरणीय मानना सो भ्रम है। सत्यार्थको ही आदरणीय मानना चाहिये।

[नय—श्रुतज्ञानका एक पहलू, निमित्त—विद्यमान अनुकूल परवस्तु]

(आधुनिक हिन्दी मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ २५१ के आधारसे)

(१७) निश्चयाभासीका स्वरूप–

जो जीव आत्माके त्रैकालिक स्वरूपको स्वीकार करे, किन्तु यह स्वीकार न करे कि अपनी भूलके कारण वर्तमान पर्यायमें निजके विकार है वह निश्चयाभासी है, उसे शुष्कज्ञानी भी कहते हैं।

(१८) व्यवहाराभासीका स्वरूप—

प्रथम व्यवहार चाहिये, व्यवहार करते करते निश्चय (धर्म) होता है ऐसा मानकर शुभराग करता है परन्तु अपना त्रैकालिक ध्रुव (ज्ञायकभाव) स्वभाव नहीं मानता और न अन्तर्मुख होता है ऐसे जीवको सच्चे देव-शास्त्र-गुरु तथा सप्त तत्त्वोंकी व्यवहार-श्रद्धा है तो भी अनादिकी निमित्त तथा व्यवहार (भेद-पराश्रय) की रुचि नहीं छोड़ता और सप्त तत्त्वकी निश्चय श्रद्धा नहीं करता इसलिये वह व्यवहाराभासी है, उसे क्रिया-जड़ भी कहते हैं। और जो यह मानता है कि शारीरिक क्रियासे धर्म होता है वह व्यवहाराभाससे भी अति दूर है।

(१९) नयके दो प्रकार—

नय दो प्रकारके हैं-'रागसहित' और 'रागरहित'। आगमका प्रथम अभ्यास करने पर नयोंका जो ज्ञान होता है वह 'रागसहित' नय है। वहाँ यदि जीव यह माने कि उस रागके होनेपर भी रागसे धर्म नहीं होता तो वह नयका ज्ञान सच्चा है। किन्तु यदि यह

माने कि रागसे धर्म होता है, तो वह ज्ञान नयाभास है। दोनों नयोंका यथार्थ ज्ञान करनेके बाद अपनी पर्याय परका लक्ष छोड़कर अपने त्रैकालिक शुद्ध चैतन्यस्वभावको ओर लक्ष करे, स्वसन्मुख हो, तब सम्यग्दर्शनादि शुद्धभाव प्रगट होते हैं इसलिये वह नय रागरहित नय है, उसे 'शुद्ध नयका आश्रय अथवा शुद्धनयका अवलंबन' भी कहा जाता है; उस दशाको **'नयातिक्रांत'** भी कहते हैं। उसीको सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान कहा जाता है, और उसीको 'आत्मानुभव' भी कहते हैं।

(२०) प्रमाणसप्तभंगी-नयसप्तभंगी—

सप्तभंगीके दो प्रकार हैं। सप्तभंगका स्वरूप चौथे अध्यायके उपसंहारमें दिया गया है, वहाँसे समझ लेना चाहिये। दो प्रकारकी सप्तभंगीमें से जिस सप्तभंगीसे एक गुण या पर्यायके द्वारा सम्पूर्ण द्रव्य जाना जाय वह **'प्रमाण सप्तभंगी'** है, और जिस सप्तभंगीसे कथित गुण अथवा पर्यायके द्वारा उस गुण अथवा पर्यायका ज्ञान हो वह **'नय-सप्तभंगी'** है। इस सप्तभंगीका ज्ञान होने पर प्रत्येक द्रव्य स्वतंत्र है, और एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कुछ नहीं कर सकता-ऐसा निश्चय होनेसे, अनादिकालीन विपरीत मान्यता टल जाती है।

(२१) वीतरागी-विज्ञानका निरूपण—

जैन शास्त्रोंमें अनेकान्तरूप यथार्थ जीवादि तत्त्वोंका निरूपण है तथा सच्चा (-निश्चय) रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग बताया है, इसलिये यदि जीव उसकी पहिचान कर ले तो वह मिथ्यादृष्टि न रहे। इसमें वीतरागभावकी पुष्टिका ही प्रयोजन है, रागभाव (पुण्य-पापभाव) की पुष्टिका प्रयोजन नहीं है। इसलिये जो ऐसा मानते हैं कि रागसे-पुण्यसे धर्म होता है वे जैन शास्त्रोंके मर्म को नहीं जानते।

(आधुनिक हिन्दी मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ २२४)

(२२) मिथ्यादृष्टिके नय—

जो मनुष्य शरीरको अपना मानता है और ऐसा मानता है कि मैं मनुष्य हूं, जो शरीर है वह मैं हूँ अथवा शरीर मेरा है अर्थात् जीव शरीरका कोई कार्य कर सकता है ऐसा माननेवाला जीव, आत्मा और अनन्त रजकणोंको एकरूप माननेके कारण (अर्थात् अनंत के मिलापको एक माननेके कारण) मिथ्यादृष्टि है और उसका ज्ञान भी यथार्थमें कुनय है। ऐसी मान्यता पूर्वक प्रवर्तना कि मैं मनुष्य हूं, यह उसका (मिथ्यादृष्टिका) व्यवहार है इसलिये यह व्यवहार-कुनय है, वास्तवमें तो उस व्यवहारको निश्चय मानता है। जैसे 'जो

शरीर है सो मैं हूं' इस दृष्टान्तमें शरीर पर है, वह जीवके साथ मात्र एक क्षेत्रावगाही है तथापि उसको अपना रूप माना इसलिये उसने व्यवहारको निश्चय समझा। वह ऐसा भी मानता है कि "जो मैं हू सो शरीर है" इसलिये उसने निश्चयको व्यवहार माना है। जो ऐसा मानता है कि पर द्रव्योंका मैं कुछ कर सकता हूं और पर अपनेको लाभ-नुकसान कर सकता है वह मिथ्यादृष्टि है—एकान्ती है।

(२३) सम्यग्दृष्टिके नय—

समन्त सम्यक् विद्याके मूलरूप अपने भगवान आत्माके स्वभावको प्राप्त होना, आत्मस्वभावकी भावनामें जुटना और स्व द्रव्यमें एकताके बलसे आत्मस्वभावमें स्थिरता बढ़ाना सो सम्यक् अनेकान्तदृष्टि है। सम्यक्‌दृष्टि जीव अपने एकरूप-ध्रुव स्वभावरूप आत्माका आश्रय करता है यह उसका निश्चय-सुनय है और अचलित चैतन्य विलासरूप जो आत्मव्यवहार (शुद्ध पर्याय) प्रगट होता है सो उसका व्यवहार सुनय है।

(प्रवचनसार गाथा ९४ टीका)

(२४) नीतिका स्वरूप—

प्रत्येक वस्तु स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभावकी अपेक्षासे है और परवस्तुके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी अपेक्षासे वह वस्तु नहीं है इसलिये प्रत्येक वस्तु अपना ही कार्य कर सकती है ऐसा जानना सो यथार्थ नीति है। जिनेन्द्र भगवान द्वारा कहा गया अनेकान्त स्वरूप तथा प्रमाण और निश्चय व्यवहाररूप नय ही यथार्थ नीति है। जो सत्पुरुष अनेकान्तके साथ सुसंगत (समीचीन) दृष्टिके द्वारा अनेकान्तमय वस्तुस्थितिको देखते हैं वे स्याद्वादकी शुद्धिको प्राप्त कर-जानकर जिननीतिका अर्थात् जिनेश्वरदेवके मार्गको-न्यायको उल्लंघन न करते हुये ज्ञानस्वरूप होते हैं।

नोट—(१) अनेकान्तको समझानेकी रीतिको स्याद्वाद कहा है। (२) सम्यक् अनेकान्तको प्रमाण कहा जाता है, यह संक्षिप्त कथन है। वास्तवमें जो सम्यक अनेकान्तका ज्ञान है सो प्रमाण है, इसीप्रकार सम्यक एकान्तको नय कहते हैं, वस्तुतः जो सम्यक् एकान्तका ज्ञान है सो नय है।

(२५) निश्चय और व्यवहारका दूसरा अर्थ—

अपना द्रव्य और अपनी शुद्ध या अशुद्ध पर्याय बतानेके लिये भी निश्चय प्रयुक्त होता है जैसे सर्व जीव द्रव्य अपेक्षासे सिद्ध परमात्माके समान हैं। आत्माकी सिद्ध पर्यायको निश्चय पर्याय कहते हैं और आत्मामें होनेवाले विकारीभावको निश्चय बंध कहा जाता है।

स्व-द्रव्य या पर्यायको जब निश्चय कहा जाता है तब आत्माके साथ पर द्रव्यका जो संबंध होता है उसे आत्माका कहते हैं, यही व्यवहार है—उपचार कथन है। जैसे जड़कर्मको आत्माका कहना व्यवहार है। जड़ कर्म परद्रव्यकी अवस्था है, आत्माकी अवस्था नहीं है। तथापि उन जड़कर्मोंको आत्माका कहते हैं। यह कथन निमित्त-नैमित्तिक संबंध बतानेके लिये है। अत: व्यवहार नय है—उपचार कथन है।

इस अध्यायके ३३ वें सूत्रमें दिये गये सात नय आत्मा तथा प्रत्येक द्रव्यमें लागू होते हैं इसलिये उन्हें आगम शास्त्रमें निश्चय नयके विभागके रूपमें माना जाता है। इन सात नयोंमेंसे पहले तीन द्रव्यार्थिक नयके विभाग हैं और बादके चार पर्यायार्थिक नयके विभाग हैं, किन्तु वे सात नय भेद हैं इसलिए, और उनके आश्रयसे राग होता है और वे राग दूर करने योग्य हैं इसलिये अध्यात्म-शास्त्रोंमें उन सबको व्यवहार नयके उप-विभागके रूपमें माना जाता है।

आत्माका स्वरूप समझनेके लिये नय-विभाग—

शुद्ध द्रव्यार्थिक नयकी दृष्टिसे आत्मा त्रिकाल शुद्ध चैतन्यस्वरूप है—यहां (त्रिकाल शुद्ध कहनेमें) वर्तमान विकारी पर्याय गौण की गई है। यह विकारी पर्याय क्षणिक अवस्था होनेसे पर्यायार्थिक नयका विषय है और जब वह विकारी दशा आत्मामें होती है ऐसा बतलाना हो तब वह विकारी पर्याय अशुद्ध द्रव्यार्थिक नयका विषय होती है, और जब ऐसा बतलाना हो कि यह पर्याय पर द्रव्यके संयोगसे होती है तब वह विकारी पर्याय व्यवहार नयका विषय होती है।

यहाँ यह समझना चाहिये कि जहा आत्माकी अपूर्ण पर्याय भी व्यवहारका विषय है वहाँ व्यवहारका अर्थ भेद होता है।

निश्चयनय और द्रव्यार्थिकनय तथा व्यवहारनय और पर्यायार्थिकनय भिन्न भिन्न अर्थमें भी प्रयुक्त होते हैं—

ऐसा ज्ञान करना कि रत्नत्रय जीवसे अभिन्न है सो अभेदप्रधान द्रव्यार्थिकनयका स्वरूप है। इसीप्रकार रत्नत्रय जीवसे भिन्न है, ऐसा ज्ञान करना सो भेदप्रधान पर्यायार्थिक नयका स्वरूप है।

(प्रवचनसार गाथा १८१ जयसेनाचार्य टीका)

रत्नत्रयमें अभेदपूर्वक प्रवृत्ति होना सो निश्चयनयसे मोक्षमार्ग है तथा भेदपूर्वक प्रवृत्ति होना सो व्यवहार नयसे मोक्षमार्ग है।

निश्चय रत्नत्रयके समर्थन करनेका यह मतलब है कि जो भेद-प्रवृत्ति है सो व्यवहार रत्नत्रय है और जो अभेद-प्रवृत्ति है सो निश्चय रत्नत्रय है।

(२६) छट्ठे सूत्रका सिद्धान्त—

हे जीव! पहले यह निश्चय कर कि तुझे धर्म करना है या नहीं? यदि धर्म करना हो तो परके आश्रयसे मेरा धर्म नहीं है ऐसी श्रद्धाके द्वारा पराश्रित अभिप्रायका दूर कर। परसे जो जो अपनेमें होना माना है उस मान्यताको यथार्थ प्रतीतिके द्वारा जला दे।

यहाँ ऐसा समझना चाहिए कि जिसप्रकार सात (पुण्य-पाप सहित नौ) तत्त्वोंको जानकर उनमेंसे शुद्धनयके विषयरूप जीवका ही आश्रय करना भूतार्थ है, उसी प्रकार अधिगम-के उपाय जो प्रमाण, नय, निक्षेपोंको जानकर उनमेंसे शुद्धनयके विषयरूप जीवका ही आश्रय करना भूतार्थ है और यही सम्यग्दर्शन है ॥ ६ ॥

निश्चय सम्यग्दर्शनादि जाननेके अमुख्य (अप्रधान) उपाय—

निर्देशस्वामित्वसाधनाधिकरणस्थितिविधानतः ॥ ७ ॥

अर्थ—[निर्देश स्वामित्व साधन अधिकरण स्थिति विधानतः] निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति और विधानसे भी सम्यग्दर्शनादि तथा जीवादिक तत्त्वोंका अधिगम होता है।

टीका

१–निर्देशः—वस्तुस्वरूपके कथनको निर्देश कहते हैं।

२–स्वामित्वः—वस्तुके अधिकारीपनको स्वामित्व कहते हैं।

३–साधनः—वस्तुकी उत्पत्तिके कारणको साधन कहते हैं।

४–अधिकरणः—वस्तुके आधारको अधिकरण कहते हैं।

५–स्थितिः—वस्तुके कालकी मर्यादाको स्थिति कहते हैं।

६–विधानः—वस्तुके भेदोंको विधान कहते हैं।

उपरोक्त ६ प्रकारसे सम्यग्दर्शनका कथन निम्नप्रकार किया जाता है—

१–निर्देशः—जीवादि सात तत्त्वोंकी यथार्थ श्रद्धापूर्वक निज शुद्धात्माका प्रतिभास विश्वास-प्रतीतिको निर्देश कहते हैं।

२–स्वामित्वः—चारों गतिके संज्ञी पंचेन्द्रिय भव्य जीव स्वामी होते हैं।

३–साधनः—साधनके दो भेद है अंतरंग और बाह्य। अन्तरंग साधन (अन्तरङ्ग कारण) तो स्व शुद्धात्माके त्रिकाली ज्ञायकभाव (पारिणामिक भाव) का आश्रय है और बाह्य कारण भिन्न प्रकारके होते है। तिर्यंच और मनुष्य गतिमें (१) जातिस्मरण (२) धर्म श्रवण (३) जिनबिम्ब दर्शन, ये निमित्त होते है। देवगतिमें बारहवें स्वर्गसे पहले (१) जातिस्मरण (२) धर्म श्रवण (३) जिन कल्याणक दर्शन और (४) देवऋद्धि-दर्शन कारण होता है। और बारहवें स्वर्गसे १६वें स्वर्ग पर्यन्त (१) जातिस्मरण (२) धर्म श्रवण और (३) जिन कल्याणक दर्शन कारण है। नव ग्रैवेयकमें (१) जातिस्मरण और (२) धर्म श्रवण कारण होता है। नरकगतिमें तीसरे नरक तक जातिस्मरण, धर्मश्रवण और दुःखानुभव निमित्त होता है एव चौथेसे सातवें नरक तक जातिस्मरण और दुःखानुभव निमित्त होता है।

नोट—उपरोक्त धर्मश्रवण सम्यग्ज्ञानियोंसे प्राप्त होना चाहिये।

शंकाः—सभी नारकी जीव विभंगज्ञान द्वारा एक, दो या तीन आदि भव जानते हैं, उससे सभी को जातिस्मरण होता है, इसलिए क्या सभी नारकी जीव सम्यग्दृष्टि हो जायेंगे ?

समाधानः—सामान्यतया भवस्मरण द्वारा सम्यक्त्वकी प्राप्ति नहीं होती, किन्तु पूर्वभवमें धर्मबुद्धिसे किये हुए अनुष्ठान विपरीत (विफल) थे ऐसी प्रतीति प्रथम सम्यक्त्वकी उत्पत्तिका कारण होती है, इसी बातको ध्यानमें रखकर भवस्मरणको सम्यक्त्वकी उत्पत्तिका कारण कहा है। नारकी जीवोंके पूर्वभवका स्मरण होने पर भी बहुतोंके उपरोक्त उपयोगका अभाव होता है। ऊपर कहे गये प्रकारका जातिस्मरण प्रथम सम्यक्त्वकी उत्पत्तिका कारण होता है।

शंकाः—नरकमें ऋषियों (साधुओं)का गमन नहीं होता, फिर वहां नारकी जीवोंके धर्मश्रवण किस तरह सम्भव हो सकता है ?

समाधानः—अपने पूर्व भवके सम्बन्धियोंके धर्म उत्पन्न करानेमें प्रवृत्त और सभी बाधाओंसे रहित सम्यग्दृष्टि देवोंका वहां (तीसरे नरक पर्यन्त) गमन होता है।

शंकाः—यदि वेदनाका अनुभव सम्यक्त्वकी उत्पत्तिका कारण है तो सभी नारकियोंको सम्यक्त्व हो जाना चाहिये, क्योंकि सभी नारकियोके वेदनाका अनुभव है।

। उत्पत्ति में कारण नहीं

समाधान—वेदना सामान्य सम्यक्त्वकी उत्पत्तिका कारण नहीं। पुनश्च, इन स्वर्गोंमें शुक्ल-
ऐसा उपयोग होता है कि मिथ्यात्वके कारण इस वेदनाकी भाव उत्पन्न नहीं होता।
वेदना सम्यक्त्वकी उत्पत्तिका कारण होता है, दूसरे जीवों नहीं होता इसलिये वहाँ महाऋद्धिदर्शन
कारण नहीं होता।
।ह्लक पर्व महोत्सव देखनेके लिये नदीश्वरादि

शंका.— जिनबिम्बदर्शन प्रथम सम्य -दर्शन भी कारण नहीं है। वे अवधिज्ञानके बलसे
के रागकी न्यूनता अर्थात् मन्द राग होनेसे जिनमहिमा-
समाधानः—जिनबिम्बदर्शनसे (होता।
उनके) निधत्त और निकाचितरूप ?
(श्री धवला पुस्तक ६, पृष्ठ ४३२ से ४३६)
इसी कारण जिनबिम्बदर्शन प्रथ म्यग्दर्शनका अन्तरंग आधार आत्मा है और बाह्य आधार त्रसनाली
लोकके मध्यमें चौदह राजू लम्बे और एक राजू चौड़े स्थानको त्रसनाली

प्रश्नः—ह्न।)
बताया है। अवस्थिति—तीनों प्रकारके सम्यग्दर्शनकी जघन्यसे जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की है,
क्यों नहीं ? औपशमिक सम्यग्दर्शनकी उत्कृष्ट स्थिति भी अन्तर्मुहूर्तकी है, क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शनकी
उत्कृष्ट स्थिति ६६ सागरकी और क्षायिक सम्यग्दर्शनकी सादि अनन्त है, तथा संसारमें
स रहनेकी अपेक्षासे उसकी उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागर तथा अन्तर्मुहूर्त सहित आठ
वर्ष कम दो कोडी पूर्व है।

(६) विधान—सम्यग्दर्शन एक तरह अथवा स्वपर्यायकी योग्यतानुसार तीन प्रकार
है—औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक। तथा आज्ञा, मार्ग, बीज, उपदेश,
सूत्र संक्षेप विस्तार, अर्थ, अवगाढ और परमावगाढ इस तरह १० भेदरूप हैं। ७

और भी अन्य अनुरूप उपाय—

सत्संख्याक्षेत्रस्पर्शनकालान्तरभावाल्पबहुत्वैश्च ॥ ८ ॥

अर्थ -[च] और [सत् संख्या क्षेत्र स्पर्शन काल अन्तर भावाल्पबहुत्वै]
सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन काल अन्तर भाव और अल्पबहुत्व इन आठ अनुयोगोंके द्वारा भी
पदार्थका ज्ञान होता है।

टीका

सत् और संख्या —यह द्रव्य-गुण-पर्यायके सत्ताकी अपेक्षासे उपभेद । सत्
सामान्य और संख्या विशेष है।

क्षेत्र और स्पर्शनः—यह क्षेत्रका उपभेद है। क्षेत्र सामान्य और स्पर्शन विशेष है।

काल और अन्तरः—यह कालका उपभेद है। काल सामान्य और अन्तर विशेष है।

भाव और अल्पबहुत्वः—यह भावका उपभेद है। भाव सामान्य है और अल्पबहुत्व विशेष है।

सत्ः—वस्तुके अस्तित्वको सत् कहते हैं।

संख्याः—वस्तुके परिणामोंकी गणनाको संख्या कहते हैं।

क्षेत्रः—वस्तुके वर्तमानकालीन निवासको क्षेत्र कहते हैं।

स्पर्शनः—वस्तुके त्रिकालवर्ती निवासको स्पर्शन कहते हैं।

कालः—वस्तुके स्थिर रहनेकी मर्यादाको काल कहते हैं।

अन्तरः—वस्तुके विरहकालको अन्तर कहते हैं।

भावः—गुणको अथवा औपशमिक, क्षायिक आदि पाँच भावोंको भाव कहते हैं।

अल्पबहुत्वः—अन्य पदार्थकी अपेक्षासे वस्तुकी हीनता-अधिकताके वर्णनको अल्पबहुत्व कहते हैं।

अनुयोगः—भगवान प्रणीत उपदेश विषयके अनुसार भिन्न भिन्न अधिकारमें कहा गया है, प्रत्येक अधिकारका नाम अनुयोग है। सम्यक्ज्ञानका उपदेश देनेके लिये प्रवृत्त हुए अधिकारको अनुयोग कहते है।

सत् और निर्देशमें अन्तर

यदि 'सत्' शब्द निर्देश है वह सामान्य कथन है और सत् है वह विशेष कथन सामान्यत सम्यग्दर्शनादिके अस्तित्वको बतलानेवाला हो तो निर्देश मे उसका समावेश हो जायगा, किन्तु गति, इन्द्रिय, काय, योग आदि चौदह मार्गणाओंमे किस जगह किस तरहका सम्यग्दर्शन होता है और किस तरहका नही ऐसा विशेष ज्ञान सत्से होता है, निर्देशसे ऐसा ज्ञान नही होता, यही सत् और निर्देशमे अन्तर है।

इस सूत्रमें सत् शब्दका प्रयोग किसलिये किया है?

अनधिकृत पदार्थो का भी ज्ञान करा सकने की सत् शब्दकी सामर्थ्य है। यदि इस सूत्रमे सत् शब्दका प्रयोग न किया होता तो आगामी सूत्रमें सम्यग्दर्शन आदि तथा जीवादि सात तत्त्वोके ही अस्तित्वका ज्ञान निर्देश शब्दके द्वारा होता और जीवके क्रोध मान आदि

पर्याय तथा पुद्गलके वर्ण गंध आदि तथा घट पट आदि पर्याय (जिनका यह अधिकार नहीं है) के अस्तित्वके अभावका ज्ञान होता इसलिये इस समय अनधिकृत पदार्थ जीवमें क्रोधादि तथा पुद्गलमें वर्णादिका ज्ञान करानेके लिये इस सूत्रमें सत् शब्दका प्रयोग किया है।

संख्या और विधानमें अन्तर

प्रकारकी गणनाको विधान कहते हैं और उस भेदकी गणनाको संख्या कहते हैं। जैसे सम्यग्दृष्टि तीन तरहके हैं (१) औपशमिक सम्यग्दृष्टि (२) क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि और क्षायिक सम्यग्दृष्टि। 'संख्या' शब्दसे भेदगणनाका ज्ञान होता है कि उक्त तीन प्रकारके सम्यग्दृष्टियोंमें औपशमिक सम्यग्दृष्टि कितने हैं क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि कितने हैं अथवा क्षायिक सम्यग्दृष्टि कितने हैं। भेदोंकी गणनाकी विशेषताको बतलानेका जो कारण है उसे संख्या कहते हैं।

'विधान' शब्दसे मूलपदार्थके ही भेद ग्रहण किये हैं, इसीलिये भेदोंके अनेक तरहके भेदोंको ग्रहण करनेके लिये संख्या शब्दका प्रयोग किया है।

'विधान' शब्दके कहनेसे भेद प्रभेद आ जाते हैं ऐसा माना जाय तो विशेष स्पष्टताके लिये संख्या शब्दका प्रयोग किया गया है ऐसा समझना चाहिये।

क्षेत्र और अधिकरणमें अन्तर

अधिकरण शब्द थोड़े स्थानको बतलाता है, इसीसे वह व्याप्य है और क्षेत्र शब्द व्यापक है वह अधिक स्थानको बतलाता है। 'अधिकरण' शब्दके कहनेसे सम्पूर्ण पदार्थोंका ज्ञान नहीं होता, क्षेत्रके कहनेसे सम्पूर्ण पदार्थोंका ज्ञान होता है, इसलिये समस्त पदार्थोंके ज्ञान करानेके लिये इस सूत्रमें क्षेत्र शब्दका प्रयोग किया है।

क्षेत्र और स्पर्शनमें अन्तर

'क्षेत्र' शब्द अधिकरणसे विशेषता बतलाता है तो भी उसका विषय एकदेशका है और 'स्पर्शन' शब्द सर्वदेशका विषय करता है। जैसे किसीने पूछा कि 'राजा कहाँ रहता है?' उत्तर दिया कि 'अमुक नगरमें रहता है'। यहाँ यद्यपि राजा सम्पूर्ण नगरमें नहीं रहता किन्तु नगरके एकदेशमें रहता है, इसलिये नगरके एकदेशमें राजाका निवास होनेसे 'नगर' क्षेत्र है। किसीने पूछा कि 'तेल कहाँ है?' उत्तर दिया कि 'तिलमें तेल रहता

अब सम्यग्ज्ञानके भेद कहते हैं—

मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम् ॥ ९ ॥

अर्थः–मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान ये पांच [ज्ञानम्] ज्ञान हैं।

टीका

(१) **मतिज्ञानः**–पांच इन्द्रियों और मनके द्वारा (अपनी शक्तिके अनुसार) जो ज्ञान होता है उसे मतिज्ञान कहते हैं।

श्रुतज्ञानः–मतिज्ञानके द्वारा जाने हुये पदार्थको विशेषरूपसे जानना सो श्रुतज्ञान है।

अवधिज्ञानः–जो द्रव्य क्षेत्र काल और भावकी मर्यादा सहित इन्द्रिय या मनके निमित्तके विना रूपी पदार्थोंको प्रत्यक्ष जानता है उसे अवधिज्ञान कहते हैं।

मनःपर्ययज्ञानः–जो द्रव्य क्षेत्र काल और भावकी मर्यादा सहित इन्द्रिय अथवा मनकी सहायताके विना ही दूसरे पुरुषके मनमें स्थित रूपी पदार्थोंको प्रत्यक्ष जानता है उसे मनःपर्ययज्ञान कहते हैं

केवलज्ञानः–समस्त द्रव्य और उनकी सर्व पर्यायोंको एक साथ प्रत्यक्ष जाननेवाले ज्ञानको केवलज्ञान कहते हैं।

(२) इस सूत्रमें 'ज्ञानम्' शब्द एक वचनका है, वह यह बतलाता है कि ज्ञानगुण एक है और उसकी पर्यायके ये ५ भेद हैं। इनमें जब एक प्रकार उपयोगरूप होता है तब दूसरा प्रकार उपयोगरूप नहीं होता, इसीलिये इन पांचमेंसे एक समयमें एक ही ज्ञानका प्रकार उपयोगरूप होता है।

सम्यग्ज्ञान सम्यग्दर्शनपूर्वक होता है। सम्यग्दर्शन कारण और सम्यग्ज्ञान कार्य है। सम्यग्ज्ञान आत्माके ज्ञानगुणकी शुद्ध पर्याय है। यह आत्मासे कोई भिन्न वस्तु नहीं है। सम्यग्ज्ञानका स्वरूप निम्न प्रकार है.–

" सम्यग्ज्ञानं पुनः स्वार्थव्यवसायात्मकं विदुः "

(तत्त्वार्थसार पूर्वार्ध गाथा

अर्थः–जिस ज्ञानमें स्व=अपना स्वरूप, अर्थ=विषय, व्यव[illegible] ये तीन बातें पूरी हों उसे सम्यग्ज्ञान कहते हैं अर्थात् जिस ज्ञानमें [illegible] स्वस्वरूप प्रतिभासित हो और वह भी यथार्थ हो तो उस ज्ञानको [illegible]

नववें सूत्रका सिद्धान्त

श्री जिनेन्द्र भगवान द्वारा प्ररूपित ज्ञानके समस्त भेदोंको जानकर परभावोंको छोड़कर और निजस्वरूपमें स्थिर होकर जीव जो चैतन्य चमत्कार मात्र है उसमें प्रवेश करता है–गहरा उतर जाता है, वह पुरुष शीघ्र ही मोक्षको प्राप्त करता है।

(श्री नियमसार गाथा १० की टीकाका श्लोक १७) ॥९॥

कौनसे ज्ञान प्रमाण हैं ?

तत्प्रमाणे ॥ १० ॥

अर्थ–[तत्] उपरोक्त पाँचों प्रकारके ज्ञान ही [प्रमाणे] प्रमाण (सच्चे ज्ञान) हैं।

टीका

नववें सूत्रमें कहे हुये पाँचों ज्ञान ही प्रमाण हैं अन्य कोई ज्ञान प्रमाण नहीं है। प्रमाणके दो भेद हैं प्रत्यक्ष और परोक्ष। यह ध्यान रहे कि इन्द्रियाँ अथवा इन्द्रियों और पदार्थोंके सम्बन्ध (सन्निकर्ष) ये कोई प्रमाण नहीं हैं अर्थात् न तो इन्द्रियोंसे ज्ञान होता है और न इन्द्रियों और पदार्थोंके सम्बन्धसे ज्ञान होता है, किन्तु उपरोक्त मति आदि ज्ञान स्वसे होते हैं इसलिये ज्ञान प्रमाण है।

प्रश्नः—इन्द्रियाँ प्रमाण हैं क्योंकि उनके द्वारा ज्ञान होता है ?

उत्तरः—इन्द्रियाँ प्रमाण नहीं हैं क्योंकि इन्द्रियाँ जड़ हैं और ज्ञान तो चेतनकी पर्याय है, वह जड़ नहीं है, इसलिये आत्माके द्वारा ही ज्ञान होता है।

(श्री जयधवला पुस्तक भाग १, पृष्ठ ५४-५५)

प्रश्नः—यह ठीक है न कि प्रस्तुत ज्ञेय पदार्थ हों तो उससे ज्ञान होता है ?

उत्तरः—यह ठीक नहीं है। यदि प्रस्तुत पदार्थ (ज्ञेय) और आत्मा इन दोनोंके मिलनेसे ज्ञान होता तो ज्ञाता और ज्ञेय इन दोनोंको ज्ञान होना चाहिये, किन्तु ऐसा नहीं होता।

(सर्वार्थसिद्धि पृष्ठ ३१२)

यदि उपादान और निमित्त ये दो होकर एक कार्य करें तो उपादान और निमित्तकी स्वतंत्र सत्ता न रहे। उपादान-निमित्तका कुछ नहीं करता और न निमित्त-उपादान का कुछ करता है। प्रत्येक पदार्थ स्वतंत्र रूपसे अपने अपने कारणसे अपने लिए उपस्थित होते हैं, ऐसा नियम होनेसे अपनी योग्यतानुसार निमित्त-उपादान दोनोंके कार्य स्वतंत्र, पृथक् पृथक्

होते हैं। यदि उपादान और निमित्त ये दोनों मिलकर काम करें तो दोनों उपादान हो जाँय अर्थात् दोनोंकी एक सत्ता हो जाय, किन्तु ऐसा नहीं होता।

इस सम्बन्धमें ऐसा नियम है कि अपूर्ण ज्ञानका विकास जिस समय अपना व्यापार करता है उस समय उसके योग्य बाह्य पदार्थ अर्थात् इन्द्रियाँ प्रकाश, ज्ञेय पदार्थ, गुरु, शास्त्र इत्यादि (पर द्रव्य) अपने अपने कारणसे ही उपस्थित होते हैं, ज्ञानको उनकी प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती। निमित्त-नैमित्तिकका तथा उपादान-निमित्तका ऐसा मेल होता है।

प्रश्नः—आप सम्यग्ज्ञानका फल अधिगम कहते हो, किन्तु वह (अधिगम) तो ज्ञान ही है, इसलिये ऐसा मालूम होता है कि सम्यग्ज्ञानका कुछ फल नहीं होता।

उत्तरः—सम्यग्ज्ञानका फल आनन्द (संतोष) उपेक्षा (राग-द्वेष रहितता) और अज्ञानका नाश है। (सर्वार्थसिद्धि पृष्ठ ३३४)

इससे यह सिद्ध होता है कि ज्ञान स्वसे ही होता है, पर पदार्थ से नहीं होता।

सूत्र ९-१० का सिद्धांत

नौवें सूत्रमें कथित पाँच सम्यग्ज्ञान ही प्रमाण है, उनके अतिरिक्त दूसरे लोग भिन्न भिन्न प्रमाण कहते हैं, किन्तु वह ठीक नहीं है। जिस जीवको सम्यग्ज्ञान हो जाता है वह अपने सम्यक् मति और सम्यक् श्रुतज्ञानके द्वारा अपनेको सम्यक्त्व होनेका निर्णय कर सकता है, और वह ज्ञान प्रमाण अर्थात् सच्चा ज्ञान है ॥ १० ॥

परोक्ष प्रमाणके भेद

आद्ये परोक्षम् ॥११॥

अर्थ—[आद्ये] प्रारम्भके दो अर्थात् मतिज्ञान और श्रुतज्ञान [परोक्षम्] परोक्ष प्रमाण हैं।

टीका

यहाँ प्रमाण अर्थात् सम्यग्ज्ञान के भेदोंमेसे प्रारंभके दो अर्थात् मतिज्ञान और श्रुतज्ञान परोक्ष प्रमाण हैं। यह ज्ञान परोक्ष प्रमाण हैं इसलिये उन्हें संशयवान या भूलयुक्त नहीं मान लेना चाहिये; क्योंकि वे सर्वथा सच्चे ही हैं। उनके उपयोगके समय इंद्रिय या मन निमित्त होते हैं, इसलिये पर-अपेक्षाके कारण उन्हे परोक्ष कहा है; स्व-अपेक्षासे पाँचो प्रकारके ज्ञान प्रत्यक्ष हैं।

प्रश्नः—तब क्या सम्यक्मतिज्ञानवाला जीव यह जान सकता है कि मुझे सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन है ?

उत्तरः—ज्ञान सम्यक् है इसलिए अपनेको सम्यग्ज्ञान होनेका निर्णय भली भांति कर सकता है, और जहाँ सम्यग्ज्ञान होता है वहाँ सम्यग्दर्शन अविनाभावी होता है इसलिये उसका भी निर्णय कर ही लेता है। यदि निर्णय नहीं कर पाये तो वह अपना अनिर्णय अर्थात् अनध्यवसाय कहलायगा, और ऐसा होने पर उसका वह ज्ञान मिथ्याज्ञान कहलायगा।

प्रश्न—सम्यक्मतिज्ञानी दर्शनमोहनीय प्रकृतिके पुद्गलोंको प्रत्यक्ष नहीं देख सकता, और उसके पुद्गल उदयरूप हों तथा जीव उसमें युक्त होता हो तो क्या उसकी भूल नहीं होगी ?

उत्तरः—यदि भूल होती है तो वह ज्ञान विपरीत होगा, और इसलिए वह ज्ञान 'सम्यक्' नहीं कहला सकता। जैसे शरीरके बिगड़नेपर यह असातावेदनीयका उदय है, सातावेदनीयका उदय नहीं है—ऐसा कर्मके रजकणोंको प्रत्यक्ष देखे बिना श्रुतज्ञानके बलसे यथार्थ जान लिया जाता है, उसी प्रकार अपने ज्ञान-अनुभवसे श्रुतज्ञानके बलसे यह सम्यक् (यथार्थ) जाना जा सकता है कि दर्शनमोहनीय कर्म उदयरूप नहीं है।

प्रश्न—क्या सम्यक्मतिज्ञान यह जान सकता है कि अमुक जीव भव्य है या अभव्य ?

उत्तरः—इस सम्बन्धमें श्री धवला शास्त्रमें (पुस्तक १ पृष्ठ १७ में) लिखा है कि—अवग्रहसे ग्रहण किये गये अर्थको विशेष जाननेकी आकांक्षा 'ईहा' है। जैसे किसी पुरुषको देखकर 'यह भव्य है या अभव्य ?' इस प्रकारकी विशेष परीक्षा करना सो 'ईहाज्ञान' है। ईहाज्ञान संदेहरूप नहीं होता, क्योंकि ईहात्मक विचार बुद्धिसे संदेहका विनाश हो जाता है। संदेहसे ऊपर और अवायसे नीचे तथा मध्यमें प्रवृत्त होनेवाली विचारबुद्धिका नाम ईहा है।

ईहाज्ञानसे जाने गये पदार्थ विषयक संदेहका दूर हो जाना सो 'अवाय' (निर्णय) है। पहले ईहा ज्ञानसे 'यह भव्य है या अभव्य ?' इसप्रकार संदेहरूप बुद्धिके द्वारा विषय किया गया जीव 'अभव्य नहीं भव्य ही है' क्योंकि उसमें भव्यत्वके अविनाभावी सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र गुण प्रगट हुये हैं, इसप्रकार उत्पन्न हुये 'चय' (निश्चय) ज्ञानका नाम 'अवाय' है।

यह अवश्य है कि जो कोई अनन्त ज्ञानादि स्वरूप आत्माको उपादेय मानके श्रद्धान करता है उसके सात प्रकृतियोंका उपशम, क्षय या क्षयोपशम अवश्यमेव विद्यमान है और

अवश्य भव्य है। जिसके पूर्वमें कहे अनुसार शुद्धात्मा ही उपादेय है ऐसा श्रद्धान नहीं है उसके सात प्रकृतियोंका उपशमादिक भी नहीं होता ऐसा जानना योग्य है। इसलिए वह मिथ्यादृष्टि ही है। इसकारण अभव्य जीवके मिथ्यात्व आदि सात प्रकृतियोंका उपशम आदिका होना कदाचित् भी संभव नही है, यह तात्पर्य है।

(श्री समयसार गाथा २७६–२७७ जयसेनाचार्यकृत टीका)

इससे सिद्ध होता है कि सम्यक्‌मतिज्ञान यह यथार्थतया निश्चय कर सकता है कि अपनेको तथा परको सम्यग्दर्शन है।

जब सम्यग्दृष्टि जीव अपने उपयोगमें युक्त होता है तब वे मतिज्ञान और श्रुतज्ञान प्रत्यक्ष होते है। यह दशा चौथे गुणस्थानसे होती है। (श्री समयसार गाथा ८५ की जयसेनाचार्यकृत टीका पृष्ठ १४१) श्रीमद् शास्त्रमालामें लिखा है कि "निज शुद्धात्मा उपादेय रुचिरूप निर्विकार चित् चमत्कार मात्र लक्षण शुद्ध उपादान कारणसे उत्पन्न निश्चय सम्यक्त्व जिसको प्रगट नही हुआ है वह मिथ्यादृष्टि है।" इसका स्पष्टीकरण यह है कि चतुर्थ गुणस्थान वाला जीव मिथ्यादृष्टि नहीं है, अपितु सम्यक्‌दृष्टि है। चतुर्थ गुणस्थानसे निश्चय सम्यक्त्व होता है ऐसा उपरोक्त कथनसे सिद्ध होता है।

यही बात श्री धवल पु १ सत्प्ररूपणासूत्र १४५ की टीकामें निम्नप्रकार कही है—सामान्य सम्यग्दर्शन तथा क्षायिक सम्यक्‌दर्शनके गुणस्थान बतलानेके लिए सूत्र कहते हैं—

सम्माइट्ठी खइय सम्माइट्ठी असंजद—
सम्माइट्ठिप्पहुडि जाव अजोगिकेवलित्ति ॥ १४५ ॥

सामान्यसे सम्यग्दृष्टि और विशेषकी अपेक्षा क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव असंयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थानसे लेकर अयोगिकेवली गुणस्थान तक होते हैं ॥ १४५ ॥

शंकाः—सामान्य सम्यग्दर्शन क्या वस्तु है ?

समाधानः—तीनों ही सम्यग्दर्शनमें जो साधारण धर्म पाया जाता है वही सामान्य सम्यग्दर्शनसे विवक्षित है।

शंकाः—क्षायिक क्षायोपशमिक और औपशमिक सम्यग्दर्शन तो परस्परमें भिन्न हैं, उनमें सदृशता कैसी ?

समाधानः—यथार्थ श्रद्धानकी अपेक्षा उन तीनोंमें समानता पाई जाती है।

मतिश्रुतात्मक भावमन स्वानुभूतिके समय विशेष दशावाला होता है, फिर भी श्रेणिसमान तो नहीं किन्तु, अपनी भूमिकाके योग्य निर्विकल्प होता है, इसलिए

मति-श्रुतात्मक भावमन स्वानुभूतिके समय प्रत्यक्ष माना गया है। मति-श्रुतज्ञानके बिना केवलज्ञानकी उत्पत्ति नहीं होती, उसका यही कारण है। (अवधिमनःपर्ययज्ञानके बिना केवलज्ञानकी उत्पत्ति हो सकती है)

[पञ्चाध्यायी भाग १ श्लोक ७०८ से ७११ तक इस सूत्रकी चर्चा की गई है। देखो प० देवकीनन्दनजीकृत टीका, पृष्ठ ३६३ से ३६८]

यहाँ मति-श्रुतज्ञानको परोक्ष कहा है, तत्सम्बन्धी विशेष स्पष्टीकरण

अवग्रह, ईहा अवाय और धारणारूप मतिज्ञानको 'सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष' भी कहा गया है। लोग कहते हैं कि 'मैंने घड़ेके रूपको प्रत्यक्ष देखा है' इसलिये वह ज्ञान सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष है।

श्रुतज्ञानके तीन प्रकार हो जाते हैं—(१) सम्पूर्ण परोक्ष, (२) आंशिक परोक्ष, (३) परोक्ष बिलकुल नहीं किन्तु प्रत्यक्ष।

(१) शब्दरूप जो श्रुतज्ञान है सो परोक्ष ही है। तथा दूरभूत स्वर्ग-नरकादि बाह्य विषयोंका ज्ञान करानेवाला विकल्परूप ज्ञान भी परोक्ष ही है।

(२) आभ्यन्तरमें सुख-दुःखके विकल्परूप जो ज्ञान होता है वह, अथवा 'मैं अनन्त ज्ञानादिरूप हूँ' ऐसा ज्ञान ईषत् (किंचित्) परोक्ष है।

(३) निश्चयभाव-श्रुतज्ञान शुद्धात्माके सन्मुख होनेसे सुखसंवित्ति (ज्ञान) स्वरूप है। यद्यपि वह ज्ञान निजको जानता है, तथापि इन्द्रियों तथा मनसे उत्पन्न होनेवाले विकल्पोंके समूह रहित होनेसे निर्विकल्प है। (अभेदनयसे) उसे 'आत्मज्ञान' शब्दसे पहचाना जाता है। यद्यपि वह केवलज्ञानकी अपेक्षासे परोक्ष है तथापि छद्मस्थोंके क्षायिक ज्ञानकी प्राप्ति न होनेसे क्षायोपशमिक होनेपर भी उसे 'प्रत्यक्ष' कहा जाता है।

प्रश्न—इस सूत्रमें मति और श्रुतज्ञानको परोक्ष कहा है तथापि आपने उसे ऊपर 'प्रत्यक्ष' कैसे कहा है?

उत्तरः—इस सूत्रमें जो श्रुतको परोक्ष कहा है सो वह सामान्य कथन है, और ऊपर जो भावश्रुतज्ञानको प्रत्यक्ष कहा है सो विशेष कथन है। प्रत्यक्षका कथन विशेषकी अपेक्षासे है ऐसा समझना चाहिये।

यदि इस सूत्रमें उत्सर्ग कथन न होता तो मतिज्ञानको परोक्ष नहीं कहा जाता। यदि

मतिज्ञान परोक्ष ही होता तो तर्क शास्त्रमें उसे सांव्यवहारिक-प्रत्यक्ष क्यों कहते हैं? इसलिये जैसे विशेष कथनमें उस मतिज्ञानको प्रत्यक्ष ज्ञान कहा जाता है उसीप्रकार निजात्मसन्मुख भावश्रुतज्ञानको (यद्यपि वह केवलज्ञानकी अपेक्षासे परोक्ष है तथापि) विशेष कथनमें प्रत्यक्ष कहा है।

यदि मति और श्रुत दोनों मात्र परोक्ष ही होते तो सुख-दुःखादिका जो संवेदन (ज्ञान) होता है वह भी परोक्ष ही होता, किन्तु वह संवेदन प्रत्यक्ष है यह सभी जानते हैं। [देखो बृहत् द्रव्य संग्रह गाथा ५ के नीचे हिन्दी टीका पृष्ठ १३ से १५, इंगलिश पृष्ठ १७-१८] उत्सर्ग=सामान्य-General Ordinance-सामान्य नियम; अपवाद=विशेष Exception-विशेष नियम।

नोट—ऐसा उत्सर्ग कथन ध्याताके सम्बन्धमें अध्याय ९ सूत्र २७-४७ में कहा है, वहाँ अपवाद कथन नहीं किया है। [देखो बृहत् द्रव्य संग्रह गाथा ५७, नीचे हिन्दी टीका, पृष्ठ-२११] इस प्रकार जहाँ उत्सर्ग कथन हो वहाँ अपवाद कथन गर्भित है,-ऐसा समझना चाहिये।

प्रत्यक्षप्रमाणके भेद

प्रत्यक्षमन्यत् ॥ १२ ॥

अर्थः—[अन्यत्] शेष तीन अर्थात् अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान [प्रत्यक्षम्] प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

टीका

अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान विकल-प्रत्यक्ष है तथा केवलज्ञान सकल प्रत्यक्ष है। [प्रत्यक्ष=प्रति+अक्ष] 'अक्ष' का अर्थ आत्मा है। आत्माके प्रति जिसका नियम हो अर्थात् जो परनिमित्त-इन्द्रिय, मन, आलोक (प्रकाश), उपदेश आदिसे रहित आत्माके आश्रयसे उत्पन्न हो, जिसमें दूसरा कोई निमित्त न हो, ऐसा ज्ञान प्रत्यक्षज्ञान कहलाता है। १२.

मतिज्ञानके दूसरे नाम

मतिःस्मृतिःसंज्ञाचिंताभिनिबोध इत्यनर्थांतरम् ॥ १३ ॥

अर्थः—[मतिः] मति, [स्मृतिः] स्मृति, [संज्ञा] संज्ञा [चिंता] चिन्ता, [अभिनिबोध] अभिनिबोध, [इति] इत्यादि, [अनर्थांतरम्] अन्य पदार्थ नहीं हैं, अर्थात् वे मतिज्ञानके नामांतर हैं।

टीका

मति—मन अथवा इन्द्रियोंसे, वर्तमानकालवर्ती पदार्थको अवग्रहादिरूप साक्षात् जानना सो मति है।

स्मृति—पहले जाने हुये या अनुभव किये हुये पदार्थका वर्तमानमें स्मरण आना सो स्मृति है।

संज्ञा—का दूसरा नाम प्रत्यभिज्ञान है। वर्तमानमें किसी पदार्थको देखने पर 'यह वही पदार्थ है जो पहले देखा था' इसप्रकार स्मरण और प्रत्यक्षके जोड़रूप ज्ञानको संज्ञा कहते हैं।

चिन्ता—चिन्तवनज्ञान अर्थात् किसी चिह्नको देखकर 'यहाँ उस चिह्न वाला अवश्य होना चाहिए' इसप्रकारका विचार चिन्ता है। इस ज्ञानको ऊह, ऊहा, तर्क अथवा व्याप्तिज्ञान भी कहते हैं।

अभिनिबोध—स्वार्थानुमान, अनुमान, उसके दूसरे नाम हैं। सन्मुख चिह्नादि देखकर उस चिह्नवाले पदार्थका निर्णय करना सो 'अभिनिबोध' है।

यद्यपि इन सबमें अर्थभेद है तथापि प्रसिद्ध रूढ़िके वशसे ये मतिके नामान्तर कहलाते हैं। इन सबके प्रगट होनेमें मतिज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम निमित्त मात्र है, यह लक्ष्यमें रखकर उसे मतिज्ञानके नामान्तर कहते हैं।

यह सूत्र सिद्ध करता है कि—जिसने आत्मस्वरूपका यथार्थ ज्ञान नहीं किया हो वह आत्माका स्मरण नहीं कर सकता; क्योंकि स्मृति तो पूर्वानुभूत पदार्थ की ही होती है, इसीलिये अज्ञानीको प्रभुस्मरण (आत्मस्मरण) नहीं होता; किन्तु 'राग मेरा है' ऐसी पकड़का स्मरण होता है, क्योंकि उसे उसका अनुभव है। इसप्रकार अज्ञानी जीव धर्मके नाम पर चाहे जो कार्य करे तथापि उसका ज्ञान मिथ्या होनेसे उसे धर्मका स्मरण नहीं होता, किन्तु रागकी पकड़का स्मरण होता है।

स्वसंवेदन, बुद्धि, मेधा, प्रतिभा, प्रज्ञा, इत्यादि भी मतिज्ञानके भेद हैं।

स्वसंवेदन—सुखादि अन्तरंग विषयोंका ज्ञान स्वसंवेदन है।

बुद्धि—बोधनमात्रत्व बुद्धि है। बुद्धि, प्रतिभा, प्रज्ञा आदि मतिज्ञानकी तारतम्यता (हीनाधिकता) सूचक ज्ञानके भेद हैं।

अनुमान दो प्रकारके हैं—एक मतिज्ञानका भेद है और दूसरा श्रुतज्ञानका। साधनके देखने पर स्वयं साध्यका ज्ञान होना सो मतिज्ञान है। दूसरेके हेतु और तर्कके वाक्य सुनकर

जो अनुमान ज्ञान हो सो श्रुतानुमान है। चिह्नादिसे उसी पदार्थका अनुमान होना सो मतिज्ञान है और उसी (चिह्नादि) से दूसरे पदार्थका अनुमान होना सो श्रुतज्ञान है ॥ १३ ॥

मतिज्ञानकी उत्पत्तिके समय निमित्त—

तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम् ॥ १४ ॥

अर्थः—[इन्द्रियानिन्द्रिय] इन्द्रियाँ और मन [तत्] उस मतिज्ञानके [निमित्तम्] निमित्त हैं।

टीका

इन्द्रियः— आत्मा, (इन्द्र=आत्मा) परम ऐश्वर्यरूप प्रवर्तमान है, इसप्रकार अनुमान करानेवाला शरीरका चिह्न।

नो इन्द्रियः— मन; जो सूक्ष्म पुद्गलस्कन्ध मनोवर्गणाके नामसे पहिचाने जाते हैं उनसे बने हुये शरीरका आंतरिक अङ्ग, जो कि अष्टदल कमलके आकार हृदयस्थानमें है।

मतिज्ञानके होनेमें इन्द्रिय—मन निमित्त होता है, ऐसा जो इस सूत्रमें कहा है, तो वह परद्रव्योंके होनेवाले ज्ञानकी अपेक्षासे कहा है—ऐसा समझना चाहिये। भीतर स्वलक्षमें मन-इन्द्रिय निमित्त नही है। जब जीव उस (मन और इन्द्रियके अवलम्बन)से अंशतः पृथक् होता है तब स्वतंत्र तत्त्वका ज्ञान करके उसमें स्थिर हो सकता है।

इन्द्रियोंका धर्म तो यह है कि वे स्पर्श, रस, गंध, वर्णको जाननेमें निमित्त हों, आत्मामें वह नहीं है, इसलिये स्वलक्षमें इन्द्रियाँ निमित्त नहीं हैं। मनका धर्म यह है कि वह अनेक विकल्पोंमें निमित्त हो। वह विकल्प भी यहां (स्वलक्षमें) नहीं है। जो ज्ञान इन्द्रियों तथा मनके द्वारा प्रवृत्त होता था वही ज्ञान निजानुभवमें वर्त रहा है; इसप्रकार इस मतिज्ञानमें मन-इन्द्रियाँ निमित्त नहीं हैं। यह ज्ञान अतीन्द्रिय है। मनका विषय मूर्तिक-अमूर्तिक पदार्थ हैं, इसलिये मन सम्बन्धी परिणाम स्वरूपके विषयमें एकाग्र होकर अन्य चिंतवनका निरोध करता है, इसलिये उसे (उपचारसे) मनके द्वारा हुआ कहा जाता है। ऐसा अनुभव चतुर्थगुणस्थानसे ही होता है।

(आधुनिक हिन्दी मोक्षमार्ग प्रकाशकके अन्तर्गत रहस्यपूर्ण चिट्ठी पृष्ठ ४-७)

इस सूत्रमे बतलाया गया है कि मतिज्ञानमें इन्द्रिय—मन निमित्त हैं। यह नहीं कहा है कि—मतिज्ञानमें ज्ञेय अर्थ (वस्तु) और आलोक (प्रकाश) निमित्त हैं, क्योंकि अर्थ और

आलोक मतिज्ञानमें निमित्त नहीं है। उन्हें निमित्त मानना भूल है। यह विषय विशेष समझने योग्य है, इसलिये इसे प्रमेयरत्नमाला हिन्दी (पृष्ठ ५० से ५२) यहां संक्षेप में दे रहे हैं—

प्रश्नः—सांव्यवहारिक मतिज्ञानका निमित्तकारण इन्द्रियादिको कहा है, उसीप्रकार (ज्ञेय) पदार्थ और प्रकाशको भी निमित्त कारण क्यों नहीं कहा ?

प्रश्नकारका तर्क यह है कि अर्थ (वस्तु) से भी ज्ञान उत्पन्न होता है–और प्रकाशसे भी ज्ञान उत्पन्न होता है। यदि उसे निमित्त न माना जाय तो सभी निमित्त कारण नहीं आ सकते, इसलिये सूत्र अपूर्ण रह जाता है।

समाधानः—आचार्यदेव कहते हैं कि—

"नार्थालोकौ कारणं परिच्छेद्यत्वात्तमोवत्"

(द्वितीय समुद्देश अधिकार)

अर्थः—अर्थ (वस्तु) और आलोक दोनों सांव्यवहारिक प्रत्यक्षके कारण नहीं हैं, किन्तु वे केवल परिच्छेद्य (ज्ञेय) हैं। जैसे अन्धकार ज्ञेय है वैसे ही वे भी ज्ञेय हैं।

इसी न्यायको बतलानेके लिये तत्पश्चात् सातवाँ सूत्र दिया है जिसमें कहा गया है कि–ऐसा कोई नियम नहीं है कि जब अर्थ और आलोक हो तब ज्ञान उत्पन्न होता ही है और जब वे न हों तब ज्ञान उत्पन्न नहीं होता। इसके लिये निम्नलिखित दृष्टांत दिये गये हैं—

(१) एक मनुष्यके सिर पर मच्छरोंका समूह उड़ रहा था, किन्तु दूसरेने उसे बालोंका गुच्छा समझा; इसप्रकार यहां अर्थ (वस्तु) ज्ञानका कारण नहीं हुआ।

(२) अंधकारमें बिल्ली इत्यादि रात्रिचर प्राणी वस्तुओंको देख सकते हैं, इसलिये ज्ञानके होनेमें प्रकाश कारण नहीं हुआ।

उपरोक्त दृष्टान्त (१) मच्छरोंका समूह था किन्तु ज्ञान तो बालोंके गुच्छेका हुआ। यदि अर्थ ज्ञानका कारण होता तो बालोंके गुच्छेका ज्ञान क्यों हुआ; और मच्छरोंके समूहका ज्ञान क्यों नहीं हुआ ? और दृष्टान्त (२) में बिल्ली आदिको अंधकारमें ज्ञान हो जाता है; यदि प्रकाश ज्ञानका कारण होता तो बिल्लीको अन्धकार में ज्ञान कैसे होता ?

प्रश्नः—तब यह मतिज्ञान किस कारणसे होता है ?

उत्तरः—क्षायोपशमिक ज्ञानकी योग्यताके अनुसार ज्ञान होता है, ज्ञान होनेका यह कारण है। ज्ञानके उस क्षयोपशमके अनुसार वह होता है, वस्तुके अनुसार नहीं।

इसलिये यह निश्चित समझना चाहिये कि बाह्य वस्तु ज्ञानके होनेमें निमित्त कारण नहीं है। आगे नववें सूत्रमें इस न्यायको सिद्ध किया है।

जैसे दीपक घट इत्यादि पदार्थोंसे उत्पन्न नहीं होता तथापि वह अर्थका प्रकाशक है।
[प्रमेयरत्नमाला सूत्र ८]

जिस ज्ञानकी क्षयोपशम लक्षण योग्यता है वही विषयके प्रति नियम रूप ज्ञान होनेका कारण है, ऐसा समझना चाहिये। [प्रमेयरत्नमाला सूत्र ६]

जब आत्माके मतिज्ञान होता है तब इन्द्रियाँ और मन दोनों निमित्त मात्र होते हैं, वह मात्र इतना बतलाता है कि 'आत्मा' उपादान है। निमित्त अपनेमें (निमित्तमें) शत प्रतिशत कार्य करता है किन्तु वह उपादानमें अंशमात्र कार्य नहीं करता। निमित्त परद्रव्य है; आत्मा उससे भिन्न द्रव्य है; इसलिये आत्मामें (उपादानमें) उसका (निमित्तका) अत्यन्त अभाव है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्यके क्षेत्रमें घुस नहीं सकता; इसलिए निमित्त उपादानका कुछ नही कर सकता। उपादान अपनेमें अपना कार्य स्वतः शत प्रतिशत करता है। मतिज्ञान परोक्षज्ञान है यह ग्यारहवें सूत्रमें कहा है। वह परोक्षज्ञान है इसलिये उस ज्ञानके समय निमित्तकी स्वतः अपने कारणसे उपस्थिति होती है। वह उपस्थिति निमित्त कैसा होता है उसका ज्ञान करानेके लिये यह सूत्र कहा है; किन्तु–'निमित्त आत्मामें कुछ भी कर सकता है' यह बतानेके लिये यह सूत्र नहीं कहा है। यदि निमित्त आत्मामें कुछ करता होता तो वह (निमित्त) स्वयं ही उपादान हो जाता।

और निमित्त भी उपादानके कार्य के समय मात्र आरोपकारण है। यदि जीव चक्षुके द्वारा ज्ञान करे तो चक्षु पर निमित्तका आरोप होता है, और यदि जीव अन्य इन्द्रिय या मनके द्वारा ज्ञान करे तो उस पर निमित्तका आरोप होता है।

एक द्रव्य दूसरे द्रव्यमें (पर द्रव्यमें) अकिंचित्कर है, अर्थात् कुछ भी नही कर सकता। अन्य द्रव्यका अन्य द्रव्यमें कदापि प्रवेश नही है और न अन्य द्रव्य अन्य द्रव्यकी पर्यायका उत्पादक ही है; क्योंकि प्रत्येक वस्तु अपने अन्तरंगमें अत्यन्त (सम्पूर्णतया) प्रकाशित है, परमें लेश मात्र भी नही है। इसलिए निमित्तभूत वस्तु उपादानभूतवस्तुका कुछ भी नहीं कर सकती। उपादानमें निमित्तकी द्रव्यसे, क्षेत्रसे, कालसे और भावसे नास्ति है, और निमित्तमें उपादानकी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे नास्ति है; इसलिए एक दूसरेका क्या कर सकते हैं? यदि एक वस्तु दूसरी वस्तुका कुछ करने लगे तो वस्तु अपने वस्तुत्वको ही खो बैठे; किन्तु ऐसा हो ही नहीं सकता।

[निमित्त = संयोगरूपकारण, उपादान = वस्तुकी सहज शक्ति] इस शास्त्रके दसवें सूत्रकी टीकामें निमित्त-उपादान सम्बन्धी स्पष्टीकरण किया है, वहांसे विशेष समझ लेना चाहिये।

उपादान-निमित्त कारण

प्रत्येक कार्यमें दो कारण होते हैं (१) उपादान (२) निमित्त। इनमेंसे उपादान तो निश्चय (वास्तविक) कारण है और निमित्त व्यवहार आरोप-कारण है, अर्थात् वह (जब उपादान कार्य कर रहा हो तब वह उसके) अनुकूल उपस्थितरूप (विद्यमान) होता है। कार्यके समय निमित्त होता है किन्तु उपादानमें वह कोई कार्य नहीं कर सकता, इसलिये उसे व्यवहार कारण कहा जाता है। जब कार्य होता है तब निमित्तकी उपस्थितिके दो प्रकार होते हैं (१) वास्तविक उपस्थिति (२) काल्पनिक उपस्थिति। जब छद्मस्थ जीव विकार करता है तब द्रव्यकर्मका उदय उपस्थितरूप होता ही है, वहां द्रव्यकर्मका उदय उस विकारका वास्तविक उपस्थितिरूप निमित्त कारण है। [यदि जीव विकार न करे तो वहां द्रव्यकर्मकी निर्जरा हुई कहलाती है। तथा जीव जब विकार करता है तब तो कर्मकी उपस्थिति वास्तवमें होती है अथवा कल्पनारूप होती है।

निमित्त होता ही नहीं, यह कहकर यदि कोई निमित्तके अस्तित्वका इन्कार करे तब, उपादान अपूर्ण हो तब निमित्त उपस्थित होता है, यह बतलाया जाता है, किन्तु यह तो निमित्तका ज्ञान करानेके लिए है। इसलिये जो निमित्तके अस्तित्वको ही स्वीकार न करे उसका ज्ञान सम्यग्ज्ञान नहीं है। यहां सम्यग्ज्ञानका विषय होनेसे आचार्यदेवने निमित्त कैसा होता है इसका ज्ञान कराया है। जो यह मानता है कि निमित्त उपादानका कुछ करता है उसकी यह मान्यता मिथ्या है, और इसलिये यह समझना चाहिये कि उसे सम्यग्दर्शन नहीं है ॥ १४ ॥

मतिज्ञानके क्रमके भेद—

अवग्रहेहावायधारणाः ॥ १५ ॥

अर्थः—[अवग्रह ईहा अवाय धारणाः] अवग्रह, ईहा, अवाय, और धारणा यह चार भेद हैं।

टीका

अवग्रहः —चेतनामें जो थोड़ा विशेषाकार भासित होने लगता है उस ज्ञानको 'अवग्रह' कहते हैं। विषय और विषयी (विषय करनेवाले) के योग्य स्थानमें आ जानेके बाद

होने वाला आद्यग्रहण अवग्रह है। स्व और पर दोनोंका (जिस समय जो विषय हो उसका) पहिले अवग्रह होता है। (Perception)

ईहाः—अवग्रहके द्वारा जाने गये पदार्थको विशेषरूपसे जाननेकी चेष्टा (आकांक्षा) को ईहा कहते हैं। ईहाका विशेष वर्णन ग्यारहवें सूत्रके नीचे दिया गया है। (Conception)

अवायः—विशेष चिह्न देखनेसे उसका निश्चय हो जाय सो अवाय है। (Judgment)

धारणाः—अवायसे निर्णीत पदार्थको कालान्तरमें न भूलना सो धारणा है। (Retention)

आत्माके अवग्रह ईहा अवाय और धारणा

जीवको अनादिकालसे अपने स्वरूपका भ्रम है, इसलिये पहिले आत्मज्ञानी पुरुषसे आत्मस्वरूपको सुनकर युक्तिके द्वारा यह निर्णय करना चाहिए कि आत्मा ज्ञानस्वभाव है, तत्पश्चात्—

परपदार्थकी प्रसिद्धिके कारण-इन्द्रिय द्वारा तथा मन द्वारा प्रवर्तमान बुद्धिको मर्यादामें लाकर अर्थात् पर पदार्थोंकी ओरसे अपना लक्ष्य खींचकर जब आत्मा स्वयं स्वसन्मुख लक्ष करता है तब, प्रथम सामान्य स्थूलतया आत्मासम्बन्धी ज्ञान हुआ, वह आत्माका अर्थावग्रह हुआ। तत्पश्चात् स्व-विचारके निर्णयकी ओर उन्मुख हुआ सो ईहा, और निर्णय हुआ सो अवाय, अर्थात् ईहासे ज्ञात आत्मामें यह वही है अन्य नहीं, ऐसा दृढ ज्ञान अवाय है। आत्मासम्बन्धी कालान्तरमें संशय तथा विस्मरण न हो सो धारणा है। यहाँ तक तो मतिज्ञानमें धारणा तकका अन्तिम भेद हुआ। इसके बाद यह आत्मा अनन्त ज्ञानानन्द शांति स्वरूप है, इसप्रकार मनिमेसे प्रलम्बित तार्किक ज्ञान श्रुतज्ञान है। भीतर स्वलक्ष्यमें मन-इन्द्रिय निमित्त नही है। जब जीव उससे-अंशत पृथक् होता है तब स्वतंत्र तत्त्वका ज्ञान करके उसमें स्थिर हो सकता है।

अवग्र या ईहा हो किन्तु यदि वह लक्ष चालू न रहे तो आत्माका निर्णय नही होता अर्थात् अवाय ज्ञान नही होता, इसलिये अवायकी अत्यन्त आवश्यकता है। यह ज्ञान होते समय विकल्प, राग, मन, या पर वस्तुकी ओर लक्ष नही होता, किन्तु स्वसन्मुख लक्ष होता है।

सम्यग्दृष्टिको अपना (आत्माका) ज्ञान होते समय इन चारों प्रकारका ज्ञान होता है। धारणा तो स्मृति है। जिस आत्माको सम्यग्ज्ञान अप्रतिहत (-निर्बाध) भाव से हुआ हो उसे आत्माका ज्ञान धारणारूप बना ही रहता है॥ १५॥

अवग्रहादिके विषयभूत पदार्थ—

बहुबहुविधक्षिप्रानिःसृतानुक्तध्रुवाणां सेतराणां ॥ १६ ॥

अर्थ—[बहु] बहुत [बहुविध] बहुतप्रकार [क्षिप्र] जल्दी [अनिःसृत] अनिःसृत [अनुक्त] अनुक्त [ध्रुवाणां] ध्रुव [सेतराणां] उनसे उल्टे भेदोंसे युक्त अर्थात् एक, एकविध, अक्षिप्र, निःसृत, उक्त, और अध्रुव, इसप्रकार बारह प्रकारके पदार्थोंका अवग्रह ईहादिरूप ज्ञान होता है।

टीका

(१) बहु—एकही साथ बहुतसे पदार्थोंका अथवा बहुतसे समूहोंका अवग्रहादि होना [जैसे लोगोंके झुंडका अथवा गेहूंके ढेरका] बहुतसे पदार्थोंका ज्ञानगोचर होना।

(२) एक—अल्प अथवा एक पदार्थका ज्ञान होना [जैसे एक मनुष्यका अथवा पानीके प्यालेका] थोड़े पदार्थोंका ज्ञानगोचर होना।

(३) बहुविध—कई प्रकारके पदार्थोंका अवग्रहादि ज्ञान होना (जैसे कुत्तेके साथका मनुष्य अथवा गेहूं, चना, चावल इत्यादि अनेक प्रकारके पदार्थ) युगपत् बहुत प्रकारके पदार्थोंका ज्ञानगोचर होना।

(४) एकविध—एक प्रकारके पदार्थोंका ज्ञान होना (जैसे एक प्रकारके गेहूंका ज्ञान) एक प्रकारके पदार्थ का ज्ञानगोचर होना।

(५) क्षिप्र—शीघ्रतासे पदार्थका ज्ञान होना।

(६) अक्षिप्र—किसी पदार्थको धीरे धीरे बहुत समयमें जानना अर्थात् चिरग्रहण।

(७) अनिःसृत—एक भागके ज्ञानसे सर्वभागका ज्ञान होना (जैसे पानीके बाहर निकली हुई सूंडको देखकर पानीमें डूबे हुए पूरे हाथीका ज्ञान होना) एक भागके अव्यक्त रहने पर भी ज्ञानगोचर होना।

(८) निःसृत—बाहर निकले हुए प्रगट पदार्थका ज्ञान होना, पूर्णव्यक्त पदार्थका ज्ञानगोचर होना।

(९) अनुक्तः—(अकथित) जिस वस्तुका वर्णन नही किया उसे जानना। जिसका वर्णन नही सुना है फिर भी उस पदार्थका ज्ञानगोचर होना।

(१०) उक्तः—कथित पदार्थका ज्ञान होना। वर्णन सुननेके बाद पदार्थका ज्ञानगोचर होना।

(११) ध्रुवः—बहुत समय तक ज्ञान जैसाका तैसा बना रहना, अर्थात् दृढता-वाला ज्ञान।

अध्रुवः—प्रतिक्षण हीनाधिक होनेवाला ज्ञान अर्थात् अस्थिरज्ञान।

यह सब भेद सम्यक् मतिज्ञानके हैं। जिसे सम्यक्ज्ञान हो जाता है वह जानता है कि—आत्मा वास्तवमें अपने ज्ञानकी पर्यायोंको जानता है, और पर तो उस ज्ञानका निमित्त मात्र है। परको जाना' ऐसा कहना सो व्यवहार है। यदि परमार्थ दृष्टिसे कहा जाय कि 'आत्मा परको जानता है' सो मिथ्या है, क्योंकि ऐसा होनेपर आत्मा और पर (ज्ञान और ज्ञेय) दोनों एक हो जायेंगे, क्योंकि 'जिसका जो होता है वह वही होता है।' इसलिये वास्तवमें यदि यह कहा जाय कि 'पुद्गलका ज्ञान' है, तो ज्ञान पुद्गलरूप—ज्ञेयरूप हो जायगा, इसलिये यह समझना चाहिये कि निमित्त सम्बन्धी अपने ज्ञानकी पर्यायको आत्मा जानता है। (देखो श्री समयसार गाथा ३५६ से ३६५ की टीका)

प्रश्नः—अनुक्त विषय श्रोत्रज्ञानका विषय कैसे सम्भव है ?

उत्तरः—श्रोत्रज्ञानमें 'अनुक्त'का अर्थ 'ईषत् (थोड़ा) अनुक्त' करना चाहिये; और 'उक्त'का अर्थ 'विस्तारसे लक्षणादिके द्वारा वर्णन किया है' ऐसा करना चाहिये, जिससे नाममात्रके सुनते ही जीवको विशद (विस्ताररूप) ज्ञान हो जाय तो उस जीवको अनुक्त ज्ञान ही हुआ है ऐसा कहना चाहिये। इसीप्रकार अन्य इन्द्रियोंके द्वारा अनुक्तका ज्ञान होता है ऐसा समझना चाहिये।

प्रश्नः—नेत्रज्ञानमें 'उक्त' विषय कैसे सम्भव है ?

उत्तरः—किसी वस्तुको विस्तारपूर्वक सुन लिया हो और फिर वह देखनेमें आये तो उस समयका नेत्रज्ञान 'उक्त-ज्ञान' कहलाता है। इसीप्रकार श्रोत्र इन्द्रियके अतिरिक्त दूसरी इन्द्रियोंके द्वारा भी 'उक्त'का ज्ञान होता है।

प्रश्नः—'अनुक्त'का ज्ञान पांच इन्द्रियोंके द्वारा कैसे होता है ?

उत्तरः—श्रोत्र इन्द्रियके अतिरिक्त चार इन्द्रियोंके द्वारा होनेवाला ज्ञान सदा अनुक्त होता है। और श्रोत्र इन्द्रियके द्वारा अनुक्तका ज्ञान कैसे होता है सो इसका स्पष्टीकरण पहिले उत्तरमें किया गया है।

प्रश्नः—अनिःसृत और अनुक्त पदार्थोंके साथ श्रोत्र इत्यादि इन्द्रियोंका संयोग होता हो वह हमें दिखाई नहीं देता, इसलिये हम उस संयोगको स्वीकार नहीं कर सकते।

उत्तरः—यह भी ठीक नहीं है। जैसे यदि कोई जन्मसे ही जमीनके भीतर रखा गया पुरुष किसी प्रकार बाहर निकले तो उसे घट पटादि समस्त पदार्थोंका आभास होता है, किन्तु उसे जो 'यह घट है, यह पट है' इत्यादि विशेषज्ञान होता है वह उसे परके उपदेशसे ही होता है, वह स्वयं वैसा ज्ञान नहीं कर सकता; इसीप्रकार सूक्ष्म अवयवोंके साथ जो इन्द्रियोंका मिलना होता है और उससे अवग्रहादि ज्ञान होता है वह विशेष ज्ञान भी वीतरागके उपदेशसे ही जाना जाता है। अपने भीतर ऐसी शक्ति नहीं है कि उसे स्वयं जान सकें, इसलिये केवलज्ञानीके उपदेशसे जब अनिःसृत और अनुक्त पदार्थोंके अवग्रह इत्यादि सिद्ध हैं तब उनका अभाव कभी नहीं कहा जा सकता।

प्रत्येक इन्द्रियके द्वारा होनेवाले इन बारह प्रकारके मतिज्ञानका स्पष्टीकरण—

१—श्रोत्र इन्द्रियके द्वारा

बहु—एक-तत (तांतका शब्द) वितत (तालका शब्द) घन (कांसेके बाजेका शब्द) और सुषिर (बांसुरी आदिका शब्द) इत्यादि शब्दोंका एक साथ अवग्रह ज्ञान होता है। उसमें तत इत्यादि भिन्न भिन्न शब्दोंका ग्रहण अवग्रहसे नहीं होता किन्तु उनके समुदायरूप सामान्यको वह ग्रहण करता है, ऐसा अर्थ यहां समझना चाहिये, यहां बहु पदार्थका अवग्रह हुआ।

प्रश्नः—संभिन्नसंश्रोतृऋद्धिके धारी जीवको तत इत्यादि प्रत्येक शब्दका स्पष्टतया भिन्न भिन्न रूपसे ज्ञान होता है तो उसे यह ज्ञान होना वाजिब है?

उत्तरः—यह ठीक नहीं है, सामान्य मनुष्यकी भांति उसे भी क्रमशः ही ज्ञान होता है, इसलिये उसे भी अवग्रह ज्ञान होता है।

जिस जीवके विशुद्धज्ञान मन्द होता है उसे तत आदि शब्दोंमेंसे किसी एक शब्दका अवग्रह होता है। यह एक पदार्थका दृष्टान्त हुआ।

बहुविध-एकविधः—उपरोक्त दृष्टान्तमें 'तत' आदि शब्दोंमें प्रत्येक शब्दके दो, तीन,

चार, संख्यात, असंख्यात या अनन्त भेदोंको जीव ग्रहण करता है तब उसे 'बहुविध' पदार्थका अवग्रह होता है।

विशुद्धताके मन्द रहने पर जीव तत आदि शब्दोंमेंसे किसी एक प्रकारके शब्दोंको ग्रहण करता है उसे 'एकविध' पदार्थका अवग्रह होता है।

क्षिप्र-अक्षिप्रः—विशुद्धिके बलसे कोई जीव बहुत जल्दी शब्दको ग्रहण करता है उसे 'क्षिप्र' अवग्रह कहा जाता है।

विशुद्धिकी मन्दता होनेसे जीवको ग्रहण करनेमें ढील होती है उसे 'अक्षिप्र' अवग्रह कहा जाता है।

अनिःसृत-निःसृतः—विशुद्धिके बलसे जीव जब बिना कहे अथवा बिना बताये ही शब्दको ग्रहण करता है तब उसे 'अनिःसृत' पदार्थका अवग्रह कहा जाता है।

विशुद्धिकी मन्दताके कारण जीव मुखमेंसे निकले हुए शब्दको ग्रहण करता है तब 'निःसृत' पदार्थका अवग्रह हुआ कहलाता है।

शंका—मुखसे पूरे शब्दके निकलनेको 'निःसृत', कहा है और 'उक्त'का अर्थ भी वही होता है, तब फिर दो मेंसे एक भेद कहना चाहिये, दोनों क्यों कहते हो?

समाधानः—जहां किसी अन्यके कहनेसे शब्दका ग्रहण होता है, जैसे किसीने गौ' शब्दका ऐसा उच्चारण किया कि 'यहां यह गौ शब्द है' उस परसे जो ज्ञान होता है वह उक्त' ज्ञान है; और इसप्रकार अन्यके बताये बिना शब्द सम्मुख हो उसका यह 'अमुक शब्द है' ऐसा ज्ञान होना सो निःसृत ज्ञान है।

अनुक्त-उक्तः—जिस समय समस्त शब्दका उच्चारण न किया गया हो, किन्तु मुखमेंसे एक वर्णके निकलते ही विशुद्धताके बलसे अभिप्रायमात्रसे समस्त शब्दको किसी अन्यके कहे बिना ग्रहण कर ले कि 'वह यह कहना चाहता है'—उस समय उसके 'अनुक्त' पदार्थका अवग्रह हुआ कहलाता है।

जिस समय विशुद्धिकी मन्दतासे समस्त शब्द कहा जाता है तब किसी दूसरेके कहनेसे जीव ग्रहण करता है उस समय 'उक्त' पदार्थका अवग्रह हुआ कहलाता है। **अथवा**—

वीणा अथवा मृदंग आदिमें कौनसा स्वर गाया जायगा, उसका स्वर संचार न किया हो उससे पूर्व ही केवल उस बाजेमें गाये जाने वाले स्वरका मिलाप हो उसी समय जीवको

विशुद्धिके बलसे ऐसा ज्ञान हो जाय कि 'वह यह स्वर बाजेमें बजायगा', उसी समय 'अनुक्त' पदार्थका अवग्रह होता है।

विशुद्धिकी मन्दताके कारण बाजेके द्वारा वह स्वर गाया जाय उस समय जानना सो 'उक्त' पदार्थका अवग्रह है।

ध्रुव-अध्रुव—विशुद्धिके बलसे जीवने जिसप्रकार प्रथम समयमें शब्दको ग्रहण किया उसीप्रकार निश्चयरूपसे कुछ समय ग्रहण करता चालू रहे-उसमें किंचित्‌मात्र भी न्यूनाधिक न हो, सो 'ध्रुव' पदार्थका अवग्रह है।

बारम्बार होनेवाले संक्लेश तथा विशुद्ध परिणामस्वरूप कारणोंसे जीवके श्रोत्र इन्द्रियादिका कुछ आवरण और कुछ अनावरण (क्षयोपशम) भी रहता है। इसप्रकार श्रोत्र इन्द्रियादिके आवरणकी क्षयोपशमरूप विशुद्धिकी कुछ प्रकर्ष और कुछ अप्रकर्ष दशा रहती है, उस समय न्यूनाधिकता जाननेके कारण कुछ चल-विचलता रहती है। इससे उस 'अध्रुव' पदार्थका अवग्रह कहलाता है तथा कभी तत इत्यादि बहुतसे शब्दोंका ग्रहण करना, कभी थोड़ेका, कभी बहुतका, कभी बहुत प्रकारके शब्दोंका ग्रहण करना, कभी एक प्रकारका, कभी जल्दी, कभी देरसे, कभी अनिःसृत शब्दका ग्रहण करना, कभी निःसृतका, कभी अनुक्त शब्दका और कभी उक्तका ग्रहण करना। इसप्रकार जो चल-विचलतासे शब्दका ग्रहण करना सो सब 'अध्रुवावग्रह' का विषय है।

शंका-समाधान

शंका:—'बहु' शब्दों के अवग्रह में तत आदि शब्दोंका ग्रहण माना है और 'बहुविध' शब्दोंके अवग्रहमें भी तत आदि शब्दोंका ग्रहण माना है, तो उनमें क्या अन्तर है?

समाधान:—जैसे गंभीरतायुक्त कोई विद्वान बहुतसे शास्त्रोंके विशेष विशेष अर्थ नहीं करता और एक सामान्य (संक्षेप) अर्थका ही प्रतिपादन करता है, अन्य विद्वान बहुतसे शास्त्रोंमें पाये जाने वाले एक दूसरेमें अन्तर बताने वाले कई प्रकारके अर्थोंका प्रतिपादन करते हैं, उसीप्रकार बहु और बहुविध दोनों प्रकारके अवग्रहमें सामान्यरूपसे तत आदि शब्दोंका ग्रहण है, तथापि जिस अवग्रहमें तत आदि शब्दोंके एक, दो, चार, संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रकारके भेदोंका ग्रहण है अर्थात् अनेक प्रकारके भेद-प्रभेद युक्त तत आदि शब्दोंका ग्रहण है वह बहुविध बहुप्रकारके शब्दोंको ग्रहण करने वाला अवग्रह कहलाता है, और जिस अवग्रहमें भेद-प्रभेद रहित सामान्यरूपसे तत आदि शब्दोंका ग्रहण है वह बहु शब्दोंका अवग्रह कहलाता है।

२—चक्षु इन्द्रिय द्वारा

बहु-एकः—जिस समय जीव विशुद्धिके बलसे सफेद काले हरे आदि रंगोंको ग्रहण करता है उस समय उसे 'बहु' पदार्थका अवग्रह होता है, और जब मन्दताके कारण जीव एक वर्णको ग्रहण करता है तव उसे 'एक' पदार्थका अवग्रह होता है।

बहुविध-एकविधः—जिस समय जीव विशुद्धिके बलसे शुक्ल कृष्णादि प्रत्येक वर्णके दो, तीन, चार, संख्यात, असंख्यात और अनन्त भेद प्रभेदोंको ग्रहण करता है उस-समय उसे 'बहुविध' पदार्थका अवग्रह होता है।

जिस समय मन्दताके कारण जीव शुक्ल कृष्णादि वर्णोंमेंसे एक प्रकारके वर्णको ग्रहण करता है उस समय उसे 'एकविध' पदार्थका अवग्रह होता है।

क्षिप्र-अक्षिप्रः—जिस समय जीव तीव्र क्षयोपशम (विशुद्धि) के बलसे शुक्लादि वर्णको जल्दी ग्रहण करता है उस समय उसे क्षिप्र पदार्थका अवग्रह होता है।

विशुद्धिकी मंदताके कारण जिस समय जीव देरसे पदार्थको ग्रहण करता है उस समय उसके 'अक्षिप्र' पदार्थका अवग्रह होता है।

अनिःसृत-निःसृतः—जिस समय जीव विशुद्धिके बलसे किसी पचरंगी वस्त्र या चित्रादिके एक बार किसी भागमेंसे पांच रंगोंको देखता है उस समय यद्यपि शेष भाग की पंचरंगीनता उसे दिखाई नही दी है तथा उस समय उसके समक्ष पूरा वस्त्र बिना खुला हुआ (घड़ी किया हुआ ही) रखा है तथापि वह उस वस्त्रके सभी भागोंकी पंचरंगीनताको ग्रहण करता है, यह 'अनिःसृत' पदार्थका अवग्रह है।

जिस समय विशुद्धिकी मन्दताके कारण जीवके सम्मुख बाहर निकालकर रखे गये पंचरंगी वस्त्रके पांचों रंगोंको जीव ग्रहण करता है उस समय उसे 'निःसृत' पदार्थका अवग्रह होता है।

अनुक्त-उक्तः—सफेद-काले अथवा सफेद-पीले आदि रंगोंकी मिलावट करते हुए किसी पुरुषको देखकर (वह इसप्रकारके रंगोको मिलाकर अमुक प्रकारका रंग तैयार करेगा) इसप्रकार विशुद्धिके बलसे बिना कहे ही जान लेता है; उस समय उसे 'अनुक्त' पदार्थका अवग्रह होता है। अथवा—

दूसरे देशमें बने हुए किसी पचरंगी पदार्थको कहते समय, कहनेवाला पुरुष कहनेका

प्रयत्न ही कर रहा है कि उसके कहनेसे पूर्वही विशुद्धिके बलसे जीव जिस समय उस वस्तुके पाच रगोंको जान लेता है उस समय उसके भी 'अनुक्त' पदार्थका अवग्रह होता है।

विशुद्धिकी मदताके कारण पचरगी पदार्थको कहनेपर जिससमय जीव पांच रगोंको जान लेता है उस समय उसके 'उक्त' पदार्थका अवग्रह होता है।

ध्रुव–अध्रुव—संक्लेश परिणाम रहित और यथायोग्य विशुद्धता सहित जीव जैसे सबसे पहिले रगको जिस जिस प्रकारसे ग्रहण करता है उसीप्रकार निश्चलरूप कुछ समय वैसे ही उसके रगको ग्रहण करता बना रहता है, कुछ भी न्यूनाधिक नहीं होता; उस समय उसके 'ध्रुव' पदार्थका अवग्रह होता है।

बारम्बार होनेवाले संक्लेश परिणाम और विशुद्ध परिणामोंके कारण जीवके जिस समय कुछ आवरण रहता है और कुछ विकास भी रहता है तथा वह विकास कुछ उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट ऐसी दो दशाओंमें रहता है तब, जिस समय कुछ हीनता और कुछ अधिकताके कारण चल-विचलता रहती है उस समय उसके अध्रुव अवग्रह होता है। अथवा—

कृष्णादि बहुतसे रगोंका जानना, अथवा एक रंगको जानना, बहुविध रगोंको जानना, या एकविध रगको जानना, जल्दी रगोंको जानना, या ढीलसे जानना, अनिःसृत रगको जानना या निःसृत रंगको जानना, अनुक्तरूपको जानना या उक्तरूपको जानना, इसप्रकार जो चल-विचलरूप जीव जानता है सो अध्रुव अवग्रह का विषय है।

विशेष-समाधान—आगममें कहा है कि स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र और मन यह छह प्रकारका लब्ध्यक्षर श्रुतज्ञान है। लब्धिका अर्थ है क्षायोपशमिकरूप (विकासरूप) शक्ति और 'अक्षर' का अर्थ है अविनाशी। जिस क्षायोपशमिक शक्तिका कभी नाश न हो, उसे लब्ध्यक्षर कहते हैं। इससे सिद्ध होता है कि अनिःसृत और अनुक्त पदार्थोंका भी अवग्रहादि ज्ञान होता है। लब्ध्यक्षर ज्ञान श्रुतज्ञानका अत्यन्त सूक्ष्म भेद है। जब इस ज्ञानको माना जाता है तब अनिःसृत और अनुक्त पदार्थोंके अवग्रहादि माननेमें कोई दोष नहीं है।

३–४–५–घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय और स्पर्शनेन्द्रिय

घ्राण-रसना और स्पर्शन इन तीन इन्द्रियोंके द्वारा उपर्युक्त बारह प्रकारके अवग्रहके भेद श्रोत्र और चक्षु इन्द्रियकी भाँति समझ लेना चाहिये।

ईहा-अवाय और धारणा

चालू सूत्रका शीर्षक 'अवग्रहादिके विषयभूत पदार्थ' है, उसमें अवग्रहादिके कहने

पर, जैसे बारह भेद अवग्रहके कहे हैं उसीप्रकार ईहा–अवाय और धारणा ज्ञानोंका भी विषय मानना चाहिये।

शंका समाधान

शंकाः—जो इन्द्रियाँ पदार्थको स्पर्श करके ज्ञान कराती हैं वे पदार्थोंके जितने भागों (अवयवों)के साथ सम्बन्ध होता है उतने ही भागोंका ज्ञान करा सकती हैं; अधिक अवयवोंका नहीं। श्रोत्र, घ्राण, स्पर्शन और रसना,–यह चार इन्द्रियाँ प्राप्यकारी हैं, इसलिये वे जितने अवयवोंके साथ सम्बद्ध होती हैं उतने ही अवयवोंका ज्ञान करा सकती हैं, अधिकका नहीं; तथापि अनिःसृत और अनुक्तमें ऐसा नहीं होता, क्योंकि वहाँ पदार्थोंका एक भाग देख लेने या सुन लेनेसे समस्त पदार्थका ज्ञान माना जाता है इसलिये श्रोत्रादि चार इन्द्रियोंसे जो अनिःसृत और अनुक्त पदार्थोंका अवग्रह ईहादि माना गया है वह व्यर्थ है।

समाधान—यह शंका ठीक नहीं है। जैसे चींटी आदि जीवोंको नाक तथा जिह्वाके साथ गुड़ आदि द्रव्योंका सम्बन्ध नहीं होता फिर भी उसकी गन्ध और रसका ज्ञान उन्हें हो जाता है, क्योंकि वहाँ अत्यन्त सूक्ष्म (जिसे हम नहीं देख सकते) गुड़ आदिके अवयवोंके साथ चींटी आदि जीवोंकी नाक तथा जिह्वा आदि इन्द्रियोंका एक दूसरेके साथ स्वाभाविक संयोग सम्बन्ध रहता है; उस सम्बन्धमें दूसरे पदार्थकी अपेक्षा नहीं रहती, इसलिये सूक्ष्म अवयवोंके साथ सम्बन्ध रहनेसे वह प्राप्त होकर ही पदार्थ को ग्रहण करते हैं। इसीप्रकार अनिःसृत और अनुक्त पदार्थों के अवग्रह इत्यादिमें भी अनिःसृत और अनुक्त पदार्थोंके सूक्ष्म अवयवोंके साथ श्रोत्र आदि इन्द्रियोंका अपनी उत्पत्ति में परपदार्थोंकी अपेक्षा न रखनेवाला स्वाभाविक संयोग सम्बन्ध है, इसलिये अनिःसृत और अनुक्त स्थलोंपर भी प्राप्त होकर इन्द्रियाँ पदार्थोंका ज्ञान कराती हैं; अप्राप्त होकर नहीं।

इस सूत्रके अनुसार मतिज्ञानके भेदों की संख्या निम्नप्रकार है—

अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा =४
पाँच इन्द्रिय और मन =६

उपरोक्त छह प्रकारके द्वारा चार प्रकारसे ज्ञान (४×६)=२४ तथा विषयोंकी अपेक्षासे बहु बहुविध आदि बारह=(२४×१२)=२८८ भेद हैं ॥ १६ ॥

उपरोक्त अवग्रहादिके विषयभूत पदार्थभेद किसके हैं ?

अर्थस्य ॥ १७ ॥

अर्थः—उपरोक्त बारह अथवा २८८ भेद [**अर्थस्य**] पदार्थके (द्रव्यके–वस्तुके) हैं।

टीका

यह भेद व्यक्त पदार्थके कहे हैं, अव्यक्त पदार्थके लिये अठारहवाँ सूत्र कहा है।

यदि कोई कहे कि–'रूपादि गुण ही इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण किये जा सकते हैं, इसलिये रूपादि गुणोंका ही अवग्रह होता है, न कि द्रव्योंका'। तो यह कहना ठीक नहीं है, यह यहाँ बताया गया है। 'इन्द्रियोंके द्वारा रूपादि जाने जाते हैं' यह कहने मात्रका व्यवहार है, रूपादि गुण द्रव्यसे अभिन्न हैं इसलिये ऐसा व्यवहार होता है कि 'मैंने रूपको देखा या मैंने गंधको सूंघा' किन्तु गुण-पर्याय द्रव्यसे भिन्न नहीं है इसलिये पदार्थका ज्ञान होता है। इन्द्रियोंका सम्बन्ध पदार्थके साथ होता है। मात्र गुण-पर्यायोंके साथ नहीं होता। १७

अवग्रह ज्ञानमें विशेषता

व्यंजनस्यावग्रहः ॥ १८ ॥

अर्थ —[व्यंजनस्य] अप्रगटरूप शब्दादि पदार्थोंका [अवग्रहः] मात्र अवग्रह ज्ञान होता है, ईहादि तीन ज्ञान नहीं होते।

टीका

अवग्रहके दो भेद हैं — (१) व्यंजनावग्रह (२) अर्थावग्रह।

व्यंजनावग्रह—अव्यक्त-अप्रगट पदार्थके अवग्रहको व्यंजनावग्रह कहते हैं।

अर्थावग्रह—व्यक्त-प्रगट पदार्थके अवग्रहको अर्थावग्रह कहते हैं।

अर्थावग्रह और व्यंजनावग्रहके दृष्टान्त

(१) पुस्तकका शरीरकी चमड़ीसे स्पर्श हुआ तब (उस वस्तुका ज्ञान प्रारम्भ होने पर भी) कुछ समय तक वह ज्ञान अपनेको प्रगट रूप नहीं होता, इसलिये जीवको उस पुस्तकका ज्ञान अव्यक्त-अप्रगट होनेसे उस ज्ञानको व्यंजनावग्रह कहा जाता है।

(२) पुस्तक पर दृष्टि पड़ने पर पहिले जो ज्ञान प्रगटरूप होता है, वह व्यक्त अथवा प्रगट पदार्थका अवग्रह (अर्थावग्रह) कहलाता है।

व्यंजनावग्रह चक्षु और मनके अतिरिक्त चार इन्द्रियोंके द्वारा होता है, व्यंजनावग्रहके बाद ज्ञान प्रगटरूप होता है उसे अर्थावग्रह कहते हैं। चक्षु और मनके द्वारा अर्थावग्रह होता है।

'अव्यक्त' का अर्थ

जैसे मिट्टीके कोरे घड़ेको पानीके छींटे डालकर भिगोना प्रारम्भ किया जाय तो थोड़े छींटे पड़ने पर भी वे ऐसे सूख जाते हैं कि देखनेवाला उस स्थानको भीगा हुआ नहीं कह सकता, तथापि युक्तिसे तो वह 'भीगा हुआ ही है,' यह बात मानना ही होगी। इसी-प्रकार कान, नाक, जीभ और त्वचा यह चार इन्द्रियाँ अपने विषयोंके साथ भिड़ती हैं तभी ज्ञान उत्पन्न होता है, इसलिये पहिले ही, कुछ समय तक विषयका मन्द सम्बन्ध रहनेसे ज्ञान (होनेका प्रारम्भ हो जाने पर भी) प्रगट मालूम नहीं होता, तथापि विषयका सम्बन्ध प्रारम्भ हो गया है इसलिये ज्ञानका होना भी प्रारम्भ हो गया है-यह बात युक्तिसे अवश्य मानना पड़ती है। उसे (उस प्रारम्भ हुए ज्ञानको) अव्यक्तज्ञान अथवा व्यंजनावग्रह कहते हैं।

जब व्यंजनावग्रहमें विषयका स्वरूप ही स्पष्ट नहीं जाना जाता तब फिर विशेषताकी शंका तथा समाधानरूप ईहादि ज्ञान तो कहाँसे हो सकता है? इसलिये अव्यक्तका अवग्रहमात्र ही होता है। ईहादि नहीं होते।

'व्यक्त' का अर्थ

मन तथा चक्षुके द्वारा होनेवाला ज्ञान विषयके साथ सम्बद्ध (स्पर्शित) होकर नहीं हो सकता किन्तु दूर रहनेसे ही होता है, इसलिये मन और चक्षुके द्वारा जो ज्ञान होता है वह 'व्यक्त' कहलाता है। चक्षु तथा मनके द्वारा होनेवाला ज्ञान अव्यक्त कदापि नहीं होता, इसलिये उसके द्वारा अर्थावग्रह ही होता है।

अव्यक्त और व्यक्त ज्ञान

उपरोक्त अव्यक्त ज्ञानका नाम व्यंजनावग्रह है। जबसे विषयकी व्यक्तता भासित होने लगती है तभीसे उस ज्ञानको व्यक्तज्ञान कहते हैं, उसका नाम अर्थावग्रह है। यह अर्थावग्रह (अर्थ सहित अवग्रह) सभी इन्द्रियों तथा मनके द्वारा होता है।

ईहा

अर्थावग्रहके बाद ईहा होता है। अर्थावग्रह ज्ञानमें किसी पदार्थकी जितनी विशेषता भासित हो चुकी है उससे अधिक जाननेकी इच्छा हो तो वह ज्ञान सत्यकी ओर अधिक झुकता है, इसे ईहाज्ञान कहा जाता है; वह (ईहा) सुदृढ़ नहीं होता। ईहामें प्राप्त हुए सत्य विषयका यद्यपि पूर्ण निश्चय नहीं होता तथापि ज्ञानका अधिकांश वहां होता है। वह (ज्ञानके अधिकांश) विषयके सत्यार्थग्राही होते हैं, इसलिये ईहाको सत्य ज्ञानोंमें गिना गया है।

अवाय

अवायका अर्थ निश्चय अथवा निर्णय होता है। ईहाके बादके काल तक ईहाके विषय पर लक्ष रहे तो ज्ञान सुदृढ हो जाता है और उसे अवाय कहते हैं। ज्ञानके अवग्रह, ईहा, और अवाय इन तीनों भेदोंमेंसे अवाय उत्कृष्ट अथवा सर्वाधिक विशेषज्ञान है।

धारणा

धारणा अवायके बाद होती है। किन्तु उसमें कुछ अधिक दृढ़ता उत्पन्न होनेके अतिरिक्त अन्य विशेषता नहीं है। धारणाकी सुदृढ़ताके कारण एक ऐसा संस्कार उत्पन्न होता है कि जिसके हो जानेसे पूर्वके अनुभवका स्मरण हो सकता है।

एकके बाद दूसरा ज्ञान होता ही है या नहीं?

अवग्रह होनेके बाद ईहा हो या न हो, और यदि अवग्रहके बाद ईहा हो तो एक ईहा ही होकर छूट जाता है और कभी अवाय भी होता है। अवाय होनेके बाद धारणा होती है और नहीं भी होती।

ईहाज्ञान सत्य है या मिथ्या?

जिस ज्ञानमें दो विषय ऐसे आ जायें जिनमें एक सत्य हो और दूसरा मिथ्या, तो (ऐसे समय) जिस अंश पर ज्ञान करनेका अधिक ध्यान हो तदनुसार उस ज्ञानको सत्य या मिथ्या मान लेना चाहिये। जैसे-एक चन्द्रमाके देखने पर यदि दो चन्द्रमाका ज्ञान हो और वहां यदि देखनेवालेका लक्ष केवल चन्द्रमाको समझ लेनेकी ओर हो तो उस ज्ञानको सत्य मानना चाहिये, और यदि देखनेवालेका लक्ष एक या दो ऐसी संख्या निश्चित् करने की ओर हो तो उस ज्ञानको असत्य (मिथ्या) मानना चाहिये।

इस नियमके अनुसार ईहामें ज्ञानका अधिकांश विषयका सत्यांशग्राही ही होता है इसलिये ईहाको सत्यज्ञानमें माना गया है।

(तत्त्वार्थसार सनातन जैन ग्रंथमाला १७ का सूत्र २१, २२, २३ के नीचेकी टीका पृष्ठ १९-२०)

'धारणा' और 'संस्कार' संबंधी स्पष्टीकरण

शंका:—धारणा किसी उपयोग ज्ञानका नाम है या संस्कारका?

शंकाकारका तर्कः—यदि उपयोगरूप ज्ञानका नाम धारणा हो तो वह धारणा स्मरणको उत्पन्न करनेके लिये समर्थ नही हो सकती, क्योंकि कार्य-कारणरूप पदार्थोंमें परस्पर कालका अंतर नही रह सकता। धारणा कब होती है और स्मरण कब, इसमे कालका बहुत बडा अन्तर पड़ता है। यदि उसे (धारणाको) संस्काररूप मानकर स्मरणके समय तक विद्यमान माननेकी कल्पना करें तो वह प्रत्यक्षका भेद नही होता; क्योंकि संस्काररूप ज्ञान भी स्मरणकी अपेक्षासे मलिन है, स्मरण उपयोगरूप होनेसे अपने समयमे दूसरा उपयोग नही होने देता और स्वय कोई विशेषज्ञान उत्पन्न करता है, किन्तु धारणाके संस्काररूप होनेसे उसके रहने पर भी अन्यान्य अनेक ज्ञान उत्पन्न होते रहते हैं, और स्वय वह धारणा तो अर्थका ज्ञान ही नही करा सकती।

[यह शंकाकारका तर्क है, उसका समाधान करते हैं]

समाधानः—'धारणा' उपयोगरूप ज्ञानका भी नाम है और संस्कारका भी नाम है। धारणाको प्रत्यक्ष ज्ञानमे माना है और उसकी उत्पत्ति भी अवायके बाद ही होती है; उसका स्वरूप भी अवायकी अपेक्षा अधिक दृढरूप है, इसलिये उसे उपयोगरूप ज्ञानमे गर्भित करना चाहिए।

वह धारणा स्मरणको उत्पन्न करती है और कार्यके पूर्वक्षणमे कारण रहना ही चाहिये, इसलिये उसे संस्काररूप भी कह सकते हैं। तात्पर्य यह है कि जो स्मरणके समय तक रहता है उसे किसी किसी जगह धारणासे पृथक् गिनाया है और किसी किसी जगह धारणाके नामसे कहा है। धारणा तथा उस सस्कारमे कारण-कार्य सम्बन्ध है। इसलिये जहाँ भेद विवक्षा मुख्य होती है वहाँ भिन्न गिने जाते है और जहाँ अभेद विवक्षा मुख्य होती है वहाँ भिन्न न गिनकर केवल धारणाको ही स्मरणका कारण कहा है।



चार भेदोंकी विशेषता

इसप्रकार अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा यह चार मतिज्ञानके भेद हैं, उनका स्वरूप उत्तरोत्तर तरतम-अधिक अधिक शुद्ध होता है और उसे पूर्व पूर्व ज्ञानका कार्य समझना चाहिये। एक विषयकी उत्तरोत्तर विशेषता उसके द्वारा जानी जाती है, इसलिये उन चारों ज्ञानोंको एक ही ज्ञानके विशेष प्रकार भी कह सकते हैं। मति स्मृति-आदिकी भाँति उसमें कालका असम्बन्ध नही है तथा बुद्धि मेधादिकी भांति विषयका असम्बन्ध भी नहीं है ॥ १८॥

न चक्षुरनिन्द्रियाभ्याम् ॥ १९ ॥

अर्थः—व्यंजनावग्रह [चक्षु अनिन्द्रियाभ्याम्] नेत्र और मनसे [न] नहीं होता ।

टीका

मतिज्ञानके २८८ भेद सोलहवें सूत्रमें कहे गये हैं, और व्यंजनावग्रह चार इन्द्रियोंके द्वारा होता है, इसलिये उसके बहु, बहुविध आदि बारह भेद होने पर अड़तालीस भेद हो जाते हैं। इसप्रकार मतिज्ञानके ३३६ प्रभेद होते हैं ॥ १९ ॥

श्रुतज्ञानका वर्णन, उत्पत्तिका क्रम तथा उसके भेद

श्रुतं मतिपूर्वं द्व्यनेकद्वादशभेदम् ॥ २० ॥

अर्थः—[श्रुतम्] श्रुतज्ञान [मतिपूर्वं] मतिज्ञान पूर्वक होता है अर्थात् मतिज्ञानके बाद होता है, वह श्रुतज्ञान [द्व्यनेकद्वादशभेदम्] दो, अनेक और बारह भेदवाला है ।

टीका

(१) सम्यग्ज्ञानका विषय चल रहा है, [देखो सूत्र ९] इसलिये यह सम्यक् श्रुतज्ञानसे सम्बन्ध रखनेवाला सूत्र है,—ऐसा समझना चाहिये । मिथ्या श्रुतज्ञानके सम्बन्धमें ३१ वां सूत्र कहा है ।

(२) श्रुतज्ञान—मतिज्ञानसे ग्रहण किये गये पदार्थसे, उससे भिन्न पदार्थ ग्रहण करनेवाला ज्ञान श्रुतज्ञान है । जैसे—

१—सद्गुरुका उपदेश सुनकर आत्माका यथार्थ ज्ञान होना । इसमें उपदेश सुनना मतिज्ञान है, और फिर विचार करके आत्माका भान प्रगट करना श्रुतज्ञान है ।

२—शब्दसे घटादि पदार्थोंको जानना । इसमें घट शब्दका सुनना मतिज्ञान है और उससे घट पदार्थका ज्ञान होना श्रुतज्ञान है ।

३—धुवेंसे अग्निका ग्रहण करना । इसमें धुवेंको आंखसे देखकर जो ज्ञान हुआ सो मतिज्ञान है, और धुवेंसे अग्निका अनुमान करना सो श्रुतज्ञान है ।

४—एक मनुष्यने 'जहाज' शब्द सुना सो यह मतिज्ञान है । पहिले जहाजके गुण सुने अथवा पढ़े थे, उस सम्बन्धी (जहाज शब्द सुनकर) जो विचार करना है सो श्रुतज्ञान है ।

(३) मतिज्ञानके द्वारा जाने हुए विषयका अवलम्बन लेकर जो उत्तर तर्कणा (दूसरे विषयके सम्बन्धमें विचार) जीव करता है सो श्रुतज्ञान है। श्रुतज्ञानके दो भेद हैं–(१) अक्षरात्मक, (२) अनक्षरात्मक। "आत्मा" शब्दको सुनकर आत्माके गुणोंको हृदयमें प्रगट करना सो अक्षरात्मक श्रुतज्ञान है। अक्षर और पदार्थमें वाचक–वाच्य सम्बन्ध है। 'वाचक' शब्द है उसका ज्ञान मतिज्ञान है; और उसके निमित्तसे 'वाच्य' का ज्ञान होना सो श्रुतज्ञान है। परमार्थसे ज्ञान कोई अक्षर नही है; अक्षर तो जड़ हैं; वह पुद्‌गलस्कन्धकी पर्याय है; वह निमित्त मात्र है। 'अक्षरात्मक श्रुतज्ञान' कहने पर कार्यमें कारणका (निमित्त-का) मात्र उपचार किया गया समझना चाहिए।

(४) श्रुतज्ञान ज्ञानगुणकी पर्याय है; उसके होनेमें मतिज्ञान निमित्तमात्र है। श्रुतज्ञानसे पूर्व ज्ञानगुणकी मतिज्ञानरूप पर्याय होती है, और उस उपयोगरूप पर्यायका व्यय होने पर श्रुतज्ञान प्रगट होता है, इसलिये मतिज्ञानका व्यय श्रुतज्ञानका निमित्त है; वह 'अभावरूप निमित्त' है; अर्थात् मतिज्ञानका जो व्यय होता है वह श्रुतज्ञानको उत्पन्न नहीं करता, किन्तु श्रुतज्ञान तो अपने उपादान कारणसे उत्पन्न होता है। (मतिज्ञानसे श्रुतज्ञान अधिक विशुद्ध होता है।)

(५) प्रश्नः—जगतमें कारणके समान ही कार्य होता है; इसलिये मतिज्ञानके समान ही श्रुतज्ञान होना चाहिये ?

उत्तरः—उपादान कारणके समान कार्य होता है; निमित्त कारणके समान नहीं। जैसे घटकी उत्पत्तिमें दण्ड, चक्र, कुम्हार, आकाश इत्यादि निमित्त कारण होते हैं; किन्तु उत्पन्न हुआ घट उन दण्ड चक्र कुम्हार आकाश आदिके समान नहीं होता; किन्तु वह भिन्न स्वरूप ही (मिट्टीके स्वरूप ही) होता है। इसीप्रकार श्रुतज्ञानके उत्पन्न होनेमें मति नाम (केवल नाम) मात्र बाह्य कारण है; और उसका स्वरूप श्रुतज्ञानसे भिन्न है।

(६) एकबार श्रुतज्ञानके होनेपर फिर जब विचार प्रलम्बित होता है। तब दूसरा श्रुतज्ञान मतिज्ञानके बीचमे आये बिना भी उत्पन्न हो जाता है।

प्रश्नः—ऐसे श्रुतज्ञानमें 'मतिपूर्वं' इस सूत्रमें दी गई व्याख्या कैसे लागू होती है ?

उत्तरः—उसमें पहिला श्रुतज्ञान मतिपूर्वक हुआ था, इसलिये दूसरा श्रुतज्ञान भी मतिपूर्वक है ऐसा उपचार किया जा सकता है। सूत्रमें 'पूर्वं' पहिले 'साक्षात्' शब्दका प्रयोग नहीं किया है, इसलिये यह समझना चाहिये कि श्रुतज्ञान साक्षात् मतिपूर्वक और परम्परामतिपूर्वक–ऐसे दो प्रकारसे होता है। (श्री धवल पु. १३ पृष्ठ २८३–२८४)

(७) भावश्रुत और द्रव्यश्रुत—

श्रुतज्ञानमें तारतम्यकी अपेक्षासे भेद होता है, और उसके निमित्तमें भी भेद होता है। भावश्रुत और द्रव्यश्रुत इन दोनोंमें दो, अनेक और बारह भेद होते हैं। भावश्रुतको भावागम भी कह सकते हैं, और उसमें द्रव्यागम निमित्त होता है। द्रव्यागम (श्रुत) के दो भेद हैं, (१) अङ्ग प्रविष्ट और (२) अङ्ग बाह्य। अङ्ग प्रविष्टके बारह भेद हैं।

(८) अनक्षरात्मक और अक्षरात्मक श्रुतज्ञान—

अनक्षरात्मक श्रुतज्ञानके दो भेद हैं—पर्यायज्ञान और पर्यायसमास। सूक्ष्मनिगोदिया जीवके उत्पन्न होते समय जो पहिले समयमें सर्व जघन्य श्रुतज्ञान होता है सो पर्याय ज्ञान है। दूसरा भेद पर्यायसमास है। सर्वजघन्यज्ञान से अधिक ज्ञानको पर्यायसमास कहते हैं। [उसके असंख्यात लोक प्रमाण भेद हैं] निगोदिया जीवके सम्यक् श्रुतज्ञान नहीं होता, किन्तु मिथ्याश्रुत होता है, इसलिये यह दो भेद सामान्य श्रुतज्ञान की अपेक्षासे कहे हैं ऐसा समझना चाहिये।

(९) यदि सम्यक् और मिथ्या ऐसे दो भेद न करके,—सामान्य मतिश्रुतज्ञानका विचार करें तो प्रत्येक छद्मस्थ जीवके मति और श्रुतज्ञान होता है। स्पर्शके द्वारा किसी वस्तुका ज्ञान होना सो मतिज्ञान है, और उसके सम्बन्धसे ऐसा ज्ञान होना कि 'यह हितकारी नहीं है या है' सो श्रुतज्ञान है, यह अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान है। एकेंद्रियादि असैनी जीवोंके अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान ही होता है। सैनीपंचेंद्रिय जीवोंके दोनों प्रकारका श्रुतज्ञान होता है।

(१०) प्रमाणके दो प्रकार—

प्रमाण दो प्रकार का है—(१) स्वार्थप्रमाण, (२) परार्थप्रमाण। स्वार्थप्रमाण ज्ञान-स्वरूप है और परार्थप्रमाण वचनरूप है। श्रुतके अतिरिक्त चार ज्ञान स्वार्थप्रमाण हैं। श्रुत प्रमाण स्वार्थ-परार्थ दोनों रूप है इसलिये वह ज्ञानरूप और वचनरूप है। श्रुत उपादान है और वचन उसका निमित्त है। [विकल्पका समावेश वचनमें हो जाता है।] श्रुतप्रमाणका अंश 'नय' है।

[देखो पंचाध्यायी भाग १ पृष्ठ ३३४, पं० देवकीनन्दनजी कृत और जैन सिद्धान्त दर्पण पृष्ठ २३ राजवार्तिक पृष्ठ १४३ सर्वार्थसिद्धि अध्याय एक सूत्र ६ पृष्ठ ५६]

(११) 'श्रुत' का अर्थ—

श्रुतका अर्थ होता है सुना हुआ विषय अथवा शब्द। यद्यपि श्रुतज्ञान मति-ज्ञानके बाद होता है तथापि उसमें वर्णनीय तथा शिक्षा योग्य सभी विषय आते हैं, और

वह सुनकर जाना जा सकता है; इसप्रकार श्रुतज्ञानमें श्रुतका (शब्दका) सम्बन्ध मुख्यतासे है, इसलिये श्रुतज्ञानको शास्त्रज्ञान (भावशास्त्रज्ञान) भी कहा जाता है। (शब्दोंको सुनकर जो श्रुतज्ञान होता है उसके अतिरिक्त अन्य प्रकारका भी श्रुतज्ञान होता है।) सम्यग्ज्ञानी पुरुषका उपदेश सुननेसे पात्र जीवो को आत्मा का यथार्थ ज्ञान हो सकता है, इस अपेक्षासे उसे श्रुतज्ञान कहा जाता है।

(१२) रूढिके बलसे भी मतिपूर्वक होनेवाले इस विशेष ज्ञानको 'श्रुतज्ञान' कहा जाता है।

(१३) श्रुतज्ञानको वितर्कः—भी कहते है। [अध्याय ९ सूत्र ३६]

(१४) अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य

अंगप्रविष्टके बारह भेद हैं:—(१) आचारांग (२) सूत्रकृतांग (३) स्थानांग (४) समवायांग (५) व्याख्याप्रज्ञप्ति अंग (६) ज्ञातृधर्म कथांग (७) उपासकाध्ययनांग (८) अंतःकृतदशांग (९) अनुत्तरौपपादिकांग (१०) प्रश्नव्याकरणांग (११) विपाकसूत्रांग और (१२) दृष्टिप्रवादांग।

अंगबाह्य श्रुतमें:—चौदह प्रकीर्णक होते हैं। इन बारह अंग और चौदह पूर्वकी रचना, जिस दिन तीर्थंकर भगवानकी दिव्यध्वनि खिरती है तब भावश्रुतरूप पर्यायसे परिणत गणधर भगवान एक ही मुहूर्त मे क्रमसे करते है।

(१५) यह सब शास्त्र निमित्तमात्र है, भावश्रुतज्ञानमे उसका अनुसरण करके तारतम्य होता है,—ऐसा समझना चाहिये।

(१६) मति और श्रुतज्ञानके बीचका भेद—

प्रश्नः—जैसे मतिज्ञान इन्द्रिय और मनसे उत्पन्न होता है उसीप्रकार श्रुतज्ञान भी इन्द्रिय और मनसे उत्पन्न होता है, तब फिर दोनोमे अन्तर क्या है?

शंकाकारके कारणः—इन्द्रिय और मनसे मतिज्ञानकी उत्पत्ति होती है यह प्रसिद्ध है, श्रुतज्ञान वक्ताके कथन और श्रोताके श्रवणसे उत्पन्न होता है, इसलिये वक्ताकी जीभ और श्रोताके कान तथा मन श्रुतज्ञानकी उत्पत्तिमें कारण है, इसप्रकार मति-श्रुत दोनोंके उत्पादक कारण इन्द्रिय और मन हुए, इसलिये उन दोनोंको एक मानना चाहिए।

उत्तरः—मतिज्ञान और श्रुतज्ञानको एक मानना ठीक नही है। मतिज्ञान और श्रुतज्ञान दोनों इन्द्रियों और मनसे उत्पन्न होते हैं यह हेतु असिद्ध है; क्योंकि जीभ और

कानको श्रुतज्ञानकी उत्पत्तिमें कारण मानना भूल है। जीव तो उसका उपादान करनेमें कारण है, श्रुतज्ञानकी उत्पत्तिमें नहीं। कान भी जीवके होनेवाले मतिज्ञानकी उत्पत्तिमें कारण है, श्रुतज्ञानकी उत्पत्तिमें नहीं, इसलिये श्रुतज्ञानकी उत्पत्तिमें दो इन्द्रियोंको कारण बताकर और मति तथा श्रुतज्ञान दोनोंको इन्द्रियों और मनसे उत्पन्न कहकर दोनोंकी एकता मानना मिथ्या है। ये दो इन्द्रियां श्रुतज्ञानमें निमित्त नहीं है। इसप्रकार मति और श्रुतज्ञानकी उत्पत्तिके कारणमें भेद है। मतिज्ञान इन्द्रियों और मनके कारण उत्पन्न होता है, और जिस पदार्थका इन्द्रियां तथा मनके द्वारा मतिज्ञानसे निर्णय हो जाता है उस पदार्थका मनके द्वारा जिन विशेषताओंसे ज्ञान होता है वह श्रुतज्ञान है, इसलिये दोनों ज्ञान एक नहीं किन्तु भिन्न भिन्न हैं।

विशेष स्पष्टीकरण—

१—इन्द्रिय और मनके द्वारा यह निश्चय किया कि यह 'घट' है सो यह मतिज्ञान है, तत्पश्चात्-उस घटसे भिन्न, अनेक स्थलों और अनेक कालमें रहनेवाले अथवा विभिन्न रंगोंके समान जातीय दूसरे घटोंका ज्ञान करना श्रुतज्ञान है। एक पदार्थको जाननेके बाद समान जातीय दूसरे प्रकारको जानना सो श्रुतज्ञानका विषय है। अथवा—

२—इन्द्रिय और मनके द्वारा जो घटका निश्चय किया तत्पश्चात् उसके भेदोंका ज्ञान करना सो श्रुतज्ञान है, जैसे-अमुक घड़ा, अमुक रंगका है, अथवा घड़ा मिट्टीका है, तांबेका है, पीतलका है, इसप्रकार इन्द्रिय और मनके द्वारा निश्चय करके उसके भेद प्रभेदको जाननेवाला ज्ञान श्रुतज्ञान है। उसी (मतिज्ञानके द्वारा जाने गये) पदार्थके भेद प्रभेदका ज्ञान भी श्रुतज्ञान है। अथवा—

३—'यह जीव है' या 'यह अजीव' ऐसा निश्चय करनेके बाद जिस ज्ञानसे सत्-संख्यादि द्वारा उसका स्वरूप जाना जाता है वह श्रुतज्ञान है, क्योंकि उस विशेष स्वरूपका ज्ञान इन्द्रिय द्वारा नहीं हो सकता, इसलिये वह मतिज्ञानका विषय नहीं किन्तु श्रुतज्ञानका विषय है। जीव-अजीवको जाननेके बाद उसके सत्संख्यादि विशेषोंका ज्ञानमात्र मनके निमित्तसे होता है। मतिज्ञानमें एक पदार्थके अतिरिक्त दूसरे पदार्थका या उसी पदार्थके विशेषोंका ज्ञान नहीं होता, इसलिये मतिज्ञान और श्रुतज्ञान भिन्न भिन्न हैं। अवग्रहके बाद ईहाज्ञानमें उसी पदार्थका विशेष ज्ञान है और ईहाके बाद अवायमें उसी पदार्थका विशेष ज्ञान है, किन्तु उसमें (ईहा या अवाय में) उसी पदार्थके भेद-प्रभेदका ज्ञान नहीं है, इसलिये वह मतिज्ञान है-श्रुतज्ञान नहीं। (अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा मतिज्ञानके भेद हैं।)

सूत्र ११ से २० तकका सिद्धांत

जीवको सम्यग्दर्शन होते ही सम्यक्मति और सम्यक्श्रुतज्ञान होता है। सम्यग्दर्शन कारण है और सम्यग्ज्ञान कार्य, ऐसा समझना चाहिये। यह जो सम्यक्मति और श्रुतज्ञानके भेद दिये गये हैं वे ज्ञान विशेष निर्मलता होनेके लिये दिये गये हैं; उन भेदोंमें अटककर रागमे लगे रहनेके लिये नही दिये गये हैं; इसलिये उन भेदोंका स्वरूप जानकर जीवको अपने त्रैकालिक अखण्ड अभेद चैतन्यस्वभावकी ओर उन्मुख होकर निर्विकल्प होनेकी आवश्यकता है ॥ २० ॥

अवधिज्ञानका वर्णन

भवप्रत्ययोऽवधिर्देवनारकाणाम् ॥ २१ ॥

अर्थः—[भवप्रत्ययः] भवप्रत्यय नामक [अवधिः] अवधिज्ञान [देवनारकाणाम्] देव और नारकियोके होता है।

टीका

(१) अवधिज्ञानके दो भेद हैं (१) भवप्रत्यय, (२) गुणप्रत्यय। प्रत्यय, कारण और निमित्त तीनो एकार्थ वाचक शब्द-हैं। यहाँ 'भवप्रत्यय' शब्द बाह्य निमित्तकी अपेक्षासे कहा है, अंतरंग निमित्त तो प्रत्येक प्रकारके अवधिज्ञान अवधिज्ञानावरणीय कर्मका क्षयोपशम होता है।

(२) देव और नारक पर्यायके धारण करनेवाले जीवको जो अवधिज्ञान उत्पन्न होता है वह भवप्रत्यय कहलाता है। जैसे पक्षियोमें जन्मका होना ही आकाशमें गमनका निमित्त होता है, न कि शिक्षा, उपदेश, जप-तप इत्यादि। इसीप्रकार नारकी और देवकी पर्यायमें उत्पत्ति मात्रसे अवधिज्ञान प्राप्त होता है। [यहा सम्यग्ज्ञानका विषय है, फिर भी सम्यक् या मिथ्याका भेद किये बिना सामान्य अवधिज्ञानके लिये 'भवप्रत्यय' शब्द दिया गया है।]

(३) भवप्रत्यय अवधिज्ञान देव, नारकी तथा तीर्थंकरोंके (गृहस्थदशामें) होता है, वह नियमसे देशावधि होता है। वह समस्त प्रदेश से उत्पन्न होता है।

(४) 'गुणप्रत्यय'—किसी विशेष पर्याय (भव) की अपेक्षा न करके जीवके पुरुषार्थ द्वारा जो अवधिज्ञान उत्पन्न होता है वह गुणप्रत्यय अथवा क्षयोपशमनिमित्तक कहलाता है ॥२१॥

क्षयोपशमनिमित्तक अवधिज्ञानके भेद तथा उनके स्वामी—

क्षयोपशमनिमित्तः षड्विकल्पः शेषाणाम् ॥२२॥

अर्थः—[क्षयोपशमनिमित्तः] क्षयोपशमनैमित्तिक अवधिज्ञान [षड्विकल्पः] अनुगामी, अननुगामी, वर्धमान, हीयमान, अवस्थित और अनवस्थित-ऐसे छह भेदवाला है, और वह [शेषाणाम्] मनुष्य तथा तिर्यंचोंके होता है।

टीका

(१) **अनुगामीः**—जो अवधिज्ञान सूर्यके प्रकाशकी भाँति जीवके साथ ही साथ जाता है उसे अनुगामी कहते हैं।

अननुगामीः—जो अवधिज्ञान जीवके साथ ही साथ नहीं जाता उसे अननुगामी कहते हैं।

वर्धमानः—जो अवधिज्ञान शुक्ल पक्षके चन्द्रमाकी कलाकी भाँति बढ़ता रहे उसे वर्धमान कहते हैं।

हीयमानः—जो अवधिज्ञान कृष्ण पक्षके चन्द्रमाकी कलाकी तरह घटता रहे उसे हीयमान कहते हैं।

अवस्थितः—जो अवधिज्ञान एकसा रहे न घटे न बढ़े उसे अवस्थित कहते हैं।

अनवस्थितः—जो पानीकी तरंगोंकी भाँति घटता बढ़ता रहे एकसा न रहे उसे अनवस्थित कहते हैं।

(२) यह अवधिज्ञान मनुष्योंको होता है ऐसा कहा गया है। इसमें तीर्थंकरोंको नहीं लेना चाहिये, उनके अतिरिक्त अन्य मनुष्योंको समझना चाहिए, वह भी बहुत थोड़ेसे मनुष्योंको होता है। इस अवधिज्ञानको 'गुणप्रत्यय' भी कहा जाता है। वह नाभिके ऊपर शंख, पद्म, वज्र, स्वस्तिक, कलश, मछली आदि शुभ चिह्नोंके द्वारा होता है।

(३) अवधिज्ञानके *प्रतिपाति, ×अप्रतिपाति, देशावधि, परमावधि और सर्वावधि भेद भी हैं।

(४) जघन्य—देशावधि संयत तथा असंयत मनुष्यों और तिर्यंचोंके होता है। (देव-नारकीको नहीं होता) उत्कृष्ट देशावधि संयत भावमुनिके ही होता है—अन्य तीर्थंकरादि गृहस्थ-मनुष्य, देव, नारकीके नहीं होता, उनके देशावधि होता है।

---

* प्रतिपाति=जो गिर जाता है। × अप्रतिपाति=जो नहीं गिरता। — जघन्य=सबसे कम।

(५) देशावधि उपरोक्त (पैरा १ में कहे गये) छह प्रकार तथा प्रतिपाति और अप्रतिपाति ऐसे आठ प्रकारका होता है।

परमावधि–अनुगामी, अननुगामी, वर्धमान, अवस्थित, अनवस्थित और अप्रतिपाति होता है।

(६) अवधिज्ञान रूपी–पुद्गल तथा उस पुद्गलके सम्बन्धवाले संसारी जीव (के विकारी भाव) को प्रत्यक्ष जानता है।

(७) द्रव्य अपेक्षासे जघन्य अवधिज्ञानका विषयः—एक जीवके औदारिक शरीर संचयके लोकाकाश-प्रदेशप्रमाण खण्ड करने पर उसके एक खण्ड तकका ज्ञान होता है।

द्रव्यापेक्षासे सर्वावधिज्ञानका विषयः—एक परमाणु तक जानता है [देखो सूत्र २८ की टीका]

द्रव्यापेक्षासे मध्यम अवधिज्ञानका विषयः—जघन्य और उत्कृष्टके बीचके द्रव्योंके भेदोंको जानता है।

क्षेत्रापेक्षासे जघन्य अवधिज्ञानका विषयः—उत्सेधांगुलके [आठ यव मध्यके] असंख्यातवें भाग तकके क्षेत्रको जानता है।

क्षेत्र अपेक्षासे उत्कृष्ट अवधिज्ञानका विषयः—असंख्यात लोकप्रमाण तक क्षेत्रको जानता है।

क्षेत्र अपेक्षासे मध्यम अवधिज्ञानका विषयः—जघन्य और उत्कृष्टके बीचके क्षेत्र-भेदोंको जानता है।

कालापेक्षासे जघन्य अवधिज्ञानका विषयः—आवलीके असंख्यात भाग प्रमाण भूत और भविष्यको जानता है।

कालापेक्षासे उत्कृष्ट अवधिज्ञानका विषयः—असंख्यात लोकप्रमाण अतीत और अनागत कालको जानता है।

कालापेक्षासे मध्यम अवधिज्ञानका विषयः—जघन्य और उत्कृष्टके बीचके काल-भेदोंको जानता है।

भाव अपेक्षासे अवधिज्ञानका विषयः—पहिले द्रव्यप्रमाण निरूपण किये गये द्रव्योंकी शक्तिको जानता है।

[श्री धवला पुस्तक १, पृष्ठ ९३–९४]

(८) कर्मका क्षयोपशम निमित्त मात्र है, अर्थात् जीव अपने पुरुषार्थसे अपने ज्ञानकी विशुद्ध अवधिज्ञान पर्यायको प्रगट करता है उसमें 'स्वयं ही कारण है। अवधिज्ञानके समय अवधिज्ञानावरणका क्षयोपशम स्वयं होता है इतना सम्बन्ध बतानेको निमित्त बताया है। कर्मकी उस समयकी स्थिति कर्मके अपने कारणसे क्षयोपशमरूप होती है, इतना निमित्त-नैमित्तिक संबंध है। वह यहाँ बताया है।

क्षयोपशमका अर्थ—(१) सर्वघातिस्पर्द्धकोंका उदयाभावी क्षय, (२) देशघाति-स्पर्द्धकोंमें गुणका सर्वथा घात करनेकी शक्तिका उपशम सो क्षयोपशम कहलाता है। तथा—

(९) क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शनमें वेदक सम्यक्त्वप्रकृतिके स्पर्द्धकोंको 'क्षय' और मिथ्यात्व तथा सम्यक् मिथ्यात्व प्रकृतियोंके उदयाभावको उपशम कहते हैं। प्रकृतियोंके क्षय तथा उपशमको क्षयोपशम कहते हैं। (श्री धवला पुस्तक ५, पृष्ठ २००-२११-२२१)

(१०) गुणप्रत्यय अवधिज्ञान सम्यग्दर्शन, देशव्रत अथवा महाव्रतके निमित्तसे होता है तथापि वह सभी सम्यग्दृष्टि, देशव्रती या महाव्रती जीवोंके नहीं होता, क्योंकि असंख्यात लोकप्रमाण सम्यक्त्व, संयमासंयम और संयमरूप परिणामोंमें अवधिज्ञानावरणके क्षयोपशमके कारणभूत परिणाम बहुत थोड़े होते हैं [श्री जयधवला १, पृष्ठ १७] गुणप्रत्यय सुअवधिज्ञान सम्यग्दृष्टि जीवोंके ही हो सकता है, किन्तु वह सभी सम्यग्दृष्टि जीवों के नहीं होता।

सूत्र २१-२२ का सिद्धान्त

यह मानना ठीक नहीं है कि "जिन जीवोंको अवधिज्ञान हुआ हो वे ही जीव अवधिज्ञानका उपयोग लगाकर दर्शनमोहकर्मके रजकणोंकी अवस्थाको देखकर उस परसे यह यथार्थतया जान सकते हैं कि-हमें सम्यग्दर्शन हुआ है" क्योंकि सभी सम्यग्दृष्टि जीवोंको अवधिज्ञान नहीं होता, किन्तु सम्यग्दृष्टि जीवोंमेंसे बहुत थोड़ेसे जीवोंको अवधिज्ञान होता है। अपनेको 'सम्यग्दर्शन हुआ है' यदि यह अवधिज्ञानके बिना निश्चय न हो सकता होता तो जिन जीवोंके अवधिज्ञान नहीं होता उन्हें सदा तत्सम्बन्धी शंका-संशय बना ही रहेगा, किन्तु निःशंकित्व सम्यग्दर्शनका पहिला ही आचार है, इसलिये जिन जीवोंको सम्यग्दर्शन सम्बन्धी शंका बनी रहती है वे जीव वास्तवमें सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकते किन्तु मिथ्यादृष्टि होते हैं। इसलिये अवधिज्ञानका, मनःपर्ययज्ञानका तथा उनके भेदोंका स्वरूप जानकर, भेदोंकी ओरके रागको दूर करके अभेद ज्ञानस्वरूप अपने स्वभावकी ओर उन्मुख होना चाहिये ॥ २२ ॥

मनःपर्ययज्ञानके भेद

ऋजुविपुलमती मनःपर्ययः ॥ २३ ॥

अर्थः—[मनःपर्ययः] मन.पर्ययज्ञान [ऋजुमतिविपुलमतिः] ऋजुमति और विपुलमति दो प्रकारका है।

टीका

(१) मनःपर्ययज्ञानकी व्याख्या नववें सूत्रकी टीकामें की गई है। दूसरेके मनोगत मूर्तिक द्रव्योंको मनके साथ जो प्रत्यक्ष जानता है सो मन.पर्ययज्ञान है।

(२) द्रव्यापेक्षासे मनःपर्ययज्ञानका विषयः—जघन्य रूपसे एक समयमें होनेवाले औदारिक शरीरके निर्जरारूप द्रव्य तक जान सकता है; उत्कृष्टरूपसे आठ कर्मोंके एक समयमें बंधे हुए समयप्रबद्धरूप* द्रव्यके अनन्त भागोंमेंसे एक भाग तक जान सकता है।

क्षेत्रापेक्षासे इस ज्ञानका विषयः—जघन्यरूपसे दो, तीन कोस तकके क्षेत्रको जानता है; और उत्कृष्टरूपसे मनुष्यक्षेत्रके भीतर जान सकता है। [यहाँ विष्कंभरूप मनुष्यक्षेत्र समझना चाहिए]

कालापेक्षासे इस ज्ञानका विषयः—जघन्यरूपसे दो तीन भवोंका ग्रहण करता है; उत्कृष्टरूपसे असंख्यात भवोंका ग्रहण करता है।

भावापेक्षासे इस ज्ञानका विषयः—द्रव्यप्रमाणमें कहे गये द्रव्यों की शक्तिको (भावको) जानता है। [श्री धवला पुस्तक १ पृष्ठ ९४]

इस ज्ञानके होनेमें मन अपेक्षामात्र (निमित्तमात्र) कारण है; वह उत्पत्तिका कारण नहीं। इस ज्ञानकी उत्पत्ति आत्माकी शुद्धिसे होती है। इस ज्ञानके द्वारा स्व तथा पर दोनोंके मनमें स्थित रूपी पदार्थ जाने जा सकते हैं। [श्री सर्वार्थसिद्धि पृष्ठ ४४८-४५१-४५२]

दूसरेके मनमें स्थित पदार्थको भी मन कहते हैं; उनकी पर्यायों (विशेषों) को मन.पर्यय कहते हैं, उसे जो ज्ञान जानता है सो मन.पर्ययज्ञान है। मनःपर्ययज्ञानके ऋजुमति और विपुलमति-ऐसे दो भेद हैं।

---

* समयप्रबद्ध-एक समयमें जितने कर्म परमाणु और नो कर्म परमाणु बंधते हैं उन सबको समयप्रबद्ध कहते हैं।

ऋजुमति'—मनमें चिंतित पदार्थको जानता है, अचिंतित पदार्थको नहीं, और वह भी सरलरूपसे चिंतित पदार्थ को जानता है। [देखो सूत्र २८ की टीका]

विपुलमति.—चिंतित और अचिंतित पदार्थको तथा वक्रचिंतित और अवक्रचिंतित पदार्थको भी जानता है। [देखो सूत्र २८ की टीका]

मनःपर्ययज्ञान विशिष्ट संयमधारीके होता है [श्री धवला पुस्तक ६, पृष्ठ २८-२९] 'विपुल' का अर्थ विस्तीर्ण-विशाल गंभीर होता है। [उसमें कुटिल, असरल, विषम, सरल इत्यादि गर्भित हैं] विपुलमतिज्ञानमें ऋजु और वक्र (सरल और पेचीदा) सर्वप्रकारके रूपी पदार्थोंका ज्ञान होता है। अपने तथा दूसरोंके जीवन-मरण, सुख-दुःख, लाभ-अलाभ, इत्यादिका भी ज्ञान होता है।

(श्री धवला पुस्तक १३ पृष्ठ ३२८ से ३४४ एवं सूत्र ६० से ७८)

विपुलमति मनःपर्ययज्ञानी व्यक्त अथवा अव्यक्त मनसे चिंतित या अचिंतित अथवा आगे जाकर चिन्तवन किये जानेवाले सर्वप्रकारके पदार्थोंको जानता है।

(सर्वार्थसिद्धि पृष्ठ ४४८-४५१ ४५२)

कालापेक्षासे ऋजुमतिका विषय.—जघन्यरूपसे भूत-भविष्यतके अपने और दूसरेके दो तीन भव जानता है, और उत्कृष्टरूपसे उसीप्रकार सात आठ भव जानता है।

क्षेत्रापेक्षासे.—यह ज्ञान जघन्यरूपसे तीनसे ऊपर और नौ से नीचे कोस, तथा उत्कृष्टरूपसे तीनसे ऊपर और नौ से नीचे योजनके भीतर जानता है। उससे बाहर नहीं जानता।

कालापेक्षासे विपुलमतिका विषय—जघन्यरूपसे अगले पिछले सात आठ भव जानता है और उत्कृष्टरूपसे आगे पिछले असंख्यात भव जानता है।

क्षेत्रापेक्षासे —यह ज्ञान जघन्यरूपसे तीनसे ऊपर और नौ से नीचे योजन प्रमाण जानता है, और उत्कृष्टरूपसे मनुष्योत्तरपर्वतके भीतर तक जानता है, उससे बाहर नहीं।

(सर्वार्थसिद्धि पृष्ठ ४५४)

विपुलमतिका अर्थ—इंग्लिश तत्त्वार्थसूत्रमें निम्नप्रकार दिया है—

Complex direct knowledge of complex mental thing. e g of what a man is thinking of now along with what he has thought of it in the past and will think of it in the future.

[पृष्ठ ८०]

अर्थः—मनमें स्थित पेचीदा वस्तुओंका पेचीदगी सहित प्रत्यक्षज्ञान, जैसे एक मनुष्य वर्तमानमें क्या विचार कर रहा है, उसके साथ भूतकालमें उसने क्या विचार किया है और भविष्यमें क्या विचार करेगा, इस ज्ञानका मनोगत विकल्प मनःपर्ययज्ञानका विषय है। (वाह्य वस्तुकी अपेक्षा मनोगत भाव एक अति सूक्ष्म और विजातीय वस्तु है) ॥ २३ ॥

ऋजुमति और विपुलमतिमें अन्तर

विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्यां तद्विशेषः ॥ २४ ॥

अर्थः—[विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्यां] परिणामोंकी विशुद्धि और अप्रतिपात अर्थात् केवलज्ञान होनेसे पूर्व न छूटना [तद्विशेषः] इन दो वातोंसे ऋजुमति और विपुलमति ज्ञानमें विशेषता (अन्तर) है।

टीका

ऋजुमति और विपुलमति यह दो मनःपर्ययज्ञानके भेद सूत्र २३ की टीकामें दिये गये हैं। इस सूत्रमें स्पष्ट बताया गया है कि विपुलमति विशुद्ध शुद्ध है और वह कभी नहीं छूट सकता, किन्तु वह केवलज्ञान होने तक बना रहता है। ऋजुमति ज्ञान होकर छूट भी जाता है। यह भेद चारित्रकी तीव्रताके भेदके कारण होते हैं। संयम परिणामका घटना—उसकी हानि होना प्रतिपात है, जो कि किसी ऋजुमति वालेके होता है ॥ २४ ॥

अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञानमें विशेषता

विशुद्धिक्षेत्रस्वामिविषयेभ्योऽवधिमनःपर्यययोः ॥ २५ ॥

अर्थः—[अवधिमनःपर्यययोः] अवधि और मनःपर्ययज्ञानमें [विशुद्धिक्षेत्रस्वामिविषयेभ्यः] विशुद्धता, क्षेत्र, स्वामी और विषयकी अपेक्षा विशेषता होती है।

टीका

मनःपर्ययज्ञान उत्तम ऋद्धिधारी भाव-मुनियोंके ही होता है; और अवधिज्ञान चारों गतियोंके सैनी जीवोंके होता है, यह स्वामीकी अपेक्षासे भेद है।

उत्कृष्ट अवधिज्ञानका क्षेत्र असंख्यात लोक-प्रमाण तक है; और मनःपर्ययज्ञानका ढाई द्वीप मनुष्यक्षेत्र है। यह क्षेत्रापेक्षासे भेद है।

स्वामी तथा विषयके भेदसे विशुद्धिमें अन्तर जाना जा सकता है, अवधिज्ञानका विषय परमाणु पर्यन्त रूपी पदार्थ है, और मनःपर्ययका विषय मनोगत विकल्प है।

विषयका भेद सूत्र २७-२८ की टीकामें दिया गया है, तथा सूत्र २२ की टीकामें अवधिज्ञानका और २३ की टीकामें मनःपर्ययज्ञानका विषय दिया गया है, उस परसे यह भेद समझ लेना चाहिए ॥ २५ ॥

मति-श्रुतज्ञानका विषय

मतिश्रुतयोर्निबन्धो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु ॥ २६ ॥

अर्थ—[मतिश्रुतयोः] मतिज्ञान और श्रुतज्ञानका [निबन्धः] विषय-सम्बन्ध [असर्वपर्यायेषु] कुछ (न कि सर्व) पर्यायोंसे युक्त [द्रव्येषु] जीव पुद्गलादि सर्व द्रव्योंमें है।

टीका

मतिज्ञान और श्रुतज्ञान सभी रूपी-अरूपी द्रव्योंको जानते हैं, किन्तु उनकी सभी पर्यायोंको नहीं जानते, उनका विषय-सम्बन्ध सभी द्रव्य और उनकी कुछ पर्यायोंके साथ होता है।

इस सूत्रमें 'द्रव्येषु' शब्द दिया है जिससे जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल सभी द्रव्य समझना चाहिए। उनकी कुछ पर्यायोंको यह ज्ञान जानते हैं, सभी पर्यायों-को नहीं।

प्रश्न—जीव, धर्मास्तिकाय, इत्यादि अमूर्त द्रव्य हैं, उन्हें मतिज्ञान कैसे जानता है, जिससे यह कहा जा सके कि मतिज्ञान सब द्रव्योंको जानता है?

उत्तरः—अनिन्द्रिय (मन) के निमित्तसे अरूपी द्रव्योंका अवग्रह ईहा अवाय और धारणारूप मतिज्ञान पहिले उत्पन्न होता है और फिर उस मतिज्ञान पूर्वक श्रुतज्ञान सर्व द्रव्यों को जानता है, और अपनी योग्य पर्यायोंको जानता है।

आत्माका निर्विकार स्वसंवेदन ज्ञान जो सम्यक्मति और श्रुतरूप है उसका विषय त्रिकाली शुद्ध आत्मा होता है।

इन दोनों ज्ञानोंके द्वारा जीवको भी यथार्थतया जाना जा सकता है ॥ २६ ॥

अवधिज्ञानका विषय

रूपिष्ववधेः ॥ २७ ॥

अर्थः—[अवधेः] अवधिज्ञानका विषय-सम्बन्ध [रूपिषु] रूपी द्रव्योंमें है अर्थात् अवधिज्ञानरूपी पदार्थोंको जानता है ।

टीका

जिसके रूप, रस, गन्ध, स्पर्श होता है वह पुद्गल द्रव्य है; पुद्गलद्रव्यसे सम्बन्ध रखनेवाले संसारी जीवको भी इस ज्ञानके हेतुके लिये रूपी कहा जाता है, [देखो सूत्र २८ की टीका]

जीवके पांच भावोंमेंसे औदयिक, औपशमिक और क्षायोपशमिक,—यह तीन भाव (परिणाम) ही अवधिज्ञानके विषय हैं; और जीवके शेष-क्षायिक तथा पारिणामिकभाव और धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य तथा कालद्रव्य अरूपी पदार्थ हैं, वे अवधिज्ञानके विषयभूत नहीं होते ।

यह ज्ञान सब रूपी पदार्थों और उनकी कुछ पर्यायोंको जानता है ॥ २७ ॥

मनःपर्ययज्ञानका विषय

तदनन्तभागे मनःपर्ययस्य ॥ २८ ॥

अर्थः—[तत् अनन्तभागे] सर्वावधिज्ञानके विषयभूत रूपी द्रव्यके अनन्तवें भागमें [मनःपर्ययस्य] मनःपर्ययज्ञानका विषय-सम्बन्ध है ।

टीका

परमावधिज्ञानके विषयभूत जो पुद्गलस्कंध हैं उनका अनन्तवां भाग करने पर जो एक परमाणुमात्र होता है सो सर्वावधिका विषय है, उसका अनन्तवां भाग ऋजुमति-मनःपर्ययज्ञानका विषय है और उसका अनन्तवां भाग विपुलमतिमनःपर्ययज्ञानका विषय है ।

(सर्वार्थसिद्धि पृष्ठ ४७३)

सूत्र २७-२८ का सिद्धान्त

अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञानका विषय रूपी है, ऐसा यहाँ कहा गया है । अध्याय

दो सूत्र एकमें आत्माके पांच भाव कहे हैं, उनमेंसे औदयिक, औपशमिक तथा क्षायोपशमिक ये तीन भाव इस ज्ञानके विषय है, ऐसा २७ वें। सूत्रमें कहा है। इससे निश्चय होता है कि परमार्थतः यह तीन भाव रूपी हैं,—अर्थात् वे अरूपी आत्माका स्वरूप नहीं हैं। क्योंकि आत्मामेंसे वे भाव दूर हो सकते हैं, और जो दूर हो सकते हैं वे परमार्थतः आत्माके नहीं हो सकते। 'रूपी' की व्याख्या अध्याय पाँचके सूत्र पाँचवेंमें दी है। वहाँ पुद्गल 'रूपी' है—ऐसा कहा है, और पुद्गल स्पर्श, रस, गन्ध, वर्णवाले है यह अध्याय पाँचके २३ सूत्रमें कहा है। श्रीसमयसारकी गाथा ५० से ६८ तथा २०३ में यह कहा है कि वर्णादिसे गुणस्थान तकके भाव पुद्गलद्रव्यके परिणाम होनेसे जीवकी अनुभूतिसे भिन्न हैं, इसलिये वे जीव नहीं हैं। वही सिद्धान्त इस शास्त्रमें उपरोक्त संक्षिप्त सूत्रोंके द्वारा प्रतिपादन किया गया है।

अध्याय २ सूत्र १ में उन भावोंको व्यवहारसे जीवका कहा है। यदि वे वास्तवमें जीवके होते तो कभी जीवसे अलग न होते, किन्तु वे अलग किये जा सकते हैं इसलिये वे जीवस्वरूप या जीवके निजभाव नहीं हैं ॥ २८ ॥

केवलज्ञानका विषय

सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य ॥ २९ ॥

अर्थः—[केवलस्य] केवलज्ञानका विषय-सम्बन्ध [सर्वद्रव्य-पर्यायेषु] सब द्रव्य और उनकी सर्व पर्यायें हैं, अर्थात् केवलज्ञान एक ही साथ सभी पदार्थोंको और उनकी सभी पर्यायोंको जानता है।

टीका

केवलज्ञान—असहाय ज्ञान, अर्थात् यह ज्ञान इन्द्रिय, मन या आलोककी अपेक्षासे रहित है। वह त्रिकालगोचर अनन्त पर्यायोंको प्राप्त अनन्त वस्तुओंको जानता है। वह असंकुचित, प्रतिपक्षी रहित और अमर्यादित है।

शंकाः—जिस पदार्थका नाश हो चुका है और जो पदार्थ अभी उत्पन्न नहीं हुआ उसे केवलज्ञान कैसे जान सकता है?

समाधानः—केवलज्ञान निरपेक्ष होनेसे बाह्य पदार्थोंकी अपेक्षाके बिना ही नष्ट और अनुत्पन्न पदार्थोंको जाने तो इसमें कोई विरोध नहीं आता। केवलज्ञानको विपर्ययज्ञानत्वका भी प्रसंग नहीं आता, क्योंकि वह यथार्थ स्वरूपसे पदार्थोंको जानता है। यद्यपि नष्ट और अनुत्पन्न वस्तुओंका वर्तमानमें सद्भाव नहीं है तथापि उनका अत्यन्ताभाव भी नहीं है।

केवलज्ञान सर्व द्रव्य और उनकी त्रिकालवर्ती अनन्तानन्त पर्यायोंको अक्रमसे एक ही कालमें जानता है; वह ज्ञान सहज (बिना इच्छाके) जानता है। केवलज्ञानमें ऐसी शक्ति है कि अनन्तानन्त लोक-अलोक हों तो भी उन्हें जाननेमें केवलज्ञान समर्थ है।

(विशेष स्पष्टताके लिये देखो अध्याय १ परिशिष्ट ५ जो बड़े महत्वपूर्ण हैं।)

शंका:—केवली भगवानके एक ही ज्ञान होता है या पाँचो ?

समाधान:—पाँचो ज्ञानोका एक ही साथ रहना नही माना जा सकता, क्योंकि मतिज्ञानादि आवरणीय ज्ञान है, केवलज्ञानी भगवान क्षीण आवरणीय हैं इसलिये भगवानके आवरणीय ज्ञानका होना सम्भव नही है; क्योंकि आवरणके निमित्तसे होनेवाले ज्ञानोंका (आवरणोका अभाव होनेके बाद) रहना हो सकता, ऐसा मानना न्याय-विरुद्ध है।

(श्री धवला पु० २ पृष्ठ २९-३०

मति आदि ज्ञानोंका आवरण केवलज्ञानावरणके नाश होनेके साथ ही सम्पूर्ण नष्ट हो जाता है। [देखो सूत्र ३० की टीका]

एक ही साथ सर्वथा जाननेकी एक-एक जीवमे सामर्थ्य है।

२९वें सूत्रका सिद्धान्त:—

'मैं परको जानूं तो बड़ा कहलाऊं' ऐसा नही, किन्तु मेरी अपार सामर्थ्य अनन्त ज्ञान-ऐश्वर्यरूप है इसलिये मैं पूर्णज्ञानघन स्वाधीन आत्मा हूं,—इसप्रकार पूर्ण साध्यको प्रत्येक जीवको निश्चित् करना चाहिये। इसप्रकार निश्चित् करके स्वसे एकत्व और परसे विभक्त (भिन्न) अपने एकाकार स्वरूपकी ओर उन्मुख होना चाहिये। अपने एकाकार स्वरूपकी ओर उन्मुख होने पर सम्यग्दर्शन प्रगट होता है और जीव क्रमश: आगे बढ़ता है और थोड़े समयमें उसकी पूर्ण ज्ञान-दशा प्रगट हो जाती है ॥ २९ ॥

एक जीवके एक साथ कितने ज्ञान हो सकते हैं ?

एकादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्यः ॥ ३० ॥

अर्थ—[एकस्मिन्] एक जीवमें [युगपत्] एक साथ [एकादीनि] एकसे लेकर [आचतुर्भ्यः] चार ज्ञान तक [भाज्यानि] विभक्त करने योग्य हैं, अर्थात् हो सकते है।

टीका

(१) एक जीवके एक साथ एकसे लेकर चार ज्ञान तक हो सकते हैं। यदि एक ज्ञान हो तो केवलज्ञान होता है, दो हों तो मति और श्रुत होते हैं, तीन हों तो मति श्रुत और अवधि अथवा मति श्रुत और मनःपर्ययज्ञान होते हैं, चार हों तो मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्ययज्ञान होते हैं। एक ही साथ पाँच ज्ञान किसीके नहीं होते। और एक ही ज्ञान एक समयमें उपयोगरूप होता है, केवलज्ञानके प्रगट होने पर वह सदाके लिए बना रहता है। दूसरे ज्ञानोंका उपयोग अधिकसे अधिक अन्तर्मुहूर्त होता है, उससे अधिक नहीं होता, उसके बाद ज्ञानके उपयोगका विषय बदल ही जाता है। केवलीके अतिरिक्त सभी संसारी जीवोंके कमसे कम दो अर्थात् मति और श्रुतज्ञान अवश्य होते हैं।

(२) क्षायोपशमिक ज्ञान क्रमवर्ती है, एक कालमें एक ही प्रवर्तित होता है, किन्तु यहाँ जो चार ज्ञान एक ही साथ कहे हैं सो चारका विकास एक ही समय होनेसे चार ज्ञानोंकी जाननेरूप लब्धि एक कालमें होती है—यही कहनेका तात्पर्य है। उपयोग तो एक कालमें एक ही स्वरूप होता है ॥३०॥

सूत्र ९ से ३० तकका सिद्धान्त

आत्मा वास्तवमें परमार्थ है और वह ज्ञान है। आत्मा स्वयं एक ही पदार्थ है इसलिये ज्ञान भी एक ही पद है। जो यह ज्ञान नामक एक पद है सो यह परमार्थस्वरूप साक्षात् मोक्ष-उपाय है। इन सूत्रोंमें ज्ञानके जो भेद कहे हैं वे इस एक पदको अभिनन्दन करते हैं।

ज्ञानके हीनाधिकरूप भेद उसके सामान्य ज्ञानस्वभावको नहीं भेदते, किन्तु अभिनन्दन करते हैं, इसलिये जिसमें समस्त भेदोंका अभाव है ऐसे आत्मस्वभावभूत ज्ञानका ही एकका आलम्बन करना चाहिए, अर्थात् ज्ञानस्वरूप आत्माका ही अवलम्बन करना चाहिये, ज्ञानस्वरूप आत्माके अवलम्बनसे ही निम्न प्रकार प्राप्ति होती है—

१—निजपदकी प्राप्ति होती है। २—भ्रान्तिका नाश होता है। ३—आत्माका लाभ होता है। ४—अनात्माका परिहार सिद्ध होता है। ५—भावकर्म बलवान नहीं हो सकता। ६—राग द्वेष मोह उत्पन्न नहीं होते। ७—पुनः कर्मका आस्रव नहीं होता। ८—पुनः कर्म नहीं बँधता। ९—पूर्वबद्ध कर्म भोगा जानेपर निर्जरित हो जाता है। १०—समस्त कर्मोंका अभाव होनेसे साक्षात् मोक्ष होता है। ज्ञानस्वरूप आत्माके आलम्बनकी ऐसी महिमा है।

क्षयोपशमके अनुसार ज्ञानमें जो भेद होते हैं वे कहीं ज्ञान सामान्यको अज्ञानरूप नहीं करते, प्रत्युत ज्ञानको प्रगट करते हैं; इसलिये इन सब भेदोंपरका लक्ष गौण करके

ज्ञान सामान्यका अवलम्बन करना चाहिये। नववें सूत्रके अन्तमें एकवचन सूचक 'ज्ञानम्' शब्द कहा है, वह भेदोंका स्वरूप जानकर, भेदों परका लक्ष छोड़कर, शुद्धनयके विषयभूत अभेद, अखण्ड ज्ञानस्वरूप आत्माकी ओर अपना लक्ष करनेके लिये कहा है; ऐसा समझना चाहिये [देखो, पाटनी ग्रन्थमालाका श्री समयसार–गाथा २०४, पृष्ट ३१०]

मति श्रुत और अवधिज्ञानमें मिथ्यात्व

मतिश्रुतावधयो विपर्ययाश्च ॥ ३१ ॥

अर्थः—[**मतिश्रुतावधयः**] मति, श्रुत और अवधि यह तीन ज्ञान [**विपर्ययाः**] विपर्यय भी होते हैं।

टीका

(१) उपरोक्त पाँचों ज्ञान सम्यग्ज्ञान हैं, किन्तु मति श्रुत और अवधि यह तीनों ज्ञान मिथ्याज्ञान भी होते हैं। उस मिथ्याज्ञानको कुमतिज्ञान कुश्रुतज्ञान तथा कुअवधि (विभंगावधि) ज्ञान कहते हैं। अभीतक सम्यग्ज्ञानका अधिकार चला आ रहा है, अब इस सूत्रमें 'च' शब्दसे यह सूचित किया है कि यह तीन ज्ञान सम्यक् भी होते हैं और मिथ्या भी होते हैं। सूत्रमें विपर्ययः शब्द प्रयुक्त हुआ है, उसमें संशय और अनध्यवसाय गर्भितरूपसे आ जाते हैं। मति और श्रुतज्ञानमें संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय यह तीन दोष हैं; अवधिज्ञानमें संशय नहीं होता, किन्तु अनध्यवसाय अथवा विपर्यय यह दो दोष होते हैं, इसलिये उसे कुअवधि अथवा विभंग कहते हैं। **विपर्यय** सम्बन्धी विशेष वर्णन ३२ वें सूत्रकी टीकामें दिया गया है।

(२) अनादि मिथ्यादृष्टिके कुमति और कुश्रुत होते है। तथा उसके देव और नारकीके भवमे कुअवधि भी होता है। जहाँ जहाँ मिथ्यादर्शन होता है वहाँ वहाँ मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र अविनाभावी रूपसे होता है ॥ ३१ ॥

प्रश्नः—जैसे सम्यग्दृष्टि जीव-नेत्रादि इन्द्रियोंसे रूपादिको सुमतिसे जानता है उसीप्रकार मिथ्यादृष्टि भी कुमतिज्ञानसे उन्हे जानता है, तथा जैसे सम्यग्दृष्टि जीव श्रुतज्ञानसे उन्हें जानता है तथा कथन करता है, उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि भी कुश्रुतज्ञानसे जानता है और कथन करता है, तथा जैसे सम्यग्दृष्टि अवधिज्ञानसे रूपी वस्तुओंको जानता है उसीप्रकार मिथ्यादृष्टि कुअवधिज्ञानसे जानता है;—तब फिर मिथ्यादृष्टिके ज्ञानको मिथ्याज्ञान क्यों कहते हो?

उत्तर—

सदसतोरविशेषाद्यदृच्छोपलब्धेरुन्मत्तवत् ॥३२॥

अर्थः—[यदृच्छोपलब्धेः] अपनी इच्छासे चाहे जैसा (Whims) ग्रहण करनेके कारण [सत् असतोः] विद्यमान और अविद्यमान पदार्थोंका [अविशेषात्] भेदरूप ज्ञान (यथार्थ विवेक) न होनेसे [उन्मत्तवत्] पागलके ज्ञानकी भाँति मिथ्यादृष्टिका ज्ञान विपरीत अर्थात् मिथ्याज्ञान ही होता है।

टीका

(१) यह सूत्र बहुत उपयोगी है। यह 'मोक्षशास्त्र है' इसलिये अविनाशी सुखके लिये सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप एक ही मार्ग है यह पहिले सूत्रमें बताकर, दूसरे सूत्रमें सम्यग्दर्शनका लक्षण बताया है, जिसकी श्रद्धासे सम्यग्दर्शन होता है वे सात तत्त्व चौथे सूत्रमें बताये हैं, तत्त्वोंको जाननेके लिये प्रमाण और नयके ज्ञानोंकी आवश्यकता है ऐसा ६ वें सूत्रमें कहा है। पांच ज्ञान सम्यक् हैं इसलिये वे प्रमाण हैं, यह ९–१० वें सूत्रमें बताया है और उन पांच सम्यग्ज्ञानोंका स्वरूप ११ से ३० वें सूत्र तक बताया है।

(२) इतनी भूमिका बांधनेके बाद मति श्रुत और अवधि यह तीन मिथ्याज्ञान भी होते हैं, और जीव अनादिकालसे मिथ्यादृष्टि है इसलिये वह जबतक सम्यक्त्वको नहीं पाता तबतक उसका ज्ञान विपर्यय है, यह ३१ वें सूत्रमें बताया है। सुखके सच्चे अभिलाषीको सर्व प्रथम मिथ्यादर्शनका त्याग करना चाहिये—यह बतानेके लिये इस सूत्रमें मिथ्याज्ञान–जो कि सदा मिथ्यादर्शन पूर्वक ही होता है–उसका स्वरूप बताया है।

(३) सुखके सच्चे अभिलाषीको मिथ्याज्ञानका स्वरूप समझानेके लिये कहा है कि—

१—मिथ्यादृष्टि जीव सत् और असत्के बीचका भेद (विवेक) नहीं जानता, इससे सिद्ध हुआ कि प्रत्येक भव्य जीवको पहिले सत् क्या है और असत् क्या है इसका यथार्थ ज्ञान प्राप्त करके मिथ्याज्ञानको दूर करना चाहिये।

२—जहां सत् और असत्के भेदका अज्ञान होता है वहां आग्रह पूर्वक जीव जैसा अपनेको ठीक लगता है वैसा पागल पुरुषकी भाँति अथवा शराब पीये हुए मनुष्यकी भाँति मिथ्या कल्पनायें किया ही करता है। इसलिए यह समझाया है कि सुखके सच्चे अभिलाषी जीवको सच्ची समझ पूर्वक मिथ्या कल्पनाओंका नाश करना चाहिये।

(४) पहिलेसे तीस तकके सूत्रोंमें मोक्षमार्ग और सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञानका स्वरूप समझाकर उसे ग्रहण करनेको कहा है, वह उपदेश 'अस्ति' से दिया है; और ३१ वें सूत्रमे मिथ्याज्ञानका स्वरूप बताकर उसका कारण ३२ वें सूत्रमें देकर मिथ्याज्ञानका नाश करनेका उपदेश दिया है, अर्थात् इस सूत्रमें 'नास्ति' से समझाया है। इसप्रकार 'अस्ति-नास्ति' के द्वारा अर्थात् अनेकांतके द्वारा सम्यक्ज्ञानको प्रगट करके मिथ्याज्ञानकी नास्ति करनेके लिये उपदेश दिया है।

(५) सत्=विद्यमान (वस्तु)

असत्=अविद्यमान (वस्तु)

अविशेषात्=इन दोनोंका यथार्थ विवेक न होनेसे।

यदृच्छ (विपर्यय) उपलब्धेः= [विपर्यय शब्दकी ३१ वें सूत्रसे अनुवृत्ति चली आई है] विपरीत—अपनी मनमानी इच्छानुसार कल्पनायें—होनेसे वह मिथ्याज्ञान है।

उन्मत्तवत्ः—मदिरा पिये हुये मनुष्यकी भांति।

विपर्ययः – विपरीतता; वह तीन प्रकारकी है—१–कारणविपरीतता, २–स्वरूप-विपरीतता, ३–भेदाभेदविपरीतता।

कारणविपरीतताः—मूलकारणको न पहिचाने और अन्यथा कारणको माने।

स्वरूपविपरीतताः—जिसे जानता है उसके मूल वस्तुभूत स्वरूपको न पहिचाने और अन्यथा स्वरूपको माने।

भेदाभेदविपरीतताः—जिसे वह जानता है उसे 'यह इससे भिन्न है' और 'यह इससे अभिन्न है'–इसप्रकार यथार्थ न पहिचानकर अन्यथा भिन्नत्व–अभिन्नत्वको माने सो भेदाभेदविपरीतता है।

इन तीन विपरीतताओंको दूर करनेका उपाय—

सच्चे धर्मकी यह परिपाटी है कि पहिले जीव सम्यक्त्व प्रगट करता है, पश्चात् व्रतरूप शुभभाव होते हैं। और सम्यक्त्व स्व और परका श्रद्धान होनेपर होता है; तथा वह श्रद्धान द्रव्यानुयोग (अध्यात्मशास्त्रों) का अभ्यास करनेसे होता है, इसलिये–पहिले जीवको द्रव्यानुयोगके अनुसार श्रद्धा करके सम्यग्दृष्टि होना चाहिये और फिर स्वयं चरणानु-योगके अनुसार सच्चे व्रतादि धारण करके व्रती होना चाहिये।

इसप्रकार मुख्यतासे तो निचली दशामें ही द्रव्यानुयोग कार्यकारी है। यथार्थ अभ्यासके परिणामस्वरूप विपरीतताके दूर होने पर निम्नप्रकार यथार्थतया मानता है—

(आधुनिक हिन्दी मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ २६३)

१—एक द्रव्य, उसके गुण या पर्याय दूसरे द्रव्य, उसके गुण या पर्यायमें कुछ भी नहीं कर सकते। प्रत्येक द्रव्य अपने अपने कारणसे अपनी पर्याय धारण करता है। विकारी अवस्थाके समय परद्रव्य निमित्तरूप अर्थात् उपस्थित तो होता है किन्तु वह किसी अन्य द्रव्यमें विक्रिया (कुछ भी) नहीं कर सकता।

(श्री समयसार गाथा ३७२ से ३८२ टीका, पृष्ठ ५१५)

प्रत्येक द्रव्यमें अगुरुलघुत्व नामक गुण है, इसलिये वह द्रव्य अन्यरूप नहीं होता, एक गुण दूसरेरूप नहीं होता और एक पर्याय दूसरेरूप नहीं होती। एक द्रव्यके गुण या पर्याय उस द्रव्यसे पृथक् नहीं हो सकते। इसप्रकार जो अपने क्षेत्रसे अलग नहीं हो सकते और पर द्रव्यमें नहीं जा सकते तब फिर वे उसका क्या कर सकते हैं? कुछ भी नहीं। एक द्रव्य गुण या पर्याय दूसरे द्रव्यकी पर्यायमें कारण नहीं होते, इसीप्रकार वे दूसरेका कार्य भी नहीं होते। ऐसी अकारणकार्यत्वशक्ति प्रत्येक द्रव्यमें विद्यमान है। इसप्रकार समझ लेने पर कारणविपरीतता दूर हो जाती है।

२—प्रत्येक द्रव्य स्वतंत्र है। जीवद्रव्य चेतनागुणस्वरूप है, पुद्गलद्रव्य स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण स्वरूप है। जबतक जीव ऐसी विपरीत पकड़ पकड़े रहता है कि 'मैं परका कुछ कर सकता हूँ और पर मेरा कुछ कर सकता है तथा शुभ विकल्पसे लाभ होता है' तबतक उसकी अज्ञानरूप पर्याय बनी रहती है। जब जीव यथार्थको समझता है अर्थात् सम्यक् समझता है तब यथार्थ मान्यता पूर्वक उसे सच्चा ज्ञान होता है। उसके परिणामस्वरूप क्रमशः शुद्धता बढ़कर सम्पूर्ण वीतरागता प्रगट होती है। अन्य चार द्रव्य (धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश, और काल) अरूपी है, उनकी कभी अशुद्ध अवस्था नहीं होती। इसप्रकार समझ लेने पर स्वरूपविपरीतता दूर हो जाती है।

३—परद्रव्य, जड़कर्म और शरीरसे जीव त्रिकाल भिन्न है। जब वे एकक्षेत्रावगाहसम्बन्धसे रहते हैं तब भी जीवके साथ एक नहीं हो सकते। एक द्रव्यके द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव दूसरे द्रव्यमें नास्तिरूप है, क्योंकि दूसरे द्रव्यसे वह द्रव्य चारों प्रकारसे भिन्न है। प्रत्येक

द्रव्य स्वयं अपने गुणसे अभिन्न है, क्योंकि उससे वह द्रव्य कभी पृथक् नहीं हो सकता। इस प्रकार समझ लेने पर भेदाभेदविपरीतता दूर हो जाती है।

सत्ः—त्रिकाल टिकनेवाला, सत्यार्थ, परमार्थ, भूतार्थ, निश्चय, शुद्ध, यह सब एकार्थवाचक शब्द हैं। जीवका ज्ञायकभाव त्रैकालिक अखण्ड है; इसलिये वह सत्, सत्यार्थ, परमार्थ, भूतार्थ, निश्चय और शुद्ध है। इस दृष्टिको द्रव्यदृष्टि, वस्तुदृष्टि, शिवदृष्टि, तत्त्वदृष्टि और कल्याणकारी दृष्टि भी कहते है।

असत्ः—क्षणिक, अभूतार्थ, व्यवहार, भेद, पर्याय, भंग, अविद्यमान; जीवमें होने-वाला विकारभाव असत् है क्योंकि वह क्षणिक है और टालने पर टाला जा सकता है।

जीव अनादिकालसे इस असत् विकारी भाव पर दृष्टि रख रहा है इसलिये उसे पर्यायबुद्धि, व्यवहारविमूढ, अज्ञानी, मिथ्यादृष्टि, मोही और मूढ़ भी कहा जाता है। अज्ञानी जीव इस असत् क्षणिक भावको अपना मान रहा है, अर्थात् वह असत्को सत् मान रहा है; इसलिये इस भेदको जानकर जो असत्को गौण करके सत् स्वरूपपर भार देकर अपने ज्ञायक स्वभावकी ओर उन्मुख होता है वह मिथ्याज्ञानको दूर करके सम्यग्ज्ञान प्रगट करता है; उसकी उन्मत्तता दूर हो जाती है।

विपर्ययः—भी दो प्रकारका है, सहज और आहार्य।

(१) सहजः—जो स्वतः अपनी भूलसे अर्थात् परोपदेशके बिना विपरीतता उत्पन्न होती है।

(२) आहार्यः—दूसरेके उपदेशसे ग्रहणकी गई विपरीतता। यह श्रोत्रेन्द्रियके द्वारा होनेवाले कुमतिज्ञानपूर्वक ग्रहण किया गया कुश्रुतज्ञान है।

शंकाः—दया धर्मके जाननेवाले जीवोंके भले ही आत्माकी पहिचान न हो तथापि उन्हें दया धर्मकी श्रद्धा तो होती ही है, तब फिर उनके ज्ञानको अज्ञान (मिथ्याज्ञान) कैसे माना जा सकता है?

समाधानः—दया धर्मके ज्ञाताओंमें भी आप्त, आगम और पदार्थ (नव तत्त्वों) की यथार्थ श्रद्धासे रहित जो जीव है उनके दयाधर्म आदिमें यथार्थ श्रद्धा होनेका विरोध है; इसलिये उनका ज्ञान अज्ञान ही है। ज्ञानका जो कार्य होना चाहिये वह न हो तो वहां ज्ञानको अज्ञान माननेका व्यवहार लोकमें भी प्रसिद्ध है, क्योंकि पुत्रका कार्य न करने वाले पुत्रको भी लोकमें कुपुत्र कहनेका व्यवहार देखा जाता है।

शंकाः—ज्ञानका कार्य क्या है ?

समाधानः—जाने हुए पदार्थकी श्रद्धा करना ज्ञानका कार्य है। ऐसे ज्ञानका कार्य मिथ्यादृष्टि जीवमें नहीं होता इसलिये उसके ज्ञानको अज्ञान कहा है। [श्री धवला पुस्तक ५, पृष्ठ २२४ व पु. १ पृष्ठ ३५३]

विपर्ययमें संशय और अनध्यवसायका समावेश हो जाता है,—यह ३१वें सूत्रकी टीकामें कहा है। इसी सम्बन्धमें यहाँ कुछ बताया जाता है—

१—कुछ लोगोंको यह संशय होता है कि धर्म या अधर्म कुछ होगा या नहीं ?

२—कुछ लोगोंको सर्वज्ञके अस्तित्व-नास्तित्वका संशय होता है।

३—कुछ लोगों को परलोकके अस्तित्व-नास्तित्वका संशय होता है।

४—कुछ लोगोंको अनध्यवसाय (अनिर्णय) होता है। वे कहते हैं कि-हेतुवादरूप तर्कशास्त्र है इसलिये उससे कुछ निर्णय नहीं हो सकता। और जो आगम हैं सो वे भिन्न भिन्न प्रकारसे वस्तुका स्वरूप बतलाते हैं, कोई कुछ कहता है और कोई कुछ, इसलिये उनकी परस्पर बात नहीं मिलती।

५—कुछ लोगोंको ऐसा अनध्यवसाय होता है कि कोई ज्ञाता सर्वज्ञ अथवा कोई मुनि या ज्ञानी प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देता कि जिसके वचनोंको हम प्रमाण मान सकें, और धर्मका स्वरूप अति सूक्ष्म है इसलिए कैसे निर्णय हो सकता है ? इसलिये "महाजनो येन गतः स पन्था" अर्थात् बड़े आदमी जिस मार्गसे जाते हैं उसी मार्ग पर हमें चलना चाहिये।

६—कुछ लोग वीतराग धर्मका लौकिक बातोंके साथ समन्वय करते हैं। वे शुभ-भावोंके वर्णनमें कुछ समानता देखकर जगतमें चलनेवाली सभी धार्मिक मान्यताओंको एक मान बैठते हैं। (यह विपर्यय है)।

७—कुछ लोग यह मानते हैं कि मन्दकषायसे धर्म (शुद्धता) होता है, (यह भी विपर्यय है)।

८—कुछ लोग ईश्वरके स्वरूपको इसप्रकार विपर्यय मानते हैं कि-इस जगतको किसी ईश्वरने उत्पन्न किया है और वह उसका नियामक है।

इस प्रकार संशय विपर्यय और अनध्यवसाय अनेक प्रकारसे मिथ्याज्ञानमें होते हैं, इसलिये सत् और असत्का यथार्थ भेद यथार्थ समझकर, स्वच्छन्दतापूर्वक की जानेवाली

कल्पनाओं और उन्मत्तताको दूर करनेके लिये यह सूत्र कहते हैं। [मिथ्यात्वको उन्मत्तता कहा है क्योंकि मिथ्यात्वसे अनन्त पापोंका बन्ध होता है जिसका ध्यान जगतको नहीं है] ॥ ३२ ॥

प्रमाणका स्वरूप कहा गया, अब श्रुतज्ञानके अंशरूप नयका स्वरूप कहते हैं—

नैगमसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दसमभिरूढैवंभूतानयाः ॥३३॥

अर्थ—[नैगम] नैगम [संग्रह] संग्रह [व्यवहार] व्यवहार [ऋजुसूत्र] ऋजुसूत्र [शब्द] शब्द [समभिरूढ] समभिरुढ [एवंभूता] एवंभूत–यह सात [नयाः] नय [Viewpoints] हैं।

टीका

वस्तुके अनेक धर्मोंमें से किसी एककी मुख्यता करके अन्य धर्मोंका विरोध किये विना उन्हें गौण करके साध्यको जानना सो नय है।

प्रत्येक वस्तुमें अनेक धर्म रहे हुये हैं इसलिये वह अनेकान्तस्वरूप है। ['अन्त' का अर्थ 'धर्म' होता है] अनेकान्तस्वरूप समझानेकी पद्धतिको 'स्याद्वाद' कहते हैं। स्याद्वाद द्योतक है, अनेकान्त द्योत्य है। स्यात्‌ का अर्थ 'कथंचित्' होता है, अर्थात् किसी यथार्थ प्रकारकी विवक्षाका कथन स्याद्वाद है। अनेकान्तका प्रकाश करनेके लिये 'स्यात्' शब्दका प्रयोग किया जाता है।

हेतु और विषयकी सामर्थ्यकी अपेक्षासे प्रमाणसे निरूपण किये गये अर्थके एक देशको कहना सो नय है। उसे 'सम्यक् एकान्त' भी कहते हैं। श्रुतप्रमाण दो प्रकारका है—स्वार्थ और परार्थ। उस श्रुतप्रमाणका अंश नय है। शास्त्रका भाव समझनेके लिए नयोंका स्वरूप समझना आवश्यक है, सात नयोंका स्वरूप निम्नप्रकार है :—

१–नैगमनयः—जो भूतकालकी पर्यायमें वर्तमानवत् संकल्प करे अथवा भविष्यकी पर्यायमें वर्तमानवत् संकल्प करे तथा वर्तमान पर्यायमें कुछ निष्पन्न (प्रगटरूप) है और कुछ निष्पन्न नहीं है उसका निष्पन्नरूप संकल्प करे, उस ज्ञानको तथा वचनको नैगमनय कहते हैं। [Figurative]

२—संग्रहनयः—जो समस्त वस्तुओंको तथा समस्त पर्यायोंको संग्रहरूप करके

मानता है तथा कहता है सो संग्रहनय है। जैसे सत् द्रव्य, इत्यादि [General, Common]

३–व्यवहारनय—अनेक प्रकारके भेद करके व्यवहार करे या भेदे सो व्यवहारनय है। जो संग्रहनयके द्वारा ग्रहण किये हुए पदार्थको विधिपूर्वक भेद करे सो व्यवहार है। जैसे सत्‌के दो प्रकार हैं–द्रव्य और गुण। द्रव्यके छह भेद हैं—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। गुणके दो भेद हैं–सामान्य और विशेष। इसप्रकार जहाँतक भेद हो सकते हैं वहाँतक यह नय प्रवृत्त होता है। [Distributive]

४–ऋजुसूत्रनयः—[ऋजु अर्थात् वर्तमान, उपस्थित, सरल] जो ज्ञानका अंश वर्तमान पर्यायमात्रको ग्रहण करे सो ऋजुसूत्रनय है। [Present condition]

५–शब्दनय—जो नय लिंग, संख्या, कारक आदिके व्यभिचारको दूर करता है सो शब्द नय है। यह नय लिंगादिके भेदसे पदार्थको भेदरूप ग्रहण करता है, जैसे दार (पु०), भार्या (स्त्री०), कलत्र (न०), यह दार, भार्या और कलत्र तीनों शब्द भिन्न लिंगवाले होनेसे यद्यपि एक ही पदार्थके वाचक हैं तथापि यह नय स्त्री पदार्थको लिंगके भेदसे तीन भेदरूप जानता है। [Descriptive]

६–समभिरूढनयः—(१) जो भिन्न भिन्न अर्थोंका उल्लंघन करके एक अर्थको रूढ़िसे ग्रहण करे। जैसे गाय [Usage] (२) जो पर्यायके भेदसे अर्थको भेदरूप ग्रहण करे। जैसे इन्द्र, शक्र, पुरन्दर, यह तीनों शब्द इन्द्रके नाम हैं, किन्तु यह नय तीनोंका भिन्न भिन्न अर्थ करता है। [Specific]

७–एवंभूतनयः—जिस शब्दका जिस क्रियारूप अर्थ है उस क्रियारूप परिणमित होनेवाले पदार्थको जो नय ग्रहण करता है उसे एवंभूतनय कहते हैं, जैसे पुजारीको पूजा करते समय ही पुजारी कहना [Active]

पहिले तीन भेद द्रव्यार्थिकनयके हैं। उन्हें सामान्य, उत्सर्ग अथवा अनुवृत्ति नामसे भी कहा जाता है।

बादके चार भेद पर्यायार्थिकनयके हैं। उन्हें विशेष, अपवाद अथवा व्यावृत्ति नामसे कहते हैं।

पहिले चार नय अर्थनय हैं, और बादके तीन शब्दनय हैं। पर्याय के दो भेद है—(१) सहभावी-जिसे गुण कहते हैं, (२) क्रमभावी-जिसे पर्याय कहते हैं।

द्रव्य नाम वस्तुओंका भी है और वस्तुओंके सामान्यस्वभावमय एक स्वभावका भी है। जब द्रव्य प्रमाणका विषय होता है तब उसका अर्थ वस्तु (द्रव्य-गुण और तीनों कालकी पर्याय सहित) करना चाहिए। जब नयोंके प्रकरणमें द्रव्यार्थिकका प्रयोग होता है तब 'सामान्यस्वभावमय एक स्वभाव' (सामान्यात्मक धर्म) अर्थ करना चाहिए। द्रव्यार्थिकमें निम्नप्रकार तीन भेद होते हैं:—

१-सत् और असत् पर्यायके स्वरूपमें प्रयोजनवश परस्पर भेद न मानकर दोनोंको वस्तुका स्वरूप मानना सो नैगमनय है।

२-सत्के अन्तर्भेदोंमें भेद न मानना सो संग्रहनय है।

३-सत्में अन्तर्भेदोंका मानना सो व्यवहारनय है।

नयके ज्ञाननय, शब्दनय और अर्थ (धर्म) नय,—ऐसे भी तीन प्रकार होते हैं।

१-वास्तविक प्रमाणज्ञान है; और जब वह एकदेशग्राही होता है तब उसे नय कहते हैं, इसलिये ज्ञानका नाम नय है और उसे ज्ञाननय कहा जाता है।

२-ज्ञानके द्वारा जाने गये पदार्थका प्रतिपादन शब्दके द्वारा होता है इसलिये उस शब्दको शब्दनय कहते हैं।

३-ज्ञानका विषय पदार्थ है इसलिये नयसे प्रतिपादित किये जानेवाले पदार्थको भी नय कहते हैं। यह अर्थनय है।

(श्री स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा २६४–२६५, पृष्ठ १८९–१९० संस्कृत टीका एवं हिन्दी टीका, श्रीमद् राजचन्द्र शास्त्रमाला)

आत्मा के सम्बन्धमें इन सात नयोंको श्रीमद् राजचन्द्रजीने निम्नलिखित चौदह प्रकारसे अवतरित किए हैं। वे साधकको उपयोगी होने से यहाँ अर्थ सहित दिये जाते हैं।

१-एवंभूतदृष्टिसे ऋजुसूत्र स्थिति कर=पूर्णताके लक्ष्यसे प्रारम्भ कर।

२-ऋजुसूत्रदृष्टिसे एवंभूत स्थिति कर=साधकदृष्टिके द्वारा साध्यमें स्थिति कर।

३-नैगमदृष्टिसे एवंभूत प्राप्त कर=तू पूर्ण है ऐसी संकल्पदृष्टिसे पूर्णताको प्राप्त कर।

४-एवंभूतदृष्टिसे नैगम विशुद्ध कर=पूर्णदृष्टिसे अव्यक्त अंश विशुद्ध कर।

५-संग्रहदृष्टिसे एवंभूत हो=त्रैकालिक स्वदृष्टिसे पूर्ण शुद्ध पर्याय प्रगट कर।

६-एवंभूतदृष्टिसे संग्रह विशुद्ध कर=निश्चयदृष्टिसे सत्ताको विशुद्ध कर।

७-व्यवहारदृष्टिसे एवंभूतके प्रति जा=भेददृष्टि छोड़कर अभेदके प्रति जा।

८-एवंभूतदृष्टिसे व्यवहार निवृत्त कर=अभेददृष्टिसे भेदको निवृत्त कर।

९-शब्ददृष्टिसे एवंभूतके प्रति जा=शब्दके रहस्यभूत पदार्थकी दृष्टिसे पूर्णताके प्रति जा।

१०-एवंभूतदृष्टिसे शब्द निर्विकल्प कर=निश्चयदृष्टिसे शब्दके रहस्यभूत पदार्थमें निर्विकल्प हो।

११-समभिरूढदृष्टिसे एवंभूतको देख=साधक अवस्थाके आरूढ़भावसे निश्चयको देख।

१२-एवंभूतदृष्टिसे समभिरूढ स्थिति कर=निश्चयदृष्टिसे स्वस्वभावके प्रति आरूढ स्थिति कर।

१३-एवंभूतदृष्टिसे एवंभूत हो=निश्चयदृष्टिसे निश्चयरूप हो।

१४-एवंभूत स्थितिसे एवंभूतदृष्टिको शमित कर=निश्चय स्थितिसे निश्चयदृष्टिके विकल्पको शमित कर दे।

वास्तविक भाव लौकिक भावोंसे विरुद्ध होते हैं

प्रश्न।—यदि व्यवहारनयसे अर्थात् व्याकरणके अनुसार जो प्रयोग (अर्थ) होता है उसे आप शब्दनयसे दूषित कहेंगे तो लोक और शास्त्रमें विरोध आयगा।

उत्तर।—लोक न समझें इसलिये विरोध भले करें, यहाँ यथार्थ स्वरूप (तत्त्व) का विचार किया जा रहा है—परीक्षा की जा रही है। औषधि रोगीकी इच्छानुसार नहीं होती। [सर्वार्थसिद्धि पृष्ठ ३३४] जगत रोगी है, ज्ञानीजन उसीके अनुकूल (रुचिकर) तत्त्वका स्वरूप (औषधि) नहीं कहते, किन्तु वे वही कहते हैं जो यथार्थ स्वरूप होता है ॥३३॥

पांच प्रकारसे जैनशास्त्रोंके अर्थ समझने की रीति

प्रत्येक वाक्यका पांच प्रकारसे अर्थ करना चाहिये—

शब्दार्थ, नयार्थ, मतार्थ, आगमार्थ और भावार्थ।

"परमात्माको नमस्कार" इस वाक्यका यहाँ पाँच प्रकारसे अर्थ किया जाता है:--

(१) शब्दार्थः—'जो ध्यानरूपी अग्निके द्वारा कर्मकलंकको भस्म करके शुद्ध नित्य निरंजन ज्ञानमय हुए हैं उन परमात्माको मैं नमस्कार करता हूं।' यह परमात्माको नमस्कारका शब्दार्थ हुआ।

(२) नयार्थः—शुद्ध निश्चयनयसे आत्मा परमानन्दस्वरूप है। पूर्णशुद्धता प्रगट हुई वह सद्भूत व्यवहारनयका विषय है। कर्म दूर हुए वह असद्भूत अनुपचरित व्यवहारनयका विषय है। इसप्रकार प्रत्येक स्थान पर नयसे समझना चाहिये। यदि नयोंके अभिप्रायको न समझे तो वास्तविक अर्थ समझमे नहीं आता। यथार्थ ज्ञानमें साधकके सुनय होतेही हैं।

'ज्ञानावरणीय कर्मने ज्ञानको रोका'—ऐसा वाक्य हो वहाँ 'ज्ञानावरणीय नामका जड कर्म रोकता है,' ऐसा कहना दो द्रव्योंका सम्बन्ध बतलानेवाला व्यवहारनयका कथन है, नयार्थ नहीं है।

शास्त्रोंके सच्चे रहस्यको खोलनेके लिये नयार्थ होना चाहिये। नयार्थको समझे बिना चरणानुयोगका कथन भी समझमें नहीं आता। जहां गुरुका उपकार माननेका कथन आये वहाँ समझना चाहिये कि गुरु परद्रव्य है, इसलिये वह व्यवहारका कथन है और वह असद्भूत-उपचरित व्यवहारनय है। परमात्मप्रकाश गाथा ७ तथा १४ के अर्थमें बताया गया है कि-असद्भूतका अर्थ 'मिथ्या' होता है।

चरणानुयोगमें जहाँ परद्रव्य छोड़नेकी बात आये वहां समझना चाहिये कि वहाँ रागको छुडानेके लिये व्यवहारनयका कथन है। प्रवचनसारमें शुद्धता और शुभरागकी मित्रता कही है किन्तु वास्तवमे वहा उनके 'मित्रता' नही है, राग तो शुद्धताका शत्रु ही है, किन्तु चरणानुयोगके शास्त्रमे वैसा कहनेकी पद्धति है और वह व्यवहारनयका कथन है। अशुभसे बचनेके लिये शुभराग निमित्तमात्र मित्र कहा है। उसका भावार्थ तो यह है कि—वह वास्तवमें वीतरागताका शत्रु है किन्तु निमित्त बतानेके लिये व्यवहार नय द्वारा ऐसा ही कथन होता है।

(३) मतार्थः—दूसरे विरुद्ध मत किसप्रकारसे मिथ्या है, उसका वर्णन करना सो मतार्थ है। चरणानुयोगमें कहे हुए व्यवहारव्रतादि करनेसे धर्म हो, ऐसी मान्यतावाले अन्य-मत हैं जैनमत नही है। श्री कुन्दकुन्दाचार्यने भावपाहुड गाथा ८३ में कहा है कि-"पूजादिकमे और व्रतादि सहित होय सो तो पुण्य है और मोह-क्षोभ रहित आत्माका परिणाम सो धर्म है। लौकिक जन-अन्यमति कई कहे है जो पूजा आदिक शुभ क्रियामे और व्रतक्रिया सहित है सो जिनधर्म है, सो ऐसे नही है।"

यहाँ बौद्ध, वेदान्त, नैयायिक इत्यादिमें जो एकान्त मान्यता है और जिनमतमें रहनेवाले जीवमें भी जिसप्रकारकी विपरीत-एकान्त-मान्यता चल रही हो वह भूल बताकर उस भूल-रहित सच्चा अभिप्राय बतलाना सो मतार्थ है।

(४) आगमार्थः—जो सत् शास्त्रमें (सिद्धान्तमें) कहा हो उसके साथ अर्थको मिलाना सो आगमार्थ है। सिद्धान्तमें जो अर्थ प्रसिद्ध हो वह आगमार्थ है।

(५) भावार्थः—तात्पर्य अर्थात् इस कथनका अन्तिम अभिप्राय-सार क्या है? कि-परमात्मरूप वीतरागी त्रिकाली आत्मद्रव्य ही उपादेय है, इसके अतिरिक्त कोई निमित्त या किसी प्रकारका राग-विकल्प उपादेय नहीं है। यह सब तो मात्र जाननेयोग्य है, एक परमशुद्ध स्वभाव ही आदरणीय है। आत्मनमस्काररूप पर्याय भी निश्चयसे आदरणीय नहीं है, इसप्रकार परम शुद्धात्मस्वभावको ही उपादेयरूपसे अंगीकार करना सो भावार्थ है।

यह पाँच प्रकारसे शास्त्रोंका अर्थ करनेकी बात समयसार, पंचास्तिकाय, बृ० द्रव्यसंग्रह, परमात्मप्रकाशकी टीकामें है।

यदि किसी शास्त्रमें यह न कही हो तो भी प्रत्येक शास्त्रके प्रत्येक कथनमें इन पाँच प्रकारसे अर्थ करके उसका भाव समझना चाहिये।

नयका स्वरूप संक्षेपमें निम्न प्रकार हैः—

सम्यग्नय सम्यक् श्रुतज्ञानका अवयव है और इससे वह परमार्थसे ज्ञानका (उपयोगात्मक) अंश है और उसके शब्दरूप कथनको मात्र उपचारसे नय कहा है।

इस विषयमें श्री धवला टीकामें कहा है कि—

शंकाः—नय किसे कहते हैं?

समाधानः—ज्ञाताके अभिप्रायको नय कहते हैं।

शंकाः—'अभिप्राय' का क्या अर्थ है?

समाधानः—प्रमाणसे गृहीत वस्तुके एकदेशमें वस्तुका निश्चय ही अभिप्राय है।

युक्ति अर्थात् प्रमाणसे अर्थके ग्रहण करने अथवा द्रव्य और पर्यायमेंसे किसी एकको अर्थरूपसे ग्रहण करनेका नाम नय है। प्रमाणसे जानी हुई वस्तुके द्रव्य अथवा पर्यायमें

वस्तुके निश्चय करनेको नय कहते हैं, यह इसका अभिप्राय है ।

(धवला टीका पुस्तक ६, पृष्ठ १६२-१६३)

"प्रमाण और नयसे वस्तुका ज्ञान होता है, इस सूत्र द्वारा भी यह व्याख्यान विरुद्ध नहीं पडता । इसका कारण यह है कि प्रमाण और नयसे उत्पन्न वाक्य भी उपचारसे प्रमाण और नय है।" (धवला टीका पु० ६, पृष्ठ १६४)

[यहाँ श्री वीरसेनाचार्यने वाक्य को उपचारसे नय कहकर ज्ञानात्मक नयको परमार्थसे नय कहा है]

पंचाध्यायीमें भी नयके दो प्रकार माने हैं—

द्रव्यनयो भावनयः स्यादिति भेदाद्द्विधा च सोऽपि यथा ।
पौद्गलिकः किल शब्दो द्रव्यं भावश्च चिदिति जीवगुणः ॥५०५॥

अर्थः—"वह नय भी द्रव्यनय और भावनय इसप्रकारके भेदसे दो प्रकारका है । जैसे कि वास्तवमें पौद्गलिक शब्द द्रव्यनय कहलाता है तथा जीवका गुण जो चैतन्य है वह भावनय कहलाता है । अर्थात् नय ज्ञानात्मक और वचनात्मकके भेदसे दो प्रकारका है । उनमेंसे वचनात्मक नय द्रव्यनय तथा ज्ञानात्मक नय भावनय कहलाता है।"

स्वामी कार्तिकेय विरचित द्वादशानुप्रेक्षामें **नयके तीन प्रकार कहे हैं** । अब वस्तुके धर्मको, उसके वाचक शब्दको और उसके ज्ञानको नय कहते हैं:—

" सो चिय इक्को धम्मो, वाचय सद्दो वि तस्स धम्मस्स ।
तं जाणदि तं णाणं, ते तिण्णि वि णय विसेसा य ॥२६५॥

अर्थः—जो वस्तुका एक धर्म, उस धर्मका वाचक शब्द और उस धर्मको जाननेवाला ज्ञान ये तीनों ही नयके विशेष हैं ।

भावार्थः—वस्तुका ग्राहक ज्ञान, उसका वाचक शब्द और वस्तु इनको जैसे प्रमाणस्वरूप कहते हैं वैसे ही नय भी कहते हैं ।"

(पाटनी ग्रन्थमालासे प्र० कार्तिकेयानुप्रेक्षा पृष्ठ १७०)

" सुयणाणस्स वियप्पो, सो वि णओ " श्रुतज्ञानके विकल्प (–भेद) को नय कहा है । (का० अनुप्रेक्षा गा० २६३)

जैन नीति अथवा नय-विवक्षा

एकेनाकर्षन्ती श्लथयन्ती वस्तु तत्त्वमितरेण ।
अन्तेन जयति जैनी नीतिर्मन्थाननेत्रमिव गोपी ॥२२५॥

(पु० सि० उपाय)

अर्थः—मथानीको खींचनेवाली ग्वालिनकी तरह जिनेन्द्र भगवानकी जो नीति अर्थात् नय-विवक्षा है वह वस्तुस्वरूपको एक नय-विवक्षासे खींचती हुई और दूसरी नय-विवक्षासे ढीली करती हुई अंत अर्थात् दोनों विवक्षाओंसे जयवन्त रहे।

भावार्थः—भगवानकी वाणी स्याद्वादरूप अनेकान्तात्मक, है। वस्तुका स्वरूप मुख्य तथा गौण नयकी विवक्षासे ग्रहण किया जाता है। जैसे जीव द्रव्य नित्य भी है और अनित्य भी है, द्रव्यार्थिकनयकी विवक्षासे नित्य है तथा पर्यायार्थिकनयकी विवक्षासे अनित्य है। यही नय-विवक्षा है।

(जिनवाणी प्रचारक कार्यालय कलकत्तासे प्र० श्री अमृतचन्द्राचार्यकृत पुरुषार्थ सि० उपाय पृष्ठ १२१)

यह श्लोक सूचित करता है कि शास्त्रमें कई स्थान पर निश्चयनयकी मुख्यता से कथन है और कहींपर व्यवहारनयकी मुख्यतासे कथन है, परन्तु उसका अर्थ ऐसा नहीं है कि धर्म किसी समय तो व्यवहारनय (-अभूतार्थनय) के आश्रयसे होता है और किसी समय निश्चयनय (-भूतार्थनय) के आश्रय से होता है परन्तु धर्म तो हमेशा निश्चयनय अर्थात् भूतार्थनयके ही आश्रयसे होता है (-अर्थात् भूतार्थनयके अखण्ड विषयरूप निजशुद्धात्माके आश्रयसे ही धर्म होता है।) ऐसा न्याय पुरुषार्थसिद्धि-उपायके ५वें श्लोकमें तथा श्री कार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रन्थ गा० ३११-१२ के भावार्थमें दिया गया है। इसलिये इस श्लोक नं० २२५का अन्य प्रकार अर्थ करना ठीक नहीं है।

इसप्रकार श्री उमास्वामि विरचित मोक्षशास्त्रके प्रथम अध्यायकी
गुजराती टीकाका हिन्दी अनुवाद समाप्त हुआ।

प्रथम अध्यायका परिशिष्ट

[१]

सम्यग्दर्शनके सम्बन्धमें कुछ ज्ञातव्य

(१)

सम्यग्दर्शनकी आवश्यकता

प्रश्नः—आप यह कहते हैं कि सम्यग्दर्शनके बिना चारित्र नहीं होता है तब फिर सम्यग्दर्शनरहित ज्ञान और चारित्र कैसे होते हैं ?

उत्तरः—यदि सम्यग्दर्शन न हो तो ग्यारह अंगका ज्ञान भी मिथ्याज्ञान है, और उसका चारित्र भी मिथ्याचारित्र है। भावार्थ यह है कि सम्यग्दर्शनके बिना व्रत, तप, भक्ति, स्वाध्याय आदि जितने भी आचरण हैं वे सब मिथ्याचारित्र हैं, इसलिये यह जानना आवश्यक है कि सम्यग्दर्शन क्या है और वह कैसे प्राप्त हो सकता है।

(२)

सम्यग्दर्शन क्या है ?

प्रश्नः—सम्यग्दर्शन क्या है ? वह द्रव्य है, गुण है या पर्याय ?

उत्तरः—सम्यग्दर्शन श्रद्धागुणकी एक निर्मल पर्याय है। इस विश्वमें छह द्रव्य हैं, उनमेंसे एक चेतनद्रव्य (जीव) है, और पाँच अचेतनद्रव्य पुद्गल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और काल हैं। जीव द्रव्य अर्थात् आत्मामें अनन्त गुण हैं, उनमेंसे एक गुण श्रद्धा (सम्यक्त्व-विश्वास-प्रतीति) है, इस गुणकी अवस्था अनादि-कालसे उल्टी है इसलिये जीवको अपने स्वरूपका भ्रम बना हुआ है, उस अवस्थाको मिथ्यादर्शन कहते हैं। उस श्रद्धागुणकी सुल्टी (-शुद्ध) अवस्था सम्यग्दर्शन है। इसप्रकार आत्माके श्रद्धागुणकी शुद्ध पर्याय सम्यग्दर्शन है।

(३)

श्रद्धागुणकी मुख्यतासे निश्चयसम्यग्दर्शनकी व्याख्या

(१) श्रद्धागुणकी जिस अवस्थाके प्रगट होनेसे अपने शुद्ध आत्माका प्रतिभास हो सो सम्यग्दर्शन है।

(२) सर्वज्ञ भगवानकी वाणीमें जैसा पूर्ण आत्माका स्वरूप कहा गया है वैसा श्रद्धान करना सो निश्चय सम्यग्दर्शन है।

[निश्चय सम्यग्दर्शन निमित्तको, अपूर्ण या विकारी पर्यायको, भंगभेदको या गुण-भेदको स्वीकार नहीं करता-(भेदरूप) लक्षमें नहीं लेता।]

नोट:—बहुतसे लोग यह मानते हैं कि जाव एक सर्वव्यापक आत्मा है और यह आत्मा गुणस्वभाव है, किन्तु उनके कथनानुसार चैतन्यमात्र आत्माको मानना सम्यग्दर्शन नहीं है।

(३) स्वरूपका श्रद्धान।
(४) आत्म-श्रद्धान [पुरुषार्थसिद्धि-उपाय श्लोक २१६]
(५) स्वरूपकी यथार्थ प्रतीत-श्रद्धान (आधुनिक हिन्दी मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ ३२१)
(६) परसे भिन्न अपने आत्माकी श्रद्धा-रुचि [समयसार कलश ६, छहढाला तीसरी ढाल, छन्द २।]

नोट—यहाँ परसे 'भिन्न' शब्द सूचित करता है कि सम्यग्दर्शनको परवस्तु, निमित्त, व्यवहारधर्म, अपूर्ण गुणपर्याय या भंगभेद आदि कुछ भी स्वीकार्य नहीं है। सम्यग्दर्शनका विषय [लक्ष] पूर्ण ज्ञायक त्रैकालिक आत्मा है। [पर्यायकी अपूर्णता इत्यादि सम्यग्ज्ञानका विषय है।]

(७) विशुद्धज्ञान-दर्शनस्वभावरूप निज परमात्माकी रुचि सम्यग्दर्शन है [जयसेना-चार्यकृत टीका-हिन्दी समयसार पृष्ठ ८]

नोट—यहाँ 'निज' शब्द है, वह अनेक आत्मा हैं उनसे अपनी भिन्नता बतलाता है।

(८) शुद्ध जीवास्तिकायकी रुचिरूप निश्चयसम्यक्त्व। [जयसेनाचार्यकृत टीका-पंचास्तिकाय गाथा १०७ पृष्ठ १७०]

(४)

ज्ञानगुणकी मुख्यतासे निश्चय सम्यग्दर्शनकी व्याख्या

(१) विपरीत अभिनिवेशरहित जीवादि तत्त्वार्थश्रद्धान सम्यग्दर्शनका लक्षण है, [मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ ३२० तथा पुरुषार्थसिद्ध्युपाय श्लोक २२]

नोट:—यह व्याख्या प्रमाणदृष्टिसे है, उसमें अस्ति-नास्ति दोनों पहलू बताये हैं।

(२) 'जीवादिका श्रद्धान सम्यक्त्व है' अर्थात् जीवादि पदार्थोंके यथार्थ श्रद्धान-स्वरूपमें आत्माका परिणमन सम्यक्त्व है [समयसार गाथा १३ तथा १५५ टीका]

(३) भूतार्थसे जाने हुये पदार्थोंसे शुद्धात्माके पृथक्त्वका सम्यक् अवलोकन। [जयसेनाचार्यकृत टीका, हिन्दी समयसार पृष्ठ २२६]

नोट—यह कथन द्रव्यार्थिकनयसे है। कालम नं० २ और ३ यह सूचित करते हैं कि जिसे नव पदार्थोंका सम्यग्ज्ञान होता है उसे ही सम्यग्दर्शन होता है। इसप्रकार सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शनका अविनाभावी भाव बतलाता है।

(४) पंचाध्यायी भाग दूसरेमें ज्ञानकी अपेक्षासे निश्चयसम्यग्दर्शनकी व्याख्या श्लोक १८६से १८९में दी गई है। यह कथन पर्यायार्थिकनयसे है। वह निम्नप्रकार कहा गया है:—

[गाथा १८६]—'इसलिये शुद्धतत्त्व कहीं उन नव तत्त्वोंसे विलक्षण अर्थान्तर नहीं है, किन्तु केवल नवतत्त्व सम्बन्धी विकारोंको छोड़कर नवतत्त्व ही शुद्ध हैं।'

भावार्थः—इससे सिद्ध होता है कि केवल विकारकी उपेक्षा करनेसे नवतत्त्व ही शुद्ध हैं, नवतत्त्वोंसे कहीं सर्वथा भिन्न शुद्धत्व नहीं है।

[गाथा १८७]—"इसलिये सूत्रमें तत्त्वार्थकी श्रद्धा करनेको सम्यग्दर्शन माना गया है, और वह भी जीव-अजीवादिरूप नव हैं, ×××"

भावार्थः—विकारकी उपेक्षा करने पर शुद्धत्व नवतत्त्वोंसे अभिन्न है, इसलिये सूत्रकारने [तत्त्वार्थ सूत्रमें] नवतत्त्वोंके यथार्थ श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहा है। ×××"

[गाथा १८८] इस गाथामें 'जीव-अजीव-आस्रव-बन्ध-संवर-निर्जरा और मोक्ष' इन सात तत्त्वोंके नाम दिये गये हैं।

[गाथा १८९] "पुण्य और पापके साथ इन सात तत्त्वोंको नव पदार्थ कहा जाता है, और वे नव पदार्थ भूतार्थके आश्रयसे सम्यग्दर्शनका वास्तविक विषय हैं।"

भावार्थः—"पुण्य और पापके साथ यह सात तत्त्व ही नव पदार्थ कहलाते हैं, और वे नव पदार्थ यथार्थताके आश्रयसे सम्यग्दर्शनके यथार्थ विषय हैं।"

नोटः—यह ध्यान रहे कि यह कथन ज्ञानकी अपेक्षासे है। दर्शनापेक्षासे सम्यग्दर्शनका विषय अपना अखंड शुद्ध चैतन्यस्वरूप परिपूर्ण आत्मा है,—यह बात ऊपर बताई गई है।

(५) "शुद्ध चेतना एक प्रकारकी है क्योंकि शुद्धका एक प्रकार है। शुद्ध चेतनामें शुद्धताकी उपलब्धि होती है इसलिये वह शुद्धरूप है और वह ज्ञानरूप है इसलिये वह ज्ञान चेतना है" [पंचाध्यायी अध्याय २ गाथा १९४]

सभी सम्यग्दृष्टियोंके यह ज्ञानचेतना प्रवाहरूपसे अथवा अखण्ड एकधारारूपसे रहती है। [पंचाध्यायी अध्याय २ गाथा ८५१]

(६) ज्ञेय-ज्ञातृत्वकी यथावत् प्रतीति जिसका लक्षण है वह सम्यग्दर्शन पर्याय है। [प्रवचनसार अध्याय ३ गाथा २४२, श्री अमृतचन्द्राचार्यकृत टीका]

(७) आत्मासे आत्माको जाननेवाला जीव निश्चयसम्यग्दृष्टि है। [परमात्मप्रकाश गाथा ८२]

(८) 'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्' [तत्त्वार्थसूत्र अध्याय १ सूत्र २]

(४)

चारित्रगुणकी मुख्यतासे निश्चयसम्यग्दर्शनकी व्याख्या

(१) "ज्ञानचेतनामें 'ज्ञान' शब्दसे ज्ञानमय होनेके कारण शुद्धात्माका ग्रहण है, और वह शुद्धात्मा जिसके द्वारा अनुभूत होता है उसे ज्ञानचेतना कहते हैं।"
[पंचाध्यायी अध्याय २ गाथा १९६-भावार्थ]

(२) उसका स्पष्टीकरण यह है कि—'आत्माका ज्ञानगुण सम्यक्त्वयुक्त होनेपर आत्मस्वरूपकी जो उपलब्धि होती है, उसे ज्ञानचेतना कहते हैं'। [पंचाध्यायी गाथा १९७]

(३) 'निश्चयसे यह ज्ञानचेतना सम्यग्दृष्टिके ही होती है।' [पंचाध्यायी गाथा १९८]

नोट:—यहाँ आत्माका जो शुद्धोपयोग है-अनुभव है वह चारित्रगुणकी पर्याय है।

(४) आत्माकी शुद्ध उपलब्धि सम्यग्दर्शनका लक्षण है। [पंचाध्यायी गाथा २१५]

नोट—यहाँ इतना ध्यान रखना चाहिये कि ज्ञानकी मुख्यता या चारित्रकी मुख्यतासे जो कथन है उसे सम्यग्दर्शनका बाह्य लक्षण जानना चाहिये, क्योंकि सम्यग्ज्ञान और अनुभवके साथ सम्यग्दर्शन अविनाभावी है इसलिये वे सम्यग्दर्शनको अनुमानसे सिद्ध करते हैं। इस अपेक्षासे इसे व्यवहार कथन कहते हैं और दर्शन [श्रद्धा] गुणकी अपेक्षासे जो कथन है उसे निश्चय-कथन कहते हैं।

(५) दर्शनका निश्चय स्वरूप ऐसा है कि-भगवान परमात्मस्वभावके अतीन्द्रिय सुखकी रुचि करनेवाले जीवमें शुद्ध अन्तरंग आत्मिक तत्त्वके आनन्दको उत्पन्न होनेका धाम ऐसे शुद्ध जीवास्तिकायका (अपने जीवस्वरूपका) परमश्रद्धान, दृढ प्रतीति और सच्चा निश्चय ही दर्शन है (यह व्याख्या सुख गुणकी मुख्यतासे है।)

(६)

अनेकान्त-स्वरूप

दर्शन-ज्ञान-चारित्र सम्बन्धी अनेकान्त-स्वरूप समझने योग्य है, इसलिये वह यहां कहा जाता है।

(१) **सम्यग्दर्शनः**—सभी सम्यग्दृष्टियोंके अर्थात् चौथे गुणस्थानसे सिद्धों तक सभीके एक समान है, अर्थात् शुद्धात्माकी मान्यता उन सबके एकसी है-मान्यतामें कोई अन्तर नहीं है।

(२) **सम्यग्ज्ञानः**— सभी सम्यग्दृष्टियोंके सम्यक्त्वकी अपेक्षासे ज्ञान एक ही प्रकारका है, किन्तु ज्ञान किसीके हीन या किसीके अधिक होता है। तेरहवें गुणस्थानसे सिद्धों तकका ज्ञान सम्पूर्ण होनेसे सर्व वस्तुओंको युगपत् जानता है। नीचेके गुणस्थानोंमें [चौथेसे बारहवें तक] ज्ञान क्रमशः होता है, और वहां यद्यपि ज्ञान सम्यक् है तथापि कम-बढ होता है। उस अवस्थामें जो ज्ञान विकासरूप नहीं है वह अभावरूप है, इसप्रकार सम्यग्दर्शन और सम्यक्ज्ञानमें अन्तर है।

(३) **सम्यक्चारित्रः**—सभी सम्यग्दृष्टियोंके जो कुछ भी चारित्र प्रगट हुआ हो सो सम्यक् है। और जो दसवें गुणस्थान तक प्रगट नहीं हुआ सो विभावरूप है। तेरहवें गुणस्थानमें अनुजीवी योगगुण कम्पनरूप होनेसे विभावरूप है, और वहाँ प्रतिजीवीगुण बिलकुल प्रगट नहीं है। चौदहवें गुणस्थानमें भी उपादानकी कचास है इसलिये वहाँ औदयिकभाव है।

(४) जहां सम्यग्दर्शन है वहां सम्यग्ज्ञान और स्वरूपाचरण चारित्रका अंश अभेदरूप होता है। ऊपर कहे अनुसार दर्शनगुणसे ज्ञानगुणका पृथक्त्व और उन दोनों गुणोंसे चारित्रगुणका पृथक्त्व सिद्ध हुआ; इसप्रकार अनेकान्त स्वरूप हुआ।

(५) यह भेद पर्यायार्थिकनयसे है। द्रव्य अखण्ड है इसलिये द्रव्यार्थिकनयसे सभी गुण अभेद-अखण्ड हैं, ऐसा समझना चाहिये।

(७)

दर्शन (श्रद्धा), ज्ञान, चारित्र इन तीनों गुणों की अभेददृष्टिसे निश्चयसम्यग्दर्शनकी व्याख्या

(१) अखण्ड प्रतिभासमय, अनन्त, विज्ञानघन, परमात्मस्वरूप समयसारका जब आत्मा अनुभव करता है उसी समय आत्मा सम्यक्रूपसे दिखाई देता है –[अर्थात् श्रद्धा की जाती है] और ज्ञात होता है, इसलिये समयसार ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है । नयोंके पक्षपातको छोड़कर एक अखण्ड प्रतिभासको अनुभव करना ही 'सम्यग्दर्शन' और 'सम्यग्ज्ञान' ऐसे नाम पाता है । सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान कहीं अनुभवसे भिन्न नहीं हैं ।

[समयसार गाथा १४४ टीका भावार्थ]

(२) वर्ते निज स्वभावका अनुभव लक्ष प्रतीत,
वृत्ति बहे निजभावमें परमार्थे समकित ।

[आत्मसिद्धि गाथा १११]

अर्थः—अपने स्वभावकी प्रतीति, ज्ञान और अनुभव वर्ते और अपने भावमें अपनी वृत्ति बहे सो परमार्थ सम्यक्त्व है ।

(८)

निश्चय सम्यग्दर्शनका चारित्रके भेदोंकी अपेक्षासे कथन

निश्चय सम्यग्दर्शन चौथे गुणस्थानसे प्रारम्भ होता है, चौथे और पांचवें गुणस्थानमें चारित्रमें मुख्यतया राग होता है इसलिये उसे 'सराग सम्यक्त्व' कहते हैं । छठे गुणस्थानमें चारित्रमें राग गौण है, और ऊपरके गुणस्थानोंमें उसमें [illegible] होते होते अन्तमें सम्पूर्ण वीतराग चारित्र हो जाता है, इसलिये छठे गुणस्थानसे 'वीतराग सम्यक्त्व' कहलाता है ।

(९)

निश्चय सम्यग्दर्शनके सम्बन्धमें प्रश्नोत्तर

प्रश्नः—मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धीके निमित्तसे होनेवाले विपरीत अभिनिवेशसे रहित जो श्रद्धा है सो निश्चय सम्यक्त्व है या व्यवहार सम्यक्त्व है ?

उत्तरः—वह निश्चय सम्यक्त्व है, व्यवहार सम्यक्त्व नहीं ।

प्रश्नः— पंचास्तिकायकी १०७ वी गाथा की संस्कृत टीका में उसे व्यवहार सम्यक्त्व कहा है ?

उत्तरः—नहीं, उसमें इसप्रकार शब्द हैं–"मिथ्यात्वोदयजनित-विपरीताभिनिवेश-रहितं श्रद्धानम्", यहां 'श्रद्धान' कहकर श्रद्धानकी पहिचान कराई है, किन्तु उसे व्यवहार-सम्यक्त्व नही कहा है, व्यवहार और निश्चय सम्यक्त्वकी व्याख्या गाथा १०७ में कथित 'भावाणम्' शब्दके अर्थमें कही है।

प्रश्नः—'अध्यात्मकमलमार्तंड' की सातवी गाथामें उसे व्यवहार सम्यक्त्व कहा है, क्या यह ठीक है ?

उत्तरः—नही, वहाँ निश्चय सम्यक्त्वकी व्याख्या है, द्रव्यकर्मके उपशम, क्षय इत्यादि-के निमित्तसे सम्यक्त्व उत्पन्न होता है–इसप्रकार निश्चय सम्यक्त्वकी व्याख्या करना सो व्यवहारनयसे है क्योंकि वह व्याख्या परद्रव्यकी अपेक्षासे की है। अपने पुरुषार्थसे निश्चय-सम्यक्त्व प्रगट होता है यह निश्चयनयका कथन है। 'हिन्दीमें जो 'व्यवहार सम्यक्त्व' ऐसा अर्थ किया है सो यह मूल गाथाके साथ मेल नहीं खाता।

(१०)

व्यवहार सम्यग्दर्शनकी व्याख्या

(१) पंचास्तिकाय, छह द्रव्य तथा जीव-पुद्गलके संयोगी परिणामोंसे उत्पन्न आस्रव, बन्ध, पुण्य, पाप, संवर, निर्जरा और मोक्ष, इसप्रकार नव पदार्थोंके विकल्परूप व्यवहार, सम्यक्त्व है। [पंचास्तिकाय गाथा १०७ जयसेनाचार्यकृत टीका पृष्ठ १७०]

(२) जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्त्वोंकी ज्योंकी त्यों यथार्थ अटल श्रद्धा करना सो व्यवहार सम्यग्दर्शन है।

[छहढाला, ढाल ३ छन्द ३]

(३) **प्रश्नः**— क्या व्यवहार सम्यग्दर्शन निश्चय सम्यग्दर्शनका साधक है ?

उत्तरः—प्रथम जब निश्चय सम्यग्दर्शन प्रगट होता है तब विकल्परूप व्यवहार सम्यग्दर्शनका अभाव होता है। इसलिये वह (व्यवहार सम्यग्दर्शन) वास्तवमे निश्चय सम्यग्दर्शनका साधक नही है, तथापि उसे भूतनैगमनयसे साधक कहा जाता है, अर्थात् पहिले जो व्यवहार सम्यग्दर्शन था वह निश्चय सम्यग्दर्शनके प्रगट होते समय अभावरूप होता है,

इसलिये जब उसका अभाव होता है तब पूर्वकी सविकल्प श्रद्धाको व्यवहार सम्यग्दर्शन कहा जाता है। (परमात्मप्रकाश गाथा १४० पृष्ठ १४३, प्रथमावृत्ति संस्कृत टीका) इसप्रकार व्यवहार सम्यग्दर्शन निश्चय सम्यग्दर्शनका कारण नहीं, किन्तु उसका अभाव कारण है।

(११)

व्यवहाराभास सम्यग्दर्शनको कभी व्यवहार सम्यग्दर्शन भी कहते हैं

द्रव्यलिंगी मुनिके आत्मज्ञानशून्य आगमज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान और संयमभावकी एकता भी कार्यकारी नहीं है। [देखो, मोक्षमार्ग प्रकाशक देहलीवाला पृष्ठ ३४१]

यहाँ जो 'तत्त्वार्थ श्रद्धान' शब्दका प्रयोग हुआ है सो वह भावनिक्षेपसे नहीं किन्तु नामनिक्षेपसे है।

'जिसे स्व-परका यथार्थ श्रद्धान नहीं है किन्तु जो वीतराग कथित देव, गुरु और धर्म-इन तीनोंको मानता है तथा अन्यमतमें कथित देवादिको तथा तत्त्वादिको नहीं मानता ऐसे केवल व्यवहार सम्यक्त्वसे वह निश्चय सम्यक्त्वी नाम नहीं पा सकता'। (पं० टोडरमलजी कृत रहस्यपूर्ण चिट्ठी) उसका गृहीत मिथ्यात्व दूर होगया है इस अपेक्षासे व्यवहार सम्यक्त्व हुआ है ऐसा कहा जाता है, किन्तु उसके अगृहीत मिथ्यादर्शन है इसलिये वास्तवमें उसे व्यवहाराभास सम्यग्दर्शन है।

मिथ्यादृष्टि जीवको देव-गुरु-धर्मादिका श्रद्धान आभासमात्र होता है, उसके श्रद्धानमें विपरीताभिनिवेशका अभाव नहीं हुआ है, और उसे व्यवहार सम्यक्त्व आभासमात्र है, इसलिये उसे जो देव-गुरु-धर्म, नव तत्त्वादिका श्रद्धान है सो विपरीताभिनिवेशके अभावके लिये कारण नहीं हुआ, और कारण हुए बिना उसमें [सम्यग्दर्शनका] उपचार सम्भावित नहीं होता, इसलिये उसके व्यवहार सम्यग्दर्शन भी सम्भव नहीं है। उसे व्यवहार सम्यक्त्व मात्र नामनिक्षेपसे कहा जाता है [मोक्षमार्ग प्रकाशक अ० ९ पृष्ठ ४७६-४७७ देहलीका]

(१२)

सम्यग्दर्शनके प्रगट करनेका उपाय

प्रश्नः—सम्यग्दर्शन प्रगट करनेका क्या उपाय है ?

– १ –

उत्तरः—आत्मा और परद्रव्य सर्वथा भिन्न है एकका दूसरे में अत्यन्त अभाव है।

एक द्रव्य, उसका कोई गुण या पर्याय दूसरे द्रव्यमें, उसके गुणमें या उसकी पर्यायमें प्रवेश नही कर सकते; इसलिये एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कुछ भी नही कर सकता, ऐसी वस्तुस्थिति-की मर्यादा है। और फिर प्रत्येक द्रव्यमें अगुरुलघुत्व गुण है क्योंकि वह सामान्यगुण है। उस गुणके कारण कोई किसीका कुछ नही कर सकता। इसलिये आत्मा परद्रव्यका कुछ नही कर सकता, शरीरको हिला-डुला नहीं सकता, द्रव्यकर्म या कोई भी परद्रव्य जीवको कभी हानि नही पहुँचा सकता,—यह पहिले निश्चय करना चाहिये।

इसप्रकार निश्चय करनेसे जगतके परपदार्थोंके कर्तृत्वका जो अभिमान आत्माके अनादिकालसे चला आ रहा है वह दोष मान्यतामेंसे और ज्ञानमेंसे दूर हो जाता है।

शास्त्रोंमें कहा गया है कि द्रव्यकर्म जीवके गुणोंका घात करते हैं, इसलिये कई लोग मानते हैं कि उन कर्मोंका उदय जीवके गुणोंका वास्तवमें घात करता है, और वे लोग ऐसा ही अर्थ करते हैं, किन्तु उनका यह अर्थ ठीक नही है। क्योंकि वह कथन व्यवहारनयका है जोकि केवल निमित्तका ज्ञान करानेवाला है। उसका वास्तविक अर्थ यह है कि-जब जीव अपने पुरुषार्थके दोषसे अपनी पर्यायमें विकार करता है अर्थात् अपनी पर्यायका घात करता है तब उस घातमें अनुकूल निमित्तरूप जो द्रव्यकर्म आत्मप्रदेशोंसे खिरनेके लिये तैयार हुआ है उसे 'उदय' कहनेका उपचार है अर्थात् उस कर्मपर विपाक उदयरूप निमित्तका आरोप होता है। और यदि जीव स्वयं अपने सत्यपुरुषार्थसे विकार नही करता-अपनी पर्यायका घात नही करता तो द्रव्यकर्मोंके उसी समूह को 'निर्जरा' नाम दिया जाता है। इसप्रकार निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धका ज्ञान करने मात्रके लिये उस व्यवहार कथनका अर्थ होता है। यदि अन्य प्रकारसे (शब्दानुसार ही) अर्थ किया जाय तो उस सम्बन्धके बदले कर्त्ता-कर्मका सम्बन्ध माननेके बराबर होता है, अर्थात् उपादान-निमित्त, निश्चय, व्यवहार एकरूप हो जाता है; अथवा एक ओर जीवद्रव्य और दूसरी ओर अनन्त पुद्गल-द्रव्य हैं, तो अनन्त द्रव्योंने मिलकर जीवमें विकार किया है ऐसा उसका अर्थ हो जाता है, जो कि ऐसा नही हो सकता। यह निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध बतानेके लिये कर्मके उदयने जीवपर असर करके हानि पहुँचाई,-उसे परिणमित किया, इत्यादि प्रकारसे उपचारसे कहा जाता है, किन्तु उसका यदि उस शब्दके अनुसार ही अर्थ किया जाय तो वह मिथ्या है।

[देखो, समयसार गाथा १२२ से १२५, १६०, तथा ३३७ से ३४४, ४१२ अमृतचन्द्राचार्यकी टीका तथा समयसार कलश नं० २११-१२-१३-२१६]

इसप्रकार सम्यग्दर्शन प्रगट करनेके लिये पहिले स्वद्रव्य-परद्रव्यकी भिन्नता निश्चित करना चाहिए, और फिर क्या करना चाहिए सो कहते हैं।

— २ —

स्वद्रव्य और परद्रव्यकी भिन्नता निश्चित करके, परद्रव्यों परसे लक्ष छोड़कर स्व-द्रव्यके विचारमें आना चाहिये, वहाँ आत्मामें दो पहलू हैं उन्हें जानना चाहिये। एक पहलू-आत्माका प्रतिसमय त्रिकाल अखण्ड परिपूर्ण चैतन्यस्वभावरूपपना द्रव्य-गुण-पर्यायसे (वर्तमान पर्यायको गौण करने पर) है, आत्माका यह पहलू निश्चयनयका विषय है। इस पहलूको निश्चय करनेवाले ज्ञानका पहलू 'निश्चयनय' है।

दूसरा पहलू—वर्तमान पर्यायमें दोष है-विकार है, अल्पज्ञता है, यह निश्चय करना चाहिये। यह पहलू व्यवहारनयका विषय है। इसप्रकार दो नयोंके द्वारा आत्माके दोनों पहलुओंका निश्चय करनेके बाद पर्यायका आश्रय छोड़कर अपने त्रिकाल चैतन्यस्वरूपकी ओर उन्मुख होना चाहिये।

इसप्रकार त्रैकालिक द्रव्यकी ओर उन्मुख होनेपर—वह त्रैकालिक नित्य पहलू होनेसे उसके आश्रयसे सम्यग्दर्शन प्रगट होता है।

यद्यपि निश्चयनय और सम्यग्दर्शन दोनों भिन्न भिन्न गुणोंकी पर्याय हैं तथापि उन दोनों-का विषय एक है अर्थात् उन दोनोंका विषय एक, अखण्ड, शुद्ध, बुद्ध, चैतन्यस्वरूप आत्मा है उसे दूसरे शब्दोंमें 'त्रैकालिक ज्ञायक स्वरूप' कहा जाता है। सम्यग्दर्शन किसी परद्रव्य, देव, गुरु, शास्त्र अथवा निमित्त, पर्याय, गुणभेद, या भंग इत्यादिको स्वीकार नहीं करता, क्योंकि उसका विषय उपरोक्त कथनानुसार त्रिकाल ज्ञायकस्वरूप आत्मा है।

(१३)

निर्विकल्प अनुभवका प्रारम्भ

निर्विकल्प अनुभवका प्रारम्भ चौथे गुणस्थानसे ही होता है किन्तु इस गुणस्थानमें वह बहुतकालके अन्तरसे होता है, और ऊपरके गुणस्थानोंमें जल्दी जल्दी होता है। नीचेके और ऊपरके गुणस्थानोंकी निर्विकल्पतामें भेद यह है कि परिणामोंकी मग्नता ऊपरके गुणस्थानोंमें विशेष है। (आधुनिक हिन्दी मोक्षमार्ग प्र० के अन्तर्गत श्री टोडरमलजी कृत रहस्यपूर्ण चिट्ठी पृष्ठ ७ तथा धवल पु १ मतस्थण सूत्र १४५ की टीका पृष्ठ ३९६-३९७ तथा श्री समयसार जयसेनाचार्यकृत गाथा ८९ पृष्ठ ७४१)

(१४)

जबकि सम्यक्त्व पर्याय है तब उसे गुण कैसे कहते हैं ?

प्रश्न*—सम्यग्दर्शन पर्याय है फिर भी कहीं कहीं उसे सम्यक्त्व गुण क्यों कहते हैं ?

उत्तरः—वास्तवमें तो सम्यग्दर्शन पर्याय है, किन्तु जैसा गुण है वैसा ही उसकी पर्याय प्रगट हुई है—इसप्रकार गुण-पर्यायकी अभिन्नता बतानेके लिये कहीं-कहीं उसे सम्यक्त्व गुण भी कहा जाता है; किन्तु वास्तवमें सम्यक्त्व पर्याय है, गुण नहीं। जो गुण होता है वह त्रिकाल रहता है। सम्यक्त्व त्रिकाल नहीं होता, किन्तु उसे जीव जब अपने सत् पुरुषार्थसे प्रकट करता है तब होता है। इसलिये वह पर्याय है।

(श्री प्रवचनसार गाथा २४२ टीका)

(१५)

सभी सम्यग्दृष्टियोंका सम्यग्दर्शन समान है

प्रश्नः—छद्मस्थ जीवोंको सम्यग्दर्शन होता है और केवली तथा सिद्धभगवानके भी सम्यग्दर्शन होता है, वह उन सबके समान होता है या असमान ?

उत्तरः—जैसे छद्मस्थ (-अपूर्णज्ञानी) जीवके श्रुतज्ञानके अनुसार प्रतीति होती है उसीप्रकार केवलीभगवान और सिद्धभगवानके केवलज्ञानके अनुसार प्रतीति होता है। जैसे तत्त्वश्रद्धान छद्मस्थको होता है वैसा ही केवली-सिद्धभगवानके भी होता है। इसलिये ज्ञानादिकी हीनाधिकता होने पर भी तिर्यंच आदिके तथा केवली और सिद्धभगवानके सम्यग्दर्शन तो समान ही होता है; क्योंकि जैसी आत्मस्वरूपकी श्रद्धा छद्मस्थ सम्यग्दृष्टिको है वैसी ही केवली भगवानको है। ऐसा नहीं होता कि चौथे गुणस्थानमें शुद्धात्माकी श्रद्धा एक प्रकारकी हो और केवली होने पर अन्य प्रकारकी हो। यदि ऐसा होने लगे तो चौथे गुणस्थानमें जो श्रद्धा होती है वह यथार्थ नहीं कहलायगी किन्तु मिथ्या सिद्ध होगी।

(सोनगढ़से प्रकाशित आधुनिक हिन्दी मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ ३२३)

(१६)

सम्यग्दर्शनके भेद क्यों कहे गये हैं ?

प्रश्नः—यदि सभी सम्यग्दृष्टियोंका सम्यग्दर्शन समान है तो फिर आत्मानुशासनकी ग्यारहवीं गाथामें सम्यग्दर्शनके दस प्रकारके भेद क्यों कहे गये हैं ?

उत्तरः—सम्यग्दर्शनके वह भेद निमित्तादिकी अपेक्षासे कहे गये हैं। आत्मानुशासनमें दस प्रकारसे सम्यक्त्वके जो भेद कहे गये हैं उनमेंसे आठ भेद सम्यग्दर्शन प्रगट होनेसे पूर्व जो निमित्त होते हैं उनका ज्ञान करानेके लिये कहे हैं, और दो भेद ज्ञानके सहकारीपनकी

अपेक्षासे कहे हैं। श्रुतकेवलीको जो तत्त्वश्रद्धान है उसे अवगाढ सम्यग्दर्शन कहते हैं, और केवली भगवानको जो तत्त्वश्रद्धान है उसे परमावगाढ सम्यग्दर्शन कहा जाता है, इसप्रकार आठ भेद निमित्तोंकी अपेक्षासे और दो भेद ज्ञानकी अपेक्षासे हैं। 'दर्शनकी' अपनी अपेक्षासे ये भेद नहीं हैं। इन दसों प्रकारमें सम्यग्दर्शनका स्वरूप एक ही प्रकारका होता है,—ऐसा समझना चाहिये।

[आधुनिक हिन्दी मोक्षमार्ग प्रकाशक अ० ९ पृ० ३३६]

प्रश्नः—यदि चौथे गुणस्थानसे सिद्धभगवान तक सभी सम्यग्दृष्टियोंके सम्यग्दर्शन एकसा है तो फिर केवलीभगवानके परमावगाढ सम्यग्दर्शन क्यों कहा है?

उत्तरः—जैसे छद्मस्थको श्रुतज्ञानके अनुसार प्रतीति होती है उसीप्रकार केवली और सिद्धभगवानको केवलज्ञानके अनुसार ही प्रतीति होती है। चौथे गुणस्थानमें सम्यग्दर्शनके प्रगट होने पर जो आत्मस्वरूप निर्णीत किया था वही केवलज्ञानके द्वारा जाना गया इसलिये वहाँ प्रतीतिमें परमावगाढ़ता कहलाई, इसीलिए वहाँ परमावगाढ सम्यक्त्व कहा है। किन्तु पहिले जो श्रद्धान किया था उसे यदि केवलज्ञानमें मिथ्या जाना होता तब तो छद्मस्थकी श्रद्धा अप्रतीतिरूप कहलाती, किन्तु आत्मस्वरूपका जैसा श्रद्धान छद्मस्थको होता है वैसा ही केवली और सिद्धभगवानको भी होता है। तात्पर्य यह है कि मूलभूत जीवादिके स्वरूपका श्रद्धान जैसा छद्मस्थको होता है वैसा ही केवलीको भी होता है।

(१७)

सम्यक्त्वकी निर्मलताका स्वरूप

औपशमिक सम्यक्त्व वर्तमानमें क्षायिकवत् निर्मल है। क्षायोपशमिक सम्यक्त्वमें समल तत्त्वार्थश्रद्धान होता है। यहाँ जो मलिनता है उसका तारतम्यस्वरूप केवलज्ञानगम्य है। इस अपेक्षासे यह सम्यक्त्व निर्मल नहीं है। क्षायिक निर्मल तत्त्वार्थ-श्रद्धान-क्षायिक सम्यग्दर्शन है। [मोक्षमार्ग प्रकाशक अ० ९] इन सभी सम्यक्त्वमें ज्ञानादिकी हीनाधिकता होने पर भी तुच्छ ज्ञानी तिर्यंचादिके तथा केवलीभगवान और सिद्धभगवानके सम्यक्त्व गुण तो समान ही कहा है, क्योंकि सबके अपने आत्माकी अथवा सात तत्त्वोंकी एकसी मान्यता है।

[मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ ४७२ देहली]

सम्यग्दृष्टिके व्यवहारसम्यक्त्वमें निश्चयसम्यक्त्व गर्भित है,—निरन्तर गमन (परिणमन) रूप है. [श्री टोडरमलजीकी रहस्यपूर्ण चिट्ठी]

(१८)

सम्यक्त्वकी निर्मलतामें निम्नप्रकार पांच भेद भी किये जाते हैं—

१–समल अगाढ, २–निर्मल, ३–गाढ, ४–अवगाढ और ५–परमावगाढ़।

वेदक सम्यक्त्व समल अगाढ है, औपशमिक और क्षायिक सम्यक्त्व निर्मल है, क्षायिक सम्यक्त्व गाढ है। अंग और अंगबाह्य सहित जैनशास्त्रोंके अवगाहनसे उत्पन्न दृष्टि अवगाढ़ सम्यक्त्व है, श्रुतकेवलीको जो तत्त्वश्रद्धान है उसे अवगाढ सम्यक्त्व कहते हैं, परमावधिज्ञानीके और केवलज्ञानीके जो तत्त्वश्रद्धान है उसे परमावगाढ सम्यक्त्व कहते हैं। यह दो भेद ज्ञानके सहकारीभावकी अपेक्षासे हैं। [मोक्षमार्ग प्रकाशक अ० ९]

"औपशमिक सम्यक्त्वकी अपेक्षा क्षायिक सम्यक्त्व अधिक विशुद्ध है", [देखो, तत्त्वार्थराजवार्तिक अध्याय २ सूत्र १ की कारिका १०–११, तथा उसकी संस्कृत टीका]

"क्षायोपशमिक सम्यक्त्वसे क्षायिक सम्यक्त्वकी विशुद्धि अनन्तगुणी अधिक है", [देखो तत्त्वार्थराजवार्तिक अध्याय २ सूत्र १ कारिका १२, उसकी संस्कृत टीका]

(१९)

सम्यग्दृष्टि जीव अपनेको सम्यक्त्व प्रगट होनेकी बात श्रुतज्ञानके द्वारा बराबर जानता है।

प्रश्नः—अपनेको सम्यग्दर्शन प्रगट हुआ है यह किस ज्ञानके द्वारा मालूम होता है?

उत्तरः—चौथे गुणस्थानमें भावश्रुतज्ञान होता है उससे सम्यग्दृष्टिको सम्यग्दर्शनके प्रगट होनेकी बात मालूम हो जाती है। यदि उस ज्ञानके द्वारा खबर नहीं होती ऐसा माना जाय तो उस श्रुतज्ञानको सम्यक् [यथार्थ] कैसे कहा जा सकेगा? यदि अपनेको अपने सम्यग्दर्शनकी खबर न होती हो तो उसमें और मिथ्यादृष्टि अज्ञानीमें क्या अन्तर रहा?

प्रश्नः—यहां आपने कहा है कि सम्यग्दर्शन श्रुतज्ञानके द्वारा जाना जाता है, किन्तु पंचाध्यायी अध्याय २ में उसे अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञानगोचर कहा है। वे श्लोक निम्नप्रकार हैं:—

सम्यक्त्वं वस्तुतः सूक्ष्मं केवलज्ञानगोचरम्।
गोचरं स्वावधिस्वांतःपर्ययज्ञानयोर्द्वयोः। ३७५॥

अर्थः—सम्यक्त्व वास्तवमें सूक्ष्म है और केवलज्ञानगोचर है तथा अवधि और

मनःपर्यय इन दोनोंके गोचर है।] और अध्याय २ गाथा ३७५ में यह कहा है कि वह मति और श्रुतज्ञानगोचर नहीं है, और यहां आप कहते हैं कि सम्यक्दर्शन श्रुतज्ञानगोचर है, इसका क्या उत्तर है ?

उत्तरः—सम्यग्दर्शन मतिज्ञान और श्रुतज्ञानगोचर नहीं है इसप्रकार जो ३७५ वीं गाथामें कहा है उसका अर्थ इतना ही है कि—सम्यग्दर्शन उस-उस ज्ञानका प्रत्यक्ष विषय नहीं है ऐसा समझना चाहिए। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि इस ज्ञानसे सम्यक्दर्शन किसी भी प्रकारसे नहीं जाना जा सकता। इस सम्बन्धमें पंचाध्यायी अध्याय २ की ३७१ और ३७३ वीं गाथा निम्नप्रकार है—

इत्येव ज्ञानतत्त्वोसौ सम्यग्दृष्टिर्निजात्मदृक्।
वैषयिके सुखे ज्ञाने राग-द्वेषौ परित्यजेत् ॥ ३७१ ॥

अर्थ—इसप्रकार तत्त्वोंको जाननेवाले स्वात्मदर्शी सम्यग्दृष्टि जीव इन्द्रियजन्य सुख और ज्ञानमें राग-द्वेषको छोड़ते हैं।

अप्राण्यपि लक्षणानि सन्ति सम्यग्दृगात्मनः।
सम्यक्त्वेनाविनाभूतैर्यैं (श्च) संलक्ष्यते सुदृक् ॥ ३७३ ॥

अर्थः—सम्यग्दृष्टि जीवके दूसरे लक्षण भी हैं। जिन सम्यक्त्वके अविनाभावी लक्षणोंके द्वारा सम्यग्दृष्टि जीव लक्षित होता है।

वे लक्षण गाथा ३७४ में कहते हैं—

उक्तमाक्ष्य सुखं ज्ञानमनादेयं दृगात्मनः।
नादेयं कर्म सर्वं च (स्व) तद्वद् दृष्टोपलब्धितः ॥३७४॥

अर्थः—जैसे ऊपर कहा है उसी प्रकार सम्यग्दृष्टिको इन्द्रियजन्य सुख और ज्ञानका आदर नहीं है तथा आत्म-प्रत्यक्ष होनेसे सभी कर्मोंका भी आदर नहीं है।

गाथा ३७१-३७६ का इतना ही अर्थ है कि—सम्यग्दर्शन केवलज्ञानादिका प्रत्यक्ष विषय है और मति श्रुतज्ञानका प्रत्यक्ष विषय नहीं है, किन्तु मति-श्रुतज्ञानमें वह उसके लक्षणोंके द्वारा जाना जा सकता है, और केवलज्ञानादि ज्ञानमें लक्षण-लक्ष्यका भेद किये बिना प्रत्यक्ष जाना जा सकता है।

प्रश्नः—इस विषयको दृष्टांतपूर्वक समझाइए।

उत्तरः—स्वानुभवदशामें जो आत्माको जाना जाता है सो श्रुतज्ञानके द्वारा जाना जाता है। श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक ही होता है। वह मतिज्ञान-श्रुतज्ञान परोक्ष है इसलिये वहां आत्माका जानना प्रत्यक्ष नहीं होता। यहाँ जो आत्माको भलीभांति स्पष्ट जानता है उसमें पारमार्थिक प्रत्यक्षत्व नहीं है। तथा जैसे पुद्गल पदार्थ नेत्रादिके द्वारा जाना जाता है उसीप्रकार एकदेश (अंशतः) निर्मलतापूर्वक भी आत्माके असंख्यात प्रदेशादि नहीं जाने जाते, इसलिए सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष भी नहीं है।

अनुभवमें आत्मा तो परोक्ष ही है, कहीं आत्माके प्रदेशोंका आकार भासित नहीं होता, परन्तु स्वरूपमें परिणाम मग्न होनेपर जो स्वानुभव हुआ वह (स्वानुभव) प्रत्यक्ष है। इस स्वानुभवका स्वाद कहीं आगम-अनुमानादि परोक्षप्रमाणके द्वारा ज्ञात नहीं होता, किन्तु स्वयं ही इस अनुभवके रसास्वादको प्रत्यक्ष वेदन करता है, जानता है। जैसे कोई अन्य पुरुष मिश्रीका स्वाद लेता है, वहाँ मिश्रीका आकारादि परोक्ष है, किन्तु जिह्वाके द्वारा स्वाद लिया है इसलिये वह स्वाद प्रत्यक्ष है,—ऐसा अनुभवके सम्बन्धमें जानना चाहिए। [टोडरमलजी की रहस्यपूर्ण चिट्ठी।] यह दशा चौथे गुणस्थानमें होती है।

इस प्रकार आत्मा का अनुभव जाना जा सकता है, और जिस जीवको उसका अनुभव होता है उसे सम्यग्दर्शन अविनाभावी होता है, इसलिए मति-श्रुतज्ञानसे सम्यग्दर्शन भलीभांति जाना जा सकता है। [श्री प्रवचनसार गाथा ३३-३४ टीका]

प्रश्नः—इस सम्बन्धमें पंचाध्यायीकारने क्या कहा है?

उत्तरः—पंचाध्यायीके पहले अध्यायमें मति-श्रुतज्ञानका स्वरूप बतलाते हुए कहा है कि—

अपि किंचाभिनिबोधिकबोधद्वैतं तदादिमं यावत्।
स्वात्मानुभूतिसमये प्रत्यक्षं तत्समक्षमिव नान्यत् ॥७०६॥

अर्थः—और विशेष यह है कि—स्वानुभूतिके समय जितना भी पहिले उस मतिज्ञान और श्रुतज्ञानका द्वैत रहता है उतना वह सब साक्षात् प्रत्यक्षकी भांति प्रत्यक्ष है, दूसरा नहीं-परोक्ष नहीं।

भावार्थः—तथा उस मति और श्रुतज्ञानमें भी इतनी विशेषता है कि—जिस समय उन दो ज्ञानोंमेंसे किसी एक ज्ञानके द्वारा स्वानुभूति होती है उस समय यह दोनों ज्ञान भी अतीन्द्रिय स्वात्माको प्रत्यक्ष करते हैं, इसलिए यह दोनों ज्ञान भी स्वानुभूतिके समय प्रत्यक्ष हैं—परोक्ष नहीं।

प्रश्नः—क्या इस सम्बन्धमें कोई और शास्त्राधार है ?

उत्तरः—हाँ, पं० टोडरमलजीकृत रहस्यपूर्ण चिट्ठीमें निम्नप्रकार कहा है—

"जो प्रत्यक्षके समान होता है उसे भी प्रत्यक्ष कहते हैं। जैसे लोकमें भी कहते हैं कि 'हमने स्वप्नमें या ध्यानमें अमुक मनुष्यको प्रत्यक्ष देखा,' यद्यपि उसने प्रत्यक्ष नहीं देखा है तथापि प्रत्यक्षकी भाँति यथार्थ देखा है इसलिये उसे प्रत्यक्ष कह देते हैं, इसीप्रकार अनुभवमें आत्मा प्रत्यक्षकी भाँति यथार्थ प्रतिभासित होता है"।

प्रश्नः—श्री कुन्दकुन्दाचार्यकृत समयसार परमागममें इस सम्बन्धमें क्या कहा है ?

उत्तरः—(१) श्री समयसारकी ४९ वीं गाथाकी टीकामें इसप्रकार कहा है— "इस प्रकार रूप, रस, गंध, स्पर्श, शब्द, संस्थान और व्यक्तताका अभाव होनेपर भी स्वसंवेदनके बलसे सदा प्रत्यक्ष होनेसे अनुमानगोचर मात्रताके अभावके कारण (जीवको) अलिंगग्रहण कहा जाता है।"

"अपने अनुभवमें आनेवाले चेतना गुणके द्वारा सदा अन्तरंगमें प्रकाशमान है इसलिये (जीव) चेतना गुणवाला है।"

(२) श्री समयसारकी १४३ वीं गाथाकी टीकामें इसप्रकार कहा है—

टीका—जैसे केवली भगवान विश्वके साक्षीपनके कारण, श्रुतज्ञानके अवयवभूत व्यवहार-निश्चयनयपक्षोंके स्वरूपको ही केवल जानते हैं किन्तु निरन्तर प्रकाशमान, सहज, विमल, सकल केवलज्ञानके द्वारा सदा स्वयं ही विज्ञानघन होनेसे श्रुतज्ञानकी भूमिकाके अतिक्रान्तताके द्वारा (श्रुतज्ञानकी भूमिकाको उल्लंघन कर चुकनेसे) समस्त नयपक्षको ग्रहण नहीं करते, उसीप्रकार जो (श्रुतज्ञानी आत्मा), जिसकी उत्पत्ति क्षयोपशमसे होती है ऐसे श्रुतज्ञानात्मक विकल्पोंके उत्पन्न होते हुए भी परका ग्रहण करनेके प्रति उत्साह निवृत्त होनेसे, श्रुतज्ञानके अवयवभूत व्यवहार-निश्चयनय पक्षोंके स्वरूपको ही केवल जानते हैं किन्तु तीक्ष्ण ज्ञानदृष्टिसे ग्रहण किये गये निर्मल नित्य उदित, चिन्मय समयसे प्रतिबद्धताके कारण (चैतन्यमय आत्माके अनुभवसे) उस समय (अनुभवके समय) स्वयं ही विज्ञानघन होनेसे, श्रुतज्ञानात्मक समस्त अन्तर्जल्परूप तथा बहिर्जल्परूप विकल्पोंकी भूमिकाकी अतिक्रांतताके द्वारा समस्त नयपक्षके ग्रहणसे दूर होनेसे, किसी भी नयपक्षको ग्रहण नहीं करता, वह (आत्मा) वास्तव में समस्त विकल्पोंसे परे, परमात्मा ज्ञानात्मा, प्रत्यग्ज्योति आत्मख्यातिरूप, अनुभूतिमात्र समयसार है।

भावार्थः—जैसे केवली भगवान सदा नयपक्षके स्वरूपके साक्षी (ज्ञाता-दृष्टा) हैं उसी प्रकार श्रुतज्ञानी भी जब समस्त नयपक्षोंसे रहित होकर शुद्ध चैतन्यमात्र भावका अनुभव करते हैं तब वे नयपक्षके स्वरूपके ज्ञाता ही होते हैं। एक नयका सर्वथा पक्ष ग्रहण किया जाय तो मिथ्यात्वके अतिरिक्त चारित्रमोहका राग रहता है, प्रयोजनके वश एक नयको प्रधान करके उसे ग्रहण करे तो मिथ्यात्वके साथ मिश्रित राग होता है; और जब नयपक्षको छोड़कर केवल वस्तुस्वरूपको जानता है तब श्रुतज्ञानी भी केवलीकी भांति वीतरागके समान ही होता है, ऐसा समझना चाहिए।

(३) श्री समयसारकी ५ वी गाथामें आचार्यदेव कहते हैं कि—"उस एकत्वविभक्त आत्माको मैं आत्माके निज-वैभवके द्वारा दिखाता हूं, यदि मैं उसे दिखाऊँ तो प्रमाण करना। उसकी टीका करते हुए श्री अमृतचन्द्रसूरि कहते हैं कि—"यो जिसप्रकारसे मेरा ज्ञानका वैभव है उस समस्त वैभवसे दिखलाता हूं। यदि दिखाऊँ तो स्वयमेव अपने अनुभव-प्रत्यक्षसे परीक्षा करके प्रमाण कर लेना"। आगे जाकर भावार्थमें बताया है कि-'आचार्य आगमका सेवन, युक्तिका अवलम्बन, परापर गुरुका उपदेश और स्वसंवेदन—इन चार प्रकारसे उत्पन्न हुए अपने ज्ञानके वैभवसे एकत्वविभक्त शुद्ध आत्माका स्वरूप दिखाते हैं। उसे सुननेवाले हे श्रोताओ! अपने स्वसवेदन-प्रत्यक्षसे प्रमाण करो"। इससे सिद्ध होता है कि—अपनेको जो सम्यक्त्व होता है उसकी स्वसवेदन-प्रत्यक्षसे श्रुतप्रमाण (सच्चे ज्ञान) के द्वारा अपनेको खबर हो जाती है।

(४) कलश ९ में श्री अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं कि—

मालिनी

उदयति न नयश्रीरस्तमेति प्रमाणम्
क्वचिदपि च न विद्मो याति निक्षेपचक्रम्।
किमपरमभिदध्मो धाम्नि सर्वंकषेऽस्मि-
न्ननुभवमुपयाति भाति न द्वैतमेव ॥९॥

अर्थः—आचार्य शुद्धनयका अनुभव करके कहते हैं कि इन सर्व भेदोको गौण करनेवाला जो शुद्धनयका विषयभूत चैतन्यचमत्कारमात्र तेजपुंज आत्मा है, उसका अनुभव होनेपर नयोंकी लक्ष्मी उदयको प्राप्त नही होती। प्रमाण अस्तको प्राप्त होता है और निक्षेपोंका समूह कहाँ चला जाता है सो हम नही जानते। इससे अधिक क्या कहें? द्वैत ही प्रतिभासित नही होता।

भावार्थः—××××××शुद्ध अनुभव होनेपर द्वैत ही भासित नहीं होता, केवल एकाकार चिन्मात्र ही दिखाई देता है।

इससे भी सिद्ध होता है कि चौथे गुणस्थानमें भी आत्माको स्वयं अपने भावश्रुतके द्वारा शुद्ध अनुभव होता है। समयसारमें लगभग प्रत्येक गाथामें यह अनुभव होता है, ऐसा बतलाकर अनुभव करनेका उपदेश दिया है।

सम्यक्त्व सूक्ष्म पर्याय है यह ठीक है, किन्तु सम्यग्ज्ञानी यह निश्चय कर सकता है कि मुझे सुमति और सुश्रुतज्ञान हुआ है, और इससे श्रुतज्ञानमें यह निश्चय करता है कि—उसका (सम्यग्ज्ञानका) अविनाभावी सम्यग्दर्शन मुझे हुआ है। केवलज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और परमावधिज्ञान सम्यग्दर्शनको प्रत्यक्ष जान सकता है,—इतना ही मात्र अन्तर है।

पंचाध्यायी अ० २ की गाथा १९६–१९७–१९८ की हिन्दी टीका (पं० मक्खनलालजी कृत) में कहा है कि 'ज्ञान शब्दसे आत्मा समझना चाहिये, क्योंकि आत्मा स्वयं ज्ञानरूप है, वह आत्मा जिसके द्वारा शुद्ध जाना जाता है उसका नाम ज्ञानचेतना है अर्थात् जिस समय ज्ञानगुण सम्यक् अवस्थाको प्राप्त होता है—केवल शुद्धात्माका अनुभव करता है उस समय उसे ज्ञानचेतना कहा जाता है। ज्ञानचेतना निश्चयसे सम्यग्दृष्टिको ही होती है, मिथ्यादृष्टिको कभी नहीं हो सकती। [पृष्ठ ९३–९४]

सम्यक् मति और सम्यक् श्रुतज्ञान कथंचित् अनुभवगोचर होनेसे प्रत्यक्षरूप भी कहलाता है, और संपूर्ण ज्ञान जो केवलज्ञान है वह यद्यपि छद्मस्थको प्रत्यक्ष नहीं है तथापि शुद्धनय आत्माके केवलज्ञानरूपको परोक्ष बतलाता है।

[श्री समयसार गाथा १४ के नीचेका भावार्थ] इसप्रकार सम्यग्दर्शनका यथार्थज्ञान सम्यक् मति और श्रुतज्ञानके अनुसार हो सकता है।

(२०)

कुछ प्रश्नोत्तर

(१) प्रश्नः—जब ज्ञानगुण आत्माभिमुख होकर आत्मलीन हो जाता है तब उस ज्ञानकी विशेष अवस्थाको सम्यग्दर्शन कहते हैं, क्या यह ठीक है?

उत्तरः—नहीं यह ठीक नहीं, सम्यग्दर्शन दर्शन (श्रद्धा) गुणकी पर्याय है, वह ज्ञानकी विशेष पर्याय नहीं है। ज्ञानकी आत्माभिमुख अवस्थाके समय सम्यग्दर्शन होता है यह सही है, किन्तु सम्यग्दर्शन ज्ञानकी पर्याय नहीं है।

(२) प्रश्नः—क्या सुदेव, सुगुरु और सुशास्त्रकी श्रद्धा सम्यग्दर्शन है ?

उत्तरः—वह निश्चयसम्यग्दर्शन नहीं है, किन्तु जिसे निश्चयसम्यग्दर्शन होता है उसे वह व्यवहारसम्यग्दर्शन कहा जाता है, क्योंकि वहां रागमिश्रित विचार है।

(३) प्रश्नः—क्या व्यवहारसम्यग्दर्शन निश्चयसम्यग्दर्शनका सच्चा कारण है ?

उत्तरः—नहीं, क्योंकि निश्चय भावश्रुतज्ञान परिणमित हुए विना, निश्चय और व्यवहार होना नहीं किन्तु व्यवहाराभास होता है, इसलिये वह निश्चयसम्यग्दर्शनका कारण नहीं है। व्यवहारसम्यग्दर्शन (आभासरूप हो या सच्चा हो) विकार (–अशुद्ध पर्याय) है और निश्चयसम्यग्दर्शन अविकार-शुद्ध पर्याय है, विकार अविकारका कारण कैसे हो सकता है ? अर्थात् वह निश्चयसम्यग्दर्शनका कारण नहीं हो सकता, किन्तु व्यवहाराभासका व्यय (–अभाव) होकर निश्चयसम्यग्दर्शनका उत्पाद मुमुक्षु जीवको अपने पुरुषार्थसे ही होता है [व्यवहाराभासको संक्षेपमें व्यवहार कहा जाता है।]

जहाँ शास्त्रमें व्यवहारसम्यग्दर्शनको निश्चयसम्यग्दर्शनका कारण कहा है वहाँ यह समझना चाहिए कि व्यवहारसम्यग्दर्शनको अभावरूप कारण कहा है। कारणके दो प्रकार हैं- (१) निश्चय (२) और व्यवहार। निश्चय कारण तो अवस्थारूपसे होनेवाला द्रव्य स्वयं है और व्यवहार कारण पूर्वकी पर्यायका व्यय होता है।

(४) प्रश्नः—श्रद्धा, रुचि और प्रतीति आदि जितने गुण हैं वे सब सम्यक्त्व नहीं किन्तु ज्ञानकी पर्याय हैं—ऐसा पंचाध्यायी अध्याय २ गाथा ३८६–३८७ मे कहा है, इसका क्या कारण है ?

उत्तरः—जब आत्मा जीवादि सात तत्त्वोंका विचार करता है तब उसके ज्ञानमें रागसे भेद होता है इसलिए वे ज्ञानकी पर्याय हैं और वे सम्यक् नहीं हैं ऐसा कहा है।

सात तत्त्व और नव पदार्थोंका निर्विकल्प ज्ञान निश्चयसम्यग्दर्शन सहितका ज्ञान है।

[देखो पंचाध्यायी अध्याय २ श्लोक १८६-१८९]

श्लोक ३८६ के भावार्थमें कहा है कि—"परन्तु वास्तवमें ज्ञान भी यही है कि जैसेको तैसा जानना और सम्यक्त्व भी यही है कि जैसाका तैसा श्रद्धान करना।"

[पं० मक्खनलालजी कृत पंचाध्यायी अ० २ पृष्ठ ११०]

इससे समझना चाहिये कि रागमिश्रित श्रद्धा ज्ञानकी पर्याय है। रागरहित तत्त्वार्थ-श्रद्धान सम्यग्दर्शन है, उसे सम्यक् मान्यता अथवा सम्यक् प्रतीति भी कहते हैं। गाथा ३८७ में

कहा है कि-ज्ञानचेतना सम्यग्दर्शनका लक्षण है,-इसका यह अर्थ है कि अनुभूति स्वयं सम्यग्दर्शन नहीं है किन्तु जब वह होती है तब सम्यग्दर्शन अविनाभावीरूप होता है, इसलिये उसे बाह्य लक्षण कहा है। [देखो, पंचाध्यायी अध्याय २ गाथा ४०१-४०२-४०३] सम्यग्दर्शनके प्रगट होते ही ज्ञान सम्यक् हो जाता है और आत्मानुभूति होती है, अर्थात् ज्ञान स्वज्ञेयमें स्थिर होता है। किन्तु वह स्थिरता कुछ समय ही रहती है और राग होनेसे ज्ञान स्वमेंसे छूटकर परकी ओर जाता है तब भी सम्यग्दर्शन होता है। और यद्यपि ज्ञानका उपयोग दूसरेके जाननेमें लगा हुआ है तथापि वह ज्ञान सम्यग्ज्ञान है, उस समय अनुभूति उपयोगरूप नहीं है फिर भी सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है ऐसा समझना चाहिये, क्योंकि लब्धिरूप अनुभूति है।

(५) प्रश्नः—'सम्यग्दर्शनका एक लक्षण ज्ञानचेतना है' क्या यह ठीक है ?

उत्तर —ज्ञानचेतनाके साथ सम्यग्दर्शन अविनाभावी होता ही है इसलिए वह व्यवहार अथवा बाह्य लक्षण है।

(६) प्रश्नः—'अनुभूतिका नाम चेतना है' क्या यह ठीक है ?

उत्तरः—ज्ञानकी स्थिरता अर्थात् शुद्धोपयोग (अनुभूति) को उपयोगरूप ज्ञानचेतना कहा जाता है।

(७) प्रश्नः—यदि सम्यक्त्वका विषय सभीके एकसा है तो फिर सम्यग्दर्शनके औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक-ऐसे भेद क्यों किये हैं ?

उत्तरः—दर्शनमोहनीय कर्मके अनुभागबन्धकी अपेक्षासे ये भेद नहीं हैं किन्तु स्थितिबन्धकी अपेक्षासे हैं। उनके कारणसे उनमें आत्माकी मान्यतामें कोई अन्तर नहीं पड़ता। प्रत्येक प्रकारके सम्यग्दर्शनमें आत्माकी मान्यता एक ही प्रकारकी है। आत्माके स्वरूपकी जो मान्यता औपशमिक सम्यग्दर्शनमें होती है वही क्षायोपशमिक और क्षायिक सम्यग्दर्शनमें होती है। केवली भगवानको परमावगाढ सम्यग्दर्शन होता है उनके भी आत्मस्वरूपकी सभी प्रकारकी मान्यता होती है। इसप्रकार सभी सम्यग्दृष्टि जीवोंके आत्मस्वरूपकी मान्यता एक ही प्रकारकी होती है। [देखो पंचाध्यायी अध्याय २ गाथा ९३४-९३८]

(२१)

ज्ञानचेतनाके विधानमें अन्तर क्यों है ?

प्रश्न —पंचाध्यायी और पंचास्तिकायमें ज्ञानचेतनाके विधानमें अन्तर क्यों है ?

उत्तरः—पंचाध्यायीमें चतुर्थ गुणस्थानसे ज्ञानचेतनाका विधान किया है [अध्याय २ गाथा ८५४], और पंचास्तिकायमें तेरहवें गुणस्थानसे ज्ञानचेतनाको स्वीकार किया है, किन्तु इससे उसमें विरोध नही आता। सम्यग्दर्शन जीवके शुभाशुभभावका स्वामित्व नहीं है इस अपेक्षासे पचाध्यायीमें चतुर्थ गुणस्थानसे ज्ञानचेतना कही है। भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्य-देवने क्षायोपशमिक भावमे कर्म निमित्त होता है इस अपेक्षासे नीचेके गुणस्थानोंमें उसे स्वीकार नही किया है। दोनों कथन विवक्षाधीन होनेसे सत्य हैं।

(२२)

इस सम्बन्धमें विचारणीय नव विषय—

(१) प्रश्नः—गुणके समुदायको द्रव्य कहा है और सम्पूर्ण गुण द्रव्यके प्रत्येक प्रदेशमें रहते हैं, इसलिये यदि आत्माका एक गुण (-सम्यग्दर्शन) क्षायिक हो जाय तो सम्पूर्ण आत्मा ही क्षायिक हो जाना चाहिये और उसी क्षण उसको मुक्ति हो जानी चाहिये, ऐसा क्यों नहीं होता?

उत्तरः—जीव द्रव्यमें अनन्त गुण हैं, वे प्रत्येक गुण असहाय और स्वाधीन है, इसलिये एक गुणकी पूर्ण शुद्धि होनेपर दूसरे गुणकी पूर्ण शुद्धि होनी ही चाहिये ऐसा नियम नहीं है। आत्मा अखण्ड है इसलिए एक गुण दूसरे गुणके साथ अभेद है—प्रदेशभेद नहीं है, किन्तु पर्यायापेक्षासे प्रत्येक गुणकी पर्यायके भिन्न २ समयमे पूर्ण शुद्ध होनेमें कोई दोष नहीं है; जब द्रव्यापेक्षासे सम्पूर्ण शुद्धता प्रगट हो तब द्रव्यकी सम्पूर्ण शुद्धि प्रगट हुई मानी जाय, किन्तु क्षायिक सम्यग्दर्शनके होनेपर सम्पूर्ण आत्मा क्षायिक होना चाहिये और तत्काल मुक्ति होनी चाहिये ऐसा मानना ठीक नहीं है।

(२) प्रश्नः—एक गुण सर्व गुणात्मक है और सर्व गुण एक गुणात्मक है; इसलिये एक गुणके सम्पूर्ण प्रगट होनेसे अन्य सम्पूर्ण गुण भी पूर्ण रीतिसे उसीसमय प्रगट होना चाहिये, क्या यह ठीक है?

उत्तरः—यह मान्यता ठीक नहीं है। गुण और गुणी अखण्ड हैं इस अभेदापेक्षासे गुण अभेद हैं-किन्तु इसीलिये एक गुण दूसरे सभी गुणरूप है ऐसा नहीं कहा जा सकता; ऐसा कहने पर प्रत्येक द्रव्य एक ही गुणात्मक हो जायगा, किन्तु ऐसा नहीं होता। भेदकी अपेक्षासे प्रत्येक गुण भिन्न, स्वतंत्र, असहाय है, एक गुणमें दूसरे गुण की नास्ति है, वस्तुका स्वरूप भेदाभेद है-ऐसा न माना जाय तो द्रव्य और गुण सर्वथा अभिन्न हो जायेंगे। एक

गुणका दूसरे गुणके साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है,-इस अपेक्षासे एक गुणको दूसरे गुणका सहायक कहा जाता है। [जैसे सम्यग्दर्शन कारण और सम्यग्ज्ञान कार्य है।]

(३) प्रश्नः—आत्माके एक गुणका घात होनेमें उस गुणके घातमें निमित्तरूप जो कर्म है उसके अतिरिक्त दूसरे कर्म निमित्तरूप घातक हैं या नहीं ?

उत्तरः—नहीं।

प्रश्नः—अनन्तानुबन्धी चारित्रमोहनीयकी प्रकृति है इसलिये वह चारित्रके घातमें निमित्त हो सकती है, किन्तु वह सम्यग्दर्शनके घातमें निमित्त कैसे मानी जाती है ?

उत्तरः—अनन्तानुबन्धीके उदयमें युक्त होनेपर क्रोधादिरूप परिणाम होते हैं किन्तु कहीं अतत्त्वश्रद्धान नहीं होता, इसलिये वह चारित्रके घातका ही निमित्त होता है, किन्तु सम्यक्त्वके घातमें वह निमित्त नहीं है। परमार्थसे तो ऐसा ही है, किन्तु अनन्तानुबन्धीके उदयमें जैसे क्रोधादिक होते हैं वैसे क्रोधादिक सम्यक्त्वके सद्भावमें नहीं होते-ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, इसलिये उपचारसे अनन्तानुबन्धीमें सम्यक्त्वकी घातकता कही जाती है।

[आधुनिक हिन्दी मोक्षमार्ग प्रकाशक पृ० ३३८-३३९।]

(४) प्रश्नः—संसारमें ऐसा नियम है कि प्रत्येक गुणका क्रमिक विकास होता है, इसलिये सम्यग्दर्शनका भी क्रमिक विकास होना चाहिए। क्या यह ठीक है ?

उत्तरः—ऐसा एकान्त सिद्धान्त नहीं है। विकासमें भी अनेकान्तरूप लागू होता है,-अर्थात् आत्माका श्रद्धागुण उसके विषयकी अपेक्षासे एकसाथ प्रगट होता है और आत्माके ज्ञानादि कुछ गुणोंमें क्रमिक विकास होता है।

अक्रमिक विकासका दृष्टान्त

मिथ्यादर्शनके दूर होने पर एक समयमें सम्यग्दर्शन प्रगट होता है, उसमें क्रम नहीं पड़ता। जब सम्यग्दर्शन प्रगट होता है तभीसे वह अपने विषयके प्रति पूर्ण और क्रमरहित होता है।

क्रमिक विकासका दृष्टान्त

सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्रमें क्रमशः विकास होता है। इसप्रकार विकासमें क्रमिकता और अक्रमिकता आती है। इसलिये विकासका स्वरूप अनेकान्त है ऐसा समझना चाहिए।

(५) प्रश्नः—सम्यक्त्वके आठ अङ्ग कहे हैं, उनमें एक अङ्ग 'निःशंकित' है जिसका अर्थ निर्भयता है। निर्भयता आठवें गुणस्थानमें होती है, इसलिये क्या यह समझना

ठीक है कि जबतक भय है तबतक पूर्ण सम्यग्दर्शन नही होता ? यदि सम्यग्दर्शन पूर्ण होता तो श्रेणिक राजा जोकि क्षायिक सम्यग्दृष्टि थे वे अपघात नही करते,—यह ठीक है या नही ?

उत्तरः— यह ठीक नही है; सम्यग्दृष्टिको सम्यग्दर्शनके विषयकी मान्यता पूर्ण ही होती है क्योंकि उसका विषय अखण्ड शुद्धात्मा है । सम्यग्दृष्टिके शंका-कांक्षा-विचिकित्साका अभाव द्रव्यानुयोगमें कहा है, और करणानुयोगमें भयका आठवें गुणस्थान तक, लोभका दसवें गुणस्थान तक और जुगुप्साका आठवें गुणस्थान तक सद्भाव कहा है, इसमें विरोध नहीं है, क्योंकि—श्रद्धानपूर्वकके तीव्र शंकादिका सम्यग्दृष्टिके अभाव हुआ है अथवा मुख्यतया सम्यग्दृष्टि शंकादि नही करता,—इस अपेक्षासे सम्यग्दृष्टिके शंकादिका अभाव कहा है, किन्तु सूक्ष्म शक्तिकी अपेक्षासे भयादिका उदय आठवें आदि गुणस्थान तक होता है, इसलिये करणानुयोग मे वहाँ तक सद्भाव कहा है । [देहलीवाला मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ ४३३]

सम्यग्दृष्टिके 'निर्भयता' कही है, इसका अर्थ यह है कि अनन्तानुबन्धी कषायके साथ जिस प्रकार भय होता है उस प्रकारका भय सम्यग्दृष्टिको नहीं होता, अर्थात् अज्ञानदशामें जीव जो यह मान रहा था कि 'परवस्तुसे मुझे भय होता है' यह मान्यता सम्यग्दृष्टि हो जाने पर दूर हो जाती है। उसके बाद भी जो भय होता है वह अपने पुरुषार्थकी कमजोरीके कारण होता है अर्थात् भयमें अपनी वर्तमान पर्यायका दोष है—परवस्तुका नहीं, ऐसा वह मानता है ।

श्रेणिक राजाको जो भय उत्पन्न हुआ था सो वह अपने चारित्रकी कमजोरीके कारण हुआ था, ऐसी उसकी मान्यता होनेसे सम्यग्दर्शनकी अपेक्षासे वह निर्भय था । चारित्रकी अपेक्षासे अल्प भय होनेपर उसे आत्मघातका विकल्प हुआ था ।

(६) **प्रश्नः**—क्षायिक लब्धिकी स्थिति रखनेके लिये वीर्यान्तराय कर्मके क्षयकी आवश्यकता होगी, क्योंकि क्षायिक शक्तिके बिना कोई भी क्षायिक लब्धि नही रह सकती । क्या यह मान्यता ठीक है ?

उत्तरः—यह मान्यता ठीक नही है; वीर्यान्तरायके क्षयोपशमके निमित्तसे अनेक प्रकारकी क्षायिक पर्यायें प्रगट होती हैं । १-क्षायिक सम्यग्दर्शन (चौथेसे सातवें गुणस्थानमें) २-क्षयिक यथाख्यान चारित्र (बारहवें गुणस्थानमें) ३-*क्षायिक क्षमा (दसवें गुणस्थानमें),

* द्रव्य क्रोधका नववें गुणस्थानके सातवें भागमें व्युच्छित्ति होती है । द्रव्य मानकी नववें गुणस्थानके आठवें भागमें व्युच्छित्ति होती है । द्रव्य मायाकी नववें गुणस्थानके नववें भागमे व्युच्छित्ति होती है ।

४–क्षायिक निर्मानता (दसवें गुणस्थानमें), ५–क्षायिक निष्कपटता (दसवें गुणस्थानमें) और ६–क्षायिक निर्लोभता (बारहवें गुणस्थानमें) होती है। बारहवें गुणस्थानमें वीर्य क्षयोपशमरूप होता है, फिर भी कषायका क्षय है।

अन्य प्रकारसे देखा जाय तो तेरहवें गुणस्थानमें क्षायिक अनन्तवीर्य और सम्पूर्ण ज्ञान प्रगट होता है, तथापि योगोंका कम्पन और चार प्रतिजीवी गुणोंकी शुद्ध पर्यायकी अप्रगटता (–विभाव पर्याय) होती है। चौदहवें गुणस्थानमें कषाय और योग दोनों क्षयरूप हैं, फिर भी असिद्धत्व है, उस समय भी जीवकी अपने पूर्ण शुद्धताकी उपादानकी कचासके कारण कर्मोंके साथका सम्बन्ध और संसारीपन है।

उपरोक्त कथनसे यह सिद्ध होता है कि–भेदकी अपेक्षासे प्रत्येक गुण स्वतंत्र है, यदि ऐसा न हो तो एक गुण दूसरे गुणरूप हो जाय और उस गुणका अपना स्वतंत्र कार्य न रहे। द्रव्यकी अपेक्षासे सभी गुण अभिन्न हैं यह ऊपर कहा गया है।

(७) प्रश्नः—ज्ञान और दर्शन चेतनागुणके विभाग हैं, उन दोनोंके घातमें निमित्त रूपसे भिन्न-भिन्न कर्म माने गये हैं, किन्तु सम्यक्त्व और चारित्र दोनों भिन्न-भिन्न गुण हैं तथापि उन दोनोंके घातमें निमित्तकर्म एक मोह ही माना गया है, इसका क्या कारण है?

प्रश्नका विस्तार

इस प्रश्न परसे निम्नलिखित प्रश्न उत्पन्न होते हैं—

१—जब कि मोहनीय कर्म सम्यक्त्व और चारित्र दोनों गुणोंके घातमें निमित्त है तब मूल प्रकृतियोंमें उसके दो भेद मानकर ९ कर्म कहना चाहिए, आठ ही क्यों कहे गये हैं?

२—जब कि मोहनीयकर्म दो गुणोंके घातनेमें निमित्त है तब चार घातिया कर्म चार ही गुणोंके घातनेमें निमित्त क्यों बताये गये हैं? पाँच गुणोंका घात क्यों नहीं माना गया?

३—शुद्ध जीवोंके कर्म नष्ट होनेपर प्रगट होनेवाले जो आठ गुण कहे हैं, उनमें चारित्रको न कहकर सम्यक्त्वको ही कहा है इसका क्या कारण है? वहां चारित्रको क्यों छोड़ दिया है?

४—कहीं कहीं चारित्र अथवा सम्यक्त्वमेंसे एकको भी न कहकर सुख गुणका ही उल्लेख किया गया है सो ऐसा क्यों?

उत्तर

जब जीव अपना निजस्वरूप प्रगट न करे और सांसारिक दशाको बढ़ाये तब मोहनीय कर्म निमित्त है, किन्तु यह मानना सर्वथा मिथ्या है कि कर्म जीवका कुछ कर सकते हैं। सांसारिक दशाका अर्थ यह है कि जीवमे आकुलता हो, अशांति हो, क्षोभ हो। इस अशांतिके तीन भाग किये जा सकते हैं;—१-अशांतिरूप वेदनका ज्ञान, २-उस वेदनकी ओर जीव झुके तब निमित्तकारण, और ३-अशांतिरूप वेदन। उस वेदनका ज्ञान ज्ञानगुणमे गर्भित हो जाता है। उस ज्ञानके कारणमें ज्ञानावरणका क्षयोपशम निमित्त है। जब जीव उस वेदनकी ओर लगता है तब वेदनीय कर्म उस कार्यमे निमित्त होता है; और वेदनमें मोहनीय निमित्त है। अशांति, मोह, आत्मज्ञानपराङ्मुखता तथा विषयासक्ति—यह सब मोहके ही कार्य हैं। **कारणके नाशसे कार्य भी नष्ट हो जाता है इसलिये विषयासक्तिको घटानेसे पूर्व ही आत्मज्ञान उत्पन्न करनेका उपदेश भगवानने दिया है।**

मोहके कार्यको दो प्रकारसे विभक्त कर सकते हैं:—१-दृष्टिकी विमुखता और २-चारित्रकी विमुखता। दोनोमे विमुखता सामान्य है। वे दोनों सामान्यतया 'मोह' के नामसे पहिचानी जाती हैं, इसलिये उन दोनोको अभेदरूपसे एक कर्म बतलाकर उसके दो उपविभाग 'दर्शनमोह' और 'चारित्र मोह' कहे हैं। दर्शनमोह अपरिमित मोह है और चारित्रमोह परिमित। मिथ्यादर्शन संसारकी जड़ है, सम्यग्दर्शन के प्रगट होते ही मिथ्यादर्शनका अभाव हो जाता है। मिथ्यादर्शनमें दर्शनमोह निमित्त है, दर्शनमोहका अभाव होनेपर उसी समय चारित्रमोहका एक उपविभाग जोकि अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ है उसका एक ही साथ अभाव हो जाता है, और तत्पश्चात् क्रमशः वीतरागताके बढ़नेपर चारित्रमोहका क्रमश अभाव होता जाता है, इसलिये +दर्शनको कारण और चारित्रको कार्य भी कहा जाता है। इसप्रकार भेदकी अपेक्षासे वे पृथक् है। इसलिये प्रथम अभेदकी अपेक्षासे 'मोह' एक होनेसे उसे एक कर्म मानकर फिर उसके दो उपविभाग—दर्शनमोह और चारित्रमोह माने गये हैं।

चार घातिया कर्मोको चार गुणोंके घातमें निमित्त कहा है, इसका कारण यह है कि -मोहकर्मको अभेदकी अपेक्षासे जब एक माना है तब श्रद्धा और चारित्र गुणको अभेदकी अपेक्षासे शांति (सुख) मानकर चार गुणोंके घातमें चार घातिया कर्मोको निमित्तरूप कहा है।

+ श्री दर्शनपाहुड गाथा ३१.

शंका—यदि मिथ्यात्व और कषाय एक ही हो तो मिथ्यात्वका नाश होने पर कषायका भी अभाव होना चाहिये, जिस कषायके अभावको चारित्रकी प्राप्ति कहते हैं,-किन्तु ऐसा नहीं होता और सम्यक्त्वके प्राप्त होने पर भी चौथे गुणस्थानमें चारित्र प्राप्त नहीं होता, इसलिये चौथे गुणस्थानको अव्रतरूप कहा जाता है। अणुव्रतके होनेपर पांचवां गुणस्थान होता है और पूर्ण व्रतके होने पर 'व्रती' संज्ञा होने पर भी यथाख्यात-चारित्र प्राप्त नहीं होता। इसप्रकार विचार करनेसे मालूम होगा कि सम्यक्त्वके क्षायिकरूप पूर्ण होनेपर भी चारित्रकी प्राप्तिमें अथवा पूर्णतामें विलंब होता है इसलिये सम्यक्त्व और चारित्र अथवा मिथ्यात्व और कषायों में एकता तथा कार्य-कारणता कैसे ठीक हो सकती है?

समाधान'—मिथ्यात्वके न रहनेसे जो कषाय रहती है वह मिथ्यात्वके साथ रहने-वाली अति तीव्र अनन्तानुबंधी कषायोंके समान नहीं होती, किन्तु अति मन्द हो जाती है, इसलिये वह कषाय चाहे जैसा बंध करे तथापि वह बन्ध दीर्घसंसारका कारणभूत नहीं होता, और इससे ज्ञानचेतना भी सम्यग्दर्शनके होते ही प्रारंभ हो जाती है,-जोकि बन्धके नाशका कारण है, इसलिये जब प्रथम मिथ्यात्व होता है तथा जो चेतना होती है वह कर्म-चेतना और कर्मफलचेतना होती है-जोकि पूर्ण बन्धका कारण है। इसका सारांश यह है कि-कषाय तो सम्यग्दृष्टिके भी शेष रहती है किन्तु मिथ्यात्वका नाश होनेसे अति मन्द हो जाती है, और उससे सम्यग्दृष्टि जीव कुछ अंशोंमें अबन्ध रहता है और निर्जरा करता है, इससे मिथ्यात्व और कषायका कुछ अविनाभाव अवश्य है।

अब शंकाकी बात यह रह जाती है कि-मिथ्यात्वके नाशके साथ ही कषायका पूर्ण नाश क्यों नहीं होता? इसका समाधान यह है कि-मिथ्यात्व और कषाय सर्वथा एक वस्तु तो नहीं है। सामान्य स्वभाव दोनोंका एक है किन्तु विशेषकी अपेक्षासे कुछ भेद है। विशेष-सामान्यकी अपेक्षासे भेद-अभेद दोनोंको यहाँ मानना चाहिए। यह भाव दिखानेके लिए ही शास्त्रकारने सम्यक्त्व और आत्मशांतिके घातका निमित्त मूल प्रकृति एक 'मोह' रखी है और उत्तर प्रकृतिमें दर्शनमोहनीय तथा चारित्रमोहनीय-दो भेद किये हैं। [इस स्पष्टीकरणसे पहिली और दूसरी शंकाका समाधान हो जाता है] जब कि उत्तर प्रकृतिमें भेद है तब उसके नाशका पूर्ण अविनाभाव कैसे हो सकता है? [-नहीं हो सकता] हाँ मूल कारणके न रहनेपर चारित्रमोहनीयकी स्थिरता भी अधिक नहीं रहती। दर्शनमोहनीयके साथ न सही, तो भी थोड़े ही समयमें चारित्रमोहनीय भी नष्ट हो जाता है।

अथवा सम्यक्त्वके हो जाने पर भी ज्ञान सदा स्वानुभूतिमें हो तो नहीं रहता, जब ज्ञानका बाह्य लक्ष हो जाता है तब स्वानुभूतिसे हट जानेके कारण सम्यग्दृष्टि भी विषयोंमें

अल्प तन्मय हो जाता है; किन्तु यह छद्मस्थज्ञानकी चंचलताका दोष है और उसका कारण भी कषाय ही है। उस ज्ञानकी केवल कषाय–नैमित्तिक चंचलता कुछ समय तक ही रह सकती है, और वह भी तीव्र बन्धका कारण नही होती।

भावार्थः—यद्यपि सम्यक्त्वकी उत्पत्तिसे संसारकी जड़ कट जाती है किन्तु दूसरे कर्मोंका उसी क्षण सर्वनाश नही हो जाता। कर्म अपनी-अपनी योग्यतानुसार बँधते हैं और उदयमे आते हैं। जैसे-मिथ्यात्वके साथी चारित्रमोहनीयकी उत्कृष्ट स्थिति चालीस कोड़ाकोडी सागरकी होती है। इससे यह निश्चय हुआ कि मिथ्यात्व ही समस्त दोषोंमें अधिक बलवान दोष है, और वही दीर्घसंसारकी स्थापना करता है, इसलिये यह समझना चाहिए कि उसका नाश किया और संसारका किनारा आगया। किन्तु साथ ही यह भी नहीं भूलना चाहिए कि मोह तो दोनों हैं; उनमेंसे एक (दर्शनमोह) अमर्यादित है और दूसरा (चारित्रमोह) मर्यादित है। किन्तु दोनों संसारके ही कारण हैं।

यदि संसारका संक्षेपमे स्वरूप कहा जाय तो वह दुःखमय है, इसलिये आनुषंगिक रूपसे दूसरे कर्म भी भले ही दुःखके निमित्तकारण हों किन्तु मुख्य निमित्तकारण तो मोहनीय-कर्म ही है। जब कि सर्वदुःखका कारण (निमित्तरूपसे) मोहनीय कर्ममात्र है तो मोहके नाशको सुख कहना चाहिए। जो ग्रन्थकार मोहके नाशको सुख गुणकी प्राप्ति मानते हैं उनका मानना मोहके संयुक्त कार्यकी अपेक्षासे ठीक है। वैसा मानना अभेद–व्यापक–दृष्टिसे है, इसलिये जो सुखको अनन्त चतुष्टयमें गर्भित करते हैं वे चारित्र तथा सम्यक्त्वको भिन्न नहीं गिनते, क्योंकि सम्यक्त्व तथा चारित्रके सामुदायिक स्वरूपको सुख कहा जा सकता है।

चारित्र और सम्यक्त्व दोनोंका समावेश सुखगुणमे अथवा स्वरूपलाभमें ही होता है, इसलिये चारित्र और सम्यक्त्वका अर्थ सुख भी हो सकता है। जहाँ सुख और वीर्यगुणका उल्लेख अनन्य चतुष्टयमें किया गया है वहां उन गुणोंकी मुख्यता मानकर कहा है, और इतरोंको गौण मानकर नही कहा है, तथापि उन्हें संगृहीत हुआ समझ लेना चाहिये, क्योंकि वे दोनों सुखगुणके विशेषाकार हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि मोहनीय कर्म किस गुणके घातमें निमित्त है। और इससे वेदनीयको अघातकता भी सिद्ध हो जाती है, क्योंकि वेदनीय किसीके घातनेमें निमित्त नही है, मात्र घात हुए स्वरूपका जीव जब अनुभव करता है तब निमित्तरूप होता है। [इस स्पष्टीकरणमें तीसरी और चौथी शंकाका समाधान हो जाता है।]
[श्री तत्त्वार्थसार अ० ५ पृष्ठ ३०० से ३०१ सनातन ग्रंथमाला वीर–निर्वाण २०४५]

यह बात विशेष ध्यानमे रखनी चाहिए कि जीवमे होनेवाले विकारभावोंको जीव जब स्वयं करता है तब कर्म का उदय उपस्थितरूपमे निमित्त होता है, किन्तु उस कर्मके

जड़कर्मोंने जीवका कुछ भी किया है या कोई असर पहुँचाया है, यह मानना सर्वथा मिथ्या है। इसीप्रकार जीव जब विकार करता है तब पुद्गल कार्माणवर्गणा स्वयं कर्मरूप परिणमित होती है,—ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। जीवको विकारीरूपमें कर्म परिणमित करता है और कर्मको जीव परिणमित करता है—इसप्रकार सम्बन्ध बतानेवाला व्यवहार कथन है। वास्तवमें जड़को कर्मरूपमें जीव परिणमित नहीं कर सकता और जीवको कर्म विकारी नहीं कर सकता। गोम्मटसार आदि कर्मशास्त्रोंका इसप्रकार अर्थ करना ही न्यायपूर्ण है।

प्रश्नः—बन्धके कारणोंमें मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग—ये पाँचों मोक्षशास्त्रमें कहे हैं, और दूसरे आचार्य कषाय तथा योग दो ही बतलाते हैं, इसप्रकार वे मिथ्यात्व, अविरति और प्रमादको कषायका भेद मानते हैं। कषाय चारित्रमोहनीयका भेद है, इससे यह प्रतीत होता है कि चारित्रमोहनीय ही सभी कर्मोंका कारण है। क्या यह कथन ठीक है?

उत्तरः—मिथ्यात्व, अविरति और प्रमाद कषायके उपभेद हैं, किन्तु इससे यह मानना ठीक नहीं है कि कषाय चारित्रमोहनीयका भेद है। मिथ्यात्व महा कषाय है। जब 'कषाय'को सामान्य अर्थमें लेते हैं तब दर्शनमोह और चारित्रमोह दोनों रूप माने जाते हैं, क्योंकि कषायमें मिथ्यादर्शनका समावेश हो जाता है। जब कषायको विशेष अर्थमें प्रयुक्त करते हैं तब वह चारित्रमोहनीयका भेद कहलाता है। चारित्रमोहनीय कर्म उन सब कर्मोंका कारण नहीं है किन्तु जीवका मोहभाव उन सात अथवा आठ कर्मोंके बन्धका निमित्त है।

[श्री तत्त्वार्थसार अ० ६ पृष्ठ २१४, सनातन ग्रन्थमाला वीरनिर्वाण सं० २४५२]

(६) प्रश्नः—सात प्रकृतियोंका क्षय अथवा उपशमादि होता है सो वह व्यवहार-सम्यग्दर्शन है या निश्चयसम्यग्दर्शन?

उत्तरः—वह निश्चयसम्यग्दर्शन है।

[श्री गोम्मटसार जीवकाण्ड गाथा [illegible]-६२० की टीका तथा श्री षट्खण्डागम धवल टीका पृष्ठ १६२ व टीका]

प्रश्नः—सिद्ध भगवानके व्यवहारसम्यग्दर्शन होता है या निश्चयसम्यग्दर्शन?

उत्तरः—सिद्धोंके निश्चयसम्यग्दर्शन होता है।

प्रश्नः—व्यवहारसम्यग्दर्शन और निश्चयसम्यग्दर्शनमें क्या अन्तर है?

उत्तरः—जीवादि नव तत्त्व और सच्चे देव-गुरु-शास्त्रकी भेदरूप श्रद्धानको व्यवहारसम्यग्दर्शन कहते हैं। जो जीव उस विकल्पका अभाव करके अपने शुद्धात्माकी ओर

उन्मुख होकर निश्चयसम्यग्दर्शन प्रगट करता है उसे पहिले व्यवहारसम्यक्त्व था ऐसा कहा जाता है। जो जीव निश्चयसम्यग्दर्शन प्रगट नही करता उसका वह व्यवहाराभासम्यक्त्व है। जो उसीका अभाव करके निश्चयसम्यग्दर्शन प्रगट करता है उसके व्यवहारसम्यग्दर्शन उपचारसे (अर्थात् व्ययरूपमें-अभावरूपमें) निश्चयसम्यग्दर्शनका कारण कहा जाता है।

सम्यग्दृष्टि जीवको विपरीताभिनिवेश रहित जो आत्माका श्रद्धान है सो निश्चय-सम्यग्दर्शन है, और देव, गुरु, धर्मादिका श्रद्धान व्यवहारसम्यग्दर्शन है; इसप्रकार एक कालमें सम्यग्दृष्टिके दोनों सम्यग्दर्शन होते हैं। कुछ मिथ्यादृष्टियोंको, द्रव्यलिंगी मुनियोंको और कुछ अभव्य जीवोंको देव-गुरु-धर्मादिका श्रद्धान होता है, किन्तु वह आभासमात्र होता है, क्योंकि उनके निश्चयसम्यक्त्व नही है इसलिये उनका व्यवहारसम्यक्त्व भी आभासरूप है। [देखो, आधुनिक हिन्दी मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ ३३० से ३३३]

देव-गुरु-धर्मके श्रद्धानमें प्रवृत्तिकी मुख्यता है। जो प्रवृत्तिमें अरहंतादिको देवादि मानता है और अन्यको नही मानता उसे देवादिका श्रद्धानी कहा जाता है। तत्त्वश्रद्धानमें विचारकी मुख्यता है। जो ज्ञानमें जीवादि तत्त्वोंका विचार करता है उसे तत्त्वश्रद्धानी कहा जाता है। इन दोनोंको समझनेके बाद कोई जीव स्वोन्मुख होकर रागका आंशिक अभाव करके सम्यक्त्वको प्रगट करता है, इसलिये यह दोनों (-व्यवहारश्रद्धान) उसी जीवको सम्यक्त्वके (उपचारसे) कारण कहे जाते है, किन्तु उसका सद्भाव मिथ्यादृष्टिके भी संभव है इसलिये वह श्रद्धान व्यवहाराभास है।

(२३)

सम्यग्दर्शन और ज्ञानचेतनामें अन्तर

प्रश्नः—जबतक आत्माकी शुद्धोपलब्धि है तबतक ज्ञान ज्ञानचेतना है और उतना ही सम्यग्दर्शन है, क्या यह ठीक है ?

उत्तरः—आत्माके अनुभवको शुद्धोपलब्धि कहते हैं, वह चारित्रगुणकी पर्याय है। जब सम्यग्दृष्टि जीव अपने शुद्धोपयोगमें युक्त होता है अर्थात् स्वानुभवरूप प्रवृत्ति करता है तब उसे सम्यक्त्व होता है, और जब शुद्धोपयोगमे युक्त नही होता तब भी उसे ज्ञानचेतना लब्धरूप होती है। जब ज्ञानचेतना अनुभवरूप होती है तभी सम्यग्दर्शन होता है और जब अनुभवरूप नही होती तब नही होता —इसप्रकार मानना बहुत बड़ी भूल है।

क्षायिक सम्यक्त्वमें भी जीव शुभाशुभरूप प्रवृत्ति करे या स्वानुभवरूप प्रवृत्ति करे, किन्तु सम्यक्त्वगुण तो सामान्य प्रवर्त्तनरूप ही है। [देखो, पं० टोडरमलजीकी रहस्यपूर्ण चिट्ठी]

सम्यग्दर्शन श्रद्धागुणकी शुद्ध पर्याय है। वह क्रमशः विकसित नहीं होता किन्तु अकस्मात् एक समयमें प्रगट हो जाता है। और सम्यग्ज्ञानमें तो हीनाधिकता होती है किन्तु विनाशभाव नहीं होता। चारित्रगुण भी क्रमशः विकसित होता है। वह अंशतः शुद्ध और अंशतः अशुद्ध (राग-द्वेषवाला) निम्नदशामें होता है, अर्थात् इसप्रकारसे तीनों गुणोंकी शुद्ध पर्यायके विकासमें अन्तर है।

(२४)

सम्यक्श्रद्धा करनी ही चाहिये

चारित्र न पले फिर भी उसकी श्रद्धा करना चाहिए

दर्शन पाहुडकी २२ वीं गाथामें भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेवने कहा है कि—"यदि (हम कहते हैं वह) करनेको समर्थ हो तो करना और यदि करनेमें समर्थ न हो तो सच्ची श्रद्धा अवश्य करना, क्योंकि केवली भगवानने श्रद्धा करनेवालेको सम्यक्त्व कहा है।"

यह गाथा बतलाती है कि—जिसने निजस्वरूपको उपादेय जानकर श्रद्धा की उसका मिथ्यात्व मिट गया, किन्तु पुरुषार्थकी हीनतासे चारित्र अंगीकार करनेकी शक्ति न हो तो जितनी शक्ति हो उतना ही करे और शेषके प्रति श्रद्धा करे। ऐसी श्रद्धा करनेवालेके भगवानने सम्यक्त्व कहा है। [अष्टपाहुड—दर्शनपाहुड गाथा २२]

इसी भावकी बात नियमसारकी गाथा १५४में भी कही गई है, क्योंकि सम्यग्दर्शन धर्मका मूल है।

(२५)

निश्चय सम्यग्दर्शनका दूसरा अर्थ

मिथ्यात्वभावके दूर होनेपर सम्यग्दर्शन चौथे गुणस्थानमें प्रगट होता है। वह श्रद्धा-गुणकी शुद्ध पर्याय होनेसे निश्चयसम्यक्त्व है। किन्तु यदि उस सम्यग्दर्शनके साथके चारित्रगुणकी पर्यायसे विचार किया जाय तो चारित्र गुणकी रागवाली पर्याय हो या स्वानुभवरूप निर्विकल्प पर्याय हो वहाँ चारित्र गुणकी निर्विकल्प पर्यायके साथके निश्चय सम्यग्दर्शनको वीतराग सम्यग्दर्शन कहा जाता है, और सविकल्प (रागसहित) पर्यायके साथके निश्चय सम्यग्दर्शनको सराग सम्यग्दर्शन कहा जाता है। इस शास्त्रमें (८वें विभागमें) कहा जा चुका है।

जब सातवें गुणस्थानमें और उससे आगे बढ़नेवाली दशामें निश्चय सम्यग्दर्शन और वीतराग चारित्रका अविनाभावीभाव होता है तब उस अविनाभावीभावको बतानेके लिए दोनों

गुणका एकत्व लेकर उस समयके सम्यग्दर्शनको उस एकत्वकी अपेक्षासे 'निश्चय सम्यक्त्व' कहा जाता है, और निश्चय सम्यग्दर्शनके साथकी विकल्प दशा बतानेके लिये, उस समय यद्यपि निश्चय सम्यग्दर्शन है फिर भी उस निश्चय सम्यग्दर्शनको 'व्यवहार सम्यक्त्व' कहा जाता है। इसलिये जहां 'निश्चय सम्यग्दर्शन' शब्द आया हो वहाँ वह श्रद्धा और चारित्रकी एकत्वापेक्षासे है या मात्र श्रद्धागुणकी अपेक्षासे है, यह निश्चय करके उसका अर्थ समझना चाहिए।

प्रश्नः—कुछ जीवोंको गृहस्थदशामें मिथ्यात्व दूर होकर सम्यग्दर्शन हो जाता है, उसे कैसा सम्यग्दर्शन समझना चाहिए?

उत्तरः—केवल श्रद्धागुणकी अपेक्षासे निश्चयसम्यग्दर्शन और श्रद्धा तथा चारित्र गुणकी एकत्वकी अपेक्षासे व्यवहारसम्यग्दर्शन समझना चाहिये। इसप्रकार गृहस्थ दशामें जो निश्चय-सम्यग्दर्शन है वह कथंचित् निश्चय और कथंचित् व्यवहारसम्यग्दर्शन है—ऐसा जानना चाहिए।

प्रश्नः—उस निश्चय सम्यग्दर्शनको श्रद्धा और चारित्रकी एकत्वापेक्षासे व्यवहार-सम्यग्दर्शन क्यों कहा है?

उत्तरः—सम्यग्दृष्टि जीव शुभरागको तोड़कर वीतराग चारित्रके साथ अल्प कालमें तन्मय हो जायगा, इतना सम्बन्ध बतानेके लिये उस निश्चयसम्यग्दर्शनको श्रद्धा और चारित्रकी एकत्व-अपेक्षासे व्यवहार सम्यग्दर्शन कहा जाता है।

सातवें और आगेके गुणस्थानमें सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्रकी एकता होती है इसलिये उस समयके सम्यक्त्वमें निश्चय और व्यवहार ऐसे दो भेद नहीं होते, इसलिये वहां जो सम्यक्त्व होता है उसे 'निश्चयसम्यग्दर्शन' ही कहा जाता है।

(देखो परमात्मप्रकाश अध्याय १ गाथा ८५ नीचेकी संस्कृत तथा हिन्दी टीका, दूसरी आवृत्ति पृष्ठ ९० तथा परमात्मप्रकाश अध्याय २ गाथा १७-१८ के नीचेकी संस्कृत तथा हिन्दी टीका, दूसरी आवृत्ति पृष्ठ १४६-१४७ और हिन्दी समयसारमें श्री जयसेनाचार्यकी संस्कृत टीका गाथा १२१-१२५के नीचे पृष्ठ १८६ तथा हिन्दी समयसारकी टीकामें श्री जयसेनाचार्यकी टीकाका अनुवाद पृष्ठ ११६, ब्र० शीतलप्रसाद की)

— अन्तमें —

पुण्यसे धर्म होता है और आत्मा परद्रव्यका कुछ भी कर सकता है—यह बात श्री वीतरागदेवके द्वारा प्ररूपित धर्मकी मर्यादाके बाहर है।

卐

प्रथम अध्यायका परिशिष्ट

[२]

❀ निश्चय सम्यग्दर्शन ❀

निश्चय सम्यग्दर्शन क्या है और उसे किसका अवलम्बन है ?

यह सम्यग्दर्शन स्वयं आत्माके श्रद्धागुणकी निर्विकारी पर्याय है। अखण्ड आत्माके लक्षसे सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। सम्यग्दर्शनको किसी विकल्पका अवलम्बन नहीं है, किन्तु निर्विकल्प स्वभावके अवलम्बनसे सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। यह सम्यग्दर्शन ही आत्माके सर्व सुखका मूल है। 'मैं ज्ञानस्वरूप आत्मा हूं बंध रहित हूं' ऐसा विकल्प करना भी शुभ राग है, उस शुभ रागका अवलम्बन भी सम्यग्दर्शनको नहीं है, उस शुभ विकल्पका अतिक्रम करने पर सम्यग्दर्शन होता है। सम्यग्दर्शन स्वयं रागादि विकल्प रहित निर्मल पर्याय है। उसे किसी निमित्त या विकारका अवलम्बन नहीं है,—किन्तु पूर्णरूप आत्माका अवलम्बन है—वह सम्पूर्ण आत्माको स्वीकार करता है।

एक बार निर्विकल्प होकर अखण्ड ज्ञायक स्वभावको लक्षमें लिया कि वहाँ सम्यक् प्रतीति हो जाती है। अखण्ड स्वभावका लक्ष ही स्वरूपकी शुद्धिके लिये कार्यकारी है। अखण्ड सत्य स्वरूपको जाने बिना-श्रद्धा किये बिना, 'मैं ज्ञानस्वरूप आत्मा हूं अबद्धस्पृष्ट हूं' इत्यादि विकल्प भी स्वरूपकी शुद्धिके लिए कार्यकारी नहीं हैं। एक बार अखण्ड ज्ञायक-स्वभावका संवेदन—लक्ष किया कि फिर जो वृत्ति उठती हैं वे शुभाशुभ वृत्तियां अस्थिरताका काम करती हैं, किन्तु वे स्वरूपके रोकनेमें समर्थ नहीं हैं, क्योंकि श्रद्धा तो नित्य विकल्प रहित होनेसे जो वृत्ति उद्भूत होती है वह श्रद्धाको नहीं बदल सकती......यदि विकल्पमें ही रुक गया तो वह मिथ्यादृष्टि है।

विकल्प रहित होकर अभेदका अनुभव करना ही सम्यग्दर्शन है। इस सम्बन्धमें समयसारमें कहा है कि—

> कम्मं बद्धमबद्धं जीवे एवं तु जाण णयपक्खं।
> पक्खातिक्कंतो पुण भण्णदि जो सो समयसारो ॥ १४२ ॥

'आत्मा कर्मसे बद्ध है या अबद्ध' ऐसे दो प्रकारके भेदोंके विचारमें रुकना सो नयका पक्ष है। 'मैं आत्मा हूं परसे भिन्न हूं' ऐसा विकल्प भी राग है, इस रागकी वृत्तिका'

-नय पक्षका -उल्लंघन करे तो सम्यग्दर्शन प्रगट हो। 'मैं बद्ध हूं अथवा बन्ध रहित मुक्त हूं' ऐसी विचारश्रेणीको लांघकर जो आत्मानुभव करता है वही सम्यग्दृष्टि है और वही शुद्धात्मा है।

'मैं अबन्ध हूं, बन्ध मेरा स्वरूप नहीं' ऐसे भंगकी विचारश्रेणीके कार्यमें रुकना सो अज्ञान है। और उस भंगके विचारको लांघकर अभंगस्वरूपको स्पर्श कर लेना (अनुभव कर लेना) ही पहला आत्म-धर्म अर्थात् सम्यग्दर्शन है। 'मैं पराश्रय रहित, अबन्ध, शुद्ध हूं' निश्चयनयके पक्षका विकल्प राग है और जो उस रागमें अटक जाता है (-रागको ही सम्यग्दर्शन मान ले और राग रहित स्वरूपका अनुभव न करे) सो वह मिथ्यादृष्टि है।

भेदके विकल्प उठते तो हैं किन्तु उनसे सम्यग्दर्शन नहीं होता

अनादिकालसे आत्मस्वरूपका अनुभव नहीं है, परिचय नहीं है, इसलिये आत्मानुभव करते समय तत्सम्बन्धी विकल्प आये बिना नहीं रहते। अनादिकालसे आत्मस्वरूपका अनुभव नहीं है इसलिये वृत्तियोंका उद्भव होता है कि—'मैं आत्मा कर्मोंके साथ सम्बन्धवाला हूं या कर्मोंके सम्बन्धसे रहित हूं' इसप्रकार नयोंके दो विकल्प उठते हैं; परन्तु—'कर्मोंके साथ सम्बन्धवाला या कर्मोंके सम्बन्धसे रहित अर्थात् बद्ध हूं या अबद्ध हूं' ऐसे दो प्रकारके भेदोंका भी एक स्वरूपमें कहाँ अवकाश है? स्वरूप तो नयपक्षकी अपेक्षाओंसे परे है। एक प्रकारके स्वरूपमें दो प्रकारकी अपेक्षायें नहीं होतीं। मैं शुभाशुभभावसे रहित हूं—ऐसे विचारमें उलझना भी पक्ष है। उससे भी परे स्वरूप है, और स्वरूप तो पक्षातिक्रांत है, वही सम्यग्दर्शनका विषय है, अर्थात् उसीके लक्षसे सम्यग्दर्शन प्रगट होता है, उसके अतिरिक्त दूसरा कोई सम्यग्दर्शनका उपाय नहीं है।

सम्यग्दर्शनका स्वरूप क्या है? किसी शारीरिक क्रियासे सम्यग्दर्शन नहीं होता, जड़ कर्मोंसे भी नहीं होता, और अशुभ राग या शुभ रागके लक्षसे भी सम्यग्दर्शन नहीं होता। तथा 'मैं पुण्य-पापके परिणामोंसे रहित ज्ञायक स्वरूप हूं' ऐसा विचार भी स्वरूपका अनुभव करनेमें समर्थ नहीं है। 'मैं ज्ञायक हूं' ऐसे विचारमें उलझा कि भेदके विचारमें उलझ गया किन्तु स्वरूप तो ज्ञातादृष्टा है, उसका अनुभव ही सम्यग्दर्शन है। भेदके विचारमें उलझना सम्यग्दर्शनका स्वरूप नहीं है।

जो वस्तु है सो स्वतः परिपूर्ण स्वभावसे भरी हुई है। आत्माका स्वभाव परापेक्षासे रहित एकरूप है। मैं कर्म-सम्बन्धवाला हूं या कर्मोंके सम्बन्धसे रहित हूं, ऐसी अपेक्षाओंसे उस स्वभावका आश्रय नहीं होता। यद्यपि आत्मस्वभाव तो अबन्ध ही है, किन्तु 'मैं अबन्ध

हूँ' ऐसे विकल्पको भी छोड़कर निर्विकल्प ज्ञाताद्रष्टा निरपेक्ष स्वभावका आश्रय करते ही सम्यग्दर्शन प्रगट होता है।

आत्माकी प्रभुताकी महिमा भीतर परिपूर्ण है, अनादिकालसे उसकी सम्यक् प्रतीतिके बिना उसका अनुभव नहीं हुआ, अनादिकालसे परलक्ष किया है किन्तु स्वभावका लक्ष नहीं किया। शरीरादिमें आत्माका सुख नहीं है, शुभरागमें भी सुख नहीं है, और 'मेरा स्वरूप शुभरागसे रहित है' ऐसे भेदके विचारमें भी आत्माका सुख नहीं है। इसलिये उस भेदके विचारमें उलझना भी अज्ञानीका कार्य है। इसलिये उस नयपक्षके भेदका आश्रय छोड़कर अभेद ज्ञाता स्वभावका आश्रय करना ही सम्यग्दर्शन है और उसीमें सुख है। अभेद स्वभावका आश्रय कहो या ज्ञाता स्वरूपका अनुभव कहो अथवा सुख कहो, धर्म कहो या सम्यग्दर्शन कहो-सब यही है।

विकल्पको रखकर स्वरूपानुभव नहीं हो सकता

अखण्डानन्द अभेद आत्माका लक्ष नयपक्षके द्वारा नहीं होता। नयपक्षकी विकल्परूपी मोटर चाहे जितनी दौड़ाई जाय,-'मैं ज्ञायक हूँ, अभेद हूँ, शुद्ध हूँ,' ऐसे विकल्प करें फिर भी वे विकल्प स्वरूपके आँगन तक ही ले जायेंगे, किन्तु स्वरूपानुभवके समय तो वे सब विकल्प छोड़ ही देने पड़ेंगे। विकल्पको साथ लेकर स्वरूपानुभव नहीं हो सकता। नयपक्षोंका ज्ञान स्वरूपके आँगन तक पहुँचनेमें बीचमें आता है। "मैं स्वाधीन ज्ञानस्वरूपी आत्मा हूँ, कर्म जड़ है, जड़ कर्म मेरे स्वरूपको नहीं रोक सकते, यदि मैं विकार करूँ तो कर्म निमित्त कहलाते हैं किन्तु कर्म मुझे विकार नहीं कराते क्योंकि कर्म और आत्मामें परस्पर अत्यन्त अभाव होनेसे दोनों द्रव्य भिन्न हैं, वे कोई एक-दूसरेका कुछ नहीं कर सकते। किसी अपेक्षा मैं जड़का कुछ नहीं करता और जड़ मेरा कुछ नहीं करते, जो राग-द्वेष होते हैं उन्हें भी कर्म नहीं कराता, तथा वे परवस्तुमें नहीं होते किन्तु मेरी अवस्थामें होते हैं, वे राग-द्वेष मेरा स्वभाव नहीं हैं निश्चयसे मेरा स्वभाव रागरहित ज्ञानस्वरूप है"-इसप्रकार सभी पहलुओं (नयों) का ज्ञान पहले करना चाहिये, किन्तु इतना करने तक भी भेदका आश्रय है, भेदके आश्रय से अभेद आत्मस्वरूपका अनुभव नहीं होता, फिर भी पहिले उन भेदोंको जानना चाहिये। जब इतना जान लेता है तब वह स्वरूपके आँगन तक पहुँचा हुआ कहलाता है। उसके बाद जब स्वसन्मुख अनुभव द्वारा अभेदका आश्रय करता है तब भेदका आश्रय छूट जाता है। प्रथम स्वरूपानुभव होनेसे अपूर्व सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। इसप्रकार य.पि

स्वरूपोन्मुख होनेसे पूर्व नयपक्षके विचार होते हैं किन्तु उस नयपक्षके कोई भी विचार स्वरूपानुभवमें सहायक नही हैं।

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानका सम्बन्ध किसके साथ है ?

सम्यग्दर्शन निर्विकल्प सामान्य श्रद्धागुणकी शुद्ध पर्याय है, उसका मात्र निश्चय-अखण्ड स्वभावके साथ ही सम्बन्ध है। अखण्ड द्रव्य जोकि भंगभेद रहित है वही सम्यग्दर्शनको मान्य है; सम्यग्दर्शन पर्यायको स्वीकार नही करता, किन्तु सम्यग्दर्शनके साथ रहनेवाले सम्यग्ज्ञानका सम्बन्ध निश्चय-व्यवहार दोनोंके साथ है अर्थात् निश्चय-अखण्ड स्वभावको तथा व्यवहारमें पर्यायके भंग-भेद होते हैं उन सबको सम्यग्ज्ञान जान लेता है।

सम्यग्दर्शन एक निर्मल पर्याय है, किन्तु 'मैं एक निर्मल पर्याय हूँ' इस प्रकार सम्यग्दर्शन स्वयं अपनेको नही जानता। सम्यग्दर्शनका अखण्ड विषय एक द्रव्य ही है, पर्याय नही।

प्रश्नः—जबकि सम्यग्दर्शनका विषय अखण्ड है और वह पर्यायको स्वीकार नहीं करता तब फिर सम्यग्दर्शनके समय पर्याय कहां चली जाती है ? सम्यग्दर्शन स्वयं ही पर्याय है, क्या पर्याय द्रव्यसे पृथक् हो गई ?

उत्तरः—सम्यग्दर्शनका विषय अखण्ड द्रव्य ही है। सम्यग्दर्शनके विषय द्रव्य-गुण-पर्यायके भेद नही हैं, द्रव्य-गुण-पर्यायसे अभिन्न वस्तु ही सम्यग्दर्शनको मान्य है। (अभिन्न वस्तुका लक्ष करने पर जो निर्मल पर्याय प्रगट होती है वह सामान्य वस्तुके साथ अभिन्न हो जाती है)। सम्यग्दर्शनरूप पर्यायको भी सम्यग्दर्शन स्वीकार नही करता, एक समयमें अभिन्न परिपूर्ण द्रव्य ही सम्यग्दर्शनको मान्य है, एकमात्र पूर्णरूप आत्माको सम्यग्दर्शन प्रतीतिमें लेता है, ·····परन्तु सम्यग्दर्शनके साथ प्रगट होनेवाला सम्यग्ज्ञान सामान्य-विशेष सबको जानता है, सम्यक्ज्ञान पर्यायको और निमित्तको भी जानता है। सम्यग्दर्शनको भी जाननेवाला सम्यक्ज्ञान ही है।

श्रद्धा और ज्ञान कब सम्यक् हुए ?

औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक या क्षायिकभाव-कोई भी सम्यग्दर्शनका विषय नही है, क्योंकि वे सब पर्याय हैं। सम्यग्दर्शनका विषय परिपूर्ण द्रव्य है, पर्यायको सम्यग्दर्शन स्वीकार नही करता, जब अकेली वस्तुका लक्ष किया जाता है तब श्रद्धा सम्यक् होती है।

प्रश्नः—उस समय होनेवाला सम्यक्ज्ञान कैसा होता है ?

उत्तरः—ज्ञानका स्वभाव सामान्य विशेष सबको जानना है। जब ज्ञानने संपूर्ण द्रव्यको, विकसित पर्यायको और विकारको ज्योंका त्यों जानकर, यह विवेक किया कि-'जो परिपूर्ण स्वभाव है सो मैं हूं और जो विकार रह गया है सो मैं नहीं हूं' तब वह सम्यक् कहलाया। सम्यग्दर्शनरूप विकसित पर्यायको, सम्यग्दर्शनकी विषयभूत परिपूर्ण वस्तुको और अवस्थाकी कमीको—इन तीनोंको सम्यग्ज्ञान यथावत् जानता है, अवस्थाकी स्वीकृति ज्ञानमें है। इसप्रकार सम्यग्दर्शन एक निश्चयको ही (अभेदस्वरूपको ही) स्वीकार करता है और सम्यग्दर्शनका अविनाभावी सम्यग्ज्ञान निश्चय तथा व्यवहार दोनोंको यथावत् जानकर विवेक करता है। यदि निश्चय-व्यवहार दोनोंको न जाने तो ज्ञान प्रमाण (सम्यक्) नहीं होता। यदि व्यवहारका आश्रय करे तो दृष्टि मिथ्या सिद्ध होती है और यदि व्यवहारको जाने ही नहीं तो ज्ञान मिथ्या सिद्ध होता है। ज्ञान निश्चय-व्यवहारका विवेक करता है तब वह सम्यक् कहलाता है। और दृष्टि व्यवहारका आश्रय छोड़कर निश्चयको अंगीकार करे तो वह सम्यक् कहलाती है।

सम्यग्दर्शनका विषय क्या है ?
मोक्षका परमार्थ कारण क्या है ?

सम्यग्दर्शनके विषयमें मोक्षपर्याय और द्रव्य ऐसे भेद ही नहीं है। द्रव्य ही परिपूर्ण है जोकि सम्यग्दर्शनको मान्य है। बन्ध-मोक्ष भी सम्यग्दर्शनको मान्य नहीं है। बन्ध-मोक्षकी पर्याय, साधक दशाके भंग-भेद इत्यादि सबको सम्यक्ज्ञान जानता है।

सम्यग्दर्शनका विषय परिपूर्ण द्रव्य है, वही मोक्षका परमार्थ कारण है। पंच महाव्रतादि या विकल्पको मोक्षका कारण कहना स्थूल व्यवहार है और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप साधक अवस्थाको मोक्षका कारण कहना भी व्यवहार है, क्योंकि उस साधक अवस्थाका भी जब अभाव होता है तब मोक्ष दशा प्रगट होती है, अर्थात् वह भी अभावरूप कारण है, इसलिये व्यवहार है। त्रैकालिक अखण्ड वस्तु ही मोक्षका निश्चय कारण है। परमार्थसे वस्तुमें कारण-कार्यका भेद भी नहीं है, कार्य-कारणका भेद भी व्यवहार है, एक अखण्ड वस्तुमें कार्य-कारणके भेदके विचारसे विकल्प होता है इसलिये वह भी व्यवहार है, फिर भी व्यवहारनयसे भी कार्य-कारणके भेद सर्वथा नहीं हो हों तो मोक्षदशाको प्रगट करनेकी बात भी नहीं कही जा सकती। अर्थात् अवस्थामें साधक-साध्यके भेद है किन्तु अभेदके आश्रयके समय व्यवहारका आश्रय नहीं होता, क्योंकि व्यवहारके आश्रयमें भेद होगा

है और भेदके आश्रयमें परमार्थ-अभेदस्वरूप लक्षमें नहीं आता, इसलिये सम्यग्दर्शनके विषयमें भेद नहीं होते, एकरूप अभेद वस्तु ही सम्यग्दर्शनका विषय है।

सम्यग्दर्शनही शान्तिका उपाय है

अनादिकालसे आत्माके अखण्ड रसको सम्यक्दर्शनके द्वारा नहीं जाना है इसलिये जीव परमें और विकल्पमें रस मान रहा है। किन्तु मैं अखण्ड एकरूप स्वभाव हूं, उसीमें मेरा रस है, परमें कहीं मेरा रस नहीं है,—इसप्रकार स्वभावदृष्टिके बलसे एकबार सबको नीरस बना दे ! तुझे सहजानन्दस्वरूपके अमृत-रसकी अपूर्व शान्तिका अनुभव प्रगट होगा। उसका उपाय सम्यग्दर्शन ही है।

संसारका अभाव सम्यग्दर्शनसे ही होता है

अनन्तकालसे अनन्त जीव संसारमें परिभ्रमण कर रहे हैं और अनन्तकालमें अनन्त जीव सम्यग्दर्शनके द्वारा पूर्ण स्वरूपकी प्रतीति करके मोक्षको प्राप्त हुए हैं। जीवोंने संसार पक्ष तो अनादिकालसे ग्रहण किया है किन्तु सिद्धोंका पक्ष कभी ग्रहण नहीं किया। अब सिद्धोंका पक्ष ग्रहण करके अपने सिद्धस्वरूपको जानकर संसारका अभाव करनेका अवसर आया है,.... और उसका उपाय एकमात्र सम्यग्दर्शन ही है।



प्रथम अध्यायका परिशिष्ट

[२]

जिज्ञासुको धर्म किस प्रकार करना चाहिये ?

जो जीव जिज्ञासु होकर स्वभावको समझना चाहता है वह अपने सुखको प्राप्त (–प्रगट अनुभवरूप) करना चाहता है और दुःखको दूर करना चाहता है तो सुख अपना नित्य स्वभाव है और वर्तमानमें जो दुःख है सो क्षणिक है इसलिये वह दूर हो सकता है। वर्तमान दुःख–अवस्थाको दूर करके स्वयं सुखरूप अवस्थाको प्रगट कर सकता है,—इतना तो जो समझना चाहता है, उसने स्वीकार ही कर लिया है। आत्माको अपने भावमें अपूर्व तत्त्वविचाररूप पुरुषार्थ करके विकार रहित स्वरूपका निर्णय करना चाहिए। वर्तमान विकारके होने पर भी विकाररहित स्वभावकी श्रद्धा की जा सकती है अर्थात् यह विकार और दुःख मेरा स्वरूप नहीं है ऐसा निश्चय हो सकता है।

पात्र जीवका लक्षण

जिज्ञासु जीवोंको स्वरूपका निर्णय करनेके लिए शास्त्रोंने पहिले ही ज्ञानक्रिया बतलाई है। स्वरूपका निर्णय करनेके लिये दूसरा कोई दान–पूजा–भक्ति–व्रत–तपादि करनेको नहीं कहा है, किन्तु श्रुतज्ञानसे ज्ञानस्वरूप आत्माका निर्णय करनेको ही कहा है। कुगुरु, कुदेव और कुशास्त्रकी ओरका आदर और उस ओरका झुकाव तो हट ही जाना चाहिए तथा विषयादि परवस्तुमेंसे सुख–बुद्धि दूर हो जानी चाहिए। सब ओरसे रुचि हटकर अपनी ओर रुचि होनी चाहिए। और देव–शास्त्र–गुरुको यथार्थतया पहिचानकर उस ओर आदर करे, और यह सब यदि स्वभावके लक्षसे हुआ हो तो उस जीवकी पात्रता हुई कहलाती है। इतनी पात्रता भी अभी सम्यग्दर्शनका मूल कारण नहीं है। सम्यग्दर्शनका मूल कारण चैतन्यस्वभावका आश्रय करना है, किन्तु पहिले कुदेवादिका सर्वथा त्याग तथा सच्चे देव–गुरु–शास्त्र और सत्समागमका प्रेम पात्र जीवोंके होता ही है, ऐसे पात्र हुए जीवोंको आत्माका स्वरूप समझनेके लिए क्या करना चाहिए सो यहाँ स्पष्ट बताया है।

सम्यग्दर्शनके उपायके लिये ज्ञानियोंके द्वारा बताई गई क्रिया

"पहिले श्रुतज्ञानके अवलम्बनसे ज्ञानस्वभाव आत्माका निश्चय करके, फिर आत्माकी प्रगट प्रसिद्धिके लिए, पर पदार्थकी प्रसिद्धिकी कारण जो इन्द्रियोंके द्वारा और मनके द्वारा

प्रवर्तमान बुद्धियाँ हैं उन्हें मर्यादामें लाकर जिसने मतिज्ञान-तत्त्वको आत्मसन्मुख किया है ऐसा, तथा नानाप्रकारके पक्षोंके आलम्बनसे होनेवाले अनेक विकल्पोंके द्वारा आकुलताको उत्पन्न करनेवाली श्रुतज्ञानकी बुद्धियोंको भी मान-मर्यादामें लाकर श्रुतज्ञान-तत्त्वको भी आत्मसन्मुख करता हुआ, अत्यन्त विकल्प रहित होकर, तत्काल....परमात्मस्वरूप आत्माको जब आत्मा अनुभव करता है उसी समय आत्मा सम्यक्तया दिखाई देता है [अर्थात् श्रद्धा की जाती है] और ज्ञात होता है वही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है।" [देखो समयसार गाथा १४४ की टीका]

उपरोक्त कथनका स्पष्टीकरण निम्न प्रकार है—

श्रुतज्ञान किसे कहना चाहिए ?

"प्रथम श्रुतज्ञानके अवलम्बनसे ज्ञानस्वभाव आत्माका निर्णय करना चाहिए।" ऐसा कहा है। श्रुतज्ञान किसे कहना चाहिए ? सर्वज्ञदेवके द्वारा कहा गया श्रुतज्ञान अस्ति-नास्ति द्वारा वस्तुस्वरूपको सिद्ध करता है। जो अनेकांतस्वरूप वस्तुको 'स्वरूपसे है और पररूप से नही है' इसप्रकार वस्तुको स्वतन्त्र सिद्ध करता है वह श्रुतज्ञान है।

एक वस्तु निजरूपसे है और वह वस्तु अनन्त पर द्रव्योंसे पृथक् है, इसप्रकार अस्ति-नास्तिरूप परस्पर विरुद्ध दो शक्तियोंको प्रकाशित करके जो वस्तुस्वरूपको बतावे-सिद्ध करे सो अनेकान्त है और वही श्रुतज्ञानका लक्षण है। वस्तु स्वापेक्षासे है और परापेक्षासे नहीं इसमें वस्तुकी नित्यता और स्वतन्त्रता सिद्ध की है।

श्रुतज्ञानका वास्तविक लक्षण-अनेकांत

एक वस्तुमें 'है' और 'नही' ऐसी परस्पर विरुद्ध दो शक्तियोंको भिन्न-भिन्न अपेक्षासे प्रकाशित करके जो वस्तुस्वरूपको परसे भिन्न बताये सो श्रुतज्ञान है। आत्मा सर्व परद्रव्योंसे भिन्न वस्तु है, ऐसा पहिले श्रुतज्ञानसे निश्चित करना चाहिये।

अनन्त परवस्तुसे यह आत्मा भिन्न है,-यह सिद्ध होने पर अब अपने द्रव्य-पर्यायमें देखना है। मेरा त्रैकालिक द्रव्य एक समयमात्रकी अवस्थारूप नही है; अर्थात् विकार क्षणिक पर्यायरूपसे है और त्रैकालिक स्वरूपसे विकार नही है—इसप्रकार विकाररहित स्वभावकी सिद्धि भी अनेकांत के द्वारा ही होती है। भगवानके द्वारा कहे गये शास्त्रोंकी महत्ता अनेकांतसे ही है। भगवानने पर जीवोंकी दया पालनेको कहा है या अहिंसा बतलाई है अथवा कर्मोंका वर्णन किया है,—इसप्रकार मानना न तो भगवानको पहिचाननेका वास्तविक लक्षण है और न भगवान द्वारा कहे गये शास्त्रोंको ही पहिचाननेका।

भगवान भी दूसरेका कुछ नहीं कर सके

भगवानने अपना कार्य भलीभाँति किया किन्तु वे दूसरोंका कुछ नहीं कर सके, क्योंकि एक तत्त्व स्वापेक्षासे है और परापेक्षासे नहीं है, इसलिये कोई किसीका कुछ नहीं कर सकता। प्रत्येक द्रव्य पृथक्-पृथक् स्वतन्त्र है, कोई किसीका कुछ नहीं कर सकता। इसप्रकार समझ लेना ही भगवानके द्वारा कहे गये शास्त्रोंकी पहिचान है और वही श्रुतज्ञान है।

प्रभावनाका सच्चा स्वरूप

कोई जीव पर द्रव्यकी प्रभावना नहीं कर सकता, किन्तु जैनधर्म जो कि आत्माका वीतराग स्वभाव है उसकी प्रभावना धर्मी जीव करते हैं। आत्माको जाने बिना आत्म-स्वभावकी वृद्धिरूप प्रभावना कैसे की जा सकती है? प्रभावना करनेका जो विकल्प उठता है सो भी परके कारणसे नहीं। दूसरेके लिये कुछ भी अपनेमें होता है यह कहना जैन-शासनकी मर्यादामें नहीं है। जैन-शासन तो वस्तुको स्वतन्त्र, स्वाधीन और परिपूर्ण स्थापित करता है।

भगवानके द्वारा कथित सच्ची दया अहिंसाका स्वरूप

यह बात मिथ्या है कि भगवानने दूसरे जीवोंकी दया स्थापित की है। जबकि यह जीव पर जीवोंकी क्रिया कर ही नहीं सकता तब फिर उसे बचा सकनेकी बात भगवान कैसे कहें? भगवानने तो आत्माके स्वभावको पहिचानकर ज्ञातामात्र भावकी श्रद्धा और एकाग्रता द्वारा कषायभावसे अपने आत्माको बचानेकी बात कही है, और यही सच्ची दया है। अपने आत्माका निर्णय किए बिना जीव क्या कर सकता है? भगवानके मुक्तज्ञानमें तो यह कहा है कि—पूर्ण स्वतः परिपूर्ण वस्तु है प्रत्येक तत्त्व स्वतः स्वतन्त्र है, किसी तत्त्वको दूसरे तत्त्वका आश्रय नहीं है,—इसप्रकार वस्तुस्वरूपको पृथक् स्वतन्त्र जानना सो अहिंसा है और वस्तुको पराधीन मानना कि एक दूसरेका कुछ कर सकता है तथा रागसे धर्म मानना सो हिंसा है। सरागीको दूसरे जीवको बचानेका राग तो होता है किन्तु उस शुभ रागसे पुण्य-बन्ध होता है—धर्म नहीं होता, ऐसा समझना चाहिये।

आनन्दको प्रगट करनेवाली भावनावाला क्या करे?

जगतके जीवोंको सुख चाहिये है और सुखका दूसरा नाम धर्म [redacted]। धर्म करना है अर्थात् आत्म-शांति चाहिए है अथवा अच्छा करना है? और वह अच्छा कहाँ करना है?

आत्माकी अवस्थामें दुःखका नाश करके वीतरागी आनन्द प्रगट करना है। वह आनन्द ऐसा चाहिए कि जो स्वाधीन हो—जिसके लिये परका अवलम्बन न हो। ऐसा आनन्द प्रगट करनेकी जिसकी यथार्थ भावना हो सो वह जिज्ञासु कहलाता है। अपना पूर्णानन्द प्रगट करनेकी भावना वाला जिज्ञासु पहिले यह देखता है कि ऐसा पूर्णानन्द किसे प्रगट हुआ है? अपनेको अभी ऐसा आनन्द प्रगट नहीं हुआ है, किन्तु अपनेको जिसकी चाह है ऐसा आनन्द अन्य किसीको प्रगट हुआ है और जिन्हें वह आनन्द प्रगट हुआ है उनके निमित्तसे स्वयं उस आनन्दको प्रगट करनेका सच्चा मार्ग जान ले। और ऐसा जान ले तो उसमे सच्चे निमित्तोंकी पहिचान भी आ गई। जब तक इतना करता है तब तक वह जिज्ञासु है।

अपनी अवस्थामे अधर्म-अशांति है उसे दूर करके धर्म-शाति प्रगट करना है। वह शांति अपने आधारसे और परिपूर्ण होनी चाहिये। जिसे ऐसी जिज्ञासा होती है वह पहिले यह निश्चय करता है कि—मैं एक आत्मा अपना परिपूर्ण सुख प्रगट करना चाहता हूं। तो वैसा परिपूर्ण सुख किसी औरके प्रगट हुआ होना चाहिए, यदि परिपूर्ण सुख-आनन्द प्रगट न हो तो दुःखी कहलाये। जिसे परिपूर्ण और स्वाधीन आनन्द प्रगट होता है वह सम्पूर्ण सुखी है और ऐसे सर्वज्ञ वीतराग हैं। इसप्रकार जिज्ञासु अपने ज्ञानमें सर्वज्ञका निर्णय करता है। दूसरेका कुछ करने-धरनेकी बात तो है ही नही। जब परसे कुछ पृथक् हुआ है तभी तो आत्माकी जिज्ञासा हुई है। जिसे परसे हटकर आत्महित करनेकी तीव्र आकांक्षा जाग्रत हुई है ऐसे जिज्ञासु जीवकी यह बात है। परद्रव्यके प्रति सुखबुद्धि और रुचिको दूर किया, वह पात्रता है। और स्वभावकी रुचि तथा पहिचान होना सो पात्रताका फल है।

दुःखका मूल भूल है। जिसने अपनी भूलसे दुःख उत्पन्न किया है, वह अपनी भूलको दूर करे तो उसका दुःख दूर हो। अन्य किसीने भूल नही कराई इसलिये दूसरा कोई अपना दुःख दूर करनेमें समर्थ नही है।

श्रुतज्ञानका अवलम्बन ही पहिली क्रिया है

जो आत्मकल्याण करनेको तैयार हुआ है ऐसे जिज्ञासुको पहिले क्या करना चाहिए,—यह बतलाया जाता है। आत्मकल्याण कही अपनेआप नही हो जाता किन्तु वह अपने ज्ञानमें रुचि और पुरुषार्थसे होता है। अपना कल्याण करनेके लिये पहिले अपने ज्ञानमें यह निर्णय करना होगा कि—जिन्हें पूर्ण कल्याण प्रगट हुआ है वे कौन हैं और वे क्या कहते हैं। तथा उन्होने पहिले क्या किया था। अर्थात् सर्वज्ञका स्वरूप जानकर उनके द्वारा कहे गये श्रुतज्ञानके अवलम्बनसे अपने आत्माका निर्णय करना चाहिये, यही प्रथम कर्तव्य

है। किसी परके अवलम्बनसे धर्म प्रगट नहीं होता, फिर भी जब स्वयं अपने पुरुषार्थसे समझता है तब सन्मुख निमित्तरूपसे सच्चे देव-गुरु ही होते हैं।

इसप्रकार प्रथम ही निर्णय यह हुआ कि कोई पूर्ण पुरुष सम्पूर्ण सुखी है और सम्पूर्ण ज्ञाता है, वही पुरुष पूर्ण सुखका पूर्ण सत्यमार्ग कह सकता है, स्वयं उसे समझकर अपना पूर्ण सुख प्रगट कर सकता है और स्वयं जब समझता है तब सच्चे देव-गुरु-शास्त्र ही निमित्तरूप होते हैं। जिसे स्त्री पुत्र पैसा इत्यादिकी अर्थात् संसारके निमित्तोंकी ओरकी तीव्र रुचि होगी उसे धर्मके निमित्तभूत देव-शास्त्र-गुरुके प्रति रुचि नहीं होगी अर्थात् उसे श्रुतज्ञानका अवलम्बन नहीं रहेगा और श्रुतज्ञानके अवलम्बनके बिना आत्माका निर्णय नहीं होगा। क्योंकि आत्माके निर्णयमें सत् निमित्त ही होते हैं, कुगुरु-कुदेव-कुशास्त्र इत्यादि कोई भी आत्माके निर्णयमें निमित्तरूप नहीं हो सकते। जो कुदेवादिको मानता है उसे आत्म-निर्णय हो ही नहीं सकता।

जिज्ञासुकी यह मान्यता तो हो ही नहीं सकती कि दूसरेकी सेवा करेंगे तो धर्म होगा। किन्तु वह यथार्थ धर्म कैसे होता है इसके लिये पहिले पूर्णज्ञानी भगवान और उनके कथित शास्त्रोंके अवलम्बनसे ज्ञानस्वभाव आत्माका निर्णय करनेके लिये उद्यमी होगा। अनन्तभवमें जीवने धर्मके नामपर मोह किया, किन्तु धर्मकी कलाको समझा ही नहीं है। यदि धर्मकी एक कला ही सीख ले तो उसका मोक्ष हुए बिना नहीं रहेगा।

जिज्ञासु जीव पहिले कुदेवादिका और सुदेवादिका निर्णय करके कुदेवादिको छोड़ता है और फिर उसे सच्चे देव-गुरुकी ऐसी लगन लग जाती है कि उसका एकमात्र यही लक्ष हो जाता है कि सत्पुरुष क्या कहते हैं उसे समझा जाय अर्थात् वह अशुभसे तो अलग हो ही जाता है। यदि कोई सांसारिक रुचिसे पीछे न हटे तो वह श्रुतावलम्बनमें टिक नहीं सकेगा।

धर्म कहाँ है और वह कैसे होता है ?

बहुतसे जिज्ञासुओंको यही प्रश्न होता है कि धर्मके लिये पहिले क्या करना चाहिए? क्या पर्वत पर चढ़ना चाहिए, या सेवा-पूजा-ध्यान करते रहना चाहिए, या गुरुकी भक्ति करके उनकी कृपा प्राप्त करनी चाहिए अथवा दान देना चाहिए?—इन सबका उत्तर यह है कि इसमें कहीं भी आत्माका धर्म नहीं है। धर्म तो अपना स्वभाव है, धर्म पराधीन नहीं है। किसीके अवलम्बनसे धर्म नहीं होता। धर्म किसीके द्वारा दिया नहीं जाता किन्तु अपनी पहिचानसे ही धर्म होता है। जिसे अपना पूर्णानन्द चाहिये है उसे यह निश्चित करना

चाहिए कि पूर्णानन्दका स्वरूप क्या है और वह किसे प्रगट हुआ है ? जो आनन्द मैं चाहता हूं वह पूर्ण अवाधित आनन्द चाहता हूं । अर्थात् कोई आत्मा वैसी पूर्णानन्द दशाको प्राप्त हुए हैं और उन्हे पूर्णानन्द दशामें ज्ञान भी पूर्ण हो है, क्योंकि यदि ज्ञान पूर्ण न हो तो राग-द्वेष रहेगा, उसके रहनेसे दुःख रहेगा और जहाँ दुःख होता है वहाँ पूर्णानन्द नहीं हो सकता, इसलिए जिन्हें पूर्णानन्द प्रगट हुआ है ऐसे सर्वज्ञ भगवान हैं । उनका, और वे क्या कहते है उसका जिज्ञासुको निर्णय करना चाहिए । इसीलिए कहा है कि 'पहिले श्रुतज्ञानके अवलम्बनसे आत्माका-पूर्णरूपका निर्णय करना चाहिए'............ इसमें उपादान-निमित्त-की संधि विद्यमान है । ज्ञानी कौन है, सत् वात कौन कहता है,—यह सब निश्चय करनेके लिए निवृत्ति लेनी चाहिए । यदि स्त्री-कुटुम्ब, लक्ष्मीका प्रेम और संसारकी रुचिमें कमी न आये तो वह सत्-समागमके लिए निवृत्ति नही ले सकेगा । जहाँ श्रुतका अवलम्बन लेनेको कहा है वही तीव्र अशुभ भावका त्याग आ गया और सच्चे निमित्तोंकी पहिचान करना भी आ गया ।

सुखका उपाय ज्ञान और सत्-समागम

तुझे तो सुख चाहिए है ? यदि तुझे सुख चाहिए है तो पहिले यह निर्णय कर कि सुख कहाँ है और वह कैसे प्रगट होता है । सुख कहाँ है और वह कैसे प्रगट होता है, इसका ज्ञान किये विना (वाह्याचार करके यदि) सूख जाय तव भी सुख नही मिलता-धर्म नहीं होता । सर्वज्ञ भगवानके द्वारा कथित श्रुतज्ञानके अवलम्बन से यह निर्णय होता है और इस निर्णयका करना ही प्रथम धर्म है । जिसे धर्म करना हो वह धर्मीको पहिचानकर वे क्या कहते हैं इसका निर्णय करनेके लिये सत्-समागम करे । सत्-समागमसे जिसे श्रुतज्ञानका अवलम्वन प्राप्त हुआ है कि अहो ! परिपूर्ण आत्मवस्तु ही उत्कृष्ट महिमावान है, मैंने ऐसा परमस्वरूप अनन्तकालमें पहिले कभी नही सुना था—ऐसा होनेपर उसे स्वरूपकी रुचि जाग्रत होती है और सतसमागमका रङ्ग लग जाता है अर्थात् उसे कुदेवादि या संसारके प्रति रुचि हो ही नही सकती।

यदि अपनी वस्तुको पहिचाने तो प्रेम जाग्रत हो और उस तरफ का पुरुषार्थ ढले । आत्मा अनादिकालसे स्वभावको भूलकर पुण्य-पापमय परभावरूपी परदेशमें परिभ्रमण करता है. स्वरूपसे वाहर संसारमे परिभ्रमण करते-करते परमपिता सर्वज्ञदेव और परम हितकारी श्री परमगुरुसे भेंट, हुई और वे पूर्ण हित कैसे होता है यह सुनाते हैं तथा आत्म-स्वरूपकी पहिचान कराते हैं । अपने स्वरूपको सुनते हुए किस धर्मीको उल्लास नहीं होता ? आत्मस्वभावकी वात सुनते ही जिज्ञासु जीवोंको महिमा आती ही है कि—अहो ! अनन्त-

कालसे यह अपूर्व ज्ञान नहीं हुआ; स्वरूपके बाहर परभावमें भ्रमित होकर अनन्तकाल तक दुःखी हुआ, यदि यह अपूर्वज्ञान पहिले किया होता तो यह दुःख नहीं होता। इसप्रकार स्वरूपकी चाह जाग्रत हो, रस आये, महिमा आये और उस महिमाको यथार्थतया रटते हुए स्वरूपका निर्णय करे। इसप्रकार जिसे धर्म करके सुखी होना हो उसे पहिले श्रुतज्ञानका अवलम्बन लेकर आत्माका निर्णय करना चाहिये।

भगवानकी श्रुतज्ञानरूपी डोरीको दृढ़तापूर्वक पकड़कर उसके अवलम्बनसे स्वरूपमें पहुंच जाता है। श्रुतज्ञानके अवलम्बनका अर्थ क्या है? सच्चे श्रुतज्ञानका ही रस है, अन्य कुश्रुतज्ञानका रस नहीं है, संसारकी बातोंका तीव्र रस टल गया है और श्रुतज्ञानका तीव्र रस आने लगा है। इसप्रकार श्रुतज्ञानके अवलम्बनसे ज्ञानस्वभाव आत्माका निर्णय करनेके लिये जो तैयार हुआ है उसे अल्पकालमें आत्म-प्रतीति होगी...... संसारका तीव्र लोहरस जिसके हृदयमें घुल रहा हो उसे परम शान्त स्वभावकी बात समझनेकी पात्रता ही जाग्रत नहीं होती...... यहाँ जो 'श्रुतका अवलम्बन' शब्द दिया है सो वह अवलम्बन स्वभावके लक्षसे है, पीछे न हटनेके लक्षसे है। जिसने ज्ञानस्वभाव आत्माका निर्णय करनेके लिए श्रुतका अवलम्बन लिया है वह आत्मस्वभावका निर्णय करता ही है। उसके पीछे हटनेकी बात शास्त्रमें नहीं ली गई है।

संसारकी रुचिको घटाकर आत्म-निर्णय करनेके लक्षसे जो यहां तक आया है उसे श्रुतज्ञानके अवलम्बनसे निर्णय अवश्य होगा। वह हो ही नहीं सकता कि निर्णय न हो। सच्चे साहूकारके बहीखातेमें दिवालेकी बात हो नहीं हो सकती, इसीप्रकार यहां दीर्घ संसारीकी बात ही नहीं है, यहां तो सच्चे जिज्ञासु जीवों ही की बात है। सभी बातोंकी हाँमें हाँ भरे और एक भी बातका अपने ज्ञानमें निर्णय न करे ऐसे 'ध्वजपुच्छ' जैसे जीवोंकी बात यहां नहीं है। यहां तो निश्चल और स्पष्ट बात है। जो अनन्तकालीन संसारका अन्त करनेके लिये पूर्ण स्वभावके लक्षसे प्रारम्भ करनेको निकले हैं ऐसे जीवोंका प्रारम्भ किया हुआ कार्य फिर पीछे नहीं हटता—ऐसे जीवोंकी ही यहाँ बात है, यह तो अप्रतिहत मार्ग है। 'पूर्णताके लक्षसे किया गया प्रारम्भ ही वास्तविक प्रारम्भ है'। पूर्णताके लक्षसे किया गया प्रारम्भ पीछे नहीं हटता, पूर्णताके लक्षमें पूर्णता अवश्य होती है।

जिस ओरकी रुचि उसी ओरकी रटन

एककी एक बात ही पुनः पुनः (बदल बदलकर) कही जा रही है, किन्तु रुचिवान जीवको उकताहट नहीं होती। नाटकका रुचिवान मनुष्य नाटकमें 'वन्स मोर' कहकर अपनी रुचिवाली वस्तुको बारम्बार देखता है। इसीप्रकार जिन भव्य जीवोंको आत्मरुचि

हुई है और जो आत्म-कल्याण करनेको निकले हैं वे वारम्वार रुचिपूर्वक प्रतिसमय-खाते-पीते, चलते-फिरते, सोते-जागते, उठते-बैठते, बोलते-चालते हुए निरन्तर श्रुतका ही अवलम्बन स्वभावके लक्षसे करते हैं, उसमे किसी काल या क्षेत्रकी मर्यादा नहीं करते। उन्हें श्रुतज्ञानकी रुचि और जिज्ञासा ऐसी जम गई है कि वह कभी भी नही हटती। ऐसा नही कहा है कि अमुक समय तक अवलम्बन करना चाहिए और फिर छोड़ देना चाहिए, किन्तु श्रुतज्ञानके अवलम्बनसे आत्माका निर्णय करनेको कहा है। जिसे सच्ची तत्त्वकी रुचि हुई है वह दूसरे सब कार्योंकी **प्रीति** को गौण ही कर देता है।

प्रश्नः— तब क्या सत्की प्रीति होती है इसलिये खाना-पीना और व्यापार-धन्धा सब छोड़ देना चाहिए ? और श्रुतज्ञानको सुनते ही रहना चाहिए ? किन्तु उसे सुनकर भी क्या करना है ?

उत्तरः—सत्की प्रीति होती है इसलिये तत्काल खाना-पीना सब छूट ही जाय ऐसा नियम नही है, किन्तु उस ओरकी रुचि तो अवश्य कम हो ही जाती है। परमेंसे सुखबुद्धि उड़ जाय और सबमें एक आत्मा ही आगे रहे इसका अर्थ यह है कि निरन्तर आत्माही की तीव्राकांक्षा और चाह होनी है। ऐसा नहीं कहा है कि मात्र श्रुतज्ञान को सुना ही करे, किन्तु श्रुतज्ञानके द्वारा आत्माका निर्णय करना चाहिए।

श्रुतावलम्बनकी धुन लगनेपर वहां देव-गुरु-शास्त्र, धर्म, निश्चय, व्यवहार, इत्यादि अनेक प्रकार से वातें आती हैं, उन सब प्रकारोंको जानकर एक ज्ञानस्वभाव आत्माका निश्चय करना चाहिए। उसमें भगवान कैसे हैं, उनके शास्त्र कैसे हैं और वे क्या कहते हैं; इस सबका अवलम्बन यह निर्णय कराता है कि तू ज्ञान है, आत्मा ज्ञानस्वरूपी ही है, ज्ञानके अतिरिक्त वह दूसरा कुछ नही कर सकता।

देव-गुरु-शास्त्र कैसे होते हैं और उन्हे पहिचानकर उनका अवलम्बन करनेवाला स्वयं क्या समझा है,—यह इसमें बताया है। 'तू ज्ञानस्वभावी आत्मा है, तेरा स्वभाव जानना ही है, कुछ परका करना या पुण्य-पापके भाव करना तेरा स्वभाव नहीं है। इस-प्रकार जो बताते हो वे सच्चे देव-गुरु-शास्त्र हैं, और इसप्रकार जो समझता है वही देव-गुरु-शास्त्रके अवलम्बनसे श्रुतज्ञानको समझा है। किन्तु जो रागसे-निमित्तसे धर्म मनवाते हों और जो यह मनवाते हों कि आत्मा शरीराश्रित क्रिया करता है, जड़कर्म आत्माको हैरान करते हैं, वे देव-गुरु-शास्त्र सच्चे नहीं हैं।

जो शरीरादि सर्व परसे भिन्न ज्ञानस्वभाव आत्माका स्वरूप बतलाता हो और यह

बतलाता हो कि—पुण्य पापका कर्तव्य आत्माका नहीं है वही सत् श्रुत है, वही सच्चा देव है और वही सच्चा गुरु है। और जो पुण्यसे धर्म बताये, शरीरकी क्रियाका कर्ता आत्माको बताये और रागसे धर्म बताये वह कुगुरु-कुदेव-कुशास्त्र है; क्योंकि वे यथावत् वस्तुस्वरूपके ज्ञाता नहीं हैं प्रत्युत उल्टा स्वरूप बतलाते हैं। जो वस्तुस्वरूपको यथावत् नहीं बतलाते और किंचितमात्र भी विरुद्ध बतलाते हैं वे कोई देव, गुरु, या शास्त्र सच्चे नहीं हैं।

श्रुतज्ञानके अवलम्बनका फल—आत्मानुभव

'मैं आत्मा ज्ञायक हूं पुण्य-पापकी प्रवृत्तियां मेरी ज्ञेय हैं वे मेरे ज्ञानसे पृथक् हैं' इसप्रकार पहिले विकल्पके द्वारा देव-गुरु-शास्त्रके अवलम्बनसे यथार्थ निर्णय करना चाहिए। यह तो अभी ज्ञानस्वभावका अनुभव नहीं हुआ उससे पहिलेकी बात है। जिसने स्वभावके लक्ष्य श्रुतका अवलम्बन लिया है वह अल्पकालमें आत्मानुभव अवश्य करेगा। प्रथम विकल्पमें जिसने यह निश्चय किया कि मैं परसे भिन्न हूं पुण्य-पाप भी मेरा स्वरूप नहीं है, मेरे शुद्ध-स्वभावके आश्रयसे ही लाभ है, देव-गुरु-शास्त्रका भी अवलम्बन परमार्थसे नहीं है मैं तो स्वाधीन ज्ञानस्वभाव हूं, इसप्रकार निर्णय करनेवालेको अनुभव हुए बिना नहीं रहेगा।

पुण्य-पाप मेरा स्वरूप नहीं है, मैं ज्ञायक हूं—इसप्रकार जिसने निर्णयके द्वारा स्वीकार किया है, उसका परिणमन पुण्य-पापकी ओरसे पीछे हटकर ज्ञायकस्वभावकी ओर ढल गया है अर्थात् उसे पुण्य-पापका आदर नहीं रहा इसलिये वह अल्पकालमें ही पुण्य-पाप रहित स्वभावका निर्णय करके और उसकी स्थिरता करके वीतराग होकर पूर्ण हो जायगा। यहां पूर्णकी बात है—प्रारम्भ और पूर्णताके बीच कोई भेद ही नहीं किया, क्योंकि जो प्रारम्भ हुआ है वह पूर्णताको लक्ष्य लेकर ही हुआ है। सत्को सुनानेवाले और सुननेवाले दोनोंकी पूर्णता ही है जो पूर्ण स्वभावकी बात करता है वे देव-गुरु और शास्त्र-तीनों पवित्र ही हैं। उनके अवलम्बनसे जिसने हां कही है वह भी पूर्ण पवित्र हुए बिना नहीं रह सकता। जो पूर्णकी हां कहकर आया है वह पूर्ण होगा ही......इसप्रकार उपादान-निमित्तकी संधि साथ ही है।

सम्यग्दर्शन होनेसे पूर्व———

आत्मानन्द प्रगट करनेके लिये पात्रताका स्वरूप क्या है? तुझे धर्म करना है न? तो तू आत्माको पहिचान। सब प्रथम सच्चा निर्णय करनेकी बात है। अरे तू है कौन? क्या क्षणिक पुण्य-पापका करनेवाला तू ही है? नहीं, नहीं। तू तो ज्ञानका करनेवाला

ज्ञानस्वभाव है, तू परको ग्रहण करनेवाला या छोड़नेवाला नहीं है, तू तो केवलज्ञान जाननेवाला ही है। ऐसा निर्णय ही धर्मके प्रारम्भका (सम्यग्दर्शनका) उपाय है। प्रारम्भमें अर्थात् सम्यग्दर्शन से पूर्व यदि ऐसा निर्णय न करे तो वह पात्रतामें भी नही है। मेरा सहज स्वभाव जाननेका है,—ऐसा श्रुतके अवलम्बनसे जो निर्णय करता है वह पात्र जीव है। जिसे पात्रता प्रगट हुई है उसे आंतरिक अनुभव अवश्य होगा। सम्यग्दर्शन होनेसे पूर्व जिज्ञासु जीव-धर्म सन्मुख हुआ जीव सत्समागममें आया हुआ जीव—श्रुतज्ञानके अवलम्बनसे ज्ञानस्वभाव आत्माका निर्णय करता है।

मैं ज्ञानस्वभाव जाननेवाला हूं। मेरा ज्ञानस्वभाव ऐसा नही है कि ज्ञेयमें कहीं रागद्वेष करके अटक जाय; पर पदार्थ चाहे जैसा हो, मैं तो उसका मात्र ज्ञाता हूं, मेरा ज्ञाता स्वभाव परका कुछ करनेवाला नहीं है, मैं जैसा ज्ञानस्वभाव हूं उसी प्रकार जगतके सभी आत्मा ज्ञानस्वभाव हैं; वे स्वयं अपने ज्ञानस्वभावका निर्णय (करना) चूक गये हैं इसलिये दुःखी हैं। यदि वे स्वयं निर्णय करें तो उनका दुःख दूर हो। मैं किसीको बदलनेमें समर्थ नही हूं, पर जीवोंका दुःख दूर नहीं कर सकता, क्योंकि उन्होंने दुःख अपनी भूलसे किया है। यदि वे अपनी भूलको दूर करें तो उनका दुःख दूर हो।

पहिले श्रुतका अवलम्बन बताया है, उसमें पात्रता हुई, अर्थात् श्रुतावलम्बनसे आत्माका अव्यक्त निर्णय हुआ है, तत्पश्चात् प्रगट अनुभव कैसे होता है यह नीचे कहा जा रहा है:—

सम्यग्दर्शनके पूर्व श्रुतज्ञानके अवलम्बनके बलसे आत्माके ज्ञानस्वभावको—अव्यक्तरूपसे लक्षमें लिया है। अब प्रगटरूप लक्षमे लेता है—अनुभव करता है—आत्म-साक्षात्कार अर्थात् सम्यग्दर्शन करता है। वह किस प्रकारसे ? उनकी रीति यह है कि—"........बादमे आत्माकी प्रगट प्रसिद्धिके लिये पर पदार्थकी प्रसिद्धिके कारणभूत जो इन्द्रिय और मनके द्वारा प्रवर्तमान बुद्धियोंको मर्यादामें लाकर जिसे मतिज्ञान-तत्त्वको (मतिज्ञानके-स्वरूपको) आत्मसन्मुख किया है। ऐसा.... ..." अप्रगटरूप निर्णय हुए थे वह अब प्रगटरूप कार्यमें लाता है, जो निर्णय किया था उनका फल प्रगट होता है।

इस निर्णयको जगतके सब संज्ञी आत्मा कर सकते हैं। सभी आत्मा परिपूर्ण भगवान ही हैं इसलिये सब अपने ज्ञानस्वभावका निर्णय कर सकने में समर्थ हैं। जो आत्महित करना चाहता है उसे वह हो सकता है, किन्तु अनादिकालसे अपनी चिंता नही की है। अरे भाई ! तू कौन वस्तु है, यह जाने बिना तू क्या करेगा ? पहिले इस ज्ञानस्वभाव आत्माका निर्णय करना चाहिये। इसके निर्णय होने पर अव्यक्तरूपसे आत्माका लक्ष हो जाता है; और फिर

परके लक्षसे तथा विकल्पसे छूटकर स्वकी लक्ष-पूर्ण स्वरूपकी प्रतीति अनुभवरूपसे प्रगट करना चाहिये।

आत्माकी प्रगट प्रसिद्धिके लिये इन्द्रिय और मनसे जो पर-लक्ष जाता है उसे बदलकर उस मतिज्ञानको निजमें एकाग्र करने पर आत्माका लक्ष होता है अर्थात् आत्माकी प्रगटरूपसे प्रसिद्धि होती है। शुद्ध आत्माका प्रगटरूप अनुभव होना ही सम्यग्दर्शन है और सम्यग्दर्शन ही धर्म है।

धर्मके लिये पहिले क्या करना चाहिये ?

कई लोग कहा करते हैं कि—यदि आत्माके सम्बन्धमें कुछ समझ न आये तो पुण्य-शुभभाव करना चाहिये या नहीं ? इसका उत्तर यह है कि—पहिले आत्मस्वभावको समझना ही धर्म है। धर्मसे ही संसारका अन्त होता है। शुभभावसे धर्म नहीं होता और धर्मके बिना संसारका अन्त नहीं होता, धर्म तो अपना स्वभाव है इसलिये पहिले स्वभाव ही समझना चाहिये।

प्रश्नः—यदि स्वभाव समझमें न आये तो क्या करना चाहिए ? और यदि उसके समझनेमें देर लगे तो क्या अशुभ भाव करके दुर्गतिका बन्ध करना चाहिए ? क्योंकि आप शुभ भावोंसे धर्म होना तो मानते नहीं,—उसका निषेध करते हैं।

उत्तरः—पहिले तो यह हो ही नहीं सकता कि यह बात समझमें न आये। हाँ यदि समझनेमें देर लगे तो वहाँ निरन्तर समझनेका लक्ष मुख्य रखकर अशुभ भावोंको दूर करके शुभभाव करनेका निषेध नहीं है, किन्तु मिथ्या श्रद्धाका निषेध है। यह समझना चाहिए कि शुभभावसे कभी धर्म नहीं होता। जबतक जीव किसी भी पर वस्तुकी क्रियाको और रागकी क्रियाको अपनी मानता है तथा प्रथम व्यवहार करते-करते बादमें निश्चय धर्म होगा ऐसा मानता है तबतक वह यथार्थ समझके मार्ग पर नहीं है किन्तु विरुद्धमें है।

सुखका मार्ग सच्ची समझ, विकारका फल जड़

यदि आत्माकी सच्ची रुचि हो तो समझका मार्ग लिये बिना न रहे। यदि सत्य चाहिए हो, सुख चाहिए हो तो यही मार्ग है। समझनेमें भले देर लगे किन्तु सच्ची समझका मार्ग तो ग्रहण करना ही चाहिए। यदि सच्ची समझका मार्ग ग्रहण करे तो सत्य समझमें आये बिना रह ही नहीं सकता। यदि इस मनुष्य देहमें और सत्समागमके इस सुयोगमें भी सत्य न समझे तो फिर ऐसे सत्यका सुअवसर नहीं मिलेगा। जिसे यह खबर नहीं है कि

मैं कौन हूं और जो यहां पर भी स्वरूपको चूककर जाता है वह अन्यत्र जहां जायगा वहां क्या करेगा ? शान्ति कहांसे लायगा ? कदाचित् शुभभाव किये हो तो उस शुभका फल जडमें जाता है, आत्मामे पुण्यका फल नहीं पहुँचता। जिसने आत्माकी चिन्ता नही की और जो यहींसे मूढ हो गया है इसलिए उन रजकणोके फलमें भी रजकणोका संयोग ही मिलेगा, उन रजकणोंके संयोगमे आत्माका क्या लाभ है ? आत्माकी शान्ति तो आत्मा में ही है, किन्तु उसकी चिन्ता की नही है।

असाध्य कौन है ? और शुद्धात्मा कौन है ?

अज्ञानी जीव जडका लक्ष करके जडवत् हो गया है, इसलिये मरते समय अपनेको भूलकर संयोग दृष्टिको लेकर मरता है, असाध्यतया प्रवृत्ति करता है अर्थात् चैतन्यस्वरूपका भान नही है। वह जीते जी ही असाध्य ही है। भले शरीर हिले-डुले, बोले-चाले; किन्तु यह तो जड़की क्रिया है। उसका स्वामी हो गया किन्तु अन्तरंगमें साध्यभूत ज्ञानस्वरूपकी जिसे खबर नही है वह असाध्य (जीवित मुर्दा) है। यदि सम्यग्दर्शनपूर्वक ज्ञानसे वस्तु-स्वभावको यथार्थतया न समझे तो जीवको स्वरूपका किंचित् लाभ नही है। सम्यग्दर्शन-ज्ञानके द्वारा स्वरूपकी पहिचान और निर्णय करके जो स्थिर हुआ उसीको 'शुद्धात्मा' नाम मिलता है, और शुद्धात्मा ही सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान है। 'मैं शुद्ध हूं' ऐसा विकल्प छूटकर मात्र आत्मानुभव रह जाय सो यही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है, वे कहीं आत्मासे भिन्न नही हैं।

जिसे सत्य चाहिए हो ऐसे जिज्ञासु-समझदार जीवको यदि कोई असत्य बतलाए तो वह असत्यको स्वीकार नही कर लेता। जिसे सत्स्वभावकी चाह है वह स्वभावसे विरुद्ध-भावको स्वीकार नही करता। वस्तुका स्वरूप शुद्ध है इसका ठीक निर्णय किया और वृत्ति छूट गई, इसके बाद जो अभेद शुद्ध अनुभव हुआ वही धर्म है। ऐसा धर्म किस प्रकार होता है और धर्म करनेके लिए पहिले क्या करना चाहिए ? तत्सम्बन्धी यह कथन चल रहा है।

धर्मकी रुचिवाले जीव कैसे होते हैं ?

धर्मके लिये सर्वप्रथम श्रुतज्ञानका अवलम्बन लेकर श्रवण-मननसे ज्ञानस्वभाव आत्माका निश्चय करना चाहिए कि मैं एक ज्ञानस्वभाव हूं। ज्ञानस्वभावमें ज्ञानके अतिरिक्त अन्य कोई करने धरनेका स्वभाव नही है इसप्रकार सत्के समझनेमें जो काल व्यतीत होता है वह भी अनन्तकालमें पहिले कभी नहीं किया गया अपूर्व अभ्यास है। जीवको सत्की ओरकी रुचि होती है इसलिये वैराग्य जाग्रत होता है और समस्त संसारके

ओरकी रुचि उड जाती है, चौरासीके अवतारके प्रति त्राम आसत हो जाता है कि यह कैसी विडम्बना है ? एक तो स्वरूपकी प्रतीति नहीं है और उधर प्रतिक्षण पराश्रयभावमें रचे-पचे रहते हैं,-भला यह भी कोई मनुष्यका जीवन है ? तिर्यंच इत्यादिके दुखोंकी तो बात ही क्या, किन्तु इस नर-देहमें भी ऐसा जीवन ? और मरण समय स्वरूपका भान रहित असाध्य होकर ऐसा दयनीय मरण ? इसप्रकार संसार सम्बन्धी त्रास उत्पन्न होनेपर स्वरूपको समझनेकी रुचि उत्पन्न होती है। वस्तुको समझनेके लिये जो काल व्यतीत होता है वह भी ज्ञानकी क्रिया है, सत्का मार्ग है।

जिज्ञासुओंको पहिले ज्ञानस्वभाव आत्माका निर्णय करना चाहिए कि "मैं सदा एक ज्ञाता हूँ, मेरा स्वभाव ज्ञान है, वह जाननेवाला है, पुण्य-पापके भाव, या स्वर्ग-नरक आदि कोई मेरा स्वभाव नहीं है,-इसप्रकार श्रुतज्ञानके द्वारा आत्माका प्रथम निर्णय करना ही प्रथम उपाय है।

उपादान-निमित्त और कारण-कार्य

१—सच्चे श्रुतज्ञानके अवलम्बनके बिना और २-श्रुतज्ञानसे ज्ञानस्वभाव आत्माका निर्णय किये बिना आत्मा अनुभवमें नहीं आता। इसमें आत्माका अनुभव करना कार्य है, आत्माका निर्णय करना उपादान कारण है और श्रुतका अवलम्बन निमित्त कारण है। श्रुतके अवलम्बनसे ज्ञानस्वभावका जो निर्णय किया उसका फल उस निर्णयके अनुसार आचरण अर्थात् अनुभव करना है। आत्माका निर्णय कारण और आत्माका अनुभव कार्य है,-इसप्रकार यहाँ लिया गया है अर्थात् जो निर्णय करता है उसे अनुभव होता ही है,—ऐसी बात यहाँ है।

अन्तरंग अनुभवका उपाय अर्थात् ज्ञानकी क्रिया

अब यह बतलाते हैं कि आत्माका निर्णय करनेके बाद उसका प्रगट अनुभव कैसे करना चाहिये। निर्णयानुसार श्रद्धाका आचरण अनुभव है। प्रगट अनुभवमें शांतिका वेदन लानेके लिए अर्थात् आत्माकी प्रगट प्रसिद्धिके लिए परपदार्थकी प्रसिद्धिके कारणोंको छोड़ देना चाहिये। पहिले 'मैं ज्ञानानन्द स्वरूप आत्मा हूँ' ऐसा निश्चय करनेके बाद आत्माके आनन्दका प्रगट भोग करनेके लिये [वेदन या अनुभव करने के लिये], परपदार्थकी प्रसिद्धिके कारण,-जो इन्द्रिय और मनके द्वारा पराश्रयमें प्रवर्तमान ज्ञान है उसे स्व की ओर लाना, देव-गुरु-शास्त्र इत्यादि परपदार्थोंकी ओरका लक्ष तथा मनके अवलम्बनसे प्रवर्तमान बुद्धि अर्थात् मतिज्ञानको संकुचित करके-मर्यादामें लाकर स्वात्माभिमुख करना सो अंतरंग अनुभवका पथ है, सहज शीतल स्वरूप अनाकुल स्वभावकी छायामें प्रवेश करनेकी पहिली सीढ़ी है।

प्रथम, आत्मा ज्ञानस्वभाव है ऐसा भलीभाँति निश्चय करके फिर प्रगट अनुभव करनेके लिये परकी ओर जानेवाले भाव जो मति और श्रुतज्ञान हैं उन्हें अपनी ओर एकाग्र करना चाहिए। जो ज्ञान परमें विकल्प करके रुक जाता है अथवा मैं ज्ञान हूं, व मेरे ज्ञानादि हैं ऐसे विकल्पमें रुक जाता है उसी ज्ञानको वहांसे हटाकर स्वभावकी ओर लाना चाहिए। मति और श्रुतज्ञानके जो भाव हैं वे तो ज्ञानमें ही रहते हैं, किन्तु पहिले वे भाव परकी ओर जाते थे, अब उन्हें आत्मोन्मुख करने पर स्वभावका लक्ष होता है। आत्माके स्वभावमें एकाग्र होनेकी यह क्रमिक सीढ़ी है।

ज्ञानमें भव नहीं है

जिसने मनके अवलम्बनसे प्रवर्तमान ज्ञानको मनसे छुड़ाकर अपनी ओर किया है अर्थात् परपदार्थकी ओर जाते हुए मतिज्ञानको मर्यादामें लाकर आत्म-संमुख किया है उसके ज्ञानमें अनन्त संसारका नास्तिभाव और पूर्ण ज्ञानस्वभावका अस्तिभाव है। ऐसी समझ और ऐसा ज्ञान करनेमें अनन्त पुरुषार्थ है। स्वभावमें भव नहीं है इसलिये जिसका स्वभावकी ओरका पुरुषार्थ उदित हुआ है, उसे भवकी शंका नहीं रहती। जहाँ भवकी शंका है वहाँ सच्चा ज्ञान नहीं है, और जहां सच्चा ज्ञान है वहाँ भवकी शंका नहीं है। इस प्रकार ज्ञान और भवकी एक दूसरे में नास्ति है।

पुरुषार्थके द्वारा सत्समागमसे अकेले ज्ञानस्वभाव आत्माका निर्णय करनेके बाद 'मैं अबन्ध हूं या बन्धवान; शुद्ध हूं या अशुद्ध हूं, त्रिकाल हूं या क्षणिक हूं,' ऐसे जो वृत्तियाँ उठती हैं उनमें भी आत्म-शांति नहीं है, वे वृत्तियाँ आकुलतामय आत्म-शांतिकी विरोधिनी हैं। नयपक्षोंके अवलम्बनसे होनेवाले मन सम्बन्धी अनेक प्रकारके विकल्पोंको भी मर्यादामें लाकर अर्थात् उन विकल्पोंको रोकनेके पुरुषार्थसे श्रुतज्ञानको भी आत्म-सन्मुख करने पर शुद्धात्माका अनुभव होता है। इसप्रकार मति और श्रुतज्ञानको आत्मसन्मुख करना ही सम्यग्दर्शन है। इन्द्रिय और मनके अवलम्बनसे जो मतिज्ञान शब्दादि विषयोंमें प्रवृत्ति कर रहा था उसे और मनके अवलम्बनसे जो श्रुतज्ञान अनेक प्रकारके नयपक्षोंके विकल्पोंमें उलझ रहा था उसे-अर्थात् परावलम्बनसे प्रवर्तमान मतिज्ञान और श्रुतज्ञानको मर्यादामें लाकर-ज्ञानस्वभाव संमुख करके, उन ज्ञानोंके द्वारा एक ज्ञानस्वभावको पकड़कर (लक्षमें लेकर) निर्विकल्प होकर तत्काल निज रससे ही प्रगट होनेवाले शुद्धात्माका अनुभव करना चाहिए। वह अनुभव ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है।

इसप्रकार अनुभवमें आनेवाला शुद्धात्मा कैसा है ?

शुद्धात्मा आदि मध्य और अन्त रहित त्रिकाल एकरूप पूर्ण ज्ञानघन है; उसमें

बन्ध-मोक्ष नहीं है, वह अनाकुलता स्वरूप है। 'मैं शुद्ध हूँ या अशुद्ध हूँ' ऐसे विकल्पोंसे होनेवाली आकुलतासे रहित है। लक्षमेंसे पुण्य-पापका आश्रय छूटकर मात्र आत्मा ही अनुभवरूप है। केवल एक ज्ञानमात्र आत्मामें पुण्य-पापके कोई भाव नहीं हैं। मानों सम्पूर्ण विश्वके ऊपर तैर रहा हो अर्थात् समस्त विभावोंसे पृथक् हो गया हो ऐसा चैतन्यस्वभाव पृथक् अखण्ड प्रतिभासमय अनुभवमें आता है। आत्माका स्वभाव पुण्य-पापके ऊपर तैरता है, अर्थात् उनमें मिल नहीं जाता, एकमेक नहीं हो जाता या तद्रूप नहीं हो जाता, किन्तु उनसे अलगका अलग रहता है। वह अनन्त है, अर्थात् उसके स्वभावका कभी अन्त नहीं है; पुण्य-पाप अन्तवाले हैं, और ज्ञानस्वरूप अनन्त है तथा विज्ञानघन है। मात्र ज्ञानका ही पिण्ड है। मात्र ज्ञानपिण्डमें राग-द्वेष किंचित् मात्र भी नहीं है। अज्ञानभावसे रागादिका कर्ता था किन्तु स्वभावसे रागका कर्ता नहीं है। अखण्ड आत्मस्वभावका अनुभव होने पर जो जो अस्थिरताके विभाव थे उन सबसे पृथक् होकर जब यह आत्मा विज्ञानघन अर्थात् जिसमें कोई विकल्प प्रवेश नहीं कर सकते ऐसे ज्ञानके निविड़ पिण्डरूप परमात्मस्वरूप आत्माका अनुभव करता है तब वह स्वयं ही सम्यग्दर्शनस्वरूप है।

निश्चय और व्यवहार

इसमें निश्चय और व्यवहार दोनों आ जाते हैं। अखण्ड विज्ञानघनस्वरूप ज्ञान-स्वभाव आत्मा निश्चय है और परिणतिको स्वभाव-संमुख करना व्यवहार है। मति-श्रुत-ज्ञानको अपनी ओर लगा लेनेकी पुरुषार्थरूप जो पर्याय है सो व्यवहार है, और अखण्ड आत्मस्वभाव निश्चय है। जब मति-श्रुतज्ञानको स्वसंमुख किया और आत्मानुभव किया कि उसी समय आत्मा सम्यक्तया दिखाई देता है—उसकी श्रद्धा की जाती है। यह सम्यग्दर्शन प्रगट होनेके समयकी बात की है।

सम्यग्दर्शन होने पर क्या होता है ?

सम्यग्दर्शनके होनेपर स्वरसका अपूर्व आनन्द अनुभवमें आता है। आत्माका सहज आनन्द प्रगट होता है। आत्मिक आनन्द उछलने लगता है। अन्तरंगमें अपूर्व आत्मशान्तिका वेदन होता है। आत्माका जो सुख अन्तरंगमें है वह अनुभवमें आता है। इस अपूर्व सुखका मार्ग सम्यग्दर्शन ही है। 'मैं भगवान आत्मा चैतन्यस्वरूप हूँ' इसप्रकार जो निर्विकल्प शांतरस अनुभवमें आता है वही शुद्धात्मा अर्थात् सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान है। यहाँ सम्यग्दर्शन और आत्मा दोनों अभेदरूप लिये गये हैं। आत्मा स्वयं सम्यग्दर्शनस्वरूप है।

बारम्बार ज्ञानमें एकाग्रताका अभ्यास करना चाहिए

सर्वप्रथम आत्माका निर्णय करके फिर अनुभव करनेको कहा है। सबसे पहिले

जबतक यह निर्णय नहीं होता कि-'मैं निश्चय ज्ञानस्वरूप हूं, दूसरा कोई रागादि मेरा स्वरूप नही है,' तबतक सच्चे श्रुतज्ञानको पहिचान कर उसका परिचय करना चाहिए।

सत् श्रुतके परिचयसे ज्ञानस्वभाव आत्माका निर्णय करनेके बाद मति-श्रुतज्ञानको उस ज्ञानस्वभावकी ओर ले जानेका प्रयत्न करना, निर्विकल्प होनेका प्रयत्न करना ही प्रथम अर्थात् सम्यग्दर्शनका .मार्ग है। इसमें तो बारम्बार ज्ञानमें एकाग्रताका प्रयास ही करना है, बाह्यमें कुछ करनेकी बात नही है; किन्तु ज्ञानमे ही समझ और एकाग्रताका प्रयास करनेकी बात है। ज्ञानमें अभ्यास करते-करते एकाग्र हुआ वहां उसी समय सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानरूपसे यह आत्मा प्रगट होता है। यही जन्म-मरणको दूर करनेका उपाय है। एक मात्र ज्ञाता स्वभाव है, उसमें दूसरा कुछ करनेका स्वभाव नही है। निर्विकल्प अनुभव होनेसे पूर्व ऐसा निश्चय करना चाहिए। इसके अतिरिक्त दूसरा कुछ माने तो समझना चाहिए कि उसे व्यवहारसे भी आत्माका निश्चय नही है। अनन्त उपवास करने पर भी आत्मज्ञान नही होता, बाहरकी दौड़-धूपमें भी ज्ञान नही होता, किन्तु ज्ञानस्वभावकी पकड़से ही ज्ञान होता है। आत्माकी ओर लक्ष और श्रद्धा किये बिना सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान कहाँ से हो सकता है? पहिले देव-गुरु-शास्त्रके निमित्तों से अनेक प्रकारसे श्रुतज्ञान जानता है और उन सबमेसे एक आत्माको निकाल लेता है, और फिर उसका लक्ष करके प्रगट अनुभव करनेके लिये, मति-श्रुतज्ञानके बाहर झुकने वाली पर्यायोंको स्वसन्मुख करता हुआ तत्काल निर्विकल्प निजस्वभाव-रस आनन्दका अनुभव होता है। जब आत्मा परमात्मस्वरूपका अनुभव करता है उसी समय आत्मा स्वयं सम्यग्दर्शनरूप प्रगट होता है, उसे बादमे विकल्प उठने पर भी उसकी प्रतीति बनी रहती है, अर्थात् आत्मानुभवके बाद विकल्प उठे तो उससे सम्यग्दर्शन चला नही जाता। निज स्वरूप ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है।

सम्यग्दर्शनसे ज्ञानस्वभाव आत्माका निश्चय करनेके बाद भी शुभभाव आते तो हैं किन्तु आत्महित तो ज्ञानस्वभावका निश्चय और आश्रय करनेसे ही होता है। जैसे-जैसे ज्ञानस्वभावकी दृढता बढती जाती है वैसे वैसे ही शुभभाव भी हटते जाते हैं। परोन्मुखतासे जो वेदन होता है वह सब दुःखरूप है, अन्तरंगमें शांतरसकी ही मूर्ति आत्मा है। उसके अभेद लक्षसे जो वेदन होता है वही सुख है। सम्यग्दर्शन आत्माका गुण है, गुण-गुणीसे अलग नहीं होता। ज्ञानादि अनन्त गुणोंका पिंड एक अखण्ड प्रतिभासमय आत्माका निःशंक अनुभव ही सम्यग्दर्शन है।

अंतिम अभिप्राय

यह आत्मकल्याणका छोटेसे छोटा (जिसे सब कर सकें ऐसा) उपाय है। दूसरे सब उपाय छोड़कर यही एक करना है। हितका साधन बाहरमें किंचित् मात्र नहीं है। सत्समागमसे एक आत्माका ही निश्चय करना चाहिए। वास्तविक तत्त्वकी श्रद्धाके बिना अंतरंग वेदनका आनन्द नहीं आ सकता। पहिले भीतरसे सत्की स्वीकृति आये बिना सत्-स्वरूपका ज्ञान नहीं होता और सत्-स्वरूपके ज्ञानके बिना भवबंधनकी बेड़ी नहीं टूटती। भवबंधनका अन्त आये बिना यह जीवन किस कामका? सच्चे सत्की श्रद्धाके बिना कदाचित् पुण्य करे तो उसका फल राजपद या इन्द्रपद मिलता है किन्तु उसमें आत्माको क्या है? आत्मप्रतीतिके बिना पुण्य-पापकी प्रवृत्ति सब पुण्य और इन्द्रपद आदि करे है, उसमें आत्मशान्तिका अंश तक नहीं होता, इसलिये पहिले श्रुतज्ञान द्वारा आत्मस्वभावका दृढ़ निश्चय करना चाहिये फिर प्रतीतिमें भवकी शंका ही नहीं रहती, और जितनी ज्ञानकी दृढ़ता होती है उतनी शांति बढ़ती जाती है।

प्रभो! तू कैसा है, तेरी प्रभुताकी महिमा कैसी है, यह तूने नहीं जान पाया। अपनी प्रभुताकी प्रतीति किये बिना तू बाहरमें चाहे जिसके गीत गाता फिरे तो उससे कहीं तुझे अपनी प्रभुताका लाभ नहीं हो सकता। अभी तक दूसरेके गीत गाये हैं किन्तु अपने गीत नहीं गाये। तू भगवानकी प्रतिमाके सन्मुख खड़ा होकर कहता है कि—हे भगवान्! हे नाथ! आप अनन्त ज्ञानके धनी हो, वहाँ सामनेसे भी ऐसी ही आवाज आती है—ऐसी ही प्रतिध्वनि होती है कि—हे भगवान्! हे नाथ! आप अनन्त ज्ञानके धनी हैं...यदि अन्तरंगमें पहिचान हो तभी तो उसे समझेगा? बिना पहिचानके भीतरसे सच्ची प्रतिध्वनि (निःशंकता) नहीं पड़ती।

शुद्धात्मस्वरूपका वेदन कहो, ज्ञान कहो, श्रद्धा कहो, चारित्र कहो, अनुभव कहो या साक्षात्कार कहो,—जो कहो सो यह एक आत्मा ही है। अधिक क्या कहें? जो कुछ है सो यह एक आत्मा ही है, उसीको भिन्न-भिन्न नामोंसे कहा जाता है। केवलीपद सिद्धपद या साधुपद यह सब एक आत्मामें ही समाविष्ट होते हैं। समाधिमरण, आराधना इत्यादि नाम भी स्वरूपकी स्थिरता ही हैं। इसप्रकार आत्मस्वरूपकी समझ ही सम्यग्दर्शन है और यह सम्यग्दर्शन ही सर्व धर्मोंका मूल है। सम्यग्दर्शन ही आत्मा का धर्म है।



प्रथम अध्यायका परिशिष्ट

[४]

मोक्षशास्त्र अध्याय एक (१), सूत्र २ में 'तत्त्वार्थ श्रद्धान' को सम्यग्दर्शनका लक्षण कहा है; उस लक्षणमें अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असम्भव दोषका परिहार।

अव्याप्ति दोषका परिहार

(१) प्रश्नः—तिर्यंचादि कितने ही तुच्छज्ञानी जीव सात तत्त्वोंके नाम तक नहीं जान सकते तथापि उनके भी सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति शास्त्रोंमें कही गई है, इसलिये आपने जो सम्यग्दर्शनका लक्षण तत्त्वार्थ श्रद्धान (तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्) कहा है उसमें अव्याप्ति दोष आता है।

उत्तरः—जीव-अजीवादिके नामादिको जाने या न जाने अथवा जाने, किन्तु उनके स्वरूपको यथार्थ जानकर श्रद्धान करने पर सम्यक्त्व होता है। उसमें कोई तो सामान्य-तया स्वरूपको पहिचानकर श्रद्धान करता है। और कोई विशेष तया स्वरूपको पहिचानकर श्रद्धान करता है। तिर्यंचादि तुच्छज्ञानी सम्यग्दृष्टि जीवादिके नाम भी नहीं जानते तथापि वे सामान्यरूपसे उसका स्वरूप पहिचानकर श्रद्धान करते हैं इसलिये उन्हें सम्यक्त्वकी प्राप्ति होती है। जैसे कोई तिर्यंच अपना या दूसरोंका नामादि तो नहीं जानता किन्तु अपनेमें ही अपनापन तथा अन्यको पर मानता है, इसीप्रकार तुच्छज्ञानी जीव-अजीवके नाम न जाने फिर भी वह अनादिस्वरूप आत्मामें स्वत्व मानता है तथापि शरीरादिको पर मानता है, ऐसा श्रद्धान उसे होता है और यही जीव-अजीवका श्रद्धान है। और फिर जैसे वही तिर्यंच सुखादिके नामादि तो नहीं जानता तथापि सुखावस्थाको पहिचानकर तदर्थ भावी दुःखोंके कारणोंको पहिचानकर उनका त्याग करना चाहता है तथा वर्तमानमें जो दुःखके कारण बने हुए हैं उनके अभावका उपाय करता है; इसीप्रकार तुच्छज्ञानी मोक्षादिके नाम नहीं जानता फिर भी सर्वथा सुखरूप मोक्षअवस्थाका श्रद्धान करके उसके लिए भाविबन्धनके कारणरूप रागादि आश्रवभावके त्यागरूप संवरको करना चाहता है, तथा जो संसार-दुःखके कारण हैं उसकी शुद्ध भावसे निर्जरा करना चाहता है। इसप्रकार उसे आश्रवादिका श्रद्धान है। इसीप्रकार उसे भी सात तत्त्वोंका श्रद्धान होता है। यदि उसे ऐसा श्रद्धान न हो तो रागादिको छोड़कर शुद्धभाव करनेकी इच्छा नहीं हो सकती। सो ही यहाँ कहनेमें आता है।

यदि जीवकी जातिको न जाने—स्वपरको न पहिचाने तो वह परमें रागादि क्यों न करे? यदि रागादिको न पहिचाने तो वह उनका त्याग क्यों करना चाहेगा? और रागादि ही आस्रव है, तथा रागादिका फल बुरा है, यह न जाने तो वह रागादिको क्यों छोड़ना चाहेगा? रागादिका फल ही बंध है। यदि रागादि रहित परिणामोंको पहिचानेगा तो तद्रूप होना चाहेगा। रागादि रहित परिणामका नाम ही संवर है। और पूर्व संसारावस्थाका जो कारण विभावभाव है उसकी हानिको वह पहिचानता है और तदर्थ वह शुद्धभाव करना चाहता है। 'पूर्व संसारावस्थाका कारण विभावभाव है, और उसकी हानि होना ही निर्जरा है। यदि संसारावस्थाके अभावको न पहिचाने तो वह संवर-निर्जरारूप प्रवृत्ति क्यों करे? और संसारावस्थाका अभाव ही मोक्ष है। इसप्रकार सातों तत्त्वोंका श्रद्धान होते ही रागादिको छोड़कर शुद्धभावरूप होनेकी इच्छा उत्पन्न होती है। यदि इनमेंसे एक भी तत्त्वका श्रद्धान न हो तो ऐसी इच्छा न हो। ऐसी इच्छा उन तुच्छज्ञानी तिर्यंचादिक सम्यग्दृष्टियोंके अवश्य होती है, इसलिये यह निश्चय समझना चाहिए कि उनके सात तत्त्वोंका श्रद्धान होता है। यद्यपि ज्ञानावरणका क्षयोपशम अल्प होनेसे उन्हें विशेषरूपसे तत्त्वोंका ज्ञान नहीं होता, फिर भी मिथ्यादर्शनके उपशमादिसे सामान्यतया तत्त्वश्रद्धानकी शक्ति प्रगट होती है। इसप्रकार इस लक्षणमें अव्याप्ति दोष नहीं आता।

(२) प्रश्न—जिस समय सम्यग्दृष्टि जीव विषय-कार्योंमें प्रवृत्ति करता है उस समय उसे सात तत्त्वोंका विचार ही नहीं होता तब, फिर वहाँ श्रद्धान कैसे सम्भव है? और सम्यक्त्व तो उसे रहता ही है, इसलिए इस लक्षणमें अव्याप्ति दोष आता है।

उत्तर:—विचार तो उपयोगाधीन होता है। जहाँ उपयोग जुड़ता है उसीका विचार होता है, किन्तु श्रद्धान तो निरन्तर शुद्ध प्रतीतिरूप है। इसलिए अन्य ज्ञेयका विचार होने पर; शयनादि क्रिया होने पर यद्यपि तत्त्वोंका विचार नहीं होता तथापि उसकी प्रतीति तो सदा स्थिर बनी ही रहती है, नष्ट नहीं होती, इसलिए उसके सम्यक्त्वका सद्भाव है। जैसे किसी रोगी पुरुषको यह प्रतीति है कि—'मैं मनुष्य हूं तिर्यंच नहीं, मुझे अमुक कारणसे रोग हुआ है, और अब मुझे यह कारण मिटाकर रोगको कम करके निरोग होना चाहिए'। वही मनुष्य जब अन्य विचारादिरूप प्रवृत्ति करता है तब उसे ऐसा विचार नहीं होता, किन्तु श्रद्धान तो ऐसा ही बना रहता है। इसीप्रकार इस आत्माको ऐसी प्रतीति तो है कि—'मैं आत्मा हूं—पुद्गलादि नहीं। मुझे आस्रवसे बंध हुआ है किन्तु अब मुझे संवरके द्वारा निर्जरा करके मोक्षरूप होना है।' अब वही आत्मा जब अन्य विचारादिरूप प्रवृत्ति करता है तब उसे वैसा विचार नहीं होता, किन्तु श्रद्धान तो ऐसा ही रहा करता है।

प्रश्नः—यदि उसे ऐसा श्रद्धान रहता है तो फिर वह बन्ध होनेके कारणोंमें क्यों प्रवृत्त होता है ?

उत्तरः—जैसे कोई मनुष्य किसी कारणसे रोग बढनेके कारणोंमे भी प्रवृत्त होता है; व्यापारादि कार्य या क्रोधादि कार्य करता है फिर भी उसके उस श्रद्धानका नाश नहीं होता, इसीप्रकार यह आत्मा पुरुषार्थकी अशक्तिके वशीभूत होनेसे बन्ध होनेके कारणोमें भी प्रवृत्त होता है, विषय सेवनादि तथा क्रोधादि कार्य करता है तथापि उसके उस श्रद्धानका नाश नहीं होता, इसप्रकार सात तत्त्वोका विचार न होने पर भी उनमें श्रद्धानका सद्भाव है, इसलिये वहाँ अव्याप्ति दोष नही आता।

प्रश्नः—जहाँ उच्च दशामे निर्विकल्प आत्मानुभव होता है वहाँ सात तत्त्वादिके विकल्पका भी निषेध किया है। तब सम्यक्त्वके लक्षणका निषेध करना कैसे सम्भव है और यदि वहाँ निषेध सम्भव है तो अव्याप्ति दोष आ जायगा।

उत्तरः—निम्नदशा मे सात तत्त्वोके विकल्पमें उपयोग लगाकर प्रतीतिको दृढ किया तथा उपयोगको विषयादिसे छुडाकर रागादिक कम किये, अब उस कार्यके सिद्ध होने पर उन्ही कारणोंका निषेध करते हैं। क्योकि जहाँ प्रतीति भी दृढ हो गई तथा रागादि भी दूर हो गये वहाँ अब उपयोगको घुमानेका खेद क्यों किया जाय ? इसलिये वहा इन विकल्पोंका निषेध किया है और फिर सम्यक्त्वका लक्षण तो प्रतीति ही है, उसका (उस प्रतीतिका) वहां निषेध तो किया नही है। यदि प्रतीति छुडाई होती तो उस लक्षणका निषेध किया कहलाता, किन्तु ऐसा तो है नहीं। तत्त्वोंकी प्रतीति वहाँ भी स्थिर बनी रहती है, इसलिये यहां अव्याप्ति दोष नही आता।

(४) प्रश्नः—छद्मस्थके प्रतीति-अप्रतीति कहना संभवित है, इसलिये वहाँ सात तत्त्वोंकी प्रतीतिको सम्यक्त्वका लक्षण कहा है,—जिसे हम मानते हैं, किन्तु केवली और सिद्ध भगवानको तो सबका ज्ञातृत्व समानरूपसे है इसलिये वहाँ सात तत्त्वोंकी प्रतीति कहना संभवित नही होती। और उनके सम्यक्त्वगुण तो होता ही है, इसलिये वहाँ इस लक्षणमें अव्याप्ति दोष आता।

उत्तरः—जैसे छद्मस्थको श्रुतज्ञानके अनुसार प्रतीति होती है उसीप्रकार केवली और सिद्धभगवानको केवलज्ञानके अनुसार ही प्रतीति होती है। जिन सात तत्त्वोका स्वरूप पहिले निर्णीत किया था वही अब केवलज्ञानके द्वारा जाना है, इसलिये वहां प्रतीतिमें परम अवगाढत्व हुआ, इसलिये वहां परमावगाढ सम्यक्त्व कहा है। किन्तु पहले जो श्रद्धान किया था उसे यदि झूठ जाना हो तो वहा अप्रतीति होती, किन्तु जैसे सात तत्त्वोका श्रद्धान

छद्मस्थको हुआ था वैसा ही केवली, सिद्ध भगवानको भी होता है इसलिये ज्ञानादिकी हीनाधिकता होने पर भी तिर्यंचादिक और केवली सिद्ध भगवानके सम्यक्त्वगुण तो समान ही कहा है। और पूर्वावस्थामें वह यह मानता था कि—संवर-निर्जराके द्वारा मोक्षका उपाय करना चाहिए और अब मुक्तावस्था होने पर यह मानने लगा कि—संवर-निर्जरा के द्वारा मुझे मुक्तावस्था प्राप्त हुई है। पहिले ज्ञानकी हीनतासे जीवादिके थोड़े भेदोंको जानता था और अब केवलज्ञान होने पर उसके सर्व भेदोंको जानता है किन्तु मूलभूत जीवादिके स्वरूपका श्रद्धान जैसा छद्मस्थको होता है वैसा ही केवली को भी होता है। यद्यपि केवली-सिद्ध भगवान अन्य पदार्थोंको भी प्रतीति सहित जानते हैं तथापि वे पदार्थ प्रयोजनभूत नहीं हैं इसलिये सम्यक्त्वगुणमें सात तत्त्वोंका श्रद्धान ही ग्रहण किया है। केवली-सिद्ध भगवान रागादिरूप परिणमित नहीं होते और संसारावस्थाको नहीं चाहते, सो यह श्रद्धाका ही बल जानना चाहिए।

प्रश्नः—जबकि सम्यग्दर्शनको मोक्षमार्ग कहा है तब फिर उसका सद्भाव मोक्षमें कैसे हो सकता है?

उत्तरः—कोई कारण ऐसे भी होते हैं जो कार्यके सिद्ध होने पर भी नष्ट नहीं होते। जैसे किसी वृक्षकी एक शाखासे अनेक शाखायुक्त अवस्था हुई हो, तो उसके होने पर भी वह एक शाखा नष्ट नहीं होती, इसीप्रकार किसी आत्माको सम्यक्त्वगुणके द्वारा अनेक गुणयुक्त मोक्ष अवस्था प्रगट हुई किन्तु उसके होने पर भी सम्यक्त्वगुण नष्ट नहीं होता। इसप्रकार केवली सिद्धभगवानके भी तत्त्वार्थश्रद्धान लक्षण होता ही है। इसलिये यहाँ अव्याप्ति दोष नहीं आता।

अतिव्याप्ति दोषका परिहार

प्रश्न—शास्त्रोंमें यह निरूपण किया गया है कि मिथ्यादृष्टिके भी तत्त्वार्थश्रद्धान होता है, और श्री प्रवचनसारमें आत्मज्ञानशून्य तत्त्वार्थश्रद्धान अकार्यकारी कहा है। इसलिए सम्यक्त्वका जो लक्षण 'तत्त्वार्थश्रद्धान' कहा है उसमें अतिव्याप्ति दोष आता है।

उत्तरः—मिथ्यादृष्टिके जो तत्त्वार्थश्रद्धान बताया है वह नाम निक्षेपसे है। जिसमें तत्त्वश्रद्धानका गुण तो नहीं है किन्तु व्यवहारमें जिसका नाम तत्त्वश्रद्धान कहते हैं वह मिथ्यादृष्टिके होता है, अथवा आगमद्रव्यनिक्षेपसे होता है—अर्थात् तत्त्वार्थश्रद्धानके प्रतिपादक शास्त्रोंका अभ्यास है किन्तु उनके स्वरूपका निश्चय करनेमें उपयोग नहीं लगाता ऐसा जानना चाहिये। और यहाँ जो सम्यक्त्वका लक्षण [illegible] तत्त्वार्थश्रद्धान कहा है।

वह तो भावनिक्षेपसे कहा है, अर्थात् गुणसहित सच्चा तत्त्वार्थश्रद्धान मिथ्यादृष्टिके कभी भी नहीं होता। और जो आत्मज्ञानशून्य तत्वार्थश्रद्धान कहा है वहाँ भी यही अर्थ समझना चाहिये, क्योंकि जिसे जीव-अजीवादिका सच्चा श्रद्धान होता है उसे आत्मज्ञान क्यों न होगा ? अवश्य होगा। इसप्रकार किसी भी मिथ्यादृष्टिको सच्चा तत्वार्थश्रद्धान सर्वथा नहीं होता, इसलिये इस लक्षणमें अतिव्याप्ति दोष नहीं आता।

असंभव दोषका परिहार

और जो यह 'तत्वार्थश्रद्धान' लक्षण कहा है सो असंभवदूषणयुक्त भी नहीं है। क्योंकि सम्यक्त्वका प्रतिपक्षी मिथ्यात्व ही है और उसका लक्षण इससे विपरीततायुक्त है।

इसप्रकार अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असंभव दोषोंसे रहित तत्वार्थश्रद्धान सभी सम्यग्दृष्टियोंके होता है और किसी भी मिथ्यादृष्टिके नही होता, इसलिये सम्यग्दर्शनका यथार्थ लक्षण तत्वार्थश्रद्धान ही है।

(आधुनिक हिन्दी मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ ३२१ से ३२५)

विशेष स्पष्टीकरण

(१) प्रश्नः—यहां सात तत्वोंके श्रद्धानका नियम कहा है किन्तु वह ठीक नहीं बैठता, क्योंकि कहीं कहीं परसे भिन्न अपने श्रद्धानको भी (आत्मश्रद्धानको भी) सम्यक्त्व कहा है। श्री समयसारमें 'एकत्वे नियतस्य' इत्यादि कलशमें यह कहा है कि—'आत्माका परद्रव्यसे भिन्न अवलोकन ही नियमतः सम्यग्दर्शन है, इसलिये नव तत्वकी संततिको छोड़कर हमें तो यह एक आत्मा ही प्राप्त हो।' और कहीं कहीं एक आत्माके निश्चयको ही सम्यक्त्व कहा है। श्री पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें 'दर्शनमात्मविनिश्चितिः' ऐसा पद है, उसका भी यही अर्थ है, इसलिये जीव-अजीवका ही या केवल जीवका ही श्रद्धान होनेपर भी सम्यक्त्व होता है। यदि सात तत्वोंके श्रद्धानका ही नियम होता तो ऐसा क्यों लिखते ?

उत्तरः—परसे भिन्न जो अपना श्रद्धान होता है वह आश्रवादिके श्रद्धानसे रहित होता है या सहित होता है ? यदि रहित होता है तो मोक्षके श्रद्धानके विना वह किस प्रयोजनके लिये ऐसा उपाय करता है ? संवर-निर्जराके श्रद्धानके विना रागादि रहित होकर अपने स्वरूपमें उपयोग लगाने का उद्यम क्यों करता है ? आश्रव-बंधके श्रद्धानके विना वह पूर्वावस्थाको क्यों छोड़ता है ? क्योंकि आश्रवादिके श्रद्धानसे रहित स्व-परका श्रद्धान करना सम्भवित नहीं है; और यदि आस्रवादिके श्रद्धानसे युक्त है तो वहां स्वयं सातों तत्वोंके श्रद्धानका नियम हुआ। और जहां केवल आत्माका निश्चय है वहाँ भी परका पररूपश्रद्धान

हुए बिना आत्माका श्रद्धान नहीं होता। इसलिये अजीवका श्रद्धान होते ही जीवका श्रद्धान होता है, और पहिले कहे अनुसार आस्रवादिका श्रद्धान भी वहाँ अवश्य होता है, इसलिये यहाँ भी सातों तत्त्वोंके ही श्रद्धानका नियम समझना चाहिये।

दूसरे, आस्रवादिके श्रद्धान बिना स्व-परका श्रद्धान अथवा केवल आत्माका श्रद्धान सच्चा नहीं होता, क्योंकि आत्मद्रव्य शुद्ध-अशुद्ध पर्याय सहित है इसलिये जैसे तंतुके अवलोकनके बिना पटका अवलोकन नहीं होता उसी प्रकार शुद्ध-अशुद्ध पर्यायको पहिले पहिचाने बिना आत्मद्रव्यका श्रद्धान भी नहीं हो सकता, और शुद्ध-अशुद्ध अवस्थाकी पहिचान आस्रवादिकी पहिचानसे होती है। आस्रवादिके श्रद्धानके बिना स्व-परका श्रद्धान या केवल आत्माका श्रद्धान कार्यकारी नहीं है, क्योंकि ऐसा श्रद्धान करो या न करो, जो स्व है सो स्व ही है और जो पर है सो पर ही है। और आस्रवादिका श्रद्धान हो तो आस्रव-बंधका अभाव करके संवर-निर्जरारूप उपायसे वह मोक्षपदको प्राप्त हो। जो स्व-परका श्रद्धान कराया जाता है वह भी इसी प्रयोजनके लिये कराया जाता है। इसलिये आस्रवादिके श्रद्धानसे युक्त स्व-परका जानना या स्व का जानना कार्यकारी है।

(२) प्रश्न.—यदि ऐसा है तो शास्त्रोंमें जो स्व-परके श्रद्धानको या केवल आत्माके श्रद्धानको ही सम्यक्त्व कहा है और कार्यकारी कहा है और कहा है कि नव तत्त्वोंकी संततिको छोड़कर हमें तो एक आत्मा ही प्राप्त हो, सो ऐसा क्यों कहा है?

उत्तर:—जिसे स्व-परका या आत्माका सत्य श्रद्धान होता है उसे सातों तत्त्वोंका श्रद्धान अवश्य होता है और जिसे सातों तत्त्वोंका सत्य श्रद्धान होता है उसे स्व-परका तथा आत्माका श्रद्धान अवश्य होता है, ऐसा परस्पर अविनाभावी सम्बन्ध जानकर स्व-परके श्रद्धानको तथा आत्मश्रद्धान होनेको सम्यक्त्व कहा है। किन्तु यदि कोई सामान्यतया स्व-परको जानकर या आत्माको जानकर कृत-कृत्यता मान ले तो यह उसका कोरा भ्रम है। क्योंकि ऐसा कहा है कि 'निर्विशेषं हि सामान्यं भवेत्खरविषाणवत्' अर्थात् विशेष रहित सामान्य गधेके सींगके समान है। इसलिये प्रयोजनभूत आस्रवादि विशेषोंसे युक्त स्व-परका या आत्माका श्रद्धान करना योग्य है अथवा सातों तत्त्वार्थोंके श्रद्धानसे जो रागादिको मिटानेके लिये पर द्रव्योंको भिन्न चिन्तवन करता है या अपने आत्माका चिन्तवन करता है उसे प्रयोजनकी सिद्धि होती है इसलिये मुख्यतया भेदविज्ञानको या आत्मज्ञानको कार्यकारी कहा है। तत्त्वार्थश्रद्धान किये बिना सब कुछ जानना कार्यकारी नहीं है, क्योंकि प्रयोजन तो रागादिक मिटाना है, इसलिये आस्रवादिके श्रद्धानके बिना यह प्रयोजन भासित नहीं होता तब केवल जाननेहीसे मानको बढ़ाए और रागादिक न छोड़े तो उसका कार्य कैसे सिद्ध होगा?

दूसरे, जहां नव तत्त्वकी संतति छोड़नेको कहा है वहाँ पहिले नव तत्त्वके विचारसे सम्यग्दर्शन हुआ और फिर निर्विकल्प दशा होनेके लिए नव तत्त्वोंका विकल्प भी छोड़नेकी इच्छा की, किन्तु जिसे पहिलेसे ही नव तत्त्वोंका विचार नहीं है उसे उन विकल्पोंको छोड़नेका क्या प्रयोजन है ? इससे तो अपनेको जो अनेक विकल्प होते हैं उन्हीका त्याग करो। इसप्रकार स्व-परके श्रद्धानमें या आत्म-श्रद्धानमें अथवा नव तत्त्वोंके श्रद्धानमें सात तत्त्वोंके श्रद्धानकी सापेक्षता होती है, इसलिये तत्त्वार्थश्रद्धान सम्यक्त्वका लक्षण है।

(३) प्रश्नः—अब फिर जो कहीं-कहीं शास्त्रोंमें अरहन्तदेव निर्ग्रन्थ और हिंसादि रहित धर्मके श्रद्धानको सम्यक्त्व कहा है सो कैसे ?

उत्तरः—अरहन्त देवादिका श्रद्धान होनेसे और कुदेवादिका श्रद्धान दूर होनेसे गृहीत मिथ्यात्वका अभाव होता है, इस अपेक्षासे उसे सम्यग्दृष्टि कहा है, किन्तु सम्यक्त्वका सर्वथा लक्षण यह नहीं है, क्योंकि-द्रव्यलिंगी मुनि आदि व्यवहार धर्मके धारक मिथ्यादृष्टियोंको भी ऐसा श्रद्धान होता है। अरहन्त देवादिका श्रद्धान होनेपर सम्यक्त्व हो या न हो किन्तु अरहन्तादिका श्रद्धान हुए विना तत्त्वार्थश्रद्धानरूप सम्यक्त्व कभी भी नहीं होता। इसलिए अरहन्तादिके श्रद्धानको अन्वयरूप कारण जानकर कारणमें कार्यका उपचार करके इस श्रद्धानको सम्यक्त्व कहा है। और इसीलिए उसका नाम व्यवहारसम्यक्त्व है। अथवा जिसे तत्त्वार्थश्रद्धान होता है उसे सच्चे अरहन्तादिके स्वरूपका श्रद्धान अवश्य होता है। तत्त्वार्थ-श्रद्धानके विना अरहन्तादिका श्रद्धान पक्षसे करे तथापि यथावत् स्वरूपकी पहिचान सहित श्रद्धान नहीं होता, तथा जिसे सच्चे अरहन्तादिके स्वरूपका श्रद्धान हो उसे तत्त्वार्थश्रद्धान अवश्य ही होता है, क्योंकि अरहन्तादिके स्वरूपको पहिचानने पर जीव-अजीव आस्रवादिकी पहिचान होती है। इसप्रकार उसे परस्पर अविनाभावी जानकर कहीं कहीं अरहन्तादिके श्रद्धानको सम्यक्त्व कहा है।

(४) प्रश्नः—नरकादिके जीवोंको देव-कुदेवादिका व्यवहार नहीं है फिर भी उनको सम्यक्त्व होता है, इसलिए सम्यक्त्वके होनेपर अरहंतादिका श्रद्धान होता ही है, ऐसा नियम संभवित नहीं है।

उत्तरः—सात तत्त्वोंके श्रद्धानमें अरहन्तादिका श्रद्धान गर्भित है, क्योंकि वह तत्त्व-श्रद्धानमें मोक्ष तत्त्वको सर्वोत्कृष्ट मानता है। और मोक्षतत्त्व अरहन्त सिद्धका ही लक्षण है। तथा जो लक्षणको उत्कृष्ट मानता है वह उसके लक्ष्यको भी उत्कृष्ट अवश्य मानेगा। इसलिये उन्हींको सर्वोत्कृष्ट माना और अन्यको नहीं माना यही उसे देवका श्रद्धान हुआ कहलाया।

और मोक्षका कारण संवर-निर्जरा है इसलिये उसे भी वह उत्कृष्ट मानता है, तथा संवर-निर्जराके धारक मुख्यतया मुनिराज हैं इसलिये वह मुनिराजको उत्तम मानता है और अन्यको उत्तम नहीं मानता, यही उसका गुरुका श्रद्धान है। और रागादि रहित भावका नाम अहिंसा है, उसे वह उपादेय मानता है तथा अन्यको नहीं मानता, यही उसका धर्मका श्रद्धान है। इसप्रकार तत्त्वार्थ-श्रद्धानमें अरहन्त देवादिका श्रद्धान भी गर्भित है। अथवा जिस निमित्तसे उसे तत्त्वार्थश्रद्धान होता है उसी निमित्तसे अरहन्तदेवादिका भी श्रद्धान होता है, इसलिये सम्यग्दर्शनमें देवादिके श्रद्धानका नियम है।

(५) प्रश्न—कोई जीव अरहन्तादिका श्रद्धान करता है, उनके गुणोंको पहिचानता है फिर भी उसे तत्त्वश्रद्धानरूप सम्यक्त्व नहीं होता, इसलिये जिसे सच्चे अरहन्तादिकका श्रद्धान होता है उसे तत्त्वश्रद्धान अवश्य होता ही है, ऐसा नियम सम्भवित नहीं होता।

उत्तरः—तत्त्वश्रद्धानके बिना वह अरिहन्तादिके ४६ आदि गुणोंको जानता है, वहाँ पर्यायाश्रित गुणोंको भी नहीं जानता, क्योंकि जीव-अजीवकी जातिको पहिचाने बिना अरहन्तादिके आत्माश्रित और शरीराश्रित गुणोंको वह भिन्न नहीं जानता, यदि जाने तो वह अपने आत्माको परद्रव्यसे भिन्न क्यों न माने? इसलिये श्री प्रवचनसारमें कहा है कि—

जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं।
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं ॥ ८० ॥

अर्थ—जो अरहन्तको द्रव्यत्व, गुणत्व, और पर्यायत्वसे जानता है वह आत्माको जानता है और उसका मोह नाशको प्राप्त होता है इसलिये जिसे जीवादि तत्त्वोंका श्रद्धान नहीं है उसे अरहन्तादिका भी सच्चा श्रद्धान नहीं है। और वह मोक्षादि तत्त्वोंके श्रद्धानके बिना अरहन्तादिका माहात्म्य भी यथार्थ नहीं जानता। मात्र लौकिक अतिशयादिसे अरहन्तका, तपश्चरणादिसे गुरुका और परजीवोंकी अहिंसादिसे धर्मका माहात्म्य जानता है, किन्तु वह तो पराश्रितभाव है और अरिहन्तादिका स्वरूप तो आत्माश्रित भावों द्वारा तत्त्वश्रद्धान होने से ज्ञात होता है, इसलिये जिसे अरहन्तादिका सच्चा श्रद्धान होता है उसे तत्त्वश्रद्धान अवश्य होता है ऐसा नियम समझना चाहिए। इसप्रकार सम्यक्त्वका लक्षण-निर्देश किया है।

प्रश्न ६—यथार्थ तत्त्वार्थश्रद्धान, स्व-परका श्रद्धान, आत्मश्रद्धान, तथा देव-गुरु धर्मका श्रद्धान सम्यक्त्वका लक्षण कहा है और इन सब लक्षणोंकी परस्पर एकता भी बताई है-सो वह तो जान लिया, किन्तु इसप्रकार अन्य अन्य प्रकारसे लक्षण करनेका क्या प्रयोजन है?

उत्तरः—जो चार लक्षण कहे हैं उनमें सच्ची दृष्टि पूर्वक कोई एक लक्षण ग्रहण करनेपर चारों लक्षणोंका ग्रहण होता है तथापि मुख्य प्रयोजन भिन्न भिन्न समझकर अन्य अन्य प्रकारसे यह लक्षण कहे हैं।

१—जहाँ तत्त्वार्थश्रद्धान लक्षण कहा है वहाँ यह प्रयोजन है कि—यदि इन तत्त्वोंको पहिचाने तो वस्तुके यथार्थ स्वरूपका व हिताहितका श्रद्धान करके मोक्षमार्गमें प्रवृत्ति करे।

२—जहाँ स्व-पर भिन्नताका श्रद्धानरूप लक्षण कहा है वहाँ जिससे तत्त्वार्थ-श्रद्धानका प्रयोजन सिद्ध हो उस श्रद्धानको मुख्य लक्षण कहा है, क्योंकि जीव-अजीवके श्रद्धानका प्रयोजन स्व-परका भिन्न श्रद्धान करना है, और आस्रवादिकके श्रद्धानका प्रयोजन रागादि छोड़ना है, अर्थात् स्व-परकी भिन्नताका श्रद्धान होनेपर परद्रव्योंमें रागादि न करनेका श्रद्धान होता है। इसप्रकार तत्त्वार्थश्रद्धानका प्रयोजन स्व-परके भिन्न श्रद्धानसे सिद्ध हुआ जानकर यह लक्षण कहा है।

३—जहाँ आत्मश्रद्धान लक्षण कहा है वहाँ स्व-परके भिन्न श्रद्धानका प्रयोजन इतना ही है कि—अपनेको अपनेरूप जानना। अपनेको अपनेरूप जानने परका भी विकल्प कार्यकारी नहीं है, ऐसे मूलभूत प्रयोजनकी प्रधानता जानकर आत्मश्रद्धानको मुख्य लक्षण कहा है। तथा—

४—जहाँ देव-गुरु-धर्मका श्रद्धानरूप लक्षण कहा है वहाँ बाह्य साधनकी प्रधानता की है, क्योंकि—अरहन्त देवादिका श्रद्धान सच्चे तत्त्वार्थश्रद्धानका कारण है तथा कुदेवादिका श्रद्धान कल्पित अतत्त्वार्थ-श्रद्धानका कारण है। इस बाह्य कारणकी प्रधानतासे कुदेवादिका श्रद्धान छुड़ाकर सुदेवादिका श्रद्धान करानेके लिए देव-गुरु-धर्मके श्रद्धानको मुख्य लक्षण कहा है। इसप्रकार भिन्न भिन्न प्रयोजनोंकी मुख्यतासे भिन्न भिन्न लक्षण कहे हैं।

(७) प्रश्नः—यह जो भिन्न भिन्न चार लक्षण कहे हैं उनमेंसे इस जीवको कौनसे लक्षणको अंगीकार करना चाहिये ?

उत्तरः—जहाँ पुरुषार्थके द्वारा सम्यग्दर्शनके प्रगट होने पर विपरीताभिनिवेशका अभाव होता है वहाँ यह चारों लक्षण एक साथ होते हैं तथा विचार—अपेक्षासे मुख्यतया तत्त्वार्थोंका विचार करता है या स्व-परका भेद-विज्ञान करता है, या आत्मस्वरूपको ही संभालता है अथवा देवादिके स्वरूपका विचार करता है। इसप्रकार ज्ञानमें नाना प्रकारके विचार होते हैं, किन्तु श्रद्धानमें सर्वत्र परस्पर सापेक्षता होती है। जैसे तत्त्वविचार करता

है तो भी, भेदविज्ञानादिके अभिप्राय सहित करता है। इसीप्रकार अन्यत्र भी परस्पर सापेक्षता है। इसलिये सम्यग्दृष्टिके श्रद्धानमें तो चारों लक्षणोंका अंगीकार है, किन्तु जिसे विपरीताभिनिवेश होता है उसे यह लक्षण आभासमात्र होते हैं, यथार्थ नहीं होते। वह जिनमतके जीवादि तत्त्वोंको मानता है, अन्यको नहीं, तथा उनके नाम, भेदादिको सीखता है। इसप्रकार उसे तत्त्वार्थश्रद्धान होता है किन्तु उसके यथार्थभावका श्रद्धान नहीं होता। और वह स्व-परके भिन्नत्वकी बातें करता है तथा वस्त्रादिमें परबुद्धिका चिंतवन करता है, परन्तु उसे जैसी पर्यायमें अहंबुद्धि है तथा वस्त्रादिमें परबुद्धि है वैसी आत्मामें अहंबुद्धि और शरीरमें परबुद्धि नहीं होती। वह आत्माका जिनवचनानुसार चिंतवन करता है किन्तु प्रतीतरूपसे निजको निजरूप श्रद्धान नहीं करता तथा वह अरहन्तादिके अतिरिक्त अन्य कुदेवादिको नहीं मानता, किन्तु उनके स्वरूपको यथार्थ पहिचान कर श्रद्धान नहीं करता। इसप्रकार यह लक्षणाभास मिथ्यादृष्टिके होते हैं। उसमें कोई हो या न हो किन्तु उसे यहाँ भिन्नत्व भी संभवित नहीं है।

दूसरे, इन लक्षणाभासोंमें इतनी विशेषता है कि—पहिले तो देवादिका श्रद्धान होता है, फिर तत्त्वोंका विचार होता है, पश्चात् स्व-परका चिंतवन करता है और फिर केवल आत्माका चिंतवन करता है। यदि इस क्रमसे जीव साधन करे तो परम्परासे सच्चे मोक्षमार्गको पाकर सिद्ध पदको भी प्राप्त कर ले, और जो इस क्रमका उल्लंघन करता है उसे देवादिकी मान्यताका भी कोई ठिकाना नहीं रहता। इसलिये जो जीव अपना भला करना चाहता है उसे जहाँ तक सच्चे सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति न हो वहाँ तक इसे भी क्रमशः अंगीकार करना चाहिये।

[सम्यग्दर्शनके लिये अभ्यासका क्रम] पहले आज्ञादिके द्वारा या किसी परीक्षाके द्वारा कुदेवादिकी मान्यताको छोड़कर अरहन्त देवादिका श्रद्धान करना चाहिये, क्योंकि इनका श्रद्धान होने पर गृहीतमिथ्यात्वका अभाव होता है, कुदेवादिका निमित्त दूर होता है और अरहन्त देवादिका निमित्त मिलता है, इसलिये पहिले देवादिका श्रद्धान करना चाहिए और फिर जिनमतमें कहे गये जीवादितत्त्वोंका विचार करना चाहिये, उनके नाम-लक्षणादि सीखना चाहिये, क्योंकि इसके अभ्याससे तत्त्वश्रद्धानकी प्राप्ति होती है। इसके बाद जिससे स्व-परका भिन्नत्व भासित हो ऐसे विचार करते रहना चाहिये, क्योंकि इस अभ्याससे भेदविज्ञान होता है। इसके बाद एक निजमें निजत्व माननेके लिये स्वरूपका विचार करते रहना चाहिए। क्योंकि —इस अभ्याससे आत्मानुभवकी प्राप्ति होती है। इसप्रकार क्रमशः उन्हें अंगीकार करके फिर उसमेंसे ही कभी देवादिके विचारमें, कभी तत्त्वविचारमें, कभी स्व-परके विचारमें

तथा कभी आत्मविचारमें उपयोगको लगाना चाहिए। इसप्रकार अभ्याससे सत्य सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होती है।

(८) प्रश्नः—सम्यक्त्वके लक्षण अनेक प्रकारके कहे गये हैं, उनमेंसे यहाँ तत्त्वार्थश्रद्धान लक्षणको ही मुख्य कहा है, सो इसका क्या कारण है ?

उत्तरः—तुच्छ बुद्धिवालेको अन्य लक्षणोंमें उसका प्रयोजन प्रगट भासित नहीं होता या भ्रम उत्पन्न होता है तथा इस तत्त्वार्थश्रद्धान लक्षणमें प्रयोजन प्रगटरूपसे भासित होता है और कोई भी भ्रम उत्पन्न नहीं होता, इसलिये इस लक्षणको मुख्य किया है। यही यहाँ दिखाया जा रहा है:—

देव गुरु-धर्मके श्रद्धानमें तुच्छबुद्धिको ऐसा भासित होता है कि अरहन्तदेवादिको ही मानना चाहिए और अन्यको नहीं मानना चाहिये, इतना ही सम्यक्त्व है, किन्तु वहाँ उसे जीव-अजीवके बंध-मोक्षके कारण-कार्यका स्वरूप भासित नहीं होता और उसमें मोक्षमार्गरूप प्रयोजनकी सिद्धि नहीं होती है, और जीवादिका श्रद्धान हुए बिना मात्र इसी श्रद्धानमें संतुष्ट होकर अपनेको सम्यग्दृष्टि माने या एक कुदेवादिके प्रति द्वेष तो रखे किन्तु अन्य रागादि छोड़नेका उद्यम न करे, ऐसा भ्रम उत्पन्न होता है।

और स्वपरके श्रद्धानमें तुच्छ बुद्धिवालेको ऐसा भासित होता है कि—एक स्व-परको जानना ही कार्यकारी है और उसीसे सम्यक्त्व होता है। किन्तु उसमें आस्रवादिका स्वरूप भासित नहीं होता और उससे मोक्षमार्गरूप प्रयोजनकी सिद्धि भी नहीं होती। और आस्रवादिका श्रद्धान हुए बिना मात्र इतना ही जाननेमें संतुष्ट होकर अपनेको सम्यग्दृष्टि मानकर स्वच्छन्दी हो जाता है, किन्तु रागादिके छोड़नेका उद्यम नहीं करता; ऐसा भ्रम उत्पन्न होता है।

तथा आत्मश्रद्धान लक्षणमें तुच्छबुद्धि वालेको ऐसा भासित होता है कि—एक आत्माका ही विचार कार्यकारी है और उसीसे सम्यक्त्व होता है, किन्तु वहाँ जीव-अजीवादिके विशेष तथा आस्रवादिका स्वरूप भासित नहीं होता और इसलिये मोक्षमार्गरूप प्रयोजनकी सिद्धि भी नहीं होती, और जीवादिके विशेषोंका तथा आस्रवादिके स्वरूपका श्रद्धान हुए बिना मात्र इतने ही विचारसे अपनेको सम्यग्दृष्टि मानकर स्वच्छन्दी होकर रागादिको छोड़नेका उद्यम नहीं करता; ऐसा भ्रम उत्पन्न होता है। ऐसा जानकर इन लक्षणोंको मुख्य नहीं किया।

मोक्षशास्त्र प्रथम अध्यायका परिशिष्ट

[५]

केवलज्ञानका स्वरूप

(१) षट्खण्डागम-धवलाटीका पुस्तक १३ सूत्र ८१-८२ द्वारा आचार्यदेवने कहा है कि:—

" वह केवलज्ञान सकल है, सपूर्ण है, और असपत्न है ॥ ८१ ॥

अखण्ड होनेसे वह सकल है।

शंका—यह अखण्ड कैसे है ?

समाधानः—समस्त बाह्य अर्थमें प्रवृत्ति नहीं होने पर ज्ञानमें खण्डपना आता है, सो वह इस ज्ञानमें सम्भव नही है; क्योंकि, इस ज्ञानके विषय त्रिकालगोचर अशेष बाह्य पदार्थ हैं।

अथवा द्रव्य, गुण और पर्यायोंके भेदका ज्ञान अन्यथा नही बन सकनेके कारण जिनका अस्तित्व निश्चित है ऐसे ज्ञानके अवयवोंका नाम कला है; इन कलाओंके साथ वह अवस्थित रहता है इसलिये सकल है। 'सम' का अर्थ सम्यक् है, सम्यक् अर्थात् परस्पर परिहार लक्षण विरोधके होने पर भी सहानअवस्थान लक्षण विरोधकके न होनेसे चूंकि वह अनन्तदर्शन, अनन्तवीर्य विरति एव क्षायिकसम्यक्त्व आदि अनन्त गुणोंसे पूर्ण है; इसीलिये इसे सम्पूर्ण कहा जाता है। वह सकल गुणोंका निधान है, यह उक्त कथनका तात्पर्य है। सपत्नका अर्थ शत्रु है। केवलज्ञानके शत्रु कर्म हैं। वे इसके नही रहे हैं, इसलिये केवलज्ञान असपत्न है। उसने अपने प्रतिपक्षी घातिचतुष्कका समूल नाश कर दिया है, यह उक्त कथनका तात्पर्य है। यह केवलज्ञान स्वयं ही उत्पन्न होता है, इस बातका ज्ञान करानेके लिये और उसके विषयका कथन करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

स्वयं उत्पन्न हुऐ ज्ञान और दर्शनसे युक्त भगवान् देवलोक और असुरलोकके साथ मनुष्यलोककी आगति, गति, चयन, उपपाद, बन्ध, मोक्ष, ऋद्धि, स्थिति, युति, अनुभाग, तर्क, कल, मन, मानसिक, भुक्त, कृत, प्रतिसेवित, आदिकर्म, अरह:कर्म सब लोकों, सब जीवों और सब भावोंको सम्यक् प्रकारसे युगपत् जानते हैं, देखते हैं और विहार करते हैं ॥ ८२ ॥

ज्ञान-धर्मके माहात्म्योंका नाम भग है, वह जिनके हैं वे भगवान् कहलाते हैं। उत्पन्न

हुए ज्ञानके द्वारा देखना जिसका स्वभाव है उसे उत्पन्न ज्ञानदर्शी कहते हैं। उत्पन्न हुए ज्ञान-दर्शन स्वभाववाले भगवान् सब लोकको जानते हैं।

शंका—ज्ञानकी उत्पत्ति स्वयं कैसे हो सकती है?

समाधान—नहीं, क्योंकि कार्य और कारणका एकाधिकरण होनेसे इनमें कोई भेद नहीं है।

[देवादि लोकमें जीवकी गति, अगति तथा चयन और उपपादको भी सर्वज्ञ भगवान जानते हैं—]

सौधर्मादिक देव, और भवनवासी असुर कहलाते हैं। यहाँ देवासुर वचन देशामर्शक है इसलिये इससे ज्योतिषी, व्यन्तर और तिर्यंचोंका भी ग्रहण करना चाहिये। देवलोक और असुरलोकके साथ मनुष्यलोककी आगतिको जानते हैं। अन्य गतिसे इच्छित गतिमें आना आगति है। इच्छित गतिसे अन्य गतिमें जाना गति है। सौधर्मादिक देवोंका अपनी सम्पदासे विरह होना चयन है। विवक्षित गतिसे अन्य गतिमें उत्पन्न होना उपपाद है। जीवोंके विग्रहके साथ तथा बिना विग्रहके आगमन, गमन, चयन और उपपादको जानते हैं।

[पुद्गलोंके आगमन, गमन, चयन और उपपाद संबंधी]

तथा पुद्गलोंके आगमन, गमन, चयन और उपपादको जानते हैं। पुद्गलोंमें विवक्षित पर्यायका नाश होना चयन है। अन्य पर्यायरूपसे परिणमना उपपाद है।

[धर्म, अधर्म, काल और आकाशके चयन और उपपाद]

धर्म, अधर्म, काल और आकाशके चयन और उपपादको जानते हैं, क्योंकि, इनका गमन और आगमन नहीं होता। जिसमें जीवादि पदार्थ लोके जाते हैं अर्थात् उपलब्ध होते हैं उसको लोक संज्ञा है। यहाँ 'लोक' शब्दसे आकाश लिया गया है। इसलिये आधेयमें आधारका उपचार करनेसे धर्मादिक भी लोक सिद्ध होते हैं।

[बन्धको भी भगवान् जानते हैं]

बाँधनेका नाम बन्ध है। अथवा जिसके द्वारा या जिसमें बन्धते हैं उसका नाम बन्ध है। वह बन्ध तीन प्रकारका है—जीवबन्ध, पुद्गलबन्ध और जीव-पुद्गल बन्ध। एक शरीरमें रहनेवाले अनन्तानन्त निगोद जीवोंका जो परस्पर बन्ध है वह जीवबन्ध कहलाता है। दो तीन आदि पुद्गलोंका जो समवाय सम्बन्ध होता है वह पुद्गलबन्ध कहलाता है।

तथा औदारिक वर्गणाएं, वैक्रियिक वर्गणाएं, आहारक वर्गणाएं, तैजस वर्गणाएं और कार्मण वर्गणाएं इनका और जीवोंका जो बन्ध होता है वह जीव-पुद्गलबन्ध कहलाता है। जिस कर्मके कारण अनन्तानन्त जीव एक शरीरमें रहते हैं उस कर्मकी जीवबन्ध संज्ञा है। जिस स्निग्ध और रूक्ष आदि गुणोंके कारण पुद्गलोंका बन्ध होता है उसकी पुद्गलबन्ध संज्ञा है। जिन मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योग आदिके निमित्तसे जीव और पुद्गलोंका बन्ध होता है वह जीव-पुद्गलबन्ध कहलाता है। इस बन्धको भी वे भगवान जानते हैं।

[मोक्ष ऋद्धि, स्थिति तथा युति और उनके कारणोंको भी जानते हैं]

छूटनेका नाम मोक्ष है, अथवा जिसके द्वारा या जिसमें मुक्त होते हैं वह मोक्ष कहलाता है। वह मोक्ष तीन प्रकारका है—जीवमोक्ष, पुद्गलमोक्ष और जीव-पुद्गलमोक्ष।

इसी प्रकार मोक्षका कारण भी तीन प्रकारका कहना चाहिए। बन्ध, बन्धका कारण, बन्धप्रदेश, बद्ध एवं बध्यमान जीव और पुद्गल; तथा मोक्ष, मोक्षका कारण, मोक्षप्रदेश, मुक्त एवं मुच्यमान जीव और पुद्गल; इन सब त्रिकाल विषयक अर्थोंको जानता है, यह उक्त कथनका तात्पर्य है।

भोग और उपभोगरूप घोड़ा, हाथी, मणि व रत्न, रूप, सम्पदा तथा उस सम्पदाकी प्राप्तिके कारणका नाम ऋद्धि है। तीन लोकमें रहने वाली सब सम्पदाओंको तथा देव, असुर और मनुष्य भवकी सम्प्राप्तिके कारणोंको भी जानता है; यह उक्त कथनका तात्पर्य है। छह द्रव्योंका विवक्षित भावसे अवस्थान और अवस्थानके कारणका नाम स्थिति है। द्रव्यस्थिति, कर्मस्थिति, कायस्थिति, भवस्थिति और भावस्थिति आदि स्थितिको सकारण जानना है, यह उक्त कथनका तात्पर्य है।

[त्रिकाल विषयक सब प्रकारके संयोग या समीपताके
सब भेदोंको जानते हैं—]

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके साथ जीवादि द्रव्योंके सम्मेलनका नाम युति है।

शंका—युति और बन्धमें क्या भेद है ?

समाधान—एकीभावका नाम बन्ध है और समीपता या संयोगका नाम युति है।

यहां द्रव्ययुति तीन प्रकारकी है—जीवयुति, पुद्गलयुति और जीवपुद्गलयुति। इनमेंसे एक कुल, ग्राम, नगर, बिल, गुफा या अटवीमें जीवोंका मिलना जीवयुति है। वायुके कारण हिलनेवाले पत्तोंके समान एक स्थानपर पुद्गलोंका मिलना पुद्गलयुति है। जीव और

पुद्गलोंका मिलना जीव-पुद्गलयुति है। अथवा जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल और आकाश इनके एक आदि संयोगके द्वारा द्रव्ययुति उत्पन्न करनी चाहिए। जीवादि द्रव्योंका नारकादि क्षेत्रोंके साथ मिलना क्षेत्रयुति है। उन्हीं द्रव्योंका दिन, महिना और वर्ष आदि कालोंके साथ मिलाप होना कालयुति है। क्रोध, मान, माया और लोभादिकके साथ उनका मिलाप होना भावयुति है। त्रिकालविषयक इन सब युतियोंके भेदको वे भगवान जानते हैं।

[छह द्रव्योंके अनुभाग तथा घटोत्पादनरूप
अनुभागको भी जानते हैं]

छह द्रव्योंकी शक्तिका नाम अनुभाग है वह अनुभाग छह प्रकारका है—जीवानुभाग, पुद्गलानुभाग, धर्मास्तिकायानुभाग, अधर्मास्तिकायानुभाग, आकाशास्तिकायानुभाग, और कालद्रव्यानुभाग। उनमेंसे समस्त द्रव्योंका जानना जीवानुभाग है। ज्वर, कुष्ठ और क्षयादिका विनाश करना और उनका उत्पन्न कराना इसका नाम पुद्गलानुभाग है। योनिप्राभृतमें कहे गए मन्त्र-तन्त्ररूप शक्तियोंका नाम पुद्गलानुभाग है, ऐसा यहां ग्रहण करना चाहिए। जीव और पुद्गलोंके गमन और आगमनमें हेतु होना धर्मास्तिकायानुभाग है। उन्हींके अवस्थानमें हेतु होना अधर्मास्तिकायानुभाग है। जीवादि द्रव्योंका आधार होना आकाशास्तिकायानुभाग है। अन्य द्रव्योंके क्रम और अक्रमसे× परिणमनमें हेतु होना कालद्रव्यानुभाग है। इसी प्रकार द्विसंयोगादि रूपसे अनुभागका कथन करना चाहिए। जैसे—मृत्तिकापिण्ड, दण्ड, चक्र, चीवर, जल और कुम्हार आदिका घटोत्पादनरूप अनुभाग। इस अनुभागको भी जानते हैं।

[तर्क, कला, मन, मानसिक ज्ञान और मनसे चिन्तित
पदार्थोंको भी जानते हैं।]

तर्क हेतु और ज्ञापक, ये एकार्थवाची शब्द हैं। इसे भी जानते हैं। चित्रकर्म और पत्रछेदन आदिका नाम कला है। कलाको भी वे जानते हैं। मनोवर्गणासे बने हुये हृदय-कमलका नाम मन है अथवा मनसे उत्पन्न हुए ज्ञानको मन कहते हैं। मनसे चिन्तित पदार्थोंका नाम मानसिक है। उन्हें भी जानते हैं।

[भुक्त, कृत, प्रतिसेवित, आदिकर्म, अरहःकर्म, सब लोकों, सब
जीवों और सब भावोंको सम्यक् प्रकारसे युगपत् जानते हैं।]

भोजन और पानादिका परिपालन करनेका नाम भुक्ति है। उस भुक्तिको जानते

× एक साथ अनन्त द्रव्योंके अनन्त गुणोंके परिणमनको यहां अक्रम (युगपत्) कहा है।

हैं। जो कुछ तीनों ही कालमें अन्यके द्वारा निष्पन्न होता है उसका नाम कृत है। पाँचों इन्द्रियोंके द्वारा तीनों ही कालमें जो सेवित होती है उसका नाम प्रतिसेवित है। आद्यकर्मका नाम आदिकर्म है। अर्थ पर्याय और व्यंजन पर्यायरूपसे सब द्रव्योंकी आदिको जानता है, यह उक्त कथनका तात्पर्य है। रहस् शब्दका अर्थ अन्तर और अरहस् शब्दका अर्थ अनन्तर है। अरहस् ऐसा जो कर्म वह अरहःकर्म कहलाता है। उनको जानते हैं। शुद्ध द्रव्यार्थिक नयके विषयरूपसे सब द्रव्योंकी अनादिताको जानते है, यह उक्त कथनका तात्पर्य है। सम्पूर्ण लोकमें सब जीवों और सब भावोंको जानते हैं।

शंका—यहाँ 'सर्वजीव' पदको ग्रहण नही करना चाहिए, क्योंकि, बद्ध और मुक्त पदके द्वारा उसके अर्थका ज्ञान हो जाता है।

समाधान—नही, क्योंकि एक संख्या विशिष्ट बद्ध और मुक्तका ग्रहण वहाँ पर न होवे, इसलिए उसका प्रतिषेध करनेके लिए 'सर्वजीव' पदका निर्देश किया है।

जीव दो प्रकारके है—संसारी और मुक्त। इनमें मुक्त जीव अनन्त प्रकारके हैं, क्योंकि, सिद्धलोकका आदि और अन्त नही पाया जाता।

शंका-सिद्ध लोकके आदि और अन्तका अभाव कैसे है।

समाधान—क्योंकि, उसकी प्रवाह स्वरूपसे अनुवृत्ति है, तथा 'सब सिद्ध जीव सिद्धिकी अपेक्षा सादि है और सतानकी अपेक्षा अनादि है,' ऐसा सूत्र वचन भी है।

[सब जीवोंको जानते हैं]

संसारी जीव दो प्रकारके है-त्रस और स्थावर। त्रस जीव चार प्रकारके हैं-द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय। पचेन्द्रिय जीव दो प्रकारके हैं—संज्ञी और असंज्ञी। ये सब जीव त्रस पर्याप्त और अपर्याप्तके भेदसे दो प्रकारके हैं। अपर्याप्त जीव लब्ध्यपर्याप्त और निर्वृत्त्यपर्याप्तके भेदसे दो प्रकारके हैं। स्थावर जीव पांच प्रकारके हैं—पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक। इन पाँचों ही स्थावरकायिक जीवोंमें प्रत्येक दो प्रकारके हैं—बादर और सूक्ष्म। इनमे बादर वनस्पतिकायिक जीव दो प्रकारके है—प्रत्येक शरीर और साधारण शरीर। यहाँ प्रत्येक शरीर जीव दो प्रकारके हैं—बादर निगोद प्रतिष्ठित और बादर निगोद अप्रतिष्ठित। ये सब स्थावरकायिक जीव भी प्रत्येक दो प्रकारके हैं—पर्याप्त और अपर्याप्त। अपर्याप्त दो प्रकार के हैं—लब्ध्यपर्याप्त और

निर्वृत्त्यपर्याप्त। इनमेंसे वनस्पतिकायिक अनन्त प्रकारके और शेष असंख्यात प्रकारके हैं। केवली भगवान् समस्त लोकमें स्थित इन सब जीवोंको जानते हैं, यह उक्त कथनका तात्पर्य है।

[सर्व भावोंको जानते हैं]

जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, बन्ध, और मोक्षके भेदसे पदार्थ नौ प्रकारके हैं। उनमेंसे जीवोंका कथन कर आये हैं। अजीव दो प्रकारके हैं—मूर्त और अमूर्त। इनमेंसे मूर्त पुद्गल उन्नीस प्रकारके हैं। यथा—एकप्रदेशीवर्गणा, संख्यातप्रदेशीवर्गणा, असंख्यातप्रदेशी वर्गणा अनन्तप्रदेशीवर्गणा, आहारवर्गणा, अग्रहणवर्गणा, तैजसशरीरवर्गणा, अग्रहणवर्गणा, भाषावर्गणा, अग्रहणवर्गणा, मनोवर्गणा, अग्रहणवर्गणा, कार्मणशरीरवर्गणा, ध्रुववर्गणा, सान्तर निरन्तरवर्गणा, ध्रुवशून्यवर्गणा, प्रत्येकशरीरवर्गणा, ध्रुवशून्यवर्गणा, बादरनिगोदवर्गणा, ध्रुवशून्यवर्गणा सूक्ष्मनिगोदवर्गणा, ध्रुवशून्यवर्गणा और महास्कन्धवर्गणा। इन तेईस वर्गणाओंमेंसे चार ध्रुवशून्यवर्गणाओंके निकाल देनेपर उन्नीस प्रकारके पुद्गल होते हैं और वे प्रत्येक अनन्त भेदोंको लिये हुये हैं। अमूर्त चार प्रकारके हैं—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और काल। काल घनलोक प्रमाण है शेष एक एक हैं। आकाश अनन्तप्रदेशी है, काल अप्रदेशी है और शेष असंख्यात प्रदेशी हैं।

[सर्व भावोंके अन्तर्गत—शुभाशुभ कर्म प्रकृतियाँ, पुण्य-पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष इन सबको केवली जानते हैं।]

शुभ प्रकृतियोंका नाम पुण्य है और अशुभ प्रकृतियोंका नाम पाप है। यहाँ घातिचतुष्क पापरूप हैं। अघातिचतुष्क मिश्ररूप हैं, क्योंकि, इनमें शुभ और अशुभ दोनों प्रकृतियाँ सम्भव हैं। मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योग ये आस्रव हैं। इनमेंसे मिथ्यात्व पाँच प्रकारका है। असंयम ब्यालीस प्रकारका है। कहा भी है—

पाँच रस, पाँच वर्ण, दो गंध, आठ स्पर्श, सात स्वर, मन और चौदह प्रकारके जीव, इनकी अपेक्षा अविरमण अर्थात् इन्द्रिय व प्राणीरूप असंयम ब्यालीस प्रकारका है ॥ ३ ॥

अनन्तानुबन्धी क्रोध मान, माया और लोभ, प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया और लोभ, अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया और लोभ संज्वलन क्रोध मान माया और लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय जुगुप्सा तथा स्त्रीवेद पुरुषवेद और नपुंसक वेदके भेदसे कषाय पच्चीस प्रकार की है। योग पन्द्रह प्रकारका है। आस्रवके प्रतिपक्षका नाम संवर है। ग्यारह भेदरूप गुण श्रेणिके द्वारा कर्मोंका गलना निर्जरा है। जीवों और कर्म-पुद्गलोंके समवायका नाम बन्ध है। जीव और कर्मका निःशेष विश्लेष होना मोक्ष है। इन सब भावोंको केवली जानते हैं।

समं अर्थात् अक्रमसे (-युगपत्)। यहां जो 'समं' पदका ग्रहण किया है वह केवलज्ञान अतीन्द्रिय है और व्यवधान आदिसे रहित है इस बातको सूचित करता है; क्योंकि, अन्यथा सब पदार्थोंका युगपत् ग्रहण करना नहीं बन सकता; संशय, विपर्यय और अनध्यवसायका अभाव होनेसे अथवा त्रिकाल गोचर समस्त द्रव्यों और उनकी पर्यायोंका ग्रहण होनेसे केवली भगवान् सम्यक् प्रकारसे जानते हैं।

केवली द्वारा अशेष बाह्य पदार्थोंका ग्रहण होनेपर भी उनका सर्वज्ञ होना सम्भव नही है, क्योंकि उनके स्वरूप परिच्छित्ति अर्थात् स्वसंवेदनका अभाव है, ऐसी आशंका होने पर सूत्रमें 'पश्यति' कहा है। अर्थात् वे त्रिकालगोचर अनन्त पर्यायोंसे उपचित आत्माको भी देखते हैं।

केवलज्ञानकी उत्पत्ति होनेके बाद सब कर्मोंका क्षय हो जाने पर शरीर रहित हुए केवली उपदेश नहीं दे सकते, इसलिये तीर्थका अभाव प्राप्त होता है; ऐसा कहने पर सूत्रमें 'विहरदि' कहा है। अर्थात् चार अघाति कर्मोंका सत्त्व होनेसे वे कुछ कम एक पूर्व कोटिकाल तक विहार करते हैं।

ऐसा केवलज्ञान होता है ॥ ८२ ॥

इस प्रकारके गुणोंवाला केवलज्ञान होता है।

शंका—गुणमें गुण कैसे हो सकता है ?

समाधान—यहाँ केवलज्ञानके द्वारा केवलज्ञानीका निर्देश किया गया है। इस प्रकारके केवली होते हैं, यह उक्त कथनका तात्पर्य है।

(२) श्री कुन्दकुन्दाचार्य कृत प्रवचनसार गाथा ३७में कहा है—

तक्कालिगेव सव्वे सदसब्भूदा हि पज्जया तासिं।
वट्टन्ते ते णाणे विसेसदो दव्वजादीणं ॥ ३७ ॥

अर्थः—"उन (जीवादि) द्रव्य जातियोंकी समस्त विद्यमान और अविद्यमान पर्यायें तात्कालिक (वर्तमान) पर्यायोंकी भांति विशिष्टतापूर्वक (अपने-अपने भिन्न-भिन्न स्वरूपसे) ज्ञानमें वर्तती हैं।"

इस श्लोककी श्री अमृतचन्द्राचार्य कृत टीकामें कहा है—

"टीका—(जीवादी) समस्तद्रव्य जातियोंकी पर्यायोंकी उत्पत्तिकी मर्यादा तीनों कालकी

मर्यादा मिलती होनेसे (वे तीनों कालमें उत्पन्न हुवा करती हैं इसलिये,) उनकी (–उन समस्त द्रव्य जातियोंकी,) क्रम पूर्वक तपती हुई स्वरूप सम्पदावाली, (एकके बाद दूसरी प्रगट होनेवाली), विद्यमानता और अविद्यमानताको प्राप्त जो जितनी पर्यायें हैं, वे सब तात्कालिक (वर्तमान कालीन) पर्यायोंकी भांति, अत्यन्त मिश्रित होने पर भी, सर्व पर्यायोंके विशिष्ट लक्षण स्पष्ट ज्ञात हों इसप्रकार, एक क्षणमें ही ज्ञान मंदिरमें स्थितिको प्राप्त होती हैं।

इस गाथाकी संस्कृत टीकामें श्री जयसेनाचार्यने कहा है कि–"...ज्ञानमें समस्त द्रव्योंकी तीनों कालकी पर्यायें एक साथ ज्ञात होने पर भी प्रत्येक पर्यायका विशिष्ट स्वरूप, प्रदेश, काल, आकारादि विशेषताएँ स्पष्ट ज्ञात होती हैं, संकर-व्यतिकर नहीं होते..."

"उनको (केवली भगवानको) समस्त द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावका अक्रमिक ग्रहण होनेसे समक्ष संवेदनकी (प्रत्यक्ष ज्ञानकी) आलम्बन भूत समस्त द्रव्य-पर्यायें प्रत्यक्ष ही हैं।"
(प्रवचनसार गाथा २१ की टीका)

"जो (पर्यायें) अभी तक भी उत्पन्न नहीं हुई हैं, तथा जो उत्पन्न होकर नष्ट हो गई हैं, वे (पर्यायें) वास्तवमें अविद्यमान होने पर भी ज्ञानके प्रति नियत होनेसे (ज्ञानमें निश्चित्-स्थिर-लगी हुई होनेसे, ज्ञानमें सीधे ज्ञात होनेसे) ज्ञान प्रत्यक्ष वर्तती हुई, पाषाणके स्तम्भमें अंकित भूत और भावी देवोंकी (तीर्थंकर देवोंकी) भांति अपने स्वरूपको अकम्पतया (ज्ञानको) अर्पित करती हुई (वे पर्यायें) विद्यमान ही हैं।"
(प्रवचनसार गाथा-३८ की टीका)

(२) "टीका-क्षायिक ज्ञान वास्तवमें एक समयमें ही सर्वतः (सर्व आत्म प्रदेशोंसे), वर्तमानमें वर्तते तथा भूत-भविष्य कालमें वर्तते उन समस्त पदार्थोंको जानता है जिनमें पृथकरूपसे* वर्तते स्वलक्षणरूप लक्ष्मीसे आलोकित अनेक प्रकारोंके कारण वैचित्र्य प्रगट हुआ है और जिनमें परस्पर विरोधसे उत्पन्न होनेवाली असमान जातीयताके कारण वैषम्य प्रगट हुआ है—उन्हें जानता है। ......जिसका अनिवार फैलाव है ऐसा प्रकाशमान होनेसे क्षायिकज्ञान अवश्यमेव, सर्वदा, सर्वत्र, सर्वथा सर्वको (द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूप) जानता है।'
(प्रवचन सार गाथा ४७ की टीका)

---

* क्योंकि भिन्न-भिन्न वर्तनेवाले निज निज लक्षण-उन द्रव्योंकी लक्ष्मी-सम्पत्ति-शोभा है।

(६) " जो एक ही साथ (-युगपत्) त्रैकालिक त्रिभुवनस्थ (तीनों काल और तीनों लोकके) पदार्थोंको नही जानता उसे पर्याय सहित एक द्रव्य भी जानना शक्य नहीं है।"

(प्रवचनसार गाथा ४८)

(७) "........एक ज्ञायक भावका समस्त ज्ञेयको जाननेका स्वभाव होनेसे क्रमशः प्रवर्तमान, अनन्त, भूत-वर्तमान-भावी विचित्र पर्याय समूहवाले अगाध स्वभाव और गम्भीर× समस्त द्रव्यमात्रको-मानों वे द्रव्य ज्ञायकमें उत्कीर्ण हो गये हों, चित्रित हो गये हों, भीतर घुस गये हों, कीलित हो गये हों, डूब गये हों, समा गये हों, प्रतिबिम्बित हुये हों, इस प्रकार-एक क्षणमें ही जो शुद्धात्मा प्रत्यक्ष करता है...." (प्र. सार गाथा २०० की टीका)

(८) " घातिकर्मका नाश होने पर अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य-यह अनन्त चतुष्टय प्रगट होते हैं। वहां अनन्तदर्शनज्ञानसे तो, छह द्रव्योंसे भरपूर जो यह लोक है उसमें जीव अनन्तानन्त और पुद्गल उनसे भी अनन्तगुने हैं; और धर्म, अधर्म तया आकाश यह तीन द्रव्य एवं असंख्य कालद्रव्य हैं-उन सर्व द्रव्योंकी भूत-भविष्य-वर्तमान काल सम्बन्धी अनन्त पर्यायोंको भिन्न-भिन्न एक समयमें देखते और जानते हैं।"

(अष्टपाहुड-भावपाहुड गा. १५० की पं० जयचन्द्रजी कृत टीका)

(९) श्री पंचास्तिकायकी श्री जयसेनाचार्य कृत संस्कृत टीका पृष्ठ ८७ गाथा ५ में कहा है कि-

.......णाणाणाणं च णत्थि केवलिणो-गाथा ५।

"केवली भगवान्को ज्ञानाज्ञान नहीं होता, अर्थात् उन्हें किसी विषयमें ज्ञान और किसी विषयमें अज्ञान वर्तता है-ऐसा नही होता, किन्तु सर्वत्र ज्ञान ही वर्तता है।"

(१०) भगवन्त भूतबलि आचार्य प्रणीत महाबन्ध प्रथम भाग....प्रकृति बन्धाधिकार पृष्ठ २७-२८ में केवलज्ञानका स्वरुप निम्नोक्त कहा है -

"केवली भगवान् त्रिकालावच्छिन्न लोक-अलोक सम्बन्धी सम्पूर्ण गुण-पर्यायोंसे समन्वित अनन्त द्रव्योंको जानते हैं।" ऐसा कोई ज्ञेय नहीं हो सकता है, जो केवली

× जिसका स्वभाव अगाध है और गम्भीर है, ऐसे समस्त द्रव्योंको-भूत, वर्तमान तथा भावी कालका क्रमसे होनेवाली अनेक प्रकारकी अनन्त पर्यायो से युक्त एक समयमे ही प्रत्यक्ष जानना आत्माका स्वभाव है।

भगवानके ज्ञानका विषय न हो। ज्ञानका धर्म ज्ञेयको जानना है और ज्ञेयका धर्म है ज्ञानका विषय होना। इनमें विषयविषयिभाव सम्बन्ध है। जब मति और श्रुतज्ञानके द्वारा भी यह जीव वर्तमानके सिवाय भूत तथा भविष्यत कालकी बातोंका परिज्ञान करता है, तब केवली भगवानके द्वारा अतीत, अनागत, वर्तमान सभी पदार्थोंका ग्रहण (–ज्ञान) करना युक्तियुक्त ही है। —यदि क्रम पूर्वक केवली भगवान् अनन्तानन्त पदार्थोंको जानते तो सम्पूर्ण पदार्थोंका साक्षात्कार न हो पाता। अनन्त काल व्यतीत होने पर भी पदार्थोंकी अनन्त गणना अनन्त ही रहती। आत्माकी असाधारण निर्मलता होनेके कारण एक समयमें ही सकल पदार्थोंका ग्रहण (–ज्ञान) होता है।

जब ज्ञान एक समयमें सम्पूर्ण जगतका या विश्वके तत्त्वोंका बोध कर चुकता है, तब आगे वह कार्यहीन हो जायगा यह आशंका भी युक्त नहीं है, कारण कालद्रव्यके निमित्तसे तथा अगुरुलघु गुणके कारण समस्त वस्तुओंमें क्षण–क्षणमें परिणमन–परिवर्तन होता है। जो कल भविष्यत् था वह आज वर्तमान बनकर आगे अतीतका रूप धारण करता है। इसप्रकार परिवर्तनका चक्र सदा चलनेके कारण ज्ञेयके परिणमनके अनुसार ज्ञानमें भी परिणमन होता है। जगतके जितने पदार्थ हैं, उतनी ही केवलज्ञानकी शक्ति या मर्यादा नहीं है। केवलज्ञान अनन्त है। यदि लोक अनन्त गुणित भी होता, तो केवलज्ञान सिंधुमें वह बिन्दु तुल्य समा जाता। ...अनन्त केवलज्ञानके द्वारा अनन्त जीव तथा अनन्त आकाशादिका ग्रहण होने पर भी वे पदार्थ सान्त नहीं होते हैं। अनन्तज्ञान अनन्त पदार्थ या पदार्थोंको अनन्तरूपसे बतलाता है, इस कारण ज्ञेय और ज्ञानकी अनन्तता अबाधित रहती है।

[महाबन्ध प्रथम भाग पृष्ठ २७ तथा धवला पुस्तक १३ पृष्ठ ३४६ से ३५३]

उपरोक्त आधारोंसे निम्नोक्त मतव्य मिथ्या सिद्ध होते हैं—

(१) केवली भगवान् भूत और वर्तमान कालवर्ती पर्यायोंको ही जानते हैं और भविष्यत् पर्यायोंको वे हों तब जानते हैं।

(२) सर्वज्ञ भगवान् अपेक्षित धर्मोंको नहीं जानते।

(३) केवली भगवान् भूत-भविष्यत् पर्यायोंको सामान्यरूपसे जानते हैं किन्तु विशेषरूपसे नहीं जानते।

(४) केवली भगवान् भविष्यत् पर्यायोंको समग्ररूपसे (समूहरूपसे) जानते हैं, भिन्न भिन्नरूपसे नहीं जानते।

(५) ज्ञान सिर्फ ज्ञानको ही जानता है।

(६) सर्वज्ञके ज्ञानमे पदार्थ झलकते हैं, किन्तु भूतकाल तथा भविष्यकालकी पर्यायें स्पष्टरूपमे नही झलकती। —इत्यादिक मन्तव्य सर्वज्ञको अल्पज्ञ मानने समान है।

[केवलज्ञान (–सर्वज्ञका ज्ञान) द्रव्य–पर्यायोंका शुद्धत्व अशुद्धत्व आदि अपेक्षित धर्मोंको भी जानता है।]

(११) श्री समयसारजी में अमृतचन्द्राचार्य कृत कलश नं० २ में केवलज्ञानमय सरस्वतीका स्वरूप इसप्रकार कहा है, "....वह मूर्ति ऐसी है कि जिसमें अनन्त धर्म हैं ऐसा, और प्रत्येक–परद्रव्योंसे, परद्रव्योंके गुण पर्यायोंसे भिन्न तथा परद्रव्यके निमित्तसे हुए अपने विकारोंसे कथंचित भिन्न एकाकार ऐसा जो आत्मा उसके तत्त्वको अर्थात् असाधारण सजातीय विजातीय द्रव्योंसे विलक्षण निजस्वरूपको पश्यंती–देखती है।'

भावार्थ—××× .... उनमें अनन्त धर्म कौन कौन हैं? उसका उत्तर कहते हैं–जो वस्तुमे सत्पना, वस्तुपना, प्रमेयपना, प्रदेशपना, चेतनपना, अचेतनपना, मूर्तिकपना, अमूर्तिकपना इत्यादि धर्म तो गुण हैं और उन गुणोंका तीनों कालोंमे समय समयवर्ती परिणमन होना पर्याय है, वे अनन्त हैं। तथा एकपना, अनेकपना, नित्यपना, अनित्यपना, भेदपना, अभेदपना, शुद्धपना, अशुद्धपना आदि अनेक धर्म हैं वे सामान्यरूप तो वचन गोचर हैं और विशेषरूप वचनके अविषय हैं, ऐसे वे अनन्त हैं सो ज्ञानगम्य हैं (–अर्थात् केवलज्ञानके विषय हैं।)'

[श्री रायचन्द जैन शास्त्रमाला बम्बईसे प्रकाशित समयसार पत्र ४]

सर्वज्ञ व्यवहारसे परको जानता है उसका अर्थ

(१२) परमात्मप्रकाश शास्त्र गा. ५२ की सं० टीकामें (पत्र नं० ५५) कहा है कि "यह आत्मा व्यवहार नयसे केवलज्ञान द्वारा लोकालोकको जानता है और शरीरमें रहने पर भी निश्चयनयसे अपने आत्मस्वरूपको जानता है इसकारण ज्ञानकी अपेक्षासे तो व्यवहार-नयसे सर्वगत है, प्रदेशोंकी अपेक्षा नही है। जैसे रूपवाले पदार्थोंको नेत्र देखते है, परन्तु उनसे तन्मयता नही होता। यहां कोई प्रश्न करता है कि–जो व्यवहारनयसे लोकालोकको जानता है, और निश्चयनयसे नहीं, तो सर्वज्ञपना व्यवहारनयसे हुआ निश्चय कर न हुआ? उसका समाधान करते हैं–जैसे अपनी आत्माको तन्मयी होकर जानता है, उसी तरह पर–द्रव्यको तन्मयीपनेसे नही जानता, भिन्नस्वरूप जानता है, इस कारण व्यवहारनयसे कहा, [न च परिज्ञानाभावात् ।] कुछ परिज्ञानके अभावसे नहीं कहा। (ज्ञानकर जानपना तो निज और परका समान है) यदि जिस तरह निजको तन्मयी होकर निश्चयसे जानता

है, उसी तरह यदि परको भी तन्मयी होकर जाने, तो परके सुख-दुख, राग-द्वेषके ज्ञान होने पर सुखी-दुखी, रागी-द्वेषी होवे, यह बड़ा दूषण प्राप्त हो।"

(१३) इस प्रकार समयसारजी पत्र, ६६६-६७ गाथा ३२६ से ३६५ की स० टीकामें श्री जयसेनाचार्य ने भी कहा है "—यदि व्यवहारेण परद्रव्यं जानाति तर्हि निश्चयेन सर्वज्ञो भवतीति पूर्वपक्षे परिहारमाह यथा स्वकीय सुखादिकं तन्मयो भूत्वा जानाति तथा बहिर्द्रव्यं न जानाति तेन कारणेन व्यवहारः। यदि पुनः परकीय सुखादिकमात्मसुखादिवत्तन्मयो भूत्वा जानाति तर्हि यथा स्वकीय संवेदने सुखी भवति तथा परकीय सुख-दुख संवेदनकाले सुखी-दुखी च प्राप्नोति न च तथा। व्यवहारस्तथापि छद्मस्थ जनापेक्षया सोऽपि निश्चय एवेति।"

केवलज्ञान नामक पर्यायका निश्चय स्वभाव

(१४) पंचास्तिकाय शास्त्रकी गाथा ४९ की टीकामें भी जयसेनाचार्यने कहा है कि—"तथा चोक्तं निश्चयनयेन क्रम करण व्यवधान रहित त्रिलोकोदर विवरण वर्ति समस्त वस्तुगतानंत धर्म प्रकाशक—अखंड प्रतिभासमय केवलज्ञान पूर्वमेव तिष्ठति"। तथा गा० २९ की टीकामें भी कहा है कि "...अत्र स्वयं जातमिति वचनेन पूर्वोक्तमेव निश्चयेन समर्थितं। तथा च स्वयमेव सर्वज्ञो जातः सर्वदर्शी च जातो निश्चयनयेनेति पूर्वोक्तमेव सर्वज्ञत्व सर्वदर्शित्व च समर्थितमिति।" तथा गाथा १५४ की टीकामें कहा है कि—"समस्त वस्तुगतानंत धर्माणां युगपद्विशेष परिच्छित्ति समर्थं केवलज्ञानं"।

(४) परमात्मप्रकाश अ० २ गा० १०१ की स० टीकामें कहा है कि—"जगत्त्रय काल-त्रयवर्ति समस्त द्रव्यगुण पर्यायाणांक्रमकरण व्यवधान रहितत्वेन परिच्छित्ति समर्थं विशुद्ध दर्शन ज्ञानं च।"

(५) समयसारजी शास्त्रमें आत्म-द्रव्यकी ४७ शक्ति कहीं हैं उनमें सर्वज्ञत्वशक्तिका स्वरूप ऐसा कहा है कि "विश्वविश्व विशेष भाव परिणतात्मज्ञानमयी सर्वज्ञशक्तिः। अर्थ—समस्त विश्वके (छहों द्रव्यके) विशेष भावोंको जानने रूपसे परिणमित आत्मज्ञानमयी सर्वज्ञत्वशक्ति॥१०॥

नोट—सर्वज्ञ मात्र आत्मज्ञ ही है ऐसा कहना ठीक नहीं है कारण कि—सम्पूर्ण आत्मज्ञ होनेवाला, परद्रव्योंको भी सर्वथा सर्व विशेष भावों सहित जानता है। विशेषके लिये रेगो-भाष्यम कलिक वर्ष ९ अंक नं० ८ सर्वज्ञत्वशक्तिका वर्णन, कोई असत् कल्पना द्वारा सर्वज्ञता त्वरूप जयतः मानते हैं उनका तथा स्वयं वस्तुओंके अनन्तधर्मको नहीं जानते ऐसा मानते हैं उनका उपरोक्त कथनके आधारसे निराकरण हो जाता है।

मोक्षशास्त्र-अध्याय दूसरा

पहिले अध्यायमें सम्यग्दर्शनके विषयका उपदेश देते हुए प्रारम्भमें [अ० १ सू० ४ में] जीवादिक तत्त्व कहे थे। उनमेंसे जीव तत्त्वके भाव, उनका लक्षण और शरीरके साथके सम्बन्धका वर्णन इस दूसरे अध्यायमें है। पहिले जीवके स्वतत्त्व (निजभाव) बतानेके लिए सूत्र कहते हैं:—

जीवके असाधारण भाव

औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्वमौदयिकपारिणामिकौ च ॥ १ ॥

अर्थः—[जीवस्य] जीवके [औपशमिकक्षायिकौ] औपशमिक और क्षायिक [भावौ] भाव [च मिश्रः] और मिश्र तथा [औदयिक-पारिणामिकौ च] औदयिक और पारिणामिक यह पांच भाव [स्वतत्त्वम्] निजभाव हैं अर्थात् यह जीवके अतिरिक्त दूसरेमें नहीं होते।

टीका

पांच भावोंकी व्याख्या

(१) औपशमिकभाव—आत्माके पुरुषार्थ द्वारा अशुद्धताका प्रगट न होना अर्थात् दब जाना। आत्माके इस भावको औपशमिकभाव कहते हैं, यह जीवकी एक समयमात्रकी पर्याय है, वह एक एक समय करके अंतर्मुहूर्त तक रहती है, किन्तु एक समयमें एक ही अवस्था होती है। और उसी समय आत्माके पुरुषार्थका निमित्त पाकर जड़ कर्मका प्रगटरूप फल जड़ कर्ममें न आना सो कर्मका उपशम है।

(२) क्षायिकभाव—आत्माके पुरुषार्थसे किसी गुणकी शुद्ध अवस्थाका प्रगट होना सो क्षायिकभाव है। यह भी जीवकी एक समयमात्रकी अवस्था है। एक एक समय करके वह सादि-अनन्त रहती है तथापि एक समयमें एक ही अवस्था होती है, सादि अनंत-अमूर्त अतीन्द्रिय स्वभाववाले केवलज्ञान-केवलदर्शन-केवलसुख-केवलवीर्य-युक्त-फलरूप अनंत चतुष्टयके साथ रहनेवाली परम उत्कृष्ट क्षायिकभावकी शुद्ध परिणति जो कार्यशुद्धपर्याय है, उसे क्षायिकभाव भी कहते है। और उसी समय आत्माका पुरुषार्थका निमित्त पाकर कर्मावरणका नाश होना सो कर्मका क्षय है।

(३) क्षायोपशमिकभाव—आत्माके पुरुषार्थका निमित्त पाकर जो कर्मका स्वयं आंशिक क्षय और आंशिक उपशम वह कर्मका क्षायोपशम है, और क्षायोपशमिकभाव आत्माकी पर्याय है। यह भी आत्माकी एक समयकी अवस्था है, वह उसकी योग्यताके अनुसार उत्कृष्ट कालतक भी रहती है किन्तु प्रति समय बदलकर रहती है।

(४) औदयिकभाव—कर्मोंके निमित्तसे आत्मा अपनेमें जो विकारभाव करता है सो औदयिकभाव है। यह भी आत्माकी एक समयकी अवस्था है।

(५) पारिणामिकभाव—'पारिणामिक' का अर्थ है सहजस्वभाव, उत्पाद-व्यय-रहित ध्रुव-एकरूप स्थिर रहनेवाला भाव पारिणामिकभाव है। पारिणामिकभाव सभी जीवोंके सामान्य होता है। औदयिक, औपशमिक क्षायोपशमिक और क्षायिक-इन चार भावोंसे रहित जो भाव है सो पारिणामिक भाव है। जिसका निरन्तर सद्भाव रहता है उसे पारिणामिकभाव कहते हैं। मतिज्ञानादि तथा केवलज्ञानादि जो अवस्थायें हैं वे पारिणामिकभाव नहीं हैं।

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान (यह अवस्थायें) क्षायोपशमिकभाव हैं, केवलज्ञान (अवस्था) क्षायिकभाव है। केवलज्ञान प्रगट होनेसे पूर्व ज्ञानका विकासका जितना अभाव है वह औदयिकभाव है। ज्ञान-दर्शन और वीर्यगुणकी अवस्थामें औपशमिकभाव होता ही नहीं। मोहका ही उपशम होता है, उसमें प्रथम मिथ्यात्वका (दर्शनमोहका) उपशम होने पर जो निश्चय सम्यक्त्व प्रगट होता है वह श्रद्धागुणका औपशमिकभाव है।

(ज्ञान-दर्शन और वीर्यगुणकी पर्यायमें पूर्ण विकासका जितना अभाव है वह भी औदयिकभाव है, वह १२ वें गुणस्थान तक है।)

२ यह पाँच भाव क्या बतलाते हैं ?

(१) जीवमें एक अनादि अनन्त शुद्ध चैतन्यस्वभाव है, यह पारिणामिकभाव सिद्ध करता है।

(२) जीवमें अनादि अनन्त शुद्ध चैतन्यस्वभाव होनेपर भी उसकी अवस्थामें विकार है ऐसा औदयिकभाव सिद्ध करता है।

(३) जड़कर्मके साथ जीवका अनादिकालीन सम्बन्ध है और जीव अपने ज्ञाता स्वभावसे च्युत होकर जड़कर्मकी ओर झुकाव करता है जिससे विकार होता है किन्तु कर्मके कारण विकारभाव नहीं होता, यह भी औदयिकभाव सिद्ध करता है।

(४) जीव अनादिकालसे विकार करता हुआ भी जड़ नहीं हो जाता और उसके ज्ञान, दर्शन तथा वीर्यका आंशिक विकास सदा बना रहता है, यह क्षायोपशमिकभाव सिद्ध करता है।

(५) आत्माका स्वरूप यथार्थतया समझकर जब जीव अपने पारिणामिकभावका आश्रय लेता है तब औदयिकभावका दूर होना प्रारम्भ होता है, और पहिले श्रद्धागुणका औदयिकभाव दूर होता है, यह औपशमिकभाव सिद्ध करता है।

(६) सच्ची समझके बाद जीव जैसे जैसे सत्यपुरुषार्थको बढ़ाता है वैसे वैसे मोह अंशतः दूर होता जाता है यह क्षायोपशमिक भाव सिद्ध करता है।

(७) यदि जीव प्रतिहतभावसे पुरुषार्थमें आगे बढता है तो चारित्रमोह स्वयं दब जाता है [-उपशमको प्राप्त होता है] यह औपशमिकभाव सिद्ध करता है।

(८) अप्रतिहत पुरुषार्थसे पारिणामिकभावका अच्छी तरह आश्रय बढ़ाने पर विकारका नाश हो सकता है ऐसा क्षायिकभाव सिद्ध करता है।

(९) यद्यपि कर्मोंके साथका संबंध प्रवाहसे अनादिकालीन है तथापि प्रतिसमय पुराने कर्म जाते हैं और नये कर्मोंका सम्बन्ध होता रहता है, इस अपेक्षासे कर्मोंके साथका वह सम्बन्ध सर्वथा दूर हो जाता है, यह क्षायिकभाव सिद्ध करता है।

(१०) कोई निमित्त परमें विकार नही करता और न परमें विकार करता है किन्तु जीव स्वयं निमित्ताधीन होकर विकार करता है। जब जीव पारिणामिक भावरूप अपने द्रव्यस्वभाव सन्मुख हो करके स्वाधीनताको प्रगट करता है तब अशुद्धता दूर होकर शुद्धता प्रगट होती है, ऐसा औपशमिकभाव, साधकदशाका क्षायोपशमिकभाव तीनों सिद्ध करते हैं।

३. पांच भावोंके सम्बन्धमें कुछ प्रश्नोत्तर

(१) प्रश्नः—भगवानके समय इन पांचोंमेंसे कौनसा भाव ध्यान करने योग्य है अर्थात् ध्येय है ?

उत्तरः—भगवानके समय पारिणामिकभाव ध्यान करने योग्य है अर्थात् ध्येय है। ध्येयभूत द्रव्यरूप शुद्ध पारिणामिकभाव त्रिकाल रहते हैं इसलिये वे ध्यान करने योग्य हैं।

(२) प्रश्नः—पारिणामिकभावके आश्रयसे होनेवाला ध्यान भावनाके समय ध्येय क्यों नही है ?

उत्तरः—यह ध्यान स्वयं पर्याय है इसलिये विनश्वर है, पर्यायके आश्रय शुद्ध अवस्था प्रगट नहीं होती, इसलिये वह ध्येय नहीं है।

[समयसारमें, जयसेनाचार्य कृत टीकाका अनुवाद पृ० ३२०–३२१]

प्रश्नः—शुद्ध और अशुद्धभेदसे पारिणामिकभावके दो प्रकार नहीं हैं किन्तु पारिणामिकभाव शुद्ध ही है, क्या यह कहना ठीक है ?

उत्तरः—नहीं, यह ठीक नहीं है। यद्यपि सामान्यरूपसे (द्रव्यार्थिक नयसे अथवा उत्सर्ग कथनसे) पारिणामिकभाव शुद्ध है तथापि विशेषरूपसे (पर्यायार्थिकनयसे अथवा अपवाद कथनसे) अशुद्ध पारिणामिकभाव भी है। इसलिये 'जीवभव्याभव्यत्वानि च' इस (सातवें सूत्र) से पारिणामिकभावको जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व-तीन प्रकारका कहा है। उनमेंसे जो शुद्ध चैतन्यरूप जीवत्व है वह अविनाशी शुद्ध द्रव्याश्रित है, इसलिये उसे शुद्ध द्रव्याश्रित नामवाला शुद्ध पारिणामिकभाव समझना चाहिए। और जो दस प्रकारके द्रव्य-प्राणोंसे पहिचाना जाता है ऐसा जीवत्व और मोक्षमार्गकी योग्यता-अयोग्यतासे भव्यत्व, अभव्यत्व यह तीन प्रकार पर्यायाश्रित हैं इसलिये उन्हें पर्यायार्थिक नामके अशुद्ध पारिणामिकभाव समझना चाहिये।

(४) प्रश्न.—इन तीन भावोंकी अशुद्धता किस अपेक्षासे है ?

उत्तरः—यह अशुद्ध पारिणामिकभाव व्यवहारनयसे सांसारिक जीवोंमें है फिर भी "सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया" अर्थात् सब जीव शुद्धनयसे शुद्ध हैं, इसलिये यह तीनों भाव शुद्ध निश्चयनयकी अपेक्षासे किसी जीवके नहीं हैं, संसारी जीवोंमें पर्यायकी अपेक्षा अशुद्धत्व है।

प्रश्नः—इन शुद्ध और अशुद्ध पारिणामिकभावोंमेंसे कौनसा भाव ध्यानके समय ध्येयरूप है ?

उत्तरः—द्रव्यरूप शुद्ध पारिणामिकभाव अविनाशी है इसलिये वह ध्येयरूप है अर्थात् वह त्रैकालिक शुद्ध पारिणामिकभावके लक्ष्यसे शुद्ध अवस्थाको प्रगट करता है।

(बृहत् द्रव्यसंग्रह पृष्ठ ३८-३९)

५ औपशमिकभाव कब होता है ?

अध्याय १ सूत्र ३२ में कहा गया है कि जीवके सत् और असत्के विवेकसे रहित जो दशा है सो उन्मत्त जैसी है। मिथ्या अभिप्रायसे अपनी ऐसी दशा अनादिकालसे है यह अ० १ सूत्र ४ में कथित तत्त्वोंका विचार करनेसे जीवको ज्ञानमें आता है। और उसे यह

भी ज्ञानमें आता है कि जीवका पुद्गलकर्म तथा शरीरके साथ प्रवाहरूपसे अनादिकालीन सम्बन्ध है, अर्थात् जीव स्वयं वहका वही है किन्तु कर्म और शरीर पुराने जाते हैं तथा नये आते हैं। और यह संयोग सम्बन्ध अनादिकालसे चला आ रहा है। जीव इस संयोग सम्बन्धको एकरूप (तादात्म्यसम्बन्धरूपसे) मानता और इसप्रकार जीव अज्ञानतासे शरीरको अपना मानता है इसलिये शरीरके साथ मात्र निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध होने पर भी उसके साथ कर्ता-कर्म सम्बन्ध मानता है; इसलिये वह यह मानता आ रहा है कि "मै शरीरके कार्य कर सकता हूं और जड़ कर्म, शरीरादि मुझको कुछ करता है।" तत्त्व विचार करते करते जीवको ऐसा लगता है कि यह मेरी भूल है मैं जीवतत्त्व हूं, और शरीर तथा जड़ कर्म, मुझसे सर्वथा भिन्न अजीवतत्त्व हैं। मैं अजीवमें और अजीव मुझमे नही हैं, इसलिये मैं अजीवका कुछ नहीं कर सकता, मैं अपने ही भाव कर सकता हूँ, तथा अजीव अपने भाव (उसीके भाव) कर सकता है, मेरे नही।

इसप्रकार जिज्ञासु आत्मा प्रथम रागमिश्रित विचारके द्वारा जीव-अजीव तत्त्वोंका स्वरूप जानकर, यह निश्चय करते हैं कि अपनेमे जो कुछ विकार होते हैं वे अपने ही दोषके कारण होते हैं। इतना जाननेपर उसे यह भी ज्ञात हो जाता है कि अविकारी भाव क्या हैं। इसप्रकार विकारभाव (पुण्य पाप आस्रव बन्ध) का तथा अविकारभाव (संवर निर्जरा मोक्ष) का स्वरूप वे जिज्ञासु आत्मा निश्चित् करते हैं। पहिले रागमिश्रित विचारोंके द्वारा इन तत्त्वोंका ज्ञान करके फिर जब जीव उन भेदों की ओरका लक्ष दूर करके अपने त्रैकालिक पारिणामिकभावका-ज्ञायकभावका यथार्थ आश्रय लेते हैं तब उन्हें श्रद्धागुणका औपशमिकभाव प्रगट होता है। श्रद्धागुणके औपशमिकभावको उपशम सम्यग्दर्शन कहा जाता है। इस निश्चय सम्यग्दर्शनके प्रगट होने पर जीवके धर्मका प्रारम्भ होता है; तब जीवकी अनादि-कालसे चली आनेवाली श्रद्धागुणकी मिथ्या दशा दूर होकर सम्यक् दशा प्रगट होती है। यह औपशमिकभावसे मिथ्यात्वादिके संवर होते है।

५. औपशमिकभावकी महिमा

इस औपशमिकभाव अर्थात् सम्यग्दर्शनकी ऐसी महिमा है कि जो जीव पुरुषार्थके द्वारा उसे एक वार प्रगट कर लेता है उसे अपनी पूर्ण पवित्र दशा प्रगट हुए विना नहीं रह सकती। प्रथम-औपशमिकभावके प्रगट होने पर अ० १ सूत्र ३२ में कथित 'उन्मत्तदशा' दूर हो जाती है अर्थात् जीवकी मिथ्याज्ञानदशा दूर होकर वह सम्यक्मति-श्रुतज्ञानरूप हो जाती है, और यदि उस जीवको पहिले मिथ्या अवधिज्ञान हो तो वह भी दूर होकर सम्यक् अवधिज्ञानरूप हो जाता है।

सम्यग्दर्शनकी महिमा बतानेके लिये आचार्यदेवने अ० १ के पहिले सूत्रमें पहला ही शब्द सम्यग्दर्शन कहा है और प्रथम सम्यग्दर्शन औपशमिकभावसे ही होता है इसलिये औपशमिकभावकी महिमा बतानेके लिये यहाँ भी यह दूसरा अध्याय प्रारम्भ करते हुए यह भाव पहिले सूत्रके पहिले ही शब्दमें बताया है।

६ पांच भावोंके सम्बन्धमें कुछ स्पष्टीकरण

(१) प्रश्न—प्रत्येक जीवमें अनादिकालसे पारिणामिकभाव है फिर भी उसे औपशमिकभाव अर्थात् सम्यग्दर्शन क्यों प्रगट नहीं हुआ ?

उत्तर—जीवको अनादिकालसे अपने स्वरूपकी प्रतीति नहीं है और इसलिये वह यह नहीं जानता कि मैं स्वयं पारिणामिकभाव स्वरूप हूं और वह अज्ञान दशामें यह मानता रहता है कि 'शरीर मेरा है और शरीरके अनुकूल ज्ञात होनेवाली पर वस्तुएँ मुझे लाभकारी हैं तथा शरीरके प्रतिकूल, ज्ञात होनेवाली वस्तुएँ हानिकारी हैं' इसलिये इसका झुकाव पर वस्तुओं, शरीर, और विकारी भावोंकी ओर बना ही रहता है। यहाँ जो किसीसे उत्पन्न नहीं किया है और कभी किसीसे जिसका विनाश नहीं होता ऐसे पारिणामिकभावका ज्ञान कराकर, अपने गुण पर्यायरूप भेदोंको और परवस्तुओंको गौण करके आचार्यदेव उन परसे लक्ष छुड़ाते हैं। भेददृष्टिमें निर्विकल्पदशा नहीं होती इसलिये अभेददृष्टि कराई है कि जिससे निर्विकल्पदशा प्रगट हो। औपशमिकभाव भी एक प्रकारकी निर्विकल्प दशा है।

(२) प्रश्न—इस सूत्रमें कथित पाँच भावोंमेंसे किस भावकी ओरके लक्षसे धर्मका प्रारम्भ और पूर्णता होती है ?

उत्तर—पारिणामिकभावोंके अतिरिक्त चारों भाव क्षणिक हैं-एक समय मात्रके हैं, और उनमें भी क्षायिकभाव तो वर्तमान नहीं है औपशमिकभाव भी होता है तो अल्प समय ही टिकता है, और औदयिकक्षायोपशमिकभाव भी समय समय पर बदलते रहते हैं, इसलिये उन भावों पर लक्ष किया जाय तो वहाँ एकाग्रता नहीं हो सकती और धर्म प्रगट नहीं हो सकता। त्रैकालिक पूर्ण स्वभावरूप पारिणामिकभावकी महिमाको जानकर उस ओर जीव अपना लक्ष करे तो धर्मका प्रारम्भ होता है और उस भावकी एकाग्रताके बलसे ही धर्मकी पूर्णता होती है।

(३) प्रश्न—पंचास्तिकायमें कहा है कि—

मोक्षं कुर्वन्ति मिश्रौपशमिकक्षायिकाभिधाः।
बंधमौदयिका भावा निःक्रिया पारिणामिकाः॥

[गाथा ५६, जयसेनाचार्य कृत टीका]

अर्थः—मिश्र, औपशमिक और क्षायिक ये तीन भाव मोक्षकर्ता हैं, औदयिकभाव वन्ध करते हैं और पारिणामिकभाव वन्ध मोक्षकी क्रियासे रहित हैं।

प्रश्नः—उपरोक्त कथनका क्या आशय है?

उत्तरः—इस श्लोकमें यह नही कहा है कि कौनसा भाव उपादेय अर्थात् आश्रय करने योग्य है किन्तु इसमें मोक्ष जोकि कर्मके अभावरूप निमित्तकी अपेक्षा रखता है वह भाव जव प्रगट होता है तव जीवका कौनसा भाव होता है यह वताया है अर्थात् मोक्ष जोकि सापेक्ष पर्याय है उसका प्रगट होते समय तथा पूर्व सापेक्ष पर्याय कौनसी थी इसका स्वरूप वताया है। यह श्लोक वतलाता है कि क्षायिकभाव मोक्षको करता है अर्थात् उस भावका निमित्त पाकर आत्मप्रदेशसे द्रव्यकर्मका स्वयं अभाव होता है। मोक्ष इस अपेक्षा से क्षायिक पर्याय है और क्षायिकभाव जडकर्मका अभाव सूचित करता है। क्षायिकभाव होनेसे पूर्व मोहके औपशमिक तथा क्षायोपशमिकभाव होना ही चाहिये और तत्पश्चात् क्षायिकभाव प्रगट होते हैं और क्षायिकभावके प्रगट होने पर ही कर्मोका स्वयं अभाव होता है-तथा ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्वन्ध वतानेके लिये यह कहा है कि 'यह तीनों भाव मोक्ष करते हैं'। इस श्लोकमें यह प्रतिपादन नही किया गया है कि-किस भावके आश्रयसे धर्म प्रगट होता है। ध्यान रहे कि पहिले चारों भाव स्व-अपेक्षासे परिणामिकभाव हैं। (देखो, जयधवल ग्रन्थ पृष्ठ ३१९, धवला भाग ५ पृष्ठ १९७)

४. प्रश्नः—ऊपरके श्लोकमें कहा गया है कि—औदयिकभाव वन्धका कारण है। यदि यह स्वीकार किया जाय तो गति, जाति, आदि नामकर्म सम्वन्धी-औदयिक भाव भी वन्धके कारण क्यों नही होंगे?

उत्तरः—श्लोकमें कहे गये औदयिकभावमे सर्व औदयिकभाव वन्धके कारण हैं ऐसा नही समझना चाहिये, किन्तु यह समझना चाहिये कि मात्र मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योग यह चार भाव वन्धके कारण हैं। (श्री धवला पुस्तक ७ पृष्ठ ९-१०)

५. प्रश्नः—'औदयिका भावाःवंधकारणम्' इसका क्या अर्थ है?

उत्तरः—इसका यही अर्थ है कि यदि जीव मोहके उदयमें युक्त होता है तो वन्ध होता है। द्रव्य मोहका उदय होनेपर भी यदि जीव शुद्धात्मभावनाके वलसे भाव मोहरूप परिणमित न हो तो वन्ध नही होता। यदि जीवको कर्मोदयके कारण वन्ध होता हो तो संसारीके सर्वदा कर्मोदय विद्यमान हैं इसलिये उसे सर्वदा वन्ध होगा, कभी मोक्ष होगा ही नही। इसलिये यह समझना चाहिये कि कर्मका उदय वन्धका कारण नही है, किन्तु जीवका

भावमोहरूपसे परिणमन होना बन्धका कारण है।

(श्री प्रवचनसार पृष्ठ ५८-५९ जयसेनाचार्य कृत टीका)

६ प्रश्नः—पारिणामिकभावको कहीं किसी गुणस्थानमें पर्यायरूपसे वर्णन किया है?

उत्तरः—हाँ, दूसरा गुणस्थान दर्शनमोहनीय कर्मकी उदय, उपशम, क्षयोपशम, या क्षय इन चार अवस्थाओंमेंसे किसी भी अवस्थाओंमेंसे किसी भी अवस्थाकी अपेक्षा नहीं रखता, इतना बतानेके लिये वहाँ श्रद्धाकी पर्याय अपेक्षासे पारिणामिकभाव कहा गया है। यह जीव भी चारित्रमोहके साथ युक्त होता है तो वह तो औदयिकभाव है, उस जीवके ज्ञान-दर्शन और वीर्यका क्षायोपशमिकभाव है और सब जीवोंके (द्रव्यविकल्पसे) अनादि अनन्त पारिणामिकभाव होता है वह इस गुणस्थानमें रहनेवाले जीवके भी होता है।

७ प्रश्नः—सम्यग्दृष्टि जीव विकारीभावोंको-अपूर्णदशाको आत्माका स्वरूप नहीं मानते और इस सूत्रमें ऐसे भावोंको आत्माका स्वतत्त्व कहा है इसका क्या कारण है?

उत्तरः—विकारीभाव और अपूर्ण अवस्था आत्माकी वर्तमान भूमिकामें आत्माके अपने दोषके कारण होती है, किसी जड़कर्म अथवा परद्रव्यके कारण नहीं, यह बतानेके लिये इस सूत्रमें उस भावको 'स्वतत्त्व' कहा है।

७ जीवका कर्तव्य

जीवको तत्त्वादिका निश्चय करनेका उद्यम करना चाहिये, उससे औपशमिकादि सम्यक्त्व स्वयं होता है। द्रव्यकर्मके उपशमादि पुद्गलकी शक्ति (पर्याय) है, जीव उसका कर्ता-हर्ता नहीं है। पुरुषार्थ पूर्वक उद्यम करना जीवका काम है। जीवको स्वयं तत्त्वनिर्णय करनेमें उपयोग लगाना चाहिये। इस पुरुषार्थसे मोक्षके उपायकी सिद्धि अपने आप होती है। जब जीव पुरुषार्थके द्वारा तत्त्वनिर्णय करनेमें उपयोग लगानेका अभ्यास करता है तब उसकी विशुद्धता बढ़ती है कर्मोंका रस स्वयं हीन होता है और कुछ समयमें जब अपने पुरुषार्थ द्वारा प्रथम औपशमिकभावसे प्रतीति प्रगट करता है तब दर्शनमोहका स्वयं उपशम हो जाता है। जीवका कर्तव्य तो तत्त्वनिर्णयका अभ्यास है। जब जीव तत्त्वनिर्णयमें उपयोग लगाता है तब दर्शनमोहका उपशम स्वयमेव हो जाता है, कर्मके उपशममें जीवका कोई भी कर्तव्य नहीं है। (आधुनिक हिंदी मोक्षमार्ग प्रकाशक अ० ९ पृष्ठ ३१२)

८. पांच भावोंके संबंधमें विशेष स्पष्टीकरण

कुछ लोग आत्माको सर्वथा (एकान्त) चैतन्यमात्र मानते हैं अर्थात् सर्वथा शुद्ध मानते हैं, वर्तमान अवस्थामें अशुद्धताके होनेपर भी उसे स्वीकार नहीं करते। और कोई आत्माका स्वरूप सर्वथा आनन्दमात्र मानते हैं, वर्तमान अवस्थामें दुःख होने पर भी उसे स्वीकार नहीं करते। यह सूत्र सिद्ध करता है कि उनकी वे मान्यतायें और उन जैसी दूसरी मान्यताएँ ठीक नहीं हैं। यदि आत्मा सर्वथा शुद्ध ही हो तो संसार, बन्ध, मोक्ष और मोक्षका उपाय इत्यादि सब मिथ्या हो जायेंगे। आत्माका त्रैकालिक स्वरूप और वर्तमान अवस्थाका स्वरूप (अर्थात् द्रव्य और पर्यायसे आत्माका स्वरूप) कैसा होता है सो यथार्थतया यह पांच भाव बतलाते हैं। यदि इन पांच भावोंमेंसे एक भी भावका अस्तित्व स्वीकार न किया जाय तो आत्माके शुद्ध-अशुद्ध स्वरूपका सत्य कथन नहीं होता, और उससे ज्ञानमें दोष आता है। यह सूत्र ज्ञानका दोष दूर करके, आत्माके त्रैकालिक स्वरूप और निगोदसे सिद्ध तककी उसकी समस्त अवस्थाओंको अत्यल्प शब्दोंमें चमत्कारिक रीतिसे बतलाता है। उन पांच भावोंमें चौदह गुणस्थान तथा सिद्धदशा भी आ जाती है।

इस शास्त्रमें अनादिकालसे चला आनेवाला-औदयिकभाव प्रथम नहीं लिया है किन्तु औपशमिकभाव पहिले लिया गया है; यह ऐसा सूचित करता है कि इस शास्त्रमें स्वरूपको समझनेके लिये भेद बतलाये गये हैं तथापि भेदके आश्रयसे अर्थात् औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक या क्षायिकभावोंके आश्रयसे विकल्प चालू रहता है अर्थात् अनादिकालसे चला आनेवाला औदयिकभाव ही चालू रहता है, इसलिये उन भावोंकी ओरका आश्रय छोड़कर ध्रुवरूप पारिणामिकभावकी ओर लक्ष करके एकाग्र होना चाहिए। ऐसा करने पर पहिले औपशमिकभाव प्रगट होता है, और क्रमशः शुद्धताके बढ़नेपर क्षायिकभाव प्रगट होता है।

९. इस सूत्रमें नय-प्रमाणकी विवक्षा

वर्तमान पर्याय[1] और उसके अतिरिक्त जो द्रव्य सामान्य तथा उसके गुणोंका सादृश्यतया त्रिकाल ध्रुवरूपसे बने रहना[2]—ऐसे दो पहलू प्रत्येक द्रव्यमें हैं, आत्मा भी एक द्रव्य है, इसलिए उसमें भी ऐसे दो पहलू हैं, उनमेसे वर्तमान पर्यायका विषय करनेवाला पर्यायार्थिकनय है। इस सूत्रमें कथित पांच भावोंमेसे औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक और औदयिक यह चार भाव पर्यायरूप-वर्तमान अवस्थामात्रके लिये हैं इसलिये वे पर्यायार्थिकनयका विषय हैं; उस वर्तमान पर्यायको छोड़कर द्रव्य-सामान्य तथा उसके अनन्तगुणोंका जो सादृश्यता त्रिकाल ध्रुवरूप स्थिर रहना है उसे पारिणामिकभाव कहते हैं; उस भावको कारणपरमात्मा,

कारणसमयसार या ज्ञायकभाव भी कहा जाता है, वह त्रिकाल सादृश्यरूप होनेसे द्रव्यार्थिकनयका विषय है, यह दोनों पहलू (पर्यायार्थिकनयका विषय और द्रव्यार्थिकनयका विषय दोनों) एक होकर सम्पूर्ण जीव द्रव्य है, इसलिये ये दोनों पहलू प्रमाणके विषय हैं।

इन दोनों पहलुओंका नय और प्रमाणके द्वारा यथार्थ ज्ञान करके जो जीव अपनी वर्तमान पर्यायको अपने अभेद त्रैकालिक पारिणामिकभावकी ओर ले जाता है उसे सम्यग्दर्शन होता है, और वह क्रमशः स्वभावके अवलम्बनसे आगे बढ़कर मोक्षदशारूप क्षायिकभावको प्रगट करता है ॥ १ ॥

भावोंके भेद

द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रिभेदाः यथाक्रमम् ॥ २ ॥

अर्थः—उपरोक्त पाँच भाव [यथाक्रमम्] क्रमशः [द्वि नव अष्टादश एकविंशति त्रिभेदाः] दो, नव, अट्ठारह इक्कीस और तीन भेदवाले हैं।

इन भेदोंका वर्णन आगेके सूत्रोंके द्वारा करते हैं ॥ २ ॥

औपशमिकभावके दो भेद

सम्यक्त्वचारित्रे ॥ ३ ॥

अर्थः—[सम्यक्त्व] औपशमिक सम्यक्त्व और [चारित्रे] औपशमिक चारित्र—इसप्रकार औपशमिकभावके दो भेद हैं।

टीका

(१) **औपशमिकसम्यक्त्व**—जब जीवके अपने सत्पुरुषार्थसे औपशमिक सम्यक्त्व प्रगट होता है तब जड़कर्मोंके साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध ऐसा है कि वे मिथ्यात्वकर्मका और अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभका स्वयं उपशम हो जाता है। अनादि मिथ्यादृष्टि जीवोंके तथा किसी सादिमिथ्यादृष्टिके मिथ्यात्वकी एक और अनन्तानुबन्धीकी चार इसप्रकार कुल पाँच प्रकृतियाँ उपशमरूप होती हैं, और शेष सादि मिथ्यादृष्टिके मिथ्यात्व, सम्यक्मिथ्यात्व और सम्यक्त्वप्रकृति—यह तीन तथा अनन्तानुबन्धीकी चार, यों कुल सात प्रकृतियोंका उपशम होता है। जीवके इस भावको औपशमिक सम्यक्त्व कहा जाता है।

(२) **औपशमिक चारित्र**—जब जिस चारित्रभावसे उपशम श्रेणीके योग्य भाव प्रगट करता है उसे औपशमिक चारित्र कहते हैं। उस समय मोहनीय कर्मकी अप्रत्याख्यानावरणादि २१ प्रकृतियोंका स्वयं उपशम हो जाता है।

(५) क्षायिक भोगः—अपने शुद्धस्वभावका भोग क्षायिक भोग है और निमित्त-रूपसे पुष्पवृष्टि आदिक विशेषोंका प्रगट होना क्षायिक भोग है।

(६) क्षायिक उपभोगः—अपने शुद्धस्वरूपका प्रतिसमय उपभोग होना सो क्षायिक उपभोग है, और निमित्तरूपसे छत्र, चमर, सिंहासनादि विभूतियोंका होना क्षायिक उपभोग है।

(७) क्षायिक वीर्यः—अपने शुद्धात्म स्वरूपमें उत्कृष्ट सामर्थ्यरूपसे प्रवृत्तिका होना सो क्षायिक वीर्य है।

(८) क्षायिक सम्यक्त्वः—अपने मूलस्वरूपकी दृढ़तम प्रतीतिरूप पर्याय क्षायिक सम्यक्त्व है, जब यह प्रगट होती है तब मिथ्यात्वकी तीन और अनंतानुबंधीकी चार, इस-प्रकार कुल सात कर्म-प्रकृतियोंका स्वयं क्षय होता है।

(९) क्षायिक चारित्र—अपने स्वरूपका पूर्ण चारित्र प्रगट होना सो क्षायिकचारित्र है। उस समय मोहनीय कर्मकी शेष २१ प्रकृतियोंका क्षय होता है। इसप्रकार जब कर्मका स्वयं क्षय होता है तब मात्र उपचारसे यह कहा जाता है कि 'जीवने कर्मका क्षय किया है' परमार्थसे तो जीवने अपनी अवस्थामें पुरुषार्थ किया है, जड़ प्रकृतिमें नहीं।

इन नव क्षायिकभावोंको नव लब्धि भी कहते हैं ॥४॥

क्षायोपशमिकभावके १८ भेद

ज्ञानाज्ञानदर्शनलब्धयश्चतुस्त्रित्रिपंचभेदाः सम्यक्त्वचारित्रसंयमासंयमाश्च ॥५॥

अर्थः—[ज्ञान अज्ञान] मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय यह चार ज्ञान तथा कुमति, कुश्रुत और कुअवधि ये तीन अज्ञान [दर्शन] चक्षु, अचक्षु और अवधि ये तीन दर्शन [लब्धयः] क्षायोपशमिकदान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य ये पांच लब्धियां [चतु त्रि त्रि भेदाः] इसप्रकार ४+३+३+५=(१५) भेद तथा [सम्यक्त्व] क्षायोपशमिक सम्यक्त्व [चारित्र] क्षायोपशमिक चारित्र [च] और [संयमासंयमाः] संयमासंयम इसप्रकार क्षायोपशमिकभावके १८ भेद हैं।

टीका

क्षायोपशमिक सम्यक्त्वः—मिथ्यात्वकी तथा अनंतानुबंधीकी कर्म-प्रकृतियोंके उदया-

भावी क्षय तथा उपशमकी अपेक्षासे क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कहलाता है और सम्यक्त्व-प्रकृतिके उदयकी अपेक्षासे उसीको वेदक सम्यक्त्व कहा जाता है।

क्षायोपशमिक चारित्र—सम्यग्दर्शन पूर्वक-चारित्रके समय जो राग है उसकी अपेक्षासे वह सराग चारित्र कहलाता है किन्तु उसमें जो राग है वह चारित्र नहीं है, जितना वीतरागभाव है उतना ही चारित्र है। इस चारित्रको क्षायोपशमिक चारित्र कहते हैं।

संयमासंयम—इस भावको देशव्रत, अथवा विरताविरत चारित्र भी कहते हैं।

मतिज्ञान इत्यादिका स्वरूप पहिले अध्यायमें कहा जा चुका है।

दान, लाभ इत्यादि लब्धिका स्वरूप ऊपरके सूत्रमें कहा गया है। वहां क्षायिकभावसे वह लब्धि थी और यहां वह लब्धि क्षायोपशमिकभावमें है ऐसा समझना चाहिए ॥५॥

औदयिकभावके २१ भेद

गतिकषायलिंगमिथ्यादर्शनाज्ञानासंयतासिद्धलेश्या-श्चतुश्चतुस्त्र्येकैकैकैकषड्भेदाः ॥ ६ ॥

अर्थः—[गति] तिर्यंच, नरक, मनुष्य, और देव यह चार गतियां [कषाय] क्रोध, मान, माया, लोभ यह चार कषायें [लिंग] स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद, यह तीन लिंग [मिथ्यादर्शन] मिथ्यादर्शन [अज्ञान] अज्ञान [असंयत] असंयम [असिद्ध] असिद्धत्व तथा [लेश्याः] कृष्ण, नील, कापोत, पीत पद्म और शुक्ल यह छह लेश्यायें इसप्रकार [चतुः चतुः त्रि एक एक एक एक षड्भेदाः] ४+४+३+१+१+१+१+६(२१) इसप्रकार सब मिलाकर औदयिकभावके २१ भेद हैं।

टीका

प्रश्नः—गति अघातिकर्मके उदयसे होती है, जीवके अनुजीवीगुणके घातका वह निमित्त नहीं है तथापि उसे औदयिकभावमें क्यों गिना है?

उत्तरः—जीवके जिस प्रकारकी गतिका संयोग होता है उसीमें वह ममत्व करने लगता है, जैसे वह यह मानता है कि 'मैं मनुष्य हूं, मैं पशु हूं, मैं देव हूं मैं नारकी हूं'। इसप्रकार जहां मोहभाव होता है वहां वर्तमान गतिमें जीव अपनेपनकी कल्पना करता है, इसलिये तथा चारित्रमोहकी अपेक्षासे गतिको औदयिक भावमें गिन लिया गया है। [सिर्फ गतिको उदय भावमें लिया जाय तो १४ गुणस्थान तक है।]

लेश्या.—कषायसे अनुरंजित योगको लेश्या कहते हैं। लेश्याके दो प्रकार हैं–द्रव्यलेश्या तथा भावलेश्या। यहाँ भावलेश्या का विषय है। भावलेश्या छह प्रकारकी है। ऐसा नहीं समझना चाहिये कि लेश्याके समय आत्मामें उस उस प्रकारका रंग होता है किन्तु जीवके विकारी कार्य भावापेक्षासे ६ प्रकारके होते हैं, उस भावमें विकारका तारतम्य बतानेके लिये ६ प्रकार कहे हैं। लोकमें यदि कोई व्यक्ति खराब काम करता है तो कहा जाता है कि इसने काला काम किया है, वहाँ उसके कामका रंग काला नहीं होता किन्तु उस काममें उसका तीव्र बुरा भाव होनेसे उसे काला कहा जाता है, और इस भावापेक्षासे उसे कृष्ण-लेश्या कहते हैं। जैसे जैसे विकारकी तीव्रतामें हलकापन होता है उसीप्रकार भावको 'नील लेश्या' इत्यादि नाम दिये जाते हैं। शुक्ल लेश्या भी शुभ औदयिकभावमें होती है। शुक्ल-लेश्या कहीं धर्म नहीं है क्योंकि वह मिथ्यादृष्टियोंके भी होती है। पुण्यके तारतम्यमें जब उच्च पुण्यभाव होता है तब शुक्ल लेश्या होती है। यह औदयिकभाव है और इसलिये यह संसारका कारण है, धर्मका नहीं।

प्रश्नः—भगवानको तेरहवें गुणस्थानमें कषाय नहीं होती फिर भी उनके शुक्ललेश्या क्यों कही है?

उत्तर.—भगवानके शुक्ललेश्या उपचारसे कही है। पहिले योगके साथ लेश्याका सहकारित्व था, वह योग तेरहवें गुणस्थानमें विद्यमान होनेसे वहाँ उपचारसे लेश्या भी कह दी गई है। लेश्याका कार्य कर्मबंध है। भगवानके कषाय नहीं है फिर भी योगके होनेसे एक समयका बंध है यह अपेक्षा लक्षमें रखकर उपचारसे शुक्ललेश्या कही गई है।

अज्ञानः—ज्ञानका अभाव अज्ञान है, इस अर्थमें यहाँ अज्ञान लिया गया है, कुज्ञानको यहाँ नहीं लिया है, कुज्ञानको क्षायोपशमिकभावमें लिया है ॥६॥

[औदयिकभावकी विशेष चर्चा देखो-पंचाध्यायी भा० २ गा० ९७७ से १०१२-सि० शास्त्री पं० फूलचंद्रजी कृत टीका पृ० ३२०-२१, ३०७ से ३२१, तथा पं० देवकीनन्दनजी टीका गा० ९८० से १०४९, पत्र ४१५ ४४८।]

पारिणामिकभावके तीन भेद

जीवभव्याभव्यत्वानि च ॥७॥

अर्थः—[जीवभव्याभव्यत्वानि च] जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व—इसप्रकार पारिणामिकभावके तीन भेद हैं।

टीका

१ सूत्रके अंतमें 'च' शब्दसे अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्व आदि सामान्य गुणोंका भी ग्रहण होता है।

भव्यत्वः—मोक्ष प्राप्त करने योग्य जीवके 'भव्यत्व' होता है।

अभव्यत्वः—जो जीव कभी भी मोक्ष प्राप्त करनेके योग्य नहीं होते उनके 'अभव्यत्व' होता है।

जीवत्वः—चैतन्यत्व, जीवनत्व, ज्ञानादि गुणयुक्त रहना सो जीवन है।

पारिणामिक भावका अर्थः—कर्मोदयकी अपेक्षाके बिना आत्मामें जो गुण मूलतः स्वभावमात्र ही हों उन्हें 'पारिणामिक' कहते हैं। अथवा—

" द्रव्यात्मलाभमात्रहेतुकः परिणामः "

(पंचास्तिकाय गाथा ५३ संस्कृत टीका)

अर्थः—जो वस्तुके निजस्वरूपकी प्राप्ति मात्रमें ही हेतु हो सो पारिणामिक है।

(सर्वार्थसिद्धि टीका)

२. विशेष स्पष्टीकरण

(१) पाँच भावोंमें औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक और औदयिक यह चार भाव पर्यायरूप (वर्तमानमें विद्यमान दशारूप) हैं और पांचवाँ शुद्ध पारिणामिकभाव है वह त्रिकाल एकरूप ध्रुव है इसलिये वह द्रव्यरूप है। इसप्रकार आत्मपदार्थ द्रव्य और पर्याय सहित (जिस समय जो पर्याय हो उस सहित) है।

(२) जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व—इन तीन पारिणामिक भावोंमें जो शुद्ध जीवत्वभाव है वह शुद्ध द्रव्यार्थिक नयके आश्रित होनेसे नित्य निरावरण शुद्ध पारिणामिक-भाव है और वह बन्ध-मोक्ष पर्याय (-परिणति) से रहित है।

(३) जो दस प्राणरूप जीवत्व तथा भव्यत्व, अभव्यत्व है उसे वर्तमानमें होनेवाले अवस्थाके आश्रित होनेसे (पर्यायार्थिक नयाश्रित होनेसे) अशुद्ध पारिणामिकभाव समझना चाहिए। जैसे सर्व संसारी जीव शुद्धनयसे शुद्ध हैं उसीप्रकार यदि अवस्थादृष्टिसे भी शुद्ध हैं ऐसा माना जाय तो दस प्राणरूप जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्वका अभाव ही हो जाय।

(४) भव्यत्व और अभव्यत्वमेंसे भव्यत्वनामक अशुद्ध पारिणामिक भाव भव्यजीवोंके

होता है। यद्यपि यह भाव द्रव्यकर्मकी अपेक्षा नहीं रखता तथापि जीवके सम्यक्त्वादि गुण जब मलिनतामें रुके होते हैं तब उसमें जड़ कर्म जो निमित्त है उसे भव्यत्वकी अशुद्धतामें उपचारसे निमित्त कहा जाता है। यह जीव जब अपनी पात्रताके द्वारा ज्ञानीकी देशनाको सुनकर सम्यग्दर्शन प्रगट करता है और अपने चारित्रमें स्थिर होता है तब उसे भव्यत्व शक्ति प्रगट (व्यक्त) होती है। यह जीव सहज शुद्ध पारिणामिकभाव जिसका लक्षण है ऐसे अपने परमात्मद्रव्यमय सम्यक् श्रद्धा, ज्ञान और अनुचरणरूप अवस्था (पर्याय) को प्रगट करता है।

(देखो समयसार हिन्दी, जयसेनाचार्यकृत संस्कृत टीका पृष्ठ ४२१)

(५) पर्यायार्थिक नयसे कहा जानेवाला भव्य-भव्यत्वभावका अभाव मोक्षदशामें होता है अर्थात् जीवमें जब सम्यग्दर्शनादि गुणकी पूर्णता हो जाती है तब भव्यत्वका व्यवहार मिट जाता है। (देखो अध्याय १०, सूत्र ३)

३. अनादि अज्ञानी जीवके कौनसे भाव कभी नहीं हुए ?

(१) यह बात लक्षमें रखना चाहिए कि जीवके अनादिकालसे ज्ञान, दर्शन और वीर्य क्षायोपशमिकभावरूपसे हैं किन्तु वे कहीं धर्मके कारण नहीं हैं।

(२) अपने स्वरूपकी असावधानी-जो मिथ्यादर्शनरूप मोह उसका अभावरूप औपशमिकभाव अनादि अज्ञानी जीवके कभी प्रगट नहीं हुआ। जब जीव सम्यग्दर्शन प्रगट करता है तब दर्शनमोहका (मिथ्यात्वका) उपशम होता है। सम्यग्दर्शन अपूर्व है, क्योंकि जीवके कभी भी पहले यह भाव नहीं हुआ था। इस औपशमिकभावके होनेके बाद मोहसे सम्बन्ध रखनेवाले क्षायोपशमिक और क्षायिकभाव उस जीवके प्रगट हुये बिना नहीं रहते, वह जीव अवश्य ही मोक्षावस्थाको प्रगट करता है।

४. उपरोक्त औपशमिकादि तीन भाव किस विधिसे प्रगट होते हैं ?

(१) जब जीव अपने इन भावोंका स्वरूप समझकर त्रिकाल ध्रुवरूप (सकलनिरावरण) अखण्ड एक अविनश्वर शुद्ध पारिणामिकभावकी ओर अपना लक्ष स्थिर करता है तब उपरोक्त तीन भाव प्रगट होते हैं।

'मैं खण्ड ज्ञानरूप हूँ' ऐसी भावनासे औपशमिकादिभाव प्रगट नहीं होते।

(श्री समयसार हिन्दी, जयसेनाचार्यकृत टीका पृष्ठ ४८३)

(२) अपने अविनश्वर शुद्ध पारिणामिकभावकी ओरके झुकावको अध्यात्म-भाषामें 'निश्चयनयका आश्रय' कहा जाता है। निश्चयनयके आश्रयसे शुद्ध पर्याय प्रगट होती है। निश्चयका विषय अखण्ड अविनश्वर शुद्ध पारिणामिकभाव अर्थात् ज्ञायकभाव है। व्यवहारनयके आश्रयसे शुद्धता प्रगट नहीं होती किन्तु अशुद्धता प्रगट होती है। (श्री समयसार गाथा ११)

५. पाँच भावोंमेंसे कौनसे भाव बन्धरूप हैं और कौनसे नहीं?

(१) इन पांच भावोंमेंसे एक औदयिकभाव (मोहके साथका संयुक्तभाव) बन्धरूप है। जब जीव मोहभाव करता है तब कर्मका उदय उपचारसे बन्धका कारण कहलाता है। द्रव्यमोहका उदय होने पर भी यदि जीव मोहभावरूपसे परिणमित न हो तो बन्ध न हो और तब वही जड़कर्मकी निर्जरा कहलाये।

(२) जिसमें पुण्य-पाप, दान, पूजा, व्रतादि भावोंका समावेश होता है ऐसे आस्रव और बन्ध दो औदयिकभाव हैं; संवर और निर्जरा मोहके औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिकभाव हैं, वे शुद्धताके अंश होनेसे बन्धरूप नही हैं; और मोक्ष क्षायिकभाव है, वह सर्वथा पूर्ण पवित्र पर्याय है इसलिये वह भी बन्धरूप नही है।

(३) उपयोग-आत्मा रागादिसे भिन्न माने उसे बन्ध नहीं होता (देखो अध्यात्म-तरंगिणी बन्ध अधिकार कलश ३, पृष्ठ १३६)

(४) शुद्ध त्रैकालिक पारिणामिकभाव बन्ध और मोक्षसे निरपेक्ष है ॥ ७॥

जीवका लक्षण

उपयोगो लक्षणम् ॥ ८ ॥

अर्थः—[लक्षणम्] जीवका लक्षण [उपयोगः] उपयोग है।

टीका

लक्षणः—बहुतसे मिले हुए पदार्थोंमेंसे किसी एक पदार्थको अलग करनेवाले हेतु (साधन)को लक्षण कहते हैं।

उपयोगः— चैतन्यगुणके साथ सम्बन्ध रखनेवाले जीवके परिणामको उपयोग कहते हैं। उपयोगको 'ज्ञान-दर्शन' भी कहते हैं, वह सभी जीवोंमें होता है और जीवके

अतिरिक्त अन्य किसी द्रव्यमें नहीं होता, इसलिये उसे जीवका असाधारण गुण अथवा लक्षण कहते हैं। और वह सद्भूत (आत्मभूत) लक्षण है इसलिये सब जीवोंमें सदा होता है। इस सूत्रमें ऐसा सामान्य लक्षण दिया है जो सब जीवों पर लागू होता है।

(तत्त्वार्थसार पृष्ठ ५४)

जैसे सोने-चाँदीका एक पिंड होने पर भी उसमें सोना अपने पीलेपन आदि लक्षणसे और चाँदी अपने शुक्लादि लक्षणसे दोनों अलग अलग हैं, ऐसा उनका भेद जाना जा सकता है, इसीप्रकार जीव और कर्म-नोकर्म (शरीर) एक क्षेत्रमें होने पर जीव अपने उपयोग-लक्षणके द्वारा कर्म-नोकर्मसे अलग है और द्रव्यकर्म-नोकर्म अपने स्पर्शादि लक्षणके द्वारा जीवसे अलग हैं, इसप्रकार उनका भेद प्रत्यक्ष जाना जा सकता है।

जीव और पुद्गलका अनादिकालसे एकक्षेत्रावगाहरूप सम्बन्ध है, इसलिये अज्ञान-दशामें वे दोनों एकरूप भासित होते हैं। जीव और पुद्गल एक आकाश क्षेत्रमें होने पर भी यदि उनके यथार्थ लक्षणोंसे विचार किये जांय तो वे दोनों भिन्न हैं ऐसा ज्ञान होता है। बहुतसे मिले हुए पदार्थोंमेंसे किसी एक पदार्थको अलग करनेवाले हेतुको लक्षण कहते हैं। अनन्त परमाणुओंसे बना हुआ शरीर और जीव इसप्रकार बहुतसे मिले हुए पदार्थ हैं उनमें अनन्त पुद्गल हैं और एक जीव है। उसे ज्ञानमें अलग करनेके लिये यहाँ जीवका लक्षण बताया गया है। 'जीवका लक्षण उपयोग है' इसप्रकार यहाँ कहा है।

प्रश्नः—उपयोगका अर्थ क्या है ?

उत्तरः—चैतन्य आत्माका स्वभाव है, उस चैतन्यस्वभावका अनुसरण करनेवाले आत्माके परिणामको उपयोग कहते हैं। उपयोग जीवका अबाधित लक्षण है।

आठवें सूत्रका सिद्धान्त

मैं शरीरादिके कार्य कर सकता हूं, और मैं उन्हें हिला-डुला सकता हूं, ऐसा जो जीव मानते हैं वे चेतन और जड़ द्रव्यको एकरूप मानते हैं। उनकी इस मिथ्या मान्यताको छुड़ानेके लिये और जीवद्रव्य जड़से सर्वथा भिन्न है यह बतानेके लिये इस सूत्रमें जीवका असाधारण लक्षण उपयोग है—ऐसा बताया गया है।

नित्य उपयोग लक्षणवाला जीवद्रव्य कभी पुद्गल द्रव्यरूप (शरीरादिरूप) होता हुआ देखनेमें नहीं आता और नित्य जड़ लक्षणवाला शरीरादि पुद्गलद्रव्य कभी जीवद्रव्यरूप होता हुआ देखनेमें नहीं आता, क्योंकि उपयोग और जड़त्वके एकरूप होनेमें प्रकाश और अंध-

कारकी भांति विरोध है। जड़ और चैतन्य कभी भी एक नही हो सकते। वे दोनों सर्वथा भिन्न भिन्न हैं, कभी भी, किसी भी प्रकारसे एकरूप नहीं होते, इसलिये हे जीव तू सब प्रकारसे प्रसन्न हो! अपना चित्त उज्ज्वल करके सावधान हो और स्वद्रव्य को ही 'यह मेरा है' ऐसा अनुभव कर। ऐसा श्रीगुरुका उपदेश है। (समयसार)

जीव, शरीर और द्रव्यकर्म एक आकाश-प्रदेशमें बंधरूप रहते हैं इसलिये उन बहुतसे मिले हुये पदार्थोंमेंसे एक जीव पदार्थको अलग जाननेके लिये इस सूत्रमें जीवका लक्षण कहा गया है ॥८॥ (सर्वार्थसिद्धि भाग २, पृष्ठ २७-२८)

उपयोगके भेद

स द्विविधोऽष्टचतुर्भेदः ॥ ९ ॥

प्रश्नः—[सः] वह उपयोग [द्विविधः] ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोगके भेदसे दो प्रकारका है; और वे क्रमशः [अष्ट चतुः भेदः] आठ और चार भेद सहित हैं अर्थात् ज्ञानोपयोगके मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय, केवल (यह पांच सम्यग्ज्ञान) और कुमति, कुश्रुत तथा कुअवधि (यह तीन मिथ्याज्ञान) इसप्रकार आठ भेद हैं। तथा दर्शनोपयोगके चक्षु, अचक्षु, अवधि तथा केवल इसप्रकार चार भेद है। इसप्रकार ज्ञानके आठ और दर्शनके चार भेद मिलकर उपयोगके कुल बारह भेद हैं।

टीका

१. इस सूत्रमें उपयोगके भेद बताये हैं, क्योकि यदि भेद बताये हों तो जिज्ञासु जल्दी समझ लेता है, इसलिये कहा है कि—"सामान्य शास्त्रतोनूनं, विशेषो बलवान् भवेत्" अर्थात् सामान्य शास्त्रसे विशेष बलवान् है। यहां सामान्यका अर्थ है संक्षेपमें कहनेवाला और विशेषका अर्थ है भेदविस्तार करके बतानेवाला। साधारण मनुष्य विशेषसे भलीभांति निर्णय कर सकते हैं।

(२) दर्शन शब्दका यहाँ लागू होनेवाला अर्थ—

शास्त्रोंमें एक ही शब्दका कही कोई अर्थ होता है और कही कोई। 'दर्शन' शब्दके भी अनेक अर्थ हैं।

(१) अध्याय १, सूत्र १-२ में मोक्षमार्ग सम्बधी कथन करते हुये 'सम्यग्दर्शन' शब्द कहा है, वहां दर्शन शब्दका अर्थ श्रद्धा है। (२) उपयोगके वर्णनमें 'दर्शन' शब्दका अर्थ वस्तुका

'सामान्य ग्रहणमात्र है। और (३) इन्द्रियके वर्णनमें 'दर्शन' शब्दका अर्थ नेत्रोंके द्वारा देखना मात्र है। इन तीन अर्थोंमेंसे यहाँ प्रस्तुत सूत्रमें दूसरा अर्थ लागू होता है।

(आधुनिक हिन्दी मोक्षमार्ग प्रकाशक अ० ८ पृष्ठ २९६)

दर्शनोपयोगः—किसी भी पदार्थको जाननेकी योग्यता (लब्धि) होने पर उस पदार्थ-की ओर सन्मुखता, प्रवृत्ति अथवा दूसरे पदार्थोंकी ओरसे हटकर विवक्षित पदार्थकी ओर उत्सुकता प्रगट होती है सो दर्शन है। यह उत्सुकता चेतनामें ही होती है। जबतक विवक्षित पदार्थको थोड़ा भी नहीं जाना जाता तबतकके चेतनाके व्यापारको 'दर्शनोपयोग' कहा जाता है। जैसे एक मनुष्यका उपयोग भोजन करनेमें लगा हुआ है और उसे एकदम इच्छा हुई कि बाहर मुझे कोई बुलाता तो नहीं है ? मैं यह जान लूँ। अथवा किसीकी आवाज कानमें आने पर उसका उपयोग भोजनसे हटकर शब्दकी ओर लग जाता है इसमें चेतनाके उपयोगका भोजनसे हटना और शब्दकी ओर लगना किन्तु जबतक शब्दकी ओरका कोई भी ज्ञान नहीं होता तबतकका व्यापार 'दर्शनोपयोग' है।

पूर्व विषयसे हटना और बादके विषयकी ओर उत्सुक होना ज्ञानकी पर्याय नहीं है इसलिये उस चेतना पर्यायको 'दर्शनोपयोग' कहा जाता है।

(श्री तत्त्वार्थसार पृष्ठ ३१०–११ सनातन जैन ग्रन्थमाला–१७)

आत्माके उपयोगका पदार्थोन्मुख होना दर्शन है।

द्रव्यसंग्रहकी ४३ वीं गाथा की टीकामें 'सामान्य' शब्द प्रयुक्त हुआ है, उसका अर्थ 'आत्मा' है, सामान्य ग्रहणका मतलब है आत्मग्रहण और आत्मग्रहण दर्शन है।

३. साकार और निराकार

ज्ञानको साकार और दर्शनको निराकार कहा जाता है। उसमेंसे 'आकार' का अर्थ लम्बाई, चौड़ाई और मोटाई नहीं है, किन्तु जिसप्रकारका पदार्थ होता है उसीप्रकार ज्ञानमें ज्ञात हो उसे आकार कहते हैं। अमूर्तित्व आत्माका गुण होनेसे ज्ञान स्वयं वास्तवमें अमूर्त है। जो स्वयं अमूर्त हो और फिर द्रव्य न हो, मात्र गुण हो उसका अपना पृथक आकार नहीं हो सकता। अपने अपने आश्रयभूत द्रव्यका जो आकार होता है वही आकार गुणोंका होता है। ज्ञानगुणका आधार आत्मद्रव्य है इसलिये आत्माका आकार ही ज्ञानका आकार है। आत्मा चाहे जिस आकारके पदार्थको जाने तथापि आत्माका आकार तो (समुद्घातको छोड़कर) शरीराकार रहता है, इसलिये वास्तविकतया ज्ञान ज्ञेयपदार्थके आकाररूप नहीं होता किन्तु आत्माके आकाररूप होता है। जैसा ज्ञेय पदार्थ होता है वैसा

ही ज्ञान जान लेता है इसलिये ज्ञानका आकार कहा जाता है (तत्त्वार्थसार पृष्ठ ३०८-३०९) दर्शन एक पदार्थसे दूसरे पदार्थको पृथक् नहीं करता, इसलिये उसे निराकार कहा जाता है।

पंचाध्यायी भाग २ के श्लोक ३९१ में आकारका अर्थ निम्नप्रकार कहा गया है:—

आकारोर्थविकल्पः स्यादर्थः स्वपरगोचरः ।
सोपयोगो विकल्पो वा ज्ञानस्यैतद्धि लक्षणम् ॥

अर्थः—अर्थ, विकल्पको आकार कहते हैं, स्व-पर पदार्थको अर्थ कहा जाता है, उपयोगावस्थाको विकल्प कहते हैं; और यही ज्ञानका लक्षण है ।

भावार्थः—आत्मा अथवा अन्य पदार्थका उपयोगात्मक भेदविज्ञान होना ही आकार है, पदार्थोके भेदाभेदके लिये होनेवाले निश्चयात्मक बोधको ही आकार कहते हैं अर्थात् पदार्थोंका जानना ही आकार है, और वह ज्ञानका स्वरूप है ।

अर्थ=स्व और पर विषय; विकल्प =व्यवसाय; अर्थविकल्प=स्व-पर व्यवसायात्मक-ज्ञान । इस ज्ञानको प्रमाण कहते हैं ।

(पं० देवकीनन्दनकृत पंचाध्यायी टीका भाग १, श्लोक ६६६ का फुटनोट)

आकार सम्बन्धी विशेष स्पष्टीकरण

ज्ञान अमूर्तिक आत्मा गुण है, उसमें ज्ञेय पदार्थका आकार नही उतरता । मात्र विशेष पदार्थ उसमे भासने लगते हैं—यही उसकी आकृति माननेका मतलब है। सारांश—ज्ञानमें पर पदार्थकी आकृति वास्तवमें नहीं मानी जा सकती, किन्तु ज्ञान-ज्ञेय सम्बन्धके कारण ज्ञेयका आकृतिधर्म उपचार नयसे ज्ञानमें कल्पित किया जाता है; इस उपचारका फलितार्थ इतना ही समझना चाहिए कि पदार्थोंका विशेष आकार (-स्वरूप) निश्चय करानेवाले जो चैतन्य परिणाम हैं वे ज्ञान कहलाते हैं, किन्तु साकारका यह अर्थ नही है कि उस पदार्थके विशेष आकार तुल्य ज्ञान स्वय हो जाता है । (तत्त्वार्थसार पृष्ठ ५४)

४. दर्शन और ज्ञानके बीचका भेद

अन्तर्मुख चित्प्रकाशको दर्शन और बहिर्मुख चित्प्रकाशको ज्ञान कहा जाता है। सामान्य-विशेषात्मक बाह्य पदार्थको ग्रहण करनेवाला ज्ञान है और सामान्य-विशेषात्मक आत्मस्वरूपको ग्रहण करनेवाला दर्शन है ।

शंका:—इसप्रकार दर्शन और ज्ञानका स्वरूप माननेसे शास्त्रके इस वचनके साथ विरोध आता है कि-'वस्तुके सामान्य ग्रहणको दर्शन कहते हैं'।

समाधान:—समस्त बाह्य पदार्थोंके साथ साधारणता होनेसे उस वचनमें जहाँ 'सामान्य' संज्ञा दी गई है वहाँ सामान्यपदसे आत्माको ही ग्रहण करना चाहिए।

शंका:—यह किस परसे जाना जाय कि सामान्य पदसे आत्मा ही समझना चाहिए?

समाधान:—यह शंका ठीक नहीं है, क्योंकि "पदार्थके आकार अर्थात् भेद किये बिना" इस शास्त्र-वचनसे उसकी पुष्टि हो जाती है। इसीको स्पष्ट कहते हैं-बाह्य पदार्थोंको आकाररूप प्रतिकर्म व्यवस्थाको न करने पर (अर्थात् भेदरूपसे प्रत्येक पदार्थको ग्रहण किये बिना) जो सामान्य ग्रहण होता है उसे 'दर्शन' कहते हैं। और इस अर्थको दृढ़ करनेके लिये कहते हैं कि "यह अमुक पदार्थ है," यह कुछ है, इत्यादिरूप से पदार्थोंकी विशेषता किये बिना जो ग्रहण होता है उसे दर्शन कहते हैं।

शंका:—यदि दर्शनका लक्षण ऊपर कहे अनुसार मानोगे तो 'अनध्यवसाय' को मानना पड़ेगा।

समाधान:—नहीं ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि दर्शन बाह्य पदार्थोंका निश्चय न करके भी स्वरूपका निश्चय करनेवाला है, इसलिये अनध्यवसायरूप नहीं है। विषय और विषयीके योग्यदेशमें होनेसे पूर्वकी अवस्थाको दर्शन कहते हैं।

[श्री धवला भाग १ पृष्ठ १४२ से १४८, ३८० से ३८३ तथा बृहद्द्रव्यसंग्रह हिन्दी टीका पृष्ठ १७० से १७१ गाथा ४४ की टीका]

ऊपर जो दर्शन और ज्ञानके बीच भेद बताया गया है वह किस अपेक्षासे है?

आत्माके ज्ञान और दर्शन दो भिन्न गुण बताकर उस ज्ञान और दर्शनका भिन्न-भिन्न कार्य क्या है यह ऊपर बताया है इसलिये एक गुणसे दूसरे गुणके लक्षण-भेदकी अपेक्षासे (भेद नयसे) यह कथन है ऐसा समझना चाहिए।

४. अभेदापेक्षासे दर्शन और ज्ञानका अर्थ

दर्शन और ज्ञान दोनों आत्माके गुण हैं और वे आत्मासे अभिन्न हैं इसलिये अभेदा-पेक्षासे आत्मा दर्शन-ज्ञानस्वरूप है अर्थात् दर्शन आत्मा है और ज्ञान आत्मा है ऐसा समझना

चाहिए। द्रव्य और गुण एक दूसरेसे अलग नहीं हो सकते और द्रव्यका एक गुण उसके दूसरे गुणसे अलग नहीं हो सकता। यह अपेक्षा लक्षमें रखकर दर्शन स्व-पर दर्शक है और ज्ञान स्व-पर ज्ञायक है। अभेददृष्टिकी अपेक्षासे इसप्रकार अर्थ होता है।

[देखो श्री नियमसार गाथा १७१ तथा श्री समयसारमें दर्शन तथा ज्ञानका निश्चयनयसे अर्थ पृष्ठ ४२० से ४२७]

६. दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग केवली भगवानको युगपत् होता है

केवली भगवान्‌को दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग एक ही साथ होता है और छद्मस्थको क्रमशः होता है। केवली भगवान्‌को उपचारसे उपयोग कहा जाता है ॥ ९ ॥

जीवके भेद

संसारिणो मुक्ताश्च ॥ १० ॥

अर्थः—जीव [संसारिणः] संसारी [च] और [मुक्ताः] मुक्त ऐसे दो प्रकारके हैं। कर्म सहित जीवोंको संसारी और कर्म रहित जीवोंको मुक्त कहते हैं।

टीका

१. जीवोंकी वर्तमान दशाके ये भेद हैं, वे भेद पर्यायदृष्टिसे हैं। द्रव्यदृष्टिसे सब जीव एक समान हैं। पर्यायोंके भेद दिखानेवाला व्यवहार, परमार्थको समझानेके लिये कहा जाता है उसे पकड़ रखनेके लिये नहीं। इससे यह समझना चाहिए कि पर्यायमें चाहे जैसे भेद हों तथापि त्रैकालिक ध्रुवस्वरूपमें कभी भेद नहीं होता। "सर्व जीव हैं सिद्ध सम, जो समझे सो होय।" (आत्मसिद्धि शास्त्र गाथा १३५)

२. संसारी जीव अनन्तानन्त हैं। 'मुक्ताः' शब्द बहुवचनसूचक है इससे यह समझना चाहिये कि मुक्त जीव अनन्त हैं। 'मुक्ताः' शब्द यह भी सूचित करता है कि पहिले उन जीवोंको संसारी अवस्था थी और फिर उन्होंने यथार्थ समझ करके उस अशुद्ध अवस्थाका व्यय करके मुक्तावस्था प्रगट की है।

३. संसारकाअर्थः— 'सं' =भलीभांति, 'सृ+घञ्= खिसक जाना। अपने शुद्ध स्वरूपसे भलीभांति खिसक जाना (हट जाना) सो संसार है। जीवका संसार स्त्री, पुत्र, लक्ष्मी, मकान इत्यादि नहीं हैं वे तो जगत्‌के स्वतन्त्र पदार्थ हैं। जीव उन पदार्थोंमें अपनेपनकी कल्पना करके उन्हें इष्ट अनिष्ट मानता है इत्यादि अशुद्धभावको संसार कहते हैं।

४ सूत्रमें 'च' शब्द है, च शब्दके समुच्चय और अन्वाचय ऐसे दो अर्थ हैं, उनमेंसे यहाँ अन्वाचयका अर्थ बतलानेके लिए च शब्दका प्रयोग किया है (एक को प्रधानरूपसे और दूसरेको गौणरूपसे बताना 'अन्वाचय' शब्दका अर्थ है) संसारी और मुक्त जीवोंमेंसे संसारी जीव प्रधानतासे उपयोगवान् है और मुक्त जीव गौणरूपसे उपयोगवान् है,—यह बतलानेके लिये इस सूत्रमें 'च' शब्दका प्रयोग किया है।

(उपयोगका अनुसंधान सू० ८–९ से चला आता है।)

५. जीवकी संसारी दशा होनेका कारण आत्मस्वरूप संबंधी भ्रम है, उस भ्रमको मिथ्यादर्शन कहते हैं। उस भूलरूप मिथ्यादर्शनके कारणसे जीव पांच प्रकारके परिवर्तन किया करते हैं—संसार-चक्र चलता रहता है।

६ जीव अपनी भूलसे अनादिकालसे मिथ्यादृष्टि है, वह स्वतः अपनी पात्रताका विकास करके सत्समागमसे सम्यग्दृष्टि होता है। मिथ्यादृष्टित्व अवस्थाके कारण परिभ्रमण अर्थात् परिवर्तन होता है, उस परिभ्रमणको संसार कहते हैं, जीवको परके प्रति एकत्वबुद्धि होनेसे मिथ्यादृष्टित्व है। जब तक जीवका लक्ष पर पदार्थ पर है अर्थात् वह यह मानता है कि परसे मुझे हानि-लाभ होता है, राग करने लायक है, तबतक उसे परवस्तुरूप द्रव्यकर्म और नोकर्मके साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध होता है। उस परिवर्तनके पांच भेद होते हैं—(१) द्रव्यपरिवर्तन, (२) क्षेत्रपरिवर्तन, (३) कालपरिवर्तन, (४) भावपरिवर्तन, और (५) भवपरिवर्तन। परिवर्तनको संसरण अथवा परिवर्तन भी कहते हैं।

७ द्रव्यपरिवर्तनका स्वरूप

यहाँ द्रव्यका अर्थ पुद्गलद्रव्य है। जीवका विकारी अवस्थामें पुद्गलोंके साथ जो सम्बन्ध होता है उसे द्रव्यपरिवर्तन कहते हैं। उसके दो भेद हैं—(१) नोकर्मद्रव्यपरिवर्तन और (२) कर्मद्रव्यपरिवर्तन।

(१) नोकर्मद्रव्यपरिवर्तनका स्वरूप—औदारिक, तैजस और कार्मण अथवा वैक्रियक, तैजस और कार्मण इन तीन शरीर और छह पर्याप्तिके योग्य जो पुद्गलस्कन्ध एक समयमें एक जीवने ग्रहण किये वह जीव पुनः उसीप्रकारके स्निग्ध-रूक्ष स्पर्श, वर्ण, रस, गंध आदिमें तथा तीव्र, मंद या मध्यमभाववाले स्कंधोंको ग्रहण करता है तब एक नोकर्मद्रव्यपरिवर्तन होता है। (बीचमें जो अन्य नोकर्मका ग्रहण किया जाता है उन्हें गणनामें नहीं लिया जाता।) उसमें पुद्गलोंकी संख्या और जाति (Quality) बराबर उसीप्रकारके नोकर्मोंकी होनी चाहिये।

७. कर्मद्रव्यपरिवर्तनका स्वरूप

एक जीवने एक समयमें आठ प्रकारके कर्मस्वभाववाले जो पुद्गल ग्रहण किये थे वैसे ही कर्मस्वभाववाले पुद्गलोंको पुनः ग्रहण करे तब एक कर्मद्रव्यपरिवर्तन होता है। (बीचमें उन भावोंमें किंचित् मात्र अन्य प्रकारके दूसरे जो जो रजकण ग्रहण किये जाते हैं उन्हें गणनामें नहीं लिया जाता) उन आठ प्रकारके कर्मपुद्गलोंकी संख्या और जाति बराबर उसी प्रकारके कर्मपुद्गलोंकी होनी चाहिए।

स्पष्टीकरण—आज एक समयमें शरीर धारण करते हुए नोकर्म और द्रव्यकर्मके पुद्गलोंका सम्बन्ध एक अज्ञानी जीवको हुआ, तत्पश्चात् नोकर्म और द्रव्यकर्मोंका सम्बन्ध उस जीवके बदलता रहता है। इसप्रकार परिवर्तन होनेपर वह जीव पुनः वैसे ही शरीर धारण करके वैसे ही नोकर्म और द्रव्यकर्मोंको प्राप्त करता है तब एक द्रव्यपरिवर्तन पूरा किया कहलाता है। (नोकर्मद्रव्यपरिवर्तन और कर्मद्रव्यपरिवर्तनका काल एकसा ही होता है।)

८. क्षेत्रपरिवर्तनका स्वरूप

जीवकी विकारी अवस्थामें आकाशके क्षेत्रके साथ होनेवाले सम्बन्धको क्षेत्रपरिवर्तन कहते हैं। लोकके आठ मध्य प्रदेशोंको अपने शरीरके आठ मध्य प्रदेश बनाकर कोई जीव सूक्ष्मनिगोदमें अपर्याप्त सर्व जघन्य शरीरवाला हुआ और क्षुद्रभव (श्वासके अठारहवें भागकी स्थिति) को प्राप्त हुआ, तत्पश्चात् उपरोक्त आठ प्रदेशोंसे लगे हुए एक एक अधिक प्रदेशको स्पर्श करके समस्त लोकको जब अपने जन्मक्षेत्रके रूपमें प्राप्त करता है तब एक क्षेत्र-परिवर्तन पूर्ण हुआ कहलाता है। (बीचमें क्षेत्रका क्रम छोड़कर अन्यत्र जहां जहां जन्म लिया उन क्षेत्रोंको गणनामें नहीं लिया जाता।)

स्पष्टीकरण—मेरुपर्वतके नीचेसे प्रारम्भ करके क्रमशः एक-एक प्रदेश आगे बढ़ते हुए संपूर्ण लोकमें जन्म धारण करनेमें एक जीवको जितना समय लगे उतने समयमें एक क्षेत्रपरिवर्तन पूर्ण हुआ कहलाता है।

९. कालपरिवर्तनका स्वरूप

एक जीवने एक अवसर्पिणीके पहिले समयमें जन्म लिया, तत्पश्चात् अन्य अवसर्पिणीके दूसरे समयमें जन्म लिया, पश्चात् अन्य अवसर्पिणीके तीसरे समयमें जन्म लिया; इसप्रकार एक एक समय आगे बढ़ते हुए नई अवसर्पिणीके अंतिम समयमें जन्म लिया, तथा उसीप्रकार उत्सर्पिणी कालमें उसी भाँति जन्म लिया; और तत्पश्चात् ऊपरकी भांति ही अवसर्पिणी

और उत्सर्पिणीके प्रत्येक समयमें क्रमशः मरण किया। इसप्रकार भ्रमण करते हुये जो काल लगता है उसे कालपरिवर्तन कहते हैं। (इस कालक्रमसे रहित बीचमें भिन्न भिन्न समयोंमें जन्म-मरण किया जाता है वे समय गणनामें नहीं आते।) अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी कालका स्वरूप अध्याय ३ सूत्र २७ में कहा है।

१० भवपरिवर्तनका स्वरूप

नरकमें सर्वजघन्य आयु दस हजार वर्षकी है। उतनी आयुवाला एक जीव पहिले नरकके पहिले पटलमें जन्मा, पश्चात् किसी अन्य समयमें उतनी ही आयु प्राप्त करके उसी पटलमें जन्मा, (बीचमें अन्य गतियोंमें भ्रमण किया सो वे भव गणनामें नहीं लिये जाते) इसप्रकार दस हजार वर्षके जितने समय होते हैं उतनी ही बार वह जीव उतनी (दस हजार वर्षकी) ही आयु सहित वहीं जन्मा (बीचमें अन्य स्थानोंमें जो जन्म लिया सो गणनामें नहीं आता,) तत्पश्चात् दस हजार वर्ष और एक समयकी आयुसहित जन्मा, उसके बाद दस हजार वर्ष और दो समय—यों क्रमशः एक एक समयकी आयु बढ़ते-बढ़ते अन्तमें तैंतीस सागरकी आयु सहित नरकमें जन्मा (और मरा), (इस क्रमसे रहित जो जन्म होते हैं वे गणनामें नहीं आते) नरककी उत्कृष्ट आयु ३३ सागरकी है, उतनी आयु सहित जन्म ग्रहण करे—इसप्रकार गिनने पर जो काल होता है उतने कालमें एक नारकभवपरिवर्तन पूर्ण होता है।

और फिर वहाँसे निकलकर तिर्यंचगतिमें अन्तर्मुहूर्तकी आयुसहित उत्पन्न होता है। अर्थात् जघन्य अन्तर्मुहूर्तकी आयु प्राप्त करके उसे पूर्ण करके उस अन्तर्मुहूर्तके जितने समय हैं उतनी बार जघन्य आयु धारण करे, फिर क्रमशः एक एक समय अधिक आयु प्राप्त करके तीन पल्य तक सभी स्थितियों (आयु) में जन्म धारण करके उसे पूर्ण करे तब एक तिर्यंचगतिभवपरिवर्तन पूर्ण होता है। (इस क्रमसे रहित जो जन्म होता है वह गणनामें नहीं लिया जाता) तिर्यंचगतिमें जघन्य आयु अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट आयु तीन पल्यकी होती है।

मनुष्यगति भवपरिवर्तनके सम्बन्धमें भी तिर्यंचगतिकी भाँति ही समझना चाहिये।

देवगतिमें नरकगतिकी भाँति है किन्तु उसमें इतना अन्तर है कि देवगतिमें उपरोक्त क्रमानुसार ३१ सागर तक आयु धारण करके उसे पूर्ण करना है। इस प्रकार जब चारों गतियोंमें परिवर्तन पूर्ण करता है तब एक भवपरिवर्तन पूर्ण होता है।

नोट—३१ सागरसे अधिक आयुके धारक नव अनुदिश और पाँच अनुत्तर ऐसे १४ विमानोंमें उत्पन्न होनेवाले देवोंके परिवर्तन नहीं होता, क्योंकि वे सब सम्यग्दृष्टि हैं।

भवभ्रमणका कारण मिथ्यादृष्टित्व है

इस सम्बन्धमें कहा है कि—

णिरयादि जहण्णादिसु जावदु उवरिल्लिया दु गेवेज्जा।
मिच्छत्त संसिदेण हु बहुसो वि भवट्ठिदी भमिदो ॥ १ ॥

अर्थः—मिथ्यात्वके संसर्ग सहित नरकादिकी जघन्य आयुसे लेकर उत्कृष्ट ग्रैवेयक (नववें ग्रैवेयक) तकके भवोंकी स्थिति (आयु) को यह जीव अनेक वार प्राप्त कर चुका है।

११. भावपरिवर्तनका स्वरूप

(१) असंख्यात योगस्थान एक अनुभागबन्ध (अध्यवसाय) स्थानको करता है। [कषायके जिसप्रकार (Degree) से कर्मोंके बन्धमे फलदानशक्तिकी तीव्रता आती है उसे अनुभागबन्धस्थान कहा जाता है।]

(२) असंख्यात × असंख्यात अनुभागबन्ध अध्यवसायस्थान एक कषायभाव (अध्यवसाय) स्थानको करते हैं। [कषायका एक प्रकार (Degree) जो कर्मोंकी स्थितिको निश्चित करता है उसे कषायअध्यवसाय स्थान कहते हैं।]

(३) असंख्यात × असंख्यात कषायअध्यवसायस्थान * पंचेन्द्रिय संज्ञी पर्याप्तक मिथ्यादृष्टि जीवके कर्मोकी जघन्यस्थितिबन्ध कहते हैं, यह स्थिति अंत.कोड़ाकोड़ीसागरकी होती है, अर्थात् कोडाकोड़ीसागरसे नीचे और कोड़ीसे ऊपर उसकी स्थिति होती है।

(४) एक जघन्यस्थितिबन्ध होनेके लिये यह आवश्यक है कि–जीव असंख्यात योगस्थानोंमेंसे (एक एक योगस्थानमेंसे) एक अनुभागबन्धस्थान होनेके लिये पार हो; और तत्पश्चात् एक एक अनुभागबन्धस्थानमेंसे एक कषायस्थान होनेके लिये पार होना चाहिये, और एक जघन्यस्थितिबन्ध होनेके लिये एक कषायस्थानमेंसे पार होना चाहिये।

---

* जघन्यस्थितिबन्धके कारण जो कषायभावस्थान है उनकी संख्या असंख्यात लोकके प्रदेशोंके बराबर है, एक एक स्थानमें अनन्तानन्त अविभाग प्रतिच्छेद है, जो अनंतभाग हानि, असंख्यातभाग हानि, संख्यातभाग हानि, संख्यातगुण हानि, असंख्यातगुण हानि, अनन्तगुण हानि तथा अनन्तभाग वृद्धि, असंख्यातभाग वृद्धि, संख्यातभाग वृद्धि, संख्यातगुण वृद्धि, असंख्यातगुण वृद्धि, और अनन्तगुण वृद्धि इसप्रकार छह स्थानवाली हानि–वृद्धि सहित होता है।

(५) तत्पश्चात् उस जघन्यस्थितिबन्धमें एक एक समय अधिक करके (छोटेसे छोटे जघन्यबन्धसे बाये प्रत्येक असंख्य) बढ़ते जाना चाहिये । इसप्रकार आठों कर्म और (मिथ्यादृष्टिके योग्य) सभी उत्तर कर्मप्रकृतियोंकी उत्कृष्ट स्थिति पूरी हो तब एक भावपरिवर्तन पूर्ण होता है।

(६) उपरोक्त पैरा १ में कथित जघन्यस्थितिबन्धको तथा पैरा २ में कथित सर्वजघन्य कषायभावस्थानको और पैरा १ में कथित अनुभागबन्धस्थानको प्राप्त होनेवाला उसके योग्य सर्वजघन्य योगस्थान होता है। अनुभाग A, कषाय B, और स्थिति C, इन तीनोंका तो जघन्य ही बंध होता है किन्तु योगस्थान बदलकर जघन्य योगस्थानके बाद तीसरा योगस्थान होता है और अनुभागस्थान A, कषायस्थान B, तथा स्थितिस्थान C, जघन्य ही बंधते हैं, पश्चात् चौथा, पाँचवाँ, छट्ठा, सातवाँ, आठवाँ इत्यादि योगस्थान होते होते क्रमशः असंख्यात प्रमाणतक बदले फिर भी उन्हें इसी गणनामें नहीं लेना चाहिये, अथवा किसी दो जघन्य योगस्थानके बीचमें अन्य कषायस्थान A-अन्य अनुभागस्थान B-या अन्य योगस्थान C आ जाय तो उसे भी गणनामें नहीं लेना चाहिये । *

भावपरिवर्तनका कारण मिथ्यात्व है

इस सम्बन्धमें कहा है कि—

सव्वा पयडिट्ठिदिओ अणुभाग पदेस बंधठाणाणि ।
मिच्छत्त संसिदेण य भमिदा पुण भाव संसारे ॥१॥

अर्थ.—समस्त प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध, और प्रदेशबन्धके स्थानरूप मिथ्यात्वके संसर्ग से जीव निश्चयसे (वास्तवमें) भावसंसारमें भ्रमण करता है।

१२-संसारके भेद करने पर भावपरिभ्रमण उपादान अर्थात् निश्चय संसार है और द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा भव परिभ्रमण निमित्तमात्र है अर्थात् व्यवहार संसार है क्योंकि वह परवस्तु है। निश्चयका अर्थ है वास्तविक और व्यवहारका अर्थ है कथनरूप निमित्तमात्र। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रके प्रगट होनेपर भाव संसार दूर हो जाता है और तत्पश्चात् अन्य चार प्रघाति कर्मरूप निमित्तोंका स्वयं अभाव हो जाता है।

१३-मोक्षका उपदेश संसारीके लिये होता है। यदि संसार न हो तो मोक्ष,

* योगस्थानोंमें भी अविभागप्रतिच्छेद होते हैं उनमें असंख्यातभाग वृद्धि, संख्यातभाग वृद्धि, संख्यातगुण वृद्धि और असंख्यातगुण वृद्धि—इसप्रकार चार स्थानरूप ही होते हैं।

मोक्षमार्ग, या उसका उपदेश ही नहीं होता, इसलिये इस सूत्रमें पहिले संसारी जीव और फिर मुक्त जीवका क्रम लिया गया है।

१४-असंख्यात और अनन्त संख्याको समझनेके लिये गणित शास्त्र उपयोगी है। उनमें १०/३ अर्थात् दसमें तीनका भाग देने पर=३. ३ ३ ३....इसप्रकार तीनके अङ्क चलते ही है किन्तु उसका अन्त नहीं आता। यह 'अनन्त' का दृष्टांत है। और असंख्यातकी संख्या समझनेके लिये एक गोलाकारकी परिधि और व्यासका प्रमाण २२/७ होता है [व्यास करनेपर परिधि २२/७ गुणी होती है] उसका हिसाब शतांश (Decimal) में करने पर जो संख्या आती है वह असंख्यात है। गणित शास्त्रमें इस संख्याको 'Irrational' कहते हैं।

१५. व्यवहारराशिके जीवोंको यह पांच परिवर्तन लागू होते हैं। प्रत्येक जीवने ऐसे अनन्त परिवर्तन किये हैं। और जो जीव मिथ्यादृष्टित्व बनाये रखेंगे उनके अभी भी वे परिवर्तन चलते रहेगे। नित्य-निगोदके जीव अनादि निगोदमेंसे निकले ही नहीं हैं, उनमें इन पांच परिवर्तनोंकी शक्ति विद्यमान है इसलिये उनके भी उपचारसे यह पांच परिवर्तन लागू होते हैं। व्यवहार राशिके जो जीव अभीतक सभी गतियोमे नही गये, उन्हें भी उपरोक्त प्रकारसे उपचारसे यह परिवर्तन लागू होते हैं। नित्यनिगोदको अव्यवहार राशिके (निश्चय राशिके) जीव भी कहते हैं।

१६. मनुष्यभव सफल करनेके लिये विशेष लक्षमें लेने योग्य विषय:—

१ अनादिकालसे लेकर पहिले तो इस जीवको नित्य-निगोदरूप शरीरका संबंध होता था, उस शरीरकी आयु पूर्ण होनेपर जीव मरकर पुन: पुन: नित्यनिगोद शरीरको ही धारण करता है। इसप्रकार अनंतानंत जीवराशि अनादिकालसे निगोदमें ही जन्म-मरण करती है।

२ निगोदमेंसे छह महिना और आठ समयमे ६०८ जीव निकलते हैं। वे पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और प्रत्येक वनस्पतिरूप एकेन्द्रिय पर्यायोंमें अथवा दोसे चार इन्द्रियरूप शरीरोमें या चार गतिरूप पचेन्द्रिय शरीरोमें भ्रमण करते हैं और फिर पुन: निगोद शरीरको प्राप्त करते हैं (यह इतर निगोद है)।

३. जीवको त्रसमें एक ही साथ रहनेका उत्कृष्ट काल मात्र दो हजार सागर है। जीवको अधिकांश एकेन्द्रिय पर्याय और उसमें भी अधिक समय निगोदमें ही रहना होता है वहांसे निकलकर त्रस शरीरको प्राप्त करना 'काकतालीयन्यायवत्' होता है। त्रसमें भी मनुष्यभव पाना तो क्वचित् ही होता है।

४. इसप्रकार जीवकी मुख्य दो स्थितियां हैं—निगोद और सिद्ध। बीचका त्रस-

पर्यायका काल तो बहुत ही थोड़ा और उसमें भी मनुष्यत्वका काल तो अत्यन्त स्वल्पातिस्वल्प है।

५. (अ) संसारमें जीवको मनुष्यभवमें रहनेका काल सबसे थोड़ा है। (ब) नारकीके भवोंमें रहनेका काल उससे असंख्यातगुणा है। (क) देवके भवोंमें रहनेका काल उससे (नारकीसे) असंख्यातगुणा है। और (ड)-तिर्यंचभवोंमें (मुख्यतया निगोदमें) रहनेका काल उससे (देवसे) अनन्तगुणा है।

इससे सिद्ध होता है कि जीव अनादिकालसे मिथ्यात्वदशामें शुभ तथा अशुभभाव करता रहता है, उसमें भी जीवने नरकके योग्य तीव्र अशुभभावकी अपेक्षा देवके योग्य शुभभाव असंख्यातगुने किये हैं। शुभभाव करके यह जीव अनन्त बार स्वर्गमें देव होकर नववें ग्रैवेयक तक जा चुका है—यह सब पहिले पैरा १० में कहा जा चुका है।

६. नववें ग्रैवेयकके योग्य शुभभाव करनेवाला जीव गृहीतमिथ्यात्व छोड़ देता है, सच्चे देव, गुरु, शास्त्रको निमित्तरूपसे स्वीकार करता है, पाँच महाव्रत, तीन गुप्ति और पाँच समिति आदिके उत्कृष्ट शुभभाव अतिचार रहित पालन करता है। इतना करनेपर ही जीवको नववें ग्रैवेयकमें जानेके योग्य शुभभाव होते हैं। आत्मप्रतीतिके बिना मिथ्यादृष्टिके योग्य उत्कृष्ट शुभभाव जीवने अनन्त बार किये हैं फिर भी मिथ्यात्व नहीं गया। इसलिये शुभभाव पुण्य करते करते धर्म-सम्यग्दर्शन हो या मिथ्यात्व दूर हो जाय, यह अशक्य है। इसलिये—

७. इस मनुष्य भवमें ही जीवोंको आत्माका सच्चा स्वरूप समझकर सम्यक्त्व प्राप्त करना चाहिए। 'Strike the iron while it is hot' जबतक लोहा गर्म है तबतक उसे पीट लो-गढ़ लो, इस कहावतके अनुसार इसी मनुष्यभवमें जल्दी आत्मस्वरूपको समझ लो, अन्यथा थोड़े ही समयमें यह काल पूरा हो जायगा और एकेन्द्रिय-निगोदपर्याय प्राप्त होगी और उसमें अनन्तकाल तक रहना होगा ॥ १० ॥

संसारी जीवोंके भेद—

समनस्काऽमनस्काः ॥ ११ ॥

अर्थ—संसारी जीव [समनस्काः] मनसहित-सैनी [अमनस्काः] मनरहित असैनी, यों दो प्रकारके हैं।

टीका

१ एकेन्द्रियसे चतुरिन्द्रय तकके जीव नियमसे असैनी ही होते हैं। पंचेन्द्रियोंमें तिर्यंच सैनी और असैनी दो प्रकारके होते हैं; शेष मनुष्य, देव और नारकी जीव नियमसे सैनी ही होते हैं।

२ मनवाले सैनी जीव सत्य-असत्यका विवेक कर सकते हैं।

३ मन दो प्रकारके होते हैं—द्रव्यमन और भावमन। पुद्गल द्रव्यके मनोवर्गणा नामक स्कन्धोंसे बना हुआ आठ पांखुड़ीवाले फूले कमलके आकाररूप मन हृदयस्थानमें है, वह द्रव्यमन है। वह सूक्ष्म पुद्गलस्कन्ध होनेसे इन्द्रियग्राही नहीं हैं। आत्माकी विशेप प्रकारकी विशुद्धि भावमन है; उससे जीव शिक्षा ग्रहण करने, क्रिया (कृत्य) को समझने उपदेश तथा आलाप (Recitation) के योग्य होता है; उसके नामसे बुलाने पर वह निकट आता है।

४ जो हितमें प्रवृत्त होनेकी अथवा अहितसे दूर रहनेकी शिक्षा ग्रहण करता है वह सैनी है, और जो हित-अहितकी शिक्षा, क्रिया, उपदेश इत्यादिको ग्रहण नहीं करता वह असैनी है।

५ सैनी जीवोंके भावमनके योग्य निमित्तरूप वीर्यान्तराय तथा मन-नोइन्द्रियावरण नामक ज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम स्वय होता है।

६ द्रव्यमन-जड़ पुद्गल हैं, वह पुद्गल विपाकीकर्म-उदयके फलरूप है। जीवोंकी विचारादि क्रियामें भावमन उपादान है और द्रव्यमन निमित्तमात्र है। भावमनवाले प्राणी मोक्षके उपदेशके लिये योग्य हैं। तीर्थंकर भगवान या सम्यग्ज्ञानियोंसे उपदेश सुनकर सैनी मनुष्य सम्यग्दर्शन प्रगट करते है, सैनी तिर्यंच भी तीर्थंकर भगवानका उपदेश सुनकर सम्यग्दर्शन प्रगट करते हैं. देव भी तीर्थंकर भगवानका तथा सम्यग्ज्ञानियोंका उपदेश सुनकर सम्यग्दर्शन प्रगट करते हैं; नरकके किसी जीवके पूर्वभवके मित्रादि सम्यग्ज्ञानी देव होते हैं वे तीसरे नरक तक जाते हैं और उनके उपदेशसे तीसरे नरक तकके जीव सम्यग्दर्शन प्रगट करते हैं।

चौथेसे सातवें नरक तकके जीव पहिलेके सत्समागमके संस्कारोंको याद करके सम्यग्दर्शन प्रगट करते हैं, वह निसर्गज सम्यग्दर्शन है। पहिले सत्समागमके संस्कार प्राप्त मनुष्य, सैनी तिर्यंच और देव भी निसर्गज सम्यग्दर्शन प्रगट कर सकते हैं॥ ११॥

संसारी जीवोंके अन्य प्रकारसे भेद

संसारिणस्त्रसस्थावराः ॥ १२ ॥

अर्थः—[संसारिणः] संसारी जीव [त्रस] त्रस और [स्थावराः] स्थावरके भेदसे दो प्रकारके हैं।

टीका

१—जीवोंके यह भेद भी अवस्थादृष्टिसे किये गये हैं।

२—जीवविपाकी त्रस नामकर्मके उदयसे जीव त्रस कहलाता है और जीवविपाकी स्थावर नामकर्मके उदयसे जीव स्थावर कहलाता है। त्रस जीवोंके दो से लेकर पाँच इन्द्रियाँ तक होती हैं और स्थावर जीवोंके मात्र एक स्पर्शन इन्द्रिय ही होती है। (यह परिभाषा ठीक नहीं है कि—जो स्थिर रहता है सो स्थावर है और जो चलता-फिरता है सो त्रस है)

३—दो इन्द्रियसे अयोग केवली गुणस्थान तकके जीव त्रस हैं, मुक्तजीव त्रस या स्थावर नहीं हैं क्योंकि यह भेद संसारी जीवोंके हैं।

४ प्रश्नः—यह अर्थ क्यों नहीं करते कि—जो डरे-भयभीत हो अथवा हलन-चलन करे सो त्रस है और जो स्थिर रहे सो स्थावर है?

उत्तरः—यदि हलन-चलनकी अपेक्षासे त्रसत्व और स्थिरताकी अपेक्षासे स्थावरत्व हो तो (१) गर्भमें रहनेवाले, अंडेमें रहनेवाले, मूर्छित और सोये हुए जीव हलन-चलन रहित होनेसे त्रस नहीं कहलायेंगे, और (२) वायु अग्नि तथा जल एक स्थानसे दूसरे स्थान पर जाते हुए दिखाई देते हैं तथा भूकम्प इत्यादिके समय पृथ्वी काँपती है और वृक्ष भी हिलते हैं, वृक्षके पत्ते हिलते हैं इसलिये उनके स्थावरत्व नहीं रहेगा, और ऐसा होनेसे कोई भी जीव स्थावर नहीं माना जायगा, और कोई भी जीव स्थावर नहीं रहेगा ॥ १२ ॥

स्थावर जीवोंके भेद

पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः स्थावराः ॥ १३ ॥

अर्थः—[पृथिवी अप् तेजः वायुः वनस्पतयः] पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक यह पाँच प्रकारके [स्थावराः] स्थावर जीव हैं। (इन जीवोंके मात्र एक स्पर्शन इन्द्रिय होती है)

टीका

१—आत्मा ज्ञानस्वभाव है, किन्तु जब उसे अपनी वर्तमान योग्यताके कारण एक स्पर्शनेन्द्रियके द्वारा ज्ञान कर सकने योग्य विकास होता है तव पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पतिरूपमें परिणमित रजकणों (पुद्‌गलस्कन्धों)के द्वारा बने हुये जड़ शरीरका संयोग होता है।

२—पृथ्वी, जल, अग्नि और वायुकायिक जीवोंके शरीरका नाप (अवगाहना) अंगुलके असंख्यातवें भाग प्रमाण है इसलिये वह दिखाई नहीं देता, हम उसके समूह (Mass) को देख सकते हैं। पानीकी प्रत्येक बूँदमें वहुतसे जलकायिक जीवोंका समूह है; सूक्ष्मदर्शक यंत्रके द्वारा पानीमें जो सूक्ष्म जीव देखे जाते हैं वे जलकायिक नहीं किन्तु त्रसजीव हैं।

३—इन पृथिवी आदिकोंके चार चार भेद कहे गये हैं—

(१) जहां अचेतन स्वभाव सिद्ध परिणामसे रचित अपने कठिनता गुणसहित, जड़पनासे पृथिवीकायनामा नामकर्मके उदय न होने पर भी प्रथन-(फैलाव) आदिसे युक्त है वह पृथिवी है या पृथिवी सामान्य है।

(२) जिस कायमेंसे पृथिवीकायिक जीव मरकर निकल गया है सो पृथिवीकाय है।

(३) जिनने पृथिवीका शरीर धारण किया है वे पृथिवीकायिक जीव हैं।

(४) पृथिवीके शरीरको धारण करनेसे पूर्व विग्रहगतिमें जो जीव है उसे पृथिवी-जीव कहते हैं। इसप्रकार जलकायिक इत्यादि अन्य चार स्थावर जीवोंके सम्बन्धमें भी समझ लेना चाहिए।

४—स्थावरजीव उसी भवमें सम्यग्दर्शन प्राप्त करने योग्य नहीं होते क्योंकि संज्ञी पर्याप्तक जीव सम्यग्दर्शन प्राप्त करने योग्य होते हैं।

५—पृथिवीकायिकका शरीर मसूरके दानेके आकारका लंबगोल, जलकायिकका शरीर पानीकी बूँदके आकारका गोल, अग्निकायिकका शरीर सुइयोंके समूहके आकारका और वायुकायिकका शरीर ध्वजाके आकारका लम्बा-तिरछा होता है। वनस्पतिकायिक और त्रस-जीवोंके शरीर अनेक भिन्न-भिन्न आकारके होते हैं।

(गोम्मटसार जीवकांड गाथा २०१) ॥ १३ ॥

त्रस जीवोंके भेद

द्वीन्द्रियादयस्त्रसाः ॥ १४ ॥

अर्थ:—[द्वि इन्द्रिय आदयः] दो इन्द्रियसे लेकर अर्थात् दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय और पांच इन्द्रिय जीव [त्रसा] त्रस कहलाते हैं।

टीका

१—एकेन्द्रिय जीव स्थावर हैं और उनके एक स्पर्शन इन्द्रिय ही होती है। उनके स्पर्शन इन्द्रिय, कायबल, आयु और श्वासोच्छ्वास यह चार प्राण होते हैं।

२—दो इन्द्रिय जीवके स्पर्शन और रसना यह दो इन्द्रियाँ ही होती हैं। उनके रसना और वचनबल बढ़नेसे कुल छह प्राण होते हैं।

३—तीन इन्द्रिय जीवोंके स्पर्शन, रसना और घ्राण यह तीन इन्द्रियाँ ही होती हैं। उनके घ्राण इन्द्रिय अधिक होनेसे कुल सात प्राण होते हैं।

४—चार इन्द्रिय जीवोंके स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु ये चार इन्द्रियाँ होती हैं। उनके चक्षु इन्द्रिय अधिक होनेसे कुल आठ प्राण होते हैं।

५—पंचेन्द्रिय जीवोंके स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र यह पांच इन्द्रियां होती हैं। उनके कर्ण इन्द्रिय अधिक होनेसे कुल ९ प्राण असैनियोंके होते हैं। इन पांच इन्द्रियोंका ऊपर जो क्रम बताया है उससे उल्टी-सुल्टी इन्द्रियां किसी जीवके नहीं होती हैं। जैसे केवल स्पर्शन और चक्षु-यह दो इन्द्रियां जीवके नहीं हो सकती, किन्तु यदि दो होंगी तो वे स्पर्शन और रसना ही होंगी। सैनी जीवोंके मनबल होता है इसलिये उनके दस प्राण होते हैं॥ १४॥

इन्द्रियोंकी संख्या

पंचेन्द्रियाणि ॥ १५ ॥

अर्थ—[इन्द्रियाणि] इन्द्रियां [पंच] पांच हैं।

टीका

१—इन्द्रियाँ पांच हैं। अधिक नहीं। 'इन्द्र' अर्थात् आत्माकी अर्थात् संसारी जीवकी पहिचान करानेवाला जो चिह्न है उसे इन्द्रिय कहते हैं। प्रत्येक द्रव्येन्द्रिय अपने अपने विषयका ज्ञान उत्पन्न होनेमें निमित्तकारण है। कोई एक इन्द्रिय किसी दूसरी इन्द्रियके आधीन नहीं है। भिन्न भिन्न एक एक इन्द्रिय परकी अपेक्षासे रहित है अर्थात् अहमिंद्रकी भांति प्रत्येक अपने अपने आधीन है ऐसा ऐश्वर्य धारण करती है।

प्रश्नः—वचन, हाथ, पैर, गुदा, और लिंगको भी इन्द्रिय क्यों नहीं कहा ?

उत्तरः—यहां उपयोगका प्रकरण है। उपयोगमें स्पर्शादि इन्द्रियां निमित्त हैं इसलिये उन्हें इन्द्रिय मानना ठीक है। वचन इत्यादि उपयोगमें निमित्त नहीं है वे मात्र 'जड़' क्रियाके साधन हैं, और यदि क्रियाके कारण होनेसे उन्हें इन्द्रिय कहा जाय तो मस्तक इत्यादि सभी अंगोपांग (क्रियाके साधन) हैं, उन्हें भी इन्द्रिय कहना चाहिए। इसलिये यह मानना ठीक है कि जो उपयोगमें निमित्तकारण है वह इन्द्रियका लक्षण है।

२—जड़ इन्द्रियां इन्द्रियज्ञानमें निमित्त मात्र हैं किन्तु ज्ञान उन इन्द्रियोंसे नहीं होता, ज्ञान तो आत्मा स्वयं स्वतः करता है। क्षायोपशमिकज्ञानका स्वरूप ऐसा है कि वह ज्ञान उस समय जिसप्रकारका उपयोग करनेके योग्य होता है तब उसके योग्य इन्द्रियादि निमित्त स्वयं स्वतः उपस्थित होते हैं, निमित्तकी राह नहीं देखनी पड़ती। ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। 'इन्द्रियां हैं इसलिये ज्ञान हुआ है' ऐसा अज्ञानी मानता है, किन्तु ज्ञानी यह मानता है कि ज्ञान स्वतः हुआ है और जड़ इन्द्रियां उस समय संयोगरूप (उपस्थित) स्वयं होती ही हैं। [देखो अध्याय १, सूत्र १४ की टीका] ॥ १५ ॥

इन्द्रियोंके मूल भेद

द्विविधानि ॥ १६ ॥

अर्थः—सब इन्द्रियां [द्विविधानि] द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रियके भेदसे दो प्रकारकी हैं।

नोटः—द्रव्येन्द्रिय सम्बन्धी सूत्र १७ वां और भावेन्द्रिय सम्बन्धी १८ वा है ॥ १६ ॥

द्रव्येन्द्रियका स्वरूप

निर्वृत्युपकरणे द्रव्येन्द्रियम् ॥ १७ ॥

अर्थः—[निर्वृति उपकरणे] निर्वृति और उपकरणको [द्रव्येन्द्रियम्] द्रव्येन्द्रिय कहते हैं।

टीका

निर्वृतिः— पुद्गलविपाकी नामकर्मके उदयसे प्रतिनियत स्थानमें होनेवाली इन्द्रियरूप पुद्गलकी रचना-विशेषको बाह्य निर्वृति कहते हैं, और उत्सेधांगुलके असंख्यातवें-भागप्रमाण

आत्माके विशुद्ध प्रदेशोंका चक्षु आदि इन्द्रियोंके आकार जो परिणमन होता है उसे अभ्यन्तर निर्वृति कहते हैं। इसप्रकार निर्वृत्तिके दो भेद हैं। [देखो अध्याय २, सूत्र ४४ की टीका]

जो आत्मप्रदेश नेत्रादि इन्द्रियाकार होते हैं वह अभ्यन्तर निर्वृति है और उसी आत्मप्रदेशके साथ नेत्रादि आकाररूप जो पुद्गल समूह रहते हैं वह बाह्य निर्वृति है, कर्णेन्द्रियके आत्मप्रदेश जौकी नलीके समान और नेत्रेंद्रियके आत्मप्रदेश मसूरके आकारके होते हैं और पुद्गल इन्द्रियां भी उसी आकारकी होती हैं।

२. उपकरणः—निर्वृत्तिका उपकार करनेवाला पुद्गल समूह उपकरण है। उसके बाह्य और अभ्यन्तर दो भेद हैं जैसे नेत्रमें सफेद और काला मंडल अभ्यन्तर उपकरण है और पलक तथा बरूनी इत्यादि बाह्य उपकरण हैं। उपकरणका अर्थ निमित्तमात्र समझना चाहिये किन्तु यह नहीं समझना चाहिये कि वह कार्य करता है।

[देखो अर्थप्रकाशिका पृष्ठ २०१-२०२] यह दोनों उपकरण जड़ हैं ॥ १७ ॥

भावेन्द्रियका स्वरूप

लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम् ॥ १८ ॥

अर्थः—[लब्धि उपयोगौ] लब्धि और उपयोगको [भावेन्द्रियम्] भावेन्द्रिय कहते हैं।

टीका

१. लब्धिः—लब्धिका अर्थ प्राप्ति अथवा लाभ होता है। आत्माके चैतन्यगुणका क्षयोपशमहेतुक विकास लब्धि है।   (देखो सूत्र १९ की टीका)

उपयोगः—चैतन्यके व्यापारको उपयोग कहते हैं। आत्माके चैतन्य गुणका जो क्षयोपशमहेतुक विकास है उसके व्यापारको उपयोग कहते हैं।

२—आत्मा ज्ञेय पदार्थके सन्मुख होकर अपने चैतन्य व्यापारको उस ओर जोड़े सो उपयोग है। उपयोग चैतन्यका परिणमन है। वह किसी अन्य ज्ञेय पदार्थकी ओर लग रहा हो तो आत्माकी सुननेकी शक्ति होने पर भी सुनता नहीं है। लब्धि और उपयोग दोनोंके मिलनेसे ज्ञानकी सिद्धि होती है।

३. प्रश्न.—उपयोग तो लब्धिका भावेन्द्रियका फल (कार्य) है, तब फिर उसे भावेन्द्रिय क्यों कहा है?

उत्तरः—कार्यमें कारणका उपचार करके उपयोगको (उपचारसे) भावेन्द्रिय कहा जाता है। घटाकार परिणमित ज्ञानको घट कहा जाता है, इस न्यायसे लोकमें कार्यको भी कारण माना जाता है। आत्माका लिंग इन्द्रिय (भावेन्द्रिय) है, आत्मा वह स्व अर्थ है उसमें उपयोग मुख्य है और वह जीवका लक्षण है, इसलिये उपयोगको भावेन्द्रियत्व कहा जा सकता है।

४ उपयोग और लब्धि दोनोंको भावेन्द्रिय इसलिये कहते हैं कि वे द्रव्यपर्याय नहीं किन्तु गुणपर्याय हैं, क्षयोपशमहेतुक लब्धि भी एक पर्याय या धर्म है और उपयोग भी एक धर्म है, क्योंकि वह आत्माका परिणाम है। वह उपयोग दर्शन और ज्ञानके भेदसे दो प्रकारका है।

५. धर्म, स्वभाव, भाव, गुणपर्याय और गुण शब्द एकार्थ वाचक हैं।

६ प्रयोजनभूत जीवादि तत्त्वोंका श्रद्धान करने योग्य ज्ञानकी क्षयोपशमलब्धि तो सभी सैनी पंचेन्द्रिय जीवोंके होती है, किन्तु जो जीव पराश्रयकी रुचि छोड़कर परकी ओरसे झुकाव हटाकर, निज (आत्मा) की ओर उपयोगको लगाते हैं उन्हें आत्मज्ञान (सम्यग्ज्ञान) होता है। और जो जीव परकी ओर ही उपयोग लगाये रहते हैं उन्हें मिथ्याज्ञान होता है. और इससे दुःख ही होता है, कल्याण नहीं होता।

इस सूत्रका सिद्धान्त

जीवको छद्मस्थदशामें ज्ञानका विकास अर्थात् क्षयोपशमहेतुक लब्धि बहुत कुछ हो तथापि वह सब विकासका उपयोग एक साथ नहीं कर सकता, क्योंकि उसका उपयोग रागमिश्रित है इसलिये रागमें अटक जाता है, इसलिये ज्ञानका लब्धिरूप विकास बहुत कुछ हो फिर भी व्यापार (उपयोग) अल्प ही होता है। ज्ञानगुण तो प्रत्येक जीवके परिपूर्ण है, विकारी दशामें उसकी (ज्ञानगुणकी) पूर्ण पर्याय प्रगट नहीं होती, इतना ही नहीं किन्तु पर्यायमे जितना विकास होता है उतना भी व्यापार एक साथ नही कर सकता। जबतक आत्माका लक्ष परकी ओर होता है तबतक उसकी ऐसी दशा होती है। इसलिये जीवको स्व और परका यथार्थ भेदविज्ञान करना चाहिये। भेदविज्ञान होनेपर वह अपने पुरुषार्थको अपनी ओर लगाया ही करता है, और उससे क्रमशः रागको दूर करके बारहवें गुणस्थानमें सर्वथा राग दूर हो जानेपर वीतरागता प्रगट हो जाती है। तत्पश्चात् थोड़े ही समयमें पुरुषार्थ बढ़ने पर ज्ञानगुण जितना परिपूर्ण है उतनी परिपूर्ण उसकी पर्याय प्रगट होती है। ज्ञानपर्याय पूर्ण प्रगट (विकसित) हो जाने पर ज्ञानके व्यापारको एक ओरसे दूसरी ओर

के जाननेकी आवश्यकता नहीं रहती । इसलिये प्रत्येक मुमुक्षुको यथार्थ भेदविज्ञान प्राप्त करना चाहिये, जिसका फल केवलज्ञान है ॥ १८ ॥

पांच इन्द्रियोंके नाम और उनका क्रम

स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणि ॥ १९ ॥

अर्थः—[स्पर्शन] स्पर्शन [रसन] रसना [घ्राण] नाक [चक्षुः] चक्षु और [श्रोत्र] कान—यह पांच इन्द्रियां हैं।

टीका

(१) यह इन्द्रियां भावेन्द्रिय और द्रव्येन्द्रिय यों दोनों प्रकारकी समझना चाहिये। एकेन्द्रिय जीवके पहिली (स्पर्शन) इन्द्रिय, दो इन्द्रिय जीवके पहिली दो क्रमशः होती हैं। इस अध्यायके चौदहवें सूत्रकी टीकामें इस सम्बन्धमें सविवरण कहा गया है।

(२) इन पांच भावेन्द्रियोंमें भावश्रोत्रेन्द्रियको अति लाभदायक माना गया है, क्योंकि उस भावेन्द्रियके बलसे जीव सम्यग्ज्ञानी पुरुषका उपदेश सुनकर और तत्पश्चात् विचार करके, यथार्थ निर्णय करके हितकी प्राप्ति और अहितका त्याग कर सकता है। द्रव्य इन्द्रियतो सुननेमें निमित्त मात्र है।

१ (अ) श्रोत्रेन्द्रिय (कान) का आकार जौकी बीचकी नालीके समान (ब) नेत्रका आकार मसूर जैसा, (क) नाकका आकार तिलके फूल जैसा, (ड)-रसनाका आकार अर्धचन्द्रमा जैसा और (इ)—स्पर्शनेन्द्रियका आकार शरीराकार होता है—स्पर्शनेन्द्रिय सारे शरीरमें होती है ॥ १९ ॥

इन्द्रियोंके विषय

स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दास्तदर्थाः ॥ २० ॥

अर्थः—[स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दाः] स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, (रंग) शब्द यह पांच क्रमशः [तत् अर्थाः] उपरोक्त पांच इन्द्रियोंके विषय हैं अर्थात् उपरोक्त पांच इन्द्रियां उन-उन विषयोंको जानती हैं।

टीका

१ जाननेका काम भावेन्द्रियका है, पुद्गल इन्द्रिय निमित्त है। प्रत्येक इन्द्रियका विषय क्या है जो यहाँ कहा गया है। यह विषय जड़-पुद्गल है।

२. प्रश्नः—यह जीवाधिकार है फिर भी पुद्गलद्रव्यकी बात क्यों ली गई है ?

उत्तरः—जीवको भावेन्द्रियसे होनेवाले उपयोगरूप ज्ञानमे ज्ञेय क्या है यह जाननेके लिये कहा है। ज्ञेय निमित्तमात्र है, ज्ञेयसे ज्ञान नही होता किन्तु उपयोगरूप भावेन्द्रियसे ज्ञान होता है अर्थात् ज्ञान विषयी है और ज्ञेय विषय, यह बतानेके लिये यह सूत्र कहा है।

३. स्पर्शः—आठ प्रकारका है—शीत, उष्ण, रूखा, चिकना, कोमल, कठोर, हलका और भारी।

रसः—पांचप्रकारका है—खट्टा, मीठा, कडुआ, कषायला, चरपरा।

गंधः—दो प्रकारकी हैं—सुगन्ध और दुर्गन्ध।

वर्णः—पांच प्रकारका है—काला, पीला, नीला, लाल और सफेद।

शब्दः—सात प्रकारका है—षढज, ऋषभ, गंधार, मध्यम, पंचम, धैवत, निषाद। इसप्रकार कुल २७ भेद हैं; उनके संयोगसे असंख्यात भेद हो जाते हैं।

४—सैनी जीवोंके इन्द्रिय द्वारा होनेवाले चैतन्य-व्यापारमें मन निमित्तरूप होता है।

५—स्पर्श, रस, गंध और शब्द विषयक ज्ञान उस उस विषयको जाननेवाल इन्द्रियके साथ उस विषयका संयोग होनेसे ही होता है। आत्मा चक्षुके द्वारा जिस रूपको देखता है उसके योग्य क्षेत्रमें दूर रहकर उसे देख सकता है ॥ २० ॥

मनका विषय

श्रुतमनिन्द्रियस्य ॥ २१ ॥

अर्थः—[अनिन्द्रियस्य] मनका विषय [श्रुतम्] श्रुतज्ञानगोचर पदार्थ हैं अथवा मनका प्रयोजन श्रुतज्ञान है।

टीका

१—द्रव्यमन आठ पांखुड़ीवाले खिले हुए कमलके आकार है।

[देखो अध्याय २, सूत्र ११ को टीका]

श्रवण किये गये पदार्थका विचार करनेमें मन द्वारा जीवकी प्रवृत्ति होती है। कर्णेन्द्रियसे श्रवण किये गये शब्दका ज्ञान मतिज्ञान है; उस मतिज्ञानपूर्वक किये गये

विचारको श्रुतज्ञान कहते हैं। सम्यग्ज्ञानी पुरुषका उपदेश श्रवण करनेमें कर्णेन्द्रिय निमित्त है और उसका विचार करके यथार्थ निर्णय करनेमें मन निमित्त है। हितकी प्राप्ति और अहितका त्याग मनके द्वारा होता है। (देखो अध्याय २ सूत्र ११ तथा ११ की टीका) पहिले राग सहित मनके द्वारा आत्माका व्यवहार सच्चा ज्ञान किया जा सकता है और फिर (रागका अंशतः अभाव करने पर) मनके अवलम्बनके बिना सम्यग्ज्ञान प्रगट होता है। इसलिये सैनी जीव ही धर्म प्राप्त करनेके योग्य हैं। (देखो अध्याय २ सूत्र २४ की टीका)

२—मनरहित (असैनी) जीवोंके भी एक प्रकारका श्रुतज्ञान होता है।
(देखो अध्याय १ सूत्र ११ तथा ३० की टीका)

उन्हें आत्मज्ञान नहीं होता इसलिये उनके ज्ञानको 'कुश्रुत' कहा जाता है।

३—श्रुतज्ञान जिस विषयको जानता है उसमें मन निमित्त है, किसी इन्द्रियके आधीन मन नहीं है। अर्थात् श्रुतज्ञानमें किसी भी इन्द्रियका निमित्त नहीं है ॥ २१ ॥

इन्द्रियोंके स्वामी

वनस्पत्यन्तानामेकम् ॥ २२ ॥

अर्थः — [वनस्पति अन्तानाम्] वनस्पतिकाय जिसके अन्तमें है ऐसे जीवोंके अर्थात् पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक जीवोंके [एकम्] एक स्पर्शन इन्द्रिय ही होती है।

टीका

इस सूत्रमें कथित जीव एक स्पर्शन इन्द्रियके द्वारा ही ज्ञान करते हैं। इन सूत्रमें इन्द्रियोंके 'स्वामी' ऐसा शीर्षक दिया है, उसमें इन्द्रियके दो प्रकार हैं—जड़ इन्द्रिय और भावेन्द्रिय। जड़ इन्द्रियके साथ जीवका निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध बतानेके लिए व्यवहारसे जीवको स्वामी कहा है, वास्तवमें तो कोई द्रव्य किसी द्रव्यका स्वामी है ही नहीं। और भावेन्द्रिय तब आत्माकी उस समयकी पर्याय है अर्थात् अशुद्धनयसे उसका स्वामी आत्मा है ॥२२॥

कृमिपिपीलिकाभ्रमरमनुष्यादीनामेकैकवृद्धानि ॥ २३ ॥

अर्थः—[कृमिपिपीलिकाभ्रमरमनुष्यादीनाम्] कृमि इत्यादि, चींटी इत्यादि, भ्रमर इत्यादि तथा मनुष्य इत्यादिक [एकैक वृद्धानि] क्रमसे एक एक इन्द्रिय बढ़ती (अधिक-

अधिक) है अर्थात् कृमि इत्यादिके दो, चींटी इत्यादिके तीन, भौंरा इत्यादिके चार और मनुष्य इत्यादिके पाँच इन्द्रियां होती हैं।

टीका

प्रश्नः—यदि कोई मनुष्य जन्मसे ही अंधा और बहरा हो तो उसे तीन इन्द्रिय जीव कहना चाहिये या पचेन्द्रिय ?

उत्तरः—वह पंचेन्द्रिय जीव ही है, क्योंकि उसके पांचों इन्द्रियां हैं किन्तु उपयोगरूप शक्ति न होनेसे वह देख और सुन नहीं सकता।

नोटः—इसप्रकार संसारी जीवोंके इन्द्रियद्वारका वर्णन हुआ, अब उनके मनद्वारका वर्णन २४ वें सूत्रमें किया जाता है॥ २३॥

सैनी किसे कहते हैं ?

संज्ञिनः समनस्काः ॥ २४ ॥

अर्थः—[समनस्काः] मनसहित जीवोंको [संज्ञिनः] सैनी कहते हैं।

टीका

सैनी जीव पचेन्द्रिय ही होते हैं (देखो अध्याय २ सूत्र ११ तथा २१ की टीका) जीवके हिताहितकी प्रवृत्ति मनके द्वारा होती है। पंचेन्द्रिय जीवोंमें सैनी और असैनी ऐसे दो भेद होते हैं, सैनी अर्थात् संज्ञी=संज्ञावाला प्राणी समझना चाहिये। 'संज्ञा' के अनेक अर्थ हैं, उनमेंसे यहाँ 'मन' अर्थ लेना चाहिए॥ २४॥

मनके द्वारा हिताहितकी प्रवृत्ति होती है किन्तु शरीरके छूट जाने पर विग्रहगतिमें [नये शरीरकी प्राप्तिके लिये गमन करते हुए जीवको] मन नहीं है फिर भी उसे कर्मका आस्रव होता है, इसका क्या कारण है ?

विग्रहगतौ कर्मयोगः ॥ २५ ॥

अर्थः—[विग्रहगतौ] विग्रहगतिमें अर्थात् नये शरीरके लिये गमनमें [कर्मयोगः] कार्मण काययोग होता है।

(१) विग्रहगतिः—एक शरीरको छोड़कर दूसरे शरीरकी प्राप्तिके लिये गमन करना विग्रहगति है। यहां विग्रहका अर्थ शरीर है।

कर्मयोग—कर्मोंके समूहको कार्मण शरीर कहते हैं। आत्मप्रदेशोंके परिस्पन्दनको योग कहते हैं, इस परिस्पन्दनके समय कार्मण शरीर निमित्तरूप है इसलिये उसे कर्मयोग अथवा कार्मणकाययोग कहते हैं, और इसलिये विग्रहगतिमें भी नये कर्मोंका आस्रव होता है। [देखो सूत्र ४४ की टीका]

२—मरण होने पर नवीन शरीरको ग्रहण करनेके लिये जीव जब गमन करता है तब मार्गमें एक दो या तीन समय तक अनाहारक रहता है। उस समयमें कार्मणयोगके कारण पुद्गलकर्मका तथा तैजसवर्गणाका ग्रहण होता है, किन्तु नोकर्म-पुद्गलोंका ग्रहण नहीं होता ॥२५॥

विग्रहगतिमें जीव और पुद्गलोंका गमन कैसे होता है?

अनुश्रेणि गतिः ॥ २६ ॥

अर्थः—[गतिः] जीव पुद्गलोंका गमन [अनुश्रेणि] श्रेणीके अनुसार ही होता है

टीका

१. श्रेणिः—लोकके मध्यभागसे ऊपर, नीचे तथा तिर्यक् दिशामें क्रमशः हारबद्ध रचनावाले प्रदेशोंकी पंक्ति (Line) को श्रेणि कहते हैं।

२—विग्रहगतिमें आकाश-प्रदेशोंकी सीधी पंक्ति पर ही गमन होता है। विदिशामें गमन नहीं होता। जब पुद्गलका शुद्ध परमाणु अति शीघ्र गमन करके एक समयमें १४ राजु गमन करता है तब वह श्रेणिबद्ध सीधा ही गमन करता है।

३ उपरोक्त श्रेणिकी छह दिशायें होती हैं (१)-पूर्वसे पश्चिम, (२)-उत्तरसे दक्षिण, (३) ऊपरसे नीचे, तथा अन्य तीन इनसे उलटे क्रममें अर्थात् (४)-पश्चिमसे पूर्व, (५)-दक्षिणसे उत्तर और (६)-नीचेसे ऊपर।

४. प्रश्नः—यह जीवाधिकार है, तब फिर इसमें पुद्गलका विषय क्यों लिया गया है?

उत्तरः—जीव और पुद्गलका निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध बतानेके लिये तथा यह बतानेके लिये कि जीव और पुद्गल दोनों अपनी स्वतन्त्र योग्यतासे गमन करते हैं,—पुद्गलका भी विषय लिया है ॥ २६ ॥

मुक्त जीवोंकी गति कैसी होती है?

अविग्रहा जीवस्य

अर्थः—[जीवस्य] मुक्त जीवकी गति [अविग्रहा] वक्रता रहित सीधी होती है।

जब जीवको भावेन्द्रियके उपयोगरूप परिणमित होनेकी योग्यता होती है तब द्रव्येन्द्रियां अपने कारणसे स्वयं उपस्थित होती हैं। यह यह सिद्ध करता है कि जब जीवकी पात्रता होती है तब उसके अनुसार निमित्त स्वयं उपस्थित होता है, निमित्तके लिये राह नहीं देखनी पड़ती ॥ २८॥

अविग्रहगतिका समय

एकसमयाऽविग्रहा ॥ २९ ॥

अर्थः—[अविग्रहा] मोड़रहित गति [एकसमया] एकसमय मात्र ही होती है, अर्थात् उसमें एक समय ही लगता है।

टीका

१—जिस समय जीवका एक शरीरके साथका संयोग छूटता है उसी समय, यदि जीव अविग्रह गतिके योग्य हो तो दूसरे क्षेत्रमें रहनेवाले अन्य शरीरके योग्य पुद्गलोंके साथ (शरीरके साथ) सम्बन्ध प्रारम्भ होता है। मुक्त जीवोंको भी सिद्धगतिमें जानेमें एक ही समय लगता है, यह गति सीधी पंक्तिमें ही होती है।

२—एक पुद्गलको उत्कृष्ट वेगपूर्वक गति करनेमें चौदह राजू लोक अर्थात् लोकके एक छोरसे दूसरे छोर तक (सीधी पंक्तिमें ऊपर या नीचे) जानेमें एक समय ही लगता है ॥२९॥

विग्रहगतिमें आहारक-अनाहारककी व्यवस्था

एकं द्वौ त्रीन्वानाहारकः ॥ ३० ॥

अर्थ.—विग्रहगतिमें [एकं द्वौ वा त्रीन्] एक दो अथवा तीन समय तक [अनाहारकः] जीव अनाहारक रहता है।

टीका

१ आहार—औदारिक, वैक्रियिक और आहारक शरीर तथा छह पर्याप्तिके योग्य पुद्गलपरमाणुओंके ग्रहणको आहार कहा जाता है।

२—उपरोक्त आहारको जीव जब तक ग्रहण नहीं करता तब तक वह अनाहारक कहलाता है। संसारी जीव अविग्रहगतिमें आहारक होता है, परन्तु एक दो या तीन

मोड़वाली गतिमें एक दो या तीन समयतक अनाहारक रहता है, चौथे समयमें नियमसे आहारक हो जाता है।

३—यह ध्यानमें रखना चाहिये कि इस सूत्रमें नोकर्मकी अपेक्षासे अनाहारकत्व कहा है। कर्मग्रहण तथा तैजस परमाणुओंका ग्रहण तेरहवें गुणस्थान तक होता है। यदि इस कर्म और तैजस परमाणुके ग्रहणको आहारकत्व माना जाय तो वह अयोगी गुणस्थानमें नहीं होता।

४—विग्रहगतिसे अतिरिक्त समयमें जीव प्रतिसमय नोकर्मरूप आहार ग्रहण करता है।

५—यहां आहार-अनाहार और ग्रहण शब्दोंका प्रयोग हुआ है, वह मात्र निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध बतानेके लिये है। वास्तवमें (निश्चय दृष्टिसे) आत्माके किसी भी परद्रव्यका ग्रहण या त्याग नहीं होता, भले ही वह निगोदमें हो या सिद्धमें ॥ ३० ॥

जन्मके भेद

सम्मूर्च्छनगर्भोपपादा जन्म ॥ ३१ ॥

अर्थः—[सम्मूर्च्छनगर्भउपपादाः] सम्मूर्च्छन, गर्भ और उपपाद तीन प्रकारका [जन्म] जन्म होता है।

टीका

१. जन्मः—नवीन शरीरको धारण करना जन्म है।

सम्मूर्च्छनजन्मः—अपने शरीरके योग्य पुद्गलपरमाणुओंके द्वारा, माता-पिताके रज और वीर्यके विना ही शरीरकी रचना होना सो सम्मूर्च्छन जन्म है।

गर्भजन्मः—स्त्रीके उदरमें रज और वीर्यके मेलसे जो जन्म (Conception) होता है उसे गर्भजन्म कहते हैं।

उपपादजन्मः—माता पिताके रज और वीर्यके विना देव और नारकियोंके निश्चित स्थान-विशेषमें उत्पन्न होनेको उपपादजन्म कहते हैं। यह उपपादजन्मवाला शरीर वैक्रियिक रजकणोंका बनता है।

२—समन्ततः+मूर्च्छनं—से संमूर्च्छन शब्द बनता है। यहां समन्ततःका अर्थ चारों ओर अथवा जहां+तहांसे होता है और मूर्च्छनका अर्थ शरीरका बन जाना है।

३ जीव अनादि-अनन्त है, इसलिये उसका जन्म-मरण नहीं होता, किन्तु जीवको अनादिकालसे अपने स्वरूपका भ्रम (मिथ्यादर्शन) बना हुआ है इसलिये उसका शरीरके साथ एकक्षेत्रावगाह सम्बन्ध होता है, और वह अज्ञानसे शरीरको अपना मानता है। और अनादिकालसे जीवको यह विपरीत मान्यता चली आ रही है कि मैं शरीरको हलन-चलन आदि क्रियाएँ कर सकता हूं, शरीरकी क्रियासे धर्म हो सकता है, शरीरसे मुझे सुख-दुःख होते हैं, इत्यादि जबतक यह मिथ्यात्वरूप विकारभाव जीव करता रहता है तबतक जीवका नये नये शरीरोंके साथ सम्बन्ध होता रहता है। उस नये शरीरके सम्बन्ध (संयोग) को जन्म कहते हैं और पुराने शरीरके वियोगको मरण कहते हैं। सम्यग्दृष्टि होनेके बाद जबतक चारित्रकी पूर्णता नहीं होती तबतक जीवको नया शरीर प्राप्त होता है। उसमें जीवका कषायभाव निमित्त है। ॥ ३१ ॥

योनियोंके भेद

सचित्तशीतसंवृताः सेतरा मिश्राश्चैकशस्तद्योनयः ॥ ३२ ॥

अर्थ — [सचित्त शीत संवृताः] सचित्त, शीत, संवृत [सेतरा] उससे उलटी तीन-अचित्त, उष्ण, विवृत [च एकशः मिश्राः] और क्रमसे एक एककी मिली हुई तीन अर्थात् सचित्ताचित्त, शीतोष्ण, और संवृतविवृत [तत् योनयः] ये नव जन्मयोनियां हैं।

टीका

जीवोंके उत्पत्तिस्थानको योनि कहते है, योनि आधार है और जन्म आधेय है।

सचित्तयोनिः—जीव सहित योनिको सचित्त योनि कहते हैं।

संवृतयोनिः—जो किसीके देखनेमें न आवे ऐसे उत्पत्तिस्थानको संवृत (ढकी हुई) योनि कहते हैं।

विवृतयोनिः—जो सबके देखने में आवे ऐसे उत्पत्ति स्थानको विवृत (खुली) योनि कहते हैं।

१ मनुष्य या अन्य प्राणीके पेटमें जीव (कृमि इत्यादि) उत्पन्न होते हैं उनकी सचित्तयोनि है।

२ दीवालमें, मेज, कुर्सी इत्यादिमें जीव उत्पन्न हो जाते हैं, उनकी अचित्तयोनि है।

३. मनुष्यकी पहनी हुई टोपी इत्यादिमें जीव उत्पन्न हो जाते हैं उनकी सचित्ता-चित्तयोनि है।

४. सर्दीमें जीव उत्पन्न होते हैं उनकी शीतयोनि है। ५-गर्मीमें जीव उत्पन्न होते हैं उनकी उष्ण योनि है। ६-पानीके खड्डेमें सूर्यकी गर्मीसे पानीके गर्म हो जाने पर जो जीव उत्पन्न हो जाते हैं उनकी शीतोष्णयोनि है। ७-बन्द पेटीमें रखे हुए फलोंमें जो जीव उत्पन्न हो जाते हैं उनको संवृतयोनि है। ८-पानीमें जो काई इत्यादि जीव उत्पन्न होते हैं उनकी विवृतयोनि है और ९-थोड़ा भाग खुला हुआ और थोड़ा ढका हुआ हो ऐसे स्थानमें उत्पन्न होनेवाले जीवोंकी संवृतविवृतयोनि होती है।

५. गर्भयोनिके आकारके तीन भेद हैं—१-शंखावर्त २-कूर्मोन्नत और ३-वंशपत्र। शंखावर्तयोनिमें गर्भ नहीं रहता, कूर्मोन्नतयोनिमें तीर्थंकर, चक्रवर्ती, वासुदेव, प्रतिवासुदेव और बलभद्र तथा अन्य भी महान् पुरुष उत्पन्न होते हैं, उनके अतिरिक्त कोई उत्पन्न नहीं होता। वंशपत्रयोनिमें शेष गर्भजन्मवाले सब जीव उत्पन्न होते हैं ॥ ३२ ॥

गर्भजन्म किसे कहते हैं ?

जरायुजाण्डजपोतानां गर्भः ॥३३॥

अर्थः—[जरायुज अंडज पोतानां] जरायुज, अंडज और पोतज इन तीन प्रकारके जीवोंके [गर्भः] गर्भजन्म ही होता है अर्थात् उन जीवोंके ही गर्भजन्म होता है।

टीका

१. **जरायुजः**—जालीके समान मांस और खूनसे व्याप्त एक प्रकारकी थैलीसे लिप्टा हुआ जो जीव जन्म लेता है उसे जरायुज कहते हैं। जैसे-गाय, भैंस, मनुष्य इत्यादि।

अंडजः—जो जीव अंडोंमें जन्म लेते हैं उनको अंडज कहते हैं, जैसे-चिड़िया, कबूतर, मोर इत्यादि पक्षी।

पोतजः—उत्पन्न होते समय जिन जीवोंके शरीरके ऊपर किसी प्रकारका आवरण नहीं होता उन्हें पोतज कहते हैं जैसे--सिंह, बाघ हाथी, हिरण, बन्दर इत्यादि।

२—असाधारण भाषा और अध्ययनादि जरायुज जीवोंमें ही होता है। चक्रधर, वासुदेवादि महाप्रभावशाली पुरुष जरायुज होते हैं, मोक्ष भी जरायुजको प्राप्त होता है ॥ ३३ ॥

उपपादजन्म किसे कहते हैं ?

देवनारकाणामुपपादः ॥ ३४ ॥

अर्थः—[देवनारकाणां] देव और नारकी जीवोंके [उपपादः] उपपादजन्म ही होता है अर्थात् उपपादजन्म उन जीवोंके ही होता है।

टीका

१—देवोंके प्रसूतिस्थानमें शुद्ध सुगंधित कोमल संपुटके आकार शय्या होती है, उसमें उत्पन्न होकर अंतर्मुहूर्तमें परिपूर्ण जवान हो जाता है, जैसे कोई जीव शय्यासे सोकर जागता है उसीप्रकार आनन्द सहित वह जीव खड़ा होता है। यह देवोंका उपपादजन्म है।

२—नारकी जीव बिलोंमें उत्पन्न होते हैं। मधुमक्खीके छत्तेकी भाँति औंधा मुख किये हुये इत्यादि आकारके विविध मुखवाले उत्पत्तिस्थान हैं, उनमें नारकी जीव उत्पन्न होते हैं और वे वहाँ सिर ऊपर पैर किये हुये अनेक कठोर वेदनाओंसे विलाप करते हुए धरती पर गिरते हैं। यह नारकीका उपपादजन्म है ॥ ३४ ॥

सम्मूर्छन जन्म किसके होता है ?

शेषाणां सम्मूर्च्छनम् ॥ ३५ ॥

अर्थः—[शेषाणां] गर्भ और उपपाद जन्मवाले जीवोंके अतिरिक्त शेष जीवोंके [सम्मूर्छनम्] सम्मूर्छन जन्म ही होता है अर्थात् सम्मूर्छन जन्म शेष जीवोंके ही होता है।

टीका

एकेन्द्रियसे असैनी चतुरिन्द्रिय जीवोंके नियमसे सम्मूर्च्छन जन्म होता है और असैनी तथा सैनी पंचेन्द्रिय तिर्यंचोंके गर्भ और सम्मूर्छन दोनों प्रकारके जन्म होते हैं अर्थात् कुछ गर्भज होते हैं और कुछ सम्मूर्छन होते हैं। लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्योंके भी सम्मूर्छनजन्म होता है ॥ ३५ ॥

शरीरके नाम तथा भेद

औदारिकवैक्रियिकाहारकतैजसकार्मणानि शरीराणि ॥ ३६ ॥

अर्थः—[औदारिक वैक्रियिक आहारक तैजस कार्मणानि] औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्मण [शरीराणि] यह पाँच शरीर हैं।

औदारिक शरीरः—मनुष्य और तिर्यंचोंका शरीर जो कि सड़ता है, गलता है तथा झरता है वह औदारिक शरीर है। यह शरीर स्थूल होता है इसलिये उदार कहलाता है, सूक्ष्म निगोदियोंका शरीर इन्द्रियोंके द्वारा न तो दिखाई देता है, न मुड़ता है और न काटनेसे कटता है, फिर भी वह स्थूल है, क्योंकि दूसरे शरीर उससे क्रमशः सूक्ष्म हैं।

[देखो इसके बादका सूत्र]

वैक्रियिक शरीरः—जिसमे हलके, भारी तथा अनेक प्रकारके रूप बनानेकी शक्ति हो उसे वैक्रियिक शरीर कहते हैं, वह देव और नारकियोके ही होता है।

नोटः—यह बात ध्यानमे रखना चाहिये कि औदारिक शरीरवाले जीव ऋद्धिके कारण जो विक्रिया होती है वह औदारिक शरीरका ही प्रकार है।

आहारक शरीरः—सूक्ष्म पदार्थोंके निर्णयके लिये अथवा सयमकी रक्षा इत्यादिके लिये छठवें गुणस्थानवर्ती मुनिके मस्तकसे जो एक हाथका पुतला निकलता है, उसे आहारक शरीर कहते हैं। (तत्त्वमे कोई शंका होने पर केवली अथवा श्रुतकेवलीके पास जानेके लिए ऐसे मुनिके मस्तकसे एक हाथका पुतला निकलता है उसे आहारक शरीर कहते हैं।)

तैजस शरीरः—औदारिक, वैक्रियक और आहारक इन तीन शरीरोंको कान्ति देनेवाले तैजस वर्गणासे बने हुए शरीरको तैजस शरीर कहते हैं।

कार्मण शरीरः—ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंके समूहको कार्मण शरीर कहते हैं।

नोटः—पहिले तीन शरीर आहार वर्गणामेसे बनते हैं।

शरीरोंकी सूक्ष्मताका वर्णन

परं परं सूक्ष्मम् ॥ ३७ ॥

अर्थः—पहिले कहे हुए शरीरोंकी अपेक्षा [परं परं] आगे आगेके शरीर [सूक्ष्मम्] सूक्ष्म सूक्ष्म होते हैं अर्थात् औदारिककी अपेक्षा वैक्रियिक सूक्ष्म, वैक्रियिककी अपेक्षा आहारक सूक्ष्म, आहारकी अपेक्षा तैजस सूक्ष्म और तैजसकी अपेक्षासे कार्मण शरीर सूक्ष्म होता है॥ ३७॥

पहिले पहिले शरीरकी अपेक्षा आगेके शरीरोंके प्रदेश थोड़े होंगे—ऐसी विरुद्ध मान्यता दूर करनेके लिये सूत्र कहते हैं।

प्रदेशतोऽसंख्येयगुणं प्राक्तैजसात् ॥ ३८ ॥

अर्थः—[प्रदेशतः] प्रदेशोंकी अपेक्षासे [तैजसात् प्राक्] तैजस शरीरसे पहिलेके शरीर [असंख्येयगुणं] असंख्यातगुने हैं।

टीका

औदारिक शरीरके प्रदेशोंसे असंख्यातगुने प्रदेश वैक्रियिक शरीरके हैं, और वैक्रियिक शरीरकी अपेक्षा असंख्यातगुने प्रदेश आहारक शरीरके हैं ॥ ३८ ॥

अनन्तगुणे परे ॥ ३९ ॥

अर्थ—[परे] शेष दो शरीर [अनन्तगुणे] अनन्तगुने परमाणु (प्रदेश) वाले हैं अर्थात् आहारक शरीरकी अपेक्षा अनन्तगुने प्रदेश तैजस शरीरमें होते हैं और तैजस शरीरकी अपेक्षा अनन्तगुने प्रदेश कार्मण शरीरमें होते हैं।

टीका

आगे आगेके शरीरोंमें प्रदेशोंकी संख्या अधिक होने पर भी उनका मिलाप लोहेके पिंडके समान सघन होता है इसलिये वे अल्परूप होते हैं। यहां प्रदेश कहनेका अर्थ परमाणु समझना चाहिये ॥ ३९ ॥

तैजस और कार्मण शरीरकी विशेषता

अप्रतीघाते ॥ ४० ॥

अर्थ—तैजस और कार्मण ये दोनों शरीर [अप्रतीघाते] अप्रतीघात अर्थात् बाधा रहित हैं।

टीका

ये दोनों शरीर लोकके अन्त तक हर जगह जा सकते हैं और चाहे जहांसे निकल सकते हैं। वैक्रियिक और आहारक शरीर हर किसीमें प्रवेश कर सकता है, परन्तु वैक्रियिक शरीर त्रसनाली तक ही गमन कर सकता है। आहारक शरीरका गमन अधिकसे अधिक अढ़ाई द्वीप पर्यंत जहां केवली और श्रुतकेवली होते हैं वहां तक होता है। मनुष्यका वैक्रियिक शरीर मनुष्यलोक (अढ़ाई द्वीप) तक जाता है उससे अधिक नहीं जा सकता ॥ ४० ॥

तैजस और कार्मण शरीरकी अन्य विशेषता

अनादिसम्बन्धे च ॥ ४१ ॥

अर्थः—[च] और यह दोनों शरीर [अनादिसम्बन्धे] आत्माके साथ अनादिकालसे सम्बन्धवाले हैं।

टीका

१. यह कथन सामान्य तैजस और कार्मण शरीरकी अपेक्षासे है। विशेष अपेक्षासे इसप्रकारके पहिले पहिले शरीरोंका सम्बन्ध छूटकर नये नये शरीरोंका सम्बन्ध होता रहता है, अर्थात् अयोगी गुणस्थानसे पहिले-प्रतिसमय जीव इस तैजस और कार्मण शरीरके नयेनये रजकणोंको ग्रहण करता है और पुरानेको छोड़ता है। (१४ वें गुणस्थानके अन्तिम समय इन दोनोंका अभाव हो जाता है, उसी समय जीव सीधी श्रेणीसे सिद्धस्थानमें पहुँच जाता है) सूत्रमें 'च' शब्द दिया है उससे यह अर्थ निकलता है।

२. जीवके इन शरीरोंका संबन्ध प्रवाहरूपसे अनादि नहीं है परन्तु नया (सादि) है ऐसा मानना गलत है, क्योंकि जो ऐसा होता तो पहिले जीव अशरीरी था अर्थात् शुद्ध था और पीछे वह अशुद्ध हुआ ऐसा सिद्ध होगा; परन्तु शुद्ध जीवके अनन्त पुरुषार्थ होनेसे उसके अशुद्धता आ नहीं सकती और जहां अशुद्धता नहीं होती है वहां ये शरीर हो ही नहीं सकते। इसप्रकार जीवके इन शरीरोंका सम्बन्ध सामान्य अपेक्षासे (-प्रवाहरूपसे) अनादिसे और यदि इन तैजस और कार्मण शरीरोंका सम्बन्ध अनादिसे प्रवाहरूप नहीं मानकर वहीका वही अनादिसे जीवसे सम्बन्धित है ऐसा माना जाय तो उनका सम्बन्ध अनन्तकाल तक रहेगा और तब जीवके विकार न करने पर भी उसे मोक्ष कभी भी नहीं होगा। अवस्थादृष्टिसे जीव अनादिकालसे अशुद्ध है ऐसा इस सूत्रसे सिद्ध होता है (देखो इसके वादके सूत्रकी टीका)

ये शरीर अनादिकालसे सब जीवोंके होते हैं

सर्वस्य ॥ ४२ ॥

अर्थः—ये तैजस और कार्मण शरीर [सर्वस्य] सब संसारी जीवोंके होते हैं।

टीका

जिन जीवोंके इन शरीरोंका सम्बन्ध नहीं होता है उनके संसारी अवस्था नहीं होती सिद्ध अवस्था होती है। यह बात ध्यानमें रखना चाहिए कि—किसी भी जीवके वास्तवमें परमार्थसे) शरीर होता नहीं है। यदि जीवके वास्तवमें शरीर माना जाय तो जीव जड़ शरीररूप हो जायगा; परन्तु ऐसा होता नहीं है। जीव और शरीर दोनों एक आकाशक्षेत्रमें

(एकक्षेत्रावगाह सम्बन्धरूप) रहते हैं इसलिये अज्ञानी जीव शरीरको अपना मानते हैं, अवस्थादृष्टिसे जीव अनादिकालसे अज्ञानी है इसलिये 'अज्ञानीके इस प्रतिभास' को व्यवहार बतलाकर उसे 'जीवका शरीर' कहा जाता है।

इसप्रकार जीवके विकारीभावका निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध बताया है, किन्तु जीव और शरीर एक द्रव्यरूप, एक क्षेत्ररूप, एक पर्यायरूप या एक भावरूप हो जाते हैं—यह बतानेका शास्त्रोंका हेतु नहीं है, इसलिये आगेके सूत्रमें 'सम्बन्ध' शब्दका प्रयोग किया है, यदि (-व्यवहार कथनानुसार) जीव और शरीर एकरूप हो जांय तो दोनों द्रव्योंका सर्वथा नाश हो जायगा ॥ ४२ ॥

एक जीवके एक साथ कितने शरीरोंका सम्बन्ध होता है ?

तदादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्यः ॥ ४३ ॥

अर्थः—[तदादीनि] उन तैजस और कार्मण शरीरोंसे प्रारम्भ करके [युगपत्] एक साथ [एकस्मिन्] एक जीवके [आचतुर्भ्यः] चार शरीर तक [भाज्यानि] विभक्त करना चाहिये अर्थात् जानना चाहिये।

टीका

जीवके यदि दो शरीर हों तो तैजस और कार्मण; तीन हों तो तैजस, कार्मण और औदारिक अथवा तैजस, कार्मण और वैक्रियिक, चार हों तो तैजस, कार्मण, औदारिक और आहारक, अथवा तैजस कार्मण, औदारिक और (लब्धिवाले जीवके) वैक्रियिक शरीर होते हैं। इसमें (लब्धिवाले जीवके) औदारिकके साथ जो वैक्रियिक शरीर होना बतलाया है वह शरीर औदारिककी जातिका है, देवके वैक्रियिक शरीरके रजकणोंकी जातिका नहीं ॥ ४३ ॥

(देखो सूत्र ३७ तथा ४७ की टीका)

कार्मण शरीरकी विशेषता

निरुपभोगमन्त्यम् ॥ ४४ ॥

अर्थ—[अन्त्यम्] अंतका कार्मण शरीर [निरुपभोगम्] उपभोग रहित होता है।

टीका

१. उपभोग—इन्द्रियोंके द्वारा शब्दादिकके ग्रहण करना (-जानना) सो उपभोग है।

३. विग्रहगतिमें जीवके भावेन्द्रियां होती हैं (देखो सूत्र १८) वहाँ जड़ इन्द्रियोंकी रचनाका अभाव है (देखो सूत्र १७) उस स्थितिमें शब्द, रूप, रस, गंध या स्पर्शका अनुभव (-ज्ञान) नही होता, इसलिये कार्मण शरीरको निरुपभोग ही कहा है।

प्रश्नः—तैजस शरीर भी निरुपभोग ही है तथापि उसे यहाँ क्यों नही गिना है ?

उत्तरः—तैजस शरीर तो किसी योगका भी कारण नही है इसलिये निरुपभोगके प्रकरणमें उसे स्थान नहीं है। विग्रहगतिमे कार्मण शरीर कार्मण योगका कारण है (देखो सूत्र २५) इसलिये वह उपभोगके योग्य है या नहीं—यह प्रश्न उठ सकता है। उसका निराकरण करनेके लिये यह सूत्र कहा है। तैजसशरीर उपभोगके योग्य है या नहीं यह प्रश्न ही नहीं उठ सकता, क्योंकि वह तो निरुपभोग ही है, इसलिये यहा उसे नही लिया गया है।

४. जीवकी अपनी पात्रता-योग्यता (-उपादान) के अनुसार बाह्य निमित्त संयोगरूप (उपस्थितिरूप) होते हैं, और जब अपनी पात्रता नहीं होती तब वे उपस्थित नहीं होते, यह बात इस सूत्रमें बतलाई गई है। जब जीव शब्दादिकका ज्ञान करने योग्य नहीं होता तब जड़ शरीररूप इन्द्रियाँ उपस्थित नही होती, और जब जीव वह ज्ञान करने योग्य होता है तब जड़ शरीररूप इन्द्रियां स्वयं उपस्थित होती हैं ऐसा समझना चाहिये।

५. पच्चीसवां सूत्र और यह सूत्र बतलाता है कि—परवस्तु जीवको विकारभाव नहीं कराती, क्योंकि विग्रहगतिमें स्थूल शरीर, स्त्री, पुत्र इत्यादि कोई नही होते, द्रव्यकर्म जड़ है उनके ज्ञान नही होता, और वे अपना-स्वक्षेत्र छोड़कर जीवके क्षेत्रमें नहीं जा सकते इसलिये वे कर्म जीवमें विकारभाव नही करा सकते। जब अपने दोषसे अज्ञानदशामें प्रति-क्षण नया विकारभाव किया करता है तब जो कर्म अलग होते हैं उनपर उदयका आरोप होता है, और जीव जब विकारभाव नहीं करता तब पृथक् होनेवाले कर्मोंपर निर्जराका आरोप होता है अर्थात् उसे 'निर्जरा' नाम दिया जाता है ॥ ४४ ॥

औदारिक शरीरका लक्षण

गर्भसम्मूर्च्छनजमाद्यम् ॥ ४५ ॥

अर्थः—[**गर्भ**] गर्भ [**सम्मूर्च्छनजम्**] और सम्मूर्च्छन जन्मसे उत्पन्न होनेवाला शरीर [**आद्यं**] पहिला-औदारिक शरीर कहलाता है।

टीका

प्रश्नः—शरीर तो जड़-पुद्गलद्रव्य है और यह जीवका अधिकार है, फिर भी इसमें यह विषय क्यों लिया गया है ?

उत्तरः—जीवके भिन्न भिन्न प्रकारके विकारीभाव होते हैं तब उसका किस किस प्रकारके शरीरोंके साथ एकक्षेत्रावगाह सम्बन्ध होता है, यह बतानेके लिये शरीरोंका विषय यहाँ (इस सूत्रमें तथा इस अध्यायके अन्य कई सूत्रोंमें) लिया गया है ॥ ४५ ॥

वैक्रियिक शरीरका लक्षण

औपपादिक वैक्रियिकम् ॥ ४६ ॥

अर्थः—[औपपादिकम्] उपपादजन्मवाले अर्थात् देव और नारकियोंके शरीर [वैक्रियिक] वैक्रियिक होते हैं ।

नोट—उपपादजन्मका विषय ३४ वें सूत्रमें और वैक्रियिक शरीरका विषय ३६ वें सूत्रमें आ चुका है, उन सूत्रोंकी और उनकी टीकाओंकी यहाँ भी पढ़ लेना चाहिए ।

देव और नारकियोंके अतिरिक्त दूसरोंके वैक्रियिक शरीर होता है या नहीं ?

लब्धिप्रत्ययं च ॥ ४७ ॥

अर्थः—वैक्रियिक शरीर [लब्धिप्रत्ययं च] लब्धिनैमित्तिक भी होता है ।

टीका

वैक्रियिक शरीरके उत्पन्न होनेमें ऋद्धिका निमित्त है, साधुको तपकी विशेषतासे प्राप्त होनेवाली ऋद्धिको 'लब्धि' कहा जाता है । प्रत्ययका अर्थ निमित्त है । किसी तिर्यंचको भी विक्रिया होती है । विक्रिया शुभभावका फल है, धर्मका नहीं । धर्मका फल तो शुद्ध अशंपभाव है और शुभभावका फल बाह्य संयोग है । मनुष्य तथा तिर्यंचोंका वैक्रियिक शरीर देव तथा नारकियोंके शरीरसे भिन्न जातिका होता है, यह औदारिक शरीरका ही एक प्रकार है ॥ ४७ ॥

[देखो सूत्र ३६ तथा ४३ की टीका]

वैक्रियिकके अतिरिक्त किसी अन्य शरीरको भी लब्धिका निमित्त है ?

तैजसमपि ॥ ४८ ॥

अर्थः—[तैजसम्] तैजस शरीर [अपि] भी लब्धिनिमित्तक है ।

टीका

१—तैजसशरीरके दो भेद हैं—अनिःसरण और निःसरण। अनिःसरण सर्व संसारी जीवोंके शरीरकी दीप्तिका कारण है, वह लब्धिप्रत्यय नहीं है। उसका स्वरूप सूत्र ३६ की टीकामे आ चुका है।

२—निःसरण-तैजस शुभ और अशुभके भेदसे दो प्रकारका है। यदि किसी क्षेत्रमे रोग, अकाल आदि पड़े तो उससे लोगोंको दुःखी देखकर तपस्याके धारी मुनिके अत्यन्त करुणा उत्पन्न हो जाय तो उनके दाहिने कंधेमेसे एक तैजसपिंड निकलकर १२ योजन तक जीवोंका दुःख मिटाकर मूलशरीरमें प्रवेश करता है उसे निःसरणशुभतैजस शरीर कहते हैं। और किसी क्षेत्रमें मुनि अत्यन्त क्रोधित हो जाय तो ऋद्धिके प्रभावसे उसके बायें कंधेसे सिंदूरके समान लाल अग्निरूप कान्तिवाला बिलावके आकार एक शरीर निकलकर (वह शरीर बढकर १२ योजन लंबा और ९ योजन विस्तारवाला होकर) १२ योजन तकके सब जीवोंके शरीरको तथा अन्य पुद्गलोंको जलाकर भस्म करके मूलशरीरमें प्रवेश करके उस मुनिको भी भस्म कर देता है, (वह मुनि नरकको प्राप्त होता है।) उसे निःसरणअशुभतैजस शरीर कहते हैं ॥ ४८ ॥

आहारक शरीरका स्वामी तथा उसका लक्षण

शुभं विशुद्धमव्याघाति चाहारकं प्रमत्तसंयतस्यैव ॥ ४९ ॥

अर्थः—[**आहारकं**] आहारक शरीर [**शुभम्**] शुभ है अर्थात् वह शुभ कार्य करता है [**विशुद्धम्**] विशुद्ध है अर्थात वह विशुद्धकर्म (मंद कषायसे बंधनेवाले कर्म) का कार्य है। [**च अव्याघाति**] और व्याघात-बाधारहित है तथा [**प्रमत्तसंयतस्यैव**] प्रमत्तसंयत (छठवें गुणस्थानवर्ती) मुनिके ही वह शरीर होता है।

टीका

१—यह शरीर चन्द्रकान्तमणिके समान सफेद रंगका एक हाथ प्रमाणका पुरुषाकार होता है, वह पर्वत वज्र इत्यादिसे नहीं रुकता इसलिये अव्याघाति है। यह शरीर प्रमत्त-संयमी मुनिके मस्तकमेंसे निकलता है, प्रमत्तसंयत गुणस्थानमें ही यह शरीर होता है अन्यत्र नहीं होता; और यह शरीर सभी प्रमत्तसंयत मुनियोंके भी नहीं होता।

२—यह आहारक शरीर (१) कदाचित् लब्धि-विशेषका सद्भाव जाननेके लिये, (२) कदाचित् सूक्ष्मपदार्थके निर्णयके लिये तथा (३) कदाचित् तीर्थगमनके या संयमकी रक्षाके

निमित्त उसका प्रयोजन है, केवली भगवान् अथवा श्रुतकेवली भगवान्‌के पास जाते ही स्वयं निर्णय करके अन्तर्मुहूर्तमें वापिस आकर उसमें मुनिके शरीरमें प्रवेश करता है।

३—जिससमय भरत-ऐरावत क्षेत्रोंमें तीर्थंकर भगवानकी, केवलीकी या श्रुतकेवलीकी उपस्थिति नहीं होती और उनके बिना मुनिका समाधान नहीं हो पाता तब महाविदेह क्षेत्रमें जहां तीर्थंकर भगवान इत्यादि विराजमान होते हैं वहां उन (भरत या ऐरावत क्षेत्रके) मुनिका आहारक शरीर जाता है, और भरत-ऐरावत क्षेत्रमें तीर्थंकरादि होते हैं तब वह निकटके क्षेत्रमें जाता है। महा विदेहमें तीर्थंकर त्रिकाल होते हैं इसलिये वहांके मुनिके ऐसा प्रसंग आये तो उनका आहारक शरीर उस क्षेत्रके तीर्थंकरादिके पास जाता है।

४—(१) देव अनेक वैक्रियिक शरीर कर सकते हैं, मूलशरीर सहित देव स्वर्गलोकमें विद्यमान रहते हैं और विक्रियाके द्वारा अनेक शरीर करके दूसरे क्षेत्रमें जाते हैं। जैसे कोई सामर्थ्यका धारक देव अपने एक हजार रूप बनाये परन्तु उन हजारों शरीरोंमें उस देवकी आत्माके प्रदेश होते हैं। मूल वैक्रियिक शरीर जघन्य दस हजार वर्ष तक रहता है अर्थात् अधिक जितनी आयु होती है उतने समय तक रहता है। उत्तर वैक्रियिक शरीरका काल जघन्य तथा उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त ही है। तीर्थंकर भगवानके जन्मके समय और नंदीश्वरादिके जिनमन्दिरोंकी पूजाके लिये देव जाते हैं तब बारम्बार विक्रिया करते हैं।

(२) प्रमत्तसंयत मुनिका आहारक शरीर दूर क्षेत्र—विदेहादिमें जाता है।

(३) तैजसशरीर १२ योजन (४८ कोस) तक जाता है।

(४) आत्मा अखंड है, उसके खण्ड नहीं होते। आत्माके असंख्यात प्रदेश हैं वे कार्मण शरीरके साथ निकलते हैं, मूलशरीर ज्योंका त्यों बना रहता है और उसमें भी प्रत्येक स्थलमें आत्माके प्रदेश अखण्ड रहते हैं।

(५)—जैसे अन्नको प्राण कहना उपचार है, उसीप्रकार इस सूत्रमें आहारक शरीरको उपचारसे ही 'शुभ' कहा है। दोनों स्थानोंमें कारणमें कार्यका उपचार (व्यवहार) किया गया। जैसे अन्नका फल प्राण है उसीप्रकार शुभका फल आहारक शरीर है, इसलिये यह उपचार है॥ ४९॥

लिंग अर्थात् वेदके स्वामी

नारकसम्मूर्च्छिनो नपुंसकानि ॥ ५० ॥

अर्थः—[नारकसम्मूर्च्छिनो] नारकी और सम्मूर्च्छन जन्मवाले [नपुंसकानि] नपुंसक होते हैं।

टीका

१—लिंग अर्थात् वेद दो प्रकारके हैं—(१) द्रव्यलिंग=पुरुष, स्त्री या नपुंसकत्व बतानेवाला शरीरका चिह्न और (२) भावलिंग=स्त्री, पुरुष अथवा स्त्री-पुरुष दोनोंके भोगनेकी अभिलाषारूप आत्माके विकारी परिणाम। नारकी और सम्मूर्च्छन जीवोंके द्रव्यलिंग और भावलिंग दोनों नपुंसक होते हैं।

२—नारकी और सम्मूर्च्छन जीव नपुंसक ही होते हैं, क्योंकि उन जीवोंके स्त्री-पुरुष सम्बन्धी मनोज्ञ शब्दका सुनना, मनोज्ञ गंधका सूंघना, मनोज्ञ रूपका देखना, मनोज्ञ रसका चखना, या मनोज्ञ स्पर्शका स्पर्शन करना इत्यादि कुछ नहीं होता, इसलिये थोड़ासा कल्पित सुख भी उन जीवोंके नहीं होता, अतः निश्चय किया जाता है कि वे जीव नपुंसक ही हैं॥ ५०॥

देवोंके लिंग

न देवाः॥ ५१॥

अर्थः—[देवाः] देव [न] नपुंसक नहीं होते, अर्थात् देवोंके पुरुषलिंग और देवियोंके स्त्रीलिंग होता है।

टीका

१—देवगतिमें द्रव्यलिंग तथा भावलिंग एकसे होते हैं। २—भोगभूमि म्लेच्छखण्डके मनुष्य स्त्रीवेद और पुरुषवेद दोनोंको धारण करते हैं, वहाँ नपुंसक उत्पन्न नहीं होते॥५१॥

अन्य कितने लिंगवाले हैं?

शेषास्त्रिवेदाः॥ ५२॥

अर्थः—[शेषाः] शेषके गर्भज मनुष्य और तिर्यंच [त्रिवेद] तीनों वेदवाले होते हैं।

टीका

भाववेदके भी तीन प्रकार हैं—(१) पुरुषवेदकी कामाग्नि तृणकी अग्निके समान जल्दी शांत हो जाती है, (२) स्त्रीवेदकी कामाग्नि अंगारके समान गुप्त और कुछ समयके

बाद शांत होती है, और (३) नपुंसकवेदकी कामाग्नि ईंटकी आगके समान बहुत समयतक बनी रहती है ॥ ५२ ॥

किनकी आयु अपवर्तन (—अकालमृत्यु) रहित है ?

औपपादिकचरमोत्तमदेहाऽसंख्येयवर्षायुषोऽनपवर्त्यायुषः ॥ ५३ ॥

अर्थः—[औपपादिक] उपपाद जन्मवाले देव और नारकी, [चरम उत्तम देहाः] चरम उत्तम देहवाले अर्थात् उसी भवमें मोक्ष जाने वाले तथा [असंख्येयवर्ष आयुषः] असंख्यात वर्ष आयुवाले भोगभूमिके जीवोंकी [आयुषः अनपवर्त्याः] आयु अपवर्तन रहित होती है।

टीका

१—आठ कर्मोंमें आयुनामका एक कर्म है। भोग्यमान (भोगी जानेवाली) आयु कर्मके रजकण दो प्रकारके होते हैं—सोपक्रम और निरुपक्रम। उनमेंसे आयुके प्रमाणमें प्रतिसमय समान निषेक निर्जरित होते हैं, उस प्रकारका आयु निरुपक्रम अर्थात् अपवर्तन रहित है, और जिस आयुकर्मके भोगनेमें पहिले तो समय समयमें समान निषेक निर्जरित होते हैं परन्तु उसके अन्तिम भागमें बहुतसे निषेक एकसाथ निर्जरित हो जायें उसप्रकारकी आयु सोपक्रम कहलाती है। आयुकर्मके बन्धमें ऐसी विचित्रता है कि जिसके निरुपक्रम आयुका उदय हो उसके समय समय समान निर्जरा होती है इसलिये वह उदय कहलाता है, और सोपक्रम आयुवालेके पहिले अमुक समय तो उपरोक्त प्रकारसे ही निर्जरा होती है तब उसे उदय कहते हैं, परन्तु अन्तिम अन्तर्मुहूर्तमें सभी निषेक एक साथ निर्जरित हो जाते हैं इसलिये उसे उदीरणा कहते हैं। वास्तवमें किसी भी आयु बढ़ती या घटती नहीं है परन्तु निरुपक्रम आयुका सोपक्रम आयुसे भेद बतानेकेलिये सोपक्रम आयुवाले जीवको 'अकाल मृत्यु हुई' ऐसा व्यवहारसे कहा जाता है।

२—उत्तम अर्थात् उत्कृष्ट, चरमदेह उत्कृष्ट होते हैं क्योंकि जो जो जीव केवलज्ञान पाते हैं उनका शरीर केवलज्ञान प्रगट होने पर परमौदारिक हो जाता है। जिस शरीरसे जीवको केवलज्ञान प्राप्त नहीं होता वह शरीर चरम नहीं होता, और परमौदारिक भी नहीं होता। मोक्ष प्राप्त करनेवाले जीवका शरीरके साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध केवलज्ञान प्राप्त होने पर कैसा होता है यह बतानेके लिये इस सूत्रमें चरम और उत्तम—ऐसे दो विशेषण दिये गये हैं। जब केवलज्ञान प्रगट होता है तब उस शरीरको 'चरम'

संज्ञा प्राप्त होती है; और वह परमौदारिकरूप हो जाता है इसलिये उसे 'उत्तम' संज्ञा प्राप्त होती है; परन्तु वज्रवृषभनाराचसंहनन तथा समचतुरस्रसंस्थानके कारण शरीरको 'उत्तम' संज्ञा नही दी जाती।

३—सोपक्रम-कदलीघात अर्थात् वर्तमानके लिये अपवर्तन होनेवाली आयुवालेके बाह्यमें विष, वेदना, रक्तक्षय, भय, शस्त्राघात, श्वासावरोध, अग्नि, जल, सर्प, अजीर्णभोजन, वज्रपात, शूली, हिंसक जीव, तीव्रभूख या प्यास आदि कोई निमित्त होते हैं। (कदलीघातके अर्थके लिये देखो अ० ४ सूत्र २९ की टीका)

४—कुछ अंतःकृत केवली ऐसे होते हैं कि जिनका शरीर उपसर्गसे विदीर्ण हो जाता है परन्तु उनकी आयु अपवर्तनरहित है। चरमदेहधारी गुरुदत्त, पांडव इत्यादिको उपसर्ग हुआ था परन्तु उनकी आयु अपवर्तनरहित थी।

५—'उत्तम' शब्दका अर्थ त्रेसठ शलाका पुरुष, अथवा कामदेवादि ऋद्धियुक्त पुरुष, —ऐसा करना ठीक नही है। क्योंकि सुभौम चक्रवर्ती, अंतिम ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती तथा अंतिम अर्धचक्रवर्ती वासुदेव आयुके अपवर्तन होने पर मरणको प्राप्त हुये थे।

६—भरत और बाहुबलि तद्भवमोक्षगामी जीव हुये हैं, इसलिये परस्पर लड़ने पर भी उनकी आयु बिगड़ सकती नही-ऐसा कहा है, वह बताता है कि 'उत्तम' शब्दका तद्भव-मोक्षगामी जीवोंके लिये ही प्रयोग किया गया है।

७—सभी सकलचक्रवर्ती और अर्धचक्रवर्ती अनपवर्तन आयुवाले होते हैं; ऐसा नियम नही है।

८—सर्वार्थसिद्धि टीकामें श्री पूज्यपाद आचार्यदेवने 'उत्तम' शब्दका अर्थ किया है; इसलिये मूल सूत्रमे वह शब्द है यह सिद्ध होता है। श्री अमृतचन्द्राचार्यदेवने तत्त्वार्थसारके दूसरे अध्यायकी १३५ वी गाथामें उत्तम शब्दका प्रयोग किया है, वह गाथा निम्नप्रकार है—

असंख्येय समायुक्ताश्चरमोत्तममूर्तयः।
देवाश्च नारकाश्चैषाम् अपमृत्युर्नविद्यते ॥ १३५ ॥

उपसंहार

(१) इस अध्यायमें जीवतत्त्वका निरूपण है, उसमें प्रथम ही जीवके औपशमिकादि पांच भावोंका वर्णन किया है [सूत्र १], पांच भावोंके ५३ भेद सात सूत्रोंमें कहे हैं।

[सूत्र ७ तक], तत्पश्चात् जीवका प्रसिद्ध लक्षण उपयोग बतलाकर उसके भेद कहे हैं [सूत्र ९], जीवके संसारी और मुक्त दो भेद कहे हैं [सूत्र १०], उनमेंसे संसारी जीवोंके भेद संज्ञी-असंज्ञी तथा त्रस-स्थावर कहे हैं, और त्रसके भेद दो इन्द्रियसे पंचेन्द्रिय तक बतलाये हैं, पांच इन्द्रियोंके द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय ऐसे दो भेद कहे हैं, और उसके विषय बतलाये हैं [सूत्र २१ तक], एकेन्द्रियादि जीवोंके कितनी इन्द्रियाँ होती हैं इसका निरूपण किया है [सूत्र २३ तक] और फिर सभी जीवोंका तथा जीव परभवगमन करता है उसका (गमनका) स्वरूप कहा है [सूत्र ३० तक], तत्पश्चात् जन्मके भेद, योनिके भेद, तथा गर्भज, देव, नारकी, और सम्मूर्छन जीव कैसे उत्पन्न होते हैं इसका निर्णय किया है। [सूत्र ३५ तक], पांच शरीरोंके नाम बतलाकर उनकी सूक्ष्मता और स्थूलताका स्वरूप कहा है, और वे कैसे उत्पन्न होते हैं इसका निरूपण किया है [सूत्र ४९ तक], फिर किस जीवके कौनसा भेद होता है यह कहा है [सूत्र ५२ तक], फिर उदयमरण और उदीरणामरणका नियम बताया है [सूत्र ५३

जबतक जीवकी अवस्था विकारी होती है तबतक ऐसे परवस्तुके संयोग होते हैं, यहाँ उनका ज्ञान कराया है, और सम्यग्दर्शन प्राप्त करके, वीतरागता प्राप्त करके संसारी मिटकर मुक्त होनेके लिये बतलाया है।

२ पारिणामिकभावके सम्बन्धमें

जीव और उसके अनन्तगुण त्रिकाल अखण्ड अभेद हैं इसलिये वे पारिणामिकभावसे हैं। प्रत्येक द्रव्यके प्रत्येक गुणका प्रतिक्षण परिणमन होता है, और जीव भी द्रव्य है इसलिए तथा उसमें द्रव्यत्व नामका गुण है इसलिए प्रतिसमय उसके अनन्तगुणोंका परिणमन होता है उस परिणमनको पर्याय कहते हैं। उनमें जो पर्यायें अनादिकालसे शुद्ध हैं वे भी पारिणामिकभावसे हैं।

जीवकी अनादिकालसे संसारी अवस्था है—यह बात इस अध्यायके १० वें सूत्रमें कही है, क्योंकि जीव अपनी अवस्थामें अनादिकालसे प्रतिक्षण नया विकार करता आ रहा है, किन्तु यह ध्यान रहे कि उसके सभी गुणोंकी पर्यायोंमें विकार नहीं होता किन्तु अनन्त गुणोंमेंसे बहुत कम गुणोंकी अवस्थामें विकार होता है। जितने गुणोंकी अवस्थामें विकार नहीं होता उनकी पर्यायें शुद्ध हैं।

प्रत्येक द्रव्य सत् है इसलिए उसकी पर्यायमें प्रतिसमय उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यत्वका प्रवाह अखण्डरूप करते हैं। इन तीन अंशोंमें जो ध्रुवत्वका अंश है वह अंश अनादि-अनन्त एकरूप है और वह भी पारिणामिकभावसे है।

इससे निम्नप्रकार पारिणामिकभाव सिद्ध हुआ—

द्रव्यका त्रिकालत्व तथा अनन्तगुण और उनकी पर्यायोंका एकप्रवाहरूपसे रहनेवाला अनादि-अनन्त ध्रौव्यांश—यह तीनों अभेदरूपसे पारिणामिकभाव हैं, और उसे द्रव्यदृष्टिसे परमपारिणामिकभाव कहा जाता है।

३. उत्पाद और व्यय पर्याय—

अब उत्पाद और व्ययपर्यायके सम्बन्धमें कहते हैं:—व्ययपर्याय अभावरूप है और वह पारिणामिक भावसे है।

द्रव्यके अनन्त गुणोंकी प्रतिसमय उत्पादपर्याय होती रहती है, उसमें जिन गुणोंकी पर्याय अनादिकालसे अविकारी है वह पारिणामिकभावसे है और वह पर्याय है इसलिए पर्यायार्थिकनयसे पारिणामिकभाव है।

परकी अपेक्षा रखनेवाले जीवके भावोंके चार विभाग होते हैं-१—औपशमिकभाव, २—क्षायोपशमिकभाव, ३—क्षायिकभाव और ४—औदयिकभाव। इन चार भावोंका स्वरूप पहिले इस अध्यायके सूत्र १ की टीकामें कहा है।

४. धर्म करनेके लिये पांच भावोंका ज्ञान कैसे उपयोगी है ?

यदि जीव इन पांच भावोंके स्वरूपको जान ले तो वह स्वयं यह समझ सकता है कि-किस भावके आधारसे धर्म होता है। पांच भावोंमेंसे पारिणामिकभावके अतिरिक्त शेष चार भावोंमेंसे किसीके लक्ष्यसे धर्म नहीं होता, और जो पर्यायार्थिकनयसे पारिणामिकभाव है उसके आश्रयसे भी धर्म नहीं होता-यह वह समझ सकता है।

जब कि अपने पर्यायार्थिकनयसे वर्तनेवाले पारिणामिकभावके आश्रयसे भी धर्म नहीं होता तब फिर निमित्त जो कि परद्रव्य है—उसके आश्रयसे या लक्ष्यसे तो धर्म हो ही नहीं सकता; यह भी वह समझता है। और परमपारिणामिकभावके आश्रयसे ही धर्म होता है ऐसा वह समझता है।

५. उपादानकारण और निमित्तकारणके सम्बन्धमें—

प्रश्नः—जैनधर्मने वस्तुका स्वरूप अनेकान्त कहा है, इसलिए किसी समय उपादान (परमपारिणामिकभाव) की मुख्यतासे धर्म हो और किसी समय निमित्त (परद्रव्य) की मुख्यतासे धर्म हो, ऐसा होना चाहिए। उपरोक्त प्रकारसे मात्र उपादान (परमपारिणामिकभाव) से धर्म होता है ऐसा कहनेसे एकान्त हो जायगा।

उत्तरः—यह प्रश्न सम्यक्अनेकान्त, मिथ्याअनेकान्त, और सम्यक् और मिथ्या-एकान्तके स्वरूपकी अज्ञानता बतलाता है। परमपारिणामिक भावके आश्रयसे धर्म हो और दूसरे किसी भावके आश्रयसे धर्म न हो, इस प्रकार अस्ति-नास्तिस्वरूप सम्यक् अनेकान्त है। प्रश्नमें बतलाया गया अनेकान्त मिथ्याअनेकान्त है। और यदि इस प्रश्नमें बतलाया गया सिद्धान्त स्वीकार किया जाय तो वह मिथ्याएकान्त होता है, क्योंकि यदि किसी समय निमित्तकी मुख्यतासे (अर्थात् परद्रव्यकी मुख्यतासे) धर्म हो तो परद्रव्य और स्वद्रव्य दोनों एक हो जाँय, जिससे मिथ्याएकान्त होता है।

जिससमय उपादान कार्यपरिणत होता है उसी कार्यके समय निमित्तकारण भी स्वयं उपस्थित होता है, लेकिन निमित्तकी मुख्यतासे कोई भी कार्य किसी भी समय नहीं होता, ऐसा नियम दिखानेके लिए श्री बनारसीदासजीने कहा है कि:—

"उपादान निज गुण जहाँ, तहँ निमित्त पर होय,
भेदज्ञान परमान विधि, विरला बूझे कोय।

उपादान बल जहँ तहाँ, नहीं निमित्तको दाव,
एक चक्रसों रथ चल, रविको यह स्वभाव।

सब वस्तु असहाय जहँ तहँ निमित्त है कौन,
ज्यों जहाज परवाहमें, तिरै सहज बिन पौन।"

प्रश्नः—तब फिर शास्त्रमें यह तो कहा है कि सच्चे देव, शास्त्र, गुरु और भगवानकी दिव्यध्वनिके आश्रयसे धर्म होता है, इसलिये कभी उन निमित्तोंकी मुख्यतासे धर्म होता है ऐसा माननेमें क्या दोष है?

उत्तरः—सच्चे देव, शास्त्र, गुरु आदिसे धर्म होता है ऐसा कथन व्यवहारनयका है, उसका परमार्थ तो ऐसा है कि—परमशुद्धनिश्चयनयग्राहक परमपारिणामिकभावके आश्रयसे (अर्थात् निज त्रिकाल शुद्ध चैतन्य परमात्मभाव-ज्ञायकभावसे) धर्म होता है, जीव शुभ-भावरूप रागका अवलम्बन लेता है उसमें सद्देव, सद्गुरु, सत्शास्त्र तथा भगवानकी दिव्यध्वनि निमित्तमात्र है, तथा उस ओरके राग—विकल्पको टाल करके जीव जब परमपारिणामिक-भावका (ज्ञायकभावका) आश्रय लेता है तब उसके धर्म प्रगट होता है और उस समय रागका अवलम्बन छूट जाता है। धर्म प्रगट होनेके पूर्व राग किस दिशामें ढला था यह बतानेके लिए देव गुरु-शास्त्र या दिव्यध्वनि इत्यादिक निमित्त कहनेमें आते हैं परन्तु निमित्तकी मुख्यतासे किसी भी समय धर्म होता है यह बतानेके लिये निमित्तका ज्ञान नहीं कराया जाता।

(२) किसी समय उपादानकारणकी मुख्यतासे धर्म होता है और किसी समय निमित्तकारणकी मुख्यतासे धर्म होता है-अगर ऐसा मान लिया जाय तो धर्म करनेके लिये कोई त्रिकालवर्ती अबाधित नियम नही रहेगा; और यदि कोई नियमरूप सिद्धान्त न हो तो धर्म किस समय उपादानकारणकी मुख्यतासे होगा और किस समय निमित्तकारणकी मुख्यतासे होगा यह निश्चित् न होनेसे जीव कभी धर्म नही कर सकेगा।

(३) धर्म करनेके लिये त्रैकालिक एकरूप नियम न हो ऐसा नहीं हो सकता; इसलिये यह समझना चाहिये कि जो जीव पहिले धर्मको प्राप्त हुए हैं, वर्तमानमें धर्मको प्राप्त हो रहे हैं और भविष्यमें धर्मको प्राप्त करेंगे उन सबके पारिणामिकभावका ही आश्रय है, किसी अन्यका नही।

प्रश्नः—सम्यग्दृष्टि जीव ही सम्यग्दर्शन होनेके बाद सच्चे देव-गुरु-शास्त्र का अवलम्बन लेते हैं और उनके आश्रयसे उन्हें धर्म प्राप्त होता है, तो वहाँ निमित्तकी मुख्यतासे धर्मका कार्य हुआ या नही?

उत्तरः—नही, निमित्तकी मुख्यतासे कहीं भी कोई कार्य होता ही नहीं है। सम्यग्दृष्टि-के जो राग और रागका अवलम्बन है उसका भी खेद रहता है; सच्चे देव, गुरु या शास्त्रका भी कोई जीव अवलम्बन ले ही नही सकता, क्योंकि वह भी परद्रव्य है; फिर भी जो यह कहा जाता है कि-ज्ञानीजन सच्चे देव-गुरु-शास्त्रका अवलम्बन लेते हैं वह उपचार है, कथनमात्र है; वास्तवमें परद्रव्यका अवलम्बन नही, किन्तु वहां अपनी अशुद्ध अवस्थारूप रागका ही अवलम्बन है।

अब, जो उस शुभभावके समय सम्यग्दृष्टिके शुद्धभाव बढ़ता है वह अभिप्रायमें परमपारिणामिकभावका आश्रय है उसीके बलसे बढ़ता है। अन्य प्रकारसे कहा जाय तो सम्यग्दर्शनके बलसे वह शुद्धभाव बढ़ते हैं किन्तु शुभराग या परद्रव्यके अवलम्बनसे शुद्धता नही बढती।

प्रश्नः—देव-गुरु-शास्त्रको निमित्तमात्र कहा है और उनके अवलम्बनको उपचारमात्र कहा है, इसका क्या कारण है?

उत्तरः—इस विश्वमें अनन्त द्रव्य हैं, उनमेसे रागके समय छद्मस्थ जीवका झुकाव किस द्रव्यकी ओर हुआ यह बतानेके लिये उस द्रव्यको 'निमित्त' कहा जाता है। जीव अपनी योग्यतानुसार जैसा परिणाम (-कार्य) करता है वैसे अनुकूल निमित्तपनेका परद्रव्यमें उपचार किया जाता है; इसप्रकार जीव शुभरागका अवलम्बन करे तो देव-गुरु-शास्त्र निमित्तमात्र हैं और उनका आलम्बन उपचारमात्र है।

• निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध जीवको सच्चा ज्ञान करनेके लिये है, ऐसी मिथ्या मान्यता करनेकेलिये नहीं कि—'धर्म करनेमें किसी समय निमित्तकी मुख्यता होती है। जो जीव सम्यग्दर्शन प्रगट करना चाहते हैं उन्हें स्वतन्त्रतारूप निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धके स्वरूपका यथार्थ ज्ञान कर लेना चाहिये। उस ज्ञानकी आवश्यकता इसलिये है कि—यदि यह ज्ञान न हो तो जीवका ऐसा अन्यथा झुकाव बना रह सकता है कि—किसी समय निमित्तकी मुख्यतासे भी कार्य होता है, और इससे उसका अज्ञानपना दूर नहीं होगा। और ऐसी निमित्ताधीनदृष्टि पराधीनता स्वीकार करनेवाली संयोगदृष्टि है जो संसारका मूल है, इससे उसके अपार संसारभ्रमण चलता रहेगा।

६. इन पाँच भावोंके साथ इस अध्यायके सूत्र कैसे सम्बन्ध रखते हैं, इसका स्पष्टीकरण

सूत्र—१.यह सूत्र पाँचों भाव बतलाता है, उसमें शुद्ध द्रव्यार्थिकनयके विषयरूप अपने पारिणामिकभावके आश्रयसे ही धर्म होता है।

सूत्र २—६. यह सूत्र पहिले चार भावोंके भेद बतलाते हैं। उनमेंसे तीसरे सूत्रमें औपशमिकभावके भेदोंका वर्णन करते हुये पहिले सम्यक्त्व लिया है, क्योंकि धर्मका प्रारम्भ औपशमिक सम्यक्त्वसे होता है, सम्यक्त्व प्राप्त होनेके बाद आगे बढ़ने पर कुछ जीवोंके औपशमिक चारित्र होता है इसलिए दूसरा औपशमिक चारित्र कहा है। इन दोके अतिरिक्त अन्य कोई औपशमिक भाव नहीं है। [सूत्र ३]

जो भव्य जीव धर्मके प्रारम्भमें प्रगट होनेवाले औपशमिक सम्यक्त्वको पारिणामिक भावके आश्रयसे प्राप्त करते हैं वे उसमें शुद्धिको बढ़ाते-बढ़ाते अन्तमें सम्पूर्ण शुद्धता प्राप्त कर लेते हैं, इसलिये उन्हें सम्यक्त्व और चारित्रकी पूर्णता होनेके अतिरिक्त ज्ञान, दर्शन, दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य-गुणोंकी पूर्णता प्रगट होती है। इन नौ भावोंकी प्राप्ति क्षायिकभावसे पर्यायमें होती है, इसलिये फिर कभी विकार नहीं होता और वे जीव अनन्त काल तक प्रतिसमय सम्पूर्ण आनन्द भोगते हैं, इसलिये चौथे सूत्रमें यह नौ भाव बतलाये हैं। उन्हें नव लब्धि भी कहते हैं।

सम्यक्ज्ञानका विकास कम होनेपर भी सम्यग्दर्शन-सम्यक्चारित्रके बलसे वीतरागता प्रगट होती है, इसलिये उन दो शुद्ध पर्यायोंके प्रगट होनेके बाद शेष सात क्षायिक पर्यायें एक साथ प्रगट होती हैं, तब सम्यग्ज्ञानके पूर्ण होनेपर केवलज्ञान भी प्रगट होता है। [सूत्र ४]

जीवमें अनादिकालसे विकार बना हुआ है फिर भी उनके ज्ञान, दर्शन और वीर्य गुण सर्वथा नष्ट नहीं होते; उनका विकास कम-बढ़ अंशतः रहता है। उपशम सम्यक्त्व द्वारा अनादिकालीन अज्ञानको दूर करनेके बाद साधकजीवोंको क्षायोपशमिक सम्यक्त्व होता है, और उन्हें क्रमशः चारित्र प्रगट होता है, वे सब क्षायोपशमिकभाव हैं। [सूत्र ५]

जीव अनेक प्रकारका विकार करता है और उसके फलस्वरूप चतुर्गतिमें भ्रमण करता है; उसमें उसे स्वस्वरूपकी विपरीत श्रद्धा, विपरीत ज्ञान और विपरीत प्रवृत्ति होती है, और इससे उसे कषाय भी होती है। और फिर सम्यग्ज्ञान होनेके बाद पूर्णता प्राप्त करनेसे पूर्व आंशिक कषाय होती है, जिससे उसको भिन्न भिन्न लेश्यायें होती हैं। जीव स्वरूपका आश्रय छोड़कर पराश्रय करता है इसलिये रागादि विकार होते हैं; उसे औदयिकभाव कहते हैं। मोह सम्बन्धी यह भाव ही संसार है। [सूत्र ६]

सूत्र ७—जीवमें शुद्ध और अशुद्ध ऐसे दो प्रकारके पारिणामिकभाव हैं। [सूत्र ७ तथा उसके नीचेकी टीका।

सूत्र ८-९—जीवका लक्षण उपयोग है; छद्मस्थ जीवका ज्ञान-दर्शनका उपयोग क्षायोपशमिक होनेसे अनेकरूप और कम-बढ होता है, और केवलज्ञान क्षायिकभावसे प्रगट होनेसे एकरूप और पूर्ण होता है। [सूत्र ८-९]

सूत्र १०—जीवके दो भेद हैं—संसारी और मुक्त। उनमेंसे अनादि अज्ञानी संसारी जीवके तीन भाव (औदयिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक) होते हैं। प्रथम धर्म प्राप्ति करनेपर चार (औदयिक, क्षायोपशमिक, औपशमिक और पारिणामिक) भाव होते हैं। क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त करनेके बाद उपशमश्रेणी मांडनेवाले जीवके पांचों भाव होते हैं। और मुक्त जीवोंके क्षायिक तथा पारिणामिक दो ही भाव होते हैं। [सूत्र १०]

सूत्र ११—जीवने स्वयं जिस प्रकारके ज्ञान, वीर्यादिके विकासकी योग्यता प्राप्त की होती है उस क्षायोपशमिकभावके अनुकूल जड़ मनका सद्भाव या अभाव होता है। जब जीव मनकी ओर अपना उपयोग लगाते हैं तब उन्हें विकार होता है, क्योंकि मन परवस्तु है। और जब जीव अपना पुरुषार्थ मनकी ओर लगाकर ज्ञान या दर्शनका व्यापार करते हैं तब द्रव्यमनपर निमित्तपनेका आरोप आता है। वैसे द्रव्यमन कोई हानि या लाभ नहीं करता क्योंकि वह परद्रव्य है। [सूत्र ११]

सूत्र १२-२०—अपने क्षायोपशमिक ज्ञानादिके अनुसार और नामकर्मके उदयानुसार ही जीव संसारमें त्रस या स्थावर दशाको प्राप्त होता है। इसप्रकार क्षायोपशमिकभावके

अनुसार जीवकी दशा होती है। पहिले जो नामकर्म बंधा था उसका उदय होनेपर त्रस स्थावरत्वका तथा जड़ इन्द्रियों और मनका संयोग होता है। [सूत्र १२ से १७ तथा १९ से २०]

ज्ञानके क्षायोपशमिकभावके लब्धि और उपयोग दो प्रकार हैं। [सूत्र १८]

सूत्र २१ से ४३—संसारी जीवोंके औदयिकभाव होने पर जो कर्म एकक्षेत्रावगाहरूपसे बंधते हैं उनके उदयका निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध—जीवके क्षायोपशमिक तथा औदयिकभावके साथ तथा मन, इन्द्रिय, शरीर, जन्म, नये भवके लिये क्षेत्रान्तर आकाशकी श्रेणी, गति, नोकर्मका समय-समय ग्रहण, तथा उनका अभाव, जन्म, योनि, तथा आयुके साथ—कैसा होता है यह बताया है। [सूत्र २१ से २६ तथा २८ से ४३]

सिद्धदशाके होनेपर जीवका आकाशकी किसी श्रेणीके साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है यह २७ वें सूत्रमें बताया है [सूत्र २७]

इससे यह समझना चाहिये कि जीवकी विकारी या अविकारी अवस्थामें जिन परवस्तुओंके साथ सम्बन्ध होता है उन्हें जगत्की अन्य परवस्तुओंसे पृथक् समझनेके लिये उसी ही समयके लिये उन्हें 'निमित्त' नाम देकर संबोधित किया जाता है, किन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिये कि निमित्तकी मुख्यतासे किसी भी समय कार्य होता है। इस अध्यायका २७ वां सूत्र इस *सिद्धांतको स्पष्टतया सिद्ध करता है।* मुक्त जीव स्वयं लोकाकाशके अग्रभागमें जानेकी योग्यता रखते हैं और तब आकाशकी जिस श्रेणीमेंसे वे जीव पार होते हैं उस श्रेणीको आकाशके अन्य भागोंसे तथा जगतके दूसरे समस्त पदार्थोंसे पृथक् करके पहिचाननेके लिये 'निमित्त' नाम (आरोपित करके) दिया जाता है।

७. निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध

यह सम्बन्ध २६-२७ वें सूत्रमें चमत्कारिक ढंगसे अत्यन्त थोड़े शब्दोंमें कहा गया है। वह यहां बतलाया जाता है—

१—जीवको सिद्धावस्थाके प्रथम समयमें वह लोकके अग्रभागमें सीधी आकाशश्रेणीसे मोड़ लिये बिना ही जाता है, यह सूत्र २६-२७ में प्रतिपादन किया गया है। जिस समय जीव लोकाग्रमें जाता है उस समय वह जिस आकाशश्रेणीमेंसे जाता है उसी क्षेत्रमें धर्मास्तिकायके और अधर्मास्तिकायके प्रदेश हैं, अनेक प्रकारकी पुद्गल वर्गणायें हैं पृथक् परमाणु हैं, सूक्ष्म स्कन्ध हैं, कालाणु द्रव्य हैं, महास्कन्धके प्रदेश हैं निगोदके जीवोंके तथा उनके शरीरके प्रदेश हैं तथा लोकान्तमें (सिद्धशिलाके ऊपर) पहिले मुक्त हुए जीवोंके कितने ही प्रदेश हैं, उन सबमेंसे पार होकर जीव लोकके अग्रभागमें जाता है। इसलिये अब उसमें

उस आकाशश्रेणीमें निमित्तत्वका आरोप आया और दूसरोंमें नहीं आया, इसके कारणकी जांच करने पर मालूम होता है कि वह मुक्त होनेवाला जीव किस आकाशश्रेणीमेंसे होकर जाता है इसका ज्ञान करानेके लिए उस 'आकाशश्रेणी' को निमित्त संज्ञा दी गई है; क्योंकि पहिले समयकी सिद्धदशाको आकाशके साथका संबंध बतानेके लिये उस श्रेणीका भाग ही अनुकूल है, अन्य द्रव्य, गुण या पर्याय उसके लिये अनुकूल नहीं है।

२—सिद्धभगवानके उस समयके ज्ञानके व्यापारमें सम्पूर्ण आकाश तथा दूसरे सब द्रव्य, उनके गुण तथा उनकी त्रिकालवर्ती पर्यायें ज्ञेय होती हैं; इसलिये उसी समय ज्ञानमात्रके लिये वे सब ज्ञेय 'निमित्त' संज्ञाको प्राप्त होते हैं।

३—सिद्धभगवानके उस समयके परिणमनको काल द्रव्यकी उसी समयकी पर्याय 'निमित्त' संज्ञाको प्राप्त होती है, क्योंकि परिणमनमें वह अनुकूल है, दूसरे अनुकूल नहीं हैं।

४—सिद्धभगवानकी उस समयकी क्रियावतीशक्तिके गति परिणामको तथा ऊर्ध्वगमन स्वभावको धर्मास्तिकायके किसी आकाशक्षेत्रमें रहनेवाले प्रदेश उसी समय 'निमित्त' संज्ञाको प्राप्त होते हैं, क्योंकि गतिमें वही अनुकूल हैं, दूसरे नहीं।

५—सिद्धभगवानके ऊर्ध्वगमनके समय दूसरे द्रव्य (जो कि आकाशक्षेत्रमें हैं वे तथा शेष द्रव्य) भी 'निमित्त' संज्ञाको प्राप्त होते हैं, क्योंकि उन सब द्रव्योंका यद्यपि सिद्धावस्थाके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है तथापि विश्वको सदा शाश्वत रखता है इतना बतानेके लिये वह अनुकूल निमित्त है।

६—सिद्धभगवानकी सम्पूर्ण शुद्धताके साथ कर्मोंका अभावसम्बन्ध है, इतनी अनुकूलता बतानेके लिये कर्मोंका अभाव भी 'निमित्त' संज्ञाको प्राप्त होता है, इसप्रकार अस्ति और नास्ति दोनों प्रकारसे निमित्तपनेका आरोप किया जाता है। किन्तु निमित्तको किसी भी प्रकारसे मुख्यरूपसे या गौणरूपसे कार्यसाधक मानना गंभीर भूल है। शास्त्रीय परिभाषामें उसे मिथ्यात्व और अज्ञान कहा जाता है।

७—निमित्त जनक और नैमित्तिक जन्य है, इसप्रकार जीव अज्ञानदशामें मानता है; इसलिये अज्ञानियोंकी कैसी मान्यता होती है यह बतानेके लिये व्यवहारसे निमित्तको जनक और नैमित्तिकको जन्य कहा जाता है, किन्तु सम्यग्ज्ञानी जीव ऐसा नहीं मानते। उनका वह ज्ञान सच्चा है यह उपरोक्त पांच पैरा बतलाते हैं, क्योंकि उसमें बताये गये अनन्त निमित्त या उनमेंका कोई अंश भी सिद्ध दशाका जनक नहीं हुआ। और वे निमित्त या उनमेंसे किसीके अनन्तवें अंशसे भी नैमित्तिक सिद्ध दशा जन्य नहीं हुई।

८—संसारी जीव भिन्न-भिन्न गतिके क्षेत्रोंमें जाते हैं, वे भी अपनी क्रियावतीशक्तिके उस उस समयके परिणमनके कारणसे जाते हैं, उसमें भी उपरोक्त पैरा १ से ५ में बताये गये अनुसार निमित्त होते हैं। किन्तु क्षेत्रान्तरमें धर्मास्तिकायके प्रदेशोंकी उस समयकी पर्यायके अतिरिक्त दूसरा कोई द्रव्य, गुण या पर्याय निमित्त संज्ञाको प्राप्त नहीं होता। उस समय अनेक कर्मोंका उदय होनेपर भी एक विहायोगति नामकर्मका उदय ही 'निमित्त' कहा जाता है। गत्यानुपूर्वी कर्मके उदयको जीवके प्रदेशोंके उस समयके आकारके साथ क्षेत्रान्तरके समय निमित्तपना है और जब जीव जिस क्षेत्रमें स्थिर हो जाता है उस समय अधर्मास्तिकायके उस क्षेत्रके प्रदेशोंकी उस समयकी पर्याय 'निमित्त' संज्ञाको प्राप्त होती है।

सूत्र २५ बतलाता है कि क्रियावती शक्तिके उस समयके परिणमनके समय योग-गुणकी जो पर्याय पाई जाती है उसमें कार्मण शरीर निमित्त है, क्योंकि शरीरका उदय उसके अनुकूल है। कार्मण शरीर और तैजस शरीर अपनी क्रियावती शक्तिके उस समयके परिणमनके कारण जाता है, उसमें धर्मास्तिकाय निमित्त है।

९—इस शास्त्रमें निमित्तको किसी स्थान पर 'निमित्त' नामसे ही कहा गया है। [देखो अ० १ सू० १४] और किसी स्थान पर उपकार, उपग्रह, इत्यादि नामसे कहा गया है, [देखो अ० ५ सू० १७ से २०], भावअपेक्षासे उसका एक ही अर्थ होता है, किन्तु अज्ञानी जीव यह मानते हैं कि एक वस्तुसे दूसरी वस्तुका भला बुरा होता है, यह बतानेके लिये उसे 'उपकार' सहायक, बलाधान, बहिरंगसाधन, बहिरंगकारण, निमित्त और निमित्तकारण इत्यादि नामसे सम्बोधित करते हैं, किन्तु इससे यह नहीं मान लेना चाहिये कि वे वास्तविक कारण या साधन हैं। एक द्रव्यको, उसके गुणोंको या उसकी पर्यायोंको दूसरेसे पृथक् करके दूसरेके साथ उसका संयोगमात्र सम्बन्ध बतानेके लिये उपरोक्त नामोंसे सम्बोधित किया जाता है। इन्द्रियोंको, धर्मास्तिकायको, अधर्मास्तिकाय इत्यादिको, बलाधानकारणके नामसे भी पहिचाना जाता है, किन्तु वह कोई भी सच्चा कारण नहीं है, फिर भी 'किसी भी समय उनकी मुख्यतासे कोई कार्य होता है' ऐसा मानना निमित्तको ही उपादान माननेके बराबर अथवा व्यवहारको ही निश्चय माननेके बराबर है।

१०—उपादानकारणके योग्य निमित्त संयोगरूपसे उस-उस समय अवश्य होते हैं। ऐसा सम्बन्ध उपादानकारणकी उस समयकी परिणमनशक्तिको; जिस पर निमित्तत्वका आरोप आता है उसके साथ है। उपादानको अपने परिणमनके समय उन-उन निमित्तोंके

आनेके लिये राह देखनी पड़े और वे न आयें तब तक उपादान नहीं परिणमता, ऐसी मान्यता उपादान और निमित्त इन दो द्रव्योंको एकरूप माननेके बराबर है ।

११—इसीप्रकार घड़ेका कुम्भकारके साथ और रोटीका अग्नि, रसोइया इत्यादिके साथका निमित्त-नैमित्तिक संबंध समझ लेना चाहिये । सम्यग्ज्ञान प्रगट करनेके लिये जीवने स्वयं अपने पुरुषार्थसे पात्रता प्राप्त की हो फिर भी उसे सम्यग्ज्ञान प्रगट करनेके लिये सद्गुरुकी राह देखनी पड़े ऐसा नहीं होता, किन्तु वह संयोगरूपसे उपस्थित होता ही है; इसलिये जब बहुतसे जीव धर्म प्राप्त करनेके लिये तैयार होते हैं तब तीर्थंकर भगवानका जन्म होता है और वे योग्य समयमें केवलज्ञानको प्राप्त करते हैं तथा उनकी दिव्यध्वनि स्वयं प्रगट होती है,—ऐसा समझना चाहिये ।

८. तात्पर्य

तात्पर्य यह है कि—इस अध्यायमें कहे गये पांच भाव तथा उनके दूसरे द्रव्योंके साथके निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धका ज्ञान करके अन्य सब परसे लक्ष हटाकर परमपारिणामिक-भावकी ओर अपनी पर्यायको उन्मुख करने पर सम्यग्दर्शन होता है और फिर उस ओर बल बढ़ाने पर सम्यक्चारित्र होता है; यही धर्ममार्ग (मोक्षमार्ग) है ।

इसप्रकार श्री उमास्वामी विरचित
मोक्षशास्त्रके दूसरे अध्यायकी
टीका समाप्त हुई ।



मोक्षशास्त्र-अध्याय तीसरा

भूमिका

इस शास्त्रके पहिले अध्यायके पहिले सूत्रमें निश्चय 'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रकी एकता मोक्षमार्ग है' यह बतलाया है,—दूसरा कोई मोक्षमार्ग नहीं है। इससे यहाँ यह भी बतलाया है कि पुण्यसे-शुभभावसे अथवा परवस्तु अनुकूल हो तो धर्म हो सकता है ऐसा मानना भूल है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र आत्माकी शुद्ध पर्याय है। यदि उसे एक शब्दमें कहा जाय तो 'सत्य पुरुषार्थ' मोक्षमार्ग है। इससे सिद्ध हुआ कि आत्माकी अपनी-अपनी शुद्ध परिणति ही धर्म है, यह बतलाकर अनेकान्त स्वरूप बतलाया है। प्रथम सूत्रमें जो पहिला शब्द 'सम्यग्दर्शन' कहा है वह सूचित करता है कि धर्मका प्रारम्भ निश्चय-सम्यग्दर्शनसे ही होता है। इस अध्यायमें निश्चय सम्यग्दर्शनका लक्षण तत्त्वार्थश्रद्धान कहा है। तत्पश्चात् तत्त्वार्थका स्वरूप समझाया है और सम्यग्ज्ञानके अनेक प्रकार बतलाकर मिथ्याज्ञानका स्वरूप भी समझाया है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रकी एकता (-एक ही) मोक्षमार्ग है,—इसप्रकार पहिले सूत्रमें स्पष्टतया बतलाकर घोषित किया है कि-किसी समय उपादानकी परिणतिकी मुख्यतासे कार्य होता है और किसी समय संयोगरूप बाह्य अनुकूल निमित्तकी (जिसे उपचारकारण कहा जाता है उसकी) मुख्यतासे कार्य होता है —ऐसा अनेकांतका स्वरूप नहीं है।

दूसरे अध्यायसे जीव तत्त्वका अधिकार प्रारम्भ किया है, उसमें जीवके स्वतत्त्वरूप-निजस्वरूप पाँच भाव बतलाये हैं। उन पाँच भावोंमेंसे सकलनिरावरण, अखण्ड एक, प्रत्यक्षप्रतिभासमय, अविनश्वर, शुद्धपारिणामिक परमभाव (ज्ञायकभाव) के आश्रयसे धर्म होता है यह बतलानेके लिये, औपशमिकभाव जो कि धर्मका प्रारम्भ है उसे पहिले भावके रूपमें वर्णन किया है। तत्पश्चात् जीवका लक्षण उपयोग है यह बतलाकर उसके भेद बतलाये हैं और यह बतलाया है कि पाँच भावोंके साथ परद्रव्योंका-इन्द्रिय इत्यादिका कैसा सम्बन्ध होता है।

जीवका औदयिकभाव ही संसार है। शुभभावका फल देवत्व है, अशुभभावकी तीव्रताका फल नारकीपन है, शुभाशुभभावोंकी मिश्रताका फल मनुष्यत्व है और मायाका फल तिर्यंचपना है। जीव अनादिकालसे अज्ञानी है, इसलिये अशुद्धभावोंके कारण उसका भ्रमण

हुआ करता है. वह भ्रमण कैसा होता है यह तीसरे और चौथे अध्यायमें बतलाया है। उन भ्रमण में (भवोमें) शरीरके साथ तथा क्षेत्रके साथ जीवका किस प्रकारका संयोग होता है वह यहां बताया जा रहा है। मांस, शराब, इत्यादिके खान-पानके भाव, कठोर झूठ, चोरी कुशील, तथा लोभ इत्यादिके तीव्र अशुभभावके कारण जीव नरकगतिको प्राप्त करता है, उसका इस अध्यायमें पहिले वर्णन किया है और तत्पश्चात् मनुष्य तथा तिर्यंचोंके क्षेत्रका वर्णन किया है।

चौथे अध्यायमें देवगतिसे सम्बन्ध रखनेवाले विवरण बताये गये हैं।

इन दो अध्यायोंका सार यह है कि-जीवके शुभाशुभ विकारीभावोंके कारण जीवका अनादिकालसे परिभ्रमण हो रहा है, उसका मूलकारण मिथ्यादर्शन है, इसलिये भव्यजीवोंको मिथ्यादर्शन दूर करके सम्यग्दर्शन प्रगट करना चाहिये। सम्यग्दर्शनका बल ऐसा है कि उससे क्रमशः सम्यग्चारित्र बढ़ता जाता है और चारित्रकी पूर्णता करके, परम यथाख्यात-चारित्रकी पूर्णता करके, जीव सिद्ध गतिको प्राप्त करता है। अपनी भूलके कारण जीवकी कैसी-कैसी गति हुई तथा उसने कैसे-कैसे दुःख पाये और बाह्य संयोग कैसे तथा कितने समय तक रहे यह बतानेके लिये अध्याय २-३-४ कहे गये हैं। और उस भूलको दूर करनेका उपाय पहिले अध्यायके पहिले सूत्रमें बतलाया गया है।

अधोलोकका वर्णन

सात नरक पृथ्वियां

रत्नशर्करावालुकापंकधूमतमोमहातमःप्रभा भूमयो घनाम्बुवाताकाशप्रतिष्ठाः सप्ताऽधोऽधः ॥ १ ॥

* **अर्थः**—अधोलोकमें रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, वालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमप्रभा और महातमप्रभा—ये सात भूमियां हैं और क्रमसे नीचे-नीचे घनोदधिवातवलय, घनवातवलय, तनुवातवलय तथा आकाशका आधार है।

टीका

१ रत्नप्रभा पृथ्वीके तीन भाग हैं—खरभाग, पंकभाग और अब्बहुलभाग। उनमेंसे ऊपरके पहिले दो भागोंमें व्यन्तर तथा भवनवासी देव रहते हैं, और नीचे के अब्बहुलभागमें

---

* इस अध्यायमें भूगोल सम्बन्धी वर्णन होनेसे, पहिले दो अध्यायोंकी भांति सूत्रके शब्द पृथक् करके अर्थ नहीं दिया गया है किन्तु पूरे सूत्रका सीधा अर्थ दिया गया है।

नारकी रहते हैं। इस पृथ्वीका कुल विस्तार एक लाख अस्सी हजार योजन है। (२००० कोसका एक योजन होता है।)

२ इन पृथ्वियोंके रूढ़िगत नाम ये हैं—१-घम्मा, २-वंशा, ३-मेघा, ४-अंजना, ५-अरिष्टा, ६-मघवी और ७-माघवी।

३-अम्बु (घनोदधि) वातवलय=भापका घना वातावरण।

घनवातवलय=घनी हवाका वातावरण।

तनुवातवलय=पतली हवाका वातावरण।

वातवलय=वातावरण।

'आकाश' कहनेसे यहाँ अलोकाकाश समझना चाहिए ॥ १ ॥

सात पृथ्वियोंके बिलोंकी संख्या

तासु त्रिंशत्पंचविंशतिपंचदशदशत्रिपंचोनैकनरकशतसहस्राणि पंच चैव यथाक्रमम् ॥ २ ॥

अर्थः—उन पृथिवियोंमें क्रमसे पहली पृथ्वीमें ३० लाख, दूसरीमें २५ लाख, तीसरीमें १५ लाख, चौथीमें १० लाख, पांचवींमें ३ लाख, छठवींमें पाँच कम एक लाख (९९९९५) और सातवींमें ५ ही नरक बिल हैं। कुल ८४ लाख नरकवास बिल हैं।

टीका

कुछ लोग मनुष्यगति और तिर्यंचगति यह दो ही गतियाँ मानते हैं, क्योंकि वे दो प्रकारके जीवोंको ही देखते हैं। उनका ज्ञान संकुचित होनेसे वे ऐसा मानते हैं कि मनुष्य और तिर्यंचगतिमें जो तीव्र दुःख है वही नरक गति है दूसरी कोई नरकगति वे लोग नहीं मानते। परन्तु उनकी यह मान्यता मिथ्या है, क्योंकि मनुष्य और तिर्यंचगतिसे जुदी ऐसी नरकगति उन जीवोंके अशुभभावका फल है। उसके अस्तित्वका प्रमाण निम्नप्रकार है—

नरकगति का प्रमाण

जो जीव अति कठोर भयंकर दुष्कृत्य करते हैं और यह देखनेकी आवश्यकता नहीं समझते कि स्वयं पापकार्य करते समय दूसरे जीवोंको क्या दुःख होता है, तथा जो अपनी अनुकूलतावाली एक पक्षकी दुर्बुद्धिमें एकाग्र रहते हैं उन जीवोंको उन क्रूर परिणामोंके फलरूप निरन्तर अनन्त प्रतिकूलतायें भोगनेके स्थान अधोलोकमें हैं, उसे नरकगति कहते हैं।

देव, मनुष्य, तिर्यंच और नरक, यह चार गतियां सदा विद्यमान हैं, वे कल्पित नहीं किन्तु जीवोंके परिणामका फल हैं। जिसने दूसरेको मार डालनेके क्रूरभाव किये उसके भावमें, अपनी अनुकूलताको सिद्ध करनेमें बाधा डालनेवाले कितने जीव मार डाले जायँ जिनकी संख्या की कोई मर्यादा नहीं है, तथा कितने काल तक मारे जायें उनकी भी मर्यादा नहीं है, इसलिये उसका फल भी अपार-अनन्त दुःख भोगनेका ही है, ऐसा स्थान नरक है, मनुष्यलोकमें ऐसा कोई स्थान नहीं है।

जो दूसरोंको मारकर प्रतिकूलताको दूर करना चाहते हैं वे जितने विरोधी मालूम होते हैं उन सबको मारना चाहते हैं, चाहे प्रतिकूलता करनेवाले दो-चार हों या बहुत हों, उन सबका नाश करनेकी भावना का सेवन निरन्तर करते हैं। उनके अभिप्रायमें अनन्तकाल तक अनन्तभव धारण करनेके भाव भरे पड़े हैं। उन भवोंकी अनन्तसंख्याके कारणमें अनन्त जीवोंको मारनेका-संहार करनेका अमर्यादित पापभाव है। जिस जीवने कारणमें अनन्तकाल तक अनन्त जीवोंको मारनेके, बाधा डालनेके भाव सेये हैं उसके फलमें उस जीवको तीव्र दुःखोंके संयोगमें जाना पड़ता है, और वह नरकगति है। लाखों खून (-हत्या) करनेवालेको लाखों बार फांसी मिलती हो ऐसा इस लोकमें नहीं होता, इसलिये उसे अपने क्रूरभावोंके अनुसार पूरा फल नहीं मिलता; उसे अपने भावोंका पूरा फल मिलनेका स्थानबहुत काल तक अनन्त दुःख भोगनेका क्षेत्र नरक है, वह नीचे शाश्वत है ॥ २ ॥

नारकियोंके दुःखोंका वर्णन

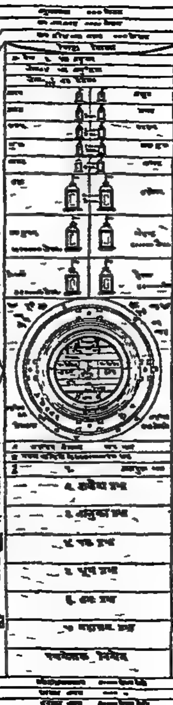
नारका नित्याशुभतरलेश्यापरिणाम-
देहवेदनाविक्रियाः ॥ ३ ॥

अर्थः—नारकी जीव सदैव ही अत्यन्त अशुभ लेश्या, परिणाम, शरीर, वेदना और विक्रियाको धारण करते हैं।

टीका

१. **लेश्याः**—यह द्रव्यलेश्याका स्वरूप है जो कि आयु पर्यन्त रहती है। यहां शरीरके रंगको द्रव्यलेश्या कहा है। भावलेश्या अंतर्मुहूर्तमें बदल जाती है, उसका वर्णन यहाँ नहीं है। अशुभ लेश्याके भी तीन प्रकार हैं—कापोत, नील और कृष्ण। पहली और दूसरी पृथ्वीमें कापोत लेश्या, तीसरी पृथ्वीमें ऊपरके भागमें कापोत और नीचेके भागमें नील, चौथीमें नील, पांचवीमें ऊपरके भागमें नील और नीचेके भागमें कृष्ण और छठवी तथा सातवी पृथ्वीमें कृष्णलेश्या होती है।

तीन लोककी रचना



अढ़ाई द्वी का नकशा

उत्तर

पश्चिम

दक्षिण

२. परिणाम—यहाँ स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण और शब्दको परिणाम कहा है।

३. शरीरः—पहली पृथ्वीमें शरीरकी ऊँचाई ७ धनुष ३ हाथ और ६ अंगुल है, वह हुंडक आकारमें होता है। तत्पश्चात् नीचे नीचे की पृथ्वीके नारकियोंके शरीरकी ऊँचाई क्रमसे दूनी है।

४ वेदनाः—पहिलेसे चौथे नरक तक उष्ण वेदना है, पांचवेंके ऊपरी भागमें उष्ण और निचले भागमें शीत है, तथा छट्ठे और सातवेंमें महाशीत वेदना है। नारकियोंका शरीर वैक्रियिक होनेपर भी उनके शरीरके वैक्रियिक पुद्गल मल, मूत्र, कफ, वमन, सड़ा हुआ मांस, हाड़ और चमड़ी वाले औदारिक शरीरसे भी अत्यन्त अशुभ होते हैं।

५. विक्रिया—उन नारकियोंके क्रूर सिंह व्याघ्रादिरूप अनेक प्रकारके रूप धारण करनेकी विक्रिया होती है ॥ ३ ॥

नारकी जीव एक दूसरेको दुःख देते हैं

परस्परोदीरितदुःखाः ॥ ४ ॥

अर्थः—नारकी जीव परस्पर एक-दूसरेको दुःख उत्पन्न करते हैं (—वे कुत्तोंकी भाँति परस्पर लड़ते हैं) ॥ ४ ॥

विशेष दुःख

संक्लिष्टासुरोदीरितदुःखाश्च प्राक् चतुर्थ्याः ॥ ५ ॥

अर्थ—और उन नारकियोंके चौथी पृथ्वीसे पहिले-पहिले (अर्थात् तीसरी पृथ्वी पर्यंन्त) अत्यन्त संक्लिष्ट परिणामके धारक अंब-अम्बरिष आदि जातिके असुरकुमार देवोंके द्वारा दुःख पाते हैं अर्थात् अम्ब-अम्बरिष असुरकुमारदेव तीसरे नरक तक जाकर नारकी जीवोंको दुःख देते हैं तथा उनके पूर्व बैरका स्मरण करा-कराके परस्पर लड़ाते हैं और दुःखी देख राजी होते हैं।

सूत्र ३-४-५ में नारकियोंके दुःखोंका कथन करते हुए उनके शरीर, उनका रंग, स्पर्श इत्यादिको तथा दूसरे नारकियों और देवोंको दुःखके कारण कहे हैं वह उपचारकथन है, वास्तवमें वे कोई परपदार्थ दुःखोंके कारण नहीं हैं तथा उनके संयोगसे दुःख नहीं होता। परपदार्थोंके प्रति जीवकी एकत्वबुद्धि ही वास्तवमें दुःख है, उस दुःखके समय, नरकगतिमें

निमित्तरूप बाह्यसंयोग कैसा होता है उसका ज्ञान करानेके लिए यहां तीन सूत्र कहे हैं, परन्तु यह नही समझना चाहिये कि वे शरीरादि वास्तवमें दु:खके कारण हैं।

नारकोंकी उत्कृष्ट आयुका प्रमाण

तेष्वेकत्रिसप्तदशसप्तदशद्वाविंशतित्रयस्त्रिंशत्सागरोपमा सत्त्वानां परा स्थितिः ॥ ६ ॥

अर्थः— उन नरकोके नारकी जीवोंकी उत्कृष्ट आयुस्थिति क्रमसे पहिलेमें एक सागर, दूसरेमें तीन सागर, तीसरेमें सात सागर, चौथेमें दस सागर, पांचवेंमें सत्रह सागर, छट्ठे में बाईस सागर और सातवेंमें तेतीस सागर हैं।

टीका

१. नारक गतिमें भयानक दु:ख होनेपर भी नारकियोंकी आयु निरुपक्रम है—उनकी अकालमृत्यु नहीं होती।

२. आयुका यह काल वर्तमान मनुष्योंकी आयुकी अपेक्षा लम्बा लगता है, परन्तु जीव अनादिकालसे है और मिथ्यादृष्टिपनके कारण यह नारकीपना जीवने अनन्तबार भोगा है। अध्याय २ सूत्र १० की टीकामें द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावपरिभ्रमण (परावर्तन)का जो स्वरूप दिया गया है उसके देखनेसे मालूम होगा कि यह काल तो महासागरकी एक बूंदसे भी बहुत कम है।

३. नारकी जीवोंको जो भयानक दु:ख होते हैं उनका वास्तविक कारण भयानक शरीर, वेदना, मारपीट, तीव्र उष्णता, तीव्र शीलता इत्यादि नहीं हैं, परन्तु मिथ्यात्वके कारण उन संयोगोंके प्रति अनिष्टपनेकी खोटी कल्पना करके जीव तीव्र आकुलता करता है उसका दु:ख है। परसंयोग अनुकूल-प्रतिकूल होता ही नही, परन्तु वास्तवमें जीवके ज्ञानके क्षयोपशम-उपयोगके अनुसार ज्ञेय (-ज्ञानमें ज्ञात होने योग्य) पदार्थ हैं; उन पदार्थोंको देखकर जब अज्ञानी जीव दु:खकी कल्पना करता है तब परद्रव्योंपर यह आरोप होता है कि वे दु:खमें निमित्त हैं।

४. शरीर चाहे जितना खराब हो, खानेको भी न मिलता हो, पीनेको पानी भी न मिलता हो, तीव्र गर्मी या ठण्ड हो, और बाह्य संयोग (अज्ञानदृष्टिसे) चाहे जितने प्रतिकूल हों परन्तु वे संयोग जीवको सम्यग्दर्शन (धर्म) करनेमें बाधक नहीं होते, क्योंकि एक द्रव्य

दूसरे द्रव्यमें कभी बाधा नहीं डाल सकता, नरकगतिमें भी पहलेसे सातवें नरक तक ज्ञानी पुरुषके सत्समागमसे पूर्वभवमें सुने गये आत्मस्वरूपके संस्कार ताजे करके नारकी जीव सम्यग्दर्शन प्रगट करते हैं। तीसरे नरक तकके नारकी जीवोंको पूर्वभवका कोई सम्यग्ज्ञानी मित्र देव आत्मस्वरूप समझाता है तो उसके उपदेशको सुनकर यथार्थ निर्णय करके वे जीव सम्यग्दर्शन प्रगट करते हैं।

५. इससे सिद्ध होता है कि—"जीवोंका शरीर अच्छा हो, खाना-पीना ठीक मिलता हो और बाह्य संयोग अनुकूल हों, तो धर्म हो सकता है और उनकी प्रतिकूलता होनेपर जीव धर्म नहीं कर सकता"—यह मान्यता ठीक नहीं है। परको अनुकूल करनेमें प्रथम लक्ष देना और उसके अनुकूल होनेपर धर्मको समझना चाहिये,— इस मान्यतामें भूल है, क्योंकि धर्म पराधीन नहीं किन्तु स्वाधीन है और वह स्वाधीनतापूर्वक प्रगट किया जा सकता है।

६. प्रश्नः—यदि बाह्य संयोग और कर्मोंका उदय धर्ममें बाधक नहीं है तो नारकी जीव चौथे गुणस्थानसे ऊपर क्यों नहीं जाते ?

उत्तरः—पहिले उन जीवोंने अपने पुरुषार्थकी बहुत विपरीतता की है और वे वर्तमानमें अपनी भूमिकाके अनुसार मंद पुरुषार्थ करते हैं, इसलिये उन्हें ऊपर चढ़नेमें विलम्ब होता है।

७. प्रश्नः—सम्यग्दृष्टिको नरकमें कैसा दुःख होता है ?

उत्तरः—नरक या किसी क्षेत्रके कारण किसी भी जीवको सुख-दुःख नहीं होता किन्तु अपनी नासमझीके कारण दुःख और अपनी सच्ची समझके कारण सुख होता है, किसीको पर वस्तुके कारण सुख-दुःख या हानि-लाभ हो ही नहीं सकता। अज्ञानी नारकी जीवको जो दुःख होता है वह अपनी विपरीत मान्यतारूप दोषके कारण होता है, बाह्य-संयोगके अनुसार या संयोगके कारण दुःख नहीं होता। अज्ञानी जीव परवस्तुको कभी प्रतिकूल मानते हैं और इसलिये वे अपनी अज्ञानताके कारण दुःखी होते हैं, और कभी पर वस्तुएँ अनुकूल हैं ऐसा मानकर सुखकी कल्पना करते हैं, इसलिये अज्ञानी जीव परद्रव्योंके प्रति इष्टत्व-अनिष्टत्वकी कल्पना करते हैं।

सम्यग्दृष्टि नारकी जीवोंके अनन्त संसारका बन्धन करनेवाली कषाय दूर होगई है, स्वरूपाचरणकी आंशिक शांति निरन्तर है, इसलिये उतना सच्चा सुख उन्हें नरकमें भी निरन्तर मिलता है। जितनी कषाय है उतना अल्प दुःख होता है किन्तु वह कुछ भवोंके बाद ही उस अल्प दुःखका भी नाश कर देंगे। वे परको दुःखदायक नहीं मानते, किन्तु

अपनी असावधानीको दुःखका कारण मानते हैं इसलिये वे अपनी असावधानीको दूर करते जाते हैं। असावधानी दो प्रकारकी है—स्वरूपकी मान्यताकी और स्वरूपके आचरणकी। उसमेंसे पहले प्रकारकी असावधानी सम्यग्दर्शनके प्रगट होने पर दूर हो जाती है और दूसरे प्रकारकी असावधानीको वे टालते जाते हैं।

८. सम्यग्दर्शन प्रगट करके—सम्यग्दृष्टि होनेके बाद जीव नरक आयुका बंध नहीं करता, किन्तु सम्यग्दर्शनके प्रगट करनेसे पूर्व उस जीवने नरकायुका बंध किया हो तो वह पहले नरकमें जाता है, किन्तु वहां उसकी अवस्था पैरा ७ में बताये गये अनुसार होती है।

९. पहले से चौथे नरक तकसे निकलकर मनुष्य हुए जीवोंमेंसे योग्य जीव उसी भवमें मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं। पांचवें नरकसे निकलकर मनुष्य हुए पात्र जीव सच्चा मुनित्व धारण कर सकते हैं, छट्ठे नरकसे निकलकर मनुष्य हुए पात्र जीव पांचवें गुणस्थान तक जा सकते हैं और सातवें नरकसे निकले हुए जीव क्रूर तिर्यंचगतिमें ही जाते हैं यह भेद जीवोंके पुरुषार्थकी तारतम्यताके कारण होते हैं।

१०. प्रश्नः—सम्यग्दृष्टि जीवोंका अभिप्राय नरकमें जानेका नहीं होता, फिर भी यदि कोई सम्यग्दृष्टि नरकमें पहुँच जाय तो वहां तो जड़कर्मका जोर है और जड़कर्म जीवको नरकमें ले जाता है इसलिये जाना पड़ता है,-यह बात ठीक है या नहीं ?

उत्तरः—यह बात ठीक नहीं है; एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कुछ नहीं कर सकता, इसलिये जड़कर्म जीवको नरकमें ले जाता हो ऐसा नहीं होता। सम्यग्दृष्टि अथवा मिथ्यादृष्टि कोई जीव नरकमें जाना नहीं चाहता, तो भी जो जीव नरकमें जाने लायक होते हैं वे जीव अपनी क्रियावती शक्तिके परिणमनके कारण वहां जाते हैं, उस समय कार्मण और तैजसशरीर भी उनकी अपनी (पुद्गल परमाणुओंकी) क्रियावती शक्तिके परिणमनके कारण उस क्षेत्रमें जीवके साथ जाते हैं।

और अभिप्राय तो श्रद्धागुणकी पर्याय है तथा इच्छा चारित्रगुणकी विकारी पर्याय है। द्रव्यका हरएक गुण स्वतंत्र और असहाय है। इसलिये जीवकी इच्छा अथवा अभिप्राय चाहे जैसा हो फिर भी जीवकी क्रियावती शक्तिका परिणमन उससे (अभिप्राय और इच्छासे) स्वतंत्ररूपसे और उस समयकी उस पर्यायके धर्मानुसार होता है। वह क्रियावती शक्ति ऐसी है कि-जीवको किस क्षेत्रमें ले जाना चाहिये इसका ज्ञान होनेकी उसे आवश्यकता नहीं है। नरकमें जानेवाले वे जीव उनकी आयुपर्यंत उस क्षेत्रके संयोगके योग्य होते हैं, और तब उन जीवोंके ज्ञानका विकास भी उस-उस क्षेत्रमें रहनेवाले जीवों तथा पदार्थोंके

जानेके योग्य होता है। नरकायुका बंध अपने पुरुषार्थके दोषसे बंधा था इसलिये योग्य समयमें उसके फलरूपसे जीवकी अपनी योग्यताके कारण नारकीका क्षेत्र संयोगरूपसे होता है, कर्म उसे नरकमें नहीं ले जाता। कर्मके कारण जीव नरकमें जाता है यह कहना मात्र उपचार कथन है, जीवका कर्मके साथका निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध बतानेके लिये शास्त्रोंमें यह कथन किया गया है, न कि वास्तवमें जड़कर्म जीवको नरकमें ले जाते हैं। वास्तवमें कर्म जीवको नरकमें ले जाते हैं यह मानना मिथ्या है।

11. सागर-कालका परिमाण

१—सागर=दश×करोड़×करोड़=अद्धापल्य।

१ अद्धापल्य=एक गोल खड्डा जिसका व्यास (Diametre) एक योजन (=२००० कोस) और गहराई भी उतनी ही हो, उसे उत्तम भोगभूमिके सात दिनके भेड़के बच्चेके बालोंसे ठसाठस भरकर उसमेंसे प्रति सौ वर्षमें एक बाल निकालने पर जितने समयमें खड्डा खाली हो जाय, उतने समयका एक व्यवहारपल्य है, ऐसे असंख्यात व्यवहारपल्य=एक उद्धारपल्य। असंख्यात उद्धारपल्य=एक अद्धापल्य।

इसप्रकार अधोलोकका वर्णन पूरा हुआ॥ ६॥

मध्यलोकका वर्णन

कुछ द्वीप-समुद्रोंके नाम

जम्बूद्वीपलवणोदादयः शुभनामानो द्वीपसमुद्राः ॥ ७ ॥

अर्थः—इस मध्यलोकमें अच्छे-अच्छे नामवाले जम्बूद्वीप इत्यादि द्वीप, और लवणसमुद्र इत्यादि समुद्र हैं।

टीका

सबसे बीचमें थालीके आकार जम्बूद्वीप है जिसमें हम लोग और श्री सीमंधरप्रभु इत्यादि रहते हैं। उसके बाद लवणसमुद्र है। उसके चारों ओर धातकीखंड द्वीप है उसके चारोंओर कालोदधि समुद्र है, उसके चारों ओर पुष्करवर द्वीप है और उसके चारों ओर पुष्करवर समुद्र है,—इस तरह एक दूसरेको घेरे हुए असंख्यात द्वीप-समुद्र हैं, सबसे अंतिम द्वीप स्वयंभूरमण द्वीप है और अंतिम समुद्र स्वयंभूरमण समुद्र है।

द्वीप और समुद्रोंका विस्तार तथा आकार

द्विर्द्विर्विष्कम्भाः पूर्वपूर्वपरिक्षेपिणो वलयाकृतयः ॥ ८ ॥

अर्थः—प्रत्येक द्वीप-समुद्र दूने-दूने विस्तारवाले और पहिले-पहिलेके द्वीप-समुद्रोंको घेरे हुए चूड़ीके आकार वाले हैं ॥ ८ ॥

जम्बूद्वीपका विस्तार तथा आकार

तन्मध्ये मेरुनाभिर्वृत्तो योजनशतसहस्रविष्कम्भो जम्बूद्वीपः ॥ ९ ॥

अर्थः—उन सब द्वीप-समुद्रोंके बीचमें जम्बूद्वीप है, उसकी नाभिके समान सुदर्शन मेरु है; तथा जम्बूद्वीप थालीके समान गोल है और एक लाख योजन उसका विस्तार है।

टीका

१. सुदर्शन मेरुकी ऊंचाई एक लाख योजनकी है, उसमेंसे वह एक हजार योजन नीचे जमीनमें और निन्यानवे हजार योजन जमीनके ऊपर है; इसके अतिरिक्त ४० योजनकी चूलिका है। [सभी अकृत्रिम वस्तुओंके मापमें २००० कोसका योजन लिया जाता है, उसके अनुसार यहाँ समझना चाहिये।]

२. कोई भी गोल परिधि उसके व्याससे, तिगुनेसे कुछ अधिक (२२/७) होती है। जम्बूद्वीपकी परिधि ३१६२२७ योजन ३ कोस १२८ धनुष १३॥ अंगुलसे कुछ अधिक है।

३. इस द्वीपके विदेह क्षेत्रमें विद्यमान उत्तरकुरु भोगभूमिमें अनादिनिधन पृथ्वीकाय-रूप अकृत्रिम परिवार सहित जम्बू वृक्ष है इसलिये इस द्वीपका नाम जम्बूद्वीप है।

सात क्षेत्रोंके नाम

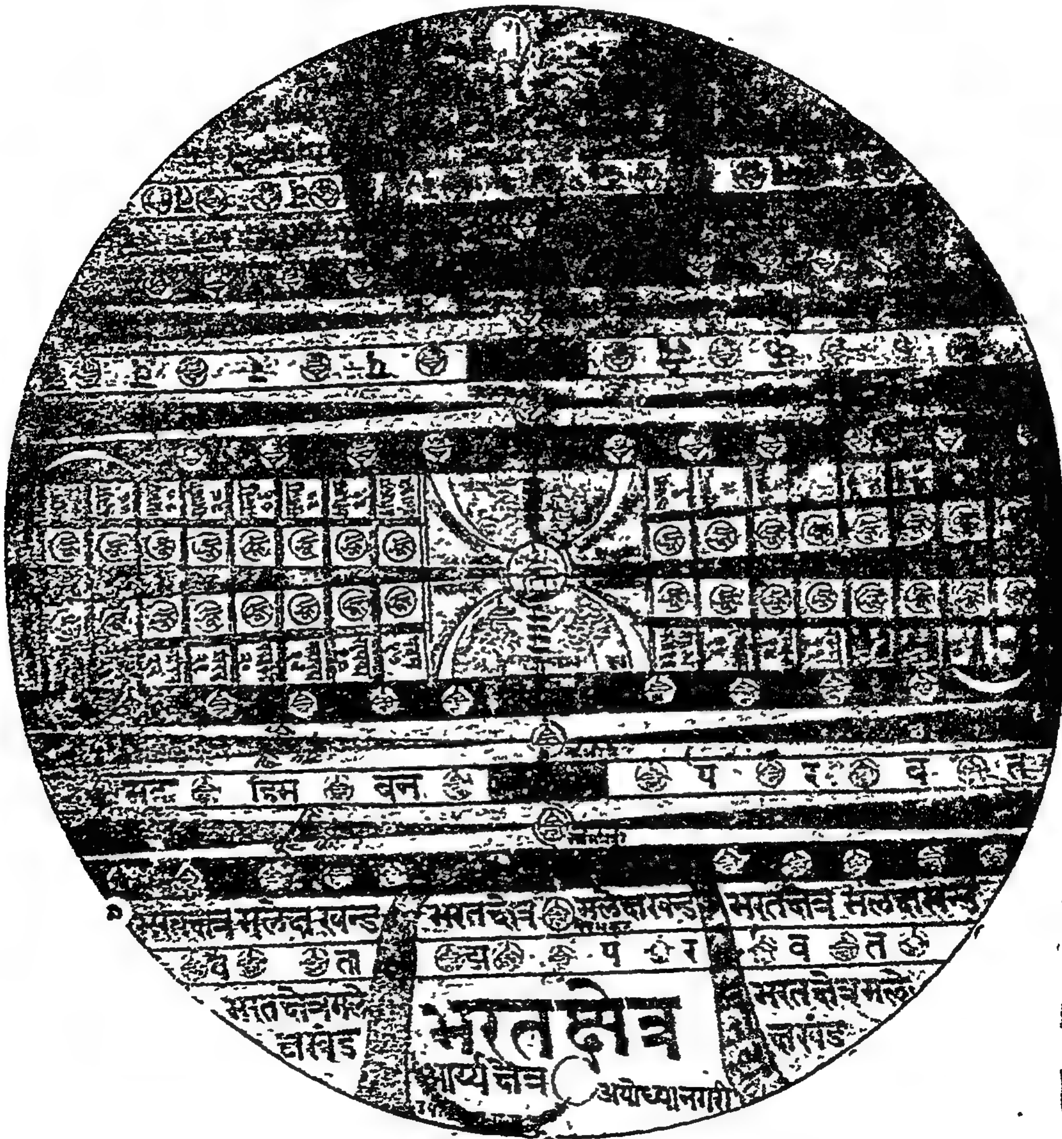
भरतहैमवतहरिविदेहरम्यकहैरण्यवतैरावतवर्षाः क्षेत्राणि ॥ १० ॥

अर्थः—इस जम्बूद्वीपमें भरत, हैमवत, हरि, विदेह, रम्यक, हैरण्यवत और ऐरावत ये सात क्षेत्र हैं।

टीका

जम्बूद्वीपके भरत क्षेत्रमें हम लोग रहते हैं, विदेहक्षेत्रमें वीस विहरमान तीर्थंकरोंमेंसे श्री सीमंधरादि चार तीर्थंकर जम्बूद्वीपके विदेहमें विचरते हैं ॥ १० ॥

जम्बूद्वीप का नकशा



पृथ्वी गोल गेंदके समान नही है किन्तु भरतक्षेत्रमें आर्यक्षेत्रमें पृथ्वी ५ हजार मील ऊंची उठी हुई है; इतना क्षेत्र आधा गेंदके समान है और छठवें कालके अन्तमें बिखर जाया करता है।' (तिलोयपण्णत्ति)

क्षेत्रोंके सात विभाग करनेवाले छह पर्वतोंके नाम

तद्विभाजिनः पूर्वापरायता हिमवन्महाहिमवन्निषधनीलरुक्मि-शिखरिणो वर्षधरपर्वताः ॥ ११ ॥

अर्थः—उन सात क्षेत्रोंका विभाग करनेवाले पूर्वसे पश्चिम तक लम्बे १-हिमवत्, २-महाहिमवत्, ३-निषध, ४-नील, ५-रुक्मि और ६ शिखरिन् ये छह वर्षधर-कुलाचलपर्वत हैं। [वर्ष=क्षेत्र] ॥ ११ ॥

कुलाचलोंका रंग

हेमार्जुनतपनीयवैडूर्यरजतहेममयाः ॥ १२ ॥

अर्थ—ऊपर कहे गये पर्वत क्रमसे १-स्वर्ण २-चांदी, ३-तपाया सोना, ४-वैडूर्य (नील) मणि, ५-चांदी और ६-स्वर्ण जैसे रंगके हैं ॥ १२ ॥

कुलाचलोंका विशेष स्वरूप

मणिविचित्रपार्श्वा उपरि मूले च तुल्यविस्ताराः ॥ १३ ॥

अर्थः—इन पर्वतोंका तट चित्र-विचित्र मणियोंका है और ऊपर-नीचे तथा मध्यमें एक समान विस्तारवाला है ॥ १३ ॥

कुलाचलोंके ऊपर स्थित सरोवरोंके नाम

पद्ममहापद्मतिगिञ्छकेशरिमहापुण्डरीकपुण्डरीका ह्रदास्तेषामुपरि ॥१४॥

अर्थ.—इन पर्वतोंके ऊपर क्रमसे १-पद्म, २-महापद्म, ३-तिगिञ्छ, ४-केशरि, ५-महापुण्डरीक और ६-पुण्डरीक नामके ह्रद-सरोवर हैं ॥ १४ ॥

प्रथम सरोवरकी लम्बाई-चौड़ाई

प्रथमो योजनसहस्रायामस्तदर्द्धविष्कम्भो ह्रदः ॥ १५ ॥

अर्थः—पहला पद्म सरोवर एक हजार योजन लम्बा और लम्बाईसे आधा अर्थात् पांचसौ योजन चौड़ा है ॥ १५ ॥

प्रथम सरोवरकी गहराई (ऊँडाई)

दशयोजनावगाहः ॥ १६ ॥

अर्थः—पहला सरोवर दश योजन अवगाह (गहराई) वाला है ॥ १६ ॥

उसके मध्यमें क्या है ?

तन्मध्ये योजनं पुष्करम् ॥ १७ ॥

अर्थः—उसके बीचमें एक योजन विस्तारवाला कमल है ॥ १७ ॥

महापद्मादि सरोवरों तथा उनमें रहनेवाले कमलोंका प्रमाण

तद्द्विगुणद्विगुणा ह्रदा पुष्कराणि च ॥ १८ ॥

अर्थः—आगेके सरोवर तथा कमल पहलेके सरोवर तथा कमलोंसे क्रमसे दूने दूने विस्तारवाले हैं।

टीका

यह दूना दूना क्रम तिगिञ्छ नामके तीसरे सरोवर तक है, बादमें उसके आगेके तीन सरोवर तथा उनके तीन कमल दक्षिणके सरोवर और कमलोंके समान विस्तारवाले हैं ॥ १८ ॥

ह्रदोंका विस्तार आदि

नं.	ह्रदका नाम	स्थान	लम्बाई योजन	चौड़ाई योजन	गहराई योजन	कमल योजन	देवी
१	पद्म	हिमवन्	१०००	५००	१०	१	श्री
२	महापद्म	महाहिमवन्	२०००	१०००	२०	२	ह्री
३	तिगिञ्छ	निषध	४०००	२०००	४०	४	धृति
४	केशरी (केशरिन)	नील	४०००	२०००	४०	४	कीर्ति
५	महापुण्डरीक	रुक्मिन्	२०००	१०००	२०	२	बुद्धि
६	पुण्डरीक	शिखरिन्	१०००	५००	१०	१	लक्ष्मी

छह कमलोंमें रहनेवाली छह देवियां

तन्निवासिन्यो देव्यः श्रीह्रीधृतिकीर्तिबुद्धिलक्ष्म्यः पल्योपमस्थितयः, ससामानिकपरिषत्काः ॥ १९ ॥

अर्थः—एक पल्योपम आयुवाली और सामानिक तथा पारिषद् जातिके देवों सहित श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि और लक्ष्मी नामकी देवियां क्रमसे उन सरोवरोंके कमलों पर निवास करती हैं।

टीका

ऊपर कहे हुये कमलोंकी कर्णिकाके मध्यभागमें एक कोश लम्बे, आधा कोश चौड़े और एक कोससे कुछ कम ऊंचे सफेद रंगके भवन हैं, उसमें वे देवियां रहती हैं और उन तालाबोंमें जो अन्य परिवार कमल हैं उनके ऊपर सामानिक तथा पारिषद देव रहते हैं ॥ १९ ॥

चौदह महा नदियोंके नाम

गंगासिंधुरोहिद्रोहितास्याहरिद्धरिकान्तासीतासीतोदा नारीनरकांता-सुवर्णरूप्यकूलारक्तारक्तोदाः सरितस्तन्मध्यगाः ॥ २० ॥

अर्थ—(भरतमें) गंगा, सिंधु, (हैमवतमें) रोहित, रोहितास्या, (हरिक्षेत्रमें) हरित्, हरिकान्ता, (विदेहमें) सीता सीतोदा, (रम्यक्में) नारी नरकान्ता, (हैरण्यवत्में) स्वर्णकूला रूप्यकूला और (ऐरावतमें) रक्ता-रक्तोदा, इस प्रकार ऊपर कहे हुए सात क्षेत्रोंमें चौदह नदियां बीचमें बहती हैं।

टीका

पहिले पद्म सरोवरमेंसे पहिली तीन, छट्ठे पुण्डरीक नामक सरोवरसे अंतिम तीन तथा बाकीके सरोवरोंमेंसे दो-दो नदियाँ निकलती हैं ॥ २० ॥

नदियोंके बहनेका क्रम

द्वयोर्द्वयोः पूर्वाः पूर्वगाः ॥ २१ ॥

अर्थः—(ये चौदह नदियां दोके समूहमें लेना चाहिये) हरएक दोके समूहमेंसे पहली नदी पूर्वकी ओर बहती है (और उस दिशाके समुद्रमें मिलती है।) ॥ २१ ॥

शेषास्त्वपरगाः ॥२२॥

अर्थः—बाकी रही सात नदियां पश्चिमकी ओर जाती हैं (और उस तरफके समुद्रमें मिलती हैं ।) ॥ २२ ॥

इन चौदह महा नदियोंकी सहायक नदियाँ

चतुर्दशनदीसहस्रपरिवृता गंगासिन्ध्वादयो नद्यः ॥ २३ ॥

अर्थः—गंगा-सिन्धु आदि नदियोंके युगल चौदह हजार सहायक नदियोंसे घिरे हुए हैं।

टीका

सहायक नदियोंकी संख्याका क्रम भी विदेह क्षेत्रतक आगेके युगलोंमें पहिले युगलोंसे दूना-दूना है, और उत्तरके तीन क्षेत्रोंमें दक्षिणके तीन क्षेत्रोंके समान हैं ।

नदी युगल	सहायक नदियोंकी संख्या
गंगा- सिन्धु	१४ हजार
रोहित--रोहितास्या	२८ हजार
हरित–हरिकान्ता	५६ हजार
सीता–सीतोदा	१ लाख १२ हजार
नारी–नरकान्ता	५६ हजार
स्वर्णकूला–रूप्यकूला	२८ हजार
रक्ता--रक्तोदा	१४ हजार

भरतक्षेत्रका विस्तार

भरतः षड्विंशतिपंचयोजनशतविस्तारः षट् चैकोनविंशतिभागा योजनस्य ॥ २४ ॥

अर्थः—भरतक्षेत्रका विस्तार, पांचसो छब्बीस योजन और एक योजनके उन्नीस भागोंमेंसे ६ भाग अधिक है ।

टीका

१. भरत क्षेत्रका विस्तार ५२६ $\frac{6}{19}$ योजन है। (देखो सूत्र ३२)

२. भरत और ऐरावत क्षेत्रके बीचमें पूर्व पश्चिम तक लंबा विजयार्ध पर्वत है जिससे गंगा-सिन्धु और रक्ता रक्तोदा नदियोंके कारण दोनों क्षेत्रोंके छह छह खंड हो जाते हैं; उनमें बीचका आर्यखण्ड और बाकीके पांच म्लेच्छ खण्ड हैं। तीर्थंकरादि पदवीधारी पुरुष भरत-ऐरावतके आर्यखण्डमें, तथा विदेह क्षेत्रोंमें ही होते हैं ॥ २४ ॥

आगेके क्षेत्र और पर्वतोंका विस्तार

तद्द्विगुणद्विगुणविस्तारा वर्षधरवर्षा विदेहान्ताः ॥ २५ ॥

अर्थः—विदेहक्षेत्र तकके पर्वत और क्षेत्र भरतक्षेत्रसे दूने दूने विस्तारवाले हैं ॥ २५ ॥

विदेह क्षेत्रके आगेके पर्वत और क्षेत्रोंका विस्तार

उत्तरा दक्षिणतुल्याः ॥ २६ ॥

अर्थः—विदेह क्षेत्रसे उत्तरके तीन पर्वत और तीन क्षेत्र दक्षिणके पर्वत और क्षेत्रोंके समान विस्तारवाले हैं।

टीका

क्षेत्रों और पर्वतोंका प्रमाण नीचे प्रमाण है—

क्षेत्र और पर्वत	विस्तार—योजन	ऊंचाई	ऊंडाई
१ भरतक्षेत्र	५२६ ६/१९ „	×	×
२ हिमवत् कुलाचल	१०५२ १२/१९ „	१०० यो०	२५ यो०
३. हैमवतक्षेत्र	२१०५ ५/१९ „	×	×
४ महा हिमवत् कुलाचल	४२१० १०/१९ „	२०० यो०	५० यो०
५. हरिक्षेत्र	८४२१ १/१९ „	×	×
६. निषध कुलाचल	१६८४२ २/१९ „	४०० यो०	१०० यो०
७. विदेहक्षेत्र	३३६८४ ४/१९ „	×	×
८. नील कुलाचल	१६८४२ २/१९ „	४०० यो०	१०० यो०
९. रम्यक्क्षेत्र	८४२१ १/१९ „	×	×
१०. रुक्मिकुलाचल	४२१० १०/१९ „	२०० यो०	५० यो०
२१ हैरण्यक्षेत्र	२१०५ ५/१९ „	×	×

१२. शिखरीकुलाचल	१०५२$\frac{12}{19}$ „	१०० यो०	२५ यो०
१३. ऐरावतक्षेत्र	५२६$\frac{6}{19}$ „	×	×

[कुलाचलका अर्थ पर्वत समझना]

भरत और ऐरावतक्षेत्रमें कालचक्रका परिवर्तन

भरतैरावतयोर्वृद्धिह्रासौ षट्समयाभ्यामुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभ्याम् ॥ २७ ॥

अर्थः— छह कालोंसे युक्त उत्सर्पिणी और अवसर्पिणीके द्वारा भरत और ऐरावत क्षेत्रमें जीवोंके अनुभवादिकी वृद्धि-हानि होती रहती है।

टीका

१. वीस कोड़ाकोड़ी सागरका एक कल्पकाल होता है। उसके दो भेद हैं:—(१)—उत्सर्पिणी—जिसमें जीवोंके ज्ञानादिकी वृद्धि होती है, और (२)—अवसर्पिणी—जिसमें जीवोंके ज्ञानादिका ह्रास होता है।

अवसर्पिणीके छह भेद हैं—(१) सुषमसुषमा, (२) सुषमा, (३) सुषमदुःषमा, (४) दुःषमसुषमा, (५) दुःषमा और (६) दुःषमदुःषमा, इसी तरह उत्सर्पिणीके भी दुःषमदुःषमासे प्रारंभ करके सुषमसुषमा तक छह भेद समझना चाहिये।

२. (१) सुषमसुषमा का काल चार कोड़ाकोड़ी सागर, (२) सुषमा तीन कोड़ाकोड़ी सागर, (३) सुषमदुःषमा दो कोड़ाकोड़ी सागर, (४) दुःषमसुषमा एक कोड़ाकोड़ी सागरमें ४२ हजार वर्ष कम, (५) दुःषमा २१ हजार वर्ष और (६) दुःषमदुःषमा (—अति-दुःषमा) २१ हजार वर्षका है :

भरत-ऐरावत क्षेत्रमें यह छह भेद सहित परिवर्तन हुआ करता है, असंख्यात अवसर्पिणी बीत जानेके बाद एक हुंडावसर्पिणी काल आता है। इस हुंडावसर्पिणी काल चलता है।

३. भरत ऐरावत क्षेत्रके म्लेच्छखंडों तथा विजयार्ध पर्वतकी श्रेणियोंमें अवसर्पिणी कालके चतुर्थ (दुःषमसुषमा) कालके प्रारम्भसे अवसर्पिणी कालके अंततक परिवर्तन हुआ करता है और उत्सर्पिणी कालके तीसरे (दुःषमसुषमा) कालके आदिसे उत्सर्पिणीके अंततक परिवर्तन हुआ करता है, इनमें आर्यखण्डोंकी तरह छहों कालोंका परिवर्तन नहीं होता और उनमें प्रलयकाल भी नहीं होता।

४ भरत ऐरावत क्षेत्रके मनुष्योंकी आयु तथा ऊँचाई।

आरा (काल)	आयु		ऊंचाई	
	प्रारम्भमें	अन्तमें	प्रारम्भमें	अन्तमें
१	३ पल्य	२ पल्य	३ कोस	२ कोस
२	२ पल्य	१ पल्य	२ कोस	१ कोस
३	१ पल्य	१ कोड़ी पूर्व	१ कोस	५०० धनुष
४	१ कोड़ी पूर्व	१२० वर्ष	५०० धनुष	७ हाथ
५	१२० वर्ष	२० वर्ष	७ हाथ	२ हाथ
६	२० वर्ष	१५ वर्ष	२ हाथ	१ हाथ

मनुष्योंका आहार

काल	आहार	
	चौथे दिन बेरके बराबर	
२	एक दिनके अंतरसे बहेड़ा (फल) के बराबर	तीसरे काल तक भरत-ऐरावत क्षेत्रमें भोगभूमि रहती है।
३	एक दिनके अंतरसे आंवला बराबर	
४	रोज एक बार	
५	कई बार	
६	अति प्रचुरवृत्ति, मनुष्य, नग्न, मछली इत्यादिके आहार, मुनि-श्रावकोंका अभाव, धर्मका नाश ॥ २७ ॥	

अन्य भूमियोंकी व्यवस्था

ताभ्यामपरा भूमयोऽवस्थिताः ॥ २८ ॥

अर्थः—भरत और ऐरावत क्षेत्रको छोड़कर दूसरे क्षेत्रोंमें एक ही अवस्था रहती है—उनमें कालका परिवर्तन नहीं होता ॥ २८ ॥

हैमवतक इत्यादि क्षेत्रोंमें आयु

एकद्वित्रिपल्योपमस्थितयो हैमवतकहारिवर्षकदैवकुरवकाः ॥ २९ ॥

अर्थः—हैमवतक, हारिवर्षक और देवकुरु (विदेहक्षेत्रके अन्तर्गत एक विशेष स्थान) के मनुष्य, तिर्यंच क्रमसे एक पल्य, दो पल्य और तीन पल्यकी आयुवाले होते हैं।

टीका

इन तीन क्षेत्रोंके मनुष्योंकी ऊँचाई क्रमसे एक, दो और तीन कोसकी होती है। शरीरका रंग नील, शुक्ल और पीत होता है ॥ २९ ॥

हैरण्यवतकादि क्षेत्रोंमें आयु

तथोत्तराः ॥ ३० ॥

अर्थः—उत्तरके क्षेत्रोंमें रहनेवाले मनुष्य भी हैमवतकादिकके मनुष्योंके समान आयुवाले होते हैं।

टीका

१. हैरण्यवतक क्षेत्रकी रचना हैमवतके समान, रम्यक्क्षेत्रकी रचना हरिक्षेत्रके समान और उत्तरकुरु (विदेहक्षेत्रके अन्तर्गत स्थान विशेष) की रचना देवकुरुके समान है।

२. भोगभूमि—इस तरह उत्तम, मध्यम और जघन्यरूप तीन भोगभूमिके दो-दो क्षेत्र हैं। जम्बूद्वीपमें छह भोगभूमियां और अढ़ाई द्वीपमें कुल ३० भोगभूमियां हैं जहां सर्वप्रकारकी सामग्री कल्पवृक्षोंसे प्राप्त होती है उन्हें भोगभूमि कहते हैं ॥ ३० ॥

विदेहक्षेत्रमें आयुकी व्यवस्था

विदेहेषु संख्येयकालाः ॥ ३१ ॥

अर्थः—विदेह क्षेत्रोंमें मनुष्य और तिर्यंचोंकी आयु संख्यात वर्षकी होती है।

टीका

विदेहक्षेत्रमें ऊँचाई पाँचसौ धनुष और आयु एक करोड़ वर्ष पूर्वकी होती है ॥ ३१ ॥

भरतक्षेत्रका दूसरी तरहसे विस्तार

भरतस्य विष्कंभो जम्बूद्वीपस्य नवतिशतभागः ॥ ३२ ॥

अर्थः—भरतक्षेत्रका विस्तार जम्बूद्वीपके एक सौ नव्वेवां (१९०) भागके बराबर है।

टीका

२४ व सूत्रमें भरतक्षेत्रका विस्तार बताया है उसमें और इसमें कोई अन्तर नहीं है मात्र कहनेका प्रकार भिन्न है। जो एक लाखके १९० हिस्से किये जांय तो हरएक हिस्सेका प्रमाण ५२६$\frac{६}{१९}$ योजन होता है॥ ३२॥

धातकीखंडका वर्णन

द्विर्धातकीखण्डे ॥ ३३ ॥

अर्थः—धातकीखंड नामके दूसरे द्वीपमें क्षेत्र, कुलाचल, मेरु, नदी इत्यादि सब पदार्थोंकी रचना जम्बूद्वीपसे दूनी दूनी है।

टीका

धातकीखण्ड लवणसमुद्रको घेरे हुए है। उसका विस्तार चार लाख योजन है। उसके उत्तरकुरु प्रान्तमें धातकी (आंवले) के वृक्ष हैं इसलिये उसे धातकीखण्ड कहते हैं॥३३॥

पुष्करार्ध द्वीपका वर्णन

पुष्करार्द्धे च ॥ ३४ ॥

अर्थ—पुष्करार्द्ध द्वीपमें भी सब रचना जम्बूद्वीपकी रचनासे दूनी दूनी है।

टीका

पुष्करवर द्वीपका विस्तार १६ लाख योजन है उसके बीचमें चूड़ीके आकार मानुषोत्तर पर्वत पड़ा हुआ है। जिससे उस द्वीपके दो हिस्से होगये हैं। पूर्वार्धमें सारी रचना धातकी खण्डके समान है और जम्बूद्वीपसे दूनी है। इस द्वीपके उत्तरकुरु प्रान्तमें एक पुष्कर (-कमल) है। इसलिये उसे पुष्करवर द्वीप कहते हैं॥ ३४॥

मनुष्य क्षेत्र—

प्राङ्मानुषोत्तरान्मनुष्याः ॥ ३५ ॥

अर्थ—मानुषोत्तर पर्वत तक अर्थात् अढ़ाई द्वीपमें ही मनुष्य होते हैं-मानुषोत्तर पर्वतसे परे ऋद्धिधारी मुनि या विद्याधर भी नहीं जा सकते।

टीका

१. जम्बूद्वीप, लवणसमुद्र, धातकीखण्ड, कालोदधि और पुष्करार्ध—इतना क्षेत्र अढ़ाई द्वीप है, इसका विस्तार ४५ लाख योजन है।

२. केवल समुद्घात और मारणांतिक समुद्घातके प्रसंगके अतिरिक्त मनुष्यके आत्मप्रदेश ढाई द्वीपके बाहर नहीं जा सकते।

३. आगे चलकर आठवां नन्दीश्वर द्वीप है, उसकी चारों दिशामें चार अंजनगिरि पर्वत, सोलह दधिमुखपर्वत और बत्तीस रतिकर पर्वत हैं। उनके ऊपर मध्यभागमें जिन-मन्दिर हैं। नन्दीश्वर द्वीपमें इसप्रकार बावन जिनमन्दिर हैं। बारहवां कुण्डलवर द्वीप है, उसमें चार दिशाके मिलाकर चार जिन-मन्दिर हैं। तेरहवां रुचकवर नामका द्वीप है, उसके बीचमें रुचक नामका पर्वत है, उस पर्वतके ऊपर चारों दिशामें चार जिन-मन्दिर हैं, वहां पर देव जिन-पूजनके लिये जाते हैं। इस पर्वतके ऊपर अनेक कूट हैं, उनमें अनेक देवियोंके निवास हैं। वे देवियां तीर्थंकरप्रभुके गर्भ और जन्मकल्याणकमें प्रभुकी माताकी अनेक प्रकारसे सेवा करती हैं ॥ ३५ ॥

मनुष्योंके भेद

आर्या म्लेच्छाश्च ॥ ३६ ॥

अर्थः—आर्य और म्लेच्छके भेदसे मनुष्य दो प्रकारके हैं।

टीका

१. आर्योंके दो भेद हैं:—ऋद्धिप्राप्त आर्य और अनऋद्धिप्राप्त आर्य।

ऋद्धिप्राप्त आर्य=जिन आर्य जीवोंको विशेष शक्ति प्राप्त हो।

अनऋद्धिप्राप्त आर्य=जिन आर्य जीवोंको विशेष शक्ति प्राप्त नहीं हो।

ऋद्धिप्राप्त आर्य

२. ऋद्धिप्राप्त आर्यके आठ भेद हैं:—(१) बुद्धि, (२) क्रिया, (३) विक्रिया, (४) तप, (५) बल, (६) औषध, (७) रस और (८) क्षेत्र,—इन आठ ऋद्धियोंको स्वरूप कहते हैं।

३. **बुद्धिऋद्धि**—बुद्धिऋद्धिके अठारह भेद हैं—(१) केवलज्ञान, (२) अवधिज्ञान, (३) मनःपर्ययज्ञान, (४) बीजबुद्धि, (५) कोष्ठबुद्धि, (६) पदानुसारिणी, (७) संभिन्न-श्रोतृत्व, (८) दूरास्वादनसमर्थता, (९) दूरदर्शनसमर्थता, (१०) दूरस्पर्शनसमर्थता, (११) दूरघ्राणसमर्थता, (१२) दूरश्रोतृसमर्थता, (१३) दशपूर्वित्व, (१४) चतुर्दशपूर्वित्व, (१५) अष्टांगनिमित्तज्ञता, (१६) प्रज्ञाश्रमणत्व, (१७) प्रत्येकबुद्धता, और (१८) वादित्व; इनका स्वरूप निम्नप्रकार है—

(१-३) **केवलज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान**—इन तीनों का स्वरूप अध्याय १, सूत्र २१ से २५ तथा २७ से ३० तक में आ गया है।

(४) **बीजबुद्धिः**—एक बीजपदके (मूलपदके) ग्रहण करनेसे अनेक पद और अनेक अर्थोंका जानना सो बीजबुद्धि है।

(५) **कोष्ठबुद्धिः**—जैसे कोठारमें रखे हुए धान्य, बीज इत्यादि बहुत समय तक जैसेके तैसे बने रहते हैं घटते-बढ़ते नहीं हैं, परस्पर मिलते नहीं हैं उसीप्रकार दूसरेके उपदेशसे ग्रहण किये हुवे बहुतसे शब्द, अर्थ, बीज जिस बुद्धिमें जैसेके तैसे रहते हैं एक अक्षर घट-बढ़ नहीं होते, आगे-पीछे अक्षर नहीं होते वह कोष्ठबुद्धि है।

(६) **पदानुसारिणीबुद्धि**—ग्रन्थके प्रारम्भ, मध्य और अन्तका एक पद श्रवण करके समस्त ग्रन्थ तथा उसके अर्थका निश्चय करना सो पदानुसारिणीबुद्धि है।

(७) **संभिन्नश्रोतृत्वबुद्धिः**—चक्रवर्तीकी छावनी बारह योजन लम्बी और नौ योजन चौड़ी पड़ी होती है, उसमें हाथी, घोड़ा, ऊँट, मनुष्यादिके जुदे-जुदे प्रकारके अक्षर अनक्षरात्मक शब्द एक समय एक साथ उत्पन्न होते हैं, उसे तपविशेषके कारण (वीर्यान्तराय श्रुतज्ञानावरण तथा श्रोत्रेंद्रियावरण कर्मका उत्कृष्ट क्षयोपशम होनेपर) एक कालमें जुदे जुदे श्रवण करना सो संभिन्नश्रोतृत्वबुद्धि है।

(८) **दूरास्वादनसमर्थताबुद्धिः**—तपविशेषके कारण (प्रगट होनेवाले असाधारण रसनेन्द्रिय श्रुतज्ञानावरण, वीर्यान्तरायके क्षयोपशम और आंगोपांग नामकर्मके उदयसे) मुनिको रसना का जो विषय नौयोजन प्रमाण होता है उसके रसास्वादनकी (रस जाननेकी) सामर्थ्य होना सो दूरास्वादनसमर्थबुद्धि है।

(९-१२) **दूरदर्शन-स्पर्शन-घ्राण-श्रोतृसमर्थताबुद्धि**—ऊपर लिखे अनुसार चक्षु-रिन्द्रिय, स्पर्शनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, और श्रोत्रेन्द्रियके विषयके क्षेत्रसे बाहुर दूरसे देखने

रूप, स्पर्श, गंध और शब्दको जाननेकी सामर्थ्यका होना सो उस-उस नामकी चार प्रकारकी बुद्धि है।

(१३) दशपूर्वित्वबुद्धि—महारोहिणी इत्यादि विद्या-देवता तीन बार आवें और हर-एक अपना-अपना स्वरूपसामर्थ्य प्रगट करें ऐसे वेगवान विद्या-देवताओंके लोभादिसे जिनका चारित्र चलायमान नहीं होता उसे दशपूर्वित्वबुद्धि कहते हैं।

(१४) चतुर्दशपूर्वित्वबुद्धिः—संपूर्ण श्रुतकेवलित्वका होना चतुर्दशपूर्वित्वबुद्धि है।

(१५) अष्टांगनिमित्ततावुद्धिः—अन्तरिक्ष, भौम, अंग, स्वर, व्यंजन, लक्षण, छिन्न और स्वप्न यह आठ प्रकारका निमित्तज्ञान है, उसका स्वरूप निम्नप्रकार हैः—

सूर्य, चन्द्र, नक्षत्रके उदय अस्तादिको देखकर अतीत-अनागतकालको जानना सो अन्तरिक्षनिमित्तज्ञान है ॥ १ ॥

पृथ्वीकी कठोरता, कोमलता, चिकनाहट या रूखापन देखकर, विचार करके अथवा पूर्वादि दिशामें सूत्र पड़ते हुए देखकर हानि-वृद्धि, जय-पराजय इत्यादिको जानना तथा भूमिगत स्वर्ण चांदी इत्यादिको प्रगट जानना सो भौमनिमित्तज्ञान है ॥ २ ॥

अंगोपांगादिके दर्शन-स्पर्शनादिसे त्रिकालभावी सुख-दुःखादिको जानना सो अंग-निमित्तज्ञान है ॥ ३ ॥

अक्षर-अनक्षररूप तथा शुभाशुभको सुनकर इष्टानिष्ट फलको जानना सो स्वर-निमित्तज्ञान है ॥४॥

मस्तक, मुख, गर्दन इत्यादिमें तल, मुस्स, लाख इत्यादि लक्षण देखकर त्रिकाल सम्बन्धी हित-अहितको जान लेना सो व्यंजननिमित्तज्ञान है ॥ ५ ॥

शरीरके ऊपर श्रीवृक्ष, स्वस्तिक, कलश इत्यादि चिह्न देखकर त्रिकाल सम्बन्धी पुरुषोंके स्थान, मान, ऐश्वर्यादि विशेषका जानना सो लक्षणनिमित्तज्ञान है ॥ ६ ॥

वस्त्र-शस्त्र-आसन-शयनादिसे, देव-मनुष्य-राक्षसादिसे तथा शस्त्र-कंटकादिसे छिदे हुएको देखकर त्रिकाल सम्बन्धी लाभ-अलाभ, सुख-दुःखका जानना सो छिन्ननिमित्तज्ञान है ॥७॥

वात, पित्त कफ रहित पुरुषके मुखमें पिछली रात्रिमें चन्द्रमा, सूर्य, पृथ्वी, पर्वत या समुद्रका प्रवेशादिका स्वप्न होना सो शुभस्वप्न है; घी तेलसे अपनी देह लिप्त और गधा ऊँट पर चढ़कर दक्षिण दिशामें गमन इत्यादि स्वप्न अशुभ स्वप्न हैं; उसके दर्शनसे

आगामी कालमें जीवन-मरण, सुख-दुःखादिका ज्ञान होना सो स्वप्ननिमित्तज्ञान है। इन आठ प्रकारके निमित्तज्ञानका जो ज्ञाता हो उसके अष्टांगनिमित्तबुद्धिऋद्धि है।

(१६) प्रज्ञाश्रमणत्वबुद्धिः—किसी अत्यन्त सूक्ष्म अर्थके स्वरूपका विचार जैसाका वैसा, चौदहपूर्वधारी ही निरूपण कर सकते हैं दूसरे नहीं कर सकते, ऐसे अर्थका जो सन्देह-रहित निरूपण करे ऐसी प्रकृष्ट श्रुतज्ञानावरण और वीर्यान्तरायके क्षयोपशमसे प्रगट होनेवाली प्रज्ञाशक्ति प्रज्ञाश्रमणत्वबुद्धि है।

(१७) प्रत्येकबुद्धताबुद्धिः—परके उपदेशके बिना अपनी शक्तिविशेषसे ज्ञान-संयमके विधानमें निपुण होना प्रत्येकबुद्धताबुद्धि है।

(१८) वादित्वबुद्धिः—इन्द्र इत्यादि आकर वाद-विवाद करे उसे निरुत्तर कर दे, स्वयं रुके नहीं और सामनेवाले वादीके छिद्रको जान लेना ऐसी शक्ति वादित्वबुद्धि है।

इसप्रकार ८ ऋद्धियोंमेंसे पहिली बुद्धिऋद्धिके अठारह प्रकार हैं। यह बुद्धिऋद्धि सम्यग्ज्ञानकी महान् महिमाको बताती है।

४ दूसरी क्रियाऋद्धिका स्वरूप

१ क्रियाऋद्धि दो प्रकारकी है—आकाशगामित्व और चारण।

(१) चारण ऋद्धि अनेकप्रकारकी है—जलके ऊपर पैर रखने या उठाने पर जल-कायिक जीवोंको बाधा न उत्पन्न हो सो जलचारणऋद्धि है। भूमिसे चार अंगुल ऊपर आकाशमें शीघ्रतासे सैकड़ो योजन गमन करनेमें समर्थ होना सो जंघाचारणऋद्धि है। उसीप्रकार तंतुचारण, पुष्पचारण, पत्रचारण, श्रेणिचारण, अग्निशिखाचारण इत्यादि चारण ऋद्धियां हैं। पुष्प, फल इत्यादिके ऊपर गमन करनेसे उन पुष्प फल इत्यादिके जीवोंको बाधा नहीं होता सो पुष्पचारणऋद्धि है।

(२) आकाशगामित्व विक्रियाऋद्धिः—पर्यंकासन अथवा कायोत्सर्गासन करके पगके उठाये-धरे बिना ही आकाशमें गमन करनेमें निपुण होना सो आकाशगामित्वविक्रियाऋद्धि है।

५ तीसरी विक्रियाऋद्धिका स्वरूप

विक्रियाऋद्धि अनेक प्रकारकी है-(१) अणिमा, (२) महिमा (३) लघिमा, (४) गरिमा, (५) प्राप्ति, (६) प्राकाम्य (७) ईशित्व, (८) वशित्व, (९) अप्रतिघात, (१०) अन्तर्धान, (११) कामरूपित्व इत्यादि अनेक भेद हैं उनका स्वरूप भिन्न प्रकार है।

अणुमात्र शरीर करनेकी सामर्थ्यको अणिमाऋद्धि कहते हैं। वह कमलके छिद्रमें प्रवेश करके वहां वैठकर चक्रवर्तीकी विभूति रचता है । १ । मेरुसे भी महान शरीर करनेकी सामर्थ्यको महिमाऋद्धि कहते हैं । २ । पवनसे भी हलका शरीर वनानेकी सामर्थ्यको लघिमाऋद्धि कहते है । ३ । वज्रसे भी अतिभारी शरीर करनेकी सामर्थ्यको गरिमाऋद्धि कहते हैं । ४ । भूमिमें वैठकर उंगलीको आगे करके मेरुपर्वतके शिखर तथा सूर्यविमानादिको स्पर्श करने की शक्तिको प्राप्तिऋद्धि कहते हैं । ५ । जलमें जमीनको उन्मज्जन (ऊपर लाना) तथा निमज्जन (डुवा देना) करनेकी शक्तिको प्राकाम्यऋद्धि कहते हैं । ६ । त्रिलोकका प्रभुत्व रचनेकी सामर्थ्यको ईशित्व ऋद्धि कहते हैं । ७ । देव, दानव, मनुष्य इत्यादिको वशीकरण करनेकी सामर्थ्यको वशित्वऋद्धि कहते हैं ८ । पर्वतादिकके अन्दर आकाशकी भांति गमन-आगमन करनेकी सामर्थ्यको अप्रतिघातऋद्धि कहते हैं । ९ । अदृश्य होनेकी सामर्थ्यको अन्तर्धानऋद्धि कहते है । १० । एक साथ अनेक आकाररूप शरीर करनेकी सामर्थ्यको कामरूपित्वऋद्धि कहते है । ११ । इत्यादि अनेक प्रकारकी विक्रियाऋद्धि हैं ।

नोट.—यहां निमित्त-नैमित्तिकसम्वन्ध समझाया है, किन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिये कि जीव शरीरका या अन्य किसी द्रव्यका कुछ करता है । एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कुछ नहीं कर सकता । शरीरादि परद्रव्यकी जव उस प्रकारकी होने योग्य अवस्था होती है तव जीवके भाव तदनुकूल अपने कारण होते हैं । इतना निमित्त-नैमित्तिकसम्वन्ध यहां वतलाया गया है ।

६. चौथी तपऋद्धि

तपऋद्धि सात प्रकारकी है—(१) उग्रतप, (२) दीप्तितप, (३) निहारतप, (४) महानतप. (५) घोरतप, (६) घोर पराक्रमतप, और (७) घोर ब्रह्मचर्यतप । उसका स्वरूप निम्नप्रकार है—

एक उपवास या दो-तीन-चार-पांच इत्यादि उपवासके निमित्तसे किसी योगका आरम्भ हुआ तो मरणपर्यंत उपवासके उन दिनोंसे कम दिनोमे पारणा नहीं करता किसी कारणसे अधिक उपवास हो जायें तो मरणपर्यंत उससे कम उपवास करके पारणा नहीं करता, ऐसी सामर्थ्य प्रगट होना सो उग्रतप ऋद्धि है ॥ १ ॥ महान उपवासादिक करते हुए मन-वचन-कायका वल वढता ही रहे, मुख दुर्गंध रहित रहे, कमलादिककी सुगन्ध जैसी सुगन्धित श्वास निकले और शरीरकी महान् दीप्ति प्रगट हो जाय सो दीप्तिऋद्धि है ॥ २ ॥ तपे हुए लोहेकी कढाईमें पानीकी वूंद पड़ते ही जैसे सूख जायें, वैसे आहार पच जाय सूख जाय और मल रुधिरादिरूप न परिणमे तथा निहार भी न हो सो निहारतपऋद्धि है ॥३॥

सिंहनिष्क्रीडितादि महान तप करनेमें तत्पर होना सो महान तपऋद्धि है ॥ ४ ॥ वात, पित्त, श्लेष्म इत्यादिसे उत्पन्न हुए ज्वर, खाँसी, श्वास, शूल, कोढ़, प्रमेहादिक अनेक प्रकारके रोगवाला शरीर होने पर भी अनशन, कायक्लेशादि न छूटें और भयानक श्मशान, पर्वतका शिखर, गुफा, खण्डहर, ऊजड़ ग्राम इत्यादिमें दुष्ट राक्षस, पिशाचादि प्रवर्तित हों और बुरे विकार धारण करें तथा गीदड़ोंका कठोर रुदन, सिंह-व्याघ्र इत्यादि दुष्ट जीवोंका भयानक शब्द जहाँ निरन्तर होता हो ऐसे भयंकर स्थानमें भी निर्भय होकर रहे सो घोर तपऋद्धि है ॥ ५ ॥ पूर्वोक्त रोगसहित शरीर होने पर भी अति भयंकर स्थानमें रहकर योग (ध्यानकी एकाग्रता) बढ़ानेकी तत्परता होना सो घोर पराक्रमतपऋद्धि है ॥ ६ ॥ बहुत समयसे ब्रह्मचर्यके धारक मुनिके अतिशय चारित्रके बलसे (मोहनीयकर्मके क्षयोपशम होने पर) खोटे स्वप्नोंका नाश होना सो घोर ब्रह्मचर्यतपऋद्धि है ॥ ७ ॥ इसप्रकार सात प्रकारकी तपऋद्धि है।

नोट—सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक चारित्रधारी जीवोंके कैसा उग्र पुरुषार्थ होता है सो यहाँ बताया है। तपऋद्धिके पाँचवें और छट्ठे भेदोंमें अनेक प्रकारके रोगोंवाला शरीर कहा है, उससे यह सिद्ध होता है कि–शरीर परवस्तु है, चाहे जैसा खराब हो फिर भी वह आत्माको पुरुषार्थ करनेमें बाधक नहीं होता। 'शरीर निरोग हो और बाह्य अनुकूलता हो तो धर्म हो सकता है'—ऐसी मान्यता मिथ्या है, ऐसा सिद्ध होता है।

७. पाँचवीं बलऋद्धिका स्वरूप

बल ऋद्धि तीन प्रकारकी है—(१) मनोबलऋद्धि (२) वचनबलऋद्धि और (३) कायबलऋद्धि, उनका स्वरूप निम्नप्रकार है। प्रकर्ष पुरुषार्थसे मन-श्रुतज्ञानावरण और वीर्यान्तरायके क्षयोपशम होने पर अन्तर्मुहूर्तमें सम्पूर्ण श्रुत-अर्थके चिंतवन करनेकी सामर्थ्य सो मनोबलऋद्धि है ॥ १ ॥ अतिशय पुरुषार्थसे मन-इन्द्रिय श्रुतावरण तथा जिह्वा श्रुत-ज्ञानावरण और वीर्यान्तरायके क्षयोपशम होने पर अन्तर्मुहूर्तमें सकल श्रुतको उच्चारण करनेकी सामर्थ्य होना तथा निरन्तर उच्च स्वरसे बोलने पर खेद नहीं उत्पन्न हो, कंठ या स्वरभंग नहीं हो सो वचनबलऋद्धि है ॥ २ ॥ वीर्यान्तरायके क्षयोपशमसे असाधारण कायबल प्रगट हो और एक मास, चार मास या बारह मास प्रतिमायोग धारण करने पर भी खेदरूप नहीं होना सो कायबलऋद्धि है ॥ ३ ॥

८. छट्ठी औषधिऋद्धिका स्वरूप

औषधिऋद्धि आठ प्रकारकी है—(१) आमर्ष (२) क्ष्वेल (३) जल्ल (४) मल (५) विट् (६) सर्व (७) आस्यविष (८) दृष्टिविष, उनका स्वरूप निम्नप्रकार है—

असाध्य रोग हो तो भी जिनके हाथ–चरणादिके स्पर्श होनेसे ही सब रोग नष्ट हो जांय सो आमर्षऔषधिऋद्धि है ॥ १ ॥ जिनके थूक लार कफादिके स्पर्श होनेसे ही रोग नष्ट हो जाय सो क्ष्वेलऔषधिऋद्धि है ॥ २ ॥ जिनके देहके पसीनेका स्पर्श होनेसे रोग मिट जाय सो जलऔषधिऋद्धि है ॥ ३ ॥ जिनके कान, दांत, नाक और नेत्रका मल ही सब रोगोंके निराकरण करनेमें समर्थ हो सो मलऔषधिऋद्धि है ॥ ४ ॥ जिनकी बीट–टट्टी तथा मूत्र ही औषधिरूप हो सो बीटऔषधिऋद्धि है ॥ ५ ॥ जिनका अंग–उपांग नख, दांत, केशादिकके स्पर्श होनेसे ही सब रोगोंको दूर कर देता है सो सर्वौषधिऋद्धि है ॥ ६ ॥ तीव्र जहरसे मिला हुआ आहार भी जिनके मुखमें जाते ही विष रहित हो जाय तथा विषसे व्याप्त जीवका जहर जिनके वचनसे ही उतर जाय सो आस्यविषऔषधिऋद्धि है ॥ ७ ॥ जिनके देखनेसे महान विषधारी जीवका विष जाता रहे तथा किसीके विष चढ़ा हो तो उतर जाय ऐसी ऋद्धि सो दृष्टिविषऋद्धि है ॥ ८ ॥

९. सातवीं रसऋद्धिका स्वरूप

रसऋद्धि ६ प्रकार की है। (१) आस्यविष (२) दृष्टिविष (३) क्षीर (४) मधु-स्रावी (५) घृतस्रावी और (६) अमृतस्रावी। उनका स्वरूप निम्नप्रकार है:—

प्रकृष्ट तपवाले योगी कदाचित् क्रोधी होकर कहें कि 'तू मर जा' तो उसी समय विष चढ़नेसे मर जाय सो आस्यविषरसऋद्धि है ॥ १ ॥ कदाचित क्रोधरूपी दृष्टिके देखनेसे मर जावे सो दृष्टिविषऋद्धि है ॥ २ ॥ वीतरागी मुनिके ऐसी सामर्थ्य हो कि उनके क्रोधादिक उत्पन्न न हों और उनके हाथ में प्राप्त हुआ नीरस भोजन क्षीररसरूप हो जाय तथा जिनके वचन दुर्बलको क्षीरके समान पुष्ट करें सो क्षीररसऋद्धि है ॥ ३ ॥ ऊपर कहा हुआ भोजन मिष्ट रसरूप परिणमित हो जाय सो मधुस्रावीरसऋद्धि है ॥ ४ ॥ तथा वह भोजन घृतरसरूप परिणमित हो जाय सो घृतस्रावीरसऋद्धि है ॥ ६ ॥ इस प्रकार छह प्रकार की रसऋद्धि है।

१०. आठवीं क्षेत्रऋद्धि का स्वरूप

क्षेत्रऋद्धि दो प्रकार की है—(१) अक्षीणमहान और (२) अक्षीणमहालय। उनका स्वरूप निम्नप्रकार है।

लाभांतरायके उत्कृष्ट क्षयोपशमसे अति संयमवान मुनि जो जिस भोजनमेंसे भोजन दे उस भोजनमेंसे चक्रवर्तीकी समस्त सैन्य भोजन कर ले तो भी उस दिन भोजन-सामग्री न घटे तो अक्षीणमहानक्षेत्रऋद्धि है ॥ १ ॥ ऋद्धिसहित मुनि जिस स्थानमें बैठे

वहाँ देव, राजा, मनुष्यादिक बहुतसे आकर बैठें तो भी क्षेत्रमें कमी न पड़े, आपसमें बाधा न हो सो अक्षीणमहालयक्षेत्रऋद्धि है ॥२॥ इसप्रकार दो प्रकारकी क्षेत्रऋद्धि है।

इसप्रकार, पहिले आर्य और म्लेच्छ ऐसे मनुष्योंके दो भेद किये थे उनमेंसे आर्यके ऋद्धिप्राप्त और अनऋद्धिप्राप्त ऐसे दो भेद किये। उनमेंसे ऋद्धिप्राप्त आर्योंके ऋद्धिके भेदोंका स्वरूप वर्णन किया; अब अनऋद्धिप्राप्त आर्योंका भेद वर्णन करते हैं।

११ अनऋद्धिप्राप्त आर्य

अनऋद्धिप्राप्त आर्योंके पाँच भेद हैं—(१) क्षेत्रआर्य, (२) जातिआर्य, (३) कर्मआर्य, (४) चारित्रआर्य और (५) दर्शनआर्य। उनका स्वरूप निम्नप्रकार है —

(१) क्षेत्रआर्य—जो मनुष्य आर्यदेशमें उत्पन्न हों उन्हें क्षेत्रआर्य कहते हैं।

(२) जातिआर्य—जो मनुष्य इक्ष्वाकु वंश, भोज वंशादिकमें उत्पन्न हों उन्हें जातिआर्य कहते हैं।

(३) कर्मआर्य—उनके तीन भेद होते हैं—सावद्यकर्मआर्य, अल्पसावद्यकर्मआर्य और असावद्यकर्मआर्य। उनमेंसे सावद्यकर्मआर्योंके ६ भेद हैं—असि, मसि, कृषि, विद्या, शिल्प और वाणिज्य।

जो तलवार इत्यादि आयुध धारण करके आजीविका करते हैं उन्हें असिकर्मआर्य कहते हैं। जो द्रव्यकी आय तथा व्यय लिखनेमें निपुण हों उन्हें मसिकर्मआर्य कहते हैं। जो हल बखर इत्यादि खेतीके साधनोंसे खूब खेती करके आजीविकामें प्रवीण हों उन्हें कृषिकर्मआर्य कहते हैं। आलेख्य, गणितादि बहत्तर कलामें प्रवीण हों उन्हें विद्याकर्मआर्य कहते हैं।

धोबी, हजाम, कुम्हार, लुहार, सुनार इत्यादिके कार्यमें प्रवीण हों उन्हें शिल्पकर्मआर्य कहते हैं। जो चन्दनादि गंध, घी इत्यादि रस, धान्य, कपास, वस्त्र, मोती माणिक इत्यादि अनेक प्रकारकी वस्तुओंका संग्रह करके व्यापार करते हैं उन्हें वाणिज्यकर्मआर्य कहते हैं।

ये छह प्रकारके कर्म जीवको अविरतदशामें (पहिलेसे चौथे गुणस्थान तक) होते हैं इसलिये उन्हें सावद्यकर्मआर्य कहते हैं।

विरताविरत परिणत जो श्रावक (पाँचवें गुणस्थानवर्ती) हैं उन्हें अल्पसावद्यकर्मआर्य कहते हैं।

जो सकलसंयमी साधु हैं उन्हें असावद्यकर्मआर्य कहते हैं।

(असावद्यकर्मआर्य और चारित्रआर्यके बीच क्या भेद है सो बताया जायगा-)

४. चारित्रआर्यः—के दो भेद हैं-अभिगतचारित्रआर्य और अनभिगतचारित्रआर्य।

जो उपदेशके बिना ही चारित्रमोहके उपशम तथा क्षयसे आत्माकी उज्ज्वलतारूप चारित्रपरिणामको धारण करें, ऐसे उपशांतकषाय और क्षीणकषाय गुणस्थानधारक मुनि अभिगतचारित्रआर्य हैं। और जो अन्तरंगमें चारित्रमोहके क्षयोपशमसे तथा बाह्यमें उपदेशके निमित्तसे संयमरूप परिणाम धारण करें वे अनभिगतचारित्रआर्य हैं।

असावद्यआर्य और चारित्रआर्य ये दोनों साधु ही होते हैं, परन्तु वे साधु जब पुण्य-कर्मका बंध करते हैं तब (छट्ठे गुणस्थानमें) उन्हें असावद्यकर्मआर्य कहते हैं, और जब कर्मकी निर्जरा करते हैं तब (छट्ठे गुणस्थानसे ऊपर) उन्हें चारित्रआर्य कहते हैं।

(५) दर्शनआर्यः—के दश भेद हैं—आज्ञा, मार्ग, उपदेश, सूत्र, बीज, संक्षेप, विस्तार, अर्थ, अवगाढ और परमावगाढ [—इन दश भेद संबंधी विशेष खुलासा मोक्षमार्ग-प्रकाशक अध्याय ९ मेंसे जानना चाहिये।]

इसप्रकार अनऋद्धिप्राप्तआर्यके भेदोंका स्वरूप कहा। इसप्रकार आर्य मनुष्योंका वर्णन पूरा हुआ।

अब म्लेच्छ मनुष्योंका वर्णन करते हैं।

१२. म्लेच्छ

म्लेच्छ मनुष्य दो प्रकारके हैं—कर्मभूमिज और अन्तर्द्वीपज, (१) पांच भरतके पांच खंड, पांच ऐरावतके पांच खंड और विदेहके आठसौ खंड, इसप्रकार (२५+२५+८००) आठसौ पचास म्लेच्छ क्षेत्र हैं, उनमें उत्पन्न हुए मनुष्य कर्मभूमिज हैं; (२) लवण समुद्रमें अड़तालीस द्वीप तथा कालोदधि समुद्रमें अड़तालीस, दोनों मिलकर छियानवे द्वीपोंमें कुभोग-भूमियां मनुष्य हैं, उन्हें अंतर्द्वीपज म्लेच्छ कहते हैं। उन अंतर्द्वीपज म्लेच्छ मनुष्योंके चेहरे विचित्र प्रकारके होते हैं; उनके मनुष्योंके शरीर (धड़) और उनके ऊपर हाथी, रीछ, मछली इत्यादिकोंका सिर, बहुत लम्बे कान, एक पैर, पूँछ इत्यादि होती है। उनकी आयु एक पल्यकी होती है और वृक्षोंके फल मिट्टी इत्यादि उनका भोजन है॥ ३६॥

कर्मभूमिका वर्णन

भरतैरावतविदेहाः कर्मभूमयोऽन्यत्र देवकुरूत्तरकुरुभ्यः ॥ ३७ ॥

अर्थः—पांच मेरु सम्बन्धी पांच भरत, पांच ऐरावत, देवकुरु तथा उत्तरकुरु ये दोनों छोड़कर पांच विदेह, इसप्रकार अढ़ाईद्वीपमें कुल पन्द्रह कर्मभूमियां हैं।

टीका

१ जहां असि, मसि, कृषि, वाणिज्य, विद्या और शिल्प इन छह कर्मोंकी प्रवृत्ति हो उसे कर्मभूमि कहते हैं। विदेहके एक मेरु सम्बन्धी बत्तीस क्षेत्र हैं, और पांच विदेह हैं उनके ३२×५=१६० क्षेत्र पांच विदेहके हुए और पांच भरत तथा पांच ऐरावत ये दस मिलकर कुल पन्द्रह कर्मभूमियोंके १७० क्षेत्र हैं। ये पवित्रताके-धर्मके क्षेत्र हैं और मुक्ति प्राप्त करनेवाले मनुष्य यहां ही जन्म लेते हैं।

एक मेरुसम्बन्धी हिमवत, हरिक्षेत्र, रम्यक, हिरण्यवत, देवकुरु और उत्तरकुरु ऐसी छह भोगभूमियां हैं। इसप्रकार पांच मेरु सम्बन्धी तीस भोगभूमियां हैं। उनमें दस जघन्य, दस मध्यम और दस उत्कृष्ट हैं। उनमें दस प्रकारके कल्पवृक्ष हैं। उनके भोग भोगकर जीव संक्लेशरहित-साताकर रहते हैं।

२ प्रश्न—धर्मके आश्रय तो तीनलोकका क्षेत्र है, तो कर्मभूमिके एकसौ सत्तर क्षेत्र ही क्यों कहते हो, तीनलोकको कर्मभूमि क्यों नहीं कहते ?

उत्तर—सर्वार्थसिद्धि पहुँचनेका शुभकर्म और सातवें नरक पहुँचनेका पापकर्म इन क्षेत्रोंमें उत्पन्न हुए मनुष्य उपार्जन करते हैं। असि, मसि, कृषि आदि षट्कर्म भी इन क्षेत्रोंमें ही होते हैं, तथा देवपूजा गुरु-उपासना, स्वाध्याय, संयम, तप और दान ये छह प्रकारके शुभ (प्रशस्त) कर्म भी इन क्षेत्रोंमें ही उत्पन्न हुए मनुष्य करते हैं, इसीलिये इन क्षेत्रोंको ही कर्मभूमि कहते हैं ॥ ३७ ॥

मनुष्योंकी उत्कृष्ट तथा जघन्य आयु

नृस्थिती परावरे त्रिपल्योपमान्तर्मुहूर्ते ॥ ३८ ॥

अर्थः—मनुष्योंकी उत्कृष्ट स्थिति तीन पल्य और जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्तकी है।

टीका

यह ध्यान रखना चाहिये कि—मनुष्यभव एक प्रकारकी त्रसगति है, दो इन्द्रियसे लेकर

पंचेन्द्रिय तक त्रसगति है। उसका एकसाथ उत्कृष्टकाल दो हजार सागरोपमसे कुछ अधिक है। उसमें संज्ञी पर्याप्तक मनुष्यत्वका काल तो बहुत ही थोड़ा है। मनुष्यभवमें जो जीव सम्यग्दर्शन प्रगट करके धर्मका प्रारंभ न करे तो मनुष्यत्व मिटनेके बाद कदाचित् त्रसमें ही रहे तो भी नारकी-देव-तिर्यंच और बहुत थोड़े मनुष्यभव करके अंतमें त्रस पर्यायका काल (-दो हजार सागरोपम) पूरा करके एकेन्द्रियत्व पावेगा। वहां अधिक काल (उत्कृष्ट रूपसे असंख्यात पुद्गलपरावर्तन काल) तक रहकर एकेन्द्रिय पर्याय (शरीर) धारण करेगा ॥ ३८ ॥

तिर्यंचोंकी आयुस्थिति

तिर्यग्योनिजानां च ॥ ३९ ॥

अर्थः—तिर्यंचोंकी आयुकी उत्कृष्ट तथा जघन्य स्थिति उतनी ही (मनुष्यों जितनी) है।

टीका

तिर्यंचोंकी आयुके उपविभाग निम्नप्रकार हैः—

जीवकी जाति	उत्कृष्ट आयु
(१) पृथ्वीकाय	२२००० वर्ष
(२) वनस्पतिकाय	१०००० वर्ष
(३) अपकाय	७००० वर्ष
(४) वायुकाय	३००० वर्ष
(५) अग्निकाय	३ दिवस
(६) दो इन्द्रिय	१२ वर्ष
(७) तीन इन्द्रिय	४९ दिवस
(८) चतुरिन्द्रिय	६ मास
(९) पंचेन्द्रिय	
१. कर्मभूमिके पशु असंज्ञी पचेन्द्रिय मछली इत्यादि	१ करोड़ पूर्व वर्ष
२. परिसर्प जातिके सर्प	९ पूर्वांग वर्ष
३. सर्प	४२००० वर्ष
४. पक्षी	७२००० वर्ष
५. भोगभूमिके चौपाये प्राणी	३ पल्य

भोगभूमियोंको छोड़कर इन सबकी जघन्य आयु एक अन्तर्मुहूर्तकी है ॥ ३९ ॥

क्षेत्रके नापका कोष्टक

—अ—

(१)	अनन्त पुद्गल × अनन्त पुद्गल	=	१ उत्सन्नासन्ना,
(२)	८ उत्सन्नासन्ना	=	१ सन्नासन्ना,
(३)	८ सन्नासन्ना	=	१ त्रुटरेणु
(४)	८ त्रुटरेणु	=	१ त्रसरेणु,
(५)	८ त्रसरेणु	=	१ रथरेणु,
(६)	८ रथरेणु	=	१ उत्तम भोगभूमियोंके बालका अग्रभाग,
(७)	८ ऐसे (बालके) अग्रभाग	=	१ मध्यम भोगभूमियोंके बालका अग्रभाग,
(८)	८ ऐसे (बालके) अग्रभाग	=	१ जघन्य भोगभूमियोंके बालका अग्रभाग,
(९)	८ ऐसे (बालके) अग्रभाग	=	१ कर्मभूमियोंके बालका अग्रभाग,
(१०)	८ ऐसे (बालके) अग्रभाग	=	१ लीख,
(११)	८ लीख	=	१ जू (यूक) सरसों,
(१२)	८ यूक	=	१ यव (जौ के बीच का व्यास)
(१३)	८ यव	=	१ उत्सेध अंगुल (छोटी अंगुलीकी चौड़ाई)
(१४)	५०० उत्सेध अंगुल	=	१ प्रमाणांगुल अर्थात् अवसर्पिणीके प्रथम चक्रवर्तीकी अंगुलीकी चौड़ाई,

—ब—

(१)	६ अंगुल	=	१ पाद
(२)	२ पाद (१२ अंगुल)	=	१ वितस्त
(३)	२ वितस्त	=	१ हाथ
(४)	२ हाथ	=	१ गज (ईषु)
(५)	२ गज	=	१ धनुष (Bow)
(६)	२००० धनुष	=	१ कोश
(७)	४ कोश	=	१ योजन

जहाँ जो अंगुल लागू पड़ता हो वहाँ उस प्रमाण (–नाप) समझना चाहिये।

नोट—१ प्रमाणांगुल उत्सेधांगुलसे ५०० गुना है, उससे द्वीप, समुद्र, पर्वत, द्वीप समुद्रकी वेदी विमान, नरकोंका प्रस्तार इत्यादि अकृत्रिम वस्तुओंकी लम्बाई-चौड़ाई नापी जाती है।

२. उत्सेध अंगुलसे देव-मनुष्य-तिर्यंच और नारकियोंका शरीर तथा अकृत्रिम जिन-प्रतिमाओंके देहका नाप किया जाता है। देवोंके नगर तथा मन्दिर भी इस ही नापसे नापे जाते हैं।

३ जिस कालमें जैसा मनुष्य हो उस कालमें उसका अंगुल आत्मांगुल कहलाता है। पल्यके अर्धच्छेदका असंख्यातवें भागप्रमाण घनांगुल माडकर गुणा करनेसे एक जगत-श्रेणी होती है।

जगतश्रेणी=७ राजु लोककी लम्बाई, जो उसके अंतमें नीचे है वह।

जगतप्रतर=७ राजु×७ राजु =४९ राजु क्षेत्र, उस लोकके नीचे भागका क्षेत्रफल (लम्बाई×चौड़ाई) है।

जगतघन (लोक)=$७^३$ राजु अर्थात् ७ राजु×७ राजु×७ राजु=३४३ राजु। यह सम्पूर्ण लोकका नाप (लम्बाई चौड़ाई मोटाई) है ॥३१॥

मध्यलोकके वर्णनका संक्षिप्त अवलोकन

(१) जम्बूद्वीप

मध्यलोकके अत्यन्त बीचमें एक लाख * योजन चौड़ा, गोल (थाली जैसा) जम्बूद्वीप है। जम्बूद्वीपके बीचमें एक लाख योजन सुमेरु पर्वत है, जिसकी एक हजार योजन जमीन के अन्दर जड़ है, नव्वे हजार योजन जमीनके ऊपर है, और चालीस योजनकी उसकी चूलिका (चोटी) है।

जम्बूद्वीपके बीचमें पश्चिम-पूर्व लम्बे छह कुलाचल (पर्वत) हैं, उनसे जम्बूद्वीपके सात खण्ड होगये है, उन सात खण्डोंके नाम भरत, हैमवत, हरि, विदेह, रम्यक, हैरण्यवत, और ऐरावत हैं।

(२) उत्तरकुरु-देवकुरु

विदेहक्षेत्रमें मेरुकी उत्तर दिशामें उत्तरकुरु तथा दक्षिण दिशामें देवकुरु क्षेत्र हैं।

(३) लवण समुद्र

जम्बूद्वीपके चारों तरफ खाईके माफक घेरे हुए दो लाख योजन चौड़ा लवण समुद्र है।

(४) धातकीखंड द्वीप

लवणसमुद्रके चारो ओर घेरे हुए चार लाख योजन चौड़ा धातकीखण्ड द्वीप है। इस

* एक योजन =दो हजार कोस

द्वीपमें दो मेरु पर्वत हैं, इसलिये क्षेत्र तथा कुलाचल (पर्वत) इत्यादिकी सभी रचना जम्बूद्वीपसे दूनी है।

(५) कालोदधि समुद्र

धातकीखण्डके चारों ओर घेरे हुए आठ लाख योजन चौड़ा कालोदधि समुद्र है।

(६) पुष्करद्वीप

कालोदधि समुद्रके चारों ओर घेरे हुए सोलह लाख योजन चौड़ा पुष्करद्वीप है। इस द्वीपके बीचोंबीच वलय (चूड़ीके) के आकार, पृथ्वी पर एक हजार बाईस (१०२२) योजन चौड़ा सत्रहसौ इक्कीस (१७२१) योजन ऊँचा और चारसौ सत्ताईस (४२७) योजन जमीनके अन्दर गहराईवाला, मानुषोत्तर पर्वत है। और उससे पुष्करद्वीपके दो खण्ड होगये हैं।

पुष्करद्वीपके पहिले अर्धभागमें जम्बूद्वीपसे दूनी अर्थात् धातकीखण्डके बराबर सब रचना है।

(७) नरलोक (मनुष्यक्षेत्र)

जम्बूद्वीप, धातकीखण्ड, पुष्करार्ध (पुष्करद्वीपका आधाभाग) लवण समुद्र और कालोदधि समुद्र इतना क्षेत्र नरलोक कहलाता है।

(८) दूसरे द्वीप तथा समुद्र

पुष्करद्वीपसे आगे परस्पर एक-दूसरेसे घिरे हुए दूने-दूने विस्तार वाले मध्यलोकके अन्ततक द्वीप और समुद्र हैं।

(९) कर्मभूमि और भोगभूमिकी व्याख्या

जहां असि, मसि, कृषि, सेवा, शिल्प, और वाणिज्य,—इन छह कर्मोंकी प्रवृत्ति हो वे कर्मभूमियां हैं। जहांपर उनकी प्रवृत्ति न हो वे भोगभूमियां कहलाती हैं।

(१०) पन्द्रह कर्मभूमियां

पांच मेरुसम्बन्धी पांच भरत, पांच ऐरावत और (देवकुरु उत्तरकुरुको छोड़कर) पांच विदेह, इसप्रकार कुल पन्द्रह कर्मभूमियां हैं।

(११) भोगभूमियाँ

पांच हैमवत और पांच हैरण्यवत्—ये दस क्षेत्र जघन्य भोगभूमियां हैं। पांच हरि

और पांच रम्यक् ये दश क्षेत्र मध्यम भोगभूमियाँ हैं, और पांच देवकुरु और पांच उत्तरकुरु ये दश क्षेत्र उत्कृष्ट भोगभूमियाँ हैं।

(१२) भोगभूमि और कर्मभूमि जैसी रचना

मनुष्यक्षेत्रसे बाहरके सभी द्वीपोंमें जघन्य भोगभूमि जैसी रचना है, परन्तु स्वयंभूरमण द्वीपके उत्तरार्धमें तथा समस्त स्वयंभूरमण समुद्रमें और चारों कोनोंकी पृथ्वियोंमें कर्मभूमि जैसी रचना है। लवण समुद्र और कालोदधि समुद्रमें ९६ अन्तर्द्वीप हैं। वहाँ कुभोगभूमिकी रचना है, और वहाँ पर मनुष्य ही रहते हैं। उन मनुष्योंकी आकृतियाँ अनेक प्रकारकी कुत्सित हैं।

स्वयंभूरमण द्वीपके उत्तरार्धकी, स्वयंभूरमण समुद्रकी और चारों कोनोंकी रचना कर्मभूमि जैसी कही जाती है; क्योंकि कर्मभूमिमें और वहाँ विकलत्रय (दो इन्द्रियसे चार इन्द्रिय) जीव हैं, और भोगभूमिमें विकलत्रय जीव नहीं हैं। तिर्यक्लोकमें पंचेन्द्रिय तिर्यंच रहते हैं, किन्तु जलचर तिर्यंच लवण समुद्र, कालोदधि समुद्र, और स्वयंभूरमण समुद्रको छोड़कर अन्य समुद्रोंमें नहीं हैं।

स्वयंभूरमण समुद्रके चारों ओरके कोनोंके अतिरिक्त भागको तिर्यक्लोक कहा जाता है।

उपसंहार

लोकके इन क्षेत्रोंको किसीने बनाया नहीं है, किन्तु अनादि-अनन्त हैं। स्वर्ग-नरक और द्वीप-समुद्र आदि जो हैं वे अनादिसे इसीप्रकार हैं, और सदा ऐसे ही रहेंगे। जैसे जीवादिक पदार्थ इस लोकमें अनादिनिधन हैं उसी प्रकार यह भी अनादिनिधन समझना चाहिये।

इसप्रकार यथार्थ श्रद्धानके द्वारा लोकमें सभी पदार्थ अकृत्रिम भिन्न-भिन्न अनादिनिधन समझना चाहिये। जो कुछ-कृत्रिम घरबार आदि इन्द्रियगम्य वस्तुएँ नवीन दिखाई देती हैं वे सब अनादिनिधन पुद्गलद्रव्यकी संयोगी पर्यायें हैं। वे पुद्गल कुछ नये नहीं बने हैं। इसलिये यदि जीव निरर्थक भ्रमसे सच्चे-झूठेका ही निश्चय न करे तो वह सच्चा स्वरूप नहीं जान सकता। प्रत्येक जीव अपने श्रद्धानका फल प्राप्त करता है, इसलिये योग्य जीवोंको सम्यक् श्रद्धा करनी चाहिये।

सात नरकभूमियाँ, बिल, लेश्या, आयु, द्वीप, समुद्र, पर्वत, सरोवर, नदी, मनुष्य-तिर्यंचकी आयु इत्यादिका वर्णन करके श्री आचार्यदेवने तीसरा अध्याय पूर्ण किया।

इसप्रकार तीसरे अध्यायमें अधोलोक और मध्यलोकका वर्णन किया है। अब ऊर्ध्वलोकका वर्णन चौथे अध्यायमें किया जायगा। इसप्रकार श्री उमास्वामी विरचित मोक्षशास्त्रके तीसरे अध्यायकी टीका समाप्त हुई।

मोक्षशास्त्र-अध्याय चौथा

भूमिका

इस शास्त्रके पहिले अध्यायके पहिले सूत्रमें यह बतलाया गया है कि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रकी एकता ही मोक्षमार्ग है। तत्पश्चात् दूसरे सूत्रमें सम्यग्दर्शनका लक्षण 'तत्त्वार्थ श्रद्धान' कहा गया है। पश्चात् जिन तत्त्वोंके यथार्थ श्रद्धानसे सम्यग्दर्शन होता है उनके नाम देकर चौथे सूत्रमें सात तत्त्व बताये गये हैं। उन सात तत्त्वोंमें पहिला जीवतत्त्व है। उस जीवका स्वरूप समझनेके लिए दूसरे अध्यायमें यह बताया गया है कि जीवके भाव, जीवका लक्षण, इन्द्रियाँ-जन्म शरीर इत्यादिके साथ संसारी जीवोंका निमित्त-नैमित्तिक सम्बंध कैसा होता है। तीसरे अध्यायमें चार प्रकारके संसारी जीवोंमेंसे नारकी जीवोंका वर्णन किया है तथा जीवोंके निवास-स्थान बतलाये हैं, और बतलाया है कि मनुष्य तथा अन्य जीवोंके रहनेके क्षेत्र कौनसे हैं तथा मनुष्य और तिर्यंचोंकी आयु इत्यादिके सम्बन्धमें कुछ बातें बताई गई हैं।

इसप्रकार संसारकी चार गतियोंके जीवोंमेंसे मनुष्य, तिर्यंच और नरक-इन तीनका वर्णन तीसरे अध्यायमें हो चुका है, अब देवाधिकार शेष रहता है, जो इस चौथे अध्यायमें मुख्यतासे निरूपित किया गया है। इसप्रकार अध्याय २ सूत्र १० में जीवके दो भेद (संसारी और मुक्त) बतलाये थे, उनमेंसे संसारी जीवोंसे सम्बन्ध रखनेवाला अधिकार वर्णित हो जाने पर मुक्त जीवोंका अधिकार शेष रह जाता है, जो कि दशवें अध्यायमें वर्णित किया जायगा।

ऊर्ध्वलोकका वर्णन

देवोंके भेद

देवाश्चतुर्णिकायाः ॥ १ ॥

अर्थः—देव चार समूहवाले हैं, अर्थात् देवोंके चार भेद हैं—१. भवनवासी, २. व्यंतर, ३. ज्योतिषी और ४. वैमानिक।

टीका

देवः – जो जीव देवगतिनामकर्मके उदयसे अनेक द्वीप, समुद्र तथा पर्वतादि रमणीक स्थानोंमें क्रीड़ा करें उन्हें देव कहते हैं ॥ १ ॥

भवनत्रिक देवोंमें लेश्याका विभाग

आदितस्त्रिषु पीतांतलेश्याः ॥ २ ॥

अर्थः—पहिलेके तीन निकायोंमें पीत तक अर्थात् कृष्ण, नील, कापोत और पीत ये चार लेश्याएँ होती हैं।

टीका

(१) कृष्ण=काली, नील=नीले रंगकी, कापोत=चितकबरी=कबूतरके रंग जैसी, पीत=पीली।

(२) यह वर्णन भावलेश्याका है। वैमानिक देवोंकी भावलेश्याका वर्णन इस अध्यायके २२ वें सूत्रमें दिया है ॥ २ ॥

चार निकायके देवोंके प्रभेद

दशाष्टपंचद्वादशविकल्पाः कल्पोपपन्नपर्यंताः ॥ ३ ॥

अर्थः—कल्पोपपन्न (सोलहवें स्वर्ग तकके देव) पर्यंत इन चार प्रकारके देवोंके क्रमसे दश, आठ, पांच और बारह भेद हैं।

टीका

भवनवासियोंके दश, व्यन्तरोंके आठ, ज्योतिषियोंके पांच, और कल्पोपपन्नोंके बारह भेद हैं [कल्पोपपन्न देव वैमानिक जाति के ही हैं] ॥ ३ ॥

चार प्रकारके देवोंके सामान्य भेद

इन्द्रसामानिकत्रायस्त्रिंशपारिषदात्मरक्षलोकपालानीक-
प्रकीर्णकाभियोग्यकिल्विषिकाश्चैकशः ॥ ४ ॥

अर्थः—ऊपर कहे हुए चार प्रकारके देवोंमें हरएकके दस भेद हैं:—१-इन्द्र, २-सामानिक, ३-त्रायस्त्रिंश ४-पारिषद, ५-आत्मरक्ष, ६-लोकपाल, ७-अनीक, ८-प्रकीर्णक, ९-आभियोग्य, और १०-किल्विषिक।

टीका

१. इन्द्रः—जो देव दूसरे देवोंमें नहीं रहनेवाली अणिमादिक ऋद्धियोंसे सहित हों उन्हें इन्द्र कहते हैं, वे देव राजाके समान होते हैं। [Like a King]

२ सामानिकः—जिन देवोंकी आयु, वीर्य, भोग-उपभोग इत्यादि इन्द्रसमान होते हैं, तो भी आज्ञारूपी ऐश्वर्यसे रहित होते हैं, वे सामानिक देव कहलाते हैं। वे देव पिता या गुरुके समान होते हैं। [Like father, teacher]

३. त्रायस्त्रिंशः—जो देव मन्त्री- पुरोहितके स्थान योग्य होते हैं उन्हें त्रायस्त्रिंश कहते हैं। एक इन्द्रकी सभामें ऐसे देव तेतीस ही होते हैं। [Ministers]

४. पारिषदः—जो देव इन्द्रकी सभामें बैठनेवाले होते हैं उन्हें पारिषद कहते हैं। [Courtiers]

५. आत्मरक्षः—जो देव अंगरक्षकके समान होते हैं उन्हें आत्मरक्ष कहते हैं। [Bodyguards]

नोटः—देवोंमें घात इत्यादि नहीं होता, तो भी ऋद्धिमहिमाके प्रदर्शक आत्मरक्ष देव होते हैं।

६. लोकपालः—जो देव कोतवाल (फौजदार) के समान लोगोंका पालन करें उन्हें लोकपाल कहते हैं। [Police]

७. अनीकः—जो देव पैदल इत्यादि सात प्रकारकी सेनामें विभक्त रहते हैं उन्हें अनीक कहते हैं। [Army]

८. प्रकीर्णकः—जो देव नगरवासियोंके समान होते हैं उन्हें प्रकीर्णक कहते हैं। [People]

९. आभियोग्यः—जो देव दासोंकी तरह सवारी आदिके काम आते हैं उन्हें आभियोग्य कहते हैं। इसप्रकारके देव घोड़ा, सिंह, हंस इत्यादि प्रकारके वाहनरूप (दूसरे देवोंके उपयोगके लिये) अपना रूप बनाते हैं। [Conveyances]

१०. किल्विषिकः—जो देव चाण्डालादिकी भांति हलके दरजेके काम करते हैं उन्हें किल्विषिक कहा जाता है [Servile grade] ॥ ४ ॥

व्यन्तर और ज्योतिषी देवोंमें इन्द्र आदि भेदोंकी विशेषता

त्रायस्त्रिंशलोकपालवर्ज्या व्यन्तरज्योतिष्काः ॥ ५ ॥

अर्थः—ऊपर जो दश भेद कहे हैं उनमेंसे त्रायस्त्रिंश और लोकपाल ये भेद व्यन्तर और ज्योतिषी देवोंमें नहीं होते अर्थात् उनमें दो भेदोंको छोड़कर बाकीके आठ भेद होते हैं ॥५॥

देवोंमें इन्द्रकी व्यवस्था

पूर्वयोर्द्वीन्द्राः ॥ ६ ॥

अर्थः—भवनवासी और व्यन्तरोंमें प्रत्येक भेदमें दो-दो इन्द्र होते हैं।

टीका

भवनवासियोंके दश भेद हैं इसलिये उनमें-बीस इन्द्र होते हैं। व्यन्तरोंके आठ भेद हैं इसलिये उनमें सोलह इन्द्र होते हैं; और दोनोंमें इतने ही (इन्द्र जितने ही) प्रतीन्द्र होते हैं।

२. जो देव युवराज के समान अथवा इन्द्र के समान होते हैं अर्थात् जो देव इन्द्र जैसा कार्य करते हैं उन्हें प्रतीन्द्र कहते हैं। [त्रिलोकप्रज्ञप्ति, पृष्ठ ११८-११९]

३. श्री तीर्थंकरभगवान सो इन्द्रोंसे पूज्य होते हैं, वे सो इन्द्र निम्नलिखित हैं :—

४० भवनवासियोंके-बीस इन्द्र और बीस प्रतीन्द्र।

३२ व्यन्तरोंके-सोलह इन्द्र और सोलह प्रतीन्द्र।

२४ सोलह स्वर्गोंमेंसे-प्रथमके चार देवलोकोंके चार, मध्यमके आठ देवलोकोंके चार और अन्तके चार देवलोकोंके चार-इसप्रकार बारह इन्द्र और बारह प्रतीन्द्र।

२ ज्योतिषी देवोंके—चन्द्रमा इन्द्र और सूर्य प्रतीन्द्र।

१ मनुष्योंके—चक्रवर्ती इन्द्र।

१ तिर्यंचोंके-अष्टापद-सिंह इन्द्र।

१००

देवोंका काम-सेवन सम्बन्धी वर्णन

कायप्रवीचारा आ ऐशानात् ॥ ७ ॥

अर्थः—ऐशान स्वर्ग तकके देव (अर्थात् भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी और पहिले तथा दूसरे स्वर्गके देव) मनुष्योंकी भांति शरीरसे काम-सेवन करते हैं।

टीका

देवोंमें सन्ततिकी उत्पत्ति गर्भ द्वारा नहीं होती, तथा वीर्य और दूसरी धातुओंसे बना हुआ शरीर उनके नहीं होता, उनका शरीर वैक्रियिक होता है। केवल मनकी काम-भोगरूप वासना तृप्त करनेके लिये वे यह उपाय करते हैं। उसका वेग उत्तरोत्तर मंद होता है इसलिए थोड़े ही साधनोंसे वह वेग मिट जाता है। नीचेके देवोंकी वासना तीव्र होती है इसलिए वीर्यस्खलनका सम्बन्ध नहीं होने पर भी शरीर-सम्बन्ध हुए बिना उनकी वासना दूर नहीं होती। उनसे भी आगेके देवोंकी वासना कुछ मंद होती है इसलिए वे आलिंगनमात्रसे ही संतोष मानते हैं। आगे-आगेके देवोंकी वासना उनसे भी मंद होती है इसलिए रूप देखनेसे तथा शब्द सुननेसे ही उनके मनकी वासना शांत हो जाती है। उनसे भी आगेके देवोंके चिंतवनमात्रसे कामशांति हो जाती है। कामेच्छा सोलहवें स्वर्गतक है, उसके आगेके देवोंके कामेच्छा उत्पन्न ही नहीं होती ॥ ७ ॥

शेषाः स्पर्शरूपशब्दमनः प्रवीचाराः ॥ ८ ॥

अर्थः—शेष स्वर्गोंके देव, देवियोंके स्पर्शसे, रूप देखनेसे, शब्द सुननेसे और मनके विचारोंसे काम-सेवन करते हैं।

टीका

तीसरे और चौथे स्वर्गके देव, देवियोंके स्पर्शसे, पांचवेंसे आठवें स्वर्ग तकके देव, देवियोंके रूप देखनेसे, नववेंसे बारहवें स्वर्ग तकके देव, देवियोंके शब्द सुननेसे, और तेरहवेंसे सोलहवें स्वर्ग तकके देव, देवियों सम्बन्धी मनके विचारमात्रसे तृप्त हो जाते हैं-उनकी कामेच्छा शांत हो जाती है।

परेऽप्रवीचाराः ॥ ९ ॥

अर्थः—सोलहवें स्वर्गसे आगेके देव काम-सेवन रहित हैं। (उनके कामेच्छा उत्पन्न ही नहीं होती तो फिर उसके प्रतिकारसे क्या प्रयोजन?)

टीका

१. इस सूत्रमे 'परे' शब्दसे कल्पातीत (सोलहवें स्वर्गसे ऊपरके) सब देवोंका संग्रह किया गया है; इसलिये यह समझना चाहिए कि अच्युत (सोलहवें) स्वर्गके ऊपर नव ग्रैवेयिकके ३०९ विमान, ९ अनुदिश विमान और पांच अनुत्तर विमानोंमें बसनेवाले अहमिन्द्र हैं, उनके काम-सेवनके भाव नहीं हैं, वहां देवांगनायें नहीं हैं। (सोलहवें स्वर्गसे ऊपरके देवोंमे भेद नहीं है, सभी समान होते हैं इसलिए उन्हें अहमिन्द्र कहते हैं।)

२. नव ग्रैवेयिकके देवोंमेंसे कुछ सम्यग्दृष्टि होते हैं और कुछ मिथ्यादृष्टि होते हैं। यथाजात द्रव्यलिंगी जैन मुनिके रूपमें अतिचार रहित पाच महाव्रत इत्यादि पालन किये हों ऐसे मिथ्यादृष्टि भी नववें ग्रैवेयिक तक उत्पन्न होते हैं; मिथ्यादृष्टियोंके ऐसा उत्कृष्ट शुभभाव है। ऐसा शुभभाव मिथ्यादृष्टि जीवने अनंतवार किया (देखो अध्याय २ सूत्र १० की टीका पैरा १०) फिर भी वह जीव धर्मके अंशको या प्रारम्भको प्राप्त नहीं कर सका। आत्मप्रतीति हुए बिना समस्त व्रत और तप बालव्रत और बालतप कहलाते हैं। जीव ऐसे बालव्रत और बालतप चाहे जितने बार (अनंतानंत बार) करे तो भी उससे सम्यग्दर्शन अथवा धर्मका प्रारम्भ नहीं हो सकता, इसलिये जीवको पहिले आत्मभानके द्वारा सम्यग्दर्शन प्राप्त करनेकी विशेष आवश्यकता है। मिथ्यादृष्टिके उत्कृष्ट शुभभावके द्वारा अंशमात्र धर्म नहीं हो सकता। शुभभाव विकार है और सम्यग्दर्शन आत्माकी अविकारी अवस्था है। विकारसे या विकारभावके बढ़नेसे अविकारी अवस्था नहीं प्रगट होती परन्तु विकारके दूर होनेसे ही प्रगट होती है। शुभभावसे धर्म कभी नहीं होता ऐसी मान्यता पहिले करना चाहिये; इसप्रकार जीव पहिले मान्यताकी भूलको दूर करता है और पीछे क्रम-क्रमसे चारित्रके दोष दूर करके संपूर्ण शुद्धताको प्राप्त करता है।

३. नव ग्रैवेयिकके सम्यग्दृष्टि देव और उससे ऊपरके देव (सबके सब सम्यग्दृष्टि ही होते हैं) उनके चौथा गुणस्थान ही होता है। उनके देवांगनाओंका संयोग नहीं होता फिर भी पांचवें गुणस्थानवर्ती स्त्रीवाले मनुष्य और तिर्यंचोंकी अपेक्षा उनके अधिक कषाय होती है ऐसा समझना चाहिए।

४. किसी जीवके कषायकी बाह्य प्रवृत्ति तो बहुत होती है और अन्तरंग कषायशक्ति कम होती है; (१) तथा किसीके अन्तरंग कषायशक्ति तो बहुत हो और बाह्य प्रवृत्ति थोड़ी हो उसे तीव्र कषायवान् कहा जाता है। (२) दृष्टांत:—

(१) पहिले भागका दृष्टांत इसप्रकार है—व्यन्तरादि देव कषायसे नगरनाशादि कार्य करते हैं तो भी उनके कषायशक्ति थोड़ी होनेसे पीतलेश्या कही गई है। एकेन्द्रियादि जीव (बाह्यमें) कषाय-कार्य करते हुए मालूम नहीं होते फिर भी उनके तीव्र कषायशक्ति होनेसे कृष्णादि लेश्यायें कही गई हैं।

(२) दूसरे भागका दृष्टांत यह सूत्र ही है, जो यह बतलाता है कि सर्वार्थसिद्धिके देव कषायरूप अल्प प्रवृत्त होते हैं। वे अब्रह्मचर्यका सेवन नहीं करते, उनके देवांगनायें नहीं होती, फिर भी पंचम गुणस्थानवर्ती (देशसंयमी) की अपेक्षा उनके कषायशक्ति अधिक होनेसे वे चतुर्थ गुणस्थानवर्ती असंयमी हैं। पंचम गुणस्थानवर्ती जीव व्यापार और अब्रह्मचर्यादि कषायकार्यरूप बहुत प्रवृत्ति करते हैं फिर भी उनको मंदकषायशक्ति होनेसे देशसंयमी कहा है। और यह सूत्र यह भी बतलाता है कि नव ग्रैवेयिकके मिथ्यादृष्टि जीवोंके बाह्यब्रह्मचर्य है फिर भी वे पहिले गुणस्थानमें हैं, और पंचम गुणस्थानवर्ती जीव विवाहादि करते हैं तथा अब्रह्मचर्यादि कार्यरूप प्रवृत्ति करते हैं फिर भी वे देशसंयमी सम्यग्दृष्टि हैं।

५. इस सूत्रका सिद्धांत

बाह्य संयोगोंके सद्भाव या असद्भावका और बाह्य-प्रवृत्ति या निवृत्तिको देख करके बाह्य स्वांगके अनुसार जीवकी अपवित्रता या पवित्रताका निर्णय करना न्यायविरुद्ध है, और अन्तरंग मान्यता तथा कषायशक्ति परसे ही जीवकी पवित्रता या अपवित्रताका निर्णय करना न्यायपूर्ण है। मिथ्यादृष्टि जीव बहिरात्मा (बाहरसे आत्माका नाप करनेवाला) होता है इसलिये वह यथार्थ निर्णय नहीं कर सकता, क्योंकि उसका लक्ष बाह्य संयोगोंके सद्भाव या असद्भाव पर तथा बाह्य-प्रवृत्ति या निवृत्ति पर होता है इसलिये उसका निर्णय बाह्य स्थितिके आधारसे होता है। सम्यग्दृष्टि जीव अन्तरात्मा (अन्तर्दृष्टिसे आत्माका नाप करनेवाला) होता है, इसलिये उसका निर्णय अन्तरंग स्थिति पर अवलंबित होता है, इसलिये वह अन्तरंग मान्यता और कषायशक्ति कैसी है इसपरसे निर्णय करता है इसलिये उसका निर्णय यथार्थ होता है ॥ ९ ॥

भवनवासी देवोंके दश भेद

भवनवासिनोऽसुरनागविद्युत्सुपर्णाग्निवातस्तनितोदधि-
द्वीपदिक्कुमाराः ॥ १० ॥

अर्थः—भवनवासी देवोंके दश भेद हैं—१–असुरकुमार, २–नागकुमार, ३–विद्युत्कुमार, ४–सुपर्णकुमार, ५–अग्निकुमार, ६–वातकुमार, ७–स्तनितकुमार, ८–उदधिकुमार

९—द्वीपकुमार और १०—दिक्कुमार।

टीका

१ २० वर्षके नीचेके युवकका जैसा जीवन और आदत होती है वैसा ही जीवन और आदत इन देवोंके भी होती है, इसलिए उन्हें कुमार कहते हैं।

२. उनके रहनेका स्थान निम्नप्रकार है—

प्रथम पृथ्वी-रत्नप्रभामें तीन भूमियाँ (Stages) हैं, उसमें पहली भूमिको 'खरभाग' कहते हैं, उसमें असुरकुमारको छोड़कर नौप्रकारके भवनवासी देव रहते हैं।

जिस भूमिमें असुरकुमार रहते हैं उस भागको 'पंकभाग' कहते हैं, उसमें राक्षस भी रहते हैं। 'पंकभाग' रत्नप्रभा पृथ्वीका दूसरा भाग है।

रत्नप्रभाका तीसरा (सबसे नीचा) भाग 'अब्बहुल' कहलाता है, वह पहिला नरक है।

३ भवनवासी देवोंकी यह असुरकुमारादि दश प्रकारकी संज्ञा उन-उन प्रकारके नामकर्मके उदयसे होती है ऐसा जानना चाहिये। 'जो देव युद्ध करें, प्रहार करें वे असुर हैं, ऐसा कहना ठीक नहीं है अर्थात् वह देवोंका अवर्णवाद है और उससे मिथ्यात्वका बन्ध होता है।

४. दश जातिके भवनवासी देवोंके सात करोड़ बहत्तर लाख भवन हैं; वे भवन महासुगन्धित, अत्यन्त रमणीक, और अत्यन्त उद्योतरूप हैं; और उतनी ही संख्या (७,७२,००,०००) जिन-चैत्यालयोंकी है। दश प्रकारके चैत्यवृक्ष जिन-प्रतिमासे विराजित होते हैं।

५. भवनवासी देवोंका आहार और श्वासका काल

१—असुरकुमार देवोंके एक हजार वर्ष बाद आहारकी इच्छा उत्पन्न होती है और मनमें उसका विचार आते ही कंठसे अमृत झरता है, वेदना व्याप्त नहीं होती, पन्द्रह दिन बीत जाने पर श्वास लेते हैं।

२-४ नागकुमार, सुपर्णकुमार और द्वीपकुमार—इन तीन प्रकारके देवोंके साढ़े बारह दिन बाद आहारकी इच्छा होती है और साढ़े बारह मुहूर्त बीत जाने पर श्वास लेते हैं।

५-७ उदधिकुमार, विद्युतकुमार और स्तनितकुमार—इन तीन प्रकारके देवोंके बारह दिन बाद आहारकी इच्छा होती है और बारह मुहूर्त बाद श्वास लेते हैं।

८-१० दिक्कुमार, अग्निकुमार और वातकुमार इन तीन प्रकारके देवोंके साढ़े सात दिन बाद आहारकी इच्छा होती है, साढ़े सात मुहूर्त बाद श्वास लेते हैं।

देवोंके कवलाहार नहीं होता, उनके कंठमेंसे अमृत झरता है और उनके वेदना नहीं व्यापती।

इस अध्यायके अन्तमें देवोंकी व्यवस्था बतानेवाला कोष्टक है उससे दूसरी बातें जान लेना चाहिये ॥ १० ॥

व्यन्तर देवोंके आठ भेद

व्यन्तराः किन्नरकिंपुरुषमहोरगगन्धर्वयक्षराक्षसभूतपिशाचाः ॥ ११ ॥

अर्थ—व्यन्तर देवोंके आठ भेद हैं—१-किन्नर, २-किंपुरुष, ३-महोरग, ४-गन्धर्व, ५-यक्ष, ६-राक्षस, ७-भूत और ८-पिशाच।

टीका

१ कुछ व्यन्तरदेव जम्बूद्वीप तथा दूसरे असंख्यात द्वीप-समुद्रोंमें रहते हैं। राक्षस रत्नप्रभा पृथ्वीके 'पंकभागमें' रहते हैं और राक्षसोंको छोड़कर दूसरे सात प्रकारके व्यन्तरदेव 'खरभागमें' रहते हैं।

२ जुदी-जुदी दिशाओंमें इन देवोंका निवास है इसलिए उन्हें व्यन्तर कहते हैं। उपरोक्त आठ संज्ञायें जुदे-जुदे नामकर्मके उदयसे होती हैं। उन संज्ञाओंका कुछ लोग व्युत्पत्तिके अनुसार अर्थ करते हैं किन्तु ऐसा अर्थ गलत है अर्थात् ऐसा कहनेसे देवोंका अवर्णवाद होता है और मिथ्यात्वके बंधका कारण है।

३ पवित्र वैक्रियिक शरीरके धारी देव कभी भी मनुष्योंके अपवित्र औदारिक शरीरके साथ कामसेवन करते ही नहीं, देवोंके मांस-भक्षण कभी होता ही नहीं। देवोंको कंठसे झरनेवाला अमृतका आहार होता है, किन्तु कवलाहार नहीं होता।

४ व्यन्तर देवोंके स्थानमें जिन-प्रतिमासहित आठ प्रकारके चैत्यवृक्ष होते हैं और वे मानस्तम्भादिक सहित होते हैं।

५ व्यन्तर देवोंका आवास-द्वीप, पर्वत, समुद्र, देश, ग्राम, नगर, तिराहा, चौराहा, घर, आंगन, रास्ता, गली, पानीका घाट, बाग, वन, देवकुल इत्यादि असंख्यात स्थान हैं ॥ ११ ॥

ज्योतिषी देवोंके पांच भेद

ज्योतिष्काः सूर्याचन्द्रमसौ ग्रहनक्षत्रप्रकीर्णकतारकाश्च ॥ १२ ॥

अर्थः—ज्योतिषी देवोंके पांच भेद हैं—१-सूर्य, २-चन्द्रमा, ३-ग्रह, ४-नक्षत्र और ५-प्रकीर्णक तारे।

टीका

ज्योतिषी देवोंका निवास मध्यलोकमें सम धरातलसे ७९० योजनकी ऊँचाईसे लेकर ९०० योजनकी ऊँचाई तक आकाशमें है। सबसे नीचे तारे हैं, उनसे १० योजन ऊपर सूर्य हैं; सूर्यसे ८० योजन ऊपर चन्द्रमा हैं; चन्द्रमासे चार योजन ऊपर २७ नक्षत्र हैं; नक्षत्रोंसे ४ योजन ऊपर बुधका ग्रह, उससे ३ योजन ऊपर शुक्र, उससे ३ योजन ऊपर बृहस्पति, उससे ३ योजन ऊपर मंगल, और उससे ३ योजन ऊपर शनि है; इसप्रकार पृथ्वीसे ऊपर ९०० योजन तक ज्योतिषी मंडल है। उनका आवास मध्यलोकमें है। [यहाँ २००० कोसका योजन जानना चाहिये] ॥ १२ ॥

ज्योतिषी देवोंका विशेष वर्णन

मेरुप्रदक्षिणा नित्यगतयो नृलोके ॥ १३ ॥

अर्थः—ऊपर कहे हुए ज्योतिषी देव मेरुपर्वतकी प्रदक्षिणा देते हुए मनुष्यलोकमें हमेशा गमन करते हैं।

(अढ़ाई द्वीप और दो समुद्रोंको मनुष्यलोक कहते हैं) ॥ १३ ॥

उनसे होनेवाला कालविभाग

तत्कृतः कालविभागः ॥ १४ ॥

अर्थः—घड़ी, घंटा, दिवस, रात, इत्यादि व्यवहारकालका विभाग है, वह गतिशील ज्योतिषी देवोंके द्वारा किया जाता है।

टीका

काल दो प्रकारका है—निश्चयकाल और व्यवहारकाल। निश्चयकालका स्वरूप पांचवें अध्यायके २२वें सूत्रमें किया जायगा। यह व्यवहारकाल निश्चयकालका बतानेवाला है ॥ १४ ॥

बहिरवस्थिताः ॥ १५ ॥

अर्थः—मनुष्यलोक (अढ़ाई द्वीप) के बाहरके ज्योतिषी देव स्थिर हैं।

टीका

अढ़ाईद्वीपके बाहर असंख्यात द्वीप-समुद्र हैं, उनके ऊपर (सबसे अन्तिम स्वयंभूरमण समुद्र तक) ज्योतिषीदेव स्थिर हैं ॥ १५ ॥

इसप्रकार भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषी-इन तीन प्रकारके देवोंका वर्णन पूरा हुआ, अब चौथे प्रकारके-वैमानिक देवोंका स्वरूप कहते हैं।

वैमानिक देवोंका वर्णन

वैमानिकाः ॥ १६ ॥

अर्थः—अब वैमानिक देवोंका वर्णन प्रारम्भ करते हैं।

टीका

विमानः—जिन स्थानोंमें रहनेवाले देव अपनेको विशेष पुण्यात्मा समझें उन स्थानोंको विमान कहते हैं।

वैमानिकः—उन विमानोंमें पैदा होनेवाले देव वैमानिक कहे जाते हैं।

वहाँ सब चौरासी लाख सत्तानवे हजार तेईस विमान हैं। उनमें उत्तम मन्दिर, कल्पवृक्ष, वन-बाग, बावड़ी नगर इत्यादि अनेक प्रकारकी रचना होती है। उनके मध्यमें जो विमान हैं वे इन्द्रक विमान कहे जाते हैं, उनकी पूर्वादि चारों दिशाओंमें पंक्तिरूप (मोती लाइनमें) जो विमान हैं वह श्रेणिबद्ध विमान कहते हैं। चारों दिशाओंके बीच अन्तरालमें-विदिशाओंमें जहाँ-तहाँ बिखरे हुए फूलोंकी तरह जो विमान हैं उन्हें प्रकीर्णक विमान कहते हैं। इसप्रकार इन्द्रक, श्रेणिबद्ध और प्रकीर्णक ये तीन प्रकारके विमान हैं ॥ १६ ॥

वैमानिक देवोंके भेद—

कल्पोपपन्नाः कल्पातीताश्च ॥ १७ ॥

अर्थः—वैमानिक देवोंके दो भेद हैं—१ कल्पोपपन्न और २ कल्पातीत।

टीका

जिनमें इन्द्रादि दस प्रकारके भेदोंकी कल्पना होती है ऐसे सोलह स्वर्गोंको कल्प कहते

हैं, और उन कल्पोंमें जो देव पैदा होते हैं उन्हें कल्पोपपन्न कहते हैं; तथा सोलहवें स्वर्गसे ऊपर जो देव उत्पन्न होते हैं उन्हें कल्पातीत कहते हैं ॥ १७ ॥

कल्पोंकी स्थितिका क्रम

उपर्युपरि ॥ १८ ॥

अर्थः—सोलह स्वर्गके आठ युगल, नव ग्रैवेयक, नव अनुदिश और पांच अनुत्तर, ये सब विमान क्रमसे ऊपर-ऊपर हैं ॥ १८ ॥

वैमानिक देवोंके रहनेका स्थान

सौधर्मैशानसानत्कुमारमाहेन्द्रब्रह्मब्रह्मोत्तरलान्तवकापिष्ठशुक्रमहाशुक्र-सतारसहस्रारेष्वानतप्राणतयोरारणाच्युतयोर्नवसुग्रैवेयकेषु विजयवैजयन्तजयन्तापराजितेषु सर्वार्थसिद्धौ च ॥१९॥

अर्थः—सौधर्म-ऐशान, सनत्कुमार-माहेन्द्र, ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर, लांतव--कापिष्ट, शुक्र--महाशुक्र, सतार--सहस्रार इन छह युगलोंके बारह स्वर्गोंमें, आनत--प्राणत इन दो स्वर्गोंमें, आरण--अच्युत इन दो स्वर्गोंमें, नव ग्रैवेयक विमानोंमें, नव अनुदिश विमानोंमें और विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित तथा सर्वार्थसिद्धि इन पांच अनुत्तर विमानोंमें वैमानिक देव रहते हैं।

टीका

१. नव ग्रैवेयकोंके नाम—(१) सुदर्शन, (२) अमोघ, (३) सुप्रबुद्ध, (४) यशोधर, (५) सुभद्र, (६) विशाल, (७) सुमन, (८) सौमन और (९) प्रीतिंकर।

२. नव अनुदिशोंके नाम—(१) आदित्य, (२) अर्चि, (३) अर्चिमाली, (४) वैरोचन, (५) प्रभास, (६) अर्चिप्रभ, (७) अर्चिमध्य (८) अर्चिरावर्त और (९) अर्चिविशिष्ठ।

सूत्रमें अनुदिश नाम नही है परन्तु 'नवसु' पदसे उसका ग्रहण हो जाता है। नव और ग्रैवेयक इन दोनोंमें सातवी विभक्ति लगाई गई है, वह बताती है कि ग्रैवेयकसे नव ये जुदे स्वर्ग हैं।

३. सौधर्मादिक एक एक विमानमें एक एक जिनमन्दिर अनेक विभूति सहित होते हैं। और इन्द्रके नगरके बाहर अशोकवन, आम्रवन इत्यादि होते हैं। उन वनोंमें एक हजार योजन ऊँचा और पाचसौ योजन चौड़ा एक चैत्यवृक्ष है। उसकी चारों दिशामें पल्यंकासन जिनेन्द्रदेवकी प्रतिमा है।

४ इन्द्रके इस स्थानमण्डपके अग्रभागमें मानस्तंभ होता है। उस मानस्तंभमें तीर्थंकरदेव जब गृहस्थदशामें होते हैं, उनके पहिनने योग्य आभरणोंका रत्नमयी पिटारा होता है। उसमेंसे इन्द्र आभरण निकालकर तीर्थंकर देवको पहुंचाता है। सौधर्मके मानस्तंभके रत्नमयी पिटारेमें भरतक्षेत्रके तीर्थंकरोंके आभरण होते हैं। ऐशान स्वर्गके मानस्तंभके पिटारेमें ऐरावतक्षेत्रके तीर्थंकरोंके आभरण होते हैं। सानत्कुमारके मानस्तम्भके पिटारेमें पूर्व विदेहके तीर्थंकरोंके आभरण होते हैं। माहेन्द्रके मानस्तम्भके पिटारेमें पश्चिम विदेहके तीर्थंकरोंके आभरण होते हैं। इसलिये ये मानस्तम्भ देवोंसे पूजनीय हैं। इस मानस्तम्भके पास ही आठ योजन चौड़ा आठ योजन लम्बा तथा ऊंचा उपपाद गृह है। उस उपपादगृहमें एक रत्नमयी शय्या होती है वह इन्द्रका जन्मस्थान है। उस उपपादगृहके पासमें ही अनेक शिखरवाले जिनमन्दिर हैं। उनका विशेष वर्णन त्रिलोकसारादि ग्रन्थोंमेंसे जानना चाहिये ॥ १९ ॥

वैमानिक देवोंमें उत्तरोत्तर अधिकता

स्थितिप्रभावसुखद्युतिलेश्याविशुद्धीन्द्रियावधिविषयतोऽधिकाः ॥२०॥

अर्थ - आयु, प्रभाव, सुख, द्युति, लेश्याकी विशुद्धि, इन्द्रियोंका विषय और अवधिज्ञानका विषय ये सब ऊपर-ऊपरके विमानोंमें (वैमानिक देवोंके) अधिक हैं।

टीका

स्थितिः—आयुकर्मके उदयसे जो भवमें रहना होता है उसे स्थिति कहते हैं।

प्रभावः—परका उपकार तथा निग्रह करनेवाली शक्ति प्रभाव है।

सुखः—साताबेदनीयके उदयसे इन्द्रियोंके इष्ट विषयोंकी अनुकूलता सो सुख है। यहां पर 'सुख' का अर्थ बाह्य संयोगोंकी अनुकूलता किया है, निश्चयसुख (आत्मिकसुख) यहां नहीं समझना चाहिये। निश्चयसुखका प्रारम्भ सम्यग्दर्शनसे होता है, यहां सम्यग्दृष्टि या मिथ्यादृष्टिके भेदकी अपेक्षासे कथन नहीं है किन्तु सामान्य कथन है ऐसा समझना चाहिये।

द्युतिः—शरीरकी तथा वस्त्र-आभूषण आदिकी दीप्ति सो द्युति है।

लेश्याविशुद्धिः—लेश्याकी उज्ज्वलता सो विशुद्धि है, यहां भावलेश्या समझना चाहिये।

इन्द्रियविषयः—इन्द्रिय द्वारा (मतिज्ञानसे) जानने योग्य पदार्थोंको इन्द्रियविषय कहते हैं।

अवधिविषयः—अवधिज्ञानसे जानने योग्य पदार्थ सो अवधिविषय है ॥ २० ॥

वैमानिक देवोंमें उत्तरोत्तर हीनता

गतिशरीरपरिग्रहाभिमानतो हीनाः ॥ २१ ॥

अर्थः—गति, शरीर, परिग्रह और अभिमानकी अपेक्षासे ऊपर-ऊपरके वैमानिक देव हीन-हीन होते हैं।

टीका

१. गतिः—यहां 'गति' का अर्थ गमन है; एक क्षेत्रको छोड़कर अन्य क्षेत्रमें जाना सो गमन (गति) है। सोलहवें स्वर्गसे आगेके देव अपने विमानोंको छोड़कर दूसरी जगह नहीं जाते।

शरीरः—शरीरका विस्तार सो शरीर है।

परिग्रहः—लोभकषायके कारण ममतापरिणाम सो परिग्रह है।

अभिमानः—मानकषायके कारण अहंकार सो अभिमान है।

२. प्रश्नः—ऊपर-ऊपरके देवोंके विक्रिया आदिकी अधिकताके कारण गमन इत्यादि विशेष रूपसे होना चाहिये, फिर भी उनकी हीनता कैसे कही?

उत्तरः—गमनकी शक्ति तो ऊपर-ऊपरके देवोंमें अधिक है किन्तु अन्य क्षेत्रमें गमन करनेके परिणाम अधिक नहीं हैं इसलिये गमनहीन हैं ऐसा कहा है। सौधर्म-ऐशानके देव क्रीड़ादिकके निमित्तसे महान् विषयानुरागसे बारम्बार अनेक क्षेत्रोंमें गमन करते हैं। ऊपरके विषयकी उत्कट् (तीव्र) वांछाका अभाव है इसलिये उनकी गति हीन है।

३. शरीरका प्रमाण चालू अध्यायके अन्तिम कोष्टकमें बताया है। वहाँसे जानना चाहिये।

४. विमान-परिवारादिकरूप परिग्रह ऊपर-ऊपरके देवोंमें थोड़ा-थोड़ा होता है। कषायकी मन्दतासे अवधिज्ञानादिमें विशुद्धता बढ़ती है और अभिमान कम होता है। जिनके मन्द कषाय होती है वे ऊपर-ऊपर उत्पन्न होते हैं।

५. शुभ परिणामके कारण कौन जीव किस स्वर्गमें उत्पन्न होता है उसका स्पष्टीकरण

कौन उपजे ?	कहाँ उपजे ?
(१) असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त तिर्यंन्च—	भवनवासी तथा व्यन्तरमें

(२) कर्मभूमिके संज्ञी पर्याप्त तिर्यंच मिथ्यादृष्टि या सासादन गुणस्थानवाले,	बारहवें स्वर्ग पर्यन्त
(३) ऊपरके तिर्यंच-सम्यग्दृष्टि (स्वयंप्रभाचलसे बाहरके भागमें रहनेवाले)	सौधर्मादिसे अच्युत स्वर्ग पर्यंत
(४) भोगभूमिके मनुष्य, तिर्यंच-मिथ्यादृष्टि या सासादन गुणस्थानवाले	ज्योतिषियोंमें
(५) तापसी	ज्योतिषीयोंमें
(६) भोगभूमिके सम्यग्दृष्टि, मनुष्य या तिर्यंच	सौधर्म और ऐशानमें
(७) कर्मभूमिके मनुष्य-मिथ्यादृष्टि अथवा सासादन	भवनवासीसे उपरिम ग्रैवेयक तक
(८) कर्मभूमिके मनुष्य-जिनके द्रव्य (बाह्य) जिनलिंग और भाव मिथ्यात्व या सासादन होवे है ऐसे	ग्रैवेयक पर्यन्त
(९) जो अभव्यमिथ्यादृष्टि निर्ग्रन्थलिंग धारण करके महान् शुभभाव और तप सहित हों वे	उपरिम (नववें) ग्रैवेयकमें ।
(१०) परिव्राजक तापसियोंका उत्कृष्ट उपपाद	ब्रह्म (पंचम) स्वर्गपर्यन्त
(११) आजीवक (कांजीके अहारी) का उपपाद	बारहवें स्वर्ग पर्यन्त
(१२) सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रकी एकतावाले श्रावक	सौधर्मादिसे अच्युत तक (उससे नीचे या ऊपर नहीं)
(१३) भावलिंगी निर्ग्रन्थ साधु	सर्वार्थसिद्धि पर्यन्त
(१४) अढाईद्वीपके अणुव्रतधारी तिर्यंच	सौधर्मसे लेकर बारहवें स्वर्ग पर्यन्त ।
(१५) पाँच मेरु सम्बन्धी तीस भोगभूमिके मनुष्य-तिर्यंच मिथ्यादृष्टि	भवनत्रिकमें
(१६) मिथ्यादृष्टि	सौधर्म-ऐशानमें
(१७) छयानवे अंतर्द्वीप कुभोगभूमिके म्लेच्छ मनुष्य, मानुषोत्तर और स्वयंप्रभाचल पर्वतके बीचके असंख्यात द्वीपोंमें उत्पन्न हुए तिर्यंच ।	भवनत्रिकमें

नोट—एकेन्द्रिय, विकलत्रय, देव तथा नारकी ये देवोंमें उत्पन्न नहीं होते, क्योंकि उनके देवोंमें उत्पन्न होनेके योग्य शुभभाव होते ही नहीं।

६. देव पर्यायसे च्युत होकर कौनसी पर्याय धारण करता है उसकी विगत—

कहांसे आता है ?	कौनसी पर्याय धारण करे ?
(१) भवनत्रिक देव और सौधर्म-ऐशानसे	एकेन्द्रिय बादर पर्याप्त पृथ्वीकाय, अपकाय, प्रत्येकवनस्पति, मनुष्य तथा पंचेन्द्रिय तिर्यन्चमें उपजे (विकलत्रयमें नहीं जाता)।
(२) सनत्कुमारादिकसे	स्थावर नहीं होता।
(३) बारहवें स्वर्ग पर्यन्तसे	पचेन्द्रिय तिर्यंच तथा मनुष्य होता है।
(४) आनत-प्राणतादिकसे (बारहवे स्वर्गके ऊपरसे)	नियमसे मनुष्यमें ही होता है। तिर्यंचोंमें नहीं होता।
(५) सौधर्मसे प्रारम्भ करके नव ग्रैवेयक पर्यन्तके देवोंमेंसे कोई	त्रेसठ शलाका पुरुष भी हो सकते हैं।
(६) अनुदिश और अनुत्तरसे आये हुये	तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलभद्र इत्यादिमें उत्पन्न हो सकते हैं किन्तु अर्धचक्री नहीं हो सकते।
(७) भवनत्रिकसे	त्रेसठ शलाका पुरुषोंमें उत्पन्न नहीं होते।
(८) देव पर्यायसे (समुच्चयसे)	समस्त सूक्ष्मोंमें, तैजसकायोंमें, वातकायोंमें उत्पन्न नहीं होते। तथा विकलत्रयोंमें, असंज्ञियो या लब्धिअपर्याप्तकोंमें उत्पन्न नहीं होते और भोगभूमियोंमें, देवोंमें तथा नारकियोंमें भी उत्पन्न नहीं होते।

७. इस सूत्रका सिद्धान्त

(१) जब जीव मिथ्यादृष्टिके रूपमें उत्कृष्ट शुभभाव करता है तब नववें ग्रैवेयक तक जाता है, परन्तु वे शुभभाव सम्यग्दर्शनके या धर्मके कारण नहीं हैं; मिथ्यात्वके कारण

अनन्त संसारमें परिभ्रमण करता है इसलिये शुभभावको धर्म या धर्मका कारण नहीं मानना चाहिये ।

(२) मिथ्यादृष्टिको शुभभाव होते हैं तब उसके गृहीत-मिथ्यात्व छूट जाता है अर्थात् देव-गुरु-शास्त्रको रागमिश्रित व्यवहार श्रद्धा तो ठीक होती है, उसके बिना उत्कृष्ट शुभभाव हो ही नहीं सकते । नववें ग्रैवेयक जानेवाला मिथ्यादृष्टि जीव देव-गुरु-शास्त्रके व्यवहारसे (रागमिश्रित विचार से) सच्चा निर्णय करता है, किन्तु निश्चयसे अर्थात् रागसे पर हो सच्चा निर्णय नहीं करता है तथा उसके 'शुभ भावसे धर्म होता है' ऐसी सूक्ष्म मिथ्यामान्यता रह जाती है, इसलिये वह मिथ्यादृष्टि बना रहता है ।

(३) सच्चे देव-गुरु-शास्त्रकी व्यवहार श्रद्धाके बिना उच्च शुभभाव भी नहीं हो सकते, इसलिये जिन जीवोंको सच्चे देव-गुरु-शास्त्रका संयोग प्राप्त हो जाता है, फिर भी यदि वे उसका रागमिश्रित व्यावहारिक यथार्थ निर्णय नहीं करते तो गृहीतमिथ्यात्व बना रहता है, और जिसे कुगुरु-कुदेव-कुशास्त्रकी मान्यता होती है उसके भी गृहीतमिथ्यात्व होता ही है, और जहां गृहीतमिथ्यात्व होता है वहां अगृहीतमिथ्यात्व भी अवश्य होता है, इसलिए ऐसे जीवको सम्यग्दर्शनादि धर्म तो होता नहीं, प्रत्युत मिथ्यादृष्टिके होनेवाला उत्कृष्ट शुभभाव भी उसके नहीं होता। ऐसे जीवोंके जैनधर्मकी श्रद्धा व्यवहारसे भी नहीं मानी जा सकती ।

(४) इसी कारणसे अन्य धर्मकी मान्यतावालोंके सच्चे धर्मका प्रारम्भ अर्थात् सम्यग्दर्शन तो होता ही नहीं और मिथ्यादृष्टिके योग्य उत्कृष्ट शुभभाव भी वे नहीं कर सकते, वे अधिकसे अधिक बारहवें देवलोककी प्राप्तिके योग्य शुभभाव कर सकते हैं ।

(५) बहुतसे अभागी लोगोंकी यह मान्यता है कि 'देवगतिमें सुख है' किन्तु यह उनकी भूल है । बहुतसे देव तो मिथ्यात्वके कारण अतत्त्व-श्रद्धानयुक्त ही हैं । भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषी देवोंके अति मन्द कषाय नहीं होती, उपयोग भी बहुत चंचल होता है तथा कुछ शक्ति है इसलिये कौतूहल तथा विषयादि कार्योंमें ही लगे रहते हैं और इसलिये वे अपनी उस व्याकुलतासे दुःखी ही हैं। वहां माया-लोभ-कषायके कारण होनेसे वैसे कार्योंकी मुख्यता है । वहां विषयसामग्रीकी इच्छा करना, छल करना इत्यादि कार्य विशेष होते हैं किन्तु वैमानिक देवोंमें ऊपर-ऊपरके देवोंके वे कार्य अल्प होते हैं । वहां हास्य और रति कषायके कारण होनेसे उस कार्योंकी मुख्यता होती है । इसप्रकार देवोंको कषायभाव होता है और कषायभाव दुःख ही है । ऊपरके देवोंके उत्कृष्ट पुण्यका उदय है और कषाय अति

मन्द है, तथापि उनके भी इच्छाका अभाव नहीं है इसलिये वास्तवमें वे दुःखी ही हैं। जो देव सम्यग्दर्शनको प्राप्त हुए हैं वे ही जितने दरजेमें वीतरागभावरूप रहते हैं उतने दरजेमें सच्चे सुखी हैं। सम्यग्दर्शनके बिना कहीं भी सुखका अंश प्रारम्भ नहीं होता और इसीलिये ही इसी शास्त्रके पहिले ही सूत्रमें मोक्षका उपाय बतलाते हुए उसमें सम्यग्दर्शन पहिला बताया है। इसलिये जीवोंको प्रथम ही सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिका उपाय करना आवश्यक है।

(६) उत्कृष्ट देवत्वके योग्य सर्वोत्कृष्ट शुभभाव सम्यग्दृष्टिके ही होते हैं। अर्थात् शुभभावके स्वामित्वके निषेधकी भूमिकामें ही वैसे उत्कृष्ट शुभभाव होते हैं, मिथ्यादृष्टिके वैसे उच्च शुभभाव नहीं होते ॥ २१ ॥

वैमानिक देवोंमें लेश्याका वर्णन

पीतपद्मशुक्ललेश्या द्वित्रिशेषेषु ॥ २२ ॥

अर्थः—दो युगलोंमें पीत; तीन युगलोंमें पद्म और बाकीके सब विमानोंमें शुक्ल-लेश्या होती हैं।

टीका

१. पहिले और दूसरे स्वर्गमें पीतलेश्या तीसरे और चौथेमें पीत तथा पद्मलेश्या, पांचवेंसे आठवें तक पद्मलेश्या, नववेंसे बारहवें तक पद्म और शुक्ललेश्या और बाकीके सब वैमानिक देवोंके शुक्ललेश्या होती है, नव अनुदिश और पांच अनुत्तर इन चौदह विमानोंके देवोंके परमशुक्ललेश्या होती है। भवनत्रिक देवोंकी लेश्याका वर्णन इस अध्यायके दूसरे सूत्रमें आ गया है। यहां भावलेश्या समझना चाहिये।

२. **प्रश्नः**—सूत्रमें मिश्रलेश्याओंका वर्णन क्यों नहीं किया ?

उत्तरः—जो मुख्य लेश्याएँ हैं उन्हें सूत्रमें बतलाया है जो गौण लेश्या हैं उन्हें नहीं कहा है; गौण लेश्याओंका वर्णन उसीमें गर्भित है। इसलिये वे उसमें अविवक्षितरूपसे हैं। इस शास्त्रमें संक्षिप्त सूत्ररूपसे मुख्य वर्णन किया है, दूसरा उसमें गर्भित है। इसलिये यह गर्भित कथन परम्पराके अनुसार समझ लेना चाहिये ॥ २२ ॥

कल्पसंज्ञा कहां तक है ?

प्राग्ग्रैवेयकेभ्यः कल्पाः ॥ २३ ॥

अर्थः—ग्रैवेयकोंसे पहिलेके सोलह स्वर्गोंको कल्प कहते हैं। उनसे आगेके विमान कल्पातीत हैं।

टीका

सोलह स्वर्गोंके बाद नव ग्रैवेयक इत्यादिके देव एक समान वैभवके धारी होते हैं इसलिये उन्हें अहमिन्द्र कहते हैं, वहां इन्द्र इत्यादि भेद नहीं हैं, सभी समान हैं ॥ २३ ॥

लौकान्तिक देव

ब्रह्मलोकालया लौकान्तिकाः ॥ २४ ॥

अर्थः—*जिनका निवास स्थान पांचवें स्वर्ग (ब्रह्मलोक) है, उन्हें लौकान्तिक देव कहते हैं।*

टीका

ये देव ब्रह्मलोकके अन्तमें रहते हैं तथा एक भवावतारी (एकावतारी) हैं तथा लोकका अन्त (संसारका नाश) करनेवाले हैं इसलिये उन्हें लौकान्तिक कहते हैं। ये द्वादशांगके पाठी होते हैं, चौदह पूर्वके धारक होते हैं, ब्रह्मचारी रहते हैं और तीर्थंकर प्रभुके मात्र तप कल्याणकमें आते हैं। ये देवर्षि भी कहे जाते हैं ॥ २४ ॥

लौकान्तिक देवोंके नाम

सारस्वतादित्यवह्न्यरुणगर्दतोयतुषिताव्याबाधारिष्टाश्च ॥ २५ ॥

अर्थः—लौकान्तिक देवोंके आठ भेद हैं—१-सारस्वत, २-आदित्य, ३-वह्नि, ४-अरुण, ५-गर्दतोय, ६-तुषित, ७-अव्याबाध, और ८-अरिष्ट ये देव ब्रह्मलोककी ईशान इत्यादि आठ दिशाओंमें रहते हैं।

टीका

इन देवों के ये आठ मूल भेद हैं और इन आठोंके रहनेके स्थानके बीचके भागमें रहनेवाले देवोंके दूसरे सोलह भेद हैं, इसप्रकार कुल २४ भेद हैं, इन देवोंके स्थानके नाम उनके नामके अनुसार ही हैं। उनमें सभी समान हैं, उनमें कोई छोटा-बड़ा नहीं है सभी स्वतन्त्र हैं उनकी कुल संख्या ४०७८२० है। सूत्रमें आठ नाम बतलाकर अन्तमें 'च' शब्द दिया है उससे यह मालूम होता है कि इन आठके अतिरिक्त दूसरे भेद भी हैं ॥ २५ ॥

अनुदिश और अनुत्तरवासी देवोंके अवतारका नियम

विजयादिषु द्विचरमाः ॥ २६ ॥

अर्थः—विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और अनुदिश विमानोंके अहमिन्द्र द्विचरमा होते हैं अर्थात् मनुष्यके दो जन्म (भव) धारण करके अवश्य ही मोक्ष जाते हैं (ये सभी जीव सम्यग्दृष्टि ही होते हैं)।

टीका

१. सर्वार्थसिद्धिके देव उनके नामके अनुसार एकावतारी ही होते हैं। विजयादिकमें रहनेवाले जीव एक मनुष्यभव अथवा दो भव भी धारण करते हैं।

२. सर्वार्थसिद्धिके देव, दक्षिणके छह इन्द्र (सौधर्म, सानत्कुमार, ब्रह्म, शुक्र, आनत, आरण) सौधर्म के चारों लोकपाल, सौधर्म इन्द्रकी 'शचि' नामकी इन्द्राणी और लौकान्तिक देव-ये सभी एक मनुष्य जन्म धारण करके मोक्ष जाते हैं। [सर्वा० एटा, पृ० ८७-८८ का फुटनोट] ॥ २६ ॥

[तीसरे अध्यायमें नारकी और मनुष्य सम्बन्धी वर्णन किया था और इस चौथे अध्यायमें यहां तक देवोंका वर्णन किया। अब एक सूत्र द्वारा तिर्यन्चोंकी व्याख्या बतानेके बाद देवोंकी उत्कृष्ट तथा जघन्य आयु कितनी है यह बतावेंगे तथा नारकियोंकी जघन्य आयु कितनी है यह बतावेंगे। मनुष्य तथा तिर्यन्चोंकी आयुकी स्थितिका वर्णन तीसरे अध्यायके सूत्र ३८-३९ में कहा गया है।

इसप्रकार दूसरे अध्यायके दसवें सूत्रमें जीवोंके संसारी और मुक्त ऐसे जो दो भेद कहे थे उनमेसे संसारी जीवोंका वर्णन चौथे अध्याय तक पूरा हुआ। तत्पश्चात् पांचवें अध्यायमें अजीव तत्त्वका वर्णन करेंगे। छठवें तथा सातवें अध्यायमें आस्रव तथा आठवें अध्यायमें बन्ध तत्त्वका वर्णन करेंगे तथा नववें अध्यायमें संवर और निर्जरा तत्त्वका वर्णन करेंगे और मुक्त जीवोंका (मोक्षतत्त्वका) वर्णन दसवें अध्यायमें करके ग्रन्थ पूर्ण करेंगे।]

तिर्यन्च कौन हैं ?

औपपादिकमनुष्येभ्यः शेषास्तिर्यग्योनयः ॥ २७ ॥

अर्थः—उपपाद जन्मवाले (देव तथा नारकी) और मनुष्योंके अतिरिक्त बाकी बचे हुए तिर्यन्च योनिवाले ही हैं।

टीका

देव, नारकी और मनुष्योंके अतिरिक्त सभी जीव तिर्यन्च हैं, उनमेसे सूक्ष्म एकेन्द्रिय

जीव तो समस्त लोकमें व्याप्त हैं। लोकका एक भी प्रदेश सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीवोंसे रहित नहीं है। बादर एकेन्द्रिय जीवोंको पृथ्वी इत्यादिका आधार होता है।

विकलत्रय (दो तीन और चार इन्द्रिय) और सञ्ज्ञी-असञ्ज्ञी पंचेन्द्रिय जीव त्रसनालीमें कहीं कहीं होते हैं त्रसनालीके बाहर त्रसजीव नहीं होते। तिर्यंच जीव समस्त लोकमें होनेसे उनका-क्षेत्र विभाग नहीं है॥ २७॥

भवनवासी देवोंकी उत्कृष्ट आयुका वर्णन

स्थितिरसुरनागसुपर्णद्वीपशेषाणां सागरोपमत्रिपल्यो-
पमार्द्धहीनमिताः ॥ २८ ॥

अर्थः—भवनवासी देवोंमें असुरकुमार, नागकुमार, सुपर्णकुमार, द्वीपकुमार और बाकीके कुमारोंकी आयु क्रमसे एक सागर, तीन पल्य, अढ़ाई पल्य, दो पल्य, और डेढ़ पल्य है॥ २८॥

वैमानिक देवोंकी उत्कृष्ट आयु

सौधर्मैशानयोः सागरोपमे अधिके ॥ २९ ॥

अर्थः—सौधर्म और ईशान स्वर्गके देवोंकी आयु दो सागरसे कुछ अधिक है।

टीका

१ भवनवासी देवोंके बाद व्यन्तर और ज्योतिषी देवोंकी आयु बतानेका क्रम है तथापि वैमानिक देवोंकी आयु बतानेका कारण यह है कि ऐसा करनेसे बादके सूत्रोंमें लघुता (सरलता) आ सकती है।

२ 'सागरोपम' यह शब्द द्विवचनरूप है, उसका अर्थ 'दो सागर' होता है।

३ 'अधिके' यह शब्द घातायुष्क जीवोंकी अपेक्षासे है, उसका खुलासा यह है कि किसी सम्यग्दृष्टि मनुष्यने शुभ परिणामोंसे दस सागर प्रमाण ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर स्वर्गकी आयु बाँधली तत्पश्चात् उसने ही मनुष्य भवमें संक्लेश परिणामसे उस आयुकी स्थितिका घात किया और सौधर्म-ईशानमें उत्पन्न हुआ तो वह जीव घातायुष्क कहलाता है, सौधर्म ईशानके दूसरे देवोंकी अपेक्षा उसकी आधा सागरमें एक अन्तर्मुहूर्त कम आयु अधिक होती है। ऐसा घातायुष्कपना पूर्वमें मनुष्य तथा तिर्यंच भवमें होता है।

४. आयुका घात दो प्रकारका है—एक अपवर्तनघात और दूसरा कदलीघात। वध्यमान आयुका घटना सो अपवर्तनघात है। और भूज्यमान (भोगनेमें आनेवाली) आयुका घटना सो कदलीघात है। देवोंमें कदलीघात आयु नहीं होती।

५. घातायुष्क जीवका उत्पाद बारहवें देवलोक पर्यन्त ही होता है ॥ २९ ॥

सानत्कुमारमाहेंद्रयोः सप्त ॥ ३० ॥

अर्थः—सानत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्गके देवोंकी आयु सात सागरसे कुछ अधिक है।

नोटः—इस सूत्रमें 'अधिक' शब्दकी अनुवृत्ति पूर्व सूत्रमें आयी है ॥ ३० ॥

त्रिसप्तनवैकादशत्रयोदशपंचदशभिरधिकानि तु ॥ ३१ ॥

अर्थः—पूर्व सूत्रमे कहे हुए युगलोंकी आयु (सात सागर) से क्रमपूर्वक, तीन, सात, नव, ग्यारह, तेरह और पन्द्रह सागर अधिक आयु (उसके बादके स्वर्गोंमें) है।

१. ब्रह्म और ब्रह्मोत्तर स्वर्गमे दश सागरसे कुछ अधिक, लांतव और कापिष्ठ स्वर्गमें चोदह सागरसे कुछ अधिक, शुक्र और महाशुक्र स्वर्गमें सोलह सागरसे कुछ अधिक, सतार और सहस्रार स्वर्गमें अठारह सागरसे कुछ अधिक, आनत और प्राणत स्वर्गमें बीस सागर तथा आरण और अच्युत स्वर्गमें बावीस सागर उत्कृष्ट आयु है।

२. 'तु' शब्द होनेके कारण 'अधिक' शब्दका सम्बन्ध बारहवें स्वर्ग तक ही होता है क्योंकि घातायुष्क जीवोंकी उत्पत्ति वहा तक ही होती है ॥ ३१ ॥

कल्पोपपन्न देवोंकी आयु कह करके अब कल्पातीत देवोंकी आयु कहते हैं।

कल्पातीत देवोंकी आयु

आरणाच्युतादूर्ध्वमेकैकेन नवसु ग्रैवेयकेषु विजयादिषु सर्वार्थसिद्धौ च ॥ ३२ ॥

अर्थः—आरण और अच्युत स्वर्गसे ऊपरके नव ग्रैवेयकोंमें, नव अनुदिशोंमें, विजय इत्यादि विमानोंमें और सर्वार्थसिद्धि विमानोंमें देवोंकी आयु-एक एक सागर अधिक है।

टीका

१. पहिले ग्रैवेयकमें २३, दूसरेमें २४, तीसरेमें २५, चौथेमें २६, पाँचवेंमें २७, छट्वेंमें २८, सातवेंमे २९, आठवेमें ३०, नववेंमें ३१, नव अनुदिशोमे ३२, विजय आदिमें

३३ सागरकी उत्कृष्ट आयु है। सर्वार्थसिद्धिके सभी देवोंकी ३३ सागरकी ही स्थिति होती है इससे कम किसीकी नहीं होती।

२ मूल सूत्रमें 'अनुदिश' शब्द नहीं है किन्तु 'आदि' शब्दसे अनुदिशोंका भी ग्रहण हो जाता है ॥ ३२ ॥

स्वर्गोंकी जघन्य आयु -

अपरा पल्योपममधिकम् ॥ ३३ ॥

अर्थः— सौधर्म और ऐशान स्वर्गमें जघन्य आयु एक पल्यसे कुछ अधिक है।

टीका

सागर और पल्यका माप तीसरे अध्यायके छठवें सूत्रकी टीकामें दिया है। वहाँ अद्धापल्य लिखा है उसे ही पल्य समझना चाहिये ॥ ३३ ॥

परतः परतः पूर्वा पूर्वाऽनंतरा ॥ ३४ ॥

अर्थः—जो पहिले-पहिलेके युगलोंकी उत्कृष्ट आयु है वह पीछे-पीछेके युगलोंकी जघन्य आयु होती है।

टीका

सौधर्म और ऐशान स्वर्गकी उत्कृष्ट आयु दो सागरसे कुछ अधिक है, उतनी ही सानत्कुमार और माहेन्द्रकी जघन्य आयु है। इसी क्रमके अनुसार आगेके देवोंकी जघन्य आयु समझना चाहिये। सर्वार्थसिद्धिमें जघन्य आयु नहीं होती ॥ ३४ ॥

नारकियोंकी जघन्य आयु

नारकाणां च द्वितीयादिषु ॥ ३५ ॥

अर्थः—दूसरे इत्यादि नरकके नारकियोंकी जघन्य आयु भी देवोंकी जघन्य आयुके समान है-अर्थात् जो पहिले नरककी उत्कृष्ट आयु है वही दूसरे नरककी जघन्य आयु है। इसप्रकार आगेके नरकोंमें भी जघन्य आयु जानना चाहिये ॥ ३५ ॥

पहिले नरककी जघन्य आयु

दशवर्षसहस्राणि प्रथमायाम् ॥ ३६ ॥

अर्थः—पहिले नरकके नारकियोंकी जघन्य आयु दस हजार वर्षकी है। (नारकियोंकी उत्कृष्ट आयुका वर्णन तीसरे अध्यायके छठवें सूत्रमें किया है।) ॥ ३६ ॥

भवनवासी देवोंकी जघन्य आयु

भवनेषु च ॥ ३७ ॥

अर्थः—भवनवासी देवोंकी भी जघन्य आयु दस हजार वर्षकी है ॥ ३७ ॥

व्यन्तर देवोंकी जघन्य आयु

व्यन्तराणां च ॥ ३८ ॥

अर्थः—व्यन्तर देवोंकी भी जघन्य आयु दस हजार वर्षकी है ॥ ३८ ॥

व्यन्तर देवोंकी उत्कृष्ट आयु

परा पल्योपममधिकम् ॥ ३९ ॥

अर्थः—व्यन्तर देवोंकी उत्कृष्ट आयु एक पल्योपमसे कुछ अधिक है ॥ ३९ ॥

ज्योतिषी देवोंकी उत्कृष्ट आयु

ज्योतिष्काणां च ॥ ४० ॥

अर्थः—ज्योतिषी देवोंकी भी उत्कृष्ट आयु एक पल्योपमसे कुछ अधिक है ॥ ४० ॥

ज्योतिषी देवोंकी आयु

तदष्टभागोऽपरा ॥ ४१ ॥

अर्थः—ज्योतिषी देवोंकी जघन्य आयु एक पल्योपमके आठवें भाग है ॥ ४१ ॥

लौकान्तिक देवोंकी आयु

लौकान्तिकानामष्टौ सागरोपमाणि सर्वेषाम् ॥ ४२ ॥

अर्थः—समस्त लौकान्तिक देवोंकी उत्कृष्ट तथा जघन्य आयु आठ सागरकी है ॥ ४२ ॥

उपसंहार

इस चौथे अध्याय तक सात तत्त्वोंमेंसे जीव तत्त्वका अधिकार पूर्ण हुआ।

पहिले अध्यायके पहिले सूत्रमें मोक्षमार्गकी व्याख्या करते हुए सम्यग्दर्शनसे ही धर्मका प्रारम्भ होता है ऐसा बतलाया है। दूसरे ही सूत्रमें सम्यग्दर्शनकी व्याख्या करते हुए बताया है कि–तत्त्वार्थश्रद्धा सो सम्यग्दर्शन है। तत्पश्चात् चौथे सूत्रमें तत्त्वोंके नाम बतलाये और तत्त्व सात हैं यह बताया। सात नाम होने पर भी बहुवचनका प्रयोग नहीं करते हुए 'तत्त्व' इसप्रकार एक वचनका प्रयोग किया है–उससे यह मालूम होता है कि इन सातों तत्त्वोंके राग मिश्रित विचारसे ज्ञान करनेके बाद भेदका आश्रय दूर करके जीवके त्रिकालिक अभेद ज्ञायकभावका आश्रय करनेसे सम्यग्दर्शन प्रगट होता है।

सूत्र ५ तथा ६में बताया है कि इन तत्त्वोंको निक्षेप, प्रमाण तथा नयोंके द्वारा जानना चाहिये, इसमें सप्तभंगीका समावेश हो जाता है। इन सबको संक्षेपमें सामान्यरूपसे कहना हो तो तत्त्वोंका स्वरूप जो अनेकान्तरूप है, और जिसका द्योतक स्याद्वाद है उनका स्वरूप भलीभांति समझ लेना चाहिये।

जीवका यथार्थज्ञान करनेके लिये स्याद्वाद पद्धतिसे अर्थात् निक्षेप, प्रमाण, नय और सप्तभंगीसे जीवका स्वरूप संक्षेपमें कहा जाता है, उसके पहिले सप्तभंगीके द्वारा जीवका स्वरूप कहा जाता है—सप्तभंगीका स्वरूप जीवमें निम्नप्रकारसे लगाया जाता है।

सप्तभंगी

[स्यात् अस्ति, स्यात् नास्ति]

'जीव है' यह कहते ही जीव जीवस्वरूपसे है और जीव जड़स्वरूपसे (अजीवस्वरूपसे) नहीं है–यदि यह समझा जा सके तो ही जीवको जाना कहलाता है, अर्थात् 'जीव है' यह कहते ही यह निश्चित् हुआ कि 'जीव जीवस्वरूपसे है' और उसमें यह गर्भित होगया कि 'जीव परस्वरूपसे नहीं है'। वस्तुके इस धर्मको 'स्यात् अस्ति' कहा जाता है उसमें 'स्यात्' का अर्थ किसी एक अपेक्षासे' है, और अस्तिका अर्थ 'है' होता है। इसप्रकार 'स्यात् अस्ति' का अर्थ 'अपेक्षासे है' यह होता है, उसमें 'स्यात् नास्ति' अर्थात 'परकी अपेक्षासे नहीं है' ऐसा गर्भितरूपसे आ जाता है, जो इसप्रकार जानता है वही जीवका 'स्यात् अस्ति' भंग अर्थात् 'जीव है' इसप्रकार यथार्थ जानता है, किन्तु यदि 'परकी अपेक्षासे नहीं है' ऐसा उसके लक्षमें गर्भितरूपसे न आये तो जीवका 'स्यात् अस्ति' स्वरूपको भी वह जीव भलीभांति नहीं

समझा है और इसलिये वह अन्य छह भंगोंको भी नहीं समझा है; इसलिये उसने जीवका यथार्थ स्वरूप नहीं समझा है। यह ध्यान रखना चाहिये कि–'हर समय बोलनेमें स्यात् शब्द बोलना ही चाहिये' ऐसी आवश्यकता नहीं है; किन्तु 'जीव है' ऐसा कहनेवालेके 'स्यात्' पदके भावका यथार्थ ख्याल होना चाहिये; यदि ऐसा न हो तो 'जीव है' इस पदका यथार्थ ज्ञान उस जीवके है ही नहीं।

'जीवका अस्तित्व पर स्वरूपसे नहीं है' यह पहले 'स्यात् अस्ति' भंगमें गर्भित था; वह दूसरे 'स्यात् नास्ति' भंगमें प्रगटरूपसे बतलाया जाता है। स्यात् नास्तिका अर्थ ऐसा है कि पर अपेक्षासे जीव नहीं है। 'स्यात्' अर्थात् किसी अपेक्षासे और 'नास्ति' अर्थात् न होना। जीवका पर अपेक्षासे नास्तित्व है अर्थात् जीव परके स्वरूपसे नहीं है इसलिये पर अपेक्षासे जीवका नास्तित्व है अर्थात् जीव पर एक दूसरेके प्रति अवस्तु है–ऐसा 'स्यात् नास्ति' भंगका अर्थ समझना चाहिये।

इससे यह समझना चाहिये कि–जैसे 'जीव' शब्द कहनेसे जीवका अस्तित्व (जीवकी सत्ता) भासित होता है वह जीवका स्वरूप है उसी प्रकार उसी समय जीवको छोड़कर दूसरेका निषेध भासित होता है वह भी जीवका स्वरूप है।

इससे सिद्ध हुआ कि स्वरूपसे जीवका स्वरूप है और पररूपसे न होना भी जीवका स्वरूप है। यह जीवमें स्यात् अस्ति तथा स्यात् नास्तिका स्वरूप बतलाया है।

इसीप्रकार परवस्तुओंका स्वरूप उन वस्तुरूपसे है और परवस्तुओंका स्वरूप जीवरूपसे नहीं है;—इसप्रकार सभी वस्तुओंमें अस्ति-नास्ति स्वरूप समझना चाहिये। शेष पाँच भंग इन दो भंगोंके ही विस्तार हैं।

"आप्तमीमांसाकी १११ वीं कारिकाकी व्याख्यामें अकलंकदेव कहते हैं कि–वचनका ऐसा स्वभाव है कि स्वविषयका अस्तित्व दिखानेसे वह उससे इतरका (परवस्तुका) निराकरण करता है, इसलिये अस्तित्व और नास्तित्व—इन दो मूल धर्मोंके आश्रयसे सप्तभंगीरूप स्याद्वादकी सिद्धि होती है।" [तत्त्वार्थसार पृष्ठ १२५ का फुट नोट]

साधक जीवको अस्ति-नास्तिके ज्ञानसे होनेवाला फल

जीव अनादि अविद्याके कारण शरीरको अपना मानता है और इसलिये वह शरीरके उत्पन्न होने पर अपनी उत्पत्ति तथा शरीरका नाश होने पर अपना नाश होना मानता है पहिली भूल 'जीवतत्त्वकी विपरीत श्रद्धा है और दूसरी भूल 'अजीवतत्त्व' की विपरीत श्रद्धा

है। [जहाँ एक तत्त्वकी विपरीत श्रद्धा होती है वहाँ दूसरे तत्त्वोंकी भी विपरीत श्रद्धा होती ही है।]

इस विपरीत श्रद्धाके कारण जीव यह मानता रहता है कि वह शारीरिक क्रिया कर सकता है, उसे हिला-डुला सकता है, उठा बैठा सकता है, सुला सकता है और शरीरकी सँभाल कर सकता है इत्यादि। जीवतत्त्व सम्बन्धी यह विपरीत श्रद्धा अस्ति-नास्ति भंगके यथार्थ ज्ञानसे दूर होती है।

यदि शरीर अच्छा हो तो जीवको लाभ होता है, और खराब हो तो हानि होती है, शरीर अच्छा हो तो जीव धर्म कर सकता है और खराब हो तो धर्म नहीं कर सकता, इत्यादि प्रकारसे अजीवतत्त्व सम्बन्धी विपरीत श्रद्धा किया करता है। यह भूल भी अस्ति-नास्ति भंगके यथार्थज्ञानसे दूर होती है।

जीव जीवसे अस्तिरूपसे है और परसे अस्तिरूपसे नहीं है—किन्तु नास्तिरूपसे है, इसप्रकार जब यथार्थतया ज्ञानमें निश्चय करता है तब प्रत्येक तत्त्व यथार्थतया भासित होता है, इसीप्रकार जीव परद्रव्योंके प्रति सम्पूर्णतया अकिंचित्कर है तथा परद्रव्य जीवके प्रति सम्पूर्णतया अकिंचित्कर है, क्योंकि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यरूपसे नास्ति है, ऐसा निश्चय होता है और इससे जीव पराश्रयी-परावलम्बित्वको मिटाकर स्वाश्रयी-स्वावलम्बी हो जाता है यही धर्मका प्रारम्भ है।

जीवका परके साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध कैसा है इसका ज्ञान इन दो भंगोंसे किया जा सकता है। निमित्त परद्रव्य है इसलिये वह नैमित्तिक जीवका कुछ नहीं कर सकता, वह मात्र आकाश प्रदेशमें एक क्षेत्रावगाहरूपसे या संयोग-अवस्थारूपसे उपस्थित होता है, किन्तु नैमित्तिक-निमित्तसे पर है और निमित्त-नैमित्तिकसे पर है इसलिए एक दूसरेका कुछ नहीं कर सकता। निमित्त तो परज्ञेयरूपसे ज्ञानमें ज्ञात होता है इतना मात्र व्यवहार सम्बन्ध है।

दूसरेसे चौथे अध्याय तक यह अस्ति-नास्ति स्वरूप कहाँ कहाँ बताया है उसका वर्णन

अध्याय २ सूत्र १ से ७ जीवके पाँच भाव अपने अस्तिरूपसे हैं और परसे नास्तिरूप हैं ऐसा बताया है।

अ० २ सूत्र ८-९ जीवका लक्षण अस्तिरूपसे क्या है यह बताया है, उपयोग जीवका

लक्षण है ऐसा कहनेसे दूसरा कोई लक्षण जीवका नहीं है ऐसा प्रतिपादित हुआ । जीव अपने लक्षणसे अस्तिरूप है और इसीलिये उसमें परकी नास्ति आ गई—ऐसा बताया है ।

अ० २ सू० १० जीवकी विकारी तथा शुद्ध पर्याय जीवसे अस्तिरूपसे है और परसे नास्तिरूपसे अर्थात् परसे नहीं है ऐसा बताया है ।

अ० २ सूत्र ११ से १७ जीवके विकारीभावोंका पर वस्तुओंसे-कर्म, मन, वचन, शरीर, इन्द्रिय, परक्षेत्र इत्यादिके साथ-कैसा निमित्त-नैमित्तिकभाव है यह बतलाकर यह बताया है कि-जीव पराश्रयसे जीवके विकारीभाव करता है किन्तु परनिमित्तसे विकारीभाव नहीं होते अर्थात् पर निमित्त विकारीभाव नहीं करता यह अस्ति-नास्तिपन बतलाता है ।

अ० २ सूत्र १८ जीवकी क्षयोपशमरूप पर्याय अपने अस्तिरूपसे है, परसे नहीं है (नास्तिरूपसे है) अर्थात् परसे-कर्मसे जीवकी पर्याय नहीं होती यह बताया है ।

अ० २ सूत्र २७ जीवका सिद्धक्षेत्रके साथ कैसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है उसे बताते हैं ।

अ० २ सू० ५० से ५२ जीवकी वेदरूप (भाववेदरूप) विकारी पर्याय अपनी योग्यतासे-अस्तिरूपसे है परसे नहीं है यह बताया है ।

अ० २ सू० ५३ जीवका आयुकर्मके साथ निमित्त-नैमित्तिकभाव बताया है; उसमें जीवका नैमित्तिकभाव जीवकी अपनी योग्यतासे है और आयुकर्मसे अथवा परसे नहीं है ऐसा बताया है तथा निमित्त आयुकर्मका निश्चय सम्बन्ध जीव या किसी दूसरे परके साथ नहीं है ऐसा अस्ति-नास्ति भंगसे सिद्ध होता है ।

अ० ३ सू० १ से ६ नारकीभावके भोगनेके योग्य होनेवाले जीवके किस प्रकारके क्षेत्रोंका सम्बन्ध निमित्तरूपसे होता है तथा उत्कृष्ट आयुका निमित्तपना किसप्रकार से होता है यह बताकर, निमित्तरूप, क्षेत्र या आयु वह जीव नहीं है किन्तु जीवसे भिन्न है ऐसा सिद्ध होता है ।

अ० ३ सू० ७ से ३९ मनुष्यभाव या तिर्यंचभावको भोगनेके योग्य जीवके किस-प्रकारके क्षेत्रोंका तथा आयुका सम्बन्ध निमित्तरूपसे होता है यह बताकर जीव स्व है और निमित्त पर है ऐसा अस्ति-नास्ति स्वरूप बतलाया है ।

अ० ४ सूत्र १ से ४२ देवभाव और तिर्यंचभाव होनेपर तथा सम्यग्दृष्टि और मिथ्या-दृष्टिरूप अवस्थामें जीवके कैसे परक्षेत्रोंका तथा आयुका निमित्त-नैमित्तिका सम्बन्ध होता है यह बताकर अस्ति-नास्ति स्वरूप बताया है ।

सप्तभंगीके शेष पाँच भंगोंका विवेचन

१-२-अस्ति और नास्ति यह दो जीवके स्वभाव सिद्ध कर दिया।

३—जीवके अस्ति और नास्ति इन दोनों-स्वभावोंको क्रमसे कहना हो तो 'जीव अस्ति नास्ति-दोनों धर्ममय है' ऐसा कहा जाता है इसलिए जीव 'स्यात् अस्ति-नास्ति' है, यह तीसरा भंग हुआ।

४—अस्ति और नास्ति ये दोनो जीवके स्वभाव हैं तो भी वे दोनों एक साथ नहीं कहे जा सकते हैं, इस अपेक्षासे जीव 'स्यात् अवक्तव्य' है यह चौथा भंग हुआ।

५—जीवका स्वरूप जिस समय अस्तिरूपसे कहा जाता है उसी समय नास्ति तथा दूसरे गुण इत्यादि नहीं कहे जा सकते—अवक्तव्य है, इसलिए जीव 'स्यात् अस्ति-अवक्तव्य' है, यह पाँचवां भंग हुआ।

६—जीवका स्वरूप जिस समय नास्तिसे कहा जाता है उस समय अस्ति तथा अन्यगुण इत्यादि नहीं कहे जा सकते—अवक्तव्य है, इसलिए जीव 'स्यात् नास्ति-अवक्तव्य' है यह छठ्ठा भंग हुआ।

७—स्यात् अस्ति और स्यात् नास्ति यह दोनों भंग क्रमशः वक्तव्य हैं किन्तु युगपत् वक्तव्य नहीं है, इसलिए जीव 'स्यात् अस्ति नास्ति अवक्तव्य' है; यह सातवां भंग हुआ।

जीवमें अवतरित सप्तभंगी

१-जीव स्यात् अस्ति ही है। २-जीव स्यात् नास्ति ही है। ३-जीव स्यात् अस्ति-नास्ति ही है। ४-जीव स्यात् अवक्तव्य ही है। ५-जीव स्यात् अस्ति अवक्तव्य ही है। ६-जीव स्यात् नास्ति अवक्तव्य ही है। ७-जीव स्यात् अस्ति-नास्ति अवक्तव्य ही है।

स्यात्का अर्थ कुछ लोग 'संशय' कहते हैं किन्तु यह उनकी भूल है, 'कथंचित् किसी अपेक्षासे' ऐसा उसका अर्थ होता है। स्यात् कथनसे (स्याद्वादसे) वस्तु स्वरूपके ज्ञानकी विशेष दृढ़ता होती है।

सप्तभंगीमें लागू होनेवाले नय

'अस्ति' स्वरूपसे है इसलिये निश्चयनयका विषय है, और नास्ति पररूपसे है इसलिये व्यवहारनयका विषय है शेष पांच भंग व्यवहारनयके हैं क्योंकि वे कुछ या अधिक अंशमें परकी अपेक्षा रखते हैं।

अस्तिमें लागू पड़नेवाले नय

अस्तिके निश्चय अस्ति और व्यवहार अस्ति ये दो भेद हो सकते हैं। जीवकी शुद्ध पर्याय निश्चयनयसे अस्ति है क्योंकि वह जीवका स्वरूप है। और विकारी पर्याय व्यवहार-नयसे अस्तिरूप है क्योंकि वह जीवका स्वरूप नहीं है। विकारी पर्याय अस्तिरूप है अवश्य किन्तु वह टालने योग्य है; व्यवहारनयसे वह जीवका है और निश्चयनयसे जीवका नहीं है।

अस्तिमें दूसरे प्रकारसे लागू पड़नेवाले नय

अस्तिका अर्थ 'सत्' होता है, सत् उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्त होता है उसमें ध्रौव्य निश्चयनयसे अस्ति है और उत्पाद-व्यय व्यवहारनयसे हैं। जीवका ध्रौव्य स्वरूप त्रिकाल अखण्ड शुद्ध चैतन्य चमत्कार मात्र है, वह कभी विकारको प्राप्त नहीं हो सकता; मात्र उत्पादरूप पर्यायमें पराश्रयसे क्षणिक विकार होता है। जीव जब अपना स्वरूप समझनेके लिये अपने अखण्ड ध्रौव्य स्वरूपकी ओर उन्मुख होता है तब शुद्ध पर्याय प्रगट होती है।

प्रमाण

श्रुतप्रमाण एक का अंश नय है। जहां श्रुतप्रमाण नहीं होता वहां नय नहीं होता; जहां नय होता है वहां श्रुतप्रमाण होता ही है। प्रमाण उन दोनों नयोंके विषयका यथार्थ ज्ञान करता है इसलिये अस्तिनास्तिका एक साथ ज्ञान प्रमाण ज्ञान है।

निक्षेप

यहां जीव ज्ञेय है ज्ञेयका अंश निक्षेप है। अस्ति, नास्ति इत्यादि धर्म जीवके अंश हैं। जीव स्वज्ञेय है और अस्तिनास्ति इत्यादि स्वज्ञेयके अंशरूप निक्षेप हैं; यह भाव निक्षेप है। उसका यथार्थ ज्ञान नय है। निक्षेप विषय है और नय उसका विषय करनेवाला (विषयी) है।

स्वज्ञेय

जीव स्वज्ञेय है तथा स्वयं ज्ञानस्वरूप है। द्रव्य-गुण-पर्याय ज्ञेय हैं और उनका त्रिकाल जाननेका स्वभाव गुण है; तथा ज्ञानकी वर्तमान पर्याय स्वज्ञेयको जानती है। स्वज्ञेयके जाननेमें यदि स्व-परका भेदविज्ञान हो तब ही ज्ञानकी सच्ची पर्याय है।

अनेकांत

[स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा ३११-३१२ पृष्ठ ११८ से १२० के आधारसे]

९—वस्तुका स्वरूप अनेकान्त है। जिसमें अनेक अन्त अर्थात् धर्म हों उसे अनेकान्त कहते हैं। इन धर्मोंमें अस्तित्व, नास्तित्व, एकत्व, अनेकत्व, नित्यत्व, अनित्यत्व, भेदत्व, अभेदत्व, अपेक्षात्व, अनपेक्षात्व, दैवसाध्यत्व, पौरुषसाध्यत्व, हेतुसाध्यत्व, आगमसाध्यत्व, अन्तरंगत्व, बहिरंगत्व, द्रव्यत्व, पर्यायत्व, इत्यादि सामान्य धर्म हैं। और जीवत्व, अजीवत्व, स्पर्शत्व, रसत्व, गंधत्व, वर्णत्व, शब्दत्व, शुद्धत्व, अशुद्धत्व, मूर्तत्व, अमूर्तत्व, संसारीत्व, सिद्धत्व, अवगाहहेतुत्व, गतिहेतुत्व, स्थितिहेतुत्व, वर्तनाहेतुत्व इत्यादि विशेष धर्म हैं। वस्तुको समझनेके लिये प्रश्न उठने पर प्रश्नके वशसे उन धर्मोंके कथनमें विधिनिषेधरूप वचनोंके सात भंग होते हैं। उन सात भंगोंमें 'स्यात्' यह पद लगाया है। 'कथंचित्' किसीप्रकार इस अर्थमें 'स्यात्' शब्द है उसके द्वारा वस्तुका अनेकान्त स्वरूप सिद्ध करना चाहिये।

सप्तभंगी और अनेकांत

(१) १ वस्तु स्यात् अस्तिरूप है अर्थात् किसीप्रकार अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल भावरूपसे अस्तिरूप कही जाती है। २ वस्तु स्यात् नास्तिरूप है अर्थात् परवस्तुके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूपसे नास्तिस्वरूप कही जाती है। ३ वस्तु स्यात् अस्तित्व-नास्तित्वरूप है—यह वस्तुमें अस्ति नास्ति—दोनों धर्म रहते हैं, उसे वचनके द्वारा क्रमसे कह सकते हैं। ४ और वस्तु स्यात् अवक्तव्य है, क्योंकि वस्तुमें अस्ति-नास्ति दोनों धर्म एक ही समय रहते हैं किन्तु वचनके द्वारा एक साथ दोनों धर्म कहे नहीं जा सकते, इसलिये किसी प्रकारसे वस्तु अवक्तव्य है। ५ अस्तित्वरूपसे वस्तु स्वरूप कहा जा सकता है किन्तु अस्ति नास्ति दोनों धर्म वस्तुमें एक साथ रहते हैं, इसलिये वस्तु एक साथ कही नहीं जा सकती इसप्रकार वस्तु वक्तव्य भी है और अवक्तव्य भी है, इसलिये स्यात् अस्ति-अवक्तव्य है। ६. इस ही प्रकार (अस्तित्व की भांति) वस्तुके स्यात् नास्ति अवक्तव्य कहना चाहिये। ७. और दोनों धर्मोंको क्रमसे कह सकते हैं किन्तु एक साथ नहीं कह सकते इसलिये वस्तु स्यात् अस्ति-नास्ति अवक्तव्य कहना चाहिये। ऊपर कहे अनुसार सात भंग वस्तुमें संभव हैं।

(२) इसप्रकार एकत्व, अनेकत्व इत्यादि सामान्य धर्म पर सात भंग विधि निषेधसे लगाना चाहिये। जहाँ जो अपेक्षा संभव हो उसे लगाना चाहिये और इसीप्रकारसे जीवत्व, अजीवत्व आदि विशेष धर्मोंमें ये भंग लगाना चाहिये। जैसे कि—जीव नामकी वस्तु है वह स्यात् जीवत्व है स्यात् अजीवत्व है इत्यादि प्रकारसे लगाना चाहिये। वहाँ पर इसप्रकार अपेक्षा पूर्वक समझना कि जीवका अपना जीवत्वधर्म जीवमें है इसलिये जीवत्व है पर-अजीवका अजीवत्वधर्म जीवमें नहीं है तो भी जीवके दूसरे (ज्ञानको छोड़कर) धर्मोंको मुख्यता करके कहा जाये तो उन धर्मोंकी अपेक्षासे अजीवत्व है, इत्यादि सात भंग लगाना

चाहिये। तथा जीव अनन्त हैं उसकी अपेक्षासे अर्थात् अपना जीवत्व अपनेमें है परका जीवत्व अपनेमें नहीं है इसलिए पर जीवोंकी अपेक्षासे अजीवत्व है, इसप्रकारसे भी अजीवत्व धर्म प्रत्येक जीवमें सिद्ध हो सकता है—कह सकते हैं। इसप्रकार अनादिनिधन अनन्त जीव अजीव वस्तुयें हैं। उनमें प्रत्येक अपना अपना द्रव्यत्व, पर्यायत्व इत्यादि अनन्त धर्म हैं। उन धर्मो सहित सात भंगोंसे वस्तुकी सिद्धि करना चाहिये।

(३) वस्तुकी स्थूल पर्याय है वह भी चिरकाल स्थाई अनेक धर्मरूप होती है। जैसे कि जीवमें ससारीपर्याय और सिद्धपर्याय। और संसारीमें त्रस, स्थावर, उसमें मनुष्य, तिर्यंच इत्यादि। पुद्गलमें अणु, स्कन्ध तथा घट, पट इत्यादि। वे पर्यायें भी कथंचित् वस्तुपना सिद्ध करती हैं। उन्हें भी उपरोक्त प्रकारसे ही सात भंगसे सिद्ध करना चाहिये; तथा जीव और पुद्गलके संयोगसे होनेवाले आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, पुण्य, पाप, मोक्ष इत्यादि भावोंमें भी, बहुलसे धर्मपनाकी अपेक्षासे तथा परस्पर विधि=निषेधसे, अनेक धर्मरूप कथंचित् वस्तुपना संभवित है; उसे सप्त भंगसे सिद्ध करना चाहिये।

(४) यह नियमपूर्वक जानना चाहिये कि प्रत्येक वस्तु अनेक धर्म स्वरूप है उन सबको अनेकान्त स्वरूप जानकर जो श्रद्धा करता है और उसी प्रमाणसे ही संसारमें व्यवहारकी प्रवृत्ति करता है सो सम्यग्दृष्टि है। जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, पुण्य, पाप, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये नव पदार्थ हैं उनकी भी उसीप्रकारसे सप्त भंगसे सिद्ध करना चाहिये। उनका साधन श्रुतज्ञान प्रमाण है।

नय

(१) श्रुतज्ञान प्रमाण है। और श्रुतज्ञान प्रमाणके अंशको नय कहते हैं। नयके दो भेद हैं—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। और उनके (द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिकके) नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ, और एवंभूतनय, ये सात भेद हैं, उनमेंसे पहिलेके तीन भेद द्रव्यार्थिकके हैं और बाकीके चार भेद पर्यायार्थिकके हैं। और उनके भी उत्तरोत्तर भेद, जितने वचनके भेद हैं उतने हैं। उन्हे प्रमाण सप्तभंगी और नय सप्तभंगीके विधानसे सिद्ध किया जाता है। इसप्रकार प्रमाण और नयके द्वारा जीवादि पदार्थोंको जानकर श्रद्धान करे तो शुद्ध सम्यग्दृष्टि होता है।

(२) और यहाँ इतना विशेष जानना चाहिए कि नय वस्तुके एक एक धर्मका ग्राहक है। वह प्रत्येक नय अपने अपने विषयरूप धर्मके ग्रहण करनेमें समान है तथापि वक्ता अपने प्रयोजनवश उन्हे—मुख्य-गौण करके कहता है।

जैसे जीव नामक वस्तु है, उसमें अनेक धर्म हैं तथापि चेतनत्व, प्राणधारणत्व इत्यादि धर्मोंको अजीवसे असाधारण देखकर जीवको अजीवसे भिन्न दर्शानेके लिये उन धर्मोंको मुख्य करके वस्तु नाम जीव रखा है, इसीप्रकार वस्तुके सर्व धर्मोंमें प्रयोजनवश मुख्य-गौण समझना चाहिये।

अध्यात्मके नय

(१) इसी आशयसे अध्यात्मकथनोंमें मुख्यको निश्चय और गौणको व्यवहार कहा है, उसमें अभेद धर्मको मुख्य करके उसे निश्चयका विषय कहा है और भेदको गौण करके उसे व्यवहार नयका विषय कहा है। द्रव्य तो अभेद है इसलिये निश्चयका आश्रय द्रव्य है, और पर्याय भेदरूप है इसलिये व्यवहारका आश्रय पर्याय है उसमें प्रयोजन इसप्रकार है कि भेदरूप वस्तुको सर्वलोक जानता है उसके भेदरूप वस्तु ही प्रसिद्ध है इसलिये लोक पर्यायबुद्धि है। जीवको नरनारकादि पर्यायें हैं तथा राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि पर्यायें हैं तथा ज्ञानके भेदरूप मतिज्ञानादि पर्यायें हैं। लोग उन पर्यायोंको ही जीव समझते हैं इसलिये (अर्थात् उस पर्यायबुद्धिको छुड़ानेके प्रयोजनसे) उस पर्यायमें अभेदरूप अनादि अनन्त एक भाव जो चेतना धर्म है उसे ग्रहण करके निश्चयनयका विषय कहकर जीवद्रव्यका ज्ञान कराया है, और पर्यायाश्रित भेदनयको गौण किया है, तथा अभेद दृष्टिमें वे भेद दिखाई नहीं देते इसलिये अभेदनयकी दृढ़ श्रद्धा करानेके लिये कहा है कि जो पर्यायनय है सो व्यवहार है, अभूतार्थ है, असत्यार्थ है। यह कथन भेदबुद्धिके एकांतका निराकरण करनेके लिये समझना चाहिये।

(२) यहाँ यह नहीं समझना चाहिये कि जो भेद है उसे असत्यार्थ कहा है, इसलिये भेद वस्तुका स्वरूप ही नहीं है। यदि कोई सर्वथा यह माने कि भेद नहीं है, तो वह अनेकांतको समझा ही नहीं है और वह सर्वथा एकांत श्रद्धाके कारण मिथ्यादृष्टि है। अध्यात्मशास्त्रोंमें जहाँ निश्चय-व्यवहार नय कहे हैं वहाँ भी उन दोनोंके परस्पर विधि निषेधके द्वारा सप्तभंगीसे वस्तुको साधना चाहिये यदि एक नयको सर्वथा सत्यार्थ माने और एकको सर्वथा असत्यार्थ माने तो मिथ्या-श्रद्धा होती है, इसलिये वहाँ भी कथंचित् जानना चाहिये।

उपचार नय

(१) एक वस्तुका दूसरी वस्तुमें आरोप करके प्रयोजन सिद्ध किया जाता है उसे उपचारनय कहते हैं। यह भी व्यवहारमें ही गर्भित है ऐसा कहा है। जहाँ प्रयोजन या निमित्त

होता है वहाँ उपचारकी प्रवृत्ति होती है। घीका घड़ा ऐसा कहनेपर मिट्टीके घड़ेके आश्रयसे घी भरा है उसमें व्यवहारी मनुष्योंको आधार-आधेयभाव भासित होता है उसे प्रधान करके (घीका घड़ा) कहनेमें आता है। जो 'घीका घड़ा है' ऐसा ही कहा जाय तो लोग समझ जाते हैं और 'घीका घड़ा' मंगावे तब उसे ले आते हैं इसलिये उपचारमें भी प्रयोजन संभव है। तथा जहाँ अभेदनयकी मुख्यता की जाती है वहां अभेद दृष्टिमें भेद दिखता नहीं है फिर भी उस समय उसमें (अभेदनयकी मुख्यतामें) ही भेद कहा है वह असत्यार्थ है। वहां भी उपचारकी सिद्धि गौणरूपसे होती है।

सम्यग्दृष्टिका और मिथ्यादृष्टिका ज्ञान

(१) इस मुख्य-गौणके भेदको सम्यग्दृष्टि जानता है; मिथ्यादृष्टि अनेकान्त वस्तुको नही जानता और जब सर्वथा एक धर्म पर दृष्टि पड़ती है तब उस एक धर्मको ही सर्वथा वस्तु मानकर वस्तुके अन्य धर्मोंको सर्वथा गौण करके असत्यार्थ मानता है अथवा अन्य धर्मोंका सर्वथा अभाव ही मानता है। ऐसा माननेसे मिथ्यात्व दृढ़ होता है जहां तक जीव यथार्थ वस्तुस्वरूपको जाननेका पुरुषार्थ नही करता तब तक यथार्थश्रद्धा नही होती। इस अनेकांत वस्तुको प्रमाण-नय द्वारा सात भंगोसे सिद्ध करना सम्यक्त्वका कार्य है, इसलिये उसे भी सम्यक्त्व ही कहते हैं ऐसा जानना चाहिये। जिनमतकी कथनी अनेक प्रकारसे है, उसे अनेकांतरूपसे समझना चाहिये।

(२) इस सप्तभंगीके अस्ति और नास्ति ऐसे दो प्रथम भेद विशेष लक्षमें लेने योग्य हैं, वे दो भेद यह सूचित करते हैं कि जीव अपनेमें उल्टे या सीधे भाव कर सकता है किन्तु परका कुछ नही कर सकता, तथा परद्रव्यरूप अन्य जीव या जड़ कर्म इत्यादि सब अपने अपनेमें कार्य कर सकते हैं; किन्तु वे कोई इस जीवका भला-बुरा कुछ नही कर सकते, इसलिये परवस्तुओंकी ओरसे लक्ष हटाकर और अपनेमें होनेवाले भेदोंको गौण करनेके लिये उन भेदोंपरसे भी लक्ष हटाकर अपने त्रिकाल अभेद शुद्ध चैतन्यस्वरूपपर दृष्टि डालनेसे-उसके आश्रयसे निश्चय सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। उसका फल अज्ञानका नाश होकर उपादेयकी बुद्धि और वीतरागताकी प्राप्ति है।

अनेकांत क्या बतलाता है ?

(१) अनेकांत वस्तुको परसे असंग (भिन्न) बतलाता है। असंगत्वकी (स्वतंत्रकी) श्रद्धा असंगत्वके विकासका उपाय है; तीनोंकाल परसे भिन्नत्व वस्तुका स्वभाव है।

(२) अनेकांत वस्तुको 'स्वरूपसे है और पररूपसे नहीं है' इसप्रकार बतलाता है।

पररूप आत्मा नहीं इसलिये वह परवस्तुका कुछ भी करनेके लिये समर्थ नहीं है। और किसीका संयोग-वियोगसे मेरा कुछ भी इष्ट-अनिष्ट नहीं हो सकता ऐसे सच्चे ज्ञानसे आत्मा सुखी होता है।

'तू निजरूपसे है अतः पररूपसे नहीं है और परवस्तु अनुकूल हो या प्रतिकूल उसे बदलनेमें तू समर्थ नहीं है। बस, इतना निश्चय कर तो श्रद्धा, ज्ञान और शांति तेरे पास ही है।

(३) अनेकान्त वस्तुको निजरूपसे सत् बतलाता है। सत्को पर सामग्रीकी आवश्यकता नहीं है, संयोगकी आवश्यकता नहीं है, किन्तु सत्को सत्के निर्णयकी आवश्यकता है कि मैं स्वरूपसे हूँ और पररूपसे नहीं।'

(४) अनेकान्त वस्तुको एक-अनेक स्वरूप बतलाता है। 'एक' कहने पर ही 'अनेक' की अपेक्षा आती है। तू अपनेमें एक है और अपनेमें ही अनेक है। तू अपने गुण-पर्यायसे अनेक है और वस्तुसे एक है।

(५) अनेकान्त वस्तुको नित्य-अनित्यस्वरूप बतलाता है। स्वयं नित्य है और स्वयं ही पर्यायसे अनित्य है। उसमें जिस ओरकी रुचि होती है उसी ओर परिणमन होता है। नित्यवस्तुकी रुचि करनेपर नित्य रहनेवाली वीतरागता होती है और अनित्य पर्यायकी रुचि हो तो क्षणिक राग-द्वेष होते हैं।

(६) अनेकान्त प्रत्येक वस्तुकी स्वतन्त्रताको घोषित करता है। वस्तु परसे नहीं है और स्वसे है ऐसा जो कहा है उसमें 'स्व अपेक्षासे प्रत्येक वस्तु परिपूर्ण ही है' यह भी आजाता है। वस्तुको परकी आवश्यकता नहीं है वह स्वतः स्वयं स्वाधीन-परिपूर्ण है।

(७) अनेकान्त प्रत्येक वस्तुमें अस्ति-नास्ति आदि दो विरुद्ध शक्तियोंको बतलाता है। एक वस्तुमें वस्तुत्वकी उत्पादक दो विरुद्ध शक्तियोंका एक साथ रहना ही तत्त्वको पुष्ट करता है ऐसी दो विरुद्ध शक्तियोंका होना वस्तुका स्वभाव है।

शास्त्रोंके अर्थ करनेकी पद्धति

व्यवहारनय स्वद्रव्य-परद्रव्यको या उनके भावोंको अथवा कारण-कार्यादिको किसीको किसीमें मिलाकर निरूपण करता है इसलिये ऐसे ही श्रद्धानसे मिथ्यात्व है अतः उसका त्याग करना चाहिये। और निश्चयनय उसीको यथावत् निरूपण करता है तथा किसीको किसीमें नहीं मिलाता, अतः ऐसे ही श्रद्धानसे सम्यक्त्व होता है इसलिये उसका श्रद्धान करना चाहिये।

प्रश्नः—यदि ऐसा है तो जिनमार्गमें जो दोनों नयोका ग्रहण करनेको कहा है उसका क्या कारण है ?

उत्तरः—जिनमार्गमे कही कही निश्चयनयकी मुख्यतासे जो कथन है उससे यह समझना चाहिये कि–'सत्यार्थ ऐसा ही है', तथा कहीं कही व्यवहारनयको मुख्यतासे जो कथन है उसे यह समझना चाहिये कि 'ऐसा नही है किन्तु निमित्तादिकी अपेक्षासे यह उपचार किया है'। और इसप्रकार जाननेका नाम ही दोनों नयोंका ग्रहण है। किन्तु दोनों नयोंके कथनको समान सत्यार्थ जानकर 'इसप्रकार भी है और इसप्रकार भी है' ऐसे भ्रमरूप प्रवर्तनसे दोनो नयोंका ग्रहण करनेको नहीं कहा है।

प्रश्नः—यदि व्यवहारनय असत्यार्थ है तो फिर जिनमार्गमे उसका उपदेश क्यों दिया गया है ? एक निश्चयनयका ही निरूपण करना चाहिये था।

उत्तरः—यही तर्क श्री समयसारमे भी किया गया है, वहां यह उत्तर दिया गया है कि—जैसे कोई अनार्य–म्लेच्छको म्लेच्छ भाषाके विना अर्थ ग्रहण करानेमें कोई समर्थ नहीं है उसीप्रकार व्यवहारके विना परमार्थका उपदेश अशक्य है इसलिये व्यवहारका उपदेश है। और इसी सूत्रकी व्याख्यामे यह कहा है कि—इसप्रकार निश्चयको अंगीकार करानेके लिए व्यवहारसे उपदेश देते हैं किन्तु व्यवहारनय अंगीकार करने योग्य नही है।

(आधुनिक हिन्दी मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ-२५१)

मुमुक्षुओंका कर्त्तव्य

आजकल इस पंचमकालमें इस कथनको समझनेवाले सम्यग्ज्ञानी गुरुका निमित्त सुलभ नहीं है, किन्तु जहां वे मिल सकें वहां उनके निकटसे मुमुक्षुओंको यह स्वरूप समझना चाहिये और जहां वे न मिल सकें वहां शास्त्रोंके समझनेका निरन्तर उद्यम करके इसे समझना चाहिये। सत् शास्त्रोका श्रवण, पठन, चिंतवन करना, भावना करना, धारण करना, हेतु युक्तिके द्वारा नय विवक्षाको समझना, उपादान-निमित्तका स्वरूप समझना और वस्तुके अनेकान्त स्वरूपका निश्चय करना चाहिये। वह सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिका मुख्य कारण है, इसलिये मुमुक्षु जीवोंको उसका निरन्तर उपाय करना चाहिये।

इसप्रकार श्री उमास्वामी विरचित मोक्षशास्त्रके
चौथे अध्यायकी टीका
समाप्त हुई।



देवगतिकी व्यवस्था [भवनत्रिक]

देव	निवास	भेद	इन्द्र	लेश्या	शरीरकी ऊंचाई	उत्कृष्ट आयु	जघन्य आयु	प्रवीचार
भवनवासी		१०	४०	कृष्ण, नील कापोत तथा जघन्य पीत				काय प्रवीचार
१ असुरकुमार	रत्नप्रभाके पङ्क भागमें			”	२५ धनुष	१ सागर	१० हजारवर्ष	”
२ नागकुमार	रत्नप्रभा पृथ्वीके ऊपर नीचे एक एक हजार योजन छोड़कर खर भागमें			”	१० ”	३ पल्य	”	”
३ विद्युतकुमार				”	१० ”	१॥ पल्य	”	”
सुपर्णकुमार				”	१० ”	२॥ पल्य	”	”
अग्निकुमार				”	१० ”	१॥ पल्य	”	”
६ वातकुमार				”	१० ”	१॥ पल्य	”	”
स्तनितकुमार				”	१० ”	१॥ पल्य	”	”
उदधिकुमार				”	१० ”	१॥ पल्य	”	”
द्वीपकुमार				”	१० ”	२ पल्य	”	”
दिक्कुमार				”	१० ”	१॥ पल्य	”	”

देवगतिकी व्यवस्था [भवनत्रिक]

देव	निवास	भेद	इन्द्र	लेश्या	शरीरकी ऊंचाई	उत्कृष्ट आयु	जघन्य आयु	प्रवीचार
व्यन्तर		८	३२	कृष्ण, नील कापोत तथा जघन्य पोत		एक पल्यसे कुछ अधिक	१० हजारवर्ष	काय प्रवीचार
१ किन्नर	ऊपरके खरभाग में				१० धनुष			„
२ किंपुरुष	„				„			„
३ महोरग	„				„			„
४ गंधर्व	„			„	„			„
५ यक्ष	„			„	„			„
६ राक्षस	पंकभागमें			„	„			„
७ भूत	ऊपरके खरभागमे			„	„			„
८ पिशाच	„			„	„			„
ज्योतिषी				„	„			„
१ सूर्य	समान धरातलसे ७९० योजनकी ऊंचाईसे प्रारंभ करके ९०० योजन ऊंचाई तक के मध्यलोकमें	५	२	„	७ धनुष	एक पल्यसे कुछ अधिक	$\frac{1}{8}$ पल्य	काय प्रवीचार
२ चन्द्रमा				„	„			„
३ ग्रह				„	„			„
४ नक्षत्र				„	„			„
५ प्रकीर्णक				„	„			„

देवगतिकी व्यवस्था [वैमानिक देव]

देव	निवास	भेद	इन्द्र	लेश्या	शरीरकी ऊचाई	उत्कृष्ट आयु	जघन्य आयु	प्रवीचार
कल्प								
सौधर्म-ईशान	ऊर्ध्वलोक	१२	२४	पीत	७ हाथ	२ सागरसे अधिक	१ पल्यसे अधिक	काय
सानत्कुमार-माहेन्द्र	"			पीत-पद्म	६ हाथ	७ " "	४ सागर "	स्पर्श
ब्रह्म ब्रह्मोत्तर	"			पद्म	५ हाथ	१० " "	७ सागर "	रूप
लान्तव-कापिष्ट	"			पद्म	५ हाथ	१४ सागरसे कुछ अधिक	१० सागरसे कुछ अधिक	रूप
शुक्र-महाशुक्र	"				४ हाथ	१६ सागर "	१४ " "	शब्द
सतार-सहस्रार	"			पद्म शुक्ल	४ हाथ	१८ सागर "	१६ " "	शब्द
आनत-प्राणत	"			"	३½ हाथ	२० सागर "	१८ " "	मन
आरण-अच्युत	"			शुक्ल	३ हाथ	२२ सागर "	२० " "	मन
ग्रैवेयक				"				
सुदर्शन	"		अहं-मिंद्र	शुक्ल	२½ हाथ	२३ सागर	२२ सागर	१६ स्वर्गसे ऊपरके सभी देव-अप्रवीचारी हैं क्योंकि उसके काम वासना है
अमोघ	"			"	२½ हाथ	२४ सागर	२३ सागर	
सुप्रबुध	"			"	२½ हाथ	२५ सागर	२४ सागर	
यशोधर	"			"	२ हाथ	२६ सागर	२५ सागर	
सुभद्र	"			"	२ हाथ	२७ सागर	२६ सागर	
विशाल	"			"	२ हाथ	२८ सागर	२७ सागर	

देवगतिकी व्यवस्था [वैमानिक देव]

देव	निवास	भेद	इन्द्र	लेश्या	शरीरकी ऊंचाई	उत्कृष्ट आयु	जघन्य आयु	प्रवीचार
सुमन	ऊर्ध्वलोक			शुक्ल	१॥ हाथ	२९ सागर	२८ सागर	उत्पन्न नहीं होती
सौमनस	"			"	"	३० सागर	२९ सागर	"
प्रीतिंकर	"			"	"	३१ सागर	३० सागर	"
अनुदिश			अहमिन्द्र					"
आदित्य	"			परमशुक्ल	"	३२ सागर	३१ सागर	"
अर्चि	"			"	"	"	"	"
अर्चिमाली	"			"	"	"	"	"
वैरोचन	"			"	"	"	"	"
प्रभास	"			"	"	"	"	"
अर्चिप्रभ	"			"	"	"	"	"
अर्चिमध्य	"			"	"	"	"	"
अर्चिरावर्त	"			"	"	"	"	"
अर्चिविशिष्ट	"			"	"	"	"	"
अनुत्तर	"			"	"			"
विजय					१ हाथ	३३ सागर	३२ सागर	"
वैजयन्त	"			"			"	"
जयन्त	"			"	"	"	"	"
अपराजित	"			"	"	"	"	"
सर्वार्थसिद्धि	"			"	"	"	"	"
	"			"	"	"	जघन्य आयु नहीं होती	"

नोट:—१. वैमानिक देवोंके स्वर्ग १६ हैं, परन्तु उनके इन्द्र १२ हैं। यहां इन्द्रोंकी अपेक्षा से १२ भेद कहे हैं। पहिलेके चार तथा अन्तके चार स्वर्गोंमें प्रत्येकके एक इन्द्र है और बीचके आठ स्वर्गोंमें दो दो स्वर्गोंके एक इन्द्र है।
२. पांचवें स्वर्गमें जो लौकान्तिक देव रहते हैं उनकी आयु ८ सागरकी होती है।

भूमिका

इस शास्त्रके प्रारम्भ करते ही आचार्य भगवानने प्रथम अध्यायके पहले ही सूत्रमें बताया है कि सच्चे सुखका एक ही मार्ग है और वह मार्ग सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रकी एकता है। इसके बाद यह बताया है कि जो तत्त्वार्थका श्रद्धान है सो सम्यग्दर्शन है। फिर सात तत्त्व बताये हैं। उन तत्त्वोंमें पहला जीव तत्त्व है, उसका निरूपण पहले, दूसरे, तीसरे और चौथे अध्यायमें किया है।

दूसरा अजीव तत्त्व है:—उसका ज्ञान इस पांचवें अध्यायमें कराया गया है। पुद्गल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और काल ये पांच अजीव द्रव्य हैं, ऐसा निरूपण करनेके बाद उनकी पहचान करनेके लिये उनके खास लक्षण तथा उनका क्षेत्र बताया है। जीव सहित छह द्रव्य हैं यह कहकर द्रव्य, गुण, पर्याय, नित्य, अवस्थित तथा अनेकान्त आदिका स्वरूप बतलाया है।

यह मान्यता भ्रमपूर्ण है कि ईश्वर इस जगत्का कर्ता है। जगत्के सभी द्रव्य स्वकी अपेक्षा सत् हैं उन्हें किसीने नहीं बनाया, ऐसा बतानेके लिये 'सत् द्रव्य लक्षणं' द्रव्यका लक्षण सत् है इसप्रकार २९ वें सूत्रमें कहा है। जगत्के सभी पदार्थकी क्षण-क्षणमें स्वमें ही स्वकी अवस्था, स्वसे बदलती रहती है, इसी प्रकार सत्का स्वरूप निरूपण करनेके लिए ३० वां सूत्र कहा है। प्रत्येक वस्तु द्रव्यकी अपेक्षासे नित्य और पर्यायकी अपेक्षासे अनित्य है, ऐसा निरूपण करनेके लिये गुण-पर्यायवाला द्रव्य है ऐसा द्रव्यका दूसरा लक्षण ३८ वें सूत्रमें कहा है। प्रत्येक द्रव्य स्वयं स्वसे परिणमन करता है अन्य तो निमित्तमात्र व्यवहार कारण है इसलिये एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कुछ नहीं कर सकता, ऐसा प्रतिपादन करनेके लिए ४२ वां सूत्र कहा है। वस्तुका स्वरूप अनेकांतात्मक है, किन्तु वह एक साथ नहीं कहा जा सकता, इसलिए कथनमें मुख्य और गौणपनेकी अपेक्षा होती है, इसप्रकार ३२ वें सूत्रमें बताया है। इसतरह बहुतसे उपयोगी सिद्धान्त इस अध्यायमें लिए गए हैं।

इस अध्यायमें 'सद्द्रव्यलक्षणं,' उत्पादव्यय ध्रौव्ययुक्तं सत्,' 'गुणपर्ययवद्द्रव्यं,' 'अर्पितानर्पितसिद्धेः . और 'तद्भावः परिणामः' ये पांच (२९, ३०, ३८, ३२ और ४२) सूत्र वस्तु स्वरूपके नीवरूप हैं—विश्वधर्मके नीवरूप हैं। यह अध्याय सिद्ध करता है कि सर्वज्ञके विना दूसरा कोई, जीव और अजीवका सत्य स्वरूप नही कह सकता। जीव और दूसरे पांच अजीव (पुद्गल धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और काल) द्रव्योंका स्वरूप जैसा इस शास्त्रमें निरूपित है वैसा ही दि० जैन शास्त्रोंमें बताया है और वह अद्वितोय है। इससे विरुद्ध मान्यता यदि जगतके किसी भी जीवकी हो तो वह असत्य है—मिथ्या है। इसलिए जिज्ञासुओंको यथार्थ समझकर सत्यस्वरूपको ग्रहण करना और झूठी मान्यता तथा अज्ञान छोड़ना चाहिए।

धर्मके नाम पर संसारमें जनके अतिरिक्त दूसरी भी अनेक मान्यतायें प्रचलित हैं, किन्तु उनमें वस्तुका यथार्थ कथन नही मिलता, वे जीव-अजीव आदि तत्त्वोंका स्वरूप अन्य प्रकारसे कहते हैं; आकाश और कालका जैसा स्वरूप वे कहते हैं वह स्थूल और अन्यथा है और धर्मास्तिकाय तथा अधर्मास्तिकायके स्वरूपसे तो वे बिल्कुल अज्ञात हैं। इस उपरोक्त कथनसे सिद्ध होता है कि वस्तुके सत्य स्वरूपसे विरुद्ध चलती हुई वे सभी मान्यतायें मिथ्या हैं, तत्त्वसे विरुद्ध हैं

अजीव तत्त्वका वर्णन

अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गलाः ॥ १ ॥

अर्थः—[धर्माधर्माकाशपुद्गलाः] धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाश और पुद्गलये चार [अजीवकायाः] अजीव तथा बहु प्रदेशी हैं।

टीका

(१) सम्यग्दर्शनकी व्याख्या करते हुए तत्त्वार्थका श्रद्धान सम्यग्दर्शन है ऐसा प्रथम अध्यायके दूसरे सूत्रमें कहा है, फिर तीसरे सूत्रमें तत्त्वोंके नाम बताये हैं, उनमेंसे जीवका अधिकार पूर्ण होने पर अजीव तत्त्वका कथन करना चाहिये। इसलिये इस अध्यायमें मुख्य रूपसे अजीवका स्वरूप कहा है।

(२) जीव अनादिसे स्व स्वरूप नही जानता और इसीलिये उसे सात तत्त्व सम्बन्धी अज्ञान रहता है। शरीर जो पुद्गल पिंड है उसे वह अपना मानता है; इसलिए यहाँ यह बताया है कि यह पुद्गल तत्त्व जीवसे बिल्कुल भिन्न है और जीव रहित है अर्थात् अजीव है।

(३) जीव अनादिसे यह मान रहा है कि शरीरके जन्म होने पर मैं उत्पन्न हुआ और शरीरके वियोग होने पर मेरा नाश हुआ, यह उसकी मुख्य रूपसे अजीव तत्त्व सम्बन्धी विपरीत श्रद्धा है। आकाशके स्वरूपका भी उसे भ्रम है और स्वयं उसका स्वामी है ऐसा भी यह जीव मानता है। यह विपरीत श्रद्धा दूर करनेके लिए इस सूत्रमें यह कहा गया है कि ये द्रव्य अजीव हैं। धर्म और अधर्म द्रव्यको भी वह नहीं जानता, इसीलिए वस्तुके होते हुए भी वह उसका निषेध है, यह दोष भी इस सूत्रसे दूर होता है। आकाशका स्वरूप ४, ६, ७, ९, १८ वें सूत्रोंमें बताया है धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्यका स्वरूप ४-६-७-८-१२ और १७ वें सूत्रोंमें बताया गया है। दिशा आकाशका भाग है।

(४) प्रश्न—'काय' का अर्थ तो शरीर है तथापि यहाँ धर्मादि द्रव्यको काय क्यों कहा है?

उत्तरः—यहाँ उपचारसे उन्हें (धर्मादि द्रव्यको) काय कहा है। जैसे शरीर पुद्गल द्रव्यका समूहरूप है उसी प्रकार धर्मादि द्रव्योंको भी प्रदेशोंके समूहरूप कायके समान व्यवहार है। यहाँ कायका अर्थ बहुप्रदेशी समझना चाहिये।

प्रश्नः—पुद्गल द्रव्य तो एक प्रदेशी है, उसे काय शब्द कैसे लागू होगा?

उत्तरः—उसमें दूसरे पुद्गलोंके साथ मिलनेकी और इसलिए बहुप्रदेशी होनेकी शक्ति है, इसी अपेक्षासे उसे काय कहा जाता है।

(५) धर्म और अधर्म ये दो द्रव्य सर्वज्ञ प्रणीत शास्त्रोंमें हैं। ये नाम शास्त्र रूढ़िसे लिए गए हैं ॥ १ ॥

ये अजीवकाय क्या हैं?

द्रव्याणि ॥ २ ॥

अर्थः—ये चार पदार्थ [द्रव्याणि] द्रव्य हैं (द्रव्यका लक्षण २९, ३०, ३८ वें सूत्रोंमें कहा गया)।

टीका

(१) जो त्रिकाल अपने गुण-पर्यायको प्राप्त होता है उसे द्रव्य कहते हैं।

(२) द्रव्य अपने गुण-पर्यायको प्राप्त होता है, अर्थात् परके गुण पर्यायको कोई प्राप्त नहीं होता, ऐसा (अस्ति-नास्तिरूप) अनेकांत दृष्टिसे अर्थ होता है। पुद्गल अपने पर्यायरूप शरीरको प्राप्त होता है, किन्तु जीव या दूसरा कोई द्रव्य शरीरको प्राप्त नहीं

होता। यदि जीव शरीरको प्राप्त हो तो शरीर जीवकी पर्याय हो जाय; इससे यह सिद्ध हुआ कि जीव और शरीर अत्यन्त भिन्न पदार्थ हैं और इसीलिए जीव शरीरको प्राप्त न होनेसे त्रिकालमें भी शरीरका कुछ कर नहीं सकता ॥ २ ॥

द्रव्यमें जीवकी गिनती

जीवाश्च ॥ ३ ॥

अर्थः—[जीवाः] जीव [च] भी द्रव्य है।

टीका

(१) यहां 'जीवाः' शब्द बहुवचन है; वह यह बतलाता है कि जीव अनेक हैं। जीवका व्याख्यान पहले (पहले चार अध्यायोंमें) हो चुका है; इसके अतिरिक्त ३९ वें सूत्रमें 'काल' द्रव्य बतलाया है, अतः सब मिलकर छह द्रव्य हुए।

(२) जीव बहुतसे हैं और प्रत्येक जीव 'द्रव्य' है ऐसा इस सूत्रमें प्रतिपादन किया है इसका क्या अर्थ है; यह विचार करते हैं। जीव अपने ही गुण-पर्यायको प्राप्त होता है इसलिये उसे भी द्रव्य कहा जाता है। शरीर तो जीव द्रव्यकी पर्याय नहीं; किन्तु पुद्गल द्रव्यकी पर्याय है, क्योंकि उसमें स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण पाया जाता है और चेतन नहीं। कोई द्रव्य दूसरे द्रव्यके गुण पर्यायको प्राप्त ही नहीं होता, इसलिये पुद्गल द्रव्य या उसकी शरीरादि पर्याय चेतन रूपको (जीवतत्त्वको या जीवके किसी गुण पर्यायको) कभी भी प्राप्त नहीं होता। इस नियमके अनुसार जीव वास्तवमें शरीरको प्राप्त होता है यह बनता ही नहीं। जीव प्रत्येक समय अपनी पर्यायको प्राप्त होता है और शरीरको प्राप्त नहीं होता। इसलिये जीव शरीरका कुछ कर नहीं सकता, यह त्रिकाल अबाधित सिद्धान्त है। इस सिद्धान्तको समझे बिना जीव-अजीव तत्त्वकी अनादिसे चली आई भूल कभी दूर नहीं हो सकती।

(३) जीवका शरीरके साथ जो सम्बन्ध दूसरे, तीसरे और चौथे अध्यायमें बताया है वह एक क्षेत्रावगाहरूप सम्बन्ध मात्र बताया है, तादात्म्य सम्बन्ध नहीं बताया, अतः यह व्यवहार कथन है। जो व्यवहारके वचनोंको वास्तवमें निश्चयके वचन मानते हैं वे 'घी का घड़ा' ऐसा कहनेसे घड़ाको वास्तवमें घी का बना हुआ मानते हैं, मिट्टी या धातुका बना हुआ नहीं मानते, इसलिये वे लौकिक मिथ्यादृष्टि हैं। शास्त्रोंमें ऐसे जीवोंको 'व्यवहार विमूढ़' कहा है। जिज्ञासुओंके अतिरिक्त जीव इस व्यवहार मूढ़ताको नहीं छोड़ेंगे और व्यवहार विमूढ़ जीवोंकी संख्या त्रिकाल बहुत ज्यादा रहेगी। इसलिए धर्मप्रेमी जीव (दुःखको

दूर करनेवाले सच्चे उम्मेदवार) इस अध्यायके १-२-३ सूत्रोंकी टीकामें जो स्वरूप बताया है उसे लक्ष्यमें लेकर इस स्वरूपको यथार्थ समझकर जीव और अजीव तत्त्वके स्वरूपकी अनादिसे चली आई भ्रान्ति दूर करें।

पुद्गल द्रव्यसे अतिरिक्त द्रव्योंकी विशेषता

नित्यावस्थितान्यरूपाणि ॥ ४ ॥

अर्थः—ऊपर कहे गये द्रव्योंमेंसे चार द्रव्य [अरूपाणि] रूप रहित [नित्यावस्थितानि] नित्य और अवस्थित हैं।

टीका

(१) **नित्यः**—जो कभी नष्ट न हो उसे नित्य कहते हैं। (देखो सूत्र [illegible] और उसकी टीका)

अवस्थितः—जो अपनी संख्याको उल्लंघन न करे उसे अवस्थित कहते हैं।

अरूपीः—जिसमें स्पर्श, रस, गंध और वर्ण न पाया जाय उसे अरूपी कहते हैं।

(२) पहले दो लक्षण समस्त द्रव्योंमें होते हैं। ऊपर जो आसमानी रंग दिखाई देता है उसे लोग आकाश कहते हैं किन्तु यह तो पुद्गलका रंग है आकाश तो सर्वव्यापक, अरूपी, अजीव एक द्रव्य है।

'नित्य' और 'अवस्थित' का विशेष स्पष्टीकरण

(३) 'अवस्थित' शब्द यह बतलाता है कि प्रत्येक द्रव्य स्वयं परिणमन करता है। परिणाम और परिणामित्व अन्य किसी तरह नहीं बन सकता। यदि एक द्रव्य, उसका गुण या पर्याय दूसरे द्रव्यका कुछ भी करे या करावे तो वह तन्मय (परद्रव्यमय) हो जाय। किन्तु कोई द्रव्य परद्रव्यमय तो नहीं होता। यदि कोई द्रव्य अन्य द्रव्यरूप हो जाये तो उस द्रव्यका नाश हो जाय और द्रव्योंका 'अवस्थितपन' न रहेगा। और फिर द्रव्योंका नाश होने पर उनका 'नित्यत्व' भी न रहेगा।

(४) प्रत्येक द्रव्य अनन्त गुणोंका पिण्ड है। द्रव्यकी नित्यतासे उसका प्रत्येक गुण नित्य रहता है पुनश्च एक गुण उसी गुणरूप रहता है, दूसरे गुणरूप नहीं होता। इस तरह प्रत्येक गुणका अवस्थितत्व है, यदि ऐसा न हो तो गुणका नाश हो जायगा, और गुणके नाश होनेसे सम्पूर्ण द्रव्यका नाश हो जायगा और ऐसा होने पर द्रव्यका 'नित्यत्व' नहीं रहेगा।

(५) जो द्रव्य अनेक प्रदेशी हैं उसका भी प्रत्येक प्रदेश नित्य और अवस्थित रहता है। उनमेंसे एक भी प्रदेश अन्य प्रदेशरूप नहीं होता। यदि एक प्रदेशका स्थान अन्य प्रदेशरूप हो तो प्रदेशोंका अवस्थितपन न रहे। यदि एक प्रदेशका नाश हो तो सम्पूर्ण द्रव्यका नाश हो और ऐसा हो तो उसका नित्यत्त्व न रहे।

(६) प्रत्येक द्रव्यकी पर्याय अपने-अपने समय पर प्रगट होती है और फिर तत्पश्चात् अपने-अपने समय पर बादकी पर्यायें प्रगट होती हैं, और पहले पहलेकी पर्याय प्रगट नही होती, इस तरह पर्यायका अवस्थितपन सिद्ध होता है। यदि पर्याय अपने-अपने समय पर प्रगट न हो और दूसरी पर्यायके समय प्रगट हो तो पर्यायका प्रवाह अवस्थित न रहे और ऐसा होनेसे द्रव्यका अवस्थितपन भी न रहे।

एक पुद्गल द्रव्यका ही रूपित्व बतलाते हैं

रूपिणः पुद्गलाः ॥ ५ ॥

अर्थः—[पुद्गलाः] पुद्गल द्रव्य [रूपिणः] रूपी अर्थात् मूर्तिक हैं।

टीका

(१) 'रूपी' का अर्थ स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण सहित है। (देखो सूत्र २३) पुद्+गल ये दो पद मिलकर पुद्गल शब्द बना है। पुद् अर्थात् इकट्ठे होना-मिल जाना और गल अर्थात् बिछुड़ जाना। स्पर्श गुणकी पर्यायकी विचित्रताके कारण मिलना और बिछुड़ना पुद्गलमें ही होता है इसीलिए जब उसमें स्थूलता आती है तब पुद्गल द्रव्य इन्द्रियोंका विषय बनता है। रूप, रस, गन्ध, स्पर्शका गोल, त्रिकोण, चौकोर, लम्बे इत्यादि रूपसे जो परिणमन है सो मूर्ति है।

(२) पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और द्रव्यमन ये वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्शवाले हैं, इसीसे ये पाँचों पुद्गल द्रव्य है। द्रव्यमन सूक्ष्म पुद्गलके प्रचयरूप आठ पाँखुड़ीके खिले हुए कमलके आकारमें हृदय स्थानमें रहता है, वह रूपी अर्थात् स्पर्श, रस, गन्ध और वर्णवाला होनेसे पुद्गल द्रव्य है। (देखो इस अध्यायके १९ वें सूत्रकी टीका)

(३) नेत्रादि इन्द्रिय सदृश मन स्पर्श, रस, गन्ध और वर्णवाला होनेसे रूपी है, मूर्तिक है, ज्ञानोपयोगमें वह निमित्त कारण है।

शंकाः—शब्द अमूर्तिक है तथापि ज्ञानोपयोगमें निमित्त है इसलिए जो ज्ञानोपयोगका

निमित्त हो सो पुद्गल है ऐसा कहनेमें हेतु व्यभिचारित होता है। (अर्थात् शब्द अमूर्तिक है तथापि ज्ञानोपयोगका निमित्त देखा जाता है इसलिये यह हेतु पक्ष, सपक्ष और विपक्षमें रहनेसे व्यभिचारी हुआ) तो मन मूर्तिक है ऐसा किस कारणसे मानना ?

समाधान.—शब्द अमूर्तिक नहीं है। शब्द पुद्गलजन्य है अतः उसमें मूर्तिकपन है, इसलिये ऊपर दिया हुआ हेतु व्यभिचारी नहीं है किन्तु सपक्षमें ही रहनेवाला है। इससे यह सिद्ध हुआ कि द्रव्यमन पुद्गल है।

(४) उपरोक्त कथनसे यह नहीं समझना कि इन्द्रियोंसे ज्ञान होता है। इन्द्रियाँ तो पुद्गल हैं, इसलिये ज्ञान रहित हैं, यदि इन्द्रियोंसे ज्ञान हो तो जीव चेतन न रहकर जड़-पुद्गल हो जाय, किन्तु ऐसा नहीं है। जीवके ज्ञानोपयोगकी जिसप्रकारकी योग्यता होती है उसी-प्रकार पुद्गल इन्द्रियोंका संयोग होता है, ऐसा उनका निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, किन्तु *निमित्त* परद्रव्य होनेसे उसका आत्मामें अत्यन्त अभाव है और उससे वह-आत्मामें कुछ कर सकता है या सहायता कर सकता है ऐसा मानना तो विपरीतता है।

(५) सूत्रमें 'पुद्गलाः' बहुवचन है वह यह बतलाता है कि पुद्गलोंकी संख्या बहुत है तथा पुद्गलके अणु, स्कंधादि भेदके कारण कई भेद हैं।

(६) मन तथा सूक्ष्म पुद्गल इन्द्रियों द्वारा नहीं जाने जा सकते किन्तु जब वह सूक्ष्मता छोड़कर स्थूलता धारण करते हैं तब इन्द्रियों द्वारा जाने जा सकते हैं और तभी उनमें स्पर्श, रस, गन्ध, और वर्णकी अवस्था प्रगट दिखाई देती है इसलिये यह निश्चय होता है कि सूक्ष्म अवस्थामें भी वह स्पर्श, रस, गन्ध और वर्णवाले हैं।

(७) पुद्गल परमाणुओंका एक अवस्थासे दूसरी अवस्थामें परिवर्तन हुआ करता है। जैसे मिट्टीके परमाणुओंमेंसे जल होता है, पानीसे बिजली-अग्नि होती है, वायुके मिश्रणसे जल होता है। इसलिये यह मान्यता ठीक नहीं कि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, मन इत्यादिके परमाणु भिन्न भिन्न प्रकारके होते हैं क्योंकि पृथ्वी आदि समस्त पुद्गलके ही विकार हैं।

अब धर्मादि द्रव्योंकी संख्या बतलाते हैं

आ आकाशादेकद्रव्याणि ॥ ६ ॥

अर्थः— [आ आकाशात्] आकाश पर्यंत [एकद्रव्याणि] एक एक द्रव्य हैं अर्थात् धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य और आकाश द्रव्य एक एक हैं।

टीका

जीव द्रव्य अनन्त हैं, पुद्गल द्रव्य अनन्तानन्त हैं; और काल द्रव्य असंख्यात अणुरूप है। पुद्गल द्रव्य एक नहीं है यह बतानेके लिए, इस सूत्रमें पहले सूत्रकी संधि करनेके लिये 'आ' शब्दका प्रयोग किया है।

अब इनका गमन रहितत्व सिद्ध करते हैं

निष्क्रियाणि च ॥ ७ ॥

अर्थः—[च] और फिर यह धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य और आकाश द्रव्य [निष्क्रियाणि] क्रिया रहित हैं अर्थात् ये एक स्थानसे दूसरे स्थानको प्राप्त नहीं होते।

टीका

(१) क्रिया शब्दके कई अर्थ है—जैसे-गुणकी परिणति, पर्याय, एक क्षेत्रसे दूसरे क्षेत्रमें गमन। इन अर्थोंमेंसे अन्तिम अर्थ यहां लागू होता है। काल द्रव्य भी क्षेत्रके गमनागमनसे रहित है, किन्तु यहां उसके बतलानेका प्रकरण नहीं है, क्योंकि पहिले सूत्रमें कहे गए चार द्रव्योंका प्रकरण चल रहा है, जीव और कालका विषय नहीं चल रहा है। पुद्गल द्रव्य अणु और स्कंध दोनों दशाओंमें गमन करता है अर्थात् एक क्षेत्रसे दूसरे क्षेत्रमें गमन करता है इसलिये उसे यहां छोड़ दिया है। इस सूत्रमें तीन द्रव्योंमें क्रियाका अभाव बताया और बाकी रहे पुद्गल द्रव्यमें क्रिया—हलन चलनका अस्तित्व बतानेकी अनेकान्त सिद्धान्तके अनुसार क्रियाका स्वरूप सिद्ध किया है।

(२) उत्पाद व्ययरूप क्रिया प्रत्येक द्रव्यमें समय समय पर होती है, वह इन द्रव्योंमें भी है ऐसा समझना चाहिये।

(३) द्रव्योंमें दो तरहकी शक्ति होती है एक भाववती और दूसरी क्रियावती, उनमेंसे भाववती शक्ति समस्त द्रव्योंमें है और उससे उस शक्तिका परिणमन—उत्पाद व्यय प्रत्येक द्रव्यमें द्रव्यत्वको कायम रखकर होता है। क्रियावती शक्ति जीव और पुद्गल इन दो ही द्रव्योंमें होती है। यह दोनों द्रव्य एक क्षेत्रसे दूसरे क्षेत्रमें जाते हैं, किन्तु इतनी विशेषता है कि जीव जब विकारी हो तब और सिद्धगतिमें जाते समय क्रियावान होता है और सिद्धगतिमें वह स्थिररूपसे रहता है। (सिद्धगतिमें जाते समय जीव एक समय में सात राजू जाता है) सूक्ष्म पुद्गल भी शीघ्रगतिसे एक समयमें १४ राजू जाता है अर्थात् पुद्गलमें

मुख्य रूपसे हलन-चलनरूप क्रिया है, जबकि जीव द्रव्यमें संसारी अवस्थामें किसी किसी समय गमनरूप क्रिया होती है।

अब धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य और एक जीव द्रव्यके प्रदेशोंकी संख्या बताते हैं

असंख्येयाः प्रदेशाः धर्माधर्मैकजीवानाम् ॥ ८ ॥

अर्थः—[धर्माधर्मैकजीवानाम्] धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य और एक जीव द्रव्यके [असंख्येयाः] असंख्यात [प्रदेशाः] प्रदेश हैं।

टीका

(१) प्रदेश—आकाशके जितने क्षेत्रको एक पुद्गल परमाणु रोके उतने क्षेत्रको एक प्रदेश कहते हैं।

(२) ये प्रत्येक द्रव्य द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे अखण्ड, एक, निरंश हैं। पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे असंख्यात प्रदेशी हैं। उनके असंख्यात प्रदेश हैं इससे कुछ उसके असंख्य खण्ड या टुकड़े नहीं हो जाते। और पृथक् पृथक् एक एक प्रदेश जितने टुकड़ोंके मिलनेसे बना हुआ भी वह द्रव्य नहीं है।

(३) आकाश भी द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे अखण्ड, निरंश, सर्वगत, एक और भिन्नता रहित है। पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे जितने भागको परमाणु रोके उतने भागको प्रदेश कहते हैं। आकाशमें कोई टुकड़े नहीं हैं या उसके टुकड़े नहीं हो जाते। टुकड़ा तो संयोगी पदार्थका होता है; पुद्गलका स्कंध संयोगी है इसलिये जब वह खण्ड होने योग्य हो तब खण्ड टुकड़े रूपमें परिणमन करता है।

(४) आकाशको इस सूत्रमें नहीं लिया, क्योंकि उसके अनन्त प्रदेश हैं इसलिये वह नवमें सूत्रमें कहा जायगा।

(५) धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और जीवके प्रदेश असंख्यात हैं और वे संख्याकी अपेक्षासे लोक प्रमाण असंख्यात हैं तथापि उनके प्रदेशोंकी व्यापक अवस्थामें अन्तर है। धर्म और अधर्म द्रव्य सम्पूर्ण लोकमें व्याप्त हैं। यह बारहवें और तेरहवें सूत्रोंमें कहा है और जीवके प्रदेश उस समयके जीवके शरीरके प्रमाणसे चौड़े या छोटे होते हैं (यह सोलहवें सूत्रमें कहा है) जीव जब केवलि-समुद्घात अवस्था धारण करता है तब उसके प्रदेश सम्पूर्ण लोकाकाशमें व्याप्त होते हैं तथा समुद्घातके समय उस उस शरीरमें प्रदेश रहकर कितने ही प्रदेश बाहर निकलते हैं बीचमें खण्ड नहीं पड़ते।

(६) दूसरे समुद्घातका स्वरूप अध्याय २ सूत्र ४८-४९ की टीकामें कहा आ चुका है और विशेष-बृहद्‌द्रव्यसंग्रह गा० १० की टीकामें देखो।

अब आकाशके प्रदेश बतलाते हैं

आकाशस्यानन्ताः ॥ ९ ॥

अर्थः— [आकाशस्य] आकाशके [अनंताः] अनन्त प्रदेश हैं।

टीका

(१) आकाशके दो विभाग है—अलोकाकाश और लोकाकाश। उसमेंसे लोकाकाशके असंख्यात प्रदेश हैं। जितने प्रदेश धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकायके हैं उतने ही प्रदेश लोकाकाशके हैं फिर भी उनका विस्तार एक सरीखा है। लोकाकाश छहों द्रव्योंका स्थान है। इस बारेमें बारहवें सूत्रमें कहा है। आकाशके जितने हिस्सेको एक पुद्‌गल परमाणु रोके, उसे प्रदेश कहते हैं।

(२) दिशा, कोना, ऊपर, नीचे ये सब आकाशके विभाग हैं।

अब पुद्‌गलके प्रदेशोंकी संख्या बताते हैं

संख्येयाऽसंख्येयाश्च पुद्‌गलानाम् ॥ १० ॥

अर्थः—[पुद्‌गलानाम्] पुद्‌गलोंके [संख्येयाऽसंख्येयाः च] संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेश हैं।

टीका

(१) इसमें पुद्‌गलोंकी संयोगी पर्याय (स्कन्ध) के प्रदेश बताये हैं। प्रत्येक अणु स्वतंत्र पुद्‌गल है। उसके एक ही प्रदेश होता है ऐसा ११ वें सूत्रमें कहा है।

(२) स्कंध दो परमाणुओंसे लेकर अनन्त परमाणुओंका होता है, इसका कारण ३३ वें सूत्रमें दिया गया है (बताया गया है)।

(३) शंकाः—जबकि लोकाकाशके असंख्यात ही प्रदेश हैं तो उसमें अनन्त प्रदेशवाला पुद्‌गल द्रव्य तथा दूसरे द्रव्य कैसे रह सकते हैं?

समाधानः—पुद्‌गल द्रव्यमें दो तरहका परिणमन होता है, एक सूक्ष्म और दूसरा स्थूल। जब उसका सूक्ष्म परिणमन होता है तब लोकाकाशके एक प्रदेशमें भी अनन्त

प्रदेशवाला पुद्गल स्कंध रह सकता है। और फिर सब द्रव्योंमें एक दूसरेको अवगाहन देनेकी शक्ति है, इसलिये अल्पक्षेत्रमें ही समस्त द्रव्योंके रहनेमें कोई बाधा उपस्थित नहीं होती। आकाशमें सब द्रव्योंको एक साथ स्थान देनेकी सामर्थ्य है, इसलिये एक प्रदेशमें अनन्तानन्त परमाणु रह सकते हैं, जैसे एक कमरेमें एक दीपकका प्रकाश रह सकता है और उसी कमरेमें उतने ही विस्तारमें पचास दीपकोंका प्रकाश रह सकता है।

अब अणुको एक प्रदेशी बतलाते हैं।

नाणोः ॥ ११ ॥

अर्थः—[अणोः] पुद्गल परमाणुके [न] दो इत्यादि प्रदेश नहीं हैं अर्थात् एक प्रदेशी है।

टीका

१ अणु एक द्रव्य है, उसके एक ही प्रदेश है, क्योंकि परमाणुओंका खण्ड नहीं होता।

२. द्रव्योंके अनेकान्त स्वरूपका वर्णन

(१) द्रव्य मूर्तिक और अमूर्तिक दो प्रकारके हैं।
(२) अमूर्तिक द्रव्य चेतन और जड़के भेदसे दो प्रकारके हैं।
(३) मूर्तिक द्रव्य दो तरहके हैं, एक अणु और दूसरा स्कन्ध।
(४) मूर्तिक द्रव्यके सूक्ष्म और बादर इसतरह दो भेद हैं।
(५) सूक्ष्म मूर्तिक द्रव्य दो तरहका है एक सूक्ष्मसूक्ष्म और दूसरा सूक्ष्म।
(६) स्कन्ध, सूक्ष्म और बादरके भेदसे दो प्रकारका है।
(७) सूक्ष्म अणु दो तरहके हैं—१-पुद्गल अणु और २-कालाणु।
(८) अक्रिय (गमनागमनसे रहित चार द्रव्य) और सक्रिय (गमनागमन सहित जीव और पुद्गल) के भेदसे द्रव्य दो तरहके हैं।
(९) द्रव्य दो तरहके हैं—१-एक प्रदेशी और २-बहुप्रदेशी।
(१०) बहुप्रदेशी द्रव्य दो भेदरूप है संख्यात प्रदेशवाला और संख्यासे पर प्रदेशवाला।
(११) संख्यातीत बहुप्रदेशी द्रव्य दो भेदरूप हैं—असंख्यात प्रदेशी और अनन्त प्रदेशी।

(१२) अनन्त प्रदेशी द्रव्य दो तरहका है—अखण्ड आकाश और २—अनन्त प्रदेशी पुद्गल स्कन्ध ।

(१३) लोकके असंख्यात प्रदेशोंको रोकनेवाले द्रव्य दो तरहके हैं—अखण्ड द्रव्य (धर्म, अधर्म तथा केवल समुद्घात करनेवाला जीव) और पुद्गल महा स्कन्ध यह संयोगी द्रव्य है ।

(१४) अखण्ड लोक प्रमाण असंख्यात प्रदेशी द्रव्य दो प्रकारका है, १—धर्म तथा अधर्म (लोक-व्यापक) और २—जीव (लोक-प्रमाण) संख्यासे असंख्यात प्रदेशी और विस्तारमें शरीरके प्रमाणसे व्यापक है ।

(१५) अमूर्त बहुप्रदेशी द्रव्य दो भेदरूप हैं—संकोच—विस्तार रहित (आकाश, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य तथा सिद्ध जीव) और संकोच विस्तार सहित (संसारी जीवके प्रदेश संकोच-विस्तार सहित हैं)

[सिद्ध जीव चरमशरीरसे किंचित न्यून होते हैं]

(१६) द्रव्य दो तरहके हैं—सर्वगत (आकाश) और देशगत (अवशिष्ट पांच द्रव्य)

(१७) सर्वगत दो प्रकारसे हैं—क्षेत्र सर्वगत (आकाश) और भावसे सर्वगत (ज्ञानशक्ति)

(१८) देशगत दो भेद रूप है—एक प्रदेशगत (परमाणु, कालाणु तथा एक प्रदेश स्थित सूक्ष्म स्कन्ध) और अनेक देशगत (धर्म, अधर्म, जीव और पुद्गल स्कंध)।

(१९) द्रव्योंमें अस्ति दो प्रकारसे हैं—अस्तिकाय (आकाश, धर्म, अधर्म, जीव तथा पुद्गल) और काय रहित अस्ति (कालाणु)।

(२०) अस्तिकाय दो तरहसे है—अखण्ड अस्तिकाय (आकाश, धर्म, अधर्म तथा जीव) और उपचरित अस्तिकाय (संयोगी पुद्गल स्कन्ध, पुद्गलमें ही समूहरूप—स्कन्धरूप होनेकी शक्ति है) ।

(२१) प्रत्येक द्रव्यके गुण तथा पर्यायमें अस्तित्व दो तरहसे है—स्वसे अस्तित्व और परकी अपेक्षासे नास्तिरूपका अस्तित्व ।

(२२) प्रत्येक द्रव्यमें अस्तित्व दो तरहसे है—ध्रुव और उत्पाद व्यय ।

(२३) द्रव्योंमें दो तरहकी शक्ति है—एक भाववती दूसरी क्रियावती ।

(२४) द्रव्योंमें संबंध दो तरह का है—विभाव सहित (जीव और पुद्गलके अशुद्ध दशामें विभाव होता है) और विभाव रहित (दूसरे द्रव्य त्रिकाल विभाव रहित हैं)

(२५) द्रव्योंमें विभाव दो तरहसे है—१-जीवके विजातीय पुद्गलके साथ, २-पुद्गलके सजातीय एक दूसरेके साथ तथा सजातीय पुद्गल और विजातीय जीव इन दोनोंके साथ।

नोट:—स्याद्वाद समस्त वस्तुओंके स्वरूपको साधनेवाला, अर्हंत सर्वज्ञका एक अस्खलित शासन है। वह यह बतलाता है कि सभी 'अनेकान्तात्मक है'। स्याद्वाद वस्तुके यथार्थ स्वरूपका निर्णय कराता है। यह संशयवाद नहीं है। कितने ही लोग कहते हैं कि स्याद्वाद प्रत्येक वस्तुको नित्य और अनित्य आदि दो तरहसे बतलाता है इसलिए संशयका कारण है किन्तु उनका यह कथन मिथ्या है। अनेकान्तमें दोनों पक्ष निश्चित हैं, इसलिए यह संशयका कारण नहीं है।

१. द्रव्य परमाणु तथा भाव परमाणुका दूसरा अर्थ, जो यहाँ उपयुक्त नहीं है।

प्रश्नः—'चारित्रसार' इत्यादि शास्त्रोंमें कहा है कि यदि द्रव्य परमाणु और भाव परमाणुका ध्यान करे तो केवलज्ञान हो, इसका क्या अर्थ है।

उत्तरः—वहाँ द्रव्य परमाणुसे आत्मद्रव्यकी सूक्ष्मता और भावपरमाणुसे भावकी सूक्ष्मता बतलाई है। वहाँ पुद्गल परमाणुका कथन नहीं है। रागादि विकल्पकी उपाधिसे रहित आत्मद्रव्यको सूक्ष्म कहा जाता है। क्योंकि निर्विकल्प समाधिका विषय आत्मद्रव्य मन और इन्द्रियोंके द्वारा नहीं जाना जाता। भाव शब्दका अर्थ स्वसंवेदन परिणाम है। परमाणु शब्दसे भावकी सूक्ष्म अवस्था समझना चाहिए क्योंकि वीतराग, निर्विकल्प, समरसीभाव पांचों इन्द्रियों और मनके विषयसे परे है। (देखो परमात्मप्रकाश अध्याय २ गाथा ३३ की टीका, पृष्ठ १९८-१९९) यह अर्थ यहाँ लागू नहीं होता है।

प्रश्नः—द्रव्य परमाणुका वह अर्थ यहाँ लागू क्यों (उपयुक्त) नहीं है।

उत्तरः—इस सूत्रमें जिस परमाणुका वर्णन है वह पुद्गल परमाणु है, इसलिये द्रव्य परमाणुका उपरोक्त अर्थ यहां लागू नहीं होता।

अब समस्त द्रव्योंके रहनेका स्थान बतलाते हैं

लोकाकाशेऽवगाहः ॥ १२ ॥

अर्थ—[अवगाहः] उपरोक्त समस्त द्रव्योंका अवगाह (स्थान) [लोकाकाशे] लोकाकाशमें है।

टीका

(१) आकाशके जितने हिस्सेमें जीव आदि छहों द्रव्य हैं उतने हिस्सेको लोकाकाश कहते हैं और अवशिष्ट आकाशको अलोकाकाश कहते हैं।

(२) आकाश एक अखण्ड द्रव्य है। उसमें कोई भाग नहीं होते, किन्तु परद्रव्यके अवगाहकी अपेक्षासे यह भेद होता है;—अर्थात् निश्चयसे आकाश एक अखण्ड द्रव्य है, व्यवहारसे परद्रव्यके निमित्तकी अपेक्षासे ज्ञानमें उसके दो भाग होते हैं—लोकाकाश और अलोकाकाश।

(३) प्रत्येक द्रव्य वास्तवमें अपने अपने क्षेत्रमें रहता है; लोकाकाशमें रहता है, यह परद्रव्यकी अपेक्षासे निमित्तका कथन है; उसमें पर क्षेत्रकी अपेक्षा आती है, इसलिये वह व्यवहार है। ऐसा नही है कि आकाश पहले हुआ हो तथा दूसरे द्रव्य उसमें बादमें उत्पन्न हुए हों क्योंकि सभी द्रव्य अनादि अनन्त हैं।

(४) आकाश स्वयं अपनेको अवगाह देता है, वह अपनेको निश्चय अवगाहरूप है। दूसरे द्रव्य आकाशसे बड़े नहीं हैं और न हो ही सकते हैं, इसलिये उसमें व्यवहार अवगाहकी कल्पना नही हो सकती।

(५) सभी द्रव्योंमें अनादि पारिणामिक, युगपवत्व हैं, आगे-पीछेका भेद नहीं है। जैसे युतसिद्धके व्यवहारसे आधार-आधेयत्व होता है उसीप्रकार अयुतसिद्धके भी व्यवहारसे आधार-आधेयत्व होता है।

युतसिद्ध=बादमें मिले हुए, अयुतसिद्ध=मूलसे एकमेक। दृष्टान्त-'टोकरीमें बेर' बादमें मिले हुएका दृष्टान्त है; और 'खम्भेमें सार' मूलतः एकत्वका दृष्टान्त है।

(६) एवंभूत नयकी अपेक्षासे अर्थात् जिस स्वरूपसे पदार्थ है उस स्वरूपके द्वारा निश्चय करनेवाले नयकी अपेक्षासे सभी द्रव्योंके निज निजका आधार है। जैसे-किसीसे प्रश्न किया कि तुम कहाँ हो? तो वह कहता है कि मैं निजमें हूं। इसी तरह निश्चय नयमें प्रत्येक द्रव्यको स्व स्वका आधार है। आकाशसे दूसरे कोई द्रव्य बड़े नहीं हैं। आकाश सभी ओरसे अनन्त है इसलिये व्यवहार नयसे यह कहा जा सकता है कि वह धर्मादिका आधार है। धर्मादिक द्रव्य लोकाकाशके बाहर नहीं है यही सिद्ध करनेके लिये यह आधार-आधेय सम्बन्ध माना जाता है।

(७) जहाँ धर्मादिक द्रव्य देखे जाते हैं उस आकाशका भाग लोक कहलाता है और जहाँ धर्मादिक द्रव्य नहीं देखे जाते उस भागको अलोक कहते हैं। यह भेद—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, जीव, पुद्गल और कालके कारण होता है, क्योंकि धर्म द्रव्य और अधर्म

द्रव्य सम्पूर्ण लोकाकाशमें व्याप्त है। समस्त लोकाकाशमें ऐसा कोई भी प्रदेश नहीं है (एक भी प्रदेश नहीं है) जहाँ जीव न हो। तथापि जीव जब केवल समुद्घात करता है तब समस्त लोकाकाशमें व्याप्त हो जाता है। पुद्गलका अनादि अनन्त एक महा स्कन्ध, जो लोकाकाशव्यापी है और सारा ही लोक भिन्न भिन्न पुद्गलोंसे भी भरा हुआ है। कालाणु एक एक अलग अलग रत्नोंकी राशिकी तरह समस्त लोकाकाशमें भरे हुए हैं।

अब धर्म-अधर्म द्रव्यका अवगाहन बतलाते हैं

धर्माधर्मयोः कृत्स्ने ॥ १३ ॥

अर्थ—[धर्माधर्मयोः] धर्म और अधर्म द्रव्यका अवगाह [कृत्स्ने] तिलमें तेलकी तरह समस्त लोकाकाशमें है।

टीका

(१) लोकाकाशमें द्रव्यके अवगाहके प्रकार पृथक् पृथक् हैं, ऐसा यह सूत्र बतलाता है। इस सूत्रमें धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्यके अवगाहका प्रकार बतलाया है। पुद्गलके अवगाहका प्रकार १४ वें सूत्रमें और जीवके अवगाहका प्रकार १५ वें तथा १६ वें सूत्रमें दिया गया है। कालद्रव्य असंख्यात अलग अलग हैं, इसलिये उसका प्रकार स्पष्ट है अर्थात् कहनेमें नहीं आया, किन्तु इसी सूत्र परसे उसका गर्भित कथन समझ लेना चाहिए।

(२) यह सूत्र यह भी बतलाता है कि धर्म द्रव्यके प्रत्येक प्रदेशका अधर्म द्रव्यके प्रत्येक प्रदेशमें व्याघात रहित (बे रोक टोक) प्रवेश है और अधर्म द्रव्यके प्रदेशका धर्म द्रव्यके प्रत्येक प्रदेशमें व्याघात रहित प्रवेश है। यह परस्परमें प्रवेशपना धर्म-अधर्मकी अवगाहन शक्तिके निमित्तसे है।

(३) भेद-संघातपूर्वक आदि सहित जिसका सम्बन्ध है, ऐसे अति स्थूल स्कन्धोंमें जैसे किसीके स्थूल प्रदेश रहनेमें विरोध है और धर्मादिक द्रव्योंके आदिमान सम्बन्ध नहीं है किन्तु पारिणामिक अनादि सम्बन्ध है इसलिए परस्परमें विरोध नहीं हो सकता। जल, भस्म, शक्कर आदि मूर्तिक पदार्थोंके द्रव्य भी एक क्षेत्रमें विरोध रहित रहते हैं तो फिर अमूर्तिक-धर्म, अधर्म और आकाशके साथ रहनेमें विरोध कैसे हो सकता है? अर्थात् नहीं हो सकता।

अब पुद्गलका अवगाहन बतलाते हैं

एकप्रदेशादिषु भाज्यः पुद्गलानाम् ॥ १४ ॥

अर्थः—[पुद्गलानाम्] पुद्गल द्रव्यका अवगाह [एक प्रदेशादिषु] लोकाकाशके

एक प्रदेशसे लेकर संख्यात और असंख्यात प्रदेश पर्यन्त [भाज्यः] विभाग करने योग्य है—जानने योग्य है।

टीका

समस्त लोक सर्व ओर सूक्ष्म और बादर अनेक प्रकारके अनन्तानन्त पुद्गलोंसे प्रगाढ़ रूपसे भरा हुआ है। इसप्रकार सम्पूर्ण पुद्गलोंका अवगाहन सम्पूर्ण लोकमें है। अनन्तानन्त पुद्गल लोकाकाशमें कैसे रह सकते हैं, इसका स्पष्टीकरण इस अध्यायके १० वें सूत्रकी टीकामें किया गया है, उसे समझ लेना चाहिए।

अब जीवोंका अवगाहन बतलाते हैं

असंख्येयभागादिषु जीवानाम् ॥ १५ ॥

अर्थः—[जीवानाम्] जीवोंका अवगाह [असंख्येयभागादिषु] लोकाकाशके असंख्यात भागसे लेकर संपूर्ण लोक क्षेत्रमें है।

टीका

जीव अपनी छोटीसे छोटी अवगाहनरूप अवस्थामें भी असंख्यात प्रदेश रोकता है। जीवोंके सूक्ष्म अथवा बादर शरीर होते हैं। सूक्ष्म शरीर वाले एक निगोद जीवके अवगाहन योग्य क्षेत्रमें साधारण शरीरवाला (-निगोद) जीव अनन्तानन्त रहते हैं जो भी परस्पर बाधा नहीं पाते। (-सर्वार्थसिद्धि टीका) जीवोंका जघन्य अवगाहन घनांगुलके असंख्यातवां भाग कहा है। धवला पु. ४ पृ. २२, सर्वा. अ. ८ सूत्र २४ की टीका-) सूक्ष्म जीव तो समस्त लोकमें हैं। लोकाकाशका कोई प्रदेश ऐसा नहीं है जिसमें जीव न हों।

जीवका अवगाहन लोकके असंख्यात भागमें कैसे है?

प्रदेशसंहारविसर्पाभ्यां प्रदीपवत् ॥ १६ ॥

अर्थः—[प्रदीपवत्] दीपकके प्रकाशकी भांति [प्रदेशसंहारविसर्पाभ्यां] प्रदेशोंके संकोच और विस्तारके द्वारा जीव लोकाकाशके असंख्यातादिक भागोंमें रहता है।

टीका

जैसे एक बड़े मकानमें दीपक रखनेसे उसका प्रकाश समस्त मकानमें फैल जाता है और उसी दीपकको एक छोटे घड़ेमें रखनेसे उसका प्रकाश उसीमें मर्यादित हो जाता है; उसीप्रकार जीव भी छोटे या बड़े जैसे शरीरको प्राप्त होता है उसमें उतना ही विस्तृत या

रहकर परिणमन करता है किन्तु दूसरेमें प्रवेश नहीं कर सकता इस गुणको 'अगुरुलघुत्व' गुण कहते हैं। इसी शक्तिके कारण द्रव्यका द्रव्यत्व रहता है और एक द्रव्य दूसरे द्रव्यरूप परिणमित नहीं होता, और एक गुण दूसरे गुणरूप परिणमित नहीं होता, तथा एक द्रव्यके अनेक (अनन्त) गुण बिखर कर अलग नहीं हो जाते।

(१०) इस तरह प्रत्येक द्रव्यमें सामान्य गुण बहुतसे होते हैं किन्तु मुख्य रूपसे छह सामान्य गुण हैं १—अस्तित्व (जो इस सूत्रमें 'सत्' शब्दके द्वारा स्पष्ट रूपसे बतलाया है), २-वस्तुत्व ३-द्रव्यत्व ४-प्रमेयत्व ५-अगुरुलघुत्व और ६-प्रदेशत्व।

(११) प्रदेशत्व गुणकी ऐसी व्याख्या है कि जिस शक्तिके कारण द्रव्यका कोई न कोई आकार अवश्य हो।

(१२) इन प्रत्येक सामान्य गुणोंमें 'सत्' (अस्तित्व) मुख्य है क्योंकि उसके द्वारा द्रव्यका अस्तित्व (होना रूप-सत्ता) निश्चित होता है। यदि द्रव्य हो तो ही दूसरे गुण हो सकते हैं, इसलिये यहाँ 'सत्'को द्रव्यका लक्षण कहा है।

(१३) प्रत्येक द्रव्यके विशेष लक्षण पहले कहे जा चुके हैं, वे निम्न प्रकार हैं—(१) जीव—अध्याय २, सूत्र १ तथा ८ (२) अजीवके पाँच भेदोंमेंसे पुद्गल अध्याय ५ सूत्र २३। धर्म और अधर्म—अध्याय ५ सूत्र १७। आकाश—अध्याय ५, सूत्र १८ और काल—अध्याय ५ सूत्र २२।

जीव तथा पुद्गलकी विकारी अवस्थाका निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध इस अध्यायके सूत्र १९, २०, २१, २४, २५, २६, २७, २८, ३२, ३५, ३६, ३८ में दिया है, उनमें जीवका एक दूसरेका सम्बन्ध सूत्र २० में बताया है। जीवका पुद्गलके साथका सम्बन्ध सूत्र १९, २० में बताया है और पुद्गलका परस्परका सम्बन्ध बाकीके सूत्रोंमें बताया गया है।

(१४) 'सत्' लक्षण कहनेसे यह सिद्ध हुआ कि स्वकी अपेक्षासे 'द्रव्य सत्' है। इसका यह अर्थ हुआ कि वह स्वरूपसे है पर रूपसे नहीं। 'अस्तित्व' प्रगट करने और 'नास्तित्व' गर्भित करके (इस सूत्रमें) कहकर यह बतलाया है कि प्रत्येक द्रव्य स्वयं स्वसे है और पर रूपसे न होनेसे एक द्रव्य अपना सब कुछ कर सकता है, किन्तु दूसरे द्रव्यका कभी कुछ नहीं कर सकता। इस सिद्धान्तका नाम 'अनेकान्त' है और यह इस अध्यायके ३२ वें सूत्रमें बतलाया गया है ॥ २९ ॥

अब सत्का लक्षण बताते हैं

उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् ॥ ३० ॥

अर्थः—[उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं] जो उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य सहित हो [सत्] सो सत् है।

टीका

(१) जगत्में सत्के सम्बन्धसे कई असत् मान्यतायें चल रही हैं। कोई 'सत्'को सर्वथा कूटस्थ—जो कभी न बदले ऐसा मानते हैं; कोई ऐसा कहते हैं कि सत् ज्ञानगोचर नहीं है, इसलिए 'सत्'का यथार्थ त्रिकाली अबाधित स्वरूप इस सूत्रमें कहा है।

(२) प्रत्येक वस्तुका स्वरूप 'स्थायी रहते हुई बदलता है' उसे इंगलिशमें Permanancy with a change (बदलने के साथ स्थायित्व) कहा है। उसे दूसरी तरह यों भी कहते हैं कि-No Substance is destroyed, every substance changes its from. (कोई वस्तु नाश नही होती, प्रत्येक वस्तु अपनी अवस्था बदलती है)।

(३) **उत्पादः**—चेतन अथवा अचेतन द्रव्यमें नवीन अवस्थाका प्रगट होना सो उत्पाद है। प्रत्येक उत्पाद होने पर पूर्वकालसे चला आया जो स्वभाव या स्वजाति है वह कभी छूट नही सकती।

व्ययः—स्वजाति यानी मूल स्वभावके नष्ट हुए बिना जो चेतन तथा अचेतन द्रव्यमें पूर्व अवस्थाका विनाश (उत्पादके समय ही) होना सो व्यय है।

ध्रौव्यः—अनादि अनन्तकाल तक सदा बना रहनेवाला मूल स्वभाव जिसका व्यय या उत्पाद नही होता उसे ध्रौव्य कहते हैं (देखो तत्त्वार्थसार अध्याय ३ गाथा ६ से ८)

(४) सर्वार्थसिद्धिमें ध्रौव्यकी व्याख्या इस सूत्रकी टीकामें पृष्ठ १०५ में संस्कृतमें निम्नप्रकार दी है:—

"अनादिपारिणामिकस्वभावेन व्ययोदयाभावात् ध्रुवति स्थिरीभवतीति ध्रुवः।"

अर्थः—जो अनादि पारिणामिक स्वभावके द्वारा व्यय तथा उत्पादके अभावसे ध्रुव रहता है—स्थिर रहता है वह ध्रुव है।

(५) इस सूत्रमें 'सत्' का अनेकांत रूप बतलाया है। यद्यपि त्रिकालापेक्षामे सत् 'ध्रुव है तो भी समय समय पर नवीन पर्याय उत्पन्न होती है और पुरानी पर्याय नष्ट

होती है अर्थात् द्रव्यमें समा जाती है, वर्तमान कालकी अपेक्षासे अभावरूप होता है—इस तरह कथंचित् नित्यत्व और कथंचित् अनित्यत्व द्रव्यका अनेकांतपन है।

(६) इस सूत्रमें पर्यायका भी अनेकांतपन बतलाया है। जो उत्पाद है सो अस्तिरूप पर्याय है और जो व्यय है सो नास्तिरूप पर्याय है। स्वकी पर्याय स्वसे होती है परसे नहीं होती ऐसा 'उत्पाद' से बताया। स्व पर्यायकी नास्ति—अभाव भी स्वसे ही होता है, परसे नहीं होता। 'प्रत्येक द्रव्यका उत्पाद-व्यय स्वतंत्र उस द्रव्यसे है" ऐसा बताकर द्रव्य, गुण तथा पर्यायकी स्वतंत्रता बतलाई-परका असहायकपन बतलाया।

(७) धर्म (शुद्धता) आत्मामें द्रव्यरूपसे त्रिकाल भरपूर है, अनादिसे जीवके पर्यायरूपमें धर्म प्रगट नहीं हुआ किंतु जीव जब पर्यायमें धर्म व्यक्त करे तब व्यक्त होता है, ऐसा उत्पाद शब्दका प्रयोग बताया और उसी समय विकारका व्यय होता है ऐसा व्यय शब्दको कहकर बताया। इस अविकारी भावके प्रगट होने और विकारीभावके व्ययका लाभ त्रिकाल मौजूद रहनेवाले ऐसे ध्रुव द्रव्यके प्राप्त होता है ऐसा ध्रौव्य शब्द अन्तमें देकर बतलाया है।

(८) प्रश्नः—"युक्त" शब्द एक पदार्थसे दूसरे पदार्थका पृथक्त्व बतलाता है—जैसे—दण्डयुक्त दण्डी। ऐसा होनेसे उत्पाद-व्यय और ध्रौव्यका द्रव्यसे भिन्न होना समझा जाता है अर्थात् द्रव्यके उत्पाद-व्यय और ध्रौव्यका द्रव्यमें अभावका प्रसंग आता है उसका क्या स्पष्टीकरण है?

उत्तर—'युक्त' शब्द जहाँ अभेदकी अपेक्षा हो वहाँ भी प्रयोग किया जाता है जैसे—सार युक्त स्तम्भ। यहाँ युक्त शब्द अभेदनयसे कहा है। यहाँ युक्त शब्द एकमेकताके अर्थमें समझना।

(९) सत् स्वतंत्र और स्व सहायक है अतः उत्पाद और व्यय भी प्रत्येक द्रव्यमें स्वतंत्ररूपसे होते हैं। श्री कुन्दकुन्दाचार्यने प्रवचनसार गा० १०७ में पर्यायको भी सत्पना कहा है—'सद्द्रव्यं सच्च गुणः सच्चैव च पर्याय इति विस्तारः।"

प्रश्न।—जीवमें होनेवाली विकारी पर्याय पराधीन कही जाती है इसका क्या कारण है?

उत्तरः—पर्याय भी एक समय स्थायी अनित्य सत् होनेसे विकारी पर्याय भी जीव जब स्वतंत्ररूपसे अपने पुरुषार्थके द्वारा करे तब होती है। यदि ऐसा न माना जाय तो द्रव्यका लक्षण 'सत्' सिद्ध न हो और इसलिए द्रव्यका नाश हो जाय। जीव स्वयं स्वतन्त्ररूपसे अपने भावमें परके आधीन होता है इसलिए विकारी पर्यायको पराधीन कहा जाता

है। किन्तु ऐसा मानना न्यायसंगत नहीं है कि 'परद्रव्य जीवको आधीन करता है इसलिये विकारी पर्याय होती है।'

प्रश्नः—क्या यह मान्यता ठीक है कि "जब द्रव्यकर्मका बल होता है तब कर्म जीवको आधीन कर लेते हैं क्योंकि कर्ममें महान शक्ति है ?"

उत्तरः—नहीं, ऐसा नही है। प्रत्येक द्रव्यका प्रभाव और शक्ति उसके क्षेत्रमें रहती है। जीवमें कर्मकी शक्ति नहीं जा सकती इसलिए कर्म जीवको कभी भी आधीन नहीं कर सकता। यह नियम श्री समयसार नाटकमें दिया गया है, वह उपयोगी होनेसे यहाँ दिया जाता है:—

१—अज्ञानियोंके विचारमें रागद्वेषका कारण:—

— दोहा —

कोऊ मूरख यों कहे, राग द्वेष परिनाम।
पुद्गलकी जोरावरी, वरतै आतमराम ॥६२॥

ज्यौं ज्यौं पुद्गल बल करे, धरिधरि कर्मज भेष।
रागद्वेषको परिनमन, त्यौं त्यौं होइ विशेष ॥६३॥

अर्थः—कोई कोई मूर्ख ऐसा कहते हैं कि आत्मामें राग-द्वेष भाव पुद्गलकी जबरदस्तीसे होता है ॥ ६२ ॥ पुद्गल कर्मरूप परिणमनके उदयमें जितना जितना बल करता है उतनी उतनी बाहुल्यतासे रागद्वेष परिणाम होते हैं। ६३ ॥

— अज्ञानियोंको सत्य मार्गका उपदेश —

— दोहा —

इहिविध जो विपरीत पख, गहै सद्दहै कोई।
सो नर राग विरोधसों, कबहू भिन्न न होई ॥६४॥

सुगुरु कहै जगमें रहै, पुद्गल संग सदीव।
सहज शुद्ध परिनमनिको, औसर लहै न जीव ॥६५॥

तातैं चिदभावनि विषै, समरथ चेतन राउ।
राग विरोध मिथ्यातमें, समकितमें सिव भाउ ॥६६॥

(देखो समयसार नाटक पृष्ठ २७६-२७७ सर्व विशुद्धज्ञान अधिकार, सोनगढ़से प्रकाशित)

अर्थः—ऊपर जो रीति कही है वह तो विपरीत पक्ष है। जो कोई उसे ग्रहण करता है या श्रद्धान करता है उस जीवके राग-द्वेष और मोह कभी पृथक् होवे ही नहीं। श्रीगुरु कहते हैं कि जीवके पुद्गलका साथ सदा (अनादिसे) रहता है तो फिर सहज शुद्ध परिणमनका अवसर जीवको कभी मिले ही नहीं। इसलिये चैतन्यका भाव करनेमें चेतन-राजा ही समर्थ है, वह मिथ्यात्वदशामें स्वसे राग-द्वेषरूप होता है और सम्यक्त्वदशामें—शिव भाव अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप होता है।

२—जीवको कर्मका उदय कुछ असर नहीं कर सकता अर्थात् निमित्त-उपादानको कुछ नहीं कर सकता। इन्द्रियोंके भोग, लक्ष्मी, सगे सम्बन्धी या मकान आदिके सम्बन्धमें भी यही नियम है। यह नियम श्री समयसार नाटकके सर्वविशुद्धि द्वारमें निम्नरूपसे दिया है:—

—सवैया—

कोऊ शिष्य कहै स्वामी राग दोष परिनाम,
ताको मूल प्रेरक कहहु तुम कौन है ?
पुग्गल करम जोग किधौं इन्द्रिनिको भोग,
किधौं धन किधौं परिजन किधौं भौन है ॥
गुरु कहै छहौं दर्व अपने अपने रूप,
सबनिको सदा असहाई परिनौन है।
कोऊ दरव काहूको न प्रेरक कदाचि तातैं,
राग दोष मोह मृषा मदिरा अचौन है ॥६१॥

अर्थ—शिष्य कहता है-हे स्वामी! राग द्वेष परिणामका मूल प्रेरक कौन है सो आप कहो, पुद्गल कर्म या इन्द्रियोंके भोग या धन या घरके मनुष्य या मकान? श्रीगुरु समाधान करते हैं कि छहों द्रव्य अपने अपने स्वरूपमें सदा असहाय परिणमते हैं। कोई द्रव्य किसी द्रव्यका कभी भी प्रेरक नहीं है। राग-द्वेषका कारण मिथ्यात्वरूपी मदिरा का पान है।

(१०) पंचाध्यायी अ० १ गा० ८९ में भी वस्तुकी हरएक अवस्था-(पर्याय भी) "स्वतः सिद्ध" एवं "स्वसहाय" है ऐसा कहा है—

वस्त्वस्ति स्वतः सिद्धं यथा तथा तत्स्वतश्च परिणामि।
तस्मादुत्पादस्थिति भंगमयं तत् सदेतदिह नियमात् ॥८९॥

अर्थः—जैसे वस्तु स्वतः सिद्ध है वैसे ही वह "स्वतः परिणमनशील" भी है,

इसलिये यहाँ पर यह सत् नियमसे उत्पाद-व्यय और ध्रौव्यस्वरूप है। इसप्रकार किसी भी वस्तुकी कोई भी अवस्था, किसी भी समय, परके द्वारा नही की जा सकती, वस्तु सदा स्वतः परिणमनशील होनेसे अपनी पर्याय यानी अपने हरएक गुणके वर्तमान (अवस्थाविशेष) का वह स्वयं ही सृष्टा-रचयिता है ॥ ३० ॥

अब नित्यका लक्षण कहते हैं

तद्भावाव्ययं नित्यम् ॥ ३१ ॥

अर्थः—[तद्भावाव्ययं] तद्भावसे जो अव्यय है-नाश नही होना सो [नित्यम्] नित्य है।

टीका

(१) जो पहले समयमें हो वही दूसरे समयमें हो उसे तद्भाव कहते हैं; वह नित्य होता है—अव्यय=अविनाशी होता है।

(२) इस अध्यायके चौथे सूत्रमें कहा है कि द्रव्यका स्वरूप नित्य है। उसकी व्याख्या इस सूत्रमे दी गई है।

(३) प्रत्यभिज्ञानके हेतुको तद्भाव कहते हैं। जैसे कि द्रव्यको पहले समयमें देखनेके बाद दूसरे आदि समयोंमें देखनेसे "यह वही है जिसे मैंने पहले देखा था" ऐसा जो जोड़-रूप ज्ञान है वह द्रव्यका द्रव्यत्व बतलाता है, परन्तु यह नित्यता कथंचित् है क्योंकि यह सामान्य स्वरूपकी अपेक्षासे होती है। पर्यायकी अपेक्षासे द्रव्य अनित्य है। इसतरह जगतमें समस्त द्रव्य नित्यानित्यरूप हैं। यह प्रमाण दृष्ट है।

(४) आत्मामें सर्वथा नित्यता माननेसे मनुष्य, नरकादिकरूप संसार तथा संसारसे अत्यन्त छूटनेरूप मोक्ष नही बन सकता। सर्वथा नित्यता माननेसे संसार स्वरूपका वर्णन और मोक्ष-उपायका कथन करनेमें विरोध आता है, इसलिये सर्वथा नित्य मानना न्याय-संगत नहीं है ॥ ३१ ॥

एक वस्तुमें दो विरुद्ध धर्म सिद्ध करनेकी रीति बतलाते हैं

अर्पितानर्पितसिद्धेः ॥ ३२ ॥

अर्थः—[अर्पितानर्पितसिद्धेः] प्रधानता और गौणतासे पदार्थोंकी सिद्धि होती है।

टीका

(१) प्रत्येक वस्तु अनेकान्तस्वरूप है, यह सिद्धान्त इस सूत्रमें स्याद्वाद द्वारा कहा है। नित्यता और अनित्यता परस्पर विरोधी धर्म है, तथापि वे वस्तुको वस्तुपनेमें निष्पन्न (सिद्ध) करनेवाले हैं, इसीलिये वे प्रत्येक द्रव्यमें होते ही हैं। उनका कथन मुख्य गौणरूपसे होता है क्योंकि सभी धर्म एक नहीं कहे जा सकते। जिस समय जिस धर्मको सिद्ध करना हो उस समय उसकी मुख्यता की जाती है। उस मुख्यता-प्रधानताको 'अर्पित' कहा जाता है, और उस समय जिस धर्मको गौण रखा हो उसे अनर्पित कहा जाता है। ज्ञानी पुरुष जानता है कि अनर्पित किया हुआ धर्म यद्यपि उस समय कहनेमें नहीं आया तो भी वह धर्म रहते ही हैं।

(२) जिस समय द्रव्यको द्रव्यकी अपेक्षासे नित्य कहा है उसी समय वह पर्यायकी अपेक्षा अनित्य है। सिर्फ उस समय 'अनित्यता' कही नहीं गई किन्तु गर्भित रखी है। इसी प्रकार जब पर्यायकी अपेक्षासे द्रव्यको अनित्य कहा है उसी समय वह द्रव्यकी अपेक्षासे नित्य है, सिर्फ उस समय नित्य कही नहीं है, क्योंकि दोनों धर्म एक साथ कहे नहीं जा सकते।

(३) अर्पित और अनर्पितके द्वारा अनेकान्तस्वरूपका कथन—

अनेकान्तकी व्याख्या निम्न प्रमाण है—

"एक वस्तुमें वस्तुत्वकी निष्पादक परस्पर विरुद्ध दो शक्तियोंका एक ही साथ प्रकाशित होना सो अनेकान्त है।" जैसे कि जो वस्तु सत् है वही असत् है अर्थात् जो अस्ति है वही नास्ति है, जो एक है वही अनेक है, जो नित्य है वही अनित्य है इत्यादि। (स० सार सर्व विशुद्धज्ञानाधिकार पृ० ४६१)

अर्पित और अनर्पितका स्वरूप समझनेके लिये यहाँ कितने ही दृष्टान्तोंकी जरूरत है, वे यहाँ दिये जाते हैं—

(१) 'जीव चेतन है' ऐसा कहनेसे 'जीव अचेतन नहीं है' ऐसा उसमें स्वयं गर्भित रूपसे आ गया। इसमें 'जीव चेतन है' यह कथन अर्पित हुआ और 'जीव अचेतन नहीं है' यह कथन अनर्पित हुआ।

(२) 'अजीव जड़ है' ऐसा कहनेसे 'अजीव चेतन नहीं है' ऐसा उसमें स्वयं गर्भित रूपसे आ गया, इसमें 'पहला' कथन अर्पित है और उसमें 'अजीव चेतन नहीं है' यह भाव अनर्पित—गौणरूपसे आ गया, अर्थात् बिना कहे भी उसमें गर्भित है ऐसा समझ लेना चाहिये।

(३) 'जीव अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावसे सत् है' ऐसा कहने पर 'जीव पर द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावसे असत् है' ऐसा बिना कहे भी आ गया। पहला कथन 'अर्पित' है और दूसरा 'अनर्पित' है।

(४) 'जीव द्रव्य एक है' ऐसा कहने पर उसमें यह आ गया कि 'जीव गुण और पर्यायसे अनेक है।' पहला कथन 'अर्पित' है और दूसरा 'अनर्पित' है।

(५) 'जीव द्रव्य-गुणसे नित्य है' ऐसा कहनेसे उसमें यह कथन आ गया कि 'जीव पर्यायसे अनित्य है।' पहला कथन अर्पित और दूसरा अनर्पित है।

(६) 'जीव स्व से तत् (Identical) है' ऐसा कहनेसे उसमें यह कथन आ गया कि 'जीव परसे अतत् है।' इसमें पहला कथन अर्पित और दूसरा अनर्पित है।

(७) 'जीव अपने द्रव्य-गुण पर्यायसे अभिन्न है' ऐसा कहनेसे उसमें यह कथन आ गया कि 'जीव परद्रव्य-उसके गुण और पर्यायसे भिन्न है। पहला कथन अर्पित और दूसरा कथन अनर्पित है।

(८) 'जीव अपनी पर्यायका कर्ता हो सकता है' ऐसा कहने पर 'जीव परद्रव्यका कुछ कर नहीं सकता' यह आ गया। इसमें पहला कथन अर्पित और दूसरा अनर्पित है।

(९) 'प्रत्येक द्रव्य अपनी पर्यायका भोक्ता हो सकता है' ऐसा कहनेसे यह भी आगया कि 'कोई पर द्रव्यका भोक्ता नहीं हो सकता।' इसमें पहला कथन अर्पित और दूसरा अनर्पित है।

(१०) 'कर्मका विपाक कर्ममें आ सकता है' ऐसा कहनेसे यह कथन भी आ गया कि 'कर्मका विपाक जीवमें नहीं आ सकता। इसमें पहला कथन अर्पित और दूसरा अनर्पित है।

(११) 'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रकी एकता मोक्षमार्ग है' ऐसा कहनेपर यह कथन भी आ गया कि 'पुण्य-पाप, आस्रव-बंध ये मोक्षमार्ग नहीं हैं' इसमें पहला कथन अर्पित और दूसरा अनर्पित है।

(१२) 'शरीर परद्रव्य है' ऐसा कहने पर यह कथन भी आ गया कि 'जीव शरीरकी कोई क्रिया नहीं कर सकता, उसे हला-चला नहीं सकता, उसकी संभाल नहीं रख सकता, उसका कुछ कर नहीं सकता, वैसे ही शरीरकी क्रियासे जीवको राग, द्वेष, मोह, सुख, दुःख वगैरह नहीं हो सकता।' इसमें पहला कथन अर्पित और दूसरा अनर्पित है।

(१३) 'निमित्त पर द्रव्य है' ऐसा कहने पर उसमें यह कथन भी आ गया, कि 'निमित्त पर द्रव्यका कुछ कर नहीं सकता, उसे सुधार या बिगाड़ नहीं सकता, सिर्फ वह

अनुकूल संयोगरूपसे होता है' इसमें पहला कथन अर्पित और दूसरा अनर्पित है।

(१४) 'घीका घड़ा' कहनेसे उसमें यह कथन भी आ गया कि 'घड़ा घीमय नहीं किन्तु मिट्टीमय है, घीका घड़ा है यह तो मात्र व्यवहार कथन है' इसमें पहला कथन अर्पित और दूसरा अनर्पित है।

(१५) 'मिथ्यात्व कर्मके उदयसे जीव मिथ्यादृष्टि होता है'। इस कथनसे यह भी आ गया कि 'जीव उस समयकी अपनी विपरीत दशाको लेकर मिथ्यादृष्टि होता है वास्तवमें मिथ्यात्व कर्मके उदयके कारण जीव, मिथ्यादृष्टि नहीं होता, मिथ्यात्वकर्मके उदयसे जीव मिथ्यादृष्टि होता है'—यह तो उपचारमात्र व्यवहार कथन है, वास्तवमें तो जीव जब स्वयं मिथ्याश्रद्धारूप परिणमा तब मिथ्यात्व मोहनीय कर्मके जो रजकण उस समय उदयरूप हुए, उन पर निर्जराका आरोप न आकर विपाक उदयका आरोप आया' इसमें पहला कथन अर्पित दूसरा अनर्पित है।

(१६) 'जीव जड़कर्मके उदयसे ग्यारहवें गुणस्थानसे गिरा' ऐसा कहनेसे यह कथन भी आ गया कि 'जीव अपने पुरुषार्थकी कमजोरीसे गिरा, वह कर्म परद्रव्य है और ११ वें गुणस्थानमें तो मोहकर्मका उदय ही नहीं है। वास्तवमें (–सचमुच) तो कर्मोदयसे जीव गिरता नहीं है, किन्तु जिस समय अपने पुरुषार्थकी कमजोरीसे गिरा–तब मोहकर्मके उदयसे गिरा ऐसा आरोप (–उपचार-व्यवहार) आया' इसमें पहला कथन अर्पित और दूसरा अनर्पित है।

(१७) 'जीव पंचेन्द्रिय है' ऐसा कहनेसे यह कथन भी आ गया कि 'जीव चेतनात्मक है जड़ इन्द्रियात्मक नहीं है, पाँचों इन्द्रियाँ जड़ हैं मात्र उसे उनका संयोग है।' इसमें पहला कथन अर्पित दूसरा अनर्पित है।

(१८) निगोदका जीव कर्मका उदय मन्द होने पर ऊँचा चढ़ता है' यह कहनेसे उसमें यह कथन आ गया कि 'निगोदिया जीव स्वयं अपने पुरुषार्थ द्वारा मन्द कषाय करनेपर चढ़ता है, कर्म परद्रव्य है इसलिये कर्मके कारणसे जीव ऊँचा नहीं चढ़ा, (–अपनी योग्यतासे चढ़ा है) इसमें पहला कथन अर्पित और दूसरा अनर्पित है।

(१९) कर्मके उदयसे जीव असंयमी होता है क्योंकि चारित्रमोहके उदयके बिना उसकी अनुत्पत्ति है' ऐसा कहनेसे यह कथन आ गया कि 'जीव अपने पुरुषार्थके दोषके कारण अपने चारित्रगुणके विकारको नहीं टालता, और असंयमरूप परिणमता है इसलिये वह

असंयमी होता है, यद्यपि उस समय चारित्रमोहके कर्म भी झड़ जाते हैं तो भी जीवके विकारका निमित्त पाकर नवीन कर्म स्वयं बंधता है, इसलिये पुराने चारित्र—मोहकर्मपर उदयका आरोप आता है' इसमें पहला कथन अर्पित और दूसरा अनर्पित है।

(२०) 'कर्मके उदयसे जीव ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक और अधोलोकमें जाता है क्योंकि आनुपूर्वी कर्मके उदयके विना उसकी अनुपपत्ति है' ऐसा कहनेसे उसमें यह कथन भी आ गया कि 'जीवकी क्रियावती शक्तिकी उस समयकी वैसी योग्यता है इसलिये जीव ऊर्ध्वलोकमें, अधोलोकमें और तिर्यंग्लोकमें जाता है, उस समय उसे अनुकूल आनुपूर्वी नामकर्मका उदय संयोगरूपसे होता है। कर्म परद्रव्य है इसलिये वह जीवको किसी जगह नहीं ले जा सकता' इसमें पहला कथन अर्पित और दूसरा अनर्पित है।

उपरोक्त दृष्टांत ध्यानमें रखकर शास्त्रमें कैसा भी कथन किया हो उसका निम्नलिखित अनुसार अर्थ करना चाहिये—

पहले यह निश्चय करना चाहिये कि शब्दार्थके द्वारा यह कथन किस नयसे किया है। उसमें जो कथन जिस नयसे किया हो वह कथन अर्पित है ऐसा समझना। और सिद्धान्तके अनुसार उसमें गौणरूपसे जो दूसरे भाव गर्भित हैं, यद्यपि वे भाव जो कि वहाँ शब्दोंमें नहीं कहे तो भी ऐसा समझ लेना चाहिये कि वे गर्भितरूपसे कहे हैं, यह अनर्पित कथन है। इसप्रकार अर्पित और अनर्पित दोनों पहलुओंको समझकर यदि जीव अर्थ करे तो ही जीवको प्रमाण और नयका सत्य ज्ञान हो। यदि दोनों पहलुओंको यथार्थ न समझे तो उसका ज्ञान अज्ञानरूपमें परिणमा है इसलिये उसका ज्ञान अप्रमाण और कुनयरूप है। प्रमाणको सम्यक् अनेकांत भी कहा जाता है।

जहाँ-जहाँ निमित्त और औदयिकभावकी सापेक्षताका कथन हो, वहाँ औदयिक-भाव जीवका स्वतत्त्व होनेसे-निश्चयसे निरपेक्ष ही है सापेक्ष नहीं है, इस मुख्य बातका स्वीकार होना चाहिये। एकान्त सापेक्ष माननेसे शास्त्रका सच्चा अर्थ नहीं होगा।

(४) अनेकांतका प्रयोजन

अनेकान्त भी सम्यक् एकान्त ऐसा निजपदकी प्राप्ति करानेके अतिरिक्त अन्य दूसरे हेतुसे उपकारी नहीं है।

(५) एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कुछ भी कर सकता है इस मान्यतामें आनेवाले दोषोंका वर्णन

जगतमें छहों द्रव्य अत्यन्त निकट एकक्षेत्रावगाह रूपसे रहे हुये हैं, वे स्वयं निजमें

बन्धसंबन्ध रहते हुये अपने अनन्त धर्मोंके चक्रको चूमते हैं,—स्पर्श करते हैं तो भी वे परस्परमें एक दूसरेको स्पर्श नहीं करते। यदि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यको स्पर्श करे तो वह पररूप हो जाय और यदि पररूप हो जाय तो निम्नलिखित दोष आवें—

१—संकर दोष

दो द्रव्य एकरूप हो जावें तो संकर दोष आता है।

"सर्वेषाम् युगपत्प्राप्तिः संकरः"—जो अनेक द्रव्योंके एकत्वापत्तिकी प्राप्ति है सो संकर दोष है। जीव अनादिसे अज्ञान दशामें शरीरको, शरीरकी क्रियाको, द्रव्य इन्द्रियोंको, भाव इन्द्रियोंको तथा उनके विषयोंको स्वसे एकरूप मानता है यह ज्ञेय-ज्ञायक संकर दोष है। इस सूत्रमें कहे हुये अनेकान्त स्वरूपको समझने पर—अर्थात् जीव जीवरूपसे है कर्मरूपसे नहीं इसलिये जो कर्म, इन्द्रियां, शरीर, जीवको विकारी और अपूर्ण दशा है सो ज्ञेय है किन्तु वह जीवका स्वरूप (-ज्ञान) नहीं है ऐसा समझकर भेदविज्ञान प्रगट करे तब ज्ञेय-ज्ञायक संकर दोष दूर होता है। अर्थात् सम्यग्दर्शन प्रगट होनेपर ही संकर दोष टलता—दूर होता है।

जीव जितने अंशोंमें मोहकर्मके साथ युक्त होकर दुःख भोगता है वह भाव्य भावक संकर दोष है। इस दोषको दूर करनेका प्रारम्भ सम्यग्दर्शन प्रगट होने पर होता है और अकषायज्ञानस्वभावका अच्छी तरह आलम्बन करनेसे सर्वथा कषायभाव दूर होनेपर वह संकर दोष सर्वथा दूर होता है।

२—व्यतिकर दोष

यदि जीव जड़का कुछ कार्य करे और जड़ कर्म या शरीर जीवका कुछ भला-बुरा करे तो जीव जड़रूप हो जाय और जड़ चेतनरूप हो जाय तथा एक जीवके दूसरे जीव कुछ भला-बुरा करें तो एक जीव दूसरे जीवरूप हो जाय। इस तरह एकका विषय दूसरेमें चला जायगा, इसके व्यतिकर दोष आवेगा—"परस्परविषयगमनं व्यतिकरः।"

जड़कर्म हलका हो और मार्ग दे तो जीवके धर्म हो और जड़कर्म बलवान हो तो जीव धर्म नहीं कर सकता—ऐसा माननेमें संकर और व्यतिकर दोनों दोष आते हैं।

जीव मोक्षका—धर्मका पुरुषार्थ न करे और अशुभभावमें रहे तब उसे बहुकर्मी जीव कहा जाता है अथवा यों कहा जाता है कि—'उसके कर्मका तीव्र उदय है इसलिये वह धर्म नहीं करता। उस जीवका लक्ष स्वसन्मुख नहीं है किन्तु परवस्तु पर है, इतना बतानेके लिये वह व्यवहार कथन है। परन्तु ऐसे उपचार कथनको सत्यार्थ माननेसे दोनों दोष आते

हैं कि जड़ कर्म जीवको नुकसान करता है या जीव जड़कर्मका क्षय करता है। और ऐसा माननेमें दो द्रव्यके एकत्वकी मिथ्या श्रद्धा होती है।

३—अधिकरण दोष

यदि जीव शरीरका कुछ कर सकता, उसे हला-चला सकता या दूसरे जीवका कुछ कर सकता तो वह दोनों द्रव्योंका अधिकरण (स्वक्षेत्ररूप आधार) एक हो जाय और इससे 'अधिकरण' दोष आवेगा।

४—परस्पराश्रय दोष

जीव स्वकी अपेक्षासे सत् है और कर्म परवस्तु है उस अपेक्षासे जीव असत् है, तथा कर्म उसकी अपनी अपेक्षासे सत् है और जीवकी अपेक्षासे कर्म असत् है। ऐसा होनेपर भी जीव कर्मको बाँधे छोड़े उसका क्षय करे वैसे ही कर्म कमजोर हों तो जीव धर्म कर सकता है—ऐसा माननेमें 'परस्पराश्रय' दोष है। जीव कर्म इत्यादि समस्त द्रव्य सदा स्वतंत्र हैं और स्वयं स्वसे स्वतन्त्ररूपसे कार्य करते हैं ऐसा माननेसे 'परस्पराश्रय' दोष नहीं आता।

५—संशय दोष

जीव अपने रागादि विकार भावको जान सकता है, स्वद्रव्यके आलम्बनसे रागादि दोषका अभाव हो सकता है परन्तु उसे टालनेका प्रयत्न नहीं करता और जो जड़कर्म और उसके उदय हैं उसको नहीं देख सकता तथापि ऐसा माने कि 'कर्मका उदय पतला पड़े, कमजोर हो, कर्मके आवरण हटे तो धर्म या सुख हो सकता है; जड़कर्म बलवान हो तो जीव गिर जाय, अधर्मी या दुःखी होजाय, (जो ऐसा माने) उसके संशय-(-भय) दूर नहीं होता अथवा निज आत्माश्रित निश्चय रत्नत्रयमे धर्म होगा या पुण्यसे-व्यवहार करते करते धर्म होगा ? ऐसा संशय दूर किये बिना जीव स्वतन्त्रताकी श्रद्धा और सच्चा पुरुषार्थ नहीं कर सकता और विपरीत अभिप्राय रहितपनेके सच्चे पुरुषार्थ बिना, किसी जीवको कभी धर्म या सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता। कोई भी द्रव्य दूसरेका कुछ कर सकता है या नहीं ऐसी मान्यतामें संशय दोष आता है वह सच्ची समझसे दूर करना चाहिये।

६—अनवस्था दोष

जीव अपने परिणामका ही कर्ता है और अपना परिणाम उसका धर्म है। सर्व द्रव्योंके अन्य द्रव्योंके साथ उत्पाद्य-उत्पादक भावका अभाव है, इसलिये अजीवके साथ जीवके कार्य-कारणत्व सिद्ध नहीं होता। यदि एक द्रव्य दूसरेका कार्य करे, दूसरा तीसरेका कार्य करे-ऐसी परम्परा मानने पर अनन्त द्रव्य हैं उनमें कौन द्रव्य किस द्रव्यका कार्य करे

इसका कोई नियम नहीं रहेगा और इसलिये अनवस्था दोष आवेगा। परन्तु यदि ऐसा नियम स्वीकार करें कि प्रत्येक द्रव्य अपना ही कार्य करता है परका कार्य नहीं कर सकता तो वस्तुकी यथार्थ व्यवस्था ज्योंकी त्यों बनी रहती और उसमें कोई अनवस्था दोष नहीं आता।

७—अप्रतिपत्ति दोष

प्रत्येक द्रव्यका द्रव्यत्व-क्षेत्रत्व-कालत्व (-पर्यायत्व) और भावत्व (-गुण) जिस प्रकारसे है उसी प्रकारसे उसका यथार्थ ज्ञान करना चाहिये। जीव क्या कर सकता और क्या नहीं कर सकता, वैसे ही जड़ द्रव्य क्या कर सकते और क्या नहीं कर सकते-इसका ज्ञान न करना और तत्त्वज्ञान करनेका प्रयत्न नहीं करना सो अप्रतिपत्ति दोष है।

८—विरोध दोष

यदि ऐसा मानें कि एक द्रव्य स्वयं स्वसे सत् है और वही द्रव्य परसे भी सत् है तो 'विरोध' दोष आता है। क्योंकि जीव जैसे अपना कार्य करे वैसे पर द्रव्यका-कर्म अर्थात् पर जीव आदिका—भी कार्य करे तो विरोध दोष लागू होता है।

९—अभाव दोष

यदि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका काम करे तो उस द्रव्यका नाश हो और एक द्रव्यका नाश हो तो क्रम क्रमसे सर्व द्रव्योंका नाश होगा, इस तरह उसमें 'अभाव' दोष आता है।

इन समस्त दोषोंको दूर करके वस्तुका अनेकांत स्वरूप समझनेके लिये आचार्य भगवानने यह सूत्र कहा है।

अर्पित (मुख्य) और अनर्पित (गौण) का विशेष

समझमें तथा कथन करनेके लिये किसी समय उपादानको मुख्य किया जाता है और किसी समय निमित्तको (कभी निमित्तकी मुख्यतासे कार्य नहीं होता मात्र कथनमें मुख्यता होती है) किसी समय द्रव्यको मुख्य किया जाता है तो किसी समय पर्यायको, किसी समय निश्चयको मुख्य कहा जाता है और किसी समय व्यवहारको। इस तरह जब एक वस्तुको मुख्य करके कहा जाय तब दूसरे गौण रहनेवाले पहलुओंका यथायोग्य ज्ञान कर लेना चाहिये। यह मुख्य और गौणता ज्ञानकी अपेक्षासे समझना चाहिये।

—परन्तु सम्यग्दर्शनको और उस द्वारा द्रव्यदृष्टिको प्रधान करके कथन किया जाता है द्रव्यदृष्टिकी प्रधानतामें कभी भी व्यवहारकी मुख्यता नहीं होती, वहाँ पर्यायदृष्टिके भेदको

गौण करके उसे व्यवहार कहा है। भेद—दृष्टिमें रुकने पर निर्विकल्प दशा नहीं होती और सरागीके विकल्प रहा करता है; इसलिये जबतक रागादिक दूर न हों तबतक भेदको गौण कर अभेदरूप निर्विकल्प अनुभव कराया जाता है। द्रव्यदृष्टिकी अपेक्षासे व्यवहार, पर्याय या भेद हमेशा गौण रखा जाता है, उसे कभी मुख्य नहीं किया जाता ॥ ३२ ॥

(श्री समयसार गाथा ७ भावार्थ पेराग्राफ दूसरा)

अब परमाणुओंमें बंध होनेका कारण बतलाते हैं

स्निग्धरूक्षत्वाद्बन्धः ॥ ३३ ॥

अर्थः—[स्निग्धरूक्षत्वात्] चिकने और रूखेके कारण [बंधः] दो, तीन इत्यादि परमाणुओंका बंध होता है।

टीका

(१) पुद्गलमें अनेक गुण हैं किन्तु उनमेंसे स्पर्श गुणके अतिरिक्त दूसरे गुणोंका पर्यायोंसे बन्ध नहीं होता, वैसे ही स्पर्शकी आठ पर्यायोंमेंसे भी स्निग्ध और रूक्ष नामके पर्यायोंके कारणसे ही बन्ध होता है और दूसरे छह प्रकारके पर्यायोंसे बन्ध नहीं होता, ऐसा यहाँ बताया है। किस तरहकी स्निग्ध और रूक्ष अवस्था हो तब बन्ध हो यह ३६ वें सूत्रमें कहेंगे और किस तरहके हों तब बन्ध नहीं होता यह ३४-३५ वें सूत्रमें कहेंगे। बन्ध होनेपर किस जातिका परिणमन होता है यह ३७ वें सूत्रमें कहा जायगा।

(२) बन्ध—अनेक पदार्थोंमें एकत्वका ज्ञान करानेवाले सम्बन्धविशेषको बन्ध कहते हैं।

(३) बन्ध तीन तरहका होता है—१-स्पर्शोंके साथ पुद्गलोंका बन्ध, २-रागादिके साथ जीवका बन्ध, और ३-अन्योन्य अवगाह पुद्गल जीवात्मक बन्ध। (प्रवचनसार गाथा १७७) उनमेंसे पुद्गलोंका बन्ध इस सूत्रमें बताया है।

(४) स्निग्ध और रूक्षत्वके जो अविभाग प्रतिच्छेद हैं उसे गुण* कहते हैं। एक, दो, तीन, चार, पांच, छह इत्यादि तथा संख्यात, असंख्यात या अनन्त स्निग्ध गुण रूपसे तथा रूक्ष गुणरूप से एक परमाणु और प्रत्येक परमाणु स्वतः स्वयं परिणमता है।

(५) स्निग्ध स्निग्धके साथ, रूक्ष रूक्षके साथ तथा एक दूसरेके साथ बन्ध होता है।

---

* यहां द्रव्य-गुण-पर्यायमें आनेवाला गुण नहीं समझना परन्तु गुणका अर्थ 'स्निग्ध-रूक्षत्वकी शक्तिका नाप करनेका साधन' समझना चाहिये।

बंध कब नहीं होता ?

न जघन्यगुणानाम् ॥ ३४ ॥

अर्थः—[जघन्यगुणानाम्] जघन्य गुण सहित परमाणुओंका [न] बन्ध नहीं होता।

टीका

(१) गुणकी व्याख्या सूत्र ३३ की टीका में दी गई है। 'जघन्य गुण परमाणु' अर्थात् जिस परमाणुमें स्निग्धता या रूक्षताका एक अविभागी अंश हो उसे जघन्यगुण सहित परमाणु कहते हैं। जघन्यगुण अर्थात् एक गुण समझना।

(२) परम चैतन्यस्वभावमें परिणति रखनेवालेके परमात्मस्वरूपके भावनारूप धर्म-ध्यान और शुक्लध्यानके बलसे जब जघन्य स्निग्धके स्थानमें राग क्षीण हो जाता है तब जैसे जल और रेतीका बंध नहीं होता वैसे ही जघन्य स्निग्ध या रूक्ष शक्तिधारी परमाणुका भी किसीके साथ बन्ध नहीं होता। (प्रवचनसार अध्याय २, गाथा ७२, श्री जयसेनाचार्यकी संस्कृत टीका, हिन्दी पुस्तक पृष्ठ २२७) जल और रेतीके दृष्टांतमें जैसे जीवोंके परमानन्दमय स्वसंवेदन गुणके बलसे राग-द्वेष क्षीण हो जाता है और कर्मके साथ बन्ध नहीं होता उसीप्रकार जिस परमाणुमें जघन्य स्निग्ध या रूक्षता होती है उसके किसीसे बंध नहीं होता।

(हिन्दी प्रवचनसार गाथा ७२ पृ० २२८)

(३) श्री प्रवचनसार अध्याय २, गाथा ७१ से ७६ तक तथा गोम्मटसार जीवकांड गाथा ६१४ तथा उसके नीचेकी टीकामें यह बतलाया है कि पुद्गलोंमें बंध कब नहीं होता और कब होता है, अतः वह जानना।

(४) चौंतीसवें सूत्रका सिद्धांत

(१) द्रव्यमें अपने साथ जो एकत्व है वह बंधका कारण नहीं होता किन्तु अपनेमें-निजमें अशुद्धिरूप द्वैत-द्वित्व हो तब बन्ध होता है। आत्मा एकत्वस्वरूप है परन्तु मोह-राग-द्वेषरूप परिणमनसे द्वैतभावरूप होता है और उससे बंध होता है। (देखो प्रवचनसार गाथा १७५ की टीका) आत्मा अपने त्रिकाली स्वरूपसे शुद्ध चैतन्य मात्र है। यदि पर्यायमें वह त्रिकाली शुद्ध चैतन्यके प्रति लक्ष करके अन्तर्मुख हो तो द्वैतपन नहीं होता बन्ध नहीं होता अर्थात् मोह-राग-द्वेषमें नहीं रुकता। आत्मा मोह-राग-द्वेषमें अटकता है वही बंध है। अज्ञानतापूर्वकका राग-द्वेष ही वास्तवमें स्निग्ध और रूक्षत्वके स्थानमें होनेसे बंध है (देखो प्रवचनसार गाथा १७६ की टीका) इसप्रकार जब आत्मामें द्वित्व हो तब बंध होता है और उसका निमित्त पाकर द्रव्यबन्ध होता है।

(२) यह सिद्धांत पुद्गलमें लागू होता है। यदि पुद्गल अपने स्पर्शमें एक गुणरूप परिणमे तो उसके अपनेमें ही बन्धकी शक्ति (भावबन्ध) प्रगट न होनेसे दूसरे पुद्गलके साथ बन्ध नहीं होता। किन्तु यदि उस पुद्गलके स्पर्शमें दो गुणरूप अधिकपना आवे तो बन्धकी शक्ति (भावबन्धकी शक्ति) होनेसे दूसरे चार गुणवाले स्पर्शके साथ बन्ध हो जाता है, यह द्रव्यबन्ध है। बन्ध होनेमें द्वित्व-द्वैत अर्थात् भेद होना ही चाहिये।

(३) दृष्टान्त-दशवें गुणस्थानमें सूक्ष्मसांपराय—जघन्य लोभ-कषाय है तो भी मोहकर्मका बन्ध नहीं होता। संज्वलन क्रोध मान, माया और लोभ तथा पुरुषवेद ये नववें बन्धको प्राप्त थे उनकी वहां व्युच्छित्ति हुई उनका बन्ध वहां रुक गया।

(देखो अध्याय ६ सूत्र १४ की टीका)

दृष्टान्तपरसे सिद्धान्तः—जीवका जघन्य लोभ-कषाय विकार है किन्तु वह जघन्य होनेसे कार्माण-वर्गणाको लोभरूपसे बन्धनेमें निमित्त नहीं हुआ। (२) उस समय संज्वलन लोभकर्मकी प्रकृति उदयरूप है तथापि उसकी जघन्यता नवीन मोह कर्मके बन्धका निमित्त कारण नहीं होती (३) यदि जघन्य विकार कर्म बन्धका कारण हो तो कोई जीव बन्ध रहित नहीं हो सकता ॥ ३४ ॥

बंध कब नहीं होता, इसका वर्णन करते हैं

गुणसाम्ये सदृशानाम् ॥ ३५ ॥

अर्थः—[गुणसाम्ये] गुणोंकी समानता हो तब [सदृशानाम्] समान जातिवाले परमाणुके साथ बन्ध नहीं होता। जैसे कि-दो गुणवाले स्निग्ध परमाणुका दूसरे दो गुणवाले स्निग्ध परमाणुके साथ बन्ध नहीं होता अथवा वैसे स्निग्ध परमाणुका उतने ही गुणवाले रूक्ष परमाणुके साथ बन्ध नहीं होता। न—(बन्ध नहीं होता)' यह शब्द इस सूत्रमें नहीं कहा परन्तु ऊपरके सूत्रमें कहा गया 'न' शब्द इस सूत्रमें भी लागू होता है।

टीका

(१) सूत्रमें 'सदृशानाम्' पदसे यह प्रगट होता है कि गुणोंकी विषमतामें समान जातिवाले तथा भिन्न जातिवाले पुद्गलोंका बन्ध होता है।

(२) दो गुण या अधिक गुण स्निग्धता और वैसे ही दो या अधिक गुण रूक्षता समान-रूपसे हो तब बन्ध नहीं होता, ऐसा बतानेके लिये 'गुणसाम्ये' पद इस सूत्रमें लिया है ॥३५॥

(देखो सर्वार्थसिद्धि, संस्कृत हिन्दी टीका, अध्याय ५ पृष्ठ १२३)

संकुचित होकर रह जाता है, परन्तु केवलीके प्रदेश समुद्घात-अवस्थामें सम्पूर्ण लोकाकाशमें व्याप्त हो जाते हैं और सिद्ध अवस्थामें अंतिम शरीरसे कुछ न्यून रहता है।

(२) बड़से बड़ा शरीर स्वयंभूरमण समुद्रके महामत्स्यका है जो १००० योजन लम्बा है। छोटेसे छोटा शरीर (अंगुलके असंख्यातवें भाग प्रमाण) लब्ध्यपर्याप्तक सूक्ष्म निगोदिया जीवका है, जो एक श्वासमें १८ बार जन्म लेता है तथा मरण करता है।

(३) स्वभावसे जीव अमूर्तिक है किन्तु अनादिसे कर्मके साथ एक क्षेत्रावगाह सम्बन्ध है और इसप्रकार छोटे-बड़े शरीरके साथ जीवका सम्बन्ध रहता है। शरीरके अनुसार जीवके प्रदेशोंका संकोच विस्तार होता है ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है।

(४) प्रश्न॰—धर्मादिक छहों द्रव्योंके परस्परमें प्रदेशोंके अनुप्रवेशन होनेसे क्या एकता प्राप्त होती है ?

उत्तर॰—उनके एकता प्राप्त नहीं होती। आपसमें अत्यन्त मिलाप होनेपर भी द्रव्य अपने अपने स्वभावको नहीं छोड़ते। कहा है कि—'छहों द्रव्य परस्पर प्रवेश करते हैं, एक दूसरेको अवकाश देते हैं और नित्य मिलाप होने पर भी स्वभावको नहीं छोड़ते।' [पंचास्तिकाय गाथा ७] द्रव्य बदलकर परस्परमें एक नहीं होते, क्योंकि उनमें प्रदेशसे भेद है, स्वभावसे भेद है और लक्षणसे भेद है।

(५) १२ से १६ तकके सूत्र द्रव्योंके अवगाह (स्थान देने) के सम्बन्धमें सामान्य विशेषात्मक अर्थात् अनेकान्त स्वरूपको कहते हैं।

अब धर्म और अधर्म द्रव्यका जीव और पुद्गलके साथका विशेष सम्बन्ध बतलाते हैं।

गतिस्थित्युपग्रहौ धर्माधर्मयोरुपकारः ॥ १७ ॥

अर्थ—[गतिस्थित्युपग्रहौ] स्वयमेव गमन तथा स्थितिको प्राप्त हुए जीव और पुद्गलोंको गमन तथा ठहरनेमें जो सहायक है सो [धर्माधर्मयो: उपकार:] क्रमसे धर्म और अधर्म द्रव्यका उपकार है।

टीका

१ उपकार, सहायकता, उपग्रहका विषय १७ से २२ तकके सूत्रोंमें दिया गया है। वे भिन्न भिन्न द्रव्योंका भिन्न भिन्न प्रकारका निमित्तत्व बतलाते हैं। उपकार सहायकता

या उपग्रहका अर्थ ऐसा नही होता कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका भला करता है, क्योंकि २० वें सूत्रमें यह बताया है कि जीवको दुःख और मरण होने में पुद्गल द्रव्यका उपकार है, यहा ऐसा समझना चाहिये कि लोकव्यवहारमें जब किसीके द्वारा किसीको कोई सुविधा दी जाती है तब व्यवहार-भाषामें यह कहा जाता है कि एक जीवने दूसरेका उपकार किया—भला किया। किंतु यह मात्र निमित्त सूचक भाषा है। एक द्रव्य न तो अपने गुण-पर्यायको छोड़ सकता है और न दूसरे द्रव्यको दे सकता है। प्रत्येकके प्रदेश दूसरे द्रव्योंके प्रदेशोसे अत्यन्त भिन्न हैं, परमार्थसे-निश्चयसे एक दूसरेके क्षेत्रमे प्रवेश नही कर सकते; एक द्रव्यका दूसरे द्रव्यमें त्रिकाल अभाव है, इसलिये कोई द्रव्य दूसरे द्रव्यका वास्तवमें लाभ या हानि नही कर सकता। एक द्रव्यको अपने कारणसे लाभ या हानि हुई तब उस समय दूसरे कौन द्रव्य निमित्तरूपमे मौजूद हुए, यह बतलानेके लिए १७ से २२ वें तकके सूत्रोंमें 'उपकार' शब्दका प्रयोग किया है (इस सम्बन्धमें प्रथम अध्यायके १४ वें सूत्रकी जो टीका दी गई है वह तथा इस अध्यायके २२ वें सूत्रकी टीका यहा देखना चाहिए।

(२) यह सूत्र धर्म और अधर्म द्रव्यका लक्षण बतलाता है।

(३) उपग्रह, निमित्त, अपेक्षा, कारण हेतु ये सभी निमित्त बतानेके लिये प्रयोग किये जाते है। "उपकार शब्दका अर्थ भला करना नही लेना काहु कार्यको निमित्त होय तिसको उपकारो कहिये है" अर्थात् किसी कार्यमें जो निमित्त हो उसे उपकार कहते हैं।

(देखो पं० जयचन्दजीकृत सर्वार्थसिद्धि वचनिका पृष्ठ ४३८ अर्थप्रकाशिका सूत्र १९ की टीका प्रथमावृत्ति पृष्ठ ३०६ और सूरतसे प्रकाशित द्वितीयावृत्ति पृष्ठ २०२)

(४) **प्रश्न**—धर्म और अधर्म द्रव्य किसीके देखनेमे नही आते, इसलिये वे हैं ही नही ?

उत्तरः—सर्वज्ञ वीतरागने प्रत्यक्ष देखकर कहा है इसलिये यह कहना ठीक नही है कि धर्म और अधर्म द्रव्य किसीको दिखाई नही देते। जो नेत्रसे न देखा जाय उसका अभाव बतलाना ठीक नही है। जो इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण न किया जाय यदि उसका अभाव मानेंगे तो बहुत सी वस्तुओंका अभाव मानना पडेगा। जैसे अमुक पेढीके बुजुर्ग, दूरवर्ती देश, भूतकालमें हुए पुरुष, भविष्यमें होनेवाले पुरुष ये कोई आँखसे नही देखे जाते, इसलिये उनका भी अभाव मानना पड़ेगा; अत. यह तर्क यथार्थ नही है। अमूर्तिक पदार्थोंका सम्यग्ज्ञानी छद्मस्थ अनुमान प्रमाणसे निश्चय कर सकता है और इसीलिए उसका यहां लक्षण कहा है।

अब आकाश और दूसरे द्रव्योंके साथका निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध बताते हैं

आकाशस्यावगाहः ॥ १८ ॥

अर्थः—[अवगाह] समस्त द्रव्योंको अवकाश-स्थान देना यह [आकाशस्य] आकाशका उपकार है।

टीका

(१) जो समस्त द्रव्योंको रहनेको स्थान देता है उसे आकाश कहते हैं। 'उपकार' शब्दका अध्याहार पहले सूत्रसे होता है।

(२) यद्यपि अवगाह गुण समस्त द्रव्योंमें है तथापि आकाशमें यह गुण सबसे बड़ा है, क्योंकि यह समस्त पदार्थोंको साधारण एक साथ अवकाश देता है। अलोकाकाशमें अवगाह देने की शक्ति है किन्तु वहाँ अवगाह लेनेवाले कोई द्रव्य नहीं है इसमें आकाशका क्या दोष है? आकाशका अवगाह देनेका गुण इससे विनष्ट या नष्ट नहीं हो जाता, क्योंकि द्रव्य अपने स्वभावको नहीं छोड़ता।

(३) प्रश्नः—जीव और पुद्गल क्रियावाले हैं और क्रियापूर्वक अवगाह करनेवालेको अवकाश देना ठीक है, किन्तु यह कैसे कहते हो कि धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और कालाणु तो क्षेत्रांतरकी क्रिया रहित हैं और आकाशके साथ नित्य सम्बन्धरूप हैं फिर भी उन्हें अवकाश दान देता है?

उत्तरः—उपचारसे अवकाश दान देता है ऐसा कहा जाता है। जैसे—आकाश गति रहित है तो भी उसे सर्वगत कहा जाता है। इसीप्रकार ऊपर कहे गये द्रव्य गति रहित हैं तो भी लोकाकाशमें उनकी व्याप्ति है इसलिए यह उपचार किया जाता है कि आकाश उन्हें अवकाश देता है।

(४) प्रश्न—आकाशमें अवगाहन हेतुत्व है तथापि वज्र इत्यादिसे गोली आदिका और भीत (दीवाल) आदिसे गाय आदिका रुकना क्यों होता है?

उत्तरः—स्थूल पदार्थोंका जो पारस्परिक व्याघात हो ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, इसलिये आकाशके गुणमें कोई दूषण नहीं आता।

अब पुद्गल द्रव्यका जीवके साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध बताते हैं

शरीरवाङ्मनः प्राणापानाः पुद्गलानाम् ॥ १९ ॥

अर्थ—[शरीरवाङ्मनःप्राणापानाः] शरीर, वचन, मन तथा श्वासोच्छ्वास य

[पुद्गलानाम्] पुद्गल द्रव्यके उपकार हैं अर्थात् शरीरादिकी रचना पुद्गलसे ही होती है।

टीका

(१) यहां 'उपकार' शब्दका अर्थ भला करना नहीं किन्तु किसी कार्यमें निमित्त होय तिसको उपकारी कहिये है। (देखो १७ वें सूत्रकी टीका)

(२) शरीरमें कार्माण शरीरका समास होता है। वचन तथा मन पुद्गल हैं, यह पाँचवें सूत्रकी टीकामें बताया गया है। प्राणापान (श्वासोच्छ्वास) पुद्गल है।

(३) भावमन लब्धि तथा उपयोगरूप है। यह अशुद्ध द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे जीवकी अवस्था है। वह भावमन जब पौद्गलिक मनकी ओर झुकाव करता है तब कार्य करता है इसलिये निश्चय (परमार्थ, शुद्ध) नयसे यह जीवका स्वरूप नहीं है; निश्चय नयसे वह पौद्गलिक है।

(४) भाववचन भी जीवकी अवस्था है। वह अशुद्ध द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे जीवकी अवस्था है। उसके कार्यमें पुद्गलका निमित्त होता है इसलिये निश्चय नयसे वह जीवकी अवस्था नहीं है। यह निश्चय नयसे जीवका स्वरूप नहीं है इसलिये पौद्गलिक है। यदि वह जीवका त्रिकाली स्वभाव हो तो वह दूर न हो, किन्तु वह भाववचनरूप अवस्था जीवमेंसे दूर हो सकती है—अलग हो सकती है—इसी अपेक्षाको लक्ष्यमें रखकर उसे पौद्गलिक कहा जाता है।

(५) भावमन सम्बन्धी अध्याय २ सूत्र ११ की टीका पढ़ें। वहां जीवकी विशुद्धिको भावमन कहा है सो वह अशुद्ध द्रव्यार्थिक नयकी दृष्टिसे कहा है ऐसा समझना।

अब पुद्गलका जीवकी साथका निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध बताते हैं

सुखदुःखजीवितमरणोपग्रहाश्च ॥ २० ॥

अर्थः—[सुखदुःखजीवितमरणोपग्रहाश्च] इन्द्रियजन्य सुख-दुःख, जीवन-मरण ये भी पुद्गलके उपकार हैं।

टीका

(१) उपकार (-उपग्रह) शब्दका अर्थ किसीका भला करना नहीं किन्तु निमित्त मात्र ही समझना चाहिये; नहीं तो यह नहीं कहा जा सकता कि "जीवोंको दुःख मरणादिके उपकार" पुद्गल द्रव्यके हैं।

(२) सूत्रमें 'च' शब्दका प्रयोग यह बतलाता है कि जैसे शरीरादिक निमित्त है वैसे

हो पुद्गल कृत इन्द्रियाँ भी जीवको अन्य उपकाररूपसे हैं।

(३) सुख-दुःखका संवेदन जीवको है, पुद्गल अचेतन-जड़ है, उसे सुख-दुःखका संवेदन नहीं हो सकता।

(४) *निमित्त-उपादानका कुछ कर नहीं सकता। निमित्त अपनेमें पूरा पूरा कार्य करता है और उपादान अपनेमें पूरा पूरा कार्य करता है। यह मानना कि निमित्त पर द्रव्यका वास्तवमें कुछ असर-प्रभाव करता है सो दो द्रव्योंको एक माननेरूप असत् निर्णय है।*

४ प्रश्न.—निमित्त-उपादानका कुछ भी कर नहीं सकता तो सुई शरीरमें घुस जानेसे जीवको दुःख क्यों होता है ?

समाधान—१ अज्ञानी जीवको शरीरमें एकत्वबुद्धि होनेसे शरीरकी अवस्थाको अपनी मानता है और अपनेको प्रतिकूलता हुई ऐसा मानता है, और ऐसी ममत्वबुद्धिके कारण दुःख होता है परन्तु सुईके प्रवेशके कारण दुःख नहीं हुआ है।

२ मुनियोंको उपसर्ग आने पर भी निराकुल पुरुषार्थकी वृद्धि करता है, दुःखी नहीं होता है और

३. केवली-तीर्थंकरोंको कभी और किसी प्रकार उपसर्ग नहीं होता [त्रिलोक प्रज्ञप्ति भाग-१-पृ० ८ श्लो० ५९ ६४]

४ ज्ञानीको निम्न भूमिकामें अल्प राग है वह शरीरके साथ एकत्वबुद्धिका राग नहीं है, परन्तु अपनी *महन शक्तिकी कमजोरीसे जितना राग हो उतना ही दुःख होता है,—सुईसे किंचित् भी दुःख होना मानता नहीं है।*

५ विशेष ऐसा समझना चाहिये कि सुई और शरीर भिन्न भिन्न द्रव्य है, सुईका शरीरके परमाणुओंमें प्रवेश नहीं हो सकता, एक परमाणु दूसरेको परस्पर चुम्बन भी नहीं करते' तो सुईका प्रवेश शरीरमें कैसे हो सकता है ? सचमुच तो सुईका शरीरके परमाणुओंमें प्रवेश नहीं हुआ है, दोनोंकी सत्ता और क्षेत्र भिन्न भिन्न होनेसे, आकाश क्षेत्रमें दोनोंका संयोग हुआ कहना वह व्यवहारमात्र है।

जीवका उपकार

परस्परोपग्रहो जीवानाम् ॥ २१ ॥

अर्थ—[जीवानाम्] जीवोंके [परस्परोपग्रह] परस्परमें उपकार है।

टीका

(१) एक जीव दूसरेको सुखका निमित्त, दुःखका निमित्त, जीवनका निमित्त, मरणका निमित्त, सेवा-सुश्रूषा आदिका निमित्त होता है।

(२) यहां 'उपग्रह' शब्द है। दुःख और मरणके साथ भी उसका सम्बन्ध है, किन्तु उसका अर्थ 'भला करना' नहीं होता किन्तु निमित्तमात्र है ऐसा समझना चाहिये।

(३) बीसवें सूत्रमें कहे गये सुख, दुःख, जीवन, मरणके साथ इसका संबंध बतानेके लिये 'उपग्रह' शब्दका प्रयोग इस सूत्रमें किया है।

(४) जहां 'सहायक' शब्दका प्रयोग हुआ है वहां भी निमित्त मात्र अर्थ है। प्रेरक या अप्रेरक चाहे जैसा निमित्त हो किन्तु वह परमें कुछ करता नहीं है ऐसा समझना चाहिये और वह भेद-निमित्तकी ओरसे निमित्तके हैं, किन्तु उपादानकी अपेक्षा दोनों प्रकारके निमित्त को उदासीन (अप्रेरक) माना है। श्री पूज्यपादाचार्यने इष्टोपदेशकी गाथा ३४ में भी कहा है कि 'जो सत् कल्याणका वांछक है, वह आप ही मोक्षसुखका बतलानेवाला तथा मोक्षसुखके उपायोंमें अपने आपको प्रवर्तन करानेवाला है इसलिये अपना (आत्माका) गुरु आप ही (आत्मा ही) है' इसपर शिष्यने आक्षेप सहित प्रश्न किया कि "अगर आत्मा ही आत्माका गुरु है तो गुरु शिष्यके उपकार, सेवा आदि व्यर्थ ठहरेंगे" उसको आचार्य गाथा ३५ से उत्तर देते हैं कि—

"नाज्ञो विज्ञत्वमायाति विज्ञो नाज्ञत्वमृच्छति।
निमित्तमात्रमन्यस्तु गतेर्धर्मास्तिकायवत् ॥३५॥

अर्थः—अज्ञानी किसी द्वारा ज्ञानी नहीं हो सकता, तथा ज्ञानी किसीके द्वारा अज्ञानी नहीं किया जा सकता। अन्य सब कोई तो गति (गमन) में धर्मास्तिकायके समान निमित्तमात्र है अर्थात् जब जीव और पुद्गल स्वयं गति करे तब धर्मास्तिकायको निमित्तमात्र कारण कहा जाता है, इसी प्रकार जिस समय शिष्य स्वयं अपनी योग्यतासे ज्ञानी होता है तो उस समय गुरुको निमित्तमात्र कहा जाता है, उसीप्रकार जीव जिस समय मिथ्यात्व रागादिरूप परिणमता है उस समय द्रव्यकर्म और नोकर्म (—कुदेवादिको) आदिको निमित्त मात्र कहा जाता है जो कि उपचार कारण है, (—अभूतार्थ कारण है) उपादान स्वयं अपनी योग्यतासे जिस समय कार्यरूप परिणमता है तो ही उपस्थित क्षेत्र-काल-संयोग आदिमें निमित्तकारणपनेका उपचार किया जाता है अन्यथा निमित्त किसका? ऐसा किसीको कभी नहीं हो सकता कि द्रव्यकी जिस समय जैसा परिणमन करनेकी योग्यता हो उस समय उसके

अनुकूल निमित्त न हो और उसका उपादान परिणमन होना रुक जावे, अथवा किसी क्षेत्र, काल, संयोगकी बाट (-राह) देखनी पड़े अथवा निमित्तको जुटाना पड़े ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धका स्वरूप नहीं है।

उपादानके परिणमनमें सर्व प्रकारका निमित्त अप्रेरक है ऐसा समयसार नाटक सर्व विशुद्ध द्वार काव्य ६१ में कहा है। देखो इस अध्यायके सू० १० की टीका।

अब काल द्रव्यका उपकार बतलाते हैं

वर्तनापरिणामक्रियाः परत्वापरत्वे च कालस्य ॥ २२ ॥

अर्थ —[वर्तनापरिणामक्रियाः परत्वापरत्वे च] वर्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व और अपरत्व [कालस्य] काल द्रव्यके उपकार हैं।

(१) सत् अवश्य उपकार सहित होने योग्य है और काल सत्ता स्वरूप है इसलिये उसका क्या उपकार (निमित्तत्व) है सो इस सूत्रमें बताते हैं। (यहाँ भी उपकारका अर्थ निमित्तमात्र होता है।)

(२) वर्तना।—सर्व द्रव्य अपने अपने उपादान कारणसे अपनी पर्यायके उत्पादरूप वर्तते हैं, उसमें बाह्य निमित्तकारण कालद्रव्य है, इसलिये वर्तना कालका लक्षण या उपकार कहा जाता है।

परिणाम।—जो द्रव्य अपने स्वभावको छोड़े बिना पर्यायरूपसे पलटे (बदले) सो परिणाम है। धर्मादि सर्व द्रव्योंके अगुरुलघुत्व गुणके अविभाग प्रतिच्छेदरूप अनन्त परिणाम (षट्गुण हानि वृद्धि सहित) है वह अति सूक्ष्म स्वरूप है। जीवके उपशमादि पाँच भावरूप परिणाम हैं और पुद्गलके वर्णादिक परिणाम हैं तथा घटादिक अनेकरूप परिणाम हैं। द्रव्यकी पर्याय—परिणतिको परिणाम कहते हैं।

क्रिया।—एक क्षेत्र से अन्य क्षेत्रको गमन करना क्रिया है। वह क्रिया जीव और पुद्गल दोनोंके होती है, दूसरे चार द्रव्योंके क्रिया नहीं होती।

परत्व।—जिसे बहुत समय लगे उसे परत्व कहते हैं।

अपरत्व।—जिसे थोड़ा समय लगे उसे अपरत्व कहते हैं।

इन सभी कार्योंका निमित्तकारण कालद्रव्य है। ये कार्य कालको बताते हैं।

(३) प्रश्नः—परिणाम आदि चार भेद वर्तनाके ही हैं इसलिये एक वर्तना कहना चाहिये ?

उत्तरः—काल दो तरहका है, निश्चयकाल और व्यवहारकाल उनमें जो वर्तना है सो तो निश्चयकालका लक्षण है और जो परिणाम आदि चार भेद हैं सो व्यवहारकालके लक्षण है। यह दोनों प्रकारके काल इस सूत्रमें बताये हैं।

(४) व्यवहारकाल—जीव पुद्गलके परिणामसे प्रगट होता है। व्यवहारकालके तीन भेद हैं भूत, भविष्यत्, और वर्तमान। लोकाकाशके एक एक प्रदेशमें एक एक भिन्न भिन्न असंख्यात कालाणु द्रव्य हैं, वह परमार्थ काल—निश्चयकाल है। वह कालाणु परिणति सहित रहता है।

(५) उपकारके सूत्र १७ से २२ तकका सिद्धान्त।

कोई द्रव्य परद्रव्यकी परिणतिरूप नहीं वर्तता, स्वयं अपनी परिणतिरूप ही प्रत्येक द्रव्य वर्तता है। परद्रव्य तो बाह्य निमित्तमात्र है, कोई द्रव्य दूसरे द्रव्यके क्षेत्रमें प्रवेश नहीं करता (अर्थात् निमित्त परका कुछ कर नहीं सकता) ये सूत्र निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध बतलाता है। धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल, जीव और कालके परके साथके निमित्त संबंध बतानेवाले लक्षण वहाँ पर कहे हैं।

(६) प्रश्नः—"काल वर्तानेवाला है" ऐसा कहनेसे उसमें क्रियावानपना प्राप्त होता है ? (अर्थात् काल पर द्रव्यको परिणमाता है, क्या ऐसा उसका अर्थ हो जाता है?)

उत्तरः—वह दूषण नहीं आता। निमित्तमात्रमें सहकारी हेतुका कथन (उपदेश) किया जाता है, जैसे यह कथन किया जाता है कि जाड़ाम कंडोंकी अग्नि शिष्यको पढ़ाती है; वहाँ शिष्य स्वयं पढ़ता है किन्तु अग्नि (ताप) उपस्थित रहती है इसलिये उपचारसे यह कथन किया जाता है कि 'अग्नि पढ़ाती है।' इसी तरह पदार्थोंके वर्तनमें कालका प्रेरक हेतुत्व कहा है वह उपचारसे हेतु कहा जाता है। और अन्य बाकी द्रव्य भी वहाँ उपस्थित है किन्तु उनको वर्तनामें निमित्त नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उनमें उस तरहका हेतुत्व नहीं है।

अब पुद्गल द्रव्यका लक्षण कहते हैं

स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः ॥ २३ ॥

अर्थः—[स्पर्श रस गन्ध वर्णवन्तः] स्पर्श, रस, गन्ध और वर्णवाले [पुद्गलाः] पुद्गल द्रव्य हैं।

टीका

(१) सूत्रमें 'पुद्गलाः' यह शब्द बहुवचनमें है, इससे यह कहा है कि बहुतसे पुद्गल हैं और प्रत्येक पुद्गलमें चार लक्षण हैं, किसीमें भी चारसे कम नहीं हैं, ऐसा समझाया गया है।

(२) सूत्र १९ वें, २० वेंमें पुद्गलोंका जीवके साथका निमित्तत्व बताया था और यहाँ पुद्गलका तद्भूत (उपादान) लक्षण बताते हैं। जीवका तद्भूत लक्षण उपयोग अध्याय २ सूत्र आठमें बताया गया था और यहाँ पुद्गलके तद्भूत लक्षण कहे हैं।

(३) इन चार गुणोंकी पर्यायोंके भेद निम्नप्रकार हैं—स्पर्श गुणकी आठ पर्याय हैं १-स्निग्ध, २-रूक्ष, ३-शीत, ४-उष्ण, ५-हलका, ६-भारी, ७-मृदु और ८-कर्कश।

रस गुणकी पांच पर्यायें हैं १—खट्टा, २—मीठा, ३—कडुवा, ४—कषायला और ५—चरपरा। इन पांचोंमेंसे परमाणुमें एक कालमें एक रस पर्याय प्रगट होती है।

गंध गुणकी दो पर्यायें हैं—१—सुगन्ध और २—दुर्गंध। इन दोनोंमेंसे एक कालमें एक गन्ध पर्याय प्रगट होती है।

वर्ण गुणकी पांच पर्यायें हैं—१-काला, २-नीला, ३-पीला, ४-लाल और ५-सफेद। इन पांचोंमेंसे परमाणुके एक कालमें एक वर्ण पर्याय प्रगट होती है।

इस तरह चार गुणके कुल २० भेद—पर्याय हैं। प्रत्येक पर्यायके दो, तीन, चारसे लेकर संख्यात, असंख्यात और अनन्त भेद होते हैं।

(४) कोई कहता है कि 'पृथ्वी, जल, वायु तथा अग्निके परमाणुओंमें जातिभेद है' किन्तु यह कथन यथार्थ नहीं है। पुद्गल सब एक जातिका है। चारों गुण प्रत्येकमें होते हैं और पृथ्वी आदि अनेकरूपसे उसका परिणाम है। पाषाण और लकड़ीरूपसे जो पृथ्वी है वह अग्निरूपसे परिणमन करती है। अग्नि, काजल, राखादि पृथ्वीरूपमें परिणमते हैं। चन्द्रकांत मणि पृथ्वी है उसे चन्द्रमाके सामने रखने पर वह जलरूपमें परिणमन करती है। जल, मोती नमक आदि पृथ्वीरूपसे उत्पन्न होते हैं। जौ नामका अनाज (जो पृथ्वीकी जातिका है) खानेसे वायु उत्पन्न होती है, क्योंकि पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु पुद्गल द्रव्यके ही विकार हैं (पर्याय हैं)।

(५) प्रश्न—इस अध्यायके ५ वें सूत्रमें पुद्गलका लक्षण रूपित्व कहा है तथापि इस सूत्रमें पुद्गलका लक्षण क्यों कहा?

उत्तरः—इस अध्यायके चौथे सूत्रमें द्रव्योंकी विशेषता बतानेके लिए नित्य, अवस्थित और अरूपी कहा था और उसमें पुद्गलोंको अमूर्तिकत्व प्राप्त होता था, उसके निराकरणके लिए पांचवां सूत्र कहा था और यह सूत्र तो पुद्गलोंका स्वरूप बतानेके लिए कहा है।

(६) इस अध्यायके पांचवें सूत्रकी टीका यहाँ पढ़नी चाहिये।

(७) विदारणादि कारणसे जो टूट-फूट होती है तथा संयोगके कारणसे मिलना होता है—उसे पुद्गलके स्वरूपको जाननेवाले सर्वज्ञदेव पुद्गल कहते हैं। (देखो तत्त्वार्थसार अध्याय ३ गाथा ५५)

(८) **प्रश्नः**—हरा रंग कुछ रंगोंके मेलसे बनता है, इसलिए रंगके जो पाँच भेद बताये हैं वे मूल भेद कैसे रह सकते हैं?

उत्तरः—मूल सत्ताकी अपेक्षासे ये भेद नहीं कहे गये किन्तु परस्परके स्थूल अन्तरकी अपेक्षासे कहे हैं। रसादिके सम्बन्धमें यही बात समझनी चाहिये। रंगादिकी नियत संख्या नहीं है। (तत्त्वार्थसार पृष्ठ १५८)

अब पुद्गलकी पर्याय बतलाते हैं

शब्दबन्धसौक्ष्म्यस्थौल्यसंस्थानभेदतमश्छायातपोद्योतवन्तश्च ॥२४॥

अर्थः—उक्त लक्षणवाले पुद्गल [शब्द बन्ध सौक्ष्म्य स्थौल्य संस्थान भेद तमश्छायातपोद्योतवन्तः च] शब्द, बन्ध, सूक्ष्मता, स्थूलता, संस्थान (आकार), भेद, अन्धकार, छाया, आतप और उद्योतादिवाले होते हैं, अर्थात् ये भी पुद्गलकी पर्यायें हैं।

टीका

(१) इन अवस्थाओंमेंसे कितनी तो परमाणु और स्कन्ध दोनोंमें होती हैं और कई स्कन्धमें ही होती हैं।

(२) शब्द दो तरहका है—१-भाषात्मक और २-अभाषात्मक। इनमेंसे भाषात्मक दो तरहका है; १-अक्षरात्मक और २-अनक्षरात्मक। उनमें अक्षरात्मक भाषा संस्कृत और देशभाषारूप है। वह दोनों शास्त्रोंको प्रगट करनेवाली और मनुष्यके व्यवहारका कारण है। अनक्षरात्मक भाषा दो इन्द्रियसे लेकर चार इन्द्रियवालों तथा कितनेक पंचेन्द्रिय जीवोंके होती है और अतिशय रूप ज्ञानको प्रकाशित करनेमें कारण केवली भगवानकी दिव्य ध्वनि—ये सभी अनक्षरात्मक भाषा हैं। यह पुरुषनिमित्तक है, इसलिये प्रायोगिक है।

अभाषात्मक शब्द भी दो भेदरूप हैं। एक प्रायोगिक दूसरा वैस्रसिक। जिस शब्दके उत्पन्न होनेमें पुरुष निमित्त हो वह प्रायोगिक है और जो पुरुषको बिना अपेक्षाके स्वभावरूप उत्पन्न हो वह वैस्रसिक है, जैसे मेघ-गर्जनादि। प्रायोगिक भाषा चार तरहकी है—१-तत, २-वितत, ३-घन और ४-सुषिर। जो चमड़ेके ढोल, नगाड़े आदिसे उत्पन्न हो वह तत है। तारवाली वीणा, सितार, तम्बूरादिसे उत्पन्न होनेवाली भाषाको वितत कहते हैं। घण्टा आदिके बजानेसे उत्पन्न होनेवाली भाषा घन कहलाती है और जो बांसुरी शंखादिकसे उत्पन्न हो उसे सुषिर कहते हैं।

जो कानसे सुना जाय उसे शब्द कहते हैं। जो मुखसे उत्पन्न हो सो भाषात्मक शब्द है। जो दो वस्तुके आघातसे उत्पन्न हो उसे अभाषात्मक शब्द कहते हैं। अभाषात्मक शब्द उत्पन्न होनेमें प्राणी तथा जड़ पदार्थ दोनों निमित्त हैं। जो केवल जड़ पदार्थोंके आघातसे उत्पन्न हो उसे वैस्रसिक कहते हैं, जिसके प्राणियोंका निमित्त होता है उसे प्रायोगिक कहते हैं।

मुखसे निकलनेवाला जो शब्द अक्षर, पद, वाक्यरूप है उसे साक्षर भाषात्मक कहते हैं, उसे वर्णात्मक भी कहते हैं।

तीर्थंकर भगवानके सर्व प्रदेशोंसे जो निरक्षर ध्वनि निकलती है उसे अनक्षर भाषात्मक कहा जाता है,—ध्वन्यात्मक भी कहा जाता है।

बंधः—दो तरहका है—१-वैस्रसिक और दूसरा प्रायोगिक। पुरुषकी अपेक्षासे रहित जो बंध होता है उसे वैस्रसिक कहते हैं। यह वैस्रसिक दो तरहका है १-आदिमान २-अनादिमान। उसमें स्निग्ध रूक्षादिके कारणसे जो बिजली, उल्कापात, बादल, आग, इन्द्रधनुष आदि होते हैं उसे आदिमान वैस्रसिक-बंध कहते हैं। पुद्गलका अनादिमान बंध महास्कन्ध आदि हैं। (अमूर्तिक पदार्थोंमें भी वैस्रसिक अनादिमान बंध उपचारसे कहा जाता है। यह धर्म, अधर्म तथा आकाशका है एवं अमूर्तिक और मूर्तिक पदार्थका अनादिमान बंध-धर्म, अधर्म, आकाश और जगद्व्यापी महास्कंधका है)।

जो पुरुषकी अपेक्षा सहित हो वह प्रायोगिक बन्ध है। उसके दो भेद हैं—१-अजीव विषय, २-जीवाजीव विषय। लाखका लकड़ीका जो बन्ध है सो अजीव विषयक प्रायोगिक बंध है। जीवके जो कर्म और नोकर्म बन्ध हैं सो जीवाजीव विषयक प्रायोगिक बंध हैं।

सूक्ष्मः—दो तरहका है—१-अन्त्य, २-आपेक्षिक। परमाणु अन्त्य सूक्ष्म है। आंवलेसे बेर सूक्ष्म है, वह आपेक्षिक सूक्ष्म है।

स्थूलः—दो तरहका है (१) अन्त्य, (२) आपेक्षिक। जो जगद्व्यापी महास्कन्ध है सो अन्त्य स्थूल है, उससे बड़ा दूसरा कोई स्कन्ध नहीं है। 'बेर' आंवला आदि आपेक्षिक स्थूल हैं।

संस्थानः—आकृतिको संस्थान कहते हैं। उसके दो भेद हैं (१) इत्थंलक्षण संस्थान और (२) अनित्थंलक्षण संस्थान। उसमें गोल, त्रिकोण, चौरस, लम्बा, चौड़ा, परिमंडल ये इत्थंलक्षण संस्थान हैं। बादल आदि जिसकी कोई आकृति नहीं वह अनित्थंलक्षण संस्थान हैं।

भेदः—छह तरहका है। (१) उत्कर, (२) चूर्ण, (३) खण्ड, (४) चूर्णिका, (५) प्रतर और (६) अनुचटन। आरे आदिसे लकड़ी आदिका विदारण करना सो उत्कर है। जौ, गेहूं, बाजरा आदिका आटा चूर्ण है। घड़े आदिके टुकड़े खण्ड हैं। उड़द, मूंग, चना, चोला आदि दालको चूर्णिका कहते हैं। तप्यमान लोहेको घन इत्यादिसे पीटने पर जो स्फुलिंग (चिनगारियां) निकलते हैं उसे अनुचटन कहते हैं।

अन्धकारः—जो प्रकाशका विरोधी है सो अन्धकार है।

छायाः—प्रकाश (उजेले) को ढकनेवाली छाया है। वह दो प्रकारकी है (१) तद्वर्णपरिणति (२) प्रतिबिम्बस्वरूप। रंगीन कांचमेंसे देखनेपर जैसा कांचका रंग हो वैसा ही दिखाई देता है यह तद्वर्णपरिणति कहलाती है। और दर्पण, फोटो आदिमें जो प्रतिबिम्ब देखा जाता उसे प्रतिबिम्ब स्वरूप कहते हैं।

आतापः—सूर्य विमानके द्वारा जो उत्तम प्रकाश होता है उसे आताप कहते हैं।

उद्योतः—चन्द्रमा, चन्द्रकान्त मणि, दीपक आदिके प्रकाशको उद्योत कहते हैं।

सूत्रमें जो 'च' शब्द कहा है उसके द्वारा प्रेरणा, अभिघात (मारना) आदि जो पुद्गलके विकार हैं उनका समावेश किया गया है।

उपरोक्त भेदोंमें 'सूक्ष्म' तथा 'संस्थान' (ये दो भेद) परमाणु और स्कन्ध दोनोंमें होते हैं और अन्य सब स्कन्धके प्रकार हैं।

(३) दूसरी तरहसे पुद्गलके छह भेद हैं १–सूक्ष्म–सूक्ष्म, २–सूक्ष्म, ३–सूक्ष्मस्थूल, ४–स्थूलसूक्ष्म, ५–स्थूल और ६–स्थूलस्थूल।

१–सूक्ष्म–सूक्ष्मः—परमाणु सूक्ष्म-सूक्ष्म है।

२–सूक्ष्मः—कार्माणवर्गणा सूक्ष्म है।

३–सूक्ष्म-स्थूलः—स्पर्श, रस, गंध और शब्द ये सूक्ष्मस्थूल हैं। क्योंकि ये आँखसे दिखाई नहीं देते इसलिये सूक्ष्म हैं और चार इन्द्रियोंसे जाने जाते हैं इसलिये स्थूल हैं।

४–स्थूल-सूक्ष्मः—छाया, परछांई, प्रकाश आदि स्थूलसूक्ष्म हैं। क्योंकि यह आँखसे दिखाई देते हैं इसलिये स्थूल हैं और उसे हाथसे पकड़ नहीं सकते इसलिये सूक्ष्म हैं।

५–स्थूलः—जल, तेल आदि सब स्थूल हैं। क्योंकि छेदन-भेदनसे ये अलग हो जाते हैं और इकट्ठे करनेसे मिल जाते हैं।

६–स्थूल-स्थूलः—पृथ्वी, पर्वत, काष्ठ आदि स्थूल-स्थूल हैं। ये पृथक् करनेसे पृथक् तो हो जाते हैं किन्तु फिर मिल नहीं सकते।

परमाणु इन्द्रियग्राह्य नहीं है किन्तु इन्द्रिय ग्राह्य होनेकी उसमें योग्यता है। इसीतरह सूक्ष्म स्कन्धको भी समझना चाहिये।

(४) शब्दको आकाशका गुण मानना भूल है, क्योंकि आकाश अमूर्तिक है और शब्द मूर्तिक है, इसलिये शब्द आकाशका गुण नहीं हो सकता। शब्दका मूर्तिकत्व साक्षात् है क्योंकि शब्द कर्ण इन्द्रियसे ग्रहण होता है, हस्तादिसे तथा दीवाल आदिसे रोका जाता है और हवा आदि मूर्तिक वस्तुसे उसका तिरस्कार होता है, दूर जाता है। शब्द पुद्गल द्रव्यकी पर्याय है इसलिये मूर्तिक है। यह प्रमाणसिद्ध है। पुद्गलस्कन्धके परस्पर मिलनेसे टकरानेसे शब्द प्रगट होता है ॥ २४ ॥

अब पुद्गलके भेद बतलाते हैं

अणवः स्कन्धाश्च ॥ २५ ॥

अर्थ—पुद्गल द्रव्य [अणवः स्कन्धाः च] अणु और स्कन्धके भेदसे दो प्रकारके हैं।

टीका

(१) अणुः—जिसका विभाग न हो सके ऐसे पुद्गलको अणु कहते हैं। पुद्गल मूल (Simple) द्रव्य है।

स्कन्धः—दो तीनसे लेकर संख्यात असंख्यात और अनन्त परमाणुओंके पिण्डको स्कन्ध कहते हैं।

(२) स्कन्ध पुद्गल द्रव्यकी विशेषता है। स्पर्श गुणके कारणसे वे स्कन्धरूपसे परिणमते हैं। स्कन्धरूप कब होता है यह इस अध्यायके २६, २७, २८ और ३७ वें सूत्रमें कहा है और वह कब स्कन्धरूपमें नहीं होता यह सूत्र ३४, ३५ में बताया है।

(३) ऐसी विशेषता अन्य किसी द्रव्यमें नहीं है, क्योंकि दूसरे द्रव्य अमूर्तिक हैं। यह सूत्र मिलापके सम्बन्धमें द्रव्योंका अनेकान्तत्व बतलाता है।

(४) परमाणु स्वयं ही मध्य और स्वयं ही अन्त है, क्योंकि वह एक-प्रदेशी अविभागी है ॥ २५ ॥

अब स्कन्धोंकी उत्पत्ति का कारण बतलाते हैं

भेदसंघातेभ्यः उत्पद्यन्ते ॥ २६ ॥

अर्थः—परमाणुओंके [भेदसंघातेभ्यः] भेद (अलग होनेसे) संघात (मिलनेसे) अथवा भेद संघात दोनोंसे [उत्पद्यन्ते] पुद्गल स्कन्धोंकी उत्पत्ति होती है।

टीका

(१) पिछले सूत्रोंमें (पूर्वोक्त सूत्रोंमें) पुद्गलद्रव्यकी विशिष्टता बतलाते हुए अणु और स्कन्ध ये दो भेद बताए; तब प्रश्न यह उठता है कि स्कन्धोंकी उत्पत्ति किस तरह होती है ? उसके स्पष्टरूपसे तीन कारण बतलाए हैं। सूत्रमें द्विवचनका प्रयोग न करते हुए बहुवचन (संघातेभ्यः) प्रयोग किया है, इससे भेद-संघातका तीसरा प्रकार व्यक्त होता है।

(२) दृष्टान्तः—१०० परमाणुओंका स्कन्ध है, उसमेंसे दस परमाणु अलग हो जानेसे ९० परमाणुओंका स्कन्ध बना; यह भेदका दृष्टान्त है। उसमें (सौ परमाणुके स्कन्धमें) दस परमाणुओंके मिलनेसे एक सौ दस परमाणुओंका स्कन्ध हुआ, यह संघातका दृष्टान्त है। उसीमें ही एक साथ दस परमाणुओंके अलग होने और पन्द्रह परमाणुओंके मिल जानेसे एक सौ पांच परमाणुओंका स्कन्ध हुआ, यह भेद संघातका उदाहरण है ॥ २६ ॥

अब अणुकी उत्पत्तिका कारण बतलाते हैं

भेदादणुः ॥ २७ ॥

अर्थः—[अणुः] अणुकी उत्पत्ति [भेदात्] भेदसे होती है ॥ २७ ॥

दिखाई देने योग्य स्थूल स्कन्धकी उत्पत्तिका कारण बतलाते हैं

भेदसंघाताभ्यां चाक्षुषः ॥ २८ ॥

अर्थः—[चाक्षुषः] चक्षुइन्द्रियसे देखनेयोग्य स्कन्ध [भेदसंघाताभ्याम्] भेद और संघात दोनोंके एकत्र रूप होनेसे उत्पन्न होता है, अकेले भेदसे नहीं।

टीका

(१) प्रश्नः—जो चक्षुइन्द्रियके गोचर न हो ऐसा स्कन्ध चक्षुगोचर कैसे होता है ?

उत्तरः—जिस समय सूक्ष्म स्कन्धका भेद हो उसी समय चक्षुइन्द्रियगोचर स्कन्धमें वह संघातरूप हो तो वह चक्षुगोचर हो जाता है। सूत्रमें 'चाक्षुष' शब्दका प्रयोग किया है, उसका अर्थ चक्षुइन्द्रियगोचर होता है। चक्षुइन्द्रियगोचर स्कन्ध अकेले भेदसे या अकेले संघातसे नहीं होता।

(देखो राजवार्तिक सूत्र २८ की टीका, पृष्ठ ४९१, अर्थप्रकाशिका पृष्ठ २१०)

(2) Marsh-gas treated with chlorine gives Methyl Chloride and Hydrochloric acid the formula is—$CH_4+cl_2=CH_3cl+H+cl$.

अर्थः—सड़े पानीमें उत्पन्न गैसको 'मार्श गैस' कहते हैं। उसकी गन्ध नहीं आती रंग भी मालूम नहीं होता, किन्तु वह जल सकता है। उसे एक क्लोरीन नामक गैस जो हरिताभ पीले रंगका है उसके साथ मिलाने पर वह गैस इन्द्रियसे दिखाई देनेवाला एक तीसरा एसिड पदार्थ होता है उसे मिथाइलक्लोराइड हाइड्रोक्लोरिक एसिड कहते हैं। (इंग्लिश तत्त्वार्थसूत्रके इस सूत्रके नीचेकी टीका)

(३) ऑक्सीजन और हाइड्रोजन ये वायु हैं, दोनों नेत्र इन्द्रियसे अगोचर स्कन्ध हैं; दोनोंके मिलाप होनेपर नेत्र-इन्द्रिय-गोचर जल हो जाता है। इसलिये नेत्रइन्द्रियगोचर स्कन्ध होनेके लिए जिसमें मिलाप हो वह नेत्रइन्द्रियगोचर होना ही चाहिये ऐसा नियम नहीं है और सूत्रमें भी नेत्रइन्द्रियगोचर स्कन्ध चाहिए हो ऐसा कथन नहीं है। सूत्रमें सामान्य कथन है ॥ २८ ॥

इस तरह यहाँ द्रव्योंके विशेष लक्षणोंका कथन किया जा चुका।

अब द्रव्योंका सामान्य लक्षण कहते हैं

सद् द्रव्यलक्षणम् ॥ २९ ॥

अर्थः—[द्रव्यलक्षणम्] द्रव्यका लक्षण [सत्] सत् (अस्तित्व) है।

टीका

(१) वस्तुस्वरूपके बतलानेवाले ५ महासूत्र इस अध्याय में दिये गये हैं। वे २९-३०-३२-३८ और ४२ वें सूत्र हैं। उनमें भी यह सूत्र मूल नींवरूप है, क्योंकि किसी वस्तु के विचार

करनेके लिए सबसे पहले यह निश्चय होना चाहिये कि वह वस्तु है या नहीं। इसलिये जगतमें जो वस्तु हो वह सत्‌रूपसे होनी ही चाहिये। जो वस्तु है उसीका विशेष विचार किया जाता है।

(२) इस सूत्रमें 'द्रव्य' शब्दका प्रयोग किया है, वह ऐसा भी बतलाता है कि उसमे द्रव्यत्वगुण है, 'कि जिस शक्तिके कारण द्रव्य सदा एक रूपसे न रहने पर उसकी अवस्था (पर्याय) हमेशा बदलती रहती है।'

(३) अब प्रश्न यह उठता है कि जबकि द्रव्य हमेशा अपनी पर्याय बदलता है तब क्या वह द्रव्य बदलकर दूसरे द्रव्यरूप हो जाता है ? इस प्रश्नका उत्तर इस सूत्रमें प्रयोग किया गया 'सत्' शब्द देता है। 'सत्' शब्द बतलाता है कि द्रव्यमें अस्तित्वगुण है और इस शक्तिके कारण द्रव्यका कभी नाश नहीं होता।

(४) इससे यह सिद्ध हुआ कि द्रव्यकी पर्याय समय समय पर बदलती है तो भी द्रव्य त्रिकाल कायम (मौजूद) रहता है। यह सिद्धान्त सूत्र ३० और ३८ में दिया गया है।

(५) जिसके 'है' पन (अस्तित्व) हो वह द्रव्य है। इसतरह 'अस्तित्व' गुणके द्वारा द्रव्यकी रचना की जा सकती है। इसलिए इस सूत्रमें द्रव्यका लक्षण 'सत्' कहा है। यह सूत्र बतलाता है कि जिसका अस्तित्व हो वह द्रव्य है।

(६) अतः यह सिद्ध हुआ कि 'सत्' लक्षण द्वारा द्रव्य पहचाना जा सकता है। उपरोक्त कथनसे दो सिद्धांत निकले कि द्रव्यमें 'प्रमेयत्व' (ज्ञानमें ज्ञात होने योग्य—Knowable) गुण है और यह द्रव्य स्वयं स्वको जाननेवाला हो अथवा अन्य द्रव्य उसे जाननेवाला हो। यदि ऐसा न हो तो निश्चित ही नहीं होता कि 'द्रव्य' है। इसलिये यह भी सिद्ध होता है कि द्रव्यमें 'प्रमेयत्व' गुण है और द्रव्य या तो जाननेवाला (चेतन) अथवा नहीं जाननेवाला (अचेतन) है। जाननेवाला द्रव्य 'जीव' है और नहीं जाननेवाला 'अजीव' है।

(७) प्रत्येक द्रव्य अपनी प्रयोजनभूत अर्थक्रिया (Functionality) करता ही है। यदि द्रव्य अर्थक्रिया न करे तो वह कार्य रहित हो जाय अर्थात् व्यर्थ हो जाय, किन्तु व्यर्थका (अपने कार्य रहित) कोई द्रव्य होता ही नहीं। इससे यह सिद्ध हुआ कि प्रत्येक द्रव्यमें 'वस्तुत्व' नामक गुण है।

(८) और वस्तुत्व गुणके कारण जो स्वयं अपनी क्रिया करे वही वस्तु कही जाती है। इससे यह सिद्ध हुआ कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कुछ कर नहीं सकता।

(९) पुनरपि जो द्रव्य है उसका 'द्रव्यत्त्व'—'गुणत्व' जिस रूपमें हो वैसा कायम

बन्ध कब होता है ?

द्व्यधिकादिगुणानां तु ॥ ३६ ॥

अर्थः—[द्व्यधिकादिगुणानां तु] दो अधिक गुण हों इस तरहके गुण वालेके साथ ही बन्ध होता है ।

टीका

जब एक परमाणुसे दूसरे परमाणुमें दो अधिक गुण हों तब ही बंध होता है। जैसे कि दो गुणवाले परमाणुका बंध चार गुणवाले परमाणुके साथ हो, तीन गुणवाले परमाणुका पाँच गुणवाले परमाणुके साथ बंध हो परन्तु उससे अधिक या कम गुणवाले परमाणुके साथ बंध नहीं होता* । यह बन्ध स्निग्धका स्निग्धके साथ, रूक्षका रूक्षके साथ, स्निग्धका रूक्षके साथ तथा रूक्षका स्निग्धके साथ भी बंध होता है ॥ ३६ ॥

दो गुण अधिकके साथ मिलने पर नई अवस्था कैसी होती है ?

बन्धेऽधिकौ पारिणामिकौ च ॥ ३७ ॥

अर्थ:—[च] और [बन्धे] बन्धरूप अवस्थामें [अधिकौ] अधिक गुणवाले परमाणुओं जितने गुण रूपमें [पारिणामिकौ] (कम गुणवाले परमाणुओंका) परिणमन होता है । (यह कथन निमित्तका है)

टीका

जो अल्प गुणधारक परमाणु हो वह जब अधिक गुणधारक परमाणुके साथ बंध अवस्थाको प्राप्त होता है तब वह अल्पगुण धारक परमाणु अपनी पूर्व अवस्थाको छोड़कर दूसरी अवस्था प्रकट करता है और एक स्कंध हो जाता है अर्थात् अधिक गुणधारक परमाणुकी जातिका और उतने गुणवाला स्कंध होता है ॥३७॥

द्रव्यका दूसरा लक्षण

गुणपर्ययवत् द्रव्यम् ॥ ३८ ॥

अर्थः—[गुणपर्ययवत्] गुण-पर्यायवाला [द्रव्यम्] द्रव्य है ।

* श्वेताम्बर मतमें इस व्यवस्थाको नहीं माना है ।

टीका

(१) गुण—द्रव्यकी अनेक पर्याय बदलने पर भी जो द्रव्यसे कभी पृथक् नहीं हो, निरन्तर द्रव्यके साथ सहभावी रहे वह गुण कहलाता है।

(२) जो द्रव्यके पूरे हिस्सेमें तथा उसकी सभी हालतोंमें रहे उसे गुण कहते हैं। (जैन सिद्धान्त प्रवेशिका प्रश्न ११३) (३) जो द्रव्यमें शक्तिकी अपेक्षासे भेद किया जावे वह गुण शब्दका अर्थ है (तत्त्वार्थसार—अध्याय ३, गाथा ९ पृष्ठ १३१) सूत्रकार गुणकी व्याख्या ४१ वें सूत्रमें देंगे।

(३) पर्याय—१-क्रमसे होनेवाली वस्तुकी—गुणकी अवस्थाको पर्याय कहते हैं; २-गुणके विकारको (विशेष कार्यको) पर्याय कहते हैं; (जैन सिद्धान्त प्रवेशिका प्रश्न १४८) ३-द्रव्यमें जो विक्रिया हो अथवा जो अवस्था बदले वह पर्याय कहलाती है।

(देखो तत्त्वार्थसार अध्याय ३ गाथा ९ पृष्ठ १३१)

सूत्रकार पर्यायकी व्याख्या ४२ वें सूत्रमें देंगे।

(४) पहले सूत्र २९-३० में कहे हुए लक्षणसे यह लक्षण पृथक् नहीं है, शब्दभेद है, किन्तु भावभेद नहीं। पर्यायमें उत्पाद-व्ययकी और गुणसे ध्रौव्यकी प्रतीति हो जाती है।

(५) गुणको अन्वय, सहवर्ती पर्याय या अक्रमवर्ती पर्याय भी कहा जाता है तथा पर्यायको व्यतिरेकी अथवा क्रमवर्ती कहा जाता है। द्रव्यका स्वभाव गुण-पर्यायरूप है, ऐसा सूत्रमें कहकर द्रव्यका अनेकांतत्व सिद्ध किया है।

(६) द्रव्य-गुण और पर्याय वस्तुरूपसे अभेद-अभिन्न है। नाम, संख्या, लक्षण और प्रयोजनकी अपेक्षासे द्रव्य, गुण और पर्यायमें भेद है परन्तु प्रदेशसे अभेद है; ऐसा वस्तुका भेदाभेद स्वरूप समझना।

(७) सूत्रमें 'वत्' शब्दका प्रयोग किया है, वह कथंचित् भेदाभेदरूप सूचित करता है।

(८) जो गुणके द्वारा यह बतलावे कि 'एक द्रव्य दूसरे द्रव्यसे द्रव्यान्तर है' उसे विशेष गुण कहते हैं। उसके द्वारा द्रव्यका विधान किया जाता है। यदि ऐसा न हो तो द्रव्योंकी संकरता-एकताका प्रसंग हो और एक द्रव्य बदलकर दूसरा हो जाय तो व्यतिकर दोषका प्रसंग होगा। इसलिये इन दोषोंसे रहित वस्तुका स्वरूप जैसाका तैसा समझना॥३८॥

काल भी द्रव्य है

कालश्च ॥ ३९ ॥

अर्थः—[कालः] काल [च] भी द्रव्य है।

टीका

(१) 'च' का अन्वय इस अध्यायके दूसरे सूत्र 'द्रव्याणि' के साथ है।

(२) काल उत्पाद-व्यय-ध्रुव तथा गुण-पर्याय सहित है इसलिये वह द्रव्य है।

(३) काल द्रव्योंकी संख्या असंख्यात है। वे रत्नोंकी राशिकी तरह एक दूसरेसे पृथक् लोकके समस्त प्रदेशों पर स्थित हैं। वह प्रत्येक कालाणु जड़ एक प्रदेशी और अमूर्तिक है। उसमें स्पर्श गुण नहीं है इसलिये एक दूसरेके साथ मिलकर स्कंध रूप नहीं होता। कालमें मुख्य रूपसे या गौणरूपसे प्रदेश-समूहकी कल्पना नहीं हो सकती इसलिये उसे अकाय भी कहते हैं। वह *निष्क्रिय है अर्थात् एक प्रदेशसे दूसरे प्रदेशमें नहीं जाता।*

(४) सूत्र २२ में वर्तना मुख्य कालका लक्षण कहा है और उसी सूत्रमें व्यवहार कालका लक्षण परिणाम क्रिया, परत्व और अपरत्व कहा है। इस व्यवहार कालके अनन्त समय हैं ऐसा अब इसके बादके सूत्रमें कहते हैं ॥ ३९ ॥

व्यवहारकालका प्रमाण बताते हैं

सोऽनन्तसमयः ॥ ४० ॥

अर्थः—[सः] वह काल द्रव्य [अनन्त समयः] अनन्त समय वाला है। कालकी पर्याय यह समय है। यद्यपि वर्तमानकाल एक समयमात्र ही है तथापि भूत-भविष्यकी अपेक्षासे उसके अनन्त समय हैं।

टीका

(१) समयः—मन्दगतिसे गमन करनेवाले एक पुद्गल परमाणुको आकाशके एक प्रदेशसे दूसरे प्रदेशपर जानेमें जितना समय लगता है वह एक समय है। यह कालकी पर्याय होनेसे व्यवहार है। आवलि, (समयोंके समूहसे हो जो हो) घड़ी घंटा आदि व्यवहारकाल है। व्यवहारकाल निश्चयकालकी पर्याय है।

निश्चयकालद्रव्यः—लोकाकाशके प्रत्येक प्रदेशपर रत्नोंकी राशिकी तरह कालाणुके

स्थित होनेका ३९ वें सूत्रकी टीकामें कहा है, वह प्रत्येक निश्चयकालद्रव्य है। उसका लक्षण वर्तना है; यह सूत्र २२ में कहा जा चुका है।

(२) एक समयमें अनन्त पदार्थोंकी परिणति-पर्याय-जो अनन्त संख्यामें है; उसमें एक कालाणुकी पर्याय निमित्त होती है, इस अपेक्षासे एक कालाणुको उपचारसे 'अनन्त' कहा जाता है। मुख्य अर्थात् निश्चयकालाणु द्रव्यकी संख्या असंख्यात है।

(३) समय सबसे छोटेसे छोटा काल है, उसका विभाग नहीं हो सकता ॥४०॥

इस तरह छह द्रव्योंका वर्णन पूर्ण हुआ। अब दो सूत्रों द्वारा गुणका और पर्यायका लक्षण बताकर यह अधिकार पूर्ण हो जायगा।

गुणका लक्षण

द्रव्याश्रया निर्गुणाः गुणाः ॥ ४१ ॥

अर्थः—[द्रव्याश्रयाः] जो द्रव्यके आश्रयसे हों और [निर्गुणाः] स्वयं दूसरे गुणोंसे रहित हो [गुणाः] वे गुण हैं।

टीका

(१) ज्ञानगुण जीवद्रव्यके आश्रित रहता है तथा ज्ञानमें और कोई दूसरा गुण नहीं रहता। यदि उसमें गुण रहे तो वह गुण न रहकर गुणी (द्रव्य) हो जाय, किन्तु ऐसा नहीं होता। 'आश्रयाः' शब्द भेद-अभेद दोनों बतलाता है।

(१) **प्रश्नः**—पर्याय भी द्रव्यके आश्रित रहती है और गुण रहित है इसलिये पर्यायमें भी गुणत्व आ जायगा और इसीसे इस सूत्रमें अतिव्याप्ति दोष लगेगा।

उत्तरः—'द्रव्याश्रयाः' पद होनेसे जो नित्य द्रव्यके आश्रित रहता है, उसकी बात है। वह गुण है, पर्याय नहीं है। इसीलिये 'द्रव्याश्रयाः' पदसे पर्याय उसमें नहीं आती। पर्याय एक समयवर्ती ही है।

कोई गुण दूसरे गुणके आश्रित नहीं है और एक गुण दूसरे गुणकी पर्यायका कर्ता नहीं हो सकता है।

(२) इस सूत्रका सिद्धांत

प्रत्येक गुण अपने द्रव्यके आश्रित रहता है इसलिये एक द्रव्यका गुण दूसरे द्रव्यका कुछ नहीं कर सकता, तथा दूसरे द्रव्यको प्रेरणा, असर या मदद नहीं कर सकता, परद्रव्य निमित्तरूपसे होता है परन्तु एक द्रव्य परद्रव्यमें अकिंचित्कर है (समयसार गाथा २६७

की टीका) प्रेरणा, सहाय, मदद, उपकार आदिका कथन उपचारमात्र है अर्थात् निमित्तका मात्र ज्ञान करानेके लिये है ॥ ४१ ॥

परिणामका लक्षण

तद्भावः परिणामः ॥ ४२ ॥

अर्थ.—[तद्भावः] जो द्रव्यका स्वभाव (निजभाव, निजतत्त्व) है [परिणामः] सो परिणाम है।

टीका

(१) द्रव्य जिस स्वरूपसे होता है तथा जिस स्वरूपसे परिणमता है वह तद्भाव परिणाम है।

(२) प्रश्नः—कोई ऐसा कहते हैं कि द्रव्य और गुण सर्वथा भिन्न है, क्या यह ठीक है ?

उत्तरः—नहीं, गुण और द्रव्य कथंचित् भिन्न है कथंचित् अभिन्न है अर्थात् भिन्नाभिन्न है। संज्ञा-संख्या-लक्षण-विषयादि भेदसे भिन्न है वस्तुरूपसे प्रदेशरूपसे अभिन्न है, क्योंकि गुण-द्रव्यका ही परिणाम है।

(३) समस्त द्रव्योंके अनादि और आदिमान परिणाम होता है। प्रवाहरूपसे अनादि परिणाम है। पर्याय उत्पन्न होती है—नष्ट होती इसलिये वह सादि है। धर्म, अधर्म, आकाश, और काल इन चार द्रव्योंके अनादि तथा आदिमान परिणाम आगमगम्य हैं तथा जीव और पुद्गलके अनादि परिणाम आगमगम्य हैं किन्तु उनके आदिमान परिणाम कथंचित् प्रत्यक्ष भी हैं।

(४) गुणको सहवर्ती अथवा अक्रमवर्ती पर्याय कहा जाता है और पर्यायको क्रमवर्ती पर्याय कहा जाता है।

(५) क्रमवर्ती पर्यायका स्वरूप नियमसार गाथा १४ की टीकामें कहा है 'जो सब तरफसे भेदको प्राप्त करे सो पर्याय है।"

द्रव्य-गुण और पर्याय—ये वस्तुके तीन भेद कहे हैं, परन्तु नय तो द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दो ही कहे हैं, तीसरा 'गुणार्थिक' नय नहीं कहा, इसका क्या कारण है ? तथा गुण क्या नयका विषय है ? इसका खुलासा पहले प्रथम अध्यायके सूत्र ६ की टीकामें दिया है।

(५) इस सूत्रका सिद्धान्त

सूत्र ४१ में जो सिद्धान्त कहा है उसी प्रमाणसे वह यहां भी लागू होता अर्थात् प्रत्येक द्रव्य अपने भावसे परिणमता है, परके भावसे नहीं परिणमता; अतः यह सिद्ध हुआ कि प्रत्येक द्रव्य अपना काम कर सकता है किन्तु दूसरेका नहीं कर सकता ॥ ४२ ॥

उपसंहार

इस पांचवें अध्यायमें मुख्यरूपसे अजीव तत्त्वका कथन है। अजीव तत्त्वका कथन करते हुए, उसका जीवतत्त्वके साथ सम्बन्ध बतानेकी आवश्यकता होने पर जीवका स्वरूप भी यहां बताया गया है। पुनरपि छहों द्रव्योंका सामान्य स्वरूप भी जीव और अजीवके साथ लागू होनेके कारण कहा है। इस तरह इस अध्याय में निम्न विषय आये हैं—

(१) छहों द्रव्योंके एक समान रीतिसे लागू होनेवाले नियमका स्वरूप, (२) द्रव्योंकी संख्या और उनके नाम, (३) जीवका स्वरूप, (४) अजीवका स्वरूप, (५) स्याद्वाद सिद्धांत और (६) अस्तिकाय।

(१) छहों द्रव्योंको लागू होनेवाला स्वरूप

(१) द्रव्यका लक्षण अस्तित्व (होनेरूप–विद्यमान) सत् है (सूत्र २९) (२) विद्यमान- (सत्‌का) का लक्षण यह है कि त्रिकाल कायम रहकर प्रत्येक समयमें जूनी अवस्थाको दूर (व्यय) कर नई अवस्था उत्पन्न करना। (सूत्र ३०) (३) द्रव्य अपने गुण और अवस्था वाला होता है, गुण द्रव्यके आश्रित रहता है और गुणमें गुण नहीं होता। वह निजका जो भाव है उस भावसे परिणमता है (सूत्र ३८, ४१) (४) द्रव्यके निजभावका नाश नहीं होता इसलिये नित्य है और परिणमन करता है इसलिये अनित्य है। (सूत्र ३१, ४२)

(२) द्रव्योंकी संख्या और उनके नाम

(१) जीव अनेक हैं (सूत्र ३), प्रत्येक जीवके असंख्यात प्रदेश हैं (सूत्र ८) यह लोकाकाशमें ही रहता है (सूत्र १२). जीवके प्रदेश संकोच और विस्तारको प्राप्त होते हैं इसलिये लोकके असंख्यातवें भागसे लेकर समस्त लोकके अवगाह रूपसे है (सूत्र ५, १५), लोकाकाशके जितने प्रदेश हैं उतने ही जीवके प्रदेश हैं। एक जीवके, धर्मद्रव्यके और अधर्मद्रव्यके प्रदेशोंकी संख्या समान है (सूत्र ८); परन्तु जीवके अवगाह और धर्म द्रव्य तथा अधर्म द्रव्यके अवगाहमें अन्तर है। धर्म-अधर्म द्रव्य समस्त लोकाकाशमें व्याप्त हैं जब कि जीवके प्रदेश संकोच और विस्तारको प्राप्त होते हैं। (सूत्र १३, १६)

(२) जीवकी विकारी अवस्थायें, सुख-दुःख तथा जीवन-मरणमें पुद्गल द्रव्य निमित्त है, जीव द्रव्य भी परस्पर उन कार्योंमें निमित्त होता है। संसारी जीवके संयोग रूपसे कार्माणादि शरीर, वचन, मन और श्वासोच्छ्वास होता है। (सूत्र १९, २०, २१)।

(३) जीव क्रियावान है, उसकी क्रियावती शक्तिकी पर्याय कभी गतिरूप और कभी स्थितिरूप होती है जब गतिरूप होती है तब धर्मद्रव्य और जब स्थितिरूप होती है तब अधर्मद्रव्य निमित्त है। (सूत्र १७)

(४) जीव द्रव्यसे नित्य है, उसकी संख्या एक समान रहनेवाली है और वह अरूपी है (सूत्र ४)।

नोट:—यहाँ द्रव्योंका जो स्वरूप ऊपर नं० (१) में चार पहलुओंसे बतलाया है वही स्वरूप प्रत्येक जीवद्रव्यके लागू होता है। नं० २ सूत्र ८ में जीवका लक्षण उपयोग कहा जा चुका है।

(५) अजीवका स्वरूप

जिनमें ज्ञान नहीं है ऐसे अजीव द्रव्य पांच हैं—१-एक धर्म, २-एक अधर्म, ३-एक आकाश, ४-अनेक पुद्गल तथा ५-असंख्यात कालाणु (सूत्र १, ३९)। अब पांच उपविभागों द्वारा उन पांचों द्रव्योंका स्वरूप कहा जाता है।

(अ) धर्मद्रव्य

धर्मद्रव्य एक, अजीव, बहुप्रदेशी है। (सूत्र १, २, ६) वह नित्य अवस्थित, अरूपी और हलन-चलन रहित है (सूत्र ४, ७)। इसके लोकाकाश जितने असंख्य प्रदेश हैं और वह समस्त लोकाकाश में व्याप्त है (सूत्र ८, १३) वह स्वयं हलन-चलन करनेवाले जीव तथा पुद्गलोंको गतिमें निमित्त है (सूत्र १७) उसे अवकाश देनेमें आकाश निमित्त है और परिणमनमें काल निमित्त है (सूत्र १८, २२) अरूपी (सूक्ष्म) होनेसे धर्म और अधर्म द्रव्य लोकाकाशमें एक समान (एक दूसरेको व्याघात पहुँचाये बिना) व्याप्त हो रहे हैं (सूत्र १३)।

(ब) अधर्म द्रव्य

उपरोक्त समस्त बातें अधर्मद्रव्यके भी लागू होती हैं इतनी विशेषता है कि धर्मद्रव्य जीव-पुद्गलोंको गतिमें निमित्त है तब अधर्मद्रव्य गमनपूर्वक ठहरे हुये जीव-पुद्गलोंको स्थितिमें निमित्त है।

(क) आकाशद्रव्य

आकाशद्रव्य एक, अजीव, अनन्त प्रदेशी है। (सूत्र १, २, ६, ९) नित्य अवस्थित, अरूपी और हलन-चलन रहित है। (सूत्र ४, ७) अन्य पांचों द्रव्योंको अवकाश देनेमें निमित्त है। (सूत्र १८) उसके परिणमनमें कालद्रव्य निमित्त है (सूत्र २२) । आकाशका सबसे छोटा भाग प्रदेश है।

(ड) कालद्रव्य

कालद्रव्य प्रत्येक अणुरूप, अरूपी, अस्तिरूपसे किन्तु कायरहित, नित्य और अवस्थित अजीव पदार्थ है (सूत्र २, ३९, ४) वह समस्त द्रव्योंके परिणमनमें निमित्त है (सूत्र २२) कालद्रव्यको स्थान देनेमें आकाश द्रव्य निमित्त है (सूत्र १८) एक आकाशके प्रदेशमें रहे हुये अनन्त द्रव्योंके परिणमनमें एक कालाणु निमित्त होता है, इस कारणसे उसे उपचारसे अनन्त समय कहा जाता है तथा भूत-भविष्यकी अपेक्षासे अनन्त है। कालकी एक पर्यायको समय कहते हैं (सूत्र ४०)।

(ढ) पुद्गलद्रव्य

(१) यह पुद्गल द्रव्य अनन्तानन्त हैं वह प्रत्येक एकप्रदेशी है (सूत्र १, २, १०, ११)। इसमें स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण आदि विशेष गुण हैं अतः वह रूपी है (सूत्र २३, ५) उन विशेष गुणोंमेंसे स्पर्श गुणकी स्निग्ध या रूक्षकी जब अमुक प्रकारकी अवस्था होती है तब बन्ध होता है (सूत्र ३३) बन्ध प्राप्त पुद्गलोंको स्कन्ध कहा जाता है। उनमेंसे जीवके संयोगरूप होनेवाले स्कंध शरीर, वचन, मन और श्वासोच्छ्वासरूपसे परिणमते हैं (सूत्र २५, १९)। कितनेक स्कन्ध जीवके सुख-दुःख, जीवन और मरणमें निमित्त होते हैं (सूत्र २०)।

(२) स्कन्धरूपसे परिणमे हुये परमाणु संख्यात असंख्यात और अनन्त होते हैं। तथा बन्धकी ऐसी विशेषता है कि एक प्रदेशमें अनेक रहते हैं, अनेक स्कन्ध संख्यात प्रदेशोंको और असंख्यात प्रदेशोंको रोकते हैं तथा एक महास्कन्ध लोक प्रमाण असंख्यात आकाशके प्रदेशोंको रोकता है (सूत्र १०, १४, १२)।

(३) जिस पुद्गलकी स्निग्धता या रूक्षता जघन्यरूपसे हो वह बन्धके पात्र नहीं तथा एक समान गुणवाले पुद्गलोंका बन्ध नहीं होता (सूत्र ३४, ३५)। जघन्य गुणको छोड़कर दो अंश ही अधिक हों वहां स्निग्धका स्निग्धके साथ, रूक्षका रूक्षके साथ, तथा

स्निग्ध रूक्षका परस्परमें बन्ध होता है और जिसके अधिक गुण हों उसरूपसे समस्त स्कन्ध हो जाता है (सूत्र ३६, ३७) स्कन्धकी उत्पत्ति परमाणुओंके भेद (छूटे पड़नेसे—अलग होनेसे) संघात (मिलनेसे) अथवा एक ही समय दोनों प्रकारसे (भेद-संघातसे) होती है (सूत्र २६) और अणुकी उत्पत्ति भेदसे होती है (सूत्र २७) भेद संघात दोनोंसे मिलकर उत्पन्न हुआ स्कन्ध चक्षुइन्द्रियगोचर होता है (सूत्र २८)।

(४) शब्द, बन्ध, सूक्ष्म, स्थूल, संस्थान, भेद, तम, छाया, आतप और उद्योत ये सब पुद्गलकी पर्यायें हैं।

(५) पुद्गल द्रव्यके हलन-चलनमें धर्मद्रव्य और स्थितिमें अधर्मद्रव्य निमित्त है (सूत्र १७), अवगाहनमें आकाशद्रव्य निमित्त है और परिणमनमें कालद्रव्य निमित्त है (सूत्र १८, २२)।

(६) पुद्गल स्कन्धोंको शरीर, वचन, मन और श्वासोच्छ्वासरूप परिणमानेमें जीव निमित्त है (सूत्र १९), बन्धरूप होनेमें परस्पर निमित्त है (सूत्र ३३)।

नोट:—स्निग्धता और रूक्षताके अनन्त अविभागप्रतिच्छेद होते हैं। एक अविभागी अंशको गुण कहते हैं ऐसा यहाँ गुण शब्दका अर्थ है।

(४) स्याद्वादका सिद्धांत

प्रत्येक द्रव्य गुण-पर्यायात्मक है, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्त सत् है, सप्तभंगस्वरूप है। इस तरह द्रव्यमें त्रिकाली अखंड स्वरूप और प्रत्येक समयमें प्रवर्तमान अवस्था-ऐसे दो पहलू होते हैं। पुनरपि स्व-रूपसे अस्तित्वरूप है और पररूपसे नास्तित्वरूप है। इसीलिये द्रव्य, गुण और पर्याय सब अनेकान्तात्मक* (अनेक धर्मरूप) हैं। अल्पज्ञ जीव किसी भी पदार्थका विचार क्रमपूर्वक करता है परन्तु समस्त पदार्थको एक साथ विचारमें नहीं ले सकता, विचारमें आनेवाले पदार्थके भी एक पहलूका विचार कर सकता है और फिर दूसरे पहलूका विचार कर सकता है। इसप्रकार उसके विचार और कथनमें क्रम पड़े बिना नहीं रहता। इसीलिये जिस समय त्रिकाली ध्रुव पहलूका विचार करे तब दूसरे पहलू विचारके लिये स्थगित रहें। अतः जिसका विचार किया जावे उसे मुख्य और जो विचारमें बाकी रहें उन्हें गौण किया जावे। इसप्रकार वस्तुके अनेकांतस्वरूपका निर्णय करनेमें क्रम पड़ता है। इन अनेकांतस्वरूपका कथन करनेके लिये तथा उसे समझनेके लिये उपरोक्त पद्धति ग्रहण करना इसीका नाम 'स्याद्वाद' है। और वह इस अध्यायके ३२ वें सूत्रमें बताया है। जिस-

* अनेकांत=अनेक+अन्त (धर्म)=अनेक धर्म।

समय जिस पहलू (अर्थात् धर्म)को ज्ञानमें लिया जावे उसे 'अर्पित' कहा जाता है और उसी समय जो पहलू अर्थात् धर्म ज्ञानमें गौण रहे हों वह 'अनर्पित' कहलाते हैं। इस तरह समस्त स्वरूपकी सिद्धि-प्राप्ति-निश्चित-ज्ञान हो सकता है। उस निखिल पदार्थके ज्ञानको प्रमाण और एक धर्मके ज्ञानको नय कहते हैं, और 'स्यात् अस्ति-नास्ति'के भेदों द्वारा उसी पदार्थके ज्ञानको 'सप्तभंगी'स्वरूप कहा जाता है।

(६) अस्तिकाय

छह द्रव्योंमेंसे जीव, धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल ये पांच अस्तिकाय हैं (सूत्र १, २, ३); और काल अस्ति है (सूत्र २, ३९) किंतु काय-बहुप्रदेशी नहीं है (सूत्र १)

(७) जीव और पुद्गल द्रव्यकी सिद्धि १-२

(१) 'जीव' एक पद है और इसीलिये वह जगत्‌की किसी वस्तुको-पदार्थको बतलाता है, इसलिये अपनेको यह विचार करना है कि वह क्या है ? इसके विचारनेमें अपनेको एक मनुष्यका उदाहरण लेना चाहिये जिससे विचार करनेमें सुगमता हो।

(२) हमने एक मनुष्यको देखा, वहाँ सर्व प्रथम हमारी दृष्टि उसके शरीर पर पड़ेगी तथा यह भी ज्ञात होगा कि वह मनुष्य ज्ञान सहित पदार्थ भी है। ऐसा जो निश्चित् किया कि शरीर है वह इन्द्रियोंसे निश्चित किया किंतु उस मनुष्यके ज्ञान है जो निश्चय किया वह इन्द्रियोंसे निश्चित् नहीं किया, क्योंकि अरूपी ज्ञान इन्द्रियगम्य नहीं है किन्तु उस मनुष्यके वचन या शरीरकी चेष्टा परसे निश्चय किया गया है। उनमेंसे इन्द्रियों द्वारा शरीरका निश्चय किया, इस ज्ञानको अपन इन्द्रियजन्य कहते हैं और उस मनुष्यमें ज्ञान होनेका जो निश्चय किया सो अनुमानजन्य ज्ञान है।

(३) इसप्रकार मनुष्यमें हमें दो भेद मालूम हुए—१-इन्द्रियजन्य ज्ञानसे शरीर, २-अनुमानजन्य ज्ञानसे ज्ञान। फिर चाहे किसी मनुष्यके ज्ञान अल्पमात्रामें प्रगट हो या किसीके ज्यादा—विशेष ज्ञान प्रगट हो। हमें यह निश्चय करना चाहिये कि उन दोनों बातोंके जानने पर वे दोनों एक ही पदार्थके गुण हैं या भिन्न भिन्न पदार्थोंके वे गुण हैं ?

(४) जिस मनुष्यको हमने देखा उसके सम्बन्धमें निम्न प्रकारसे दृष्टांत दिया जाता है—

(१) उस मनुष्यके हाथमें कुछ लगा और शरीरमेंसे खून निकलने लगा।

(२) उस मनुष्यने रक्त निकलता हुआ जाना और वह रक्त तुरन्त ही बन्द हो जाय तो ठीक, ऐसी तीव्र भावना भायी।

(३) किन्तु उसी समय रक्त ज्यादा निकलने लगा और कई उपाय किये, किन्तु उसके बन्द होनेमें बहुत समय लगा।

(४) रक्त बन्द होनेके बाद हाथ जल्दी आराम हो जाय ऐसी उस मनुष्यने निरन्तर भावना करना जारी रखी।

(५) किन्तु भावनाके अनुसार परिणाम निकलनेके बदलेमें वह भाग सड़ता गया।

(६) उस मनुष्यको शरीरमें ममत्वके कारण बहुत दुःख हुआ और उसे उस दुःखका अनुभव भी हुआ।

(७) दूसरे सगे-सम्बन्धियोंने यह जाना कि उस मनुष्यको दुःख होता है, किन्तु वे उस मनुष्यके दुःख-अनुभवका कुछ भी भाग न ले सके।

(८) अतमें उसने हाथके सड़े हुए भागको कटवाया।

(९) वह हाथ कटा तथापि उस मनुष्यका ज्ञान उतना ही रहा और विशेष अभ्याससे ज्यादा बढ़ गया और बाकी रहा हुआ शरीर बहुत कमजोर होता गया तथा वजनमें भी घटता गया।

(१०) शरीर कमजोर हुआ तथापि उसके ज्ञानाभ्यासके बलसे धैर्य रहा और शांति बढ़ी।

५—हमें यह जानना चाहिये कि ये सब बातें क्या सिद्ध करती हैं। मनुष्यमें विचार शक्ति (Reasoning Faculty) है और वह तो प्रत्येक मनुष्यके अनुभवगम्य है। अब विचार करने पर निम्न सिद्धांत प्रगट होते हैं—

(१) शरीर और ज्ञान धारण करनेवाली वस्तु ये दोनों पृथक्-पृथक् पदार्थ हैं, क्योंकि उस ज्ञान धारण करनेवाली वस्तुने 'खून तत्काल ही बन्द हो जाय तो ठीक' इच्छा की तथापि खून बंद नहीं हुआ, इतना ही नहीं किन्तु इच्छासे विरुद्ध शरीरकी और खूनकी अवस्था हुई। यदि शरीर और ज्ञान धारण करनेवाली वस्तु ये दोनों एक हों; ऐसा न हो।

(२) यदि वह दोनों वस्तुयें एक ही होती तो जब ज्ञान करनेवालेने इच्छा की उसी समय खून बन्द हो जाता।

(३) यदि वह दोनों एक ही वस्तु होती तो रक्त तुरन्त ही बन्द हो जाता, इतना ही नहीं किन्तु ऊपर नं० (४-५) में बताये गये माफिक भावना करनेके कारण शरीरका

वह भाग भी नहीं सकता, इसके विपरीत जिस समय इच्छा की उस समय तुरन्त ही आराम हो जाता। किन्तु दोनों पृथक् होनेसे वैसा नहीं होता।

(४) ऊपर नं० (६-७) में जो हकीकत बतलाई है वह सिद्ध करती है कि जिसका हाथ कटा है वह और उसके सगे-सम्बन्धी सब स्वतंत्र पदार्थ हैं। यदि वे एक ही होते तो वे उस मनुष्यका दुःख एक होकर भोगते और वह मनुष्य अपने दुःखका भाग उनको देता अथवा घनिष्ट सम्बन्धीजन उसका दुःख लेकर वे स्वयं भोगते, किन्तु ऐसा नहीं बन सकता, अतः यह सिद्ध हुआ कि वे भी इस मनुष्यसे भिन्न स्वतंत्र ज्ञानरूप और शरीर सहित व्यक्ति हैं।

(५) ऊपर नं० (८-९)में जो विगत बतलायी है उससे सिद्ध होता है कि शरीर संयोगी पदार्थ है; इसीलिये हाथ जितना भाग उसमेंसे अलग हो सका। यदि वह एक अखंड पदार्थ होता तो हाथ जितना टुकड़ा काटकर अलग नहीं किया जा सकता। पुनश्च वह यह सिद्ध करता है कि शरीरसे ज्ञान स्वतंत्र है क्योंकि शरीरका अमुक भाग कटाया तथापि उतने प्रमाणमें ज्ञान कम नहीं होता किन्तु उतना ही रहता है, और यद्यपि शरीर कमजोर होता जाय तथापि ज्ञान बढ़ता जाता है अर्थात् यह सिद्ध हुआ कि शरीर और ज्ञान दोनों स्वतन्त्र वस्तुयें हैं।

(६) उपरोक्त नं० (१०) से यह सिद्ध हुआ कि यद्यपि ज्ञान बढ़ा तो भी वजन नहीं बढ़ा परन्तु ज्ञानके साथ सम्बन्ध रखनेवाले धैर्य, शांति आदिमें वृद्धि हुई; यद्यपि शरीर वजनमें घटा तथापि ज्ञानमें घटती नहीं हुई, इसलिये ज्ञान और शरीर ये दोनों भिन्न, स्वतंत्र, विरोधी गुणवाले पदार्थ हैं। जैसे कि-(अ) शरीर वजन सहित और ज्ञान वजन रहित है (ब) शरीर घटा, ज्ञान बढ़ा, (क) शरीरका भाग कम हुआ, ज्ञान उतना ही रहा और फिर बढ़ा; (ड) शरीर इन्द्रियगम्य है, संयोगी है और अलग हो सकता है, किसी दूसरी जगह उसका भाग अलग होकर रह सकता है, ज्ञानवस्तु इन्द्रियगम्य नहीं किन्तु ज्ञानगम्य है, उसके टुकड़े या हिस्से नहीं हो सकते क्योंकि वह असंयोगी है, और सदा अपने द्रव्य-क्षेत्र (आकार) काल और भावोंसे अपनेमें अखंडित रहता है। और इसलिये उसका कोई भाग अलग होकर अन्यत्र नहीं रह सकता तथा किसीको दे नहीं सकता; (इ) यह शरीर संयोगी पदार्थ से बना है, उसके टुकड़े हिस्से हो सकते हैं, परन्तु ज्ञान नहीं मिलता; किसी संयोगसे कोई अपना ज्ञान दूसरेको दे नहीं सकता किन्तु अपने अभ्याससे ही ज्ञान बढ़ा सकनेवाला, असंयोगी और निजमेंसे आनेवाला होनेसे ज्ञान स्वके ही—आत्माके आश्रित रहने वाला है।

(७) 'ज्ञान' गुणवाचक नाम है,' वह गुणी के बिना नहीं होता, इसलिये ज्ञानगुणको

धारण करनेवाली ऐसी एक वस्तु है। उसे जीव, आत्मा, सचेतन पदार्थ, चैतन्य इत्यादि नामोंसे पहिचाना जा सकता है। इस तरह जीव पदार्थ ज्ञान सहित, असंयोगी, अरूपी और अपने ही भावोंका अपनेमें कर्ता-भोक्ता सिद्ध हुआ और उससे विरुद्ध शरीर ज्ञानरहित अजीव, संयोगी, रूपी पदार्थ सिद्ध हुआ, वह पुद्गल नामसे पहचाना जाता है। शरीरके अतिरिक्त जो जो पदार्थ दृश्यमान होते हैं वे सभी शरीरकी तरह पुद्गल ही हैं। और वे सब पुद्गल सदा अपने ही भावोंके अपनेमें कर्ता-भोक्ता हैं। जीवसे सदा भिन्न होने पर भी अपना कार्य करनेमें सामर्थ्यवान हैं।

(८) पुनश्च ज्ञानका ज्ञानत्व कायम रहकर उसमें हानि-वृद्धि होती है। उस हानि-वृद्धिको ज्ञानकी तारतम्यतारूप अवस्था कहा जाता है। शास्त्रकी परिभाषामें उसे 'पर्याय' कहते हैं। जो नित्य ज्ञानत्व स्थिर रहता है सो 'ज्ञानगुण' है।

(९) शरीर संयोगी सिद्ध हुआ इसलिये वह वियोग सहित ही होता है। पुनश्च शरीरके छोटे छोटे हिस्से करें तो कई हों और जलाने पर राख हो। इसीलिये यह सिद्ध हुआकि शरीर अनेक रजकणोंका पिंड है। जब जीव और ज्ञान इंद्रियगम्य नहीं किन्तु विचार (Reasoning) गम्य है उसी तरह पुद्गलरूप अविभागी रजकण भी इन्द्रियगम्य नहीं किन्तु ज्ञानगम्य है।

(१०) शरीर यह मूल वस्तु नहीं किन्तु अनेक रजकणोंका पिंड है और रजकण स्वतंत्र वस्तु है अर्थात् असंयोगी पदार्थ है और स्वयं परिणमनशील है।

(११) जीव और रजकण असंयोगी हैं अतः यह सिद्ध हुआ कि वे अनादि अनन्त हैं, क्योंकि जो पदार्थ किसी संयोगसे उत्पन्न न हुआ हो उसका कदापि नाश भी नहीं होता।

(१२) शरीर एक स्वतंत्र पदार्थ नहीं है किन्तु अनेक पदार्थोंकी संयोगी अवस्था है। अवस्था हमेशा प्रारम्भ सहित ही होती है इसलिये शरीर शुरुआत- प्रारम्भ सहित है। वह संयोगी होनेसे वियोगी भी है।

६—जीव अनेक और अनादि अनन्त हैं तथा रजकण अनेक और अनादि अनन्त हैं। एक जीव किसी दूसरे जीवके साथ पिंडरूप नहीं हो सकता, परन्तु स्पर्शके कारण रजकण पिंडरूप होते हैं। अतः यह सिद्ध हुआ कि द्रव्यका लक्षण सत्, अनेक द्रव्य, रजकण, उसके स्कंध, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य इत्यादि विषय इन अध्यायमें कहे गये हैं।

७—इस तरह जीव और पुद्गलका पृथक्त्व तथा अनादि-अनन्तत्व सिद्ध होने पर पीछे लिखी मौलिक मान्यतायें असत्य ठहरती हैं—

(१) अनेक रजकणोंके एकमेकरूप होनेपर उनमेंसे नया जीव उत्पन्न होता है यह मान्यता असत्य है क्योंकि रजकण सदा ज्ञान रहित जड़ हैं इसीलिये ज्ञान रहित कितने भी पदार्थोंका संयोग हो तो भी जीव उत्पन्न नहीं होता। जैसे अनेक अंधकारोंके एकत्रित करने पर उनमेंसे प्रकाश नहीं होता उसी तरह अजीवमेंसे जीवकी उत्पत्ति नहीं होती।

(२) ऐसी मान्यता असत्य है कि जीवका स्वरूप क्या है वह अपनेको मालूम नहीं होता; क्योंकि ज्ञान क्या नहीं जानता? ज्ञानकी रुचि बढ़ानेपर आत्माका स्वरूप बराबर जाना जा सकता है। इसलिये यह विचारसे गम्य है (Reasoning—दलीलगम्य) है ऐसा ऊपर सिद्ध किया है।

(३) कोई ऐसा मानते है कि जीव और शरीर ईश्वरने बनाये, किन्तु यह मान्यता असत्य है, क्योंकि दोनों पदार्थ अनादि-अनन्त हैं, अनादि-अनन्त पदार्थोंका कोई कर्ता हो ही नही सकता।

८—उपरोक्त पैरा ४ के पैरेमें जो १० वाँ उप पैरा दिया है उस परसे यह सिद्ध होता है कि जीव शरीरका कुछ कर सकता है अथवा शरीर जीवका कुछ कर सकता है ऐसी मान्यता मिथ्या है। इस विषयका सिद्धांत इस अध्यायके सूत्र ४१ की टीकामें भी दिया है।

(८) उपादान-निमित्त संबंधी सिद्धांत

जीव, पुद्गलके अतिरिक्त दूसरे चार द्रव्योंकी सिद्धि करनेसे पहले हमें उपादान-निमित्तके सिद्धांतको और उसकी सिद्धिको समझ लेना आवश्यक है। उपादान अर्थात् वस्तुकी सहज शक्ति-निजशक्ति और निमित्तका अर्थ है संयोगरूप परवस्तु।

इसका दृष्टांत—एक मनुष्यका नाम देवदत्त है; इसका अर्थ है कि देवदत्त स्वयं स्वसे स्व-रूप है किन्तु वह यज्ञदत्त इत्यादि किसी दूसरे पदार्थरूप नहीं है, ऐसा समझनेसे दो पदार्थ भिन्नरूपसे सिद्ध होते हैं, १-देवदत्त स्वयं, २-यज्ञदत्त इत्यादि दूसरे पदार्थ। देवदत्तका अस्तित्व सिद्ध करनेमें दो कारण हुये—(१) देवदत्त स्वयं (२) यज्ञदत्त इत्यादि दूसरे पदार्थ जो जगत्‌में सद्भावरूप हैं किन्तु उनका देवदत्तमें अभाव। इन दो कारणोंमें देवदत्तका स्वयंका अस्तित्व निजशक्ति होनेसे मूलकारण अर्थात् उपादानकारण है और जगत्‌के यज्ञदत्त इत्यादि दूसरे पदार्थोंका अपने-अपनेमें सद्भाव और देवदत्तमें अभाव वह देवदत्तका अस्तित्व सिद्ध करनेमें निमित्तकारण है। यदि इस तरह न माना जाये और यज्ञदत्त आदि अन्य किसी पदार्थका देवदत्तमें सद्भाव माना जावे तो वह भी देवदत्त हो जायगा। ऐसा होनेसे देवदत्तकी स्वतंत्र सत्ता ही सिद्ध नही हो सकेगी।

पुनश्च, यदि यज्ञदत्त इत्यादि दूसरे पदार्थोंकी सत्ता ही-सद्भाव ही न माने तो देवदत्तका अस्तित्व भी सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि एक मनुष्यको दूसरेसे भिन्न बतानेके लिये उसे देवदत्त कहा, इसलिये देवदत्तको सत्तारूपमें देवदत्त मूल उपादानकारण और जिससे उसे पृथक् बतलाया वैसे अन्य पदार्थ सो निमित्तकारण है–इससे ऐसा नियम भी सिद्ध हुआ कि निमित्तकारण उपादानके लिये अनुकूल होता है किन्तु प्रतिकूल नहीं होता। देवदत्तके देवदत्तपनेमें परद्रव्य उसके अनुकूल हैं, क्योंकि वे देवदत्त नहीं होते। यदि वे देवदत्तरूपमें हो जायें तो प्रतिकूल हो जायें और ऐसा होनेपर दोनोंका (देवदत्त और परका) नाश हो जाए।

इसतरह दो सिद्धांत निश्चित हुए—(१) प्रत्येक द्रव्य-गुण पर्यायकी जो स्वसे अस्ति है सो उपादानकारण है और परद्रव्य-गुण-पर्यायकी जो उसमें नास्ति है सो निमित्तकारण है, निमित्तकारण तो मात्र आरोपित कारण है, यथार्थ कारण नहीं है, तथा वह उपादान-कारणको कुछ भी नहीं करता। जीवके उपादानमें जिस जातिका भाव हो उस भावको अनुकूलरूप होनेका निमित्तमें आरोप किया जाता है। सामने सत् निमित्त हो तथापि कोई जीव यदि विपरीत भाव करे तो उस जीवके विरुद्धभावमें भी उपस्थित वस्तुको अनुकूल निमित्त बनाया–ऐसा कहा जाता है। जैसे कोई जीव तीर्थंकर भगवानके समवशरणमें गया और दिव्यध्वनिमें वस्तुका जो यथार्थस्वरूप कहा गया वह सुना, परन्तु उस जीवके मनमें बात नहीं उतरी अर्थात् स्वयं समझा नहीं, इसलिये वह विमुख हो गया, तो कहा जाता है कि उस जीवने अपने विपरीत भावके लिये भगवानकी दिव्यध्वनिको अनुकूल निमित्त बनाया।

(९) उपरोक्त सिद्धांतके आधारसे जीव, पुद्गलके अतिरिक्त चार द्रव्योंकी सिद्धि

दृष्टिगोचर होनेवाले पदार्थोंमें चार बातें देखनेमें आती है, (१) ऐसा देखा जाता है कि वह पदार्थ ऊपर, नीचे, यहाँ, वहाँ है, (२) वही पदार्थ अभी, फिर, जब, तब, तभीसे अभीतक—इसतरह देखा जाता है, (३) वही पदार्थ स्थिर, स्तब्ध, निश्चल इसतरहसे देखा जाता है और (४) वही पदार्थ हिलता-डुलता, चंचल अस्थिर देखा जाता है। यह चार बातें पदार्थोंको देखनेपर स्पष्ट समझमें आती हैं, तो भी इन विषयों द्वारा पदार्थोंकी किंचित् आकृति नहीं बदलती। उन उन कार्योंका उपादानकारण तो वह प्रत्येक द्रव्य है, किंतु उन चारों प्रकारकी क्रिया भिन्न-भिन्न प्रकारकी होनेसे उस क्रियाके सूचक निमित्तकारण पृथक् ही होते हैं।

इस सम्बन्धमें यह ध्यान रखना कि किसी पदार्थमें पहली, दूसरी और तीसरी

अथवा पहली, दूसरी और चौथी बातें एक साथ देखी जाती हैं। किन्तु तीसरी, चौथी और पहली अथवा तीसरी, चौथी और दूसरी यह बातें कभी एक साथ नहीं होतीं।

अब हमें एक-एकके बारेमें क्रमशः देखना चाहिये।

अ. आकाशकी सिद्धि—२

जगतकी प्रत्येक वस्तुको अपना क्षेत्र होता है अर्थात् उसे लम्बाई-चौड़ाई होती है यानी उसे अपना अवगाहन होना है। वह अवगाहन अपना उपादानकारण हुआ और उसमें निमित्तकारणरूप दूसरी वस्तु होती है।

निमित्तकारणरूप दूसरी वस्तु ऐसी होनी चाहिये कि उसके साथ उपादान वस्तु अवगाहनमें एकरूप न हो जाय। उपादान स्वयं अवगाहनरूप है तथापि अवगाहनमें जो परद्रव्य निमित्त है उससे वह विभिन्नरूपमें कायम रहे, अर्थात् परमार्थसे प्रत्येक द्रव्य स्व-स्वके अवगाहनमें ही है।

पुनश्च, वह वस्तु जगतके समस्त पदार्थोंको एक साथ निमित्तकारण चाहिये, क्योंकि जगतके समस्त पदार्थ अनादि हैं और सभीके अपना-अपना क्षेत्र है, वह उसका अवगाहन है। अवगाहनमें निमित्त होनेवाली वस्तु समस्त अवगाहन लेनेवाले द्रव्योंसे बड़ी चाहिये। जगतमें ऐसी एक वस्तु अवगाहनमें निमित्तकारणरूप है, उसे 'आकाशद्रव्य' कहा जाता है।

और फिर जगतमें सूक्ष्म, स्थूल ऐसे दो प्रकारके तथा रूपी और अरूपी ऐसे दो प्रकारके पदार्थ हैं। उन उपादानरूप पदार्थोंके निमित्तरूपसे अनुकूल कोई परद्रव्य होना चाहिये और उसका उपादानमें अभाव चाहिये; और फिर अबाधित अवगाहन देनेवाला पदार्थ अरूपी ही हो सकता है। इस तरह आकाश एक, सर्व व्यापक, सबसे बड़ा, अरूपी और अनादि द्रव्यरूप सिद्ध होता है।

यदि आकाश द्रव्यको न माना जावे तो द्रव्यमें स्व क्षेत्रत्व नहीं रहेगा और ऊपर-नीचे-यहां-वहां ऐसा निमित्तका ज्ञान करानेवाला स्थान नहीं रहेगा। अल्पज्ञानवाले मनुष्यको निमित्त द्वारा ज्ञान कराये बिना वह उपादान और निमित्त दोनोंका यथार्थ ज्ञान नहीं कर सकता, इतना ही नहीं किन्तु यदि उपादानको न मानें तो निमित्तको भी नहीं मान सकेंगे और निमित्तको न मानें तो वह उपादानको नहीं मान सकेंगे। दोनोंको यथार्थ रूपसे माने बिना यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकेगा। इस तरह उपादान और निमित्त दोनोंको शून्यरूपसे अर्थात् नहीं होने रूपसे मानना पड़ेगा और इस तरह समस्त पदार्थोंको शून्यत्व प्राप्त होगा, किन्तु ऐसा बन ही नहीं सकता।

न कालकी सिद्धि—४

द्रव्य कायम रहकर एक अवस्था छोड़कर दूसरी अवस्था रूपसे होता है, उसे वर्तना कहते हैं। इस वर्तनामें उस वस्तुकी निज शक्ति उपादानकारण है, क्योंकि यदि निजमें वह शक्ति न हो तो स्वयं न परिणमे। पहिले यह सिद्ध किया है कि किसी भी कार्यके लिये दो कारण स्वतंत्र रूपसे होते हैं, इसीलिये निमित्तकारण संयोगरूपसे होना चाहिये। अतः उस वर्तनामें निमित्तकारण एक वस्तु है उस वस्तुको 'काल द्रव्य' कहा जाता है और फिर निमित्त अनुकूल होता है। सबसे छोटा द्रव्य एक रजकण है, इसलिये उसे निमित्तकारण भी एक रजकण बराबर चाहिये। अतः यह सिद्ध हुआ कि कालाणु एकप्रदेशी है।

प्रश्नः—यदि काल द्रव्यको अणुप्रमाण न मानें और बड़ा मानें तो क्या दोष लगेगा?

उत्तर.—उस अणुके परिणमन होनेमें छोटेसे छोटा समय न लगकर अधिक समय लगेगा और परिणमन शक्तिके अधिक समय लगेगा तो निज-शक्ति न कहलायेगी। पुनश्च अल्पसे अल्प काल एक समय जितना न होनेसे काल द्रव्य बड़ा हो तो उसकी पर्याय बड़ी होगी। इस तरह दो समय, दो घंटे क्रमशः न होकर एक साथ होंगे जो बन नहीं सकते। एक-एक समय करके कालको बड़ा मानें तो ठीक है किन्तु एक साथ लम्बा काल (अधिक समय) नहीं हो सकता। यदि ऐसा हो तो किसी भी समयकी गिनती न हो सके।

प्रश्नः—यह सिद्ध हुआ कि कालद्रव्य एकप्रदेशी है उससे बड़ा नहीं, परन्तु ऐसा किसलिये मानना कि कालाणु समस्त लोकमें है?

उत्तर.—जगतमें आकाशके एक-एक प्रदेश पर अनेक पुद्गल परमाणु और उसे ही क्षेत्रको रोकनेवाले सूक्ष्म अनेक पुद्गल स्कंध हैं और उनके परिणमनमें निमित्तकारण प्रत्येक आकाशके प्रदेशमें एक-एक कालाणु होना सिद्ध होता है।

प्रश्नः—एक आकाशके प्रदेशमें अधिक कालाणु स्कंधरूप माननेमें क्या विरोध आता है?

उत्तरः—जिसमें स्पर्श गुण हो उसीमें स्कंधरूप बन्ध होता है और वह तो पुद्गल द्रव्य है। कालाणु पुद्गल द्रव्य नहीं, अरूपी है इसलिये उसका स्कन्ध हो नहीं होता।

क अधर्मास्तिकाय और धर्मास्तिकायकी सिद्धि ५-६

जीव और पुद्गल इन दो द्रव्योंमें क्रियावतीशक्ति होनेसे उनके हलन-चलन होता है, किन्तु वह हलन-चलन रूप क्रिया निरन्तर नहीं होती। वे किसी समय स्थिर होते

और किसी समय गतिरूप होते हैं; क्योंकि स्थिरता या हलन-चलनरूप क्रिया गुण नहीं है किन्तु क्रियावती शक्तिकी पर्याय है। उस क्रियावती शक्तिकी स्थिरतारूप परिणमनका मूल-कारण द्रव्य स्वयं है, उसका निमित्तकारण उससे अन्य चाहिये। यह पहले बताया गया है कि जगतमें निमित्तकारण होता ही है। इसीलिये जो स्थिरतारूप परिणमनका निमित्तकारण है उस द्रव्यको अधर्मद्रव्य कहते हैं। क्रियावती शक्तिके हलन-चलनरूप परिणमनका मूलकारण द्रव्य स्वयं है और हलन-चलनमें जो निमित्त है उसे धर्मद्रव्य कहते हैं। हलन-चलनका निमित्तकारण अधर्मद्रव्यसे विपरीत चाहिये और वह धर्मद्रव्य है।

(१०) इन छह द्रव्योंके एक ही जगह होनेकी सिद्धि

हमने पहले जीव-पुद्गलकी सिद्धि करनेमें मनुष्यका दृष्टान्त लिया था उस परसे यह सिद्धि सरल होगी।

(१) जीव ज्ञानगुण धारक पदार्थ है।

(२) यह शरीर यह सिद्ध करता है कि शरीर संयोगी, जड़, रूपी पदार्थ है; यह भी उसी जगह है; इसका मूल अनादि-अनन्त पुद्गल द्रव्य है।

(३) वह मनुष्य आकाशके किसी भागमें हमेशा होता है, इसीलिये उसी स्थान पर आकाश भी है।

(४) उस मनुष्यकी एक अवस्था दूर होकर दूसरी अवस्था होती है। इस अपेक्षासे उसी स्थानपर काल द्रव्यके अस्तित्वकी सिद्धि होती है।

(५) उस मनुष्यके जीवके असंख्यात प्रदेशमें समय समय पर एक क्षेत्रावगाह रूपसे नोकर्म वर्गणाएँ और नवीन-नवीन कर्म बँधकर वहां स्थिर होते हैं, इस दृष्टिसे उसी स्थान पर अधर्मद्रव्यकी सिद्धि होती है।

(६) उस मनुष्यके जीवके असंख्यात प्रदेशके साथ प्रतिसमय अनेक परमाणु आते जाते हैं, इस दृष्टिसे उसी स्थान पर धर्मद्रव्यकी सिद्धि होती है।

इस तरह छहों द्रव्योंका एक क्षेत्रमें अस्तित्व सिद्ध हुआ।

(११) अन्य प्रकारसे छह द्रव्योंके अस्तित्वकी सिद्धि

१-२ जीवद्रव्य और पुद्गलद्रव्य

जो स्थूल पदार्थ दृष्टिगोचर होते हैं ऐसे शरीर, पुस्तक, पत्थर, लकड़ी इत्यादिमें ज्ञान नहीं है अर्थात् वे अजीव हैं; इन पदार्थोंको तो अज्ञानी भी देखता है। उन पदार्थोंमें

वृद्धि-ह्रास होता रहता है अर्थात् वे मिल जाते हैं और बिछुड़ जाते हैं। ऐसे दृष्टिगोचर होनेवाले पदार्थोंको पुद्गल कहा जाता है। वर्ण, गंध, रस और स्पर्श ये पुद्गल द्रव्यके गुण हैं, इसीलिये पुद्गल द्रव्य काला-सफेद सुगंध-दुर्गंध, खट्टा-मीठा, हल्का-भारी, इत्यादि रूपसे जाना जाता है, यह सब पुद्गलकी ही अवस्थायें हैं। जीव तो काला-सफेद, सुगंधित-दुर्गंधित, इत्यादि रूपसे नहीं है, जीव तो ज्ञानवाला है। शब्द सुनाई देता है या बोला जाता है वह भी पुद्गलकी ही हालत है। उन पुद्गलोंसे जीव अलग है। जगतमें किसी अचेत मनुष्यको देखकर कहा जाता है कि इसका चेतन कहाँ चला गया? अर्थात् यह शरीर तो अजीव है, यह तो जानता नहीं, किन्तु जाननेवाला ज्ञान कहाँ चला गया? अर्थात् जीव कहाँ गया? इसमें जीव और पुद्गल इन दो द्रव्योंकी सिद्धि हुई।

३—आकाशद्रव्य

लोग अव्यक्तरूपसे यह तो स्वीकार करते हैं कि 'आकाश' नामका द्रव्य है। दस्तावेजोंमें ऐसा लिखते हैं कि "अमुक मकान इत्यादि स्थानका आकाशसे पाताल पर्यंन्त हमारा हक है" अर्थात् यह निश्चय हुआ कि आकाशसे पातालतक कोई एक वस्तु है। यदि आकाशसे पाताल पर्यन्त कोई वस्तु ही न हो तो ऐसा क्यों लिखा जाता है कि 'आकाशसे पाताल तकका हक (-दावा) है? वस्तु है इसलिये उसका हक माना जाता है। आकाशसे पाताल तक अर्थात् सर्वव्यापी रही हुई वस्तुको 'आकाश द्रव्य' कहा जाता है। यह द्रव्य ज्ञान रहित और अरूपी है, इसमें रङ्ग रस वगैरह नहीं हैं।

४—कालद्रव्य

जीव, पुद्गल और आकाश द्रव्यको सिद्ध किया, अब यह सिद्ध किया जाता है कि 'काल' नामकी एक वस्तु है। लोग दस्तावेज कराते और उसमें लिखाते हैं कि "यावत् चन्द्रदिवाकरौ जब तक सूर्य और चन्द्र रहेंगे तब तक हमारा हक है।" इसमें काल द्रव्यको स्वीकार किया। इसी समय ही हक हूं ऐसा नहीं किन्तु काल जैसा बढ़ता जाता है उस समस्त कालमें हमारा हक है, इसप्रकार कालको स्वीकार करता है। "हमारा वैभव भविष्यमें ऐसा ही बना रहे"—इस भावनामें भी भविष्यत कालको भी स्वीकार किया, और फिर ऐसा कहते हैं कि 'हम तो सात पीढ़ीसे सुखी हैं, यहाँ भी भूतकाल स्वीकार करता है। भूतकाल वर्तमानकाल और भविष्यकाल ये समस्त भेद निश्चय कालद्रव्यकी व्यवहार पर्यायें हैं। यह काल द्रव्य भी अरूपी है और उसमें ज्ञान नहीं है।

इस तरह जीव, पुद्गल, आकाश और काल द्रव्यकी सिद्धि हुई। अब धर्म और अधर्म ये दो द्रव्य शेष रहे।

५—धर्मद्रव्य

जीव इस धर्म द्रव्यको भी अव्यक्तरूपसे स्वीकार करता है। छहों द्रव्योंके अस्तित्वको स्वीकार किये बिना कोई भी व्यवहार नही चल सकता। आना, जाना, रहना इत्यादि सभीमें छहों द्रव्योंकी अस्ति सिद्ध हो जाती है। चार द्रव्य तो सिद्ध हो चुके है अब बाकीके दो द्रव्य सिद्ध करना हैं। यह कहनेमें धर्म द्रव्य सिद्ध हो जाता है कि 'एक ग्रामसे दूसरे ग्राम आया।' एक ग्रामसे दूसरे ग्राम आया इसका क्या अर्थ है? यानि जीव और शरीरके परमाणुओंकी गति हुई, एक क्षेत्रसे दूसरा क्षेत्र बदला। अब इस क्षेत्र बदलनेके कार्यमें किस द्रव्यको निमित्त कहेंगे? क्योंकि ऐसा नियम है कि प्रत्येक कार्यमें उपादान और निमित्त-कारण होते ही हैं। यह विचार करते हैं कि जीव और पुद्गलोंको एक ग्रामसे दूसरे ग्राम आनेमें निमित्त कौनसा द्रव्य है? प्रथम तो 'जीव और पुद्गल ये उपादान हैं' उपादान स्वयं निमित्त नहीं कहलाता; निमित्त तो उपादानसे भिन्न होता है, इसलिये जीव या पुद्गल ये क्षेत्रांतरके निमित्त नहीं। कालद्रव्य तो परिणमनमें निमित्त है अर्थात् पर्याय बदलनेमें निमित्त है किंतु कालद्रव्य क्षेत्रांतरका निमित्त नही है; आकाश द्रव्य समस्त द्रव्योंको रहनेके लिये स्थान देता है। जब ये पहले क्षेत्रमें थे तब भी जीव और पुद्गलोंको आकाश निमित्त था और दूसरे क्षेत्रमें भी वही निमित्त है, इसलिये आकाशको भी क्षेत्रांतरका निमित्त नही कह सकते। तो फिर यह निश्चित होता है कि क्षेत्रांतररूप जो कार्य हुआ उसका निमित्त इन चार द्रव्योके अतिरिक्त कोई अन्य द्रव्य है। गति करनेमें कोई एक द्रव्य निमित्तरूपसे है किन्तु वह कौनसा द्रव्य है इसका जीवने कभी विचार नहीं किया, इसीलिये उसकी खबर नही है। क्षेत्रांतर होनेमें निमित्तरूप जो द्रव्य है उस द्रव्यको 'धर्मद्रव्य' कहा जाता है। यह द्रव्य भी अरूपी और ज्ञान रहित है।

६—अधर्मद्रव्य

जिस तरह गति करनेमें धर्म द्रव्य निमित्त है उसी तरह स्थितिमें उससे विरुद्ध अधर्म-द्रव्य निमित्तरूप है। "एक क्षेत्रसे दूसरे क्षेत्रमें आकर स्थिर रहा" यहां स्थिर रहनेमें निमित्त कौन है? आकाश स्थिर रहनेमें निमित्त नही है; क्योंकि आकाशका निमित्त तो रहनेके लिये है, गतिके समय भी रहनेमें आकाश निमित्त था, इसीलिये स्थितिका निमित्त कोई अन्य द्रव्य चाहिये, वह द्रव्य 'अधर्म द्रव्य' है। यह भी अरूपी और ज्ञान रहित है।

इसप्रकार जीव, पुद्गल, धर्म, अधम, आकाश और काल इन छह द्रव्योंकी सिद्धि की। इन छहके अतिरिक्त सातवां कोई द्रव्य है ही नही, और इन छहमेसे एक भी न्यून

नहीं है, बराबर छह ही द्रव्य हैं और ऐसा माननेसे ही यथार्थ वस्तुकी सिद्धि होती है। यदि इन छहके अतिरिक्त सातवाँ कोई द्रव्य हो तो यह बताओ कि उसका क्या कार्य है ? ऐसा कोई कार्य नहीं है जो इन छहसे बाहर हो, इसलिये सातवाँ द्रव्य नहीं है। यदि इन छह द्रव्योंमेंसे एक भी कम हो तो यह बताओ कि उसका कार्य कौन करेगा ? छह द्रव्योंमेंसे एक भी द्रव्य ऐसा नहीं कि जिसके बिना विश्वका नियम चल सके।

छह द्रव्य संबंधी कुछ जानकारी

१—जीव—इस जगतमें अनन्त जीव हैं। ज्ञातृत्व चिह्नके (विशेष गुणके) द्वारा जीव पहचाना जाता है। क्योंकि जीवके अतिरिक्त अन्य किसी पदार्थमें ज्ञातृत्व नहीं है। जीव अनन्त हैं, वे सभी एक दूसरेसे बिल्कुल भिन्न हैं। सर्वज्ञ जाननेवाले हैं।

२—पुद्गल—इस जगतमें अनन्तानन्त पुद्गल हैं। वह अचेतन हैं। स्पर्श, रस, गंध और वर्णके द्वारा पुद्गल पहचाना जाता है, क्योंकि पुद्गल के सिवाय अन्य किसी पदार्थमें स्पर्श, रस, गन्ध या वर्ण नहीं है। जो इंद्रियोंके द्वारा जाने जाते हैं वे सब पुद्गलके बने हुए स्कन्ध हैं।

३—धर्म—यहाँ धर्म कहनेसे आत्माका धर्म नहीं, किन्तु 'धर्म' नामका द्रव्य समझना चाहिये। यह द्रव्य एक अखण्ड और समस्त लोकमें व्याप्त है। जीव और पुद्गलोंके गमन करते समय यह द्रव्य निमित्तरूपसे पहचाना जाता है।

४—अधर्म—यहाँ अधर्म कहनेसे आत्माका दोष नहीं किन्तु अधर्म नामका द्रव्य समझना चाहिये। यह एक अखण्ड द्रव्य है जो समस्त लोकमें व्याप्त है। जीव और पुद्गल गमन करके जब स्थिर होते हैं तब यह द्रव्य निमित्तरूपसे जाना जाता है।

५—आकाश—यह एक अखण्ड सर्वव्यापक द्रव्य है। समस्त पदार्थोंको स्थान देनेमें यह द्रव्य निमित्तरूपसे पहचाना जाता है। इस द्रव्यके जितने भागमें अन्य पाँचों द्रव्य रहते हैं उतने भागको 'लोकाकाश' कहा जाता है और जितना भाग अन्य पाँचों द्रव्योंसे रिक्त है उसे 'अलोकाकाश' कहा जाता है। खाली स्थानका अर्थ होता है 'अकेला आकाश'।

६—काल—असंख्य काल द्रव्य हैं। इस लोकके असंख्य प्रदेश हैं, उस प्रत्येक प्रदेशपर एक एक काल द्रव्य रहा हुआ है। असंख्य कालाणु हैं वे सब एक दूसरे से अलग हैं। वस्तुके रूपान्तर (परिवर्तन) होनेमें यह द्रव्य निमित्तरूपसे जाने जाते हैं। [जीवद्रव्यके अतिरिक्त यह पाँचों द्रव्य सदा अचेतन हैं, उनमें ज्ञान, सुख या दुःख कभी नहीं है।]

इन छह द्रव्योंको सर्वज्ञके अतिरिक्त अन्य कोई भी प्रत्यक्ष नहीं जान सकता। सर्वज्ञदेवने ही इन छह द्रव्योंको जाना है और उन्होंने उनका यथार्थ स्वरूप कहा है; इसीलिये सर्वज्ञके सत्यमार्गके अतिरिक्त अन्य किसी मतमें छह द्रव्योंका स्वरूप हो ही नहीं सकता; क्योंकि दूसरे अपूर्ण (अल्पज्ञ) जीव उन द्रव्योंको नहीं जान सकते; इसलिये छह द्रव्योंके स्वरूपकी यथार्थ प्रतीति करना चाहिये।

टोपीके दृष्टान्तसे छह द्रव्योंकी सिद्धि

(१) देखो, यह कपड़ेकी टोपी है, यह अनन्त परमाणुओंसे मिलकर बनी है और इसके फट जानेपर परमाणु अलग हो जाते हैं। इसतरह मिलना और बिछुड़ना पुद्गलका स्वभाव है। पुनश्च यह टोपी सफेद है, दूसरी कोई काली, लाल आदि रंगकी भी टोपी होती हैं; रंग पुद्गल द्रव्यका चिह्न है, इसलिये जो दृष्टिगोचर होता है वह पुद्गल द्रव्य है।

(२) 'यह टोपी है पुस्तक नहीं' ऐसा जानने वाला ज्ञान है और ज्ञान जीवका चिह्न है, अतः जीव भी सिद्ध हुआ।

(३) अब यह विचारना चाहिये कि टोपी कहाँ रही हुई है? यद्यपि निश्चयसे तो टोपी टोपीमें ही है, किन्तु टोपी टोपीमें ही है यह कहनेसे टोपीका बराबर ख्याल नहीं आ सकता, इसलिये निमित्तरूपसे यह पहचान कराई जाती है कि "अमुक स्थानमें टोपी रही हुई है।" जो स्थान कहा जाता है वह आकाश द्रव्यका अमुक भाग है, अतः आकाश-द्रव्य सिद्ध हुआ।

(४) अब यह टोपी दुहरी मुड़ जाती है, जब टोपी सीधी थी तब आकाशमें थी और जब मुड़ गई तब भी आकाशमें ही है, अतः आकाशके निमित्त द्वारा टोपीका दुहरापन नहीं जाना जा सकता। तो फिर टोपीकी दुहरे होनेकी क्रिया हुई अर्थात् पहले उसका क्षेत्र लम्बा था, अब वह थोड़े क्षेत्रमें रही हुई है-इस तरह टोपी क्षेत्रांतर हुई है और क्षेत्रांतर होनेमें जो वस्तु निमित्त है वह धर्मद्रव्य है।

(५) अब टोपी टेढ़ी मेढ़ी स्थिर पड़ी है। तो यहाँ स्थिर होनेमें उसे निमित्त कौन है? आकाशद्रव्य तो मात्र स्थान देनेमें निमित्त है। टोपी चले या स्थिर रहे इसमें आकाशका निमित्त नहीं है। जब टोपीने सीधी दशामेसे टेढ़ी अवस्थारूप होनेके लिये गमन किया तब धर्मद्रव्यका निमित्त था; तो अब स्थिर रहनेकी क्रियामें उसके विरुद्ध निमित्त चाहिए। गतिमें धर्मद्रव्य निमित्त था तो अब स्थिर रहनेमें अधर्मद्रव्य निमित्तरूप है।

(६) टोपी पहले सीधी थी इस समय टेढ़ी है और वह अमुक समय तक रहेगी—

ऐसा जाना, वहाँ 'काल' सिद्ध हो गया। भूत, वर्तमान, भविष्य अथवा पुराना-नया, दिवस घड़ी इत्यादि जो भेद होते हैं वे भेद किसी एक मूल वस्तुके बिना नहीं हो सकते, अतः भेद-पर्यायरूप व्यवहारकालका आधार-कारण-निश्चय कालद्रव्य सिद्ध हुआ। इसतरह टोपी परसे छह द्रव्य सिद्ध हुए।

इन छह द्रव्योंमेंसे एक भी द्रव्य न हो तो जगत्का व्यवहार नहीं चल सकता। यदि पुद्गल न हो तो टोपी ही न हो। यदि जीव न हो तो टोपीके अस्तित्वका निश्चय कौन करे? यदि आकाश न हो तो यह पहचान नहीं हो सकती कि टोपी कहाँ है? यदि धर्म और अधर्म द्रव्य न हों तो टोपीमें हुआ फेरफार (क्षेत्रांतर और स्थिरता) मालूम नहीं हो सकता और यदि कालद्रव्य न हो तो पहले जो टोपी सीधी थी वह इस समय टेढ़ी है, ऐसा पहले और पीछे टोपीका अस्तित्व निश्चित नहीं हो सकता, अतः टोपीको सिद्ध करनेके लिये छहों द्रव्योंको स्वीकार करना पड़ता है। जगत्की किसी भी एक वस्तुको स्वीकार करनेसे व्यक्तरूपसे या अव्यक्तरूपसे छहों द्रव्योंका स्वीकार हो जाता है।

मनुष्य-शरीरके दृष्टांतसे छह द्रव्योंकी सिद्धि

(१-२) यह शरीर जो दृष्टिगोचर होता है, वह पुद्गलका बना हुआ है और शरीरमें जीव रहा हुआ है। यद्यपि जीव और पुद्गल एक आकाशकी जगहमें रहते हैं तथापि दोनों पृथक् हैं। जीवका स्वभाव जाननेका है और पुद्गलका यह शरीर कुछ जानता नहीं। शरीरका कोई भाग कट जाने पर भी जीवका ज्ञान नहीं कट जाता, जीव पूर्ण ही रहता है, क्योंकि शरीर और जीव सदा पृथक् ही हैं। दोनोंका स्वरूप पृथक् है और दोनोंका काम पृथक् ही है। यह जीव और पुद्गल तो स्पष्ट हैं। (३) जीव और शरीर कहाँ रह रहे हैं? अमुक ठिकाने पाँच फुट जगहमें, दो फुट जगहमें रह रहे हैं, अतः 'जगह' कहनेसे आकाश द्रव्य सिद्ध हुआ।

यह ध्यान रहे कि यह जो कहा जाता है कि जीव और शरीर आकाशमें रहे हुये हैं वहाँ यथार्थमें जीव, शरीर और आकाश तीनों स्वतंत्र पृथक्-पृथक् ही हैं, कोई एक दूसरेके स्वरूपमें नहीं घुस गया। जीव तो ज्ञातृत्व स्वरूपसे ही रहा है, रंग, गंध इत्यादि शरीरमें ही हैं, वे जीव या आकाश आदि किसीमें नहीं हैं, आकाशमें वर्ण-गंध इत्यादि नहीं है तथा ज्ञान भी नहीं, वह अरूपी-अचेतन है, जीवमें ज्ञान है किन्तु वर्ण-गंध इत्यादि नहीं, अर्थात् वह अरूपी चेतन है पुद्गलमें वर्ण-गंध इत्यादि हैं किन्तु ज्ञान नहीं अर्थात् वह रूपी-अचेतन है। इसतरह तीनों द्रव्य एक दूसरेसे भिन्न-स्वतन्त्र हैं। प्रत्येक वस्तु स्वतन्त्र होनेसे

कोई दूसरी वस्तु किसीका कुछ कर नहीं सकती, यदि एक पदार्थमें दूसरा पदार्थ कुछ करता हो तो वस्तुको स्वतन्त्र कैसे कहा जायगा ?

(४) जीव, पुद्गल और आकाश निश्चित् किये, अब कालका निश्चय करते हैं। ऐसा पूछा जाता है कि "तुम्हारी आयु कितनी है ?" (यहाँ 'तुम्हारी' अर्थात् शरीरके संयोगरूप आयुकी बात समझना) शरीरकी उम्र ४०-५० वर्ष आदिकी कही जाती है और जीव अनादि अनन्त अस्तिरूपसे है। यह कहा जाता है कि यह मेरी अपेक्षा पांच वर्ष छोटा है, यह पांच वर्ष बड़ा है, यहाँ शरीरके कदसे छोटे-बड़ेपनकी बात नही है किन्तु कालकी अपेक्षासे छोटे-बड़ेपनकी बात है। यदि कालद्रव्यकी अपेक्षा न लें तो यह नही कह सकते कि यह छोटा, यह बड़ा, यह बालक, यह युवा या वह वृद्ध है। पुरानी नई अवस्था बदलती रहती है इसी परसे कालद्रव्यका अस्तित्व निश्चित होता है ॥ ४ ॥

कहीं जीव और शरीर स्थिर होता है और कही गति करता है। स्थिर होते समय तथा गमन करते समय दोनों समय वह आकाशमें ही है, अर्थात् आकाश परसे उसका गमन या स्थिर रहनेरूप निश्चित नही हो सकता। गमनरूप दशा और स्थिर रहनेरूप दशा इन दोनोंकी पृथक्-पृथक् पहचान करनेके लिये उन दोनों दशामे भिन्न-भिन्न निमित्तरूप ऐसे दो द्रव्योंको पहचानना होगा। धर्मद्रव्यके निमित्त द्वारा जीव पुद्गलका गमन पहचाना जा सकता है और अधर्मद्रव्यके निमित्त द्वारा स्थिरता पहचानी जा सकती है। यदि ये धर्म और अधर्मद्रव्य न हों तो गमन और स्थिरताके भेदको नही जाना जा सकता।

यद्यपि धर्म-अधर्मद्रव्य जीव पुद्गलको कही गति या स्थिति करनेमें मदद नहीं करते हैं, परन्तु एक द्रव्यके भावको अन्य द्रव्यकी अपेक्षाके विना पहचाना नहीं जा सकता। जीवके भावको पहचाननेके लिये अजीवकी अपेक्षा की जाती है। जो जाने सो जीव-ऐसा कहनेसे ही "ज्ञानत्वसे रहित जो अन्य द्रव्य हैं वे जीव नही हैं" इसप्रकार अजीवकी अपेक्षा आ जाती है व ऐसा बताने पर आकाशकी अपेक्षा हो जाती है कि 'जीव अमुक जगह है'। इसप्रकार छहों द्रव्योंमें समझ लेना। एक आत्मद्रव्यका निर्णय करनेपर छहों द्रव्य मालूम होते हैं; यह ज्ञानकी विशालता है और इससे यह सिद्ध होता है कि सर्वद्रव्योंको जान लेनेका ज्ञानका स्वभाव है। एक द्रव्यको सिद्ध करनेसे छहों द्रव्य सिद्ध हो जाते हैं; इसमें द्रव्यकी पराधीनता नही है; परन्तु ज्ञानकी महिमा है। जो पदार्थ होता है वह ज्ञानमें अवश्य जाना जाता है। पूर्ण ज्ञानमे जितना जाना जाता है इस जगतमें उसके अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। पूर्ण ज्ञानमे छह द्रव्य बतलाये हैं, छह द्रव्यसे अधिक अन्य कुछ नही है।

कर्मोंके कथनसे छहों द्रव्योंकी सिद्धि

कर्म पुद्गलकी अवस्था है, जीवके विकारी भावके निमित्तसे वह जीवके साथ रहे हुये है, कितनेक कर्म बन्धरूपसे स्थिर हुए हैं उनको अधर्मास्तिकायका *निमित्त* है, प्रतिक्षण कर्म उदयमें आकर झड़ जाते हैं, झड़ जानेमें क्षेत्रांतर भी होता है, उसे धर्मास्तिकायका निमित्त है। यह कहा जाता है कि कर्मकी स्थिति ७० कोड़ाकोड़ी सागर और कमसे कम अन्तर्मुहूर्तकी है, इसमें कालद्रव्यकी अपेक्षा हो जाती है, बहुतसे कर्म-परमाणु एक क्षेत्रमें रहते है, इसमें आकाशद्रव्यकी अपेक्षा है। इस तरह छह द्रव्य सिद्ध हुए।

द्रव्योंकी स्वतन्त्रता

इससे यह भी सिद्ध होता है कि जीवद्रव्य और पुद्गलद्रव्य (—कर्म) दोनों एकदम पृथक्-पृथक् पदार्थ हैं और दोनों अपने अपनेमें स्वतन्त्र है, कोई एक-दूसरेका कुछ भी नहीं करते। यदि जीव और कर्म एक हो जांय तो इस जगत्में छह द्रव्य ही नहीं रह सकते। जीव और कर्म सदा पृथक् ही हैं। द्रव्योंका स्वभाव अपने अमर्यादित अनन्त गुणोंमें अनादि अनन्त रहकर प्रतिसमय बदलनेका है। सभी द्रव्य अपनी शक्तिसे स्वतन्त्ररूपसे अनादि अनन्त रहकर स्वयं अपनी अवस्था बदलते हैं। जीवकी अवस्था जीव बदलता है, पुद्गलकी हालत पुद्गल बदलता है। पुद्गलका जीव कुछ नहीं करता और न पुद्गल जीवका कुछ करता है। व्यवहारसे भी किसीका परद्रव्यमें कर्तापना नहीं है। घीका घड़ाके समान व्यवहारसे कर्तापनेका कथन होता है जो सत्यार्थ नहीं है।

उत्पाद-व्यय-ध्रुव

द्रव्यका और द्रव्यकी अवस्थाओंका कोई कर्ता नहीं है। यदि कोई कर्ता हो तो उसने द्रव्योंको किस तरह बनाया? किसमेंसे बनाया? वह कर्ता स्वयं किसका बना? जगत्में छहों द्रव्य स्व-स्वभावसे ही हैं, उनका कोई कर्ता नहीं है। किसी भी नवीन पदार्थकी उत्पत्ति ही नहीं होती। किसी भी प्रयोगसे नये जीवकी या नये परमाणुकी उत्पत्ति नहीं हो सकती, किन्तु जैसा पदार्थ हो वैसा ही रहकर उनमें अपनी अवस्था रूपांतर होता है। यदि द्रव्य हो तो उसका नाश नहीं होता, जो द्रव्य नहीं वह उत्पन्न नहीं होता और जो द्रव्य होता है वह स्वशक्तिसे प्रतिक्षण अपनी अवस्था बदलता ही रहता है, ऐसा नियम है। इस सिद्धांतको उत्पाद-व्यय-ध्रुव अर्थात् नित्य रहकर बदलना कहा जाता है।

द्रव्य कोई बनानेवाला नहीं है इसलिये सातवां कोई नया द्रव्य नहीं हो सकता, और

किसी द्रव्यका कोई नाश करनेवाला नहीं है इसलिये छह द्रव्योंसे कभी कमी नहीं होती। शाश्वतरूपसे छह ही द्रव्य हैं। सर्वज्ञ भगवानने संपूर्ण ज्ञानके द्वारा छह द्रव्य जाने और वही उपदेशमें दिव्यध्वनि द्वारा निरूपित किये। सर्वज्ञ वीतरागदेव प्रणीत परम सत्यमार्गके अतिरिक्त इन छह द्रव्योंका यथार्थ स्वरूप अन्यत्र कहीं है ही नहीं।

द्रव्यकी शक्ति (गुण)

द्रव्यकी विशिष्ट शक्ति (चिह्न, विशेष गुण) पहले संक्षिप्त रूपमें कही जा चुकी है, एक द्रव्यकी जो विशिष्ट शक्ति है वह अन्य द्रव्यमें नहीं होती। इसीलिये विशिष्ट शक्तिके द्वारा द्रव्यको पहचाना जा सकता है। जैसे कि ज्ञान जीव द्रव्यकी विशिष्ट शक्ति है। जीवके अतिरिक्त अन्य किसी द्रव्यमें ज्ञान नहीं है, इसीलिए ज्ञानशक्तिके द्वारा जीव पहचाना जा सकता है।

यहाँ अब द्रव्योंकी सामान्य शक्ति सम्बन्धी कुछ कथन किये जाते हैं। जो शक्ति सभी द्रव्योंमें हो उसे सामान्य शक्ति कहते हैं। अस्तित्व वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व और प्रदेशत्व ये मुख्य सामान्य ६ गुण हैं, ये सभी द्रव्योंमें हैं।

१—अस्तित्वगुणके कारण द्रव्यके अस्तित्वका कभी नाश नहीं होता। ऐसा नहीं है कि द्रव्य अमुक कालके लिये है और फिर नष्ट हो जाता है; द्रव्य नित्य कायम रहनेवाले हैं। यदि अस्तित्व गुण न हो तो वस्तु ही नहीं हो सकती और वस्तु ही न हो तो समझाना किसको ?

२—वस्तुत्व गुणके कारण द्रव्य अपना प्रयोजनभूत कार्य करता है। जैसे घड़ा पानीको धारण करता है उसी तरह द्रव्य स्वयं ही अपने गुण-पर्यायोंका प्रयोजनभूत कार्य करता है। एक द्रव्य किसी प्रकार किसी दूसरेका कार्य नहीं करता और न कर सकता है।

३—द्रव्यत्वगुणके कारण द्रव्य निरन्तर एक अवस्थामेंसे दूसरी अवस्थामें द्रवा करता है—परिणमन किया करता है। द्रव्य त्रिकाल अस्तित्व है तथापि वह सदा एक सदृश (कूटस्थ) नहीं है; परन्तु निरन्तर नित्य बदलनेवाला-परिणामी है। यदि द्रव्यमें परिणमन न हो तो जीवके संसारदशाका नाश होकर मोक्षदशाकी उत्पत्ति कैसे हो ? शरीरकी बाल्यदशामेंसे युवकदशा कैसे हो ? छहों द्रव्योंमें द्रव्यत्व शक्ति होनेसे सभी स्वतन्त्ररूपसे अपनी अपनी पर्यायमें परिणम रहे हैं; कोई द्रव्य अपनी पर्याय परिणमानेके लिये दूसरे द्रव्यकी सहायता या अपेक्षा नहीं रखता है।

४—प्रमेयत्वगुणके कारण द्रव्य ज्ञात होते हैं। छहों द्रव्योंमें इस प्रमेयशक्तिके होनेसे ज्ञान छहों द्रव्यके स्वरूपका निर्णय कर सकता है। यदि वस्तुमें प्रमेयत्व गुण न हो तो वह

स्वयको किस तरह बतला सकता है कि 'यह वस्तु है'। जगतका कोई पदार्थ ज्ञान-अगोचर नहीं है। आत्मामें प्रमेयत्व गुण होनेसे आत्मा स्वयं निजको जान सकता है।

५—अगुरुलघुत्व गुणके कारण प्रत्येक वस्तु निज निज स्वरूपसे ही कायम रहती है। जीव बदलकर कभी परमाणुरूप नहीं हो जाता, परमाणु बदलकर कभी जीवरूप नहीं जाता, जड़ सदा जड़रूपसे और चेतन सदा चेतनरूपसे ही रहता है। ज्ञानका विकास विकार-दशामें चाहे जितना स्वल्प हो तथापि जीवद्रव्य बिलकुल ज्ञानशून्य हो जाय ऐसा कभी नहीं होता। इस शक्तिके कारण द्रव्यका एक गुण दूसरे गुणरूप न परिणमे तथा एक द्रव्यके अनेक या-अनन्त गुण अलग-अलग नहीं हो जाते, तथा कोई दो पदार्थ एक रूप होकर तीसरा नई तरहका पदार्थ उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि वस्तुका स्वरूप अन्यथा कदापि नहीं होता।

६—प्रदेशत्व गुणके कारण प्रत्येक द्रव्यके अपना अपना आकार अवश्य होता है। प्रत्येक अपने अपने स्वाकारमें ही रहता है। सिद्धदशा होने पर एक जीव दूसरे जीवमें नहीं मिल जाता किन्तु प्रत्येक जीव अपने प्रदेशाकारमें स्वतन्त्र रूपसे कायम रहता है।

ये छह सामान्यगुण मुख्य हैं इनके अतिरिक्त भी दूसरे सामान्य गुण हैं। इस तरह गुणों द्वारा द्रव्यका स्वरूप विशेष स्पष्टतासे जाना जा सकता है।

छह कारक (-कारण) [लघु जैन सि० प्रवेशिकासे]

(१) कर्ताः—जो स्वतन्त्रतासे (-स्वाधीनतासे) अपने परिणामको करे सो कर्ता है। प्रत्येक द्रव्य अपनेमें स्वतन्त्र व्यापक होनेसे अपने ही परिणामोंका कर्ता है।

(२) कर्म (-कार्य):—कर्ता जिस परिणामको प्राप्त करता है वह परिणाम उसका कर्म है। प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य ऐसा, व्याप्य लक्षणवाला प्रत्येक द्रव्यका परिणामरूप कर्म होता है। [उस कर्म (-कार्य)में प्रत्येक द्रव्य स्वयं अन्तर्व्यापक होकर, आदि, मध्य और अन्तमें व्याप्त होकर उसे ग्रहण करता हुआ, उस-रूप परिणमन करता हुआ, और उस-रूप उत्पन्न होता हुआ, उस परिणामका कर्ता है।]

(३) करणः—उस परिणामका साधकतम अर्थात् उत्कृष्ट साधनको करण कहते हैं।

(४) सम्प्रदानः—कर्म (-परिणाम-कार्य) जिसे दिया जाय या जिसके लिये किया जाता है उसे सम्प्रदान कहते हैं।

(५) अपादानः—जिसमेंसे कर्म किया जाता है उस ध्रुव वस्तुको अपादान कहते हैं।

(६) अधिकरणः—जिसमें या जिसके आधारसे कर्म किया जाता है उसे अधिकरण कहते हैं।

सर्व द्रव्योंकी प्रत्येक पर्यायमें यह छहों कारक एक साथ वर्तते हैं, इसलिये आत्मा और पुद्गल शुद्धदशामें या अशुद्धदशामें स्वयं ही छहों कारकरूप परिणमन करते हैं और अन्य किसी कारकों (-कारणों)की अपेक्षा नही रखते हैं।

(पंचास्तिकाय गाथा ६२ सं० टीका)

प्रश्न—कार्य कैसे होता है ?

उत्तरः—'कारणानुविधायित्वादेव 'कार्याणां' कारणानुविधायीनि कार्याणि'—कारण जैसे ही कार्य होनेसे कारण जैसा ही कार्य होता है। कार्यको—क्रिया, कर्म, अवस्था, पर्याय, हालत, दशा, परिणाम, परिणमन और परिणति भी कहते हैं [यहां कारणको उपादानकारण समझना क्योंकि उपादान कारण ही सच्चा कारण है]

प्रश्नः—कारण किसे कहते हैं ?

उत्तरः—कार्यकी उत्पादक सामग्रीको कारण कहते हैं।

प्रश्नः—उत्पादक सामग्रीके कितने भेद हैं ?

उत्तरः—दो हैं:—उपादान और निमित्त। उपादानको निजशक्ति अथवा निश्चय और निमित्तको परयोग अथवा व्यवहार कहते हैं।

प्रश्नः—उपादानकारण किसे कहते हैं ?

उत्तरः—(१) जो द्रव्य स्वयं कार्यरूप परिणमित हो, उसे उपादान कारण कहते हैं। जैसे—घटकी उत्पत्तिमें मिट्टी। (२) अनादिकालसे द्रव्यमें जो पर्यायोंका प्रवाह चला आ रहा है, उसमें *अनन्तर पूर्वक्षणवर्ती पर्याय उपादान कारण* है और *अनन्तर उत्तर क्षणवर्ती पर्याय कार्य* है। (३) उस समयकी पर्यायकी योग्यता उपादान कारण है और वह पर्याय कार्य है। उपादान सच्चा (-वास्तविक) कारण है।

[नं० १ ध्रुव उपादान द्रव्यार्थिकनयसे है, नं० २-३ क्षणिक उपादान पर्यायार्थिक-नयसे है।]

प्रश्नः—योग्यता किसे कहते हैं ?

उत्तरः—(१) "योग्यतैव विषयप्रतिनियमकारणमिति" (न्याय० दि० पृ० २७) योग्यता ही विषयका प्रतिनियामक कारण है [यह कथन ज्ञानकी योग्यता (-सामर्थ्य)के लिये है, परन्तु योग्यताका कारणपना सर्वमें सर्वत्र समान है]

(२) सामर्थ्य, शक्ति, पात्रता, लियाकत, ताकत वे 'योग्यता' शब्दके अर्थ हैं।

प्रश्नः—निमित्तकारण किसे कहते हैं ?

उत्तरः—जो पदार्थ स्वयं कार्यरूप न परिणमे, परन्तु कार्यकी उत्पत्तिमें अनुकूल होनेका जिसमें आरोप आ सके उस पदार्थको निमित्त कारण कहते हैं। जैसे-घटकी उत्पत्तिमें कुम्भकार, दंड, चक्र आदि। (निमित्त सच्चा कारण नहीं है—अकारणवत् है क्योंकि वह उपचारमात्र अथवा व्यवहारमात्र कारण है)

उपादान कारण और निमित्तकी उपस्थितिका क्या नियम है ?

(बनारसी-विलासमें कथित दोहा—)

प्रश्न—(१) गुरु उपदेश निमित्त बिन, उपादान बलहीन।
ज्यों नर दूजे पाँव बिन, चलवेको आधीन ॥१॥

प्रश्नः—(२) हौं जाने था एक ही, उपादान सौं काज।
थकै सहाई पौन बिन, पानीमाँहि जहाज ॥२॥

प्रथम प्रश्नका उत्तर—
ज्ञान नैन किरिया चरन, दोऊ शिवमग धार।
उपादान निश्चय जहाँ तहँ निमित्त व्योहार ॥३॥

अर्थः—सम्यग्दर्शन-ज्ञानरूप नेत्र और ज्ञानमें चरण अर्थात् लीनतारूप क्रिया दोनों मिलकर मोक्षमार्ग जानो। उपादानरूप निश्चयकारण जहाँ हो वहाँ निमित्तरूप व्यवहार-कारण होता ही है ॥३॥

भावार्थः—(१) उपादान निश्चय अर्थात् सच्चा कारण है, निमित्त तो मात्र व्यवहार अर्थात् उपचार कारण है सच्चा कारण नहीं है, इसलिए तो उसे अकारणवत् कहा है। और उसे उपचार (-आरोप) कारण क्यों कहा कि वह उपादानका कुछ कार्य करता कराता नहीं, तो भी कार्यके समय उसकी उपस्थितिके कारण उसे उपचारमात्र कारण कहा है।

(२) सम्यग्ज्ञान और ज्ञानमें लीनताको मोक्षमार्ग जानो ऐसा कहा उसमें शरीरा-श्रित उपदेश, उपवासादिक क्रिया और शुभरागरूप व्यवहारको मोक्षमार्ग न जानो, यह बात आ जाती है।

प्रथम प्रश्न का समाधान—
उपादान निज गुण जहाँ, तहँ निमित्त पर होय।
भेदज्ञान प्रमाण विधि, विरला बूझे कोय ॥४॥

अर्थः—जहाँ निजशक्तिरूप उपादान तैयार हो वहाँ पर निमित्त होते ही हैं, ऐसी भेदज्ञान प्रमाणकी विधि (–व्यवस्था) है, यह सिद्धांत कोई विरला ही समझता है ॥ ४ ॥

भावार्थः—जहाँ उपादानकी योग्यता हो वहां नियमसे निमित्त होता है, निमित्तकी राह देखना पड़े ऐसा नहीं है; और निमित्तको हम जुटा सकते ऐसा भी नहीं है । निमित्तकी राह देखनी पड़ती है या उसे मैं ला सकता हूँ—ऐसी मान्यता परपदार्थमें अभेदबुद्धि अर्थात् अज्ञान सूचक है । निमित्त और उपादान दोनों असहायरूप हैं, यह तो मर्यादा है ॥४॥

उपादान बल जहँ तहां, नहीं निमित्तको दाव ।
एक चक्रसों रथ चलै, रविको यहै स्वभाव ॥ ५ ॥

अर्थः—जहां देखो वहा सदा उपादानका ही बल है, निमित्त होते हैं परन्तु निमित्तका कुछ भी दाव (–बल) नहीं है । जैसे एक चक्रसे सूर्यका रथ चलता है; इस प्रकार प्रत्येक कार्य उपादानकी योग्यता (सामर्थ्य) से ही होता है ॥५॥

भावार्थः—कोई ऐसा समझता है कि—निमित्त उपादानके ऊपर सचमुच असर करते है, प्रभाव डालते हैं, सहाय–मदद करते हैं, आधार देते हैं तो वह अभिप्राय गलत है ऐसा यहाँ दोहा ४–५–६–७ में स्पष्टतया कहा है । अपने हितका उपाय समझनेके लिये यह बात बड़ी प्रयोजनभूत है ।

शास्त्रमें जहाँ परद्रव्यको (निमित्तको) सहायक, साधन, कारण, कारक आदि कहा हो तो वह " व्यवहार नयकी मुख्यता लिये व्याख्यान है, उसे ऐसें है नांही निमित्तादिकी अपेक्षा उपचार किया है ऐसा जानना ।" (आधुनिक हिन्दी मोक्षमार्ग प्र० पृ० २५१)

दूसरे प्रश्नका समाधान—

सधै वस्तु असहाय जहँ, तहँ निमित्त है कौन;
ज्यो जहाज परवाहमें, तिरै सहज विन पौन ॥६॥

अर्थः—प्रत्येक वस्तु स्वतंत्रतासे अपनी अवस्थाको (—कार्यको) प्राप्त करतो है वहाँ निमित्त कौन ? जैसे जहाज प्रवाहमें सहज ही पवन बिना ही तैरता है ।

भावार्थः—जीव और पुद्गल द्रव्य शुद्ध या अशुद्ध अवस्थामें स्वतंत्रपनेसे ही अपने परिणामको करते हैं; अज्ञानी जीव भी स्वतंत्रपनेसे निमित्ताधीन परिणमन करते हैं, कोई निमित्त उसे आधीन नहीं बना सकता ॥ ६ ॥

उपादान विधि निर्वचन, है निमित्त उपदेश ।
बसे जु जैसे देशमें, करे सु तैसे भेष ॥७॥

अर्थः—उपादानका कथन एक "योग्यता" शब्द द्वारा ही होता है; उपादान अपनी योग्यतासे अनेक प्रकार परिणमन करता है तब उपस्थित निमित्त पर भिन्न भिन्न कारणपनेका आरोप (-भेष) आता है, उपादानकी विधि निर्वचन होनेसे निमित्त द्वारा यह कार्य हुआ ऐसा व्यवहारसे कहा जाता है।

भावार्थः—उपादान जब जैसे कार्यको करता है तब वैसे कारणपनेका आरोप (-भेष) निमित्तपर आता है। जैसे—कोई वज्रकायवाला मनुष्य नरकगति योग्य मलिन भाव करता है तो वज्रकाय पर नरकका कारणपनेका आरोप आता है, और यदि जीव मोक्षयोग्य निर्मलभाव करता है तो उसी निमित्तपर मोक्षकारणपनेका आरोप आता है। इस प्रकार उपादानके कार्यानुसार निमित्तमें कारणपनेका भिन्न भिन्न आरोप किया जाता है। इससे ऐसा सिद्ध होता है कि निमित्तसे कार्य नहीं होता परन्तु कथन होता है। अतः उपादान सच्चा कारण है, और निमित्त आरोपित कारण है।

प्रश्नः—पुद्गलकर्म, योग, इन्द्रियोंके भोग, धन, घरके लोग, मकान इत्यादि इस जीवको राग-द्वेष परिणामके प्रेरक हैं?

उत्तरः—नहीं, छहों द्रव्य, सर्व अपने अपने स्वरूपसे सदा असहाय (-स्वतंत्र) परिणमन करते हैं कोई द्रव्य किसीका प्रेरक कभी नहीं है, इसलिये कोई भी परद्रव्य राग-द्वेषके प्रेरक नहीं हैं परन्तु मिथ्यात्वमोहरूप मदिरापान है वही (अनन्तानुबन्धी) राग-द्वेष का कारण है।

प्रश्नः—पुद्गलकर्मकी जोरावरीसे जीवको राग-द्वेष करना पड़ते हैं, पुद्गलद्रव्य कर्मोंका भेष धर-धरकर ज्यों-ज्यों बल करते हैं त्यों-त्यों जीवको राग-द्वेष अधिक होते हैं यह बात सत्य है?

उत्तरः—नहीं, क्योंकि जगतमें पुद्गलका संग तो हमेशा रहता है यदि उनकी जोरावरीसे जीवको रागादि विकार हों तो शुद्धभावरूप होनेका कभी अवसर नहीं आ सकता, इसलिये ऐसा समझना चाहिये कि शुद्ध या अशुद्ध परिणमन करनेमें चेतन स्वयं समर्थ है।

(समयसार नाटक सर्वविशुद्धद्वार काव्य ६१ से ६६)

[निमित्तके कहीं प्रेरक और उदासीन ऐसे दो भेद कहे हों तो वहाँ वे गमनक्रियावान्

या इच्छावादिवान् हैं या नहीं ऐसा समझानेके लिये है, परन्तु उपादानके लिये तो सर्व प्रकारके निमित्त धर्मास्तिकायवत् उदासीन ही कहे हैं।

[देखो, श्री पूज्यपादाचार्यकृत इष्टोपदेश गाथा ३५]

प्रश्नः—निमित्त-नैमित्तिक संबंध किसे कहते हैं ?

उत्तरः—उपादान स्वतः कार्यरूप परिणमता है उस समय, भावरूप या अभावरूप कौन उचित (–योग्य) *निमित्तकारणका उसके साथ सम्बन्ध है, यह बतानेके लिये उस कार्यको नैमित्तिक कहते हैं। इस तरहसे भिन्न भिन्न पदार्थोंके स्वतंत्र संबंधको निमित्त-नैमित्तिक संबंध कहते हैं। (*देखो प्रश्न 'निमित्त कारण' पृष्ठ ३९७)

[निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध परतन्त्रताका सूचक नहीं है, किन्तु नैमित्तिकके साथमें कौन निमित्तरूप पदार्थ है उसका ज्ञान कराता है। जिस कार्यको नैमित्तिक कहा है उसीको उपादानकी अपेक्षा उपादेय भी कहते हैं।]

निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध के दृष्टान्तः—

(१) केवलज्ञान नैमित्तिक है और लोकालोकरूप सब ज्ञेय निमित्त हैं।

(प्रवचनसार गा० २६ की टीका)

(२) सम्यग्दर्शन नैमित्तिक है और सम्यग्ज्ञानीका उपदेशादि निमित्त हैं।

(आत्मानुशासन गा० १० की टीका)

(३) सिद्धदशा नैमित्तिक है और पुद्गलकर्मका अभाव निमित्त है।

(समयसार गा० ८३ की टीका)

(४) "जैसे अधःकर्मसे उत्पन्न और उद्देशसे उत्पन्न हुए निमित्तभूत (आहारादि) पुद्गलद्रव्यका प्रत्याख्यान न करता हुआ आत्मा (–मुनि) नैमित्तिकभूत बंधसाधक भावका प्रत्याख्यान (–त्याग) नहीं करता, इसीप्रकार समस्त परद्रव्यका प्रत्याख्यान न करता हुआ आत्मा उसके निमित्तसे होनेवाले भावको नहीं त्यागता"। इसमें जीवका बंधसाधक भाव नैमित्तिक है और वह परद्रव्य निमित्त हैं। (स० सार गाथा २८६–८७ की टीका)

पंचाध्यायी शास्त्रमें नयाभासोंके वर्णनमें 'जीव शरीरका कुछ कर सकता नहीं है- परंस्पर बंध्य-बंधकभाव नहीं है' ऐसा कहकर शरीर और आत्माको निमित्त-नैमित्तिक भावका प्रयोजन क्या है उसके उत्तरमें 'प्रत्येक द्रव्य स्वयं और स्वतः परिणमन करता है, वहाँ निमित्तपनेका कुछ प्रयोजन ही नहीं है ऐसा समाधान श्लोक ५७१ में कहा है।

श्लोक—अथ चेदवश्यमेतन्निमित्तनैमित्तिकत्वमस्ति मिथः ।
न यतः स्वयं स्वतो वा परिणममानस्य किं निमित्ततया ॥ ५७१ ॥

अन्वयार्थ—[अथ चेत्] यदि कदाचित् यह कहा जाय कि [मिथः] परस्पर [एतन्निमित्तनैमित्तिकत्वं] इन दोनोंमें निमित्त और नैमित्तिकपना [अवश्य अस्ति] अवश्य है तो इसप्रकार कहना भी [न] ठीक नहीं है, [यतः] क्योंकि [स्वयं] स्वयं [वा] अथवा [स्वतः] स्वतः [परिणममानस्य] परिणमन करनेवाली वस्तुको [निमित्ततया] निमित्तपनेसे [किं] क्या फायदा है अर्थात् स्वतः परिणमनशील वस्तुको निमित्तकारणसे कुछ भी प्रयोजन नहीं है । इस विषयमें स्पष्टताके लिये पंचाध्यायी भाग १ श्लोक ५६२ से ५८५ तक देखना चाहिये ।

प्रयोजनभूत

इस तरह छह द्रव्यका स्वरूप अनेक प्रकारसे वर्णन किया । इन छह द्रव्योंमें प्रतिसमय परिणमन होता है उसे, 'पर्याय' (हालत, अवस्था Condition) कहते हैं । धर्म–अधर्म–आकाश और काल इन चार द्रव्योंकी पर्याय तो सदा शुद्ध ही है, अवशिष्ट जीव और पुद्गल इन दो द्रव्योंमें शुद्ध पर्याय होती है अथवा अशुद्ध पर्याय भी हो सकती है ।

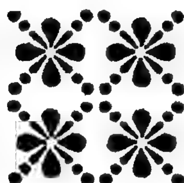
जीव और पुद्गल इन दो द्रव्योंमेंसे भी पुद्गल द्रव्यमें ज्ञान नहीं है, उसमें ज्ञानपना (ज्ञानत्व) नहीं इसीसे उसमें ज्ञानकी विपरीतरूप भूल नहीं अतएव पुद्गलको सुख या दुःख नहीं होता । यथार्थ ज्ञानके द्वारा सुख और विपरीतज्ञानके द्वारा दुःख होता है, परन्तु पुद्गल द्रव्यमें ज्ञानगुण ही नहीं इसीलिये उसके सुख–दुःख नहीं उसमें सुखगुण ही नहीं । ऐसा होनेसे तो पुद्गल द्रव्यके शुद्ध दशा हो या अशुद्ध दशा, दोनों समान हैं । शरीर पुद्गल द्रव्यकी अवस्था है इसलिये शरीरमें सुख–दुःख नहीं होते, शरीर चाहे निरोग हो या रोगी, उसके साथ सुख–दुःखका सम्बन्ध नहीं है ।

अब शेष रहा जाननेवाला जीवद्रव्य

छहों द्रव्योंमें यह एक ही द्रव्य ज्ञानशक्तिवाला है । जीवमें ज्ञानगुण है और ज्ञानका फल सुख है, इसलिये जीवमें सुखगुण है । यदि यथार्थ ज्ञान करे तो सुख हो, परन्तु जीव अपने ज्ञानस्वभावको नहीं पहचानता और ज्ञानसे भिन्न अन्य वस्तुओंमें सुखकी कल्पना करता है । यह उसके ज्ञानकी भूल है और उस भूलको लेकर ही जीवके दुःख है । जो अज्ञान है सो जीवकी अशुद्ध पर्याय है, जीवकी अशुद्ध पर्याय दुःखरूप है अतः उस दशाको

दूर कर यथार्थ ज्ञानके द्वारा शुद्ध दशा करनेका उपाय समझाया जाता है; क्योंकि सभी जीव सुख चाहते हैं और सुख तो जीवको शुद्धदशामें ही है, इसलिये जो छह द्रव्य जाने उनमेंसे जीवके अतिरिक्त पांच द्रव्योंके गुण--पर्यायके साथ तो जीवको प्रयोजन नहीं है किंतु जीवके अपने गुण--पर्यायके साथ ही प्रयोजन है ।

इसप्रकार श्री उमास्वामी विरचित मोक्षशास्त्रके पाँचवें अध्यायकी
गुजराती टीकाका हिन्दी अनुवाद पूर्ण हुआ ।



मोक्षशास्त्र-अध्याय छट्ठा

भूमिका

१—पहले अध्यायके चौथे सूत्रमें सात तत्त्व कहे हैं और यही पहले अध्यायके दूसरे सूत्रमें कहा है कि इन तत्त्वोंकी जो यथार्थ श्रद्धा है सो सम्यग्दर्शन है। दूसरेसे पाचवें अध्याय पर्यंत जीव और अजीव तत्त्वका वर्णन किया है। इस छट्ठे अध्याय और सातवें अध्यायमें आस्रव तत्त्वका स्वरूप समझाया गया है। आस्रवकी व्याख्या पहले की जा चुकी है, जो यहां लागू होती है।

२—सात तत्त्वोंकी सिद्धि

(बृहद्द्रव्यसंग्रहके ७१–७२ वें पृष्ठके आधारसे)

इस जगतमें जीव और अजीव द्रव्य हैं और उनके परिणमनसे आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष तत्त्व होते हैं। इसप्रकार जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व हैं।

अब यहां शिष्य प्रश्न करता है कि हे गुरुदेव! (१) यदि जीव तथा अजीव ये दोनों द्रव्य एकांतसे (-सर्वथा) परिणामी ही हों तो उनके संयोग पर्यायरूप एक ही पदार्थ सिद्ध होता है, और (२) यदि वे सर्वथा अपरिणामी हों तो जीव और अजीव द्रव्य ऐसे दो ही पदार्थ सिद्ध होते हैं। यदि ऐसा है तो आस्रवादि तत्त्व किस तरह सिद्ध होते हैं?

श्रीगुरु उसका उत्तर देते हैं—जीव और अजीव द्रव्य 'कथंचित् परिणामी' होनेसे अवशिष्ट पांच तत्त्वोंका कथन न्याययुक्त सिद्ध होता है।

(१) अब यह कहा जाता है कि 'कथंचित् परिणामित्व' का क्या अर्थ है? जैसे स्फटिक यद्यपि स्वभावसे निर्मल है तथापि जपा-पुष्प आदिके सामीप्यसे अपनी योग्यताके कारणसे पर्यायान्तर परिणति ग्रहण करती है। यद्यपि स्फटिकमणि पर्यायमें उपाधिको ग्रहण करती है तो भी निश्चयसे अपना जो निर्मल स्वभाव है उसे वह नहीं छोड़ती। इसीप्रकार जीवका स्वभाव भी शुद्ध द्रव्यार्थिक नयसे तो सहज शुद्ध चिदानन्द एकरूप है, परन्तु स्वयं अनादि कर्मबन्धरूप पर्यायके वशीभूत होनेसे वह रागादि परद्रव्य उपाधि पर्यायको ग्रहण करता है। यद्यपि जीव पर्यायमें परपर्यायरूपसे (पर द्रव्यके आलंबनसे हुई अशुद्ध पर्यायरूपसे) परिणमता है तथापि निश्चयनयसे शुद्ध स्वरूपको नहीं छोड़ता। ऐसा ही पुद्गल द्रव्यका

भी होता है। इस कारणसे जीव-अजीवका परस्पर सापेक्ष परिणमन होना वही 'कथंचित् परिणामित्व' शब्दका अर्थ है।

(२) इसप्रकार 'कथचित् परिणामित्व' सिद्ध होने पर जीव और पुद्‌गलके संयोगकी परिणति (-परिणाम)से बने हुये बाकीके आस्रवादि पांच तत्त्व सिद्ध होते हैं। जीवमें आस्रवादि पांच तत्त्वोंके परिणमनके समय पुद्‌गलकर्मरूप निमित्तका सद्भाव या अभाव होता है और पुद्‌गलमें आस्रवादि पांच तत्त्वोंके परिणमनमें जीवके भावरूप निमित्तका सद्भाव या अभाव होता है। इसीसे ही सात तत्त्वोंको 'जीव और पुद्‌गलके संयोगकी परिणतिसे रचित' कहा जाता है। परन्तु ऐसा नहीं समझना चाहिये कि जीव और पुद्‌गलकी एकत्रित परिणति होकर बाकीके पांच तत्त्व होते हैं।

पूर्वोक्त जीव और अजीव द्रव्योंको इन पांच तत्त्वोंमें मिलाने पर कुल सात तत्त्व होते हैं, और उसमें पुण्य-पापको यदि अलग गिना जावे तो नव पदार्थ होते हैं। पुण्य और पाप नामके दो पदार्थोंका अन्तर्भाव (समावेश) अभेद नयसे यदि जीव-आस्रव-बन्ध पदार्थमें किया जावे तो सात तत्त्व कहे जाते हैं।

३-सात तत्त्वोंका प्रयोजन

(बृहत्‌द्रव्यसंग्रह पृष्ठ ७२-७३ के आधारसे)

शिष्य फिर प्रश्न करता है कि हे भगवन्! यद्यपि जीव-अजीवके कथंचित् परिणामित्व मानने पर भेद-प्रधान पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे सात तत्त्व सिद्ध हो गये, तथापि उनसे जीवका क्या प्रयोजन सिद्ध हुआ? क्योंकि जैसे अभेदनयसे पुण्य-पाप इन दो पदार्थोंका पहले सात तत्त्वोंमें अन्तर्भाव किया है उसी तरहसे विशेष अभेदनयकी विवक्षामें आस्रवादि पदार्थोंका भी जीव और अजीव इन दो ही पदार्थोंमें अन्तर्भाव कर लेनेसे ये दो ही पदार्थ सिद्ध हो जायेंगे।

श्रीगुरु इस प्रश्नका समाधान करते हैं—कौन तत्त्व हेय हैं और कौन तत्त्व उपादेय हैं इसका परिज्ञान हो, इस प्रयोजनसे आस्रवादि तत्त्वोंका निरूपण किया जाता है।

अब यह कहते हैं कि हेय और उपादेय तत्त्व कौन हैं? जो अक्षय अनन्त सुख है वह उपादेय है; उसका कारण मोक्ष है; मोक्षका कारण संवर और निर्जरा है; उसका कारण विशुद्ध ज्ञानदर्शन स्वभावमें निजआत्मतत्त्व स्वरूपके सम्यक् श्रद्धान-ज्ञान तथा आचरण-लक्षणस्वरूप निश्चयरत्नत्रय है। उस निश्चय रत्नत्रयकी साधना चाहनेवाले जीवको व्यवहाररत्नत्रय क्या है यह समझकर, विपरीत अभिप्राय छोड़कर पर द्रव्य तथा राग परसे

अपना लक्ष हटाकर निज-आत्माके त्रैकालिक स्वरूपकी ओर अपना लक्ष ले जाना चाहिये अर्थात् स्वसंवेदन-स्वसन्मुख होकर स्वानुभूति प्रगट करना चाहिये। ऐसा करनेसे निश्चय सम्यग्दर्शन प्रगट होता है और उसके बलसे संवर, निर्जरा तथा मोक्ष प्रगट होता है, इसलिये ये तीन तत्त्व उपादेय हैं।

अब यह बतलाते हैं कि हेय तत्त्व कौन हैं? आकुलताको उत्पन्न करनेवाले ऐसे निगोद-नरकादि गतिके दुःख तथा इन्द्रियों द्वारा उत्पन्न हुये जो कल्पित सुख हैं सो हेय (-छोड़ने योग्य) हैं, उसका कारण स्वभावसे च्युतिरूप संसार है, संसारके कारण आस्रव तथा बन्ध ये दो तत्त्व हैं, पुण्य-पाप दोनों बन्ध तत्त्व हैं, उन आस्रव तथा बन्धके कारण, पहले कहे हुए निश्चय तथा व्यवहार रत्नत्रयसे विपरीत लक्षणके धारक ऐसे मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र ये तीन हैं। इसीलिये आस्रव और बन्ध तत्त्व हेय हैं।

इस प्रकार हेय और उपादेय तत्त्वोंका ज्ञान होनेके लिये ज्ञानीजन सात तत्त्वोंका निरूपण करते हैं।

४ तत्त्वकी श्रद्धा कब हुई कही जाय?

(१) जैन शास्त्रोंमें कहे हुए जीवके त्रस-स्थावर आदि भेदोंको, गुणस्थान, मार्गणा इत्यादि भेदोंको तथा जीव पुद्गल आदि भेदोंको तथा वर्णादि भेदोंको तो जीव जानता है, किन्तु अध्यात्मशास्त्रोंमें भेदविज्ञानके कारणभूत और वीतरागदशा होनेके कारणभूत वस्तुका जैसा निरूपण किया है वैसा जो नहीं जानता, उसके जीव और अजीव तत्त्वकी यथार्थ श्रद्धा नहीं है।

(२) पुनश्च, किसी प्रसंगसे भेद विज्ञानके कारणभूत और वीतरागदशाके कारणभूत वस्तुके निरूपणका जानना मात्र शास्त्रानुसार हो, परन्तु निजको निजरूप जानकर उसमें परका अंश भी (मान्यतामें) न मिलाना तथा निजका अंश भी (मान्यतामें) परमें न मिलाना, जहाँतक जीव ऐसा श्रद्धान न करे वहाँतक उसके जीव और अजीव तत्त्वकी यथार्थ श्रद्धा नहीं है।

(३) जिस प्रकार अन्य मिथ्यादृष्टि बिना निश्चयके (निर्णय रहित) पर्यायबुद्धिसे (-देहदृष्टिसे) जानत्वमें तथा वर्णादिमें अहंबुद्धि धारण करते हैं, उसीप्रकार जो जीव आत्माश्रित ज्ञानादिमें तथा शरीराश्रित उपदेश, उपवासादि क्रियामें निजत्व मानता है तो उसके जीव-अजीव तत्त्वकी यथार्थ श्रद्धा नहीं है। ऐसा जीव किसी समय शास्त्रानुसार यथार्थ बात भी कहे परन्तु वहाँ उसके अन्तरंग निजस्वरूप श्रद्धा नहीं है, इसीलिये जिस तरह नशायुक्त मनुष्य माताको माता कहे तो भी वह समझदार नहीं है, उसी तरह वह जीव भी सम्यग्दृष्टि नहीं है।

(४) पुनश्च, यह जीव जैसे किसी दूसरेकी ही बात करता हो वैसे ही आत्माका कथन करता है, परन्तु 'यह आत्मा मैं ही हूँ, ऐसा भाव उसके प्रतिभासित नहीं होता। और फिर जैसे किसी दूसरेको दूसरेसे भिन्न बतलाता हो वैसे ही वह इस आत्मा और शरीरकी भिन्नता प्ररूपित करता है, परन्तु 'मैं इस शरीरादिकसे भिन्न हूँ' ऐसा भाव उसके नहीं भासता; इसीलिये उसके जीव-अजीवकी यथार्थ श्रद्धा नहीं।

(५) पर्यायमें (—वर्तमान दशामें) जीव-पुद्गलके परस्परके निमित्तसे अनेक क्रियायें होती हैं, उन सबको दो द्रव्योंके मिलापसे बनी हुई मानता है, किन्तु उसके ऐसा भिन्न-भिन्न भाव नहीं भासता कि 'यह जीवकी क्रिया है और यह पुद्गलकी क्रिया है।' ऐसा भिन्न भाव भासे बिना उसको जीव-अजीवका यथार्थ श्रद्धानी नहीं कहा जा सकता; क्योंकि जीव-अजीवके जाननेका प्रयोजन तो यही था; जो कि इसे हुआ नहीं।

(देखो, देहली सस्ती ग्रन्थमालाका मोक्षमार्ग प्रकाशक अ० ७ पृ० ३३१)

(६) पहले अध्यायके ३२ वें सूत्रमें 'सदसतोरविशेषाद्यदृच्छोपलब्धेरुन्मत्तवत्' कहा है वह समझकर विपरीत अभिप्राय रहित होकर सत्-असत्का भेदज्ञान करना चाहिये; जहां तक ऐसी यथार्थ श्रद्धा न हो वहांतक जीव सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकता। उसमें 'सत्' शब्दसे यह समझनेके लिये कहा है कि जीव स्वयं त्रिकाली शुद्ध चैतन्यस्वरूप क्यों है और 'असत्' शब्दसे यह बताया है कि जीवमें होनेवाला विकार जीवमेंसे दूर किया जा सकता है, इसलिये वह पर हैं। पर पदार्थ और आत्मा भिन्न होनेसे कोई परका कुछ कर नहीं सकता, आत्माकी अपेक्षासे पर पदार्थ असत् हैं—नास्तिरूप हैं। जब ऐसा यथार्थ समझे तभी जीवके सत्-असत्के विशेषका यथार्थ ज्ञान होता है। जीवके जहां तक ऐसा ज्ञान न हो वहांतक आस्रव दूर नहीं होते; जहां तक जीव अपना और आस्रवका भेद नहीं जानता वहांतक उसके विकार दूर नहीं होते। इसीलिये यह भेद समझानेके लिये छट्ठे और सातवें अध्यायमें आस्रवका स्वरूप कहा है।

यह आस्रव अधिकार है; इसमें प्रथम योगके भेद और उसका स्वरूप कहते हैं:—

कायवाङ्मनः कर्मयोगः ॥१॥

अर्थः—[कायवाङ्मनः कर्म] शरीर, वचन और मनके अवलम्बनसे आत्माके प्रदेशोंका संकल्प होना सो [योगः] योग है।

टीका

१—आत्माके प्रदेशोंका सकंप होना सो योग है; सूत्रमें जो योगके तीन भेद कहे हैं

वे निमित्तकी अपेक्षासे हैं। उपादानरूप योगमें तीन भेद नहीं हैं, किन्तु एक ही प्रकार है। दूसरी तरहसे-योगके दो भेद किये जा सकते हैं—१—भाव योग और २—द्रव्ययोग। कर्म, नोकर्मके ग्रहण करनेमें निमित्तरूप आत्माकी शक्ति-विशेषको भावयोग कहते हैं और उस शक्तिके कारणसे जो आत्माके प्रदेशोंका सकम्प होना सो द्रव्ययोग है (यहाँ 'द्रव्य'का अर्थ 'आत्मद्रव्यके प्रदेश' होता है)

२—यह आस्रव अधिकार है। जो योग है सो आस्रव है,—ऐसा दूसरे सूत्रमें कहेंगे। इस योगके दो प्रकार हैं—१ कषाययोग और २-अकषाययोग। (देखो सूत्र चौथा)

३—यद्यपि भावयोग एक ही प्रकारका है तो भी निमित्तकी अपेक्षासे उसके १५ भेद होते हैं। जब यह योग मनकी ओर झुकता है तब उसमें मन निमित्त होनेसे, योग और मनका निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध बतलानेके लिये, उस योगको मनोयोग कहा जाता है। इसी प्रकारसे जब वचनकी ओर झुकाव होता है तब वचनयोग कहा जाता है और जब कायकी ओर झुकाव होता है तब काययोग कहा जाता है। इसमें मनोयोगके ४, वचनयोगके ४ और काययोगके ७ भेद हैं, इस तरह निमित्तकी अपेक्षासे भावयोगके कुल १५ भेद होते हैं।

(जैनसिद्धान्त प्रवेशिका प्रश्न २२०, ४१२, ४१३)

४—आत्माके अनन्तगुणोंमें एक योगगुण है, यह अनुजीवी गुण है। इस गुणकी पर्यायमें दो भेद होते हैं १ परिस्पंदरूप अर्थात् आत्मप्रदेशोंके कंपनरूप और २-आत्मप्रदेशोंकी निश्चलतारूप निष्कंपरूप। प्रथम प्रकार योगगुणकी अशुद्ध पर्याय और दूसरा भेद योगगुणकी शुद्ध पर्याय है।

इस सूत्रमें योगगुणकी कंपनरूप अशुद्ध पर्यायको 'योग' कहा है।

अब आस्रवका स्वरूप कहते हैं

स आस्रवः ॥ २ ॥

अर्थः—[सः] वह योग [आस्रवः] आस्रव है।

टीका

१—आगे चौथे सूत्रमें यह कहेंगे कि सकषाययोग और अकषाययोग आस्रव अर्थात् आत्माका विकारभाव है।

२—कितने ही जीव कषायका अर्थ क्रोध-मान-माया-लोभ करते हैं, किन्तु यह अर्थ पर्याप्त नहीं है। मोहके उदयमें युक्त होने पर जीवके मिथ्यात्व क्रोधादि भाव होते हैं,

सामान्यरूपसे उस सबका नाम 'कषाय' है। (देखो मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ ४०) सम्यग्दृष्टिके मिथ्यात्वभाव नहीं है इसलिये उसके जो क्रोधादिभाव हों सो कषाय है।

३—योगकी क्रिया नवीन कर्मके आस्रवका निमित्तकारण है। इस सूत्रमें कहे हुये 'आस्रव' शब्दमें द्रव्यास्रवका समावेश होता है। योगकी क्रिया तो निमित्तकारण है; इसमें पर द्रव्यके द्रव्यास्रव रूप कार्यका उपचार करके इस सूत्रमें योगकी क्रियाको ही आस्रव कहा है।

एक द्रव्यके कारणको दूसरे द्रव्यके कार्यमें मिलाकर व्यवहारनयसे कथन किया जाता है। यह पद्धति यहां ग्रहण करके जीवके भावयोगकी क्रियारूप कारणको द्रव्यकर्मके कार्यमें मिलाकर इस सूत्रमें कथन किया है; ऐसे व्यवहारनयको इस शास्त्रमें नैगमनयसे कथन किया कहा जाता है; क्योंकि योगकी क्रियामें द्रव्यकर्मरूप कार्यका संकल्प किया गया है।

४—प्रश्नः—आस्रवको जाननेकी आवश्यकता क्या है ?

उत्तरः—दुःखका कारण क्या है यह जाने बिना दुःख दूर नहीं किया जा सकता; मिथ्यात्वादिक भाव स्वयं ही दुःखमय हैं, उसे जैसा है यदि वैसा न जाने तो जीव उसका अभाव भी न करेगा और इसलिये जीवके दुःख ही रहेगा; इसीलिये आस्रवको जानना आवश्यक है। (आधुनिक हिन्दी मोक्षमार्ग प्र. पृ० ७८)

५—प्रश्नः—जीवको आस्रव तत्त्वकी विपरीत श्रद्धा अनादिसे क्यों है ?

उत्तरः—मिथ्यात्व और शुभाशुभ रागादिक प्रगटरूपसे दुःखके देने वाले हैं, तथापि उनके सेवन करनेसे सुख होगा ऐसा मानना सो आस्रव तत्त्वकी विपरीत श्रद्धा है।

६—प्रश्नः—सूत्र १-२ में योगको आस्रव कहा है और अन्यत्र तो मिथ्यात्वादिको आस्रव कहा है,—इसका क्या कारण है ?

उत्तरः— चौथे सूत्रमें यह स्पष्ट कहा है कि योग दो प्रकारका है—सकषाययोग और अकषाययोग; इसलिये ऐसा समझना चाहिये कि सकषाययोगमें मिथ्यात्वादिका समावेश हो जाता है।

७—इन दोनों प्रकारके योगोंमेंसे जिस पदमें जो योग हो वह जीवकी विकारी पर्याय है, उसके अनुसार आत्म-प्रदेशमें नवीन द्रव्यकर्म आते हैं, इसीलिये वह योग द्रव्यास्रवका निमित्तकारण कहा जाता है।

८—प्रश्नः— पहले योग दूर होता है या मिथ्यात्वादि दूर होते हैं ?

उत्तरः—सबसे पहले मिथ्यात्वभाव दूर होता है। योग तो चौदहवें अयोग-केवली गुणस्थानमें दूर होता है। यद्यपि तेरहवें गुणस्थानमें ज्ञान वीर्यादि संपूर्ण प्रगट होते हैं तथापि योग होता है, इसलिये पहले मिथ्यात्व दूर करना चाहिये और मिथ्यात्व दूर होनेपर उससे सम्बन्धित योग सहज ही दूर होता है।

६—सम्यग्दृष्टिके मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी कषाय नहीं होनेसे उसके उस प्रकारका भाव-आस्रव होता ही नहीं। सम्यग्दृष्टिके मिथ्यात्व दूर हो जानेसे अनन्तानुबन्धी कषायका तथा अनन्तानुबन्धी कषायके साथ सम्बन्ध रखनेवाले अविरति और योगभावका अभाव हो जाता है (देखो समयसार गा० १७६ का भावार्थ)। और फिर मिथ्यात्व दूर हो जानेसे उसके साथ रहनेवाली प्रकृतियोंका बन्ध नहीं होता और अन्य प्रकृतियाँ सामान्य संसारका कारण नहीं हैं। जड़से काटे गये वृक्षके हरे पत्तोंकी तरह वे प्रकृतियाँ शीघ्र ही सूखने योग्य हैं। संसारका मूल अर्थात् संसारका कारण मिथ्यात्व ही है।

(समयसार गा० १६८ टीका–भावार्थ

अब योगके निमित्तसे आस्रवके भेद बतलाते हैं

शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्य ॥ ३ ॥

अर्थ—[शुभः] शुभयोग [पुण्यस्य] पुण्यकर्मके आस्रवमें कारण है और [अशुभः] अशुभ योग [पापस्य] पापकर्मके आस्रवमें कारण है।

टीका

१—योगमें शुभ या अशुभ ऐसा भेद नहीं, किन्तु आचरणरूप उपयोगमें (-चारित्र गुणकी पर्यायमें) शुभोपयोग और अशुभोपयोग ऐसा भेद होता है, इसीलिये शुभोपयोगके साथके योगको उपचारसे शुभयोग कहते हैं और अशुभोपयोगके साथके योगको उपचारसे अशुभयोग कहा जाता है।

२—पुण्यास्रव और पापास्रवके सम्बन्धमें होनेवाली विपरीतता

प्रश्न—मिथ्यादृष्टि जीवकी आस्रव सम्बन्धी क्या विपरीतता है?

उत्तरः—आस्रव तत्त्वमें जो हिंसादिक पापास्रव है उसे तो हेय जानता है किन्तु जो

अहिंसादिकरूप पुण्यास्रव है उसे उपादेय मानता है, भला मानता है; अब ये दोनों आस्रव होनेसे कर्म-बन्धके कारण हैं, उनमें उपादेयत्व मानना ही मिथ्यादर्शन है। सो ही बात समयसार गा० २५४ से २५६ में कही है। सर्व जीवोंके जीवन-मरण, सुख-दुःख, अपने-अपने कर्मोदयके निमित्तसे होता है तथापि जहां ऐसा मानना कि अन्य जीव अन्य जीवके कार्योंका कर्त्ता होता है, यही मिथ्याध्यवसाय बन्धका कारण है। अन्य जीवके जिलाने या सुखी करनेका जो अध्यवसाय हो सो तो पुण्य-बन्धका कारण है और जो मारने या दुःखी करनेका अध्यवसाय होता है वह पाप-बन्धका कारण है। यह सब मिथ्या-अध्यवसाय हैं, वह त्याज्य है; इसलिये हिंसादिककी तरह अहिंसादिकको भी बन्धके कारणरूप जानकर हेय समझना। हिंसामें जीवके मारनेकी बुद्धि हो किन्तु उसकी आयु पूर्ण हुये विना वह नहीं मरता और अपनी द्वेष परिणतिसे स्वयं ही पापबन्ध करता है, तथा अहिंसामें परकी रक्षा करनेकी बुद्धि हो किन्तु उसकी आयुके अवशेष न होनेसे वह नहीं जीता, मात्र अपनी शुभराग परिणतिसे स्वयं ही पुण्य बांधता है। इस तरह ये दोनों हेय हैं। किन्तु जहां जीव वीतराग होकर दृष्टा-ज्ञातारूप होवे वहां ही निर्बन्धता है इसलिये वह उपादेय है।

जहां तक ऐसी दशा न हो वहां तक शुभरागरूप प्रवर्ते परन्तु श्रद्धान तो ऐसा रखना चाहिये कि यह भी बन्धका कारण है—हेय है। यदि श्रद्धानमें उसे मोक्षका मार्ग जाने तो वह मिथ्यादृष्टि ही है।

(आधुनिक हिन्दी मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ २२६)

३—शुभयोग तथा अशुभयोगके अर्थ

शुभयोग—पंच परमेष्ठीकी भक्ति, प्राणियोंके प्रति उपकारभाव, रक्षाभाव, सत्य बोलनेका भाव, परधन हरण न करनेका भाव,—इत्यादि शुभ परिणामसे निर्मित योगको शुभयोग कहते हैं।

अशुभयोग—जीवोंकी हिंसा करना, असत्य बोलना, परधन हरण करना, ईर्ष्या करना,—इत्यादि भावोंरूप अशुभ परिणामसे बने हुये योगको अशुभयोग कहते हैं।

४—आस्रवमें शुभ और अशुभ भेद क्यों ?

प्रश्नः—आत्माको पराधीन करनेमें पुण्य और पाप दोनों समान कारण हैं—सोनेकी सांकल और लोहेकी सांकलकी तरह पुण्य और पाप दोनों आत्माको स्वतंत्रताका अभाव करनेमें समान हैं, तो फिर उसमें शुभ और अशुभ ऐसे दो भेद क्यों कहे हैं ?

उत्तर—उनके कारणसे मिलनेवाली इष्ट-अनिष्ट गति, जाति इत्यादिकी रचनाके भेदका ज्ञान करानेके लिये उसमें भेद कहे हैं—अर्थात् संसारकी अपेक्षासे भेद है, धर्मकी अपेक्षासे भेद नहीं, अर्थात् दोनों प्रकारके भाव 'अधर्म' हैं। प्रवचनसार गाथा ७७ में कहा है कि—इसप्रकार पुण्य और पापमें भेद (–अन्तर) नहीं है, ऐसा जो जीव नहीं मानता वह मोहाच्छादित होता हुआ घोर अपार संसारमें परिभ्रमण करता है।

४—शुभ तथा अशुभ दोनोंमें सात या आठ कर्म बँधते हैं तथापि यहाँ ऐसा क्यों नहीं कहा ?

प्रश्न—रागी जीवके आयुके अतिरिक्त सातों कर्मोंका निरन्तर आस्रव होता है तथापि इस सूत्रमें शुभपरिणामको पुण्यास्रवका ही कारण और अशुभ परिणामको पापास्रवका ही कारण क्यों कहा ?

उत्तरः—यद्यपि संसारी रागी जीवके सातों कर्मोंका निरन्तर आस्रव होता है, तथापि संक्लेश (–अशुभ) परिणामसे देव, मनुष्य और तिर्यंच आयुके अतिरिक्त १४८ प्रकृतियोंकी स्थिति बढ़ जाती है और मंद (शुभ) परिणामसे उन समस्त कर्मोंकी स्थिति घट जाती है और उपरोक्त तीन आयुकी स्थिति बढ़ जाती है।

और फिर तीव्र कषायसे शुभ प्रकृतिका रस तो घट जाता है और असातावेदनीयादिक अशुभ प्रकृतिका रस अधिक हो जाता है। मंद कषायसे पुण्य-प्रकृतिमें रस बढ़ता है और पाप-प्रकृतिमें रस घटता है, इसलिये स्थिति तथा रस (–अनुभाग) की अपेक्षासे शुभ परिणामको पुण्यास्रव और अशुभ परिणामको पापास्रव कहा है।

५—शुभ-अशुभ कर्मोंके बँधनेके कारणसे शुभ-अशुभयोग ऐसे भेद नहीं हैं

प्रश्न – शुभ परिणामके कारणसे शुभयोग और अशुभ परिणामके कारणसे अशुभयोग है, ऐसा माननेके स्थानपर यह माननेमें क्या बाधा है कि शुभ-अशुभ कर्मोंके बन्धके निमित्तसे शुभ-अशुभ भेद होता है ?

उत्तरः – यदि कर्मके बन्धके अनुसार योग माना जायगा तो शुभयोग ही न रहेगा, क्योंकि शुभयोगसे निमित्तसे ज्ञानावरणादि अशुभ कर्म भी बँधते हैं, इसीलिये शुभ-अशुभ कर्म बँधनेके कारणसे शुभ-अशुभयोग ऐसे भेद नहीं हैं। परन्तु ऐसा मानना न्याय-संगत है कि मंद कषायके कारणसे शुभयोग और तीव्र कषायके कारणसे अशुभयोग है।

७—शुभभावसे पापकी निर्जरा नहीं होती

प्रश्नः—यह तो ठीक है कि शुभभावसे पुण्यका बंध होता है, किन्तु ऐसा माननेमें क्या दोष है कि उससे पापकी निर्जरा होती है ?

उत्तरः—इस सूत्रमें कही हुई तत्त्वदृष्टिसे देखने पर यह मान्यता भूल भरी है। शुभभावसे पुण्यका बन्ध होता है, बन्ध संसारका कारण है, और जो संवर पूर्वक निर्जरा है सो धर्म है। यदि शुभभावसे पापकी निर्जरा मानें तो वह (शुभभाव) धर्म हुआ और धर्मसे बन्ध कैसे होगा ? इसलिये यह मान्यता ठीक नहीं कि शुभभावसे पुराने पापकर्मकी निर्जरा होती है (-आत्मप्रदेशसे पापकर्म खिर जाते हैं); निर्जरा शुद्धभावसे ही होती है अर्थात् तत्त्वदृष्टिके विना संवरपूर्वक निर्जरा नहीं होती। विशेष समाधानके लिये देखो अ० ७ सू० १ की टीकामें शास्त्राधार।

८—तीसरे सूत्रका सिद्धान्त

शुभभाव और अशुभभाव दोनों कषाय हैं, इसीलिये वे संसारके ही कारण हैं। शुभभाव बढ़ते-बढ़ते उससे शुद्धभाव नहीं हो सकता। जब शुद्धके अभेद आलम्बनसे शुभको दूर करे तब शुद्धता हो। जितने अंशमें शुद्धता प्रगट होती है उतने अंशमें धर्म है। ऐसा मानना ठीक है कि शुभ या अशुभमें धर्मका अंश भी नहीं है। ऐसी मान्यता किये विना सम्यग्दर्शन कभी नहीं होता। कितनेक ऐसा मानते हैं कि—जो शुभयोग है सो संवर है; यह यथार्थ नहीं है,—ऐसा बतानेके लिये इस सूत्रमें स्पष्टरूपसे दोनों योगोंको आस्रव कहा है ॥ ३ ॥

अब इसका खुलासा करते हैं कि आस्रव सर्व संसारियोंके समान फलका कारण होता है या इसमें विशेषता है

सकषायाकषाययोः साम्परायिकेर्यापथयोः ॥ ४ ॥

अर्थः—[**सकषायस्य साम्परायिकस्य**] कषायसहित जीवके संसारके कारणरूप कर्मका आस्रव होता है और [**अकषायस्य ईर्यापथस्य**] कषायरहित जीवके स्थितिरहित कर्मका आस्रव होता है।

टीका

१—कषायका अर्थ मिथ्यादर्शन—क्रोधादि होता है। सम्यग्दृष्टि जीवोंके मिथ्यादर्शन-

रूप कषाय नहीं होती इसलिये सम्यग्दृष्टि जीवोंके लागू होनेवाला कषायका अर्थ 'चारित्रमें अपनी कमजोरीसे होनेवाले क्रोध-मान-माया-लोभ इत्यादि' ऐसा समझना। मिथ्यादर्शनका अर्थ है आत्माके स्वरूपकी मिथ्या मान्यता-विपरीत मान्यता।

२—साम्परायिक आस्रवः—यह आस्रव संसारका ही कारण है। मिथ्यात्व-भावरूप आस्रव अनन्त संसारका कारण है। मिथ्यात्वका अभाव होनेके बाद होनेवाला आस्रव अल्प संसारका कारण है।

३—ईर्यापथ आस्रवः—यह आस्रव स्थिति और अनुभागरहित है और यह अकषायी जीवोंके ११, १२ और १३ वें गुणस्थानमें होता है। चौदहवें गुणस्थानमें रहनेवाले जीव अकषायी और अयोगी दोनों हैं, इसलिये वहाँ आस्रव है ही नहीं।

४—कर्मबन्धके चार भेद

कर्मबन्धके चार भेद हैं—प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभाग। इनमें पहले दो प्रकारके भेदोंका कारण योग है और अंतिम दो भेदोंका कारण कषाय है। कषाय संसारका कारण है और इसीलिये जहाँतक कषाय हो वहाँतकके आस्रवको साम्परायिक आस्रव कहते हैं, और कषाय दूर होनेके बाद अकेला योग रहता है। कषाय रहित योगसे होनेवाले आस्रवको ईर्यापथ आस्रव कहते हैं। आत्माके उस समयका प्रगट होनेवाला जो भाव है सो भाव-ईर्यापथ है और द्रव्यकर्मका जो आस्रव है सो द्रव्य-ईर्यापथ है। इसी तरह भाव और द्रव्य ऐसे दो भेद साम्परायिक आस्रवमें भी समझ लेना। ११ से १३ वें गुणस्थान पर्यन्त ईर्यापथ आस्रव होता है, उससे पहलेके गुणस्थानोंमें साम्परायिक आस्रव होता है।

जिस प्रकार बड़का फल आदि कसैले कषायले रङ्गमें निमित्त होते हैं उसी तरह मिथ्यात्व, क्रोधादिक आत्माको कर्म रज लगनेमें निमित्त हैं, इसीलिये उन भावोंको कषाय कहा जाता है। जैसे कोरे घड़ेको रज स्पर्शकर चली जाती है उसी तरह कषायरहित आत्माके कर्मरज लगकर उसी समय चली जाती है,—इसीको ईर्यापथ आस्रव कहा जाता है।

साम्परायिक आस्रवके ३९ भेद

इन्द्रियकषायाव्रतक्रियाः पंचचतुःपंचपंचविंशतिसंख्याः पूर्वस्य भेदाः ॥५॥

अर्थ—[इन्द्रियाणि पंच] स्पर्शन आदि पांच इन्द्रियां, [कषायाः चतुः] क्रोधादि चार कषाय, [अव्रतानि पंच] हिंसा इत्यादि पांच अव्रत और [क्रियाः पंचविंशतिः] सम्यक्त्व

आदि पच्चीस प्रकारकी क्रियायें [**संख्याः भेदाः**] इस तरह कुल ३९ भेद [**पूर्वस्य**] पहले (साम्परायिक) आस्रवके हैं, अर्थात् इन सर्व भेदोंके द्वारा साम्परायिक आस्रव होता है।

टीका

१-इन्द्रियः—दूसरे अध्यायके १५ से १९ वें सूत्रमें इन्द्रियका विषय आ चुका है। पुद्गल-इन्द्रियां परद्रव्य हैं, उनसे आत्माको लाभ या हानि नहीं होती; मात्र भावेन्द्रियके उपयोगमें वह निमित्त होते हैं। इन्द्रियका अर्थ होता है भावेन्द्रिय, द्रव्येन्द्रिय और इन्द्रियका विषय; ये तीनों ज्ञेय हैं; ज्ञायक आत्माके साथ उनके जो एकत्वकी मान्यता है सो (मिथ्यात्व-भाव) ज्ञेय-ज्ञायक संकरदोष है। (देखो, श्री समयसार गाथा ३१ टीका)

कषायः—राग-द्वेषरूप जो आत्माकी प्रवृत्ति है सो कषाय है। यह प्रवृत्त तीव्र और मंदके भेदसे दो प्रकारकी होती है।

अव्रतः-हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह ये पांच प्रकारके अव्रत हैं।

२—क्रियाः—आत्माके प्रदेशोंका परिस्पन्दरूप जो योग है सो क्रिया है; इसमें मन, वचन और काय निमित्त होता है। यह क्रिया सकषाय योग में दसवें गुणस्थान तक होती है। पौद्गलिक मन, वचन या कायकी कोई भी क्रिया आत्माकी नहीं है, और न आत्माको लाभकारक या हानिकारक है। जब आत्मा सकषाय योगरूपसे परिणमे और नवीन कर्मोंका आस्रव हो तब आत्माका सकषाययोग उन पुद्गल-आस्रवमें निमित्त है और पुद्गल स्वयं उस आस्रवका उपादानकारण है; भावास्रवका उपादानकारण आत्माकी उस-उस अवस्थाकी योग्यता है और निमित्त पुराने कर्मोंका उदय है।

३—पच्चीस प्रकारकी क्रियाओंके नाम और उनके अर्थ

(१) सम्यक्त्व क्रियाः—चैत्य, गुरु और प्रवचन (-शास्त्र) की पूजा इत्यादि कार्योंसे सम्यक्त्वकी वृद्धि होती है, इसीलिये यह सम्यक्त्व क्रिया है। यहां मन, वचन, कायकी जो क्रिया होती है वह सम्यक्त्वी जीवके शुभभावमें निमित्त है; वे शुभभावको धर्म नहीं मानते, इसीलिये उस मान्यताकी दृढ़ताके द्वारा उनके सम्यक्त्वकी वृद्धि होती है; इसलिये यह मान्यता आस्रव नहीं, किन्तु जो सकषाय (शुभभाव सहित) योग है सो भाव-आस्रव है; वह सकषाय योग द्रव्यकर्मके आस्रवमें मात्र निमित्तकारण है।

(२) मिथ्यात्वक्रियाः-कुदेव, कुगुरु और कुशास्त्रके पूजा, स्तवनादिरूप मिथ्यात्वके कारणवाली क्रियायें है सो मिथ्यात्वक्रिया है।

(३) प्रयोगक्रियाः—हाथ, पैर इत्यादि चलानेके भावरूप इच्छारूप जो क्रिया है सो प्रयोगक्रिया है।

(४) समादान क्रियाः—संयमीका असंयमके सन्मुख होना।

(५) ईर्यापथ क्रियाः—समादान क्रियासे विपरीत क्रिया अर्थात् संयम बढ़ानेके लिये साधु जो क्रिया करते हैं वह ईर्यापथ क्रिया है। ईर्यापथ पांच समितिरूप है, उसमें जो शुभभाव है सो ईर्यापथ क्रिया है। [समितिका स्वरूप ९ वें अध्यायके ५ वें सूत्र में कहा जायगा।]

अब पाँच क्रियायें कही जाती हैं; इसमें पर हिंसाके भावकी मुख्यता है

(६) प्रादोषिक क्रिया—क्रोधके आवेशसे द्वेषादिकरूप बुद्धि करना सो प्रादोषिक क्रिया है।

(७) कायिकी क्रिया—उपर्युक्त दोष उत्पन्न होने पर हाथसे मारना, मुखसे गाली देना, इत्यादि प्रवृत्तिका जो भाव है सो कायिकी क्रिया है।

(८) अधिकरणिकी क्रियाः—हिंसाके साधनभूत बन्दूक, छुरी इत्यादि लेना, देना, रखना सो सब अधिकरणिकी क्रिया है।

(९) परिताप क्रिया—दूसरेको दुःख देनेमें लगना।

(१०) प्राणातिपात क्रियाः—दूसरेके शरीर, इन्द्रिय या श्वासोच्छ्वासको नष्ट करना सो प्राणातिपात क्रिया है।

नोटः—यह व्यवहार-कथन है, इसका अर्थ ऐसा समझना कि जीव जब निजमें इसप्रकारके अशुभ भाव करता है, तब इस क्रियामें बताई गई पर वस्तुयें स्वयं बाह्य निमित्त-रूपसे होती हैं। ऐसा नहीं मानना कि जीव परपदार्थोंका कुछ कर सकता है या परपदार्थ जीवका कुछ कर सकते हैं।

अब ११ से १५ तककी ५ क्रियायें कहते हैं। इनका सम्बन्ध इन्द्रियोंके भोगोंके साथ है

(११) दर्शन क्रियाः—सौन्दर्य देखनेकी इच्छा है सो दर्शनक्रिया है।

(१२) स्पर्शन क्रियाः—किसी चीजके स्पर्श करनेकी जो इच्छा है सो स्पर्शक्रिया है (इसमें अन्य इन्द्रियों सम्बन्धी वांछाका समावेश समझना चाहिये)।

(१३) प्रात्ययिकी क्रियाः—इन्द्रियके भोगोंकी वृद्धिके लिये नवीन-नवीन सामग्री एकत्रित करना या उत्पन्न करना सो प्रात्ययिकी क्रिया है।

(१४) समंतानुपात क्रियाः—स्त्री, पुरुष तथा पशुओंके उठने-बैठनेके स्थानको मलमूत्रसे खराब करना सो समंतानुपात क्रिया है।

(१५) अनाभोग क्रियाः—बिना देखी या बिना शोधी जमीन पर बैठना, उठना, सोना या कुछ धरना-उठाना सो अनाभोग क्रिया है।

अब १६ से २० तककी पांच क्रियायें कहते हैं, ये उच्च धर्माचरणमें धक्का पहुँचानेवाली हैं

(१६) स्वहस्त क्रियाः—जो काम दूसरेके योग्य हो उसे स्वयं करना सो स्वहस्त क्रिया है।

(१७) निसर्ग क्रियाः—पापके साधनोंके लेने-देनेमें सम्मति देना।

(१८) विदारण क्रियाः—आलस्यके वश हो अच्छे काम न करना और दूसरेके दोष प्रगट करना सो विदारण क्रिया है।

(१९) आज्ञाव्यापादिनी क्रियाः—शास्त्रकी आज्ञाका स्वयं पालन न करना और उसके विपरीत अर्थ करना तथा विपरीत उपदेश देना सो आज्ञाव्यापादिनी क्रिया है।

(२०) अनाकांक्षा क्रियाः—उन्मत्तपना या आलस्यके वश हो प्रवचन (शास्त्रों) में कही गई आज्ञाओंके प्रति आदर या प्रेम न रखना सो अनाकांक्षा क्रिया है।

अब अंतिम पाँच क्रियायें कहते हैं, इनके होनेसे धर्म धारण करनेमें विमुखता रहती है

(२१) आरम्भ क्रियाः—हानिकारक कार्योंमें रुकना, छेदना, तोड़ना, भेदना या अन्य कोई वैसा करे तो हर्षित होना सो आरंभ क्रिया है।

(२२) परिग्रह क्रियाः— परिग्रहका कुछ भी नाश न हो ऐसे उपायोंमें लगे रहना सो परिग्रह क्रिया है।

(२३) माया क्रियाः—मायाचारसे ज्ञानादि गुणोंको छिपाना।

(२४) मिथ्यादर्शन क्रियाः—मिथ्यादृष्टिओंकी तथा मिथ्यात्वसे परिपूर्ण कार्योंकी प्रशंसा करना सो मिथ्यादर्शन क्रिया है।

(२५) अप्रत्याख्यान क्रियाः—जो त्याग करने योग्य हो उसका त्याग न करना सो अप्रत्याख्यान क्रिया है। (प्रत्याख्यानका अर्थ त्याग है, विषयके प्रति आसक्तिका त्याग करनेके बदले उनमें आसक्ति करना सो अप्रत्याख्यान है)

नोटः—नं० १० की क्रियाके नीचे जो नोट है वह नं० ११ से २५ तककी क्रियाओंमें भी लागू होता है।

नं० ६ से २५ तककी क्रियाओंमें आत्माका अशुभभाव है। अशुभभावरूप जो सकषाय योग है वह पाप-आस्रवका कारण है, परन्तु जड़ मन, वचन या शरीरकी क्रिया है सो किसी आस्रवका कारण नहीं। भावास्रवका निमित्त पाकर जड़ रजकणरूप कर्म जीवके साथ एक-क्षेत्रावगाहरूपसे बँधते हैं। इन्द्रिय, कषाय तथा अव्रत कारण है और क्रिया उसका कार्य है ॥५॥

आस्रवमें विशेषता-(हीनाधिकता) का कारण

तीव्रमन्दज्ञाताज्ञातभावाधिकरणवीर्यविशेषेभ्यस्तद्विशेषः ॥ ६ ॥

अर्थः—[तीव्रमन्दज्ञाताज्ञातभावाधिकरण-वीर्य-विशेषेभ्यः] तीव्रभाव, मन्दभाव, ज्ञातभाव, अज्ञातभाव, अधिकरणविशेष और वीर्यविशेषसे [तद्विशेषः] आस्रवमें विशेषता-हीनाधिकता होती है।

टीका

तीव्रभावः—अत्यन्त बढ़े हुए क्रोधादिक द्वारा जो तीव्ररूप भाव होता है वह तीव्रभाव है।

मन्दभावः—कषायोंकी मन्दतासे जो भाव होता है उसे मन्दभाव कहते हैं।

ज्ञातभावः—जानकर इच्छापूर्वक करनेमें आनेवाली प्रवृत्ति ज्ञातभाव है।

अज्ञातभावः—बिना जाने असावधानीसे प्रवर्तना सो अज्ञातभाव है।

अधिकरणः—जिस द्रव्यका आश्रय किया जावे वह अधिकरण है।

वीर्यः—द्रव्यकी स्वशक्तिविशेषको वीर्य (-बल) कहते हैं ॥ ६ ॥

अब अधिकरणके भेद बतलाते हैं

अधिकरणं जीवाऽजीवाः ॥ ७ ॥

अर्थः—[अधिकरणं] अधिकरण [जीवाऽजीवाः] जीवद्रव्य और अजीवद्रव्य ऐसे

दो भेद रूप हैं; इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि आत्मामें जो कर्मास्रव होता है उसमें दो प्रकारका निमित्त होता है; एक जीव निमित्त और दूसरा अजीव निमित्त।

टीका

१—यहां अधिकरणका अर्थ निमित्त होता है। छट्ठे सूत्रमें आस्रवकी तारतम्यताके कारणमें 'अधिकरण' एक कारण कहा है। उस अधिकरणके प्रकार बतानेके लिये इस सूत्रमें यह बताया है कि जीव-अजीव कर्मास्रवमें निमित्त हैं।

२—जीव और अजीवके पर्याय अधिकरण हैं ऐसा बतानेके लिये सूत्रमें द्विवचनका प्रयोग न कर बहुवचनका प्रयोग किया है। जीव-अजीव सामान्य अधिकरण नहीं किन्तु जीव-अजीवके विशेष (-पर्याय) अधिकरण होते हैं। यदि जीव-अजीवके सामान्यको अधिकरण कहा जाय तो सर्व जीव और सर्व अजीव अधिकरण हों। किन्तु ऐसा नहीं होता, क्योंकि जीव-अजीवकी विशेष—पर्यायविशेष ही अधिकरणस्वरूप होती है ॥ ७ ॥

जीव-अधिकरणके भेद

आद्यं संरम्भसमारम्भारम्भयोगकृतकारितानुमत-कषायविशेषैस्त्रिस्त्रिस्त्रिश्चतुश्चैकशः ॥ ८ ॥

अर्थः—[आद्यं] पहला अर्थात् जीव अधिकरण-आस्रव [संरम्भ समारम्भारम्भ योग, कृतकारितानुमतकषायविशेषैः च] संरम्भ-समारम्भ-आरम्भ, मन-वचन-कायरूप तीन योग, कृत-कारित-अनुमोदना तथा क्रोधादि चार कषायोंकी विशेषतासे [त्रिः त्रिः त्रिः चतुः] ३×३×३×४ [एकशः] १०८ भेदरूप हैं।

टीका

संरम्भादि तीन भेद हैं, उन प्रत्येकमें मन-वचन-काय ये तीन भेद लगानेसे नव भेद हुये; इन प्रत्येक भेदमें कृत-कारित-अनुमोदना ये तीन भेद लगानेसे २७ भेद हुये और इन प्रत्येकमें क्रोध-मान-माया-लोभ ये चार भेद लगानेसे १०८ भेद होते हैं। ये सब भेद जीवाधिकरण आस्रवके हैं।

सूत्रमें च शब्द अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और संज्वलन कषायके चार भेद बतलाता है।

अनन्तानुबन्धी कषायः— जिस कषायसे जीव अपना स्वरूपाचरण चारित्र प्रगट न

कर सके उसे अनन्तानुबन्धी कषाय कहते हैं अर्थात् जो आत्माके स्वरूपाचरण चारित्रको घाते उसे अनन्तानुबन्धी कषाय कहते हैं।

अनन्त संसारका कारण होनेसे मिथ्यात्वको अनन्त कहा जाता है, उसके साथ जिस कषायका बन्ध होता है उसे अनन्तानुबन्धी कषाय कहते हैं।

अप्रत्याख्यान कषाय:—जिस कषायसे जीव एकदेशरूप संयम (-सम्यग्दृष्टि श्रावकके व्रत) किंचित् मात्र भी प्राप्त न कर सके उसे अप्रत्याख्यान कषाय कहते हैं।

प्रत्याख्यान कषाय:—जीव जिस कषायसे सम्यग्दर्शन पूर्वक सकल संयमको ग्रहण न कर सके उसे प्रत्याख्यान कषाय कहते हैं।

संज्वलन कषाय:—जिस कषायसे जीवका संयम तो बना रहे परन्तु शुद्ध स्वभावमें-शुद्धोपयोगमें पूर्णरूपसे लीन न हो सके उसे संज्वलन कषाय कहते हैं।

संरम्भ:—किसी भी विकारी कार्यके करनेके संकल्प करनेको संरम्भ कहा जाता है। (संकल्प दो तरहका है १—मिथ्यात्वरूप संकल्प, २—अस्थिरतारूप संकल्प)

समारम्भ:—उस निर्णयके अनुसार साधन मिलानेके भावको समारम्भ कहा जाता है।

आरम्भ:—उस कार्यके प्रारम्भ करनेको आरम्भ कहा जाता है।

कृत:—स्वयं करनेके भावको कृत कहते हैं।

कारित:—दूसरेसे करानेके भावको कारित कहते हैं।

अनुमत:—जो दूसरे करें उसे भला समझना सो अनुमत है ॥ ८ ॥

अजीवाधिकरण आस्रवके भेद बतलाते हैं

निर्वर्तनानिक्षेपसंयोगनिसर्गा द्विचतुर्द्वित्रिभेदाः परम् ॥ ९ ॥

अर्थ:—[परम्] दूसरा अजीवाधिकरण आस्रव [निर्वर्तना द्वि] दो प्रकारकी निर्वर्तना, [निक्षेप चतु] चार प्रकारके निक्षेप [संयोग द्वि] दो प्रकारके संयोग और [निसर्गा त्रिभेदाः] तीन प्रकारके निसर्ग एवं कुल ११ भेदरूप है।

टीका

निर्वर्तना:—रचना करना—निपजाना सो निर्वर्तना है, उसके दो भेद हैं—१—शरीरसे कुचेष्टा उत्पन्न करना या देहदुःप्रयुक्त निर्वर्तना है और २—शस्त्र इत्यादि हिंसाके उपकरणकी

रचना करना सो उपकरण निर्वर्तना है। अथवा दूसरी तरहसे दो भेद इस तरह होते हैं— १—पांच प्रकारके शरीर, मन, वचन, श्वासोछ्वासका उत्पन्न करना सो मूलगुण निर्वर्तना है और २—काष्ट, मिट्टी, इत्यादिसे चित्र आदिकी रचना करना सो उत्तरगुण निर्वर्तना है।

निक्षेपः—वस्तुको रखनेको (-धरनेको) निक्षेप कहते हैं, उसके चार भेद हैं:— १-विना देखे वस्तुका रखना सो अप्रत्यवेक्षितनिक्षेपाधिकरण है; २-यत्नाचार रहित होकर वस्तुको रखना सो दुःप्रमृष्टनिक्षेपाधिकरण है, ३-भयादिकसे या अन्य कार्य करनेकी जल्दीमें पुस्तक, कमण्डलु, शरीर या शरीरादिके मैलको रखना सो सहसानिक्षेपाधिकरण है और ४-जीव है या नहीं ऐसा विना देखे और विना विचार किए शीघ्रतामें पुस्तक, कमण्डलु, शरीर या शरीरके मैलको रखना और जहां वस्तु रखनी चाहिये वहां न रखना सो अनाभोगनिक्षेपाधिकरण है।

संयोगः—मिलाप होना सो संयोग है। उसके दो भेद हैं, १—भक्तपान संयोग और २—उपकरण संयोग। एक आहार-पानीको दूसरे आहार-पानीके साथ मिला देना सो भक्तपान संयोग है; और ठंडी पुस्तक, कमण्डलु, शरीरादिकको धूपसे गरम हुई पीछी आदिसे पोंछना तथा शोधना सो उपकरण संयोग है।

निसर्गः—प्रवर्तनको निसर्ग कहते हैं, उसके तीन भेद हैं: १—मनको प्रवर्ताना सो मन निसर्ग है, २—वचनोंको प्रवर्ताना सो वचन निसर्ग है और ३—शरीरको प्रवर्ताना सो काय निसर्ग है।

नोटः—जहां-जहां परके करने-करानेकी बात कही है वहां-वहां व्यवहार-कथन समझना। जीव परका कुछ कर नहीं सकता तथा पर पदार्थ जीवका कुछ कर नहीं सकते, किन्तु मात्र निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध दिखानेके लिये इस सूत्रका कथन है॥ ९॥

यहां तक सामान्य आस्रवके कारण कहे; अब विशेष आस्रवके कारण वर्णित करते हैं, उसमें प्रत्येक कर्मके आस्रवके कारण बतलाते हैं—

ज्ञानावरण और दर्शनावरणके आस्रवका कारण

तत्प्रदोषनिह्नवमात्सर्यान्तरायासादनोपघाता ज्ञानदर्शनावरणयोः ॥१०॥

अर्थः—[तत्प्रदोष निह्नव मात्सर्यां तराया सादनोपघाताः] ज्ञान और दर्शनके सम्बन्धमें करनेमें आये हुये प्रदोष, निह्नव, मात्सर्य, अन्तराय, आसादन और उपघात ये [ज्ञानदर्शनावरणयोः] ज्ञानावरण तथा दर्शनावरण कर्मास्रवके कारण हैं।

टीका

१ प्रदोषः—मोक्षका कारण अर्थात् मोक्षका उपाय तत्त्वज्ञान है, उसका कथन करनेवाले पुरुषकी प्रशंसा न करते हुये अन्तरङ्गमें जो दुष्ट परिणाम होना सो प्रदोष है।

निह्नवः—वस्तुस्वरूपके ज्ञानादिका छुपाना-जानते हुये भी ऐसा कहना कि मैं नहीं जानता सो निह्नव है।

मात्सर्य—वस्तुस्वरूपके जानते हुये भी यह विचारकर किसीको न पढ़ाना कि 'यदि मैं इसे कहूँगा तो यह पंडित हो जायगा' सो मात्सर्य है।

अंतरायः—यथार्थ ज्ञानकी प्राप्तिमें विघ्न करना सो अन्तराय है।

आसादनः—परके द्वारा प्रकाश होने योग्य ज्ञानको रोकना सो आसादन है।

उपघातः—यथार्थ प्रशस्त ज्ञानमें दोष लगाना अथवा प्रशंसा योग्य ज्ञानको दूषण लगाना सो उपघात है।

इस सूत्रमें 'तत्' का अर्थ ज्ञान-दर्शन होता है।

उपरोक्त छह दोष यदि ज्ञानावरण सम्बन्धी हों तो ज्ञानावरणके निमित्त हैं और दर्शनावरण सम्बन्धी हों तो दर्शनावरणके निमित्त हैं।

२—इस सूत्रमें जो ज्ञानावरण-दर्शनावरण कर्मके आस्रवके छह कारण कहे हैं उनके बाद ज्ञानावरणके भिन्न विशेष कारण श्री तत्त्वार्थसारके चौथे अध्यायकी १३ से १६ वीं गाथामें निम्नप्रकार दिये हैं—

७—तत्त्वोंका उत्सूत्र कथन करना।

८—तत्त्वका उपदेश सुननेमें अनादर करना।

९—तत्त्वोपदेश सुननेमें आलस्य रखना।

१०—लोभबुद्धिसे शास्त्र बेचना।

११—अपनेको निजको बहुश्रुत (-उपाध्याय) मानकर अभिमानसे मिथ्या उपदेश देना।

१२—अध्ययनके लिये जिस समयका निषेध है उस समयमें (अकालमें) शास्त्र पढ़ना।

१३—सच्चे आचार्य तथा उपाध्यायसे विरुद्ध रहना।

१४—तत्त्वोंमें श्रद्धा न रखना।

१५—तत्त्वोंका अनुचिन्तन न करना।

१६—सर्वज्ञ भगवानके शासनके प्रचारमें बाधा डालना।

१७—बहुश्रुत ज्ञानियोंका अपमान करना।

१८—तत्त्वज्ञानका अभ्यास करनेमें शठता करना।

३—यहां यह तात्पर्य है कि जो काम करनेसे अपने तथा दूसरेके तत्त्वज्ञानमें बाधा आवे या मलिनता हो वे सब ज्ञानावरणकर्मके आस्रवके कारण हैं। जैसे कि एक ग्रन्थके असावधानीसे लिखने पर किसी पाठको छोड़ देना अथवा कुछका कुछ लिख देना सो ज्ञानावरणकर्मके आस्रवका कारण होता है। (देखो, तत्त्वार्थसार पृष्ठ २००-२०१)

४—और फिर दर्शनावरणके लिये इस सूत्रमें कहे गये छह कारणोंके पश्चात् अन्य विशेष कारण श्री तत्त्वार्थसारके चौथे अध्यायकी १७-१८-१९ वीं गाथामें निम्नप्रकार दिये हैं:-

७—किसीकी आंख निकाल लेना (८) बहुत सोना (९) दिनमें सोना (१०) नास्तिकपनकी भावना रखना (११) सम्यग्दर्शनमें दोष लगाना (१२) कुतीर्थवालोंकी प्रशंसा करना (१३) तपस्वियों (दिगम्बर मुनियों) को देखकर ग्लानि करना—ये सब दर्शनावरण कर्मके आस्रवके कारण हैं।

५. शंका:—नास्तिकपनेकी वासना आदिसे दर्शनावरणका आस्रव कैसे होगा, उनसे तो दर्शनमोहका आस्रव होना संभव है, क्योंकि सम्यग्दर्शनसे विपरीत कार्योंके द्वारा सम्यग्दर्शन मलिन होता है न कि दर्शन-उपयोग?

समाधान:—जैसे बाह्य इन्द्रियोंसे मूर्तिक पदार्थोंका दर्शन होता है वैसे ही विशेष-ज्ञानियोंके अमूर्तिक आत्माका भी दर्शन होता है। जैसे सर्व ज्ञानोंमें आत्मज्ञान अधिक पूज्य है वैसे ही बाह्य पदार्थोंके दर्शन करनेसे अन्तर्दर्शन अर्थात् आत्मदर्शन अधिक पूज्य है। इसीलिये आत्मदर्शनमें बाधक कारणोंको दर्शनावरण कर्मके आस्रवका कारण मानना अनुचित नहीं है। इसप्रकार नास्तिकपनेकी मान्यता आदि जो कारण लिखे हैं वे दोष दर्शनावरण कर्मके आस्रवके हेतु हो सकते हैं। (देखो, तत्त्वार्थसार पृष्ठ २०१-२०२)

यद्यपि आयुकर्मके अतिरिक्त अन्य सात कर्मोंका आस्रव प्रति समय हुआ करता है तथापि प्रदोषादिभावोंके द्वारा जो ज्ञानावरणादि खास-विशेष कर्मका बन्ध होना बताया है वह स्थितिबन्ध और अनुभागबन्धकी अपेक्षासे समझना अर्थात् प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध तो सब कर्मोंका हुआ करता है किन्तु उस समय ज्ञानावरणादि खास कर्मका स्थिति और अनुभागबन्ध विशेष-अधिक होता है ॥१०॥

असाता वेदनीयके आस्रवके कारण

दुःखशोकतापाक्रन्दनवधपरिदेवनान्यात्म-
परोभयस्थानान्यसद्वेद्यस्य ॥११॥

अर्थः—[आत्मपरोभयस्थानानि] अपनेमें, परमें और दोनोंके विषयमें स्थित [दुःखशोकतापाक्रन्दनवधपरिदेवनानि] दुःख, शोक, ताप, आक्रन्दन, वध और परिदेवन ये [असद्वेद्यस्य] असातावेदनीय कर्मके आस्रवके कारण हैं।

टीका

१. दुःख—पीड़ारूप परिणामविशेषको दुःख कहते हैं।

शोक—अपनेको लाभदायक मालूम होनेवाले पदार्थका वियोग होनेपर विकलता होना सो शोक है।

ताप—संसारमें अपनी निंदा आदि होनेपर पश्चाताप होना।

आक्रन्दन—पश्चातापसे अश्रुपात करके रोना सो आक्रन्दन है।

वध—प्राणों का वियोग करनेको वध कहते हैं।

परिदेवन—संक्लेश परिणामोंके कारणसे ऐसा रुदन करना कि जिससे सुननेवाले के हृदयमें दया उत्पन्न हो जाय सो परिदेवन है।

यद्यपि शोक, ताप आदि दुःखके ही भेद हैं तथापि दुःखकी जातियां बतानेके लिये ये दो भेद बताये हैं।

२—स्वयको, परको या दोनोंको एकसाथ दुःख शोकादि उत्पन्न करना सो असातावेदनीय कर्मके आस्रवका कारण होता है।

प्रश्न—यदि दुःखादिक निजमें, परमें, या दोनोंमें स्थित होनेसे असातावेदनीय कर्मके आस्रवका कारण होता है तो अर्हन्त मतके माननेवाले जीव केश-लौंच, अनशन-तप, आतपस्थान इत्यादि दुःखके निमित्त स्वयं करते हैं और दूसरोंको भी वैसा उपदेश देते हैं सो इसीलिये उनके भी असातावेदनीय कर्मका आस्रव होगा?

उत्तर—नहीं, यह दूषण नहीं है। यह विशेष कथन ध्यानमें रखना कि यदि अन्तरंगक्रोधादिक परिणामके आवेशपूर्वक स्वयको, दूसरेको या दोनोंको दुःखादि देनेका भाव

हो तो ही वह असातावेदनीय कर्मके आस्रवका कारण होता है। भावार्थ यह है कि अन्तरंग क्रोधादिके वश होनेसे आत्माके जो दुःख होता है वह दुःख केशलोंच, अनशन तप या आतापयोग इत्यादि धारण करनेमें सम्यग्दृष्टि मुनिके नहीं होता, इसलिये उनके इससे असातावेदनीयका आस्रव नहीं होता, वह तो उनका शरीरके प्रति वैराग्यभाव है।

यह बात दृष्टांत द्वारा समझायी जाती है:—

दृष्टांतः—जैसे कोई दयाके अभिप्रायवाला-दयालु और शल्यरहित वैद्य संयमी पुरुष के फोड़ेको काटने या चीरनेका काम करता है और उस पुरुषको दुःख होता है तथापि उस बाह्य निमित्तमात्रके कारण पापबन्ध नहीं होता, क्योंकि वैद्यके भाव उसे दुःख देनेके नहीं हैं।

सिद्धांतः—वैसे ही संसार सम्बन्धी महादुःखसे उद्विग्न हुये मुनि संसार सम्बन्धी महादुःखका अभाव करनेके उपायके प्रति लग रहे हैं, उनके संक्लेश परिणामका अभाव होनेसे, शास्त्रविधान करनेमें आये हुये कार्योंमें स्वयं प्रवर्तनेसे या दूसरोंको प्रवर्तानेसे पापबन्ध नही होता, क्योंकि उनका अभिप्राय दुःख देनेका नहीं; इसलिये वह असातावेदनीयके आस्रवके कारण नहीं हैं।

३—इस सूत्रका सिद्धांत

बाह्य निमित्तोंके अनुसार आस्रव या बन्ध नहीं होता, किन्तु जीव स्वयं जैसा भाव करे उस भावके अनुसार आस्रव और बन्ध होता है। यदि जीव स्वयं विकारभाव करे तो बन्ध हो और विकारभाव न करे तो बन्ध नहीं होता ॥११॥

सातावेदनीयके आस्रवके कारण

भूतव्रत्यनुकम्पादानसरागसंयमादियोगः क्षान्तिः शौचमिति सद्वेद्यस्य ॥१२॥

अर्थः— [भूतव्रत्यनुकंपा] प्राणियोंके प्रति और व्रतधारियोंके प्रति अनुकम्पा-दया [दान-सरागसंयमादियोगः] दान, सराग संयमादिके योग, [क्षांतिः शौचमिति] क्षमा और शौच, अर्हन्तभक्ति इत्यादि [सद्वेद्यस्य] सातावेदनीय कर्मके आस्रवके कारण हैं।

टीका

१. भूत=चारो गतियोंके प्राणी।

वहां जिस अंशसे वीतराग हुआ है उसके द्वारा तो संवर है और जिस अंशसे सराग रहा है उसके द्वारा बन्ध है। सो एक भावसे तो दो कार्य बने किन्तु एक प्रशस्त राग ही से पुण्यास्रव भी मानना और संवर-निर्जरा भी मानना यह भ्रम है। अपने मिश्र भावमें ऐसी पहिचान सम्यग्दृष्टिके ही होती है कि 'यह सरागता है और यह वीतरागता है।' इसीलिये वे अवशिष्ट सरागभावको हेयरूप श्रद्धान करते हैं। मिथ्यादृष्टिके ऐसी परीक्षा न होनेसे सरागभावमें संवरके भ्रम द्वारा प्रशस्त--रागरूप कार्यको उपादेय मानना है।

(देखो, मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ ३३४--३३५)

इस तरह सराग-संयममें जो महाव्रतादि पालन करनेका शुभभाव है वह आस्रव होनेसे बन्धका कारण है किन्तु जितना निर्मल चारित्र प्रगट हुआ है वह बन्धका कारण नहीं है।

३—इस सूत्रमें 'आदि' शब्द है उसमें संयमासंयम, अकामनिर्जरा, और बालतपका समावेश होता है।

संयमासंयमः—सम्यग्दृष्टि श्रावकके व्रत।

अकामनिर्जराः—पराधीनतासे—(अपनी बिना इच्छाके) भोग-उपभोगका निरोध होने पर संक्लेशता रहित होना अर्थात् कषायकी मन्दता करना सो अकामनिर्जरा है।

बालतपः—मिथ्यादृष्टिके मद कषायसे होनेवाला तप।

४—इस सूत्रमें 'इति' शब्द है उसमे अरहन्तका पूजन, बाल, वृद्ध या तपस्वी मुनियोंकी वैयावृत्य करनेमें उद्यमी रहना, योगकी सरलता और विनयका समावेश हो जाता है।

योगः—शुभ परिणाम सहित निर्दोष क्रियाविशेषको योग कहते है।

क्षांतिः—शुभ परिणामकी भावनासे क्रोधादि कषायमें होनेवाली तीव्रताके अभावको क्षाति (क्षमा) कहते है।

शौचः—शुभ परिणाम पूर्वक जो लोभका त्याग है सो शौच है। वीतरागी निर्विकल्प क्षमा और शौचको 'उत्तम क्षमा' और 'उत्तम शौच' कहते हैं, वह आस्रवका कारण नहीं है।

अब अनन्त संसारके कारणीभूत दर्शनमोहके आस्रवके कारण कहते हैं

केवलिश्रुतसंघधर्मदेवावर्णवादो दर्शनमोहस्य ॥ १३ ॥

अर्थः—[केवलिश्रुतसंघधर्मदेवावर्णवादः] केवली, श्रुत, संघ, धर्म और देवका अवर्णवाद करना सो [दर्शनमोहस्य] दर्शनमोहनीय कर्मके आस्रवका कारण है।

टीका

१. अवर्णवाद—जिसमें जो दोष न हो उसमें उस दोषका आरोपण करना सो अवर्णवाद है।

केवलित्व, मुनित्व और देवत्व ये आत्माकी ही भिन्न-भिन्न अवस्थाओंके स्वरूप हैं। अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और मुनि ये पांचों पद निश्चयसे आत्मा ही हैं (देखो, योगीन्द्रदेवकृत योगसार गाथा १०४, परमात्मप्रकाश पृष्ठ ३६३, ३६४) इसलिये उनका स्वरूप समझनेमें यदि भूल हो और उनमें न हो ऐसा दोष कल्पित किया जाय तो आत्माका स्वरूप न समझे और मिथ्यात्वभावका पोषण हो। धर्म आत्माका स्वभाव है इसलिये धर्म-सम्बन्धी झूठी दोष-कल्पना करना सो भी महान् दोष है।

२—श्रुतका अर्थ है शास्त्र, वह जिज्ञासु जीवोंके आत्माका स्वरूप समझनेमें निमित्त है, इसीलिये मुमुक्षुओंको सच्चे शास्त्रोंके स्वरूपका भी निर्णय करना चाहिये।

३–केवली भगवानके अवर्णवादका स्वरूप

(१) भूख और प्यास यह पीड़ा है, उस पीड़ासे दुःखी हुए जीव ही आहार लेनेकी इच्छा करते हैं। भूख और प्यासके कारण दुःखका अनुभव होना सो आर्तध्यान है। केवली भगवानके सम्पूर्ण ज्ञान और अनन्त सुख होता है तथा उनके परम शुक्लध्यान रहता है। इच्छा तो वर्तमानमें रहनेवाली दशाके प्रति द्वेष और परवस्तुके प्रति रागका अस्तित्व सूचित करती है। केवली भगवानके इच्छा ही नहीं होती, तथापि ऐसा मानना कि केवली भगवान ग्रासका आहार (कवलाहार) करते हैं यह न्याय-विरुद्ध है। केवली भगवानके सम्पूर्ण वीर्य प्रगट हुआ होनेसे उनके भूख और प्यासकी पीड़ा ही नहीं होती, और अनन्त सुख प्रगट होनेसे इच्छा ही नहीं होती, और बिना इच्छा कवल-आहार कैसा ? जो इच्छा है सो दुःख है—लोभ है, इसलिये केवली भगवानमें आहार लेनेका दोष कल्पित करना सो केवलीका और अपने शुद्ध स्वरूपका अवर्णवाद है। यह दर्शनमोहनीयकर्मके आस्रवका कारण है अर्थात् यह अनन्त संसारका कारण है।

(२) आत्माको वीतरागता और केवलज्ञान प्रगट होनेके बाद शरीरमें रोग या दूसरा कोई दर्द (रोग) हो और उसकी दवा लेने या दवा लानेके लिये किसीको कहना यह असम्भव है* दवा लेनेकी इच्छा होना और दवा लानेके लिये किसी शिष्यको कहना ये सब दुःखका

---

* तीर्थङ्कर भगवानके जन्मसे ही मल-मूत्र नहीं होता और समस्त केवली भगवानोंके केवलज्ञान होनेके बाद रोग, आहार-निहार आदि नहीं होता।

अस्तित्व सूचित करता है, अनन्तसुखके स्वामी केवली भगवानके आकुलता, विकल्प, लोभ, इच्छा या दुःख होनेकी कल्पना अर्थात् केवली भगवानको सामान्य छद्मस्थकी तरह मानना न्याय-विरुद्ध है। यदि आत्मा अपने यथार्थ स्वरूपको समझे तो आत्माकी समस्त दशाओंका स्वरूप ध्यानमें आ जाय। भगवान छद्मस्थ मुनिदशामें करपात्र (हाथमें भोजन करनेवाले) होते हैं और आहारके लिये स्वयं जाते हैं, किन्तु यह अशक्य है कि केवलज्ञान होनेके बाद रोग हो, दवाकी इच्छा उत्पन्न हो और वह लानेके लिये शिष्यको आदेश दें। केवलज्ञान होने पर शरीरकी दशा उत्तम होती है और शरीर परम औदारिक रूपमें परिणमित हो जाता है। उस शरीरमें रोग होता ही नहीं। यह अबाधित सिद्धान्त है कि 'जहां तक राग हो वहां तक रोग हो, परन्तु भगवानको राग नहीं है इसी कारण उनके शरीरको रोग भी कभी होता ही नहीं। इसलिये इससे विरुद्ध मानना सो अपने आत्मस्वरूपका और उपचारसे अनन्त केवलीभगवन्तोंका अवर्णवाद है।

(३) किसी भी जीवके गृहस्थदशामें केवलज्ञान प्रगट होता है ऐसा मानना सो बड़ी भूल है। गृहस्थ दशा छोड़े बिना भावसाधुत्व आ ही नहीं सकता, भावसाधुत्व हुए बिना भी केवलज्ञान कैसे प्रगट हो सकता है ? भावसाधुत्व छट्ठे-सातवें गुणस्थानमें होता है और केवलज्ञान तेरहवें गुणस्थानमें होता है इसलिये गृहस्थदशामें कभी भी किसी जीवके केवलज्ञान नहीं होता। इससे विरुद्ध जो मान्यता है सो अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपका और उपचारसे अनन्त केवली भगवानोंका अवर्णवाद है।

(४) छद्मस्थ जीवोंके जो ज्ञान-दर्शन-उपयोग होता है वह ज्ञेय-सन्मुख होनेसे होता है, इस दशामें एक ज्ञेयसे हटकर दूसरे ज्ञेयकी तरफ प्रवृत्ति करता है, ऐसी प्रवृत्ति के बिना छद्मस्थ जीवका ज्ञान प्रवृत्त नहीं होता; इसीसे पहले चार ज्ञान पर्यन्तके कथनमें उपयोग शब्दका प्रयोग उसके अर्थके अनुसार (—'उपयोग' के अन्वयार्थके अनुसार) कहा जा सकता है; परन्तु केवलज्ञान और केवलदर्शन तो अखण्ड अविच्छिन्न हैं; उसको ज्ञेय-सन्मुख नहीं होना पड़ता अर्थात् केवलज्ञान और केवलदर्शनको एक ज्ञेयसे हटकर दूसरे ज्ञेयकी तरफ नहीं लगाना पड़ता। केवली भगवानके केवलदर्शन और केवलज्ञान एक साथ ही होते हैं। फिर भी ऐसा मानना सो मिथ्या मान्यता है कि "केवली भगवानके तथा सिद्ध भगवानके जिस समय ज्ञानोपयोग होता है तब दर्शनोपयोग नहीं होता और जब दर्शनोपयोग होता तब ज्ञानोपयोग नहीं होता।'- ऐसा मानना कि "केवली भगवानको तथा सिद्ध भगवानको केवलज्ञान प्रगट होनेके बाद जो अनन्तकाल है उसके अर्धकालमें ज्ञानके कार्य बिना और अर्द्धकाल दर्शनके कार्य बिना व्यतीत करना पड़ता है" ठीक है क्या ? नहीं, यह मान्यता

भी न्यायविरुद्ध हो है, इसलिये ऐसी खोटी (-मिथ्या) मान्यता रखना सो अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपका और उपचारसे अनन्त केवली भगवानोंका अवर्णवाद है।

(५) चतुर्थ गुणस्थान—(सम्यग्दर्शन) साथ ले जाने वाला आत्मा पुरुषपर्यायमें ही जन्मता है स्त्रीरूपमें कभी भी पैदा नहीं होता, इसीलिये स्त्रीरूपसे कोई तीर्थंकर नहीं हो सकता, क्योंकि तीर्थंकर होनेवाला आत्मा सम्यग्दर्शन सहित ही जन्मता है और इसीलिये वह पुरुष ही होता है। यदि ऐसा मानेंकि किसी कालमें एक स्त्री तीर्थंकर हो तो भूत और भविष्यकी अपेक्षासे (-चाहे जितने लम्बे समयमें हो तथापि) अनन्त स्त्रियाँ तीर्थंकर हों और इसी कारण यह सिद्धांत भी टूट जायगा कि सम्यग्दर्शन सहित आत्मा स्त्रीरूपमें पैदा नहीं होता, इसलिये स्त्रीको तीर्थंकर मानना सो मिथ्या मान्यता है और ऐसा माननेवालेने आत्माकी शुद्ध दशाका स्वरूप नहीं जाना। वह यथार्थमें अपने शुद्ध स्वरूपका और उपचारसे अनन्त केवली भगवानोंका अवर्णवाद है।

(६) किसी भी कर्मभूमिकी स्त्रीके प्रथमके तीन उत्तम संहननका उदय ही नहीं होता, क्योंकि जीवके केवलज्ञान हो तब पहला ही संहनन होता है ऐसा केवलज्ञान और पहले संहननके निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। स्त्रीके पाँचवें गुणस्थानसे ऊपरकी अवस्था प्रगट नहीं होती, तथापि ऐसा मानना कि स्त्रीके शरीरवाले जीवको उसी भवमें केवलज्ञान होता है सो अपने शुद्ध स्वरूपका अवर्णवाद है और उपचारसे अनन्त केवली भगवानोंका तथा साधुपदका अवर्णवाद है।

(७) भगवानकी दिव्यध्वनि को देव, मनुष्य, तिर्यंच-सब जीव अपनी-अपनी भाषामें अपने ज्ञानकी योग्यतानुसार समझते हैं, उस निरक्षर ध्वनिको ओंकार ध्वनि भी कहा है। श्रोताओंके कर्णप्रदेशतक वह ध्वनि न पहुँचे वहाँ तक वह अनक्षर ही है, और जब वह श्रोताओंके कर्णमें प्राप्त हो तब अक्षररूप होती है। (गो० जी० गाथा २२७ टीका)

तालु, ओठ आदिके द्वारा केवली भगवानकी वाणी नहीं खिरती किन्तु सर्वांग निरक्षरी वाणी खिरती है, इससे विरुद्ध मानना सो आत्माके शुद्धस्वरूपका और उपचारसे केवली भगवानका अवर्णवाद है।

(८) सातवें गुणस्थानसे वस्त्र-खण्डरूपभाव नहीं होता, इसलिये वहाँ व्यवहार विनय-वैयावृत्य आदि नहीं होते। ऐसा मानना कि केवली शिष्योंका विनय करें या कोई जीव केवलज्ञान होनेके बाद कुटुम्ब कुटुम्बियोंके साथ रहे या गृहस्थ भाव रखे—सो यो

● देखो [illegible] गाथा १२।

वीतरागको सरागी माना, और ऐसा मानना न्याय विरुद्ध है कि किसी भी द्रव्यस्त्रीके केवलज्ञान उत्पन्न होता है। 'कर्मभूमिकी महिलाके प्रथम तीन संहनन होते ही नहीं और चौथा संहनन हो तब वह जीव ज्यादासे ज्यादा सोलहवें स्वर्ग तक जा सकता है' (देखो, गोम्मटसार कर्मकांड गाथा २९-३२) इससे विरुद्ध मानना सो आत्माके शुद्ध स्वरूपका और उपचारसे अनन्त-केवली भगवानका अवर्णवाद है।

(९) कुछ लोगोंका ऐसा मानना है कि आत्मा सर्वज्ञ नहीं हो सकता, सो यह मान्यता भूलसे भरी हुई है। आत्माका स्वरूप ही ज्ञान है, ज्ञान क्या नहीं जानता ? ज्ञान सबको जानता है ऐसी उसमें शक्ति है। और वीतराग विज्ञानके द्वारा वह शक्ति प्रगट कर सकता है। पुनश्च, कोई ऐसा मानते हैं कि केवलज्ञानी आत्मा सर्वद्रव्य, उसके अनन्तगुण और उसकी अनन्त पर्यायोंको एक साथ जानता है तथापि उसमेंसे कुछ जाननेमें नहीं आता—जैसे कि एक बच्चा दूसरेसे कितना बड़ा, कितने हाथ लम्बा, एक घर दूसरे घरसे कितने हाथ दूर है इत्यादि बातें केवलज्ञानमें मालूम नहीं होती।' सो यह मान्यता सदोष है। इसमें आत्माके शुद्ध स्वरूपका और उपचारसे अनन्त केवली भगवानों का अवर्णवाद है। भाविकालमें होनहार, सर्व द्रव्यकी सर्व पर्यायें भी केवलज्ञानीके वर्तमान ज्ञानमें निश्चितरूपसे प्रतिभासित हैं, ऐसा न मानना वह भी केवलीको न मानना है।

(१०) ऐसा मानना कि केवली तीर्थंकर भगवानने ऐसा उपदेश किया है कि 'शुभ रागसे धर्म होता है, शुभ व्यवहार करते करते निश्चय धर्म होता है' सो यह उनका अवर्णवाद है। "शुभभावके द्वारा धर्म होता है इसीलिये भगवानने शुभभाव किये थे। भगवानने तो दूसरोंका भला करनेमें अपना जीवन अर्पण कर दिया था" इत्यादि रूपसे भगवानकी जीवन-कथा कहना या लिखना सो अपने शुद्ध स्वरूपका और उपचारसे अनंत केवली भगवानों का अवर्णवाद है।

(११) प्रश्नः—यदि भगवानने परका कुछ नहीं किया तो फिर जगदुद्धारक, तरण-तारण, जीवन-दाता, बोधि-दाता इत्यादि उपनामोंसे क्यों पहचाने जाते हैं ?

उत्तरः—ये सब नाम उपचारसे हैं। जब भगवानको दर्शनविशुद्धिकी भूमिकामें अनिच्छकभावसे धर्मराग हुआ, तब तीर्थंकर नामकर्म बँध गया। तत्त्वस्वरूप यों है कि भगवानको तीर्थंकर प्रकृति बंधते समय जो शुभभाव हुआ था उसे उन्होंने उपादेय नहीं माना था, किन्तु उस शुभभाव और उस तीर्थंकर नामकर्म-दोनोंका अभिप्रायमें निषेध ही था। इसीलिये वे रागको नष्ट करनेका प्रयत्न करते थे; अन्तमें राग दूर कर वीतराग हुये, फिर केवलज्ञान प्रगट हुआ और स्वयं दिव्यध्वनि प्रगट हुई; योग्य जीवोंने उसे सुनकर मिथ्यात्वको छोड़कर

स्वरूप समझा और ऐसे जीवोंने उपचार विनयसे जगत्उद्धारक, तरण-तारण, इत्यादि नाम भगवानको दिये। यदि वास्तवमें भगवानने दूसरे जीवोंका कुछ किया हो या कर सकते हो तो जगत्के सब जीवोंको मोक्षमें साथ क्यों नहीं ले गये? इसलिये शास्त्रका कथन किस नयका है यह लक्षमें रखकर उसका यथार्थ अर्थ समझना चाहिये। भगवानको परका कर्ता ठहराना भी भगवानका अवर्णवाद है।

इत्यादि प्रकारसे आत्माके शुद्ध स्वरूपमें दोषोंकी कल्पना आत्माके अनन्त संसारका कारण है। इसप्रकार केवली भगवानके अवर्णवादका स्वरूप कहा।

४ श्रुतके अवर्णवादका स्वरूप

१—जो शास्त्र न्यायकी कसौटी पर चढ़ाने पर अर्थात् सम्यग्ज्ञानके द्वारा परीक्षा करने पर प्रयोजनभूत बातोंमें सच्चे यथार्थ मालूम पड़ें उन्हें ही यथार्थ-ठीक मानना चाहिये। जब लोगोंकी स्मरण-शक्ति कमजोर हो तब ही शास्त्र लिखनेकी पद्धति होती है, इसीलिये लिखे हुए शास्त्र गणधर श्रुतकेवलीके गूंथे हुये शब्दोंमें ही न हों, किन्तु सम्यग्ज्ञानी आचार्योंने उनके यथार्थ भाव जानकर अपनी भाषामें गूंथे हों वह भी सत्श्रुत हैं।

(२) सम्यग्ज्ञानी आचार्य आदिके बनाये हुये शास्त्रोंकी निंदा करना सो अपने सम्यग्ज्ञानकी ही निंदा करनेके सदृश है, क्योंकि जिसने सच्चे शास्त्रकी निंदा की उसका ऐसा भाव हुआ कि मुझे ऐसे सच्चे निमित्तका संयोग न हो किन्तु खोटे निमित्तका संयोग हो अर्थात् मेरा उपादान सम्यग्ज्ञानके योग्य न हो किन्तु मिथ्याज्ञानके योग्य हो।

(३) किसी ग्रन्थके कर्ताके रूपमें तीर्थंकर भगवानका, केवलीका, गणधरका या आचार्यका नाम दिया हो इसीलिये उसे सच्चा शास्त्र मान लेना सो न्याय-संगत नहीं। मुमुक्षु जीवोंको तत्त्वसहित परीक्षा करके सत्य-असत्यका निर्णय करना चाहिये। भगवानके नामसे किसीने कल्पित शास्त्र बनाया हो उसे सत्श्रुत मान लेना सो सत्श्रुतका अवर्णवाद है। जिन शास्त्रोंमें मांस भक्षण, मदिरा-पान, वेदनासे पीड़ित मैथुन सेवन, रात्रिभोजन इत्यादिको निर्दोष कहा हो, सती स्त्रीको पांच पति कहे हों, तीर्थंकर भगवानके दो माता, दो पिता कहे हों वे शास्त्र यथार्थ नहीं, इसलिये सत्यासत्यकी परीक्षा कर असत्यकी मान्यता छोड़ना

५ संघके अवर्णवादका स्वरूप

प्रथम निश्चय सम्यग्दर्शनरूप धर्म प्राप्त करना चाहिये ऐसा नियम है। सम्यग्दर्शन प्राप्त होनेके बाद जिसे सातवां-छट्ठा गुणस्थान प्राप्त हो उसके सच्चा साधुत्व होता है, उसके

शरीर परकी स्पर्शेन्द्रियका राग, लज्जा तथा रक्षादिकका राग भी दूर हो जाता है; इसी-लिये उनके सर्दी, गर्मी, बरसात आदिसे रक्षा करने का भाव नहीं होता; मात्र संयमके हेतु इस पदके योग्य निर्दोष शुद्ध आहारकी इच्छा होती है, इसीसे उस गुणस्थानवाले जीवोंके अर्थात् साधुके शरीर या संयमकी रक्षाके लिये भी वस्त्र नहीं होते। तथापि ऐसा मानना कि जब तीर्थंङ्कर भगवान दीक्षा लेते हैं तब धर्मबुद्धिसे देव उन्हें वस्त्र देते हैं और भगवान उसे अपने साथ रखते हैं, सो न्याय-विरुद्ध है। इसमें संघ और देव दोनोंका अवर्णवाद है। स्त्रीलिंगके साधुत्व मानना, अतिशूद्र जीवोंको साधुत्व होना मानना सो संघका अवर्णवाद है। देहके ममत्वसे रहित, निर्ग्रन्थ, वीतराग मुनियोंके देहको अपवित्र कहना, निर्लज्ज कहना, बेशरम कहना, तथा ऐसा कहना कि 'जब यहां भी दुःख भोगते हैं तो परलोकमें कैसे सुखी होंगे' सो संघ का अवर्णवाद है।

साधु-संघ चार प्रकारका है। वह इसप्रकार है:—जिनके ऋद्धि प्रगट हुई हो सो ऋषि; जिनके अवधि-मनःपर्यय ज्ञान हो सो मुनि; जो इन्द्रियोंको जीते सो यति और अनगार यानी सामान्य साधु।

६. धर्मके अवर्णवादका स्वरूप

जो आत्मस्वभावके स्वाश्रयसे शुद्ध परिणमन है सो धर्म है; सम्यग्दर्शन प्रगट होने पर यह धर्म प्रारम्भ होता है। शरीरकी क्रियासे धर्म नहीं होता, पुण्य विकार है अतः उससे धर्म नहीं होता तथा वह धर्ममें सहायक नहीं होता। ऐसा धर्मका स्वरूप है। इससे विपरीत मानना सो धर्मका अवर्णवाद है। "जिनेन्द्र भगवानके कहे हुए धर्ममें कुछ भी गुण नहीं है, उसके सेवन करनेवाले असुर होंगे, तीर्थंङ्कर भगवानने जो धर्म कहा है उसी रूपसे जगत्के अन्यमतोंके प्रवर्तक भी कहते हैं, सबका ध्येय समान है।" ऐसा मानना सो धर्मका अवर्णवाद है।

आत्माके यथार्थ स्वरूपको समझना, और सच्ची मान्यता करना तथा खोटी मान्यता छोड़ना सो सम्यग्दर्शनकी अपेक्षासे आत्माकी अहिंसा है और क्रम-क्रमसे सम्यक्चारित्र बढ़ने पर जितना राग-द्वेषका अभाव होता है उतनी चारित्र-अपेक्षा आत्माकी अहिंसा है। राग-द्वेष सर्वथा दूर हो जाता है यह आत्माकी सम्पूर्ण अहिंसा है। ऐसी अहिंसा जीवका धर्म है, इसप्रकार अनन्त ज्ञानियोंने कहा है; इससे विरुद्ध जो मान्यता है सो धर्मका अवर्णवाद है।

७. देवके अवर्णवादका स्वरूप

स्वर्गके देवके एक प्रकारका अवर्णवाद ५ वें पैराग्राफमें बतलाया है। उसके बाद ये

देव मांस-भक्षण करते हैं, मद्यपान करते हैं, भोजनादिक करते हैं, मनुष्यिनी—स्त्रियोंके साथ कामसेवन करते हैं—इत्यादि मान्यता देवका अवर्णवाद है।

८—ये पांच प्रकारके अवर्णवाद दर्शनमोहनीयके आस्रवका कारण हैं, और जो दर्शन मोह है सो अनन्त संसारका कारण है।

९. इस सूत्रका सिद्धान्त

शुभविकल्पसे धर्म होता है ऐसी मान्यतारूप अगृहीत-मिथ्यात्व तो जीवके अनादिसे चला आया है। मनुष्य गतिमें जीव जिस कुलमें जन्म पाता है उस कुलमें अधिकतर किसी न किसी प्रकारसे धर्मकी मान्यता होती है। पुनश्च उस कुलधर्ममें किसीको देवरूपसे, किसीको गुरुरूपसे, किसी पुस्तकको शास्त्ररूपसे और किसी क्रियाको धर्मरूपसे माना जाता है। जीवको बचपनमें इस मान्यताका पोषण मिलता है और बड़ी उमरमें अपने कुलके धर्मस्थानमें जानेपर वहाँ भी मुख्यरूपसे उसी मान्यताका पोषण मिलता है। इस अवस्थामें जीव विवेक पूर्वक सत्य-असत्यका निर्णय अधिकतर नहीं करता और सत्य-असत्यके विवेकसे रहित दशा होनेसे सच्चे देव, गुरु, शास्त्र और धर्म पर अनेक प्रकार झूठे आरोप करता है। यह मान्यता इस भवमें नई ग्रहण की हुई होनेसे और मिथ्या होनेसे उसे गृहीत मिथ्यात्व कहते हैं। ये अगृहीत और गृहीत मिथ्यात्व अनन्त संसारके कारण हैं। इसलिए सच्चे देव-गुरु-शास्त्र-धर्मका और अपने आत्माका यथार्थ स्वरूप समझकर अगृहीत तथा गृहीत दोनों मिथ्यात्वका नाश करनेके लिए ज्ञानियोंका उपदेश है। (अगृहीत मिथ्यात्वका विषय आठवें बन्ध अधिकारमें आवेगा)। आत्माका न मानना, सत्य मोक्षमार्गको दूषित-कल्पित करना, असत् मार्गको सत्य मोक्षमार्ग मानना, परम सत्य वीतरागी विज्ञानमय उपदेशकी निंदा करना—इत्यादि जो-जो काम सम्यग्दर्शनको मलिन करते हैं वे सब दर्शन-मोहनीयके आस्रवका कारण हैं ॥ १३ ॥

अब चारित्र मोहनीयके आस्रवके कारण बतलाते हैं

कषायोदयात्तीव्रपरिणामश्चारित्रमोहस्य ॥१४॥

अर्थ—[कषायोदयात्] कषायके उदयसे [तीव्रपरिणामः] तीव्र परिणाम होना सो [चारित्रमोहस्य] चारित्र मोहनीयके आस्रवका कारण है।

टीका

१—कषायकी व्याख्या इस अध्यायके पांचवें सूत्रमें कही जा चुकी है। उदयका अर्थ विपाक-अनुभव है। ऐसा समझना चाहिये कि जीव कषाय-कर्मके उदयमें युक्त होकर जितना राग-द्वेष करता है उतना उस जीवके कषायका उदय-विपाक (-अनुभव) हुआ। कषायकर्मके उदयमें युक्त होनेसे जीवको जो तीव्रभाव होता है वह चारित्रमोहनीयकर्मके आस्रवका कारण (-निमित्त) है ऐसा समझना।

२—चारित्रमोहनीयके आस्रवका इस सूत्रमें संक्षेपमें वर्णन है; उसका विस्तृत वर्णन निम्नप्रकार है:—

(१) अपने तथा परको कषाय उत्पन्न करना।

(२) तपस्वीजनोंको चारित्र-दोष लगाना।

(३) संक्लेश परिणामको उत्पन्न करानेवाला भेष, व्रत इत्यादि धारण करना, इत्यादि लक्षणवाला परिणाम कषायकर्मके आस्रवका कारण है।

(१) गरीबोंका अति हास्य करना।

(२) बहुत ज्यादा व्यर्थ प्रलाप करना। (३) हँसीका स्वभाव रखना। इत्यादि लक्षणवाला परिणाम हास्यकर्मके आस्रवका कारण है।

(१) विचित्र क्रीड़ा करनेमें तत्परता होना।

(२) व्रत-शीलमें अरुचि परिणाम करना।

इत्यादि लक्षणवाले परिणाम रतिकर्मके आस्रवका कारण हैं।

(१) परको अरति उत्पन्न कराना। (२) परकी रतिका विनाश करना।

(३) पाप करनेका स्वभाव होना। (४) पापका संसर्ग करना।

इत्यादि लक्षणवाले परिणाम अरतिकर्मके आस्रवका कारण हैं।

(१) दूसरेको शोक पैदा करना। (२) दूसरेके शोकमें हर्ष मानना।

इत्यादि लक्षणवाले परिणाम शोककर्मके आस्रवका कारण हैं।

(१) स्वयंके भयरूप भाव रखना। (२) दूसरेको भय उत्पन्न कराना।

इत्यादि लक्षणवाले परिणाम भयकर्मके आस्रवके कारण हैं।

भली क्रिया—आचारके प्रति ग्लानि आदिके परिणाम होना सो जुगुप्साकर्मके आस्रवका कारण है।

(१) झूठ बोलनेका स्वभाव होना। (२) मायाचारमें तत्पर रहना।

(३) परके छिद्रकी आकांक्षा अथवा बहुत ज्यादा राग होना इत्यादि परिणाम स्त्रीवेदकर्मके आस्रवका कारण हैं।

(१) थोड़ा क्रोध होना। (२) इष्ट पदार्थोंमें आसक्तिका कम होना।

(२) अपनी स्त्रीमें सन्तोष होना।

इत्यादि परिणाम पुरुषवेदकर्मके आस्रवका कारण हैं।

(१) कषायकी प्रबलता होना।

(२) गुह्य इन्द्रियोंका छेदन करना। (३) परस्त्रीगमन करना।

इत्यादि परिणाम होना सो नपुंसकवेदके आस्रवका कारण है।

३—'तीव्रता बन्धका कारण है और सर्वजघन्यता बन्धका कारण नहीं है' यह सिद्धान्त आत्माके समस्त गुणोंमें लागू होता है। आत्मामें होनेवाला मिथ्यादर्शनका जो जघन्यसे भी जघन्य भाव होता है वह दर्शन-मोहनीयकर्मके आस्रवका कारण नहीं है। यदि अंतिम अंश भी बन्धका कारण हो तो कोई भी जीव व्यवहारसे कर्मरहित नहीं हो सकता। (देखो, अध्याय ५ सूत्र ३४ की टीका) ॥ १४ ॥

अब आयु कर्मके आस्रवके कारण कहते हैं—

नरकायुके आस्रवके कारण

बह्वारम्भपरिग्रहत्वं नारकस्यायुषः ॥ १५ ॥

अर्थः—[बह्वारम्भपरिग्रहत्वं] बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रह होना सो [नारकस्यायुषः] नरकायुके आस्रवका कारण है।

१ बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रह रखनेका जो भाव है सो नरकायुके आस्रवका कारण है। 'बहु' शब्द संख्यावाचक तथा परिणामवाचक है, ये दोनों अर्थ यहाँ लागू होते हैं। अधिक संख्यामें आरम्भ—परिग्रह रखनेसे नरकायुका आस्रव होता है। आरम्भ-परिग्रह रखनेके बहु परिणामसे नरकायुका आस्रव होता है, बहु आरम्भ-परिग्रहका जो भाव है सो उपादानकारण है और जो बाह्य बहुत आरम्भ-परिग्रह है सो निमित्तकारण है।

२ आरम्भ—हिंसादि प्रवृत्तिका नाम आरम्भ है। जितना भी आरम्भ किया

जाता है उसमें स्थावरादि जीवोंका नियमसे वध होता है। आरम्भके साथ 'बहु' शब्दका समास करके ज्यादा आरम्भ अथवा बहुत तीव्र परिणामसे जो आरम्भ किया जाता है वह बहु आरम्भ है, ऐसा अर्थ समझना।

३. परिग्रह—'यह वस्तु मेरी है, मैं इसका स्वामी हूँ'—ऐसा परमें अपनेपनका अभिमान अथवा पर वस्तुमें 'यह मेरी है' ऐसा जो संकल्प है सो परिग्रह है। केवल बाह्य धन-धान्यादि पदार्थोंमें ही 'परिग्रह' नाम लागू होता है यह बात नहीं है; बाह्यमें किसी भी पदार्थके न होने पर भी यदि भावमें ममत्व हो तो वहां भी परिग्रह कहा जा सकता है।

४. सूत्रमें जो नरकायुके आस्रवके कारण बताये हैं वे संक्षेपसे हैं, उन भावोंका विस्तृत वर्णन निम्नप्रकार है:—

(१) मिथ्यादर्शन सहित हीनाचारमें तत्पर रहना।

(२) अत्यन्त मान करना।

(३) शिलाभेदकी तरह अत्यन्त तीव्र क्रोध करना।

(४) अत्यन्त तीव्र लोभका अनुराग रहना।

(५) दया रहित परिणामोंका होना।

(६) दूसरोंको दुःख देनेका विचार रखना।

(७) जीवोंको मारने तथा बांधनेका भाव करना।

(८) जीवोंके निरन्तर घात करनेका परिणाम रखना।

(९) जिसमें दूसरे प्राणीका वध हो ऐसे झूठे वचन बोलनेका स्वभाव रखना।

(१०) दूसरोंके धन हरण करनेका स्वभाव रखना।

(११) दूसरोंकी स्त्रियोंको आलिंगन करनेका स्वभाव रखना।

(१२) मैथुन-सेवनसे विरक्त न होना।

(१३) अत्यन्त आरम्भमें इन्द्रियोंको लगाये रखना।

(१४) काम-भोगोंकी अभिलाषाको सदैव बढाते रहना।

(१५) शील सदाचार रहित स्वभाव रखना।

(१६) अभक्ष्य-भक्षणको ग्रहण करने अथवा करानेका भाव रखना।

(१७) अधिक काल तक वैर बांधे रखना।

(१८) महा क्रूर स्वभाव रखना।
(१९) बिना विचारे रोने-कूटनेका स्वभाव रखना।
(२०) देव-गुरु-शास्त्रोंमें मिथ्या दोष लगाना।
(२१) कृष्ण लेश्याके परिणाम रखना।
(२२) रौद्रध्यानमें मरण करना।

इत्यादि लक्षणवाले परिणाम नरकायुके कारण होते हैं॥ १५॥

अब तिर्यंचायुके आस्रवके कारण बतलाते हैं

माया तैर्यग्योनस्य ॥ १६ ॥

अर्थ—[माया] माया-छलकपट [तैर्यग्योनस्य] तिर्यंचायुके आस्रवका कारण है।

टीका

जो आत्माका कुटिल स्वभाव है, उससे तिर्यंच योनिका आस्रव होता है। तिर्यंचायुके आस्रवके कारणका इस सूत्रमें जो वर्णन किया है वह संक्षेप में है। उन भावोंका विस्तृत वर्णन निम्नप्रकार है—

(१) मायासे मिथ्याधर्मका उपदेश देना।
(२) बहुत आरम्भ-परिग्रहमें कपटयुक्त परिणाम करना।
(३) कपट-कुटिल कर्ममें तत्पर होना।
(४) पृथ्वीभेद सदृश क्रोधीपना होना।
(५) शीलरहितपना होना।
(६) शब्दसे-चेष्टासे तीव्र मायाचार करना।
(७) परके परिणाममें भेद उत्पन्न करना (८) अति अनर्थ प्रगट करना।
(९) गन्ध-रस-स्पर्शका विपरीतपना होना।
(१०) जाति-कुल-शीलमें दूषण लगाना।
(११) विसंवादमें प्रीति रखना। (१२) दूसरेके उत्तम गुणको छिपाना।
(१३) अपनेमें जो गुण नहीं हैं उन्हें भी बतलाना।
(१४) नील-कपोत लेश्यारूप परिणाम करना।

(१५) आर्तध्यानमें मरण करना ।

इत्यादि लक्षणवाले परिणाम तिर्यंचायुके आस्रवके कारण हैं ॥ १६ ॥

अब मनुष्यायुके आस्रवके कारण बतलाते हैं

अल्पारम्भपरिग्रहत्वं मानुषस्य ॥१७॥

अर्थः—[अल्पारम्भपरिग्रहत्वं] थोड़ा आरम्भ और थोड़ा परिग्रहपन [मानुषस्य] मनुष्य-आयुके आस्रवका कारण है ।

टीका

नरकायुके आस्रवका कथन १५ वें सूत्रमें किया जा चुका है। उस नरकायुके आस्रवसे जो विपरीत है सो मनुष्यायुके आस्रवका कारण है । इस सूत्रमें मनुष्यायुके कारणका संक्षेपमें कथन है, उसका विस्तृत वर्णन निम्नप्रकार है:—

(१) मिथ्यात्वसहित बुद्धिका होना । (२) स्वभावमें विनय होना ।
(३) प्रकृतिमें भद्रता होना ।
(४) परिणामोंमें कोमलता होना और मायाचारका भाव न होना ।
(५) श्रेष्ठ आचरणोंमें सुख मानना ।
(६) बालूकी रेखाके समान क्रोधका होना ।
(७) विशेष गुणी पुरुषोंके साथ प्रिय व्यवहार होना ।
(८) थोड़ा आरम्भ और थोड़ा परिग्रह रखना ।
(९) संतोष रखनेमें रुचि करना । (१०) प्राणियोंके घातसे विरक्त होना ।
(११) बुरे कार्योंसे निवृत्त होना ।
(१२) मनमें जो बात है उसीके अनुसार सरलतासे बोलना ।
(१३) व्यर्थ बकवाद न करना । (१४) परिणामोंमें मधुरताका होना ।
(१५) सभी लोगोंके प्रति उपकारबुद्धि रखना ।
(१६) परिणामोंमें वैराग्यवृत्ति रखना ।
(१७) किसीके प्रति ईर्ष्याभाव न रखना ।
(१८) दान देनेका स्वभाव रखना ।

(१९) कपोत तथा पीत लेश्या सहित होना।

(२०) धर्मध्यानमें मरण होना।

इत्यादि लक्षणवाले परिणाम मनुष्यायुके आस्रवके कारण हैं।

प्रश्नः—जिसकी बुद्धि मिथ्यादर्शनसहित हो उसके मनुष्यायुका आस्रव क्यों कहा?

उत्तरः—मनुष्य, तिर्यंचके सम्यक्त्व परिणाम होने पर वे कल्पवासी देवकी आयुका बन्ध करते हैं, वे मनुष्यायुका बन्ध नहीं करते, इतना बतानेके लिये उपरोक्त कथन किया है ॥ १७ ॥

मनुष्यायुके आस्रवका कारण (चालू है)

स्वभावमार्दवं च ॥ १८ ॥

अर्थः—[स्वभावमार्दव] स्वभावसे ही सरल परिणाम होना [च] भी मनुष्यायुके आस्रवका कारण है।

टीका

१—इस सूत्रको सत्रहवें सूत्रसे पृथक् लिखनेका कारण यह है कि इस सूत्रमें बताई हुई बात देवायुके आस्रवका भी कारण होती है।

२—यहाँ 'स्वभाव' का अर्थ 'आत्माका शुद्ध स्वभाव' न समझना क्योंकि निज-स्वभाव बन्धका कारण नहीं होता। यहा 'स्वभाव' का अर्थ है 'किसीके बिना सिखाये।' मार्दव भी आत्माका एक शुद्ध स्वभाव है, परन्तु यहाँ मार्दवका अर्थ 'शुभभावरूप (मंदकषायरूप) सरल परिणाम' करना, क्योंकि जो शुद्धभावरूप मार्दव है वह बन्धका कारण नहीं है किन्तु शुभ-भावरूप जो मार्दव है वही बन्धका कारण है ॥ १८ ॥

अब सभी आयुओंके आस्रवके कारण बतलाते हैं

निःशीलव्रतत्वं च सर्वेषाम् ॥१९॥

अर्थः—[निःशीलव्रतत्वं च] शील और व्रतका जो अभाव है वह भी [सर्वेषाम्] सभी प्रकारकी आयुके आस्रवका कारण है।

टीका

प्रश्नः—जो शील और व्रतरहित होता है उसके देवायुका आस्रव कैसे होता है?

उत्तरः—भोगभूमिके जीवोंके शील व्रतादिक नहीं हैं तो भी देवायुका ही आस्रव होता है;

२—यह बात विशेष ध्यानमें रहे कि मिथ्यादृष्टिके सच्चे शील या व्रत नहीं होते। मिथ्यादृष्टि जीव चाहे जितने शुभरागरूप शीलव्रत पालता हो तो भी वह सच्चे शीलव्रतसे रहित ही है। सम्यग्दृष्टि होनेके बाद यदि जीव अणुव्रत या महाव्रत धारण करे तो उतने मात्रसे वह जीव आयुके बन्धसे रहित नहीं हो जाता; सम्यग्दृष्टिके अणुव्रत भी देवायुके आस्रवके कारण हैं, क्योंकि वह भी राग है। मात्र वीतरागभाव ही बन्धका कारण नहीं होता, किसी भी प्रकारका राग हो वह आस्रव होनेसे बन्धका ही कारण है॥ १६॥

अब देवायुके आस्रवके कारण बतलाते हैं

सरागसंयमसंयमासंयमाकामनिर्जराबालतपांसि दैवस्य ॥२०॥

अर्थः—[सरागसंयमसंयमासंयमाकामनिर्जराबालतपांसि] सरागसंयम, संयमासंयम, अकामनिर्जरा और बालतप [दैवस्य] ये देवायुके आस्रवके कारण हैं।

टीका

१—इस सूत्रमें बताये गये भावोंका अर्थ पहले १२ वें सूत्रकी टीकामें आ चुका है। परिणाम बिगड़े बिना मंदकषाय रखकर दुःख सहन करना सो अकामनिर्जरा है।

२—मिथ्यादृष्टिके सरागसंयम और संयमासंयम नहीं होते किन्तु 'बालतप' होता है। इसलिये बाह्यव्रत धारण किये होने मात्रसे ऐसा नहीं मान लेना कि उस जीवके सरागसंयम या संयमासंयम है। सम्यग्दर्शन होनेके बाद पांचवें गुणस्थानमें अणुव्रत अर्थात् संयमासंयम और छट्ठे गुणस्थानमें महाव्रत अर्थात् सरागसंयम होता है। ऐसा भी होता है कि सम्यग्दर्शन होने पर भी अणुव्रत या महाव्रत नहीं होते। ऐसे जीवोंके वीतरागदेवके दर्शन-पूजा, स्वाध्याय, अनुकम्पा इत्यादि शुभभाव होते हैं, पहलेसे चौथे गुणस्थान पर्यन्त उस तरहके शुभभाव होते हैं; किन्तु वहां व्रत नहीं होते। अज्ञानीके माने हुये व्रत और तपको बालतप कहा है। 'बालतप' शब्द तो इस सूत्रमें बतलाया है और बालव्रतका समावेश ऊपरके (१६ वें) सूत्रमें होता है।

३—यहां भी यह जानना कि सरागसंयम और संयमासंयममें जितना वीतरागी-भावरूप संयम प्रगट हुआ है वह आस्रवका कारण नहीं है किन्तु उसके साथ जो राग रहता है वह आस्रवका कारण है॥ २०॥

देवायुके आस्रवके कारण

सम्यक्त्वं च ॥ २१ ॥

अर्थ:—[सम्यक्त्वं च] सम्यग्दर्शन भी देवायुके आस्रवका कारण है अर्थात् सम्यग्दर्शनके साथ रहा हुआ जो राग है वह भी देवायुके आस्रवका कारण है।

टीका

१—यद्यपि सम्यग्दर्शन शुद्धभाव होनेसे किसी भी कर्मके आस्रवका कारण नहीं है तथापि उस भूमिकामें जो रागांश मनुष्य और तिर्यंचके होता है वह देवायुके आस्रवका कारण होता है। सरागसंयम और संयमासंयमके सम्बन्धमें भी यही बात है—यह ऊपर कहा गया है।

२—देवायुके आस्रवके कारण सम्बन्धी २०वां सूत्र कहनेके बाद यह सूत्र पृथक् लिखनेका यह प्रयोजन है कि सम्यग्दृष्टि मनुष्य तथा तिर्यंचको जो राग होता है वह वैमानिक देवायुके ही आस्रवका कारण होता है वह राग हलके देवोंकी (भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषी देवोंकी) आयुका कारण नहीं होता।

३—सम्यग्दृष्टिके जितने अंशमें राग नहीं है उतने अंशमें आस्रव-बन्ध नहीं है और जितने अंशमें राग है उतने अंशमें आस्रव बन्ध है। (देखो, श्री अमृतचन्द्राचार्य कृत पुरुषार्थ सिद्धयुपाय-गाथा २१२ से २१४) सम्यग्दर्शन स्वयं अबन्ध है अर्थात् वह स्वयं किसी तरहके बन्धका कारण नहीं है। और ऐसा होता ही नहीं कि मिथ्यादृष्टिको किसी भी अंशमें रागका अभाव हो इसीलिये वह सम्पूर्णरूपसे हमेशा बन्धभावमें ही होता है।

यहाँ आयुकर्मका आस्रव सम्बन्धी वर्णन पूर्ण हुआ ॥ २१ ॥

अब नामकर्मके आस्रवका कारण बताते हैं—

अशुभ नामकर्मके आस्रवके कारण

योगवक्रता विसंवादनं चाशुभस्य नाम्नः ॥ २२ ॥

अर्थ:—[योगवक्रता] योगमें कुटिलता [विसंवादनं च] और विसंवादन अर्थात् अन्यथा प्रवर्तन [अशुभस्य नाम्नः] अशुभ नामकर्मके आस्रवका कारण है।

टीका

१—आत्माके परिस्पन्दनका नाम योग है। (देखो, इस अध्यायके पहले सूत्रकी टीका)

मात्र अकेला योग सातावेदनीयके आस्रवका कारण है। योगमें वक्रता नहीं होती किन्तु उपयोगमें वक्रता (–कुटिलता) होती है। जिस योगके साथ उपयोगकी वक्रता रहती हो वह अशुभ नामकर्मके आस्रवका कारण है। आस्रवके प्रकरणमें योगकी मुख्यता है और बन्धके प्रकरणमें बन्ध–परिणामकी मुख्यता है, इसीलिये इस अध्यायमें और इस सूत्रमें योग शब्दका प्रयोग किया है। परिणामोंकी वक्रता जड़–मन, वचन या कायमें नहीं होती किन्तु उपयोगमें होती है। यहाँ आस्रवका प्रकरण होने और आस्रवका कारण योग होनेसे, उपयोगकी वक्रताको उपचारसे योग कहा है। योगके विसम्वादनके सम्बन्धमें भी इसी तरह समझना।

२ **प्रश्नः**—विसंवादनका अर्थ अन्यथा प्रवर्तन होता है और उसका समावेश वक्रतामें हो जाता है तथापि 'विसंवादन' शब्द अलग किसलिये कहा ?

उत्तरः—जीवकी स्वकी अपेक्षासे योग-वक्रता कही जाती है और परकी अपेक्षासे विसंवादन कहा जाता है। मोक्षमार्गमें प्रतिकूल ऐसी मन–वचन–काय द्वारा जो खोटी प्रयोजना करना सो योग–वक्रता है और दूसरेको वैसा करनेके लिये कहना विसम्वादन है। कोई जीव शुभ करता हो उसे अशुभ करनेको कहना सो भी विसंवादन है। कोई जीव शुभराग करता हो और उसमें धर्म मानता हो उसे ऐसा कहना कि शुभरागसे धर्म नहीं होता किन्तु बन्ध होता है और यथार्थ समझ तथा वीतरागभावसे धर्म होता है ऐसा उपदेश देना सो विसंवादन नहीं है, क्योंकि उसमें तो सम्यक् न्यायका प्रतिपादन है, इसीलिये उस कारणसे बन्ध नहीं होता।

३—इस सूत्रके 'च' शब्दमे मिथ्यादर्शनका सेवन, किसीको बुरा वचन बोलना, चित्तकी अस्थिरता, कपटरूप माप–तोल, परकी निन्दा, अपनी प्रशंसा इत्यादिका समावेश हो जाता है ॥ २२ ॥

शुभ नामकर्मके आस्रवका कारण

तद्विपरीतं शुभस्य ॥ २३ ॥

अर्थः—[तद्विपरीतं] उससे अर्थात् अशुभ नामकर्मके आस्रवके जो कारण कहे उनसे विपरीतभाव [शुभस्य] शुभ नामकर्मके आस्रवका कारण है।

टीका

१—बाईसवें सूत्रमे योगकी वक्रता और विसंवादको अशुभ कर्मके आस्रवके कारण

कहे, उससे विपरीत अर्थात् सरलता होना और अन्यथा प्रवृत्तिका अभाव होना सो शुभ नाम कर्मके आस्रवके कारण हैं।

२—यहां 'सरलता' शब्दका अर्थ 'अपनी शुद्धस्वभावरूप सरलता' नहीं समझना किन्तु 'शुभभावरूप सरलता' समझना। और जो अन्यथा प्रवृत्तिका अभाव है सो भी शुभभावरूप समझना। शुद्ध भाव आस्रव-बन्धका कारण नहीं होता ॥ २३ ॥

अब तीर्थंकर नामकर्मके आस्रवके कारण बतलाते हैं

दर्शनविशुद्धिर्विनयसम्पन्नताशीलव्रतेष्वनतीचारोऽभीक्ष्णज्ञानोपयोग-संवेगौ शक्तितस्त्यागतपसीसाधु-समाधिर्वैयावृत्यकरणमर्हदाचार्यबहु-श्रुतप्रवचनभक्तिरावश्यकापरिहाणिर्मार्गप्रभावनाप्रवचनवत्सलत्वमिति तीर्थंकरत्वस्य ॥ २४ ॥

अर्थः—[दर्शनविशुद्धिः] १-दर्शनविशुद्धि, [विनयसम्पन्नता] २-विनयसम्पन्नता, [शीलव्रतेष्वनतिचारः] ३-शील और व्रतोंमें अनतिचार अर्थात् अतिचारका न होना, [अभीक्ष्णज्ञानोपयोग] ४-निरन्तर ज्ञानोपयोग, [संवेग] ५-संवेग अर्थात् संसारसे भयभीत होना, [शक्तितस्त्यागतपसी] ६-७-शक्तिके अनुसार त्याग तथा तप करना, [साधुसमाधि] ८-साधुसमाधि, [वैयावृत्यकरणम्] ९-वैयावृत्य करना, [अर्हदाचार्यबहुश्रुतप्रवचनभक्तिः] १०-१३-अर्हंत्-आचार्य-बहुश्रुत (उपाध्याय) और प्रवचन (शास्त्र)के प्रति भक्ति करना, [आवश्यकापरिहाणिः] १४-आवश्यकमें हानि न करना, [मार्गप्रभावना] १५-मार्गप्रभावना और [प्रवचनवत्सलत्वम्] १६-प्रवचन-वात्सल्य [इति तीर्थंकरत्वस्य] ये सोलह भावना तीर्थंकर-नामकर्मके आस्रवका कारण हैं।

टीका

इन सभी भावनाओंमें दर्शनविशुद्धि मुख्य है, इसीलिये यह प्रथम ही बतलाई गई है, इसके अभावमें अन्य सभी भावनायें हों तो भी तीर्थंकर नामकर्मका आस्रव नहीं होता।

सोलह भावनाओंके सम्बन्धमें विशेष वर्णनः—

(१) दर्शन-विशुद्धि

दर्शनविशुद्धि अर्थात् सम्यग्दर्शनकी विशुद्धि। सम्यग्दर्शन स्वयं आत्माकी शुद्ध पर्याय होनेसे बन्धका कारण नहीं है, किन्तु सम्यग्दर्शनकी भूमिकामें एक खास प्रकारकी कषायकी

विशुद्धि होती है, वह तीर्थंकर नामकर्मके बन्धका कारण होती है। दृष्टांत—वचन-कर्मको (अर्थात् वचनरूपी कार्यको) योग कहा जाता है। परन्तु 'वचनयोग'का अर्थ ऐसा होता है कि 'वचन द्वारा होनेवाला जो आत्मकर्म सो योग है' क्योंकि जड़ वचन किसी बन्धके कारण नही हैं। आत्मामे जो आस्रव होना है वह आत्माकी चंचलतासे होता है, पुद्गल तो निमित्तमात्र है।

सिद्धांतः—दर्शनविशुद्धिको तीर्थंकर नामकर्मके आस्रवका कारण कहा है, वहा वास्तवमें दर्शनकी शुद्धि स्वयं आस्रव-बन्धका कारण नही है, किन्तु राग ही बन्धका कारण है। इसीलिये दर्शनविशुद्धिका अर्थ ऐसा समझना योग्य है कि 'दर्शनके साथ रहा राग।' किसी भी प्रकारके बन्धका कारण कपाय ही है। सम्यग्दर्शनादि बन्धके कारण नहीं हैं। सम्यग्दर्शन जो आत्माको बन्धसे छुडानेवाला है, वह स्वयं बन्धका कारण कैसे हो सकता है? तीर्थंकर नामकर्म भी आस्रव-बन्ध ही है, इसीलिये सम्यग्दर्शनादि भी वास्तवमें उसका कारण नही है। सम्यग्दृष्टि जीवके जिनोपदिष्ट निर्ग्रन्थ मार्गमे जो दर्शन सम्बन्धी धर्मानुराग होना है वह दर्शनविशुद्धि है। सम्यग्दर्शनके शंकादि दोप दूर हो जानेसे वह विशुद्धि होती है।

(देखो, तत्त्वार्थसार अध्याय ४ गाथा ४९ से ५२ की टीका पृष्ठ २२१)

(२) विनयसम्पन्नता

१—विनयसे परिपूर्ण रहना सो विनयसपन्नता है। सम्यग्ज्ञानादि गुणोंका तथा ज्ञानादि गुणसंयुक्त ज्ञानीका आदर उत्पन्न होना सो विनय है। इस विनयमे जो राग है वह आस्रव-बंधका कारण है।

२—विनय दो तरहकी है—एक शुद्धभावरूप विनय है, उसे निश्चय-विनय भी कहा जाता है। अपने शुद्धस्वरूपमें स्थिर रहना सो निश्चय-विनय है। यह विनय बन्धका कारण नही है। दूसरी शुभभावरूप विनय है, उसे व्यवहार-विनय भी कहते हैं। अज्ञानीके यथार्थ विनय होती ही नही। सम्यग्दृष्टिके शुभभावरूप विनय होती है और वह तीर्थंकर नामकर्मके आस्रवका कारण है। छट्ठे गुणस्थानके वाद व्यवहार-विनय नहीं होती किन्तु निश्चय-विनय होती है।

(३) शील और व्रतोंमें अनतिचार

'शील' शब्दके तीन अर्थ होते हैं (१) सत् स्वभाव, (२) स्वदार संतोष और (३) दिग्व्रत आदि सात व्रत, जो अहिंसादि व्रतकी रक्षाके लिये होते हैं। सत् स्वभावका अर्थ क्रोधादि कपायके वश न होना है। यह शुभभाव है। जब अतिमन्द कपाय होती है तब यह

होता-है । यहां 'शील' का प्रथम और तृतीय अर्थ लेना, दूसरा अर्थ व्रत शब्दमें आ जाता है । अहिंसा आदि व्रत हैं । अनतिचारका अर्थ है दोषोंसे रहितपन ।

(४) अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग

अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगका अर्थ है सदा ज्ञानोपयोगमें रहना । सम्यग्ज्ञानके द्वारा प्रत्यक्ष कार्यमें विचारकर जो उसमें प्रवृत्ति करना सो ज्ञानोपयोगका अर्थ है । ज्ञानका साक्षात् तथा परम्परा फल विचारना । यथार्थ ज्ञानसे ही अज्ञानकी निवृत्ति और हिताहितकी समझ होती है, इसीलिये यह भी ज्ञानोपयोगका अर्थ है । अतः यथार्थ ज्ञानको अपना हितकारी मानना चाहिये । ज्ञानोपयोगमें जो वीतरागता है वह बन्धका कारण नहीं है, किन्तु जो शुभभावरूप राग है वह बन्धका कारण है ।

(५) संवेग

सदा संसारके दुःखोंसे भीरुताका जो भाव है सो संवेग है । उसमें जो वीतरागभाव है वह बन्धका कारण नहीं है किन्तु जो शुभराग है वह बंधका कारण है । सम्यग्दृष्टियोंके जो व्यवहार-संवेग होता है वह रागभाव है । जब निर्विकल्प दशामें नहीं रह सकता तब ऐसा संवेगभाव निरन्तर होता है ।

(६-७) शक्त्यनुसार त्याग तथा तप

१—त्याग दो तरहका है-शुद्धभावरूप और शुभभावरूप । उसमें जितनी शुद्धता होती है उतने अंशमें वीतरागता है और वह बन्धका कारण नहीं है । सम्यग्दृष्टिके शक्त्यनुसार शुभभावरूप त्याग होता है, उचित कम या ज्यादा नहीं होता । शुभरागरूप त्यागभाव बंधका कारण है । 'त्याग' का अर्थ दान देना भी होता है ।

२—निज आत्माका शुद्ध स्वरूपमें संयमन करनेसे,-और स्वरूप विश्रान्त निस्तरंग चैतन्यप्रतपन सो तप है । इच्छाके निरोधको तप कहते हैं अर्थात् ऐसा होने पर शुभाशुभ भावका जो निरोध सो तप है । वह तप सम्यग्दृष्टिके ही होता है, उसके निश्चयतप कहा जाता है । सम्यग्दृष्टिके जितने अंशमें वीतरागभाव है उतने अंशमें निश्चयतप है और वह बंधका कारण नहीं है, किन्तु जितने अंशमें शुभरागरूप व्यवहार तप है वह बन्धका कारण है । मिथ्यादृष्टिके यथार्थ तप नहीं होता, उसके शुभरागरूप तपको 'बालतप' कहा जाता है । 'बाल' का अर्थ है अज्ञान, मूढ़ । अज्ञानीका तप आदिका शुभभाव तीर्थंकर प्रकृतिके आस्रवका कारण हो ही नहीं सकता ।

(८) साधु समाधि

सम्यग्दृष्टि साधुके तपमें तथा आत्मसिद्धिमें विघ्न आता देखकर उसे दूर करनेका भाव और उनके समाधि बनी रहे ऐसा जो भाव है सो साधु-समाधि है; यह शुभराग है। यथार्थतया ऐसा राग सम्यग्दृष्टिके ही होता है, किन्तु उनके उस रागकी भावना नहीं होती।

(९) वैयावृत्यकरण

वैयावृत्यका अर्थ है सेवा। रोगी, छोटी उमरके या वृद्ध मुनियोंकी सेवा करना सो वैयावृत्यकरण है। 'साधु-समाधि' का अर्थ है कि उसमें साधुका चित्त संतुष्ट रखना और 'वैयावृत्यकरण' में तपस्वियोंके योग्य साधन एकत्रित करना जो सदा उपयोगी हों—इस हेतुसे जो दान दिया जावे सो वैयावृत्य है, किन्तु साधु-समाधि नहीं। साधुओंके स्थानको साफ रखना, दुःखके कारण उत्पन्न हुए देखकर उनके पैर दबाना इत्यादि प्रकारसे जो सेवा करना सो भी वैयावृत्य है; यह शुभराग है।

(१०-१३) अर्हत्-आचार्य-बहुश्रुत और प्रवचन भक्ति

भक्ति दो तरह की है—एक शुद्धभावरूप और दूसरी शुभभावरूप। सम्यग्दर्शन परमार्थभक्ति अर्थात् शुद्धभावरूप भक्ति है। सम्यग्दृष्टिकी निश्चयभक्ति शुद्धात्मतत्त्वकी भावनारूप होनेसे बन्धका कारण नहीं है। सम्यग्दृष्टिके जो शुभभावरूप सरागभक्ति होती है वह पंचपरमेष्ठीकी आराधनारूप है (देखो, श्री हिन्दी समयसार, आस्रव-अधिकार गाथा १७३ से १७६ जयसेनाचार्यकृत संस्कृत टीका, पृष्ठ २५०)

१—अर्हंत और आचार्यका पंच परमेष्ठीमें समावेश हो जाता है। सर्वज्ञ केवली जिन भगवान अर्हंत हैं, वे सम्पूर्ण धर्मोपदेशमें विधाता हैं; वे साक्षात् ज्ञानी पूर्ण वीतराग हैं। २—साधु संघमें जो मुख्य साधु हों उनको आचार्य कहते हैं; वे सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक चारित्रके पालक हैं और दूसरोंको उसमें निमित्त होते हैं, और वे विशेष गुणाढ्य होते हैं। ३—बहुश्रुतका अर्थ 'बहुज्ञानी' 'उपाध्याय' या 'सर्व शास्त्रसम्पन्न' होता है। ४—सम्यग्दृष्टिकी जो शास्त्रकी भक्ति है सो प्रवचनभक्ति है। इस भक्तिमें जितना रागभाव है वह आस्रवका कारण है ऐसा समझना।

(१४) आवश्यक अपरिहाणि

आवश्यक अपरिहाणिका अर्थ है 'आवश्यक क्रियाओंमें हानि न होने देना।' जब सम्यग्दृष्टि जीव शुद्धभाव में नहीं रह सकता तब अशुभभाव दूर करनेसे शुभभाव रह जाता

है, इससमय शुभरागरूप आवश्यक क्रियायें उसके होती हैं। उस आवश्यक क्रियाके भावमें हानि न होने देना उसे आवश्यक अपरिहाणि कहा जाता है। वह क्रिया आत्माके शुभभावरूप है किन्तु जड़ शरीरकी अवस्थामें आवश्यक क्रिया नहीं होती और न आत्मासे शरीरकी क्रिया हो सकती है।

(१५) मार्ग–प्रभावना

सम्यग्ज्ञानके माहात्म्यके द्वारा, इच्छा-निरोधरूप सम्यक्तपके द्वारा तथा जिनपूजा इत्यादिके द्वारा धर्मको प्रकाशित करना सो मार्ग-प्रभावना है। प्रभावनामें सबसे श्रेष्ठ आत्म-प्रभावना है, क्योंकि रत्नत्रयके तेजसे देदीप्यमान होनेसे सर्वोत्कृष्ट फल देती है। सम्यग्दृष्टिके जो शुभरागरूप प्रभावना है वह आस्रव-बन्धका कारण है परन्तु सम्यग्दर्शनादिरूप जो प्रभावना है वह आस्रव-बन्धका कारण नहीं है।

(१६) प्रवचन-वात्सल्य

साधर्मियोंके प्रति प्रीति रखना सो वात्सल्य है। वात्सल्य और भक्तिमें यह अन्तर है, कि वात्सल्य तो छोटे-बड़े सभी साधर्मियोंके प्रति होता है और भक्ति अपनेसे जो बड़ा हो उसके प्रति होती है। श्रुत और श्रुतके धारण करनेवाले दोनोंके प्रति वात्सल्य रखना सो प्रवचन-वात्सल्य है। यह शुभरागरूप भाव है, सो आस्रव-बन्धका कारण है।

तीर्थंकरोंके तीन भेद

तीर्थंकर देव तीन तरहके हैं—(१) पंचकल्याणक (२) तीन कल्याणक और (३) दो कल्याणक। जिनके पूर्वभवमें तीर्थंकर प्रकृति बंध गई हो उनके तो नियमसे गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान और निर्वाण ये पांच कल्याणक होते हैं। जिनके वर्तमान मनुष्य-पर्यायके भवमें ही गृहस्थ अवस्थामें तीर्थंकर प्रकृति बंध जाती है उनके तप, ज्ञान और निर्वाण ये तीन कल्याणक होते हैं और जिनके वर्तमान मनुष्य पर्यायके भवमें मुनि दीक्षा लेकर फिर तीर्थंकर प्रकृति बंधती है उनके ज्ञान और निर्वाण ये दो ही कल्याणक होते हैं। दूसरे और तीसरे प्रकारके तीर्थंकर महाविदेह क्षेत्रमें ही होते हैं। महाविदेहमें जो पंच कल्याणक तीर्थंकर हैं उनके अतिरिक्त दो और तीन कल्याणकवाले भी तीर्थंकर होते हैं, तथा वे महाविदेहके जिस क्षेत्रमें दूसरे तीर्थंकर न हों वहीं ही होते हैं। महाविदेह क्षेत्रके अलावा भरत-ऐरावत क्षेत्रोंमें जो तीर्थंकर होते हैं उन सभीके नियमसे पंचकल्याणक ही होते हैं।

अरिहन्तोंके सात भेद

ऊपर जो तीर्थंकरोंके तीन भेद कहे वे तीनों भेद अरिहन्तोंके समझना और उनके अनन्तर दूसरे भेद निम्नप्रकार हैं:--

(४) सातिशय केवली:-जिन अरिहन्तोंके तीर्थंकर प्रकृतिका उदय नहीं होता परन्तु गंधकुटी इत्यादि विशेषता होती है उन्हें सातिशय केवली कहते हैं।

(५) सामान्य केवली:-जिन अरिहन्तोंके गंधकुटी इत्यादि विशेषता न हो उन्हें सामान्य केवली कहते हैं।

(६) अंतकृत केवली:—जो अरिहन्त केवलज्ञान प्रगट होनेपर लघु अंतर्मुहूर्त-कालमें ही निर्वाणको प्राप्त होते हैं; उन्हें अंतकृत केवली कहा जाता है।

(७) उपसर्ग केवली:—जिसके उपसर्ग अवस्थामें ही केवलज्ञान हुआ हो उन अरिहन्तोंको उपसर्ग केवली कहा जाता है (देखो, सनावदसे प्रकाशित आधुनिक हिन्दी सत्ता-स्वरूप पृष्ठ २०) केवलज्ञान होनेके बाद उपसर्ग हो ही नहीं सकता।

अरिहन्तोंके ये भेद पुण्य और संयोगकी अपेक्षासे समझना; केवलज्ञानादि गुणोंमें तो सभी अरिहन्त समान ही हैं।

इस सूत्रका सिद्धान्त

(१) जिस भावसे तीर्थंकर नामकर्म बंधता है उस भावको अथवा उस प्रकृतिको जो जीव धर्म माने या उपादेय माने तो वह मिथ्यादृष्टि है, क्योंकि वह रागको-विकारको धर्म मानता है। जिस शुभभावसे तीर्थंकर नामकर्मका आस्रव-बन्ध हो उस भाव या उस प्रकृतिको सम्यग्दृष्टि उपादेय नहीं मानते। सम्यग्दृष्टिके जिस भावसे तीर्थंकर प्रकृति बंधती है वह पुण्यभाव है, उसे वे आदरणीय नहीं मानते। (देखो, परमात्मप्रकाश अध्याय २, गाथा ५४ की टीका, पृष्ठ १९५)

(२) जिसे आत्माके स्वरूपकी प्रतीति नहीं उसके शुद्धभावरूप भक्ति अर्थात् भाव-भक्ति तो होती ही नहीं, किन्तु इस सूत्रमें कही हुई सत्के प्रति शुभरागवाली व्यवहार-भक्ति अर्थात् द्रव्यभक्ति भी वास्तवमें नहीं होती, लौकिक भक्ति भले हो। (देखो, परमात्मप्रकाश अध्याय २, गाथा १४३ की टीका, पृष्ठ २०३, २८८)

(३) सम्यग्दृष्टिके सिवाय अन्य जीवोंके तीर्थंकर प्रकृति होती ही नहीं। इससे सम्यग्दर्शनका परम माहात्म्य जानकर जीवोंको उसे प्राप्त करनेके लिये मंथन करना चाहिये।

सम्यग्दर्शनके अतिरिक्त धर्मका प्रारम्भ अन्य किसीसे नहीं अर्थात् सम्यग्दर्शन ही धर्मकी प्रारम्भिक इकाई है और सिद्धदशा उस धर्मकी पूर्णता है ॥ २४ ॥

अब गोत्रकर्मके आस्रवका कारण कहते हैं:—

नीच गोत्रके आस्रवका कारण

परात्मनिन्दाप्रशंसे सदसद्गुणोच्छादनोद्भावने च नीचैर्गोत्रस्य ॥ २५ ॥

अर्थः—[परात्मनिंदाप्रशंसे] दूसरेकी निंदा और अपनी प्रशंसा करना [सदसद्गुणोच्छादनोद्भावने च] तथा प्रगट गुणोंको छिपाना और अप्रगट गुणोंको प्रसिद्ध करना सो [नीचैर्गोत्रस्य] नीच गोत्रकर्मके आस्रवका कारण है ।

टीका

एकेन्द्रियसे लेकर पंचेन्द्रिय पर्यंत तक सभी तिर्यंच, नारकी तथा लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्य इन सबके नीच गोत्र है । देवोंके उच्च-गोत्र है, गर्भज मनुष्योंके दोनों प्रकारके गोत्रकर्म होते हैं ॥ २५ ॥

उच्च गोत्रकर्मके आस्रवका कारण

तद्विपर्ययो नीचैर्वृत्त्यनुत्सेकौ चोत्तरस्य ॥ २६ ॥

अर्थः—[तद्विपर्ययः] उस नीच गोत्रकर्मके आस्रवके कारणोंसे विपरीत अर्थात् परप्रशंसा, आत्मनिंदा इत्यादि [च] तथा [नीचैर्वृत्त्यनुत्सेकौ] नम्र वृत्ति होना तथा मदका अभाव-सो [उत्तरस्य] दूसरे गोत्रकर्म अर्थात् उच्च गोत्रकर्मके आस्रवका कारण है ।

टीका

यहाँ नम्रवृत्ति होना और मदका अभाव होना सो अशुभभावका अभाव समझना; उसमें जो शुभभाव है सो उच्च गोत्रकर्मके आस्रवका कारण है । 'अनुत्सेक'का अर्थ है अभिमानका न होना ॥ २६ ॥

यहाँ तक सात कर्मोंके आस्रवके कारणोंका वर्णन किया । अब अंतिम अन्तरायकर्मके आस्रवका कारण बताकर यह अध्याय पूर्ण करते हैं ।

अन्तरायकर्मके आस्रवका कारण

विघ्नकरणमन्तरायस्य ॥ २७ ॥

अर्थः—[**विघ्नकरणम्**] दान, लाभ, भोग, उपभोग तथा वीर्यमें विघ्न करना सो [**अंतरायस्य**] अन्तराय कर्मके आस्रवका कारण है।

टीका

इस अध्यायके १० से २७ तकके सूत्रोंमें कर्मके आस्रवका जो कथन किया है वह अनुमान सम्बन्धी नियम बतलाता है। जैसे किसी पुरुषके दान देनेके भावमें किसीने अन्तराय किया तो उस समय उसके जिन कर्मोंका आस्रव हुआ, यद्यपि वह सातों कर्मोंमें बँट गया तथापि उस समय दानांतराय कर्ममें अधिक अनुभाग पड़ा और अन्य प्रकृतियोंमें मन्द अनुभाग पड़ा। प्रकृति और प्रदेशबन्धमें योग निमित्त है तथा स्थिति और अनुभागबन्धमें कषायभाव निमित्त है ॥ २७ ॥

उपसंहार

(१) यह आस्रव अधिकार है जो कषाय सहित योग होता है वह आस्रवका कारण है, उसे सांपरायिक आस्रव कहते हैं। कषाय शब्दमें मिथ्यात्व, अविरति और कषाय इन तीनोंका समावेश हो जाता है; इसीलिये अध्यात्म-शास्त्रोंमें मिथ्यात्व, अविरति, कषाय तथा योगको आस्रवका भेद गिना जाता है। यदि उन भेदोंको बाह्यरूपसे स्वीकार करे और अन्तरंगमें उन भावोंकी जातिकी यथार्थ पहचान न करे तो वह मिथ्यादृष्टि है और उसके आस्रव होता है।

(२) योगको आस्रवका कारण कहकर योगके उपविभाग करके सकषाय योग और अकषाय योगको आस्रवका कारण कहा है। और २५ प्रकारकी विकारी क्रिया और उसका परके साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध कैसा है यह भी बताया गया है।

(३) अज्ञानी जीवोंके जो राग, द्वेष, मोहरूप आस्रवभाव हैं उनके नाश करनेकी तो उसे चिंता नहीं और बाह्य क्रिया तथा बाह्य निमित्तोंको दूर करनेका यह जीव उपाय करता है; परन्तु इसके मिटनेसे कहीं आस्रव नहीं मिटते। दृष्टांत—द्रव्यलिंगी मुनि अन्य कुदेवादिकी सेवा नहीं करता, हिंसा तथा विषयमें प्रवृत्ति नहीं करता, क्रोधादि नहीं करता तथा मन-वचन-कायको रोकनेका भाव करता है, तो भी उसके मिथ्यात्वादि चार आस्रव होते हैं। पुनश्च ये कार्य वे कपटसे भी नहीं करते, क्योंकि यदि कपटसे करे तो वह ग्रैवेयक

तक कैसे पहुंचे ?—इससे यह सिद्ध होता है कि जो बाह्य शरीरादिककी क्रिया है वह आस्रव नहीं है किन्तु अन्तरंग अभिप्रायमें जो मिथ्यात्वादि रागादिकभाव है वही आस्रव है। जो जीव उसे नहीं पहचानता उस जीवके आस्रवतत्त्वका यथार्थ श्रद्धान नहीं है।

(४) सम्यग्दर्शन हुये बिना आस्रव तत्त्व किंचित्मात्र भी दूर नहीं होता, इसलिये जीवोंको सम्यग्दर्शन प्राप्त करनेका यथार्थ उपाय प्रथम करना चाहिये। सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञानके बिना किसी भी जीवके आस्रव दूर नहीं होते और न धर्म होता है।

(५) मिथ्यादर्शन संसारका मूल कारण है और आत्माके स्वरूपका जो अवर्णवाद है सो मिथ्यात्वके आस्रवका कारण है, इसलिये अपने स्वरूपका तथा आत्माकी शुद्ध पर्यायोंका अवर्णवाद न करना अर्थात् जैसा स्वरूप है वैसा यथार्थ समझकर प्रतीति करना (देखो, सूत्र १३ तथा उसकी टीका)

(६) इस अध्यायमें बताया है कि सम्यग्दृष्टि जीवोंके संमिति, अनुकम्पा, व्रत, सराग-संयम, भक्ति, तप, त्याग, वैयावृत्य, प्रभावना, आवश्यक क्रिया इत्यादि जो शुभभाव हैं वे सब आस्रव हैं बन्धके ही कारण हैं। मिथ्यादृष्टिके तो वास्तवमें ऐसे शुभभाव होते ही नहीं, उसके व्रत-तपके शुभभावको 'बालव्रत' और 'बालतप' कहा जाता है।

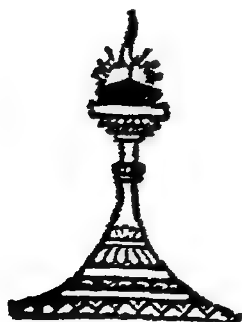
(७) मृदुता, परकी प्रशंसा, आत्मनिन्दा, नम्रता, अनुत्सेकता ये शुभराग होनेसे बन्धके कारण हैं, तथा राग कषायका अंश है अतः इससे घाति तथा अघाति दोनों प्रकारके कर्म बँधते हैं तथा यह शुभभाव है अतः अघाति कर्मोंमें शुभआयु, शुभगोत्र, सातावेदनीय तथा शुभनामकर्म बँधते हैं, और इससे विपरीत अशुभभावोंके द्वारा अशुभ अघातिकर्म भी बँधते हैं। इस तरह शुभ और अशुभ दोनों भाव बन्धके ही कारण हैं। अर्थात् यह सिद्धान्त निश्चित है कि शुभ या अशुभ भाव करते-करते उससे कभी शुद्धता प्रगट नहीं होती। व्यवहार करते-करते सत्य धर्म हो जायेगा ऐसी धारणा गलत ही है।

(८) सम्यग्दर्शन आत्माका पवित्र भाव है, वह स्वयं बन्धका कारण नहीं, किन्तु यहां यह बताया है कि जब सम्यग्दर्शनकी भूमिकामें शुभराग हो तब उस निमित्तसे किस तरहके कर्मका आस्रव होता है। वीतरागता प्रगट होनेपर मात्र ईर्यापथ आस्रव होता है। यह आस्रव एक ही समयका होता है (अर्थात् इसमें लम्बी स्थिति नहीं होती तथा अनुभाग भी नहीं होता)। इस परसे यह सिद्ध हुआ कि सम्यग्दर्शन प्रगट होनेके बाद जितने जितने अंशमें वीतरागता होती है उतने उतने अंशमें आस्रव और बन्ध नहीं होते तथा जितने अंशमें राग-द्वेष होता है उतने अंशमें आस्रव और बन्ध होता है। अतः ज्ञानीके तो अमुक अंशमें आस्रव-बन्धका निरन्तर अभाव रहता है। मिथ्यादृष्टिके उस शुभाशुभ रागका स्वामित्व है

अतः उसके किसी भी अंशमें राग-द्वेषका अभाव नहीं होता और इसलिये उसके आस्रव-बन्ध दूर नहीं होते। सम्यग्दर्शनकी भूमिकामें आगे बढ़ने पर जीवके किस तरहके शुभभाव आते हैं इसका वर्णन अब सातवें अध्यायमें करके आस्रवका वर्णन पूर्ण करेंगे, उसके बाद आठवें अध्यायमें बन्ध तत्त्वका और नवमें अध्यायमें संवर तथा निर्जरा तत्त्वका स्वरूप कहा जायगा। धर्मका प्रारम्भ निश्चय सम्यग्दर्शनसे ही होता है। सम्यग्दर्शन होनेपर संवर होता है, संवरपूर्वक निर्जरा होती है और निर्जरा होनेपर मोक्ष होता है, इसीलिये मोक्षतत्त्वका स्वरूप अंतिम अध्यायमें बतलाया गया है।

और इस अध्यायमें यह भी बताया है कि जीवके विकारी भावोंका परद्रव्यके साथ कैसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है।

इस तरह श्री उमास्वामीविरचित मोक्षशास्त्रकी गुजराती टीकाके
हिन्दी अनुवादमें छट्ठा अध्याय समाप्त हुआ।



मोक्षशास्त्र-अध्याय सातवाँ

भूमिका

आचार्य भगवानने इस शास्त्रका प्रारम्भ करते हुये पहले ही सूत्रमें यह कहा है कि 'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही मोक्षमार्ग है।' उसमें गर्भितरूपसे यह भी आ गया कि इससे विरुद्ध भाव अर्थात् शुभाशुभ भाव मोक्षमार्ग नहीं है, किन्तु संसारमार्ग है। इसप्रकार इस सूत्रमें जो विषय गर्भित रखा था वह विषय आचार्यदेवने इस छट्ठे-सातवें अध्यायमें स्पष्ट किया है। छट्ठे अध्यायमें कहा है कि शुभाशुभ दोनों आस्रव हैं और इस विषयको अधिक स्पष्ट करनेके लिये इस सातवें अध्यायमें मुख्यरूपसे शुभास्रवका अलग वर्णन किया है।

पहले अध्यायके चौथे सूत्रमें जो सात तत्त्व कहे हैं उनमेंसे जगतके जीव आस्रव-तत्त्वकी अजानकारीके कारण ऐसा मानते हैं कि 'पुण्यसे धर्म होता है।' कितने ही लोग शुभयोगको संवर मानते हैं तथा कितने ही ऐसा मानते हैं कि अणुव्रत, महाव्रत, मैत्री इत्यादि भावना, तथा करुणाबुद्धि इत्यादिसे धर्म होता है अथवा वह धर्मका (संवरका) कारण होता है, किन्तु यह मान्यता अज्ञानसे भरी हुई है। वे अज्ञान दूर करनेके लिये विशेष रूपसे यह एक अध्याय अलग बनाया है और उसमें इस विषयको स्पष्ट किया है।

धर्मकी अपेक्षासे पुण्य और पापका एकत्व गिना जाता है। श्री समयसारमें यह सिद्धान्त १४५ से लेकर १६३ वीं गाथा तकमें समझाया है। उसमें ही १४५ वीं गाथामें कहा है कि लोग ऐसा मानते हैं कि अशुभकर्म कुशील है और शुभकर्म सुशील है, परन्तु जो संसारमें प्रवेश कराये वह सुशील कैसे होगा? नहीं हो सकता। इसके बाद १५४ वीं गाथामें कहा है कि जो जीव परमार्थसे बाह्य हैं वे मोक्षके कारणको नहीं जानते हुये (—यद्यपि पुण्य संसारका कारण है तथापि) अज्ञानसे पुण्यको चाहते हैं। इस तरह धर्मकी अपेक्षासे पुण्य-पापका एकत्व बतलाया है। पुनश्च श्री प्रवचनसार गाथा ७७ में भी कहा है कि पुण्य-पापमें विशेष नहीं (अर्थात् समानता है), जो ऐसा नहीं मानता वह मोहसे आच्छन्न है और घोर अपार संसारमें भ्रमण करता है।

उपरोक्त कारणोंसे आचार्यदेवने इस शास्त्रमें पुण्य और पापका एकत्व स्थापन करनेके लिये उन दोनोंका ही आस्रवमें समावेश करके उसे समाधार छट्ठे और सातवें इन दो अध्यायोंमें कहा है, उसमें छट्ठा अध्याय पूर्ण होनेके बाद इस सातवें अध्यायमें आस्रव अधिकार चालू रखा है और उसमें शुभास्रवका वर्णन किया है।

इस अध्यायमें बतलाया है कि सम्यग्दृष्टि जीवके होनेवाले व्रत, दया, दान, करुणा, मैत्री इत्यादि भाव भी शुभ आस्रव हैं और इसीलिये वे बन्धके कारण हैं; तो फिर मिथ्यादृष्टि जीवके (-जिसके यथार्थ व्रत हो ही नहीं सकते) उसके शुभभाव धर्म, संवर, निर्जरा या उसका कारण किस तरह हो सकता है ? कभी हो ही नहीं सकता ।

प्रश्नः—शास्त्रमें कई जगह कहा जाता है कि शुभभाव परम्परासे धर्मका कारण है, इसका क्या अर्थ है ?

उत्तरः—सम्यग्दृष्टि जीव जब अपने चारित्र-स्वभावमें स्थिर नहीं रह सकते तब भी राग-द्वेष तोड़नेका पुरुषार्थ करते हैं, किंतु पुरुषार्थ कमजोर होनेसे अशुभभाव दूर होता है और शुभभाव रह जाता है। वे उस शुभभावको धर्म या धर्मका कारण नहीं मानते, किन्तु उसे आस्रव जानकर दूर करना चाहते हैं । इसीलिये जब वह शुभभाव दूर हो जाय तब जो शुभभाव दूर हुआ उसे शुद्धभाव (-धर्म) का परम्परासे कारण कहा जाता है । साक्षात् रूपसे वह भाव शुभास्रव होनेसे बन्धका कारण है और जो बन्धका कारण होता है वह संवरका कारण कभी नही हो सकता ।

अज्ञानीके शुभभावको परम्परा अनर्थका कारण कहा है। अज्ञानी तो शुभभावको धर्म या धर्मका कारण मानता है और उसे वह भला जानता है; उसे थोड़े समयमें दूर करके स्वयं अशुभ रूपसे परिणमेगा । इस तरह अज्ञानीका शुभभाव तो अशुभभावका (—पापका) परम्परा कारण कहा जाता है अर्थात् वह शुभको दूर कर जब अशुभरूपसे परिणमता है तब पूर्वका जो शुभभाव दूर हुआ उसे अशुभभावका परम्परासे कारण हुआ कहा जाता है ।

(पंचास्तिकाय गाथा १६८ श्री जयसेनाचार्यकृत टीका)

इतनी भूमिका लक्षमें रखकर इस अध्यायके सूत्रोंमें रहे हुये भाव बराबर समझनेसे वस्तुस्वरूपकी भूल दूर हो जाती है ।

व्रतका लक्षण

हिंसाऽनृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम् ॥ १ ॥

अर्थः—[हिंसाऽनृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिः] हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह अर्थात् पदार्थोंके प्रति ममत्वरूप परिणमन-इन पांच पापोंसे (बुद्धिपूर्वक) निवृत्त होना सो [व्रतम्] व्रत है ।

टीका

१ इस अध्यायमें आस्रव तत्त्वका निरूपण किया है। छट्ठे अध्यायके १२ वें सूत्रमें कहा था कि व्रतीके प्रति जो अनुकम्पा है सो सातावेदनीयके आस्रवका कारण है, किन्तु वहां मूल सूत्रमें व्रतीकी व्याख्या नहीं की गई थी, इसीलिये यहां इस सूत्रमें व्रतका लक्षण दिया गया है। इस अध्यायके १८ वें सूत्रमें कहा कि "निःशल्यो व्रती"—मिथ्यादर्शन आदि शल्यरहित ही जीव व्रती होता है, अर्थात् मिथ्यादृष्टीके कभी व्रत होते ही नहीं, सम्यग्दृष्टि जीवके ही व्रत हो सकते हैं। भगवानने मिथ्यादृष्टिके शुभरागरूप व्रतको बालव्रत कहा है। (देखो, श्री समयसार गाथा १५२ तथा उसकी टीका। 'बाल' का अर्थ अज्ञान है)।

२ इस अध्यायमें महाव्रत और अणुव्रत भी आस्रवरूप कहे हैं, इसलिये वे उपादेय कैसे हो सकते हैं? आस्रव तो बन्धका ही साधक है अतः महाव्रत और अणुव्रत भी बन्धके साधक हैं और वीतरागभावरूप जो चारित्र है सो मोक्षका साधक है, इससे महाव्रतादिरूप आस्रव भावोंको चारित्रपना संभव नहीं। "सर्व कषाय रहित जो उदासीन भाव है उसीका नाम चारित्र है। जो चारित्र-मोहके उदयमें युक्त होनेसे महामन्द प्रशस्त राग होता है वह चारित्रका मल है, उसे छूटता न जानकर उनका त्याग नहीं करता, सावद्य योगका ही त्याग करता है। जैसे कोई पुरुष कन्दमूलादि अधिक दोषवाली हरितकायका त्याग करता है तथा दूसरे हरितकायका आहार करता है, किन्तु उसे धर्म नहीं मानता, उसीप्रकार सम्यग्दृष्टि मुनि, श्रावक हिंसादि तीव्र कषायरूप भावोंका त्याग करता है तथा कोई मन्दकषायरूप महाव्रत-अणुव्रतादि पालता है, परन्तु उसे मोक्षमार्ग नहीं मानता।"

(आधुनिक हिन्दी मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ २२९-२३०)

प्रश्नः—यदि यह बात है तो महाव्रत और देशव्रतको चारित्रके भेदोंमें किसलिये कहा है?

उत्तरः—वहां उस महाव्रतादिकको व्यवहार-चारित्र कहा गया है और व्यवहार नाम उपचारका है। निश्चयसे तो जो निष्कषाय भाव है वही यथार्थ चारित्र है। सम्यग्दृष्टिका भाव मिश्ररूप है अर्थात् कुछ वीतरागरूप हुआ है और कुछ सराग है, अतः जहां अंशमें वीतराग चारित्र प्रगट हुआ है वहां जिस अंश में सरागता है वह महाव्रतादिरूप होता है, ऐसा सम्बन्ध जानकर उस महाव्रतादिरूपमें चारित्रका उपचार किया है, किन्तु वह स्वयं यथार्थ चारित्र नहीं, परन्तु शुभभाव है—आस्रवभाव है, अतः बंधका कारण है। इसीलिये शुभभावमें धर्म माननेका अभिप्राय आस्रवतत्त्वको संवरतत्त्व माननेरूप है, इसलिये यह मान्यता मिथ्या है।

(आधुनिक मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ २२८-२३०)

चारित्रका विषय इस शास्त्रके ९ वें अध्यायके १८ वें सूत्रमें लिया है, वहां इस सम्बन्धी टीका लिखी है, वह यहां भी लागू होती है।

४—व्रत दो प्रकारके हैं—निश्चय और व्यवहार। राग-द्वेषादि विकल्पसे रहित होना सो निश्चयव्रत है। (देखो, द्रव्यसंग्रह गाथा ३५ टीका) सम्यग्दृष्टि जीवके स्थिरताकी वृद्धिरूप जो निर्विकल्पदशा है सो निश्चयव्रत है, उसमें जितने अंशमें वीतरागता है उतने अंशमें यथार्थ चारित्र है; और सम्यग्दर्शन-ज्ञान होनेके बाद परद्रव्यका आलम्बन छोड़नेरूप जो शुभभाव है सो अणुव्रत-महाव्रत है, उसे व्यवहारव्रत कहते हैं। इस सूत्रमें व्यवहारव्रतका लक्षण दिया है; इसमें अशुभभाव दूर होता है, किन्तु शुभभाव रहता है, वह पुण्यास्रवका कारण है।

५—श्री परमात्मप्रकाश अध्याय २, गाथा ५२ की टीकामें व्रत पुण्यबन्धका कारण है और अव्रत पापबन्धका कारण है यह बताकर इस सूत्रका अर्थ निम्नप्रकार किया है—

"इसका अर्थ है कि-प्राणियोंको पीड़ा देना, झूठ वचन बोलना, परधन-हरण करना, कुशीलका सेवन और परिग्रह-इनसे विरक्त होना सो व्रत है; ये अहिंसादि व्रत प्रसिद्ध हैं, यह व्यवहारनयसे एकदेश व्रत हैं ऐसा कहा है।

जीवघातसे निवृत्ति, जीवदयामें प्रवृत्ति, असत्य-वचनसे निवृत्ति और सत्यवचनमें प्रवृत्ति, अदत्तादान (चोरी) से निवृत्ति, अचौर्यमें प्रवृत्ति इत्यादि रूपसे वह एकदेश व्रत है।" (परमात्मप्रकाश पृष्ठ १९१-१९२) यहां अणुव्रत और महाव्रत दोनोंको एकदेश व्रत कहा है।

उसके बाद वहीं निश्चयव्रतका स्वरूप निम्नप्रकार कहा है (निश्चयव्रत अर्थात् स्वरूपस्थिरता अथवा सम्यक्‌चारित्र)—

" और राग-द्वेषरूप संकल्प-विकल्पोंकी तरंगोंसे रहित तीन गुप्तियोंसे गुप्त समाधिमें शुभाशुभके त्यागसे परिपूर्ण व्रत होता है।" (परमात्मप्रकाश पृष्ठ १९२)

सम्यग्दृष्टिके जो शुभाशुभका त्याग और शुद्धका ग्रहण है सो निश्चयव्रत है और उनके अशुभका त्याग और शुभका जो ग्रहण है सो व्यवहारव्रत है-ऐसा समझना। मिथ्या-दृष्टिके निश्चय या व्यवहार दोनोंमेंसे किसी भी तरहके व्रत नहीं होते। तत्त्वज्ञानके बिना महाव्रतादिका आचरण मिथ्याचारित्र ही है। सम्यग्दर्शनरूपी भूमिके बिना व्रतरूपी वृक्ष ही नहीं होता।

१—व्रतादि शुभोपयोग वास्तवमें बन्धका कारण है। पंचाध्यायी भाग २ गाथा ७५९ से ६२ में कहा है कि -'यद्यपि रूढ़िसे शुभोपयोग भी 'चारित्र' इस नामसे प्रसिद्ध है, परन्तु अपनी अर्थक्रियाको करनेमें असमर्थ है इसलिये वह निश्चयसे सार्थक नामवाला

नहीं है ॥ ७५९ ॥ किन्तु वह अशुभोपयोगके समान बन्धका कारण है इसलिये यह श्रेष्ठ नहीं है। श्रेष्ठ तो वह है जो न तो उपकार ही करता है और न अपकार ही करता है ॥ ७६० ॥ शुभोपयोग विरुद्ध कार्यकारी है यह बात विचार करनेपर असिद्ध भी नहीं प्रतीत होती, क्योंकि शुभोपयोग एकान्तसे बन्धका कारण होनेसे वह शुद्धोपयोगके अभावमें ही पाया जाता है ॥ ७६१ ॥ बुद्धिके दोषसे ऐसी तर्कणा भी नहीं करनी चाहिये कि शुभोपयोग एकदेश निर्जराका कारण है, क्योंकि न तो शुभोपयोग ही बन्धके अभावका कारण है और न अशुभोपयोग ही बन्धके अभावका कारण है ॥ ७६२ ॥

(श्री वर्णी ग्रन्थमालासे प्र० पंचाध्यायी पृष्ठ २७२-७३)

२—सम्यग्दृष्टिको शुभोपयोगसे भी बन्धकी प्राप्ति होती है ऐसा श्री कुन्दकुन्दाचार्यकृत प्रवचनसार गा० ११ में कहा है उसमें श्री अमृतचन्द्राचार्य उस गाथाकी भूमिकामें कहते हैं कि 'अब जिनका चारित्रपरिणामके साथ सम्पर्क है ऐसे जो शुद्ध और शुभ (दो प्रकार) परिणाम हैं, उनके ग्रहण तथा त्यागके लिये (-शुद्ध परिणामके ग्रहण और शुभ परिणामके त्यागके लिये) उनका फल विचारते हैं'—

धर्मेण परिणतात्मा यदि शुद्धसम्प्रयोगयुतः ।
प्राप्नोति निर्वाणसुखं शुभोपयुक्तो वा स्वर्गसुखम् ॥ ११ ॥

अन्वयार्थ—धर्मसे परिणमित स्वरूपवाला आत्मा यदि शुद्धोपयोगमें युक्त हो तो मोक्षसुखको प्राप्त करता है और यदि शुभउपयोगवाला हो तो स्वर्गके सुखको (-बन्धको) प्राप्त करता है।

टीका—जब यह आत्मा धर्मपरिणत स्वभाववाला वर्तता हुआ शुद्धोपयोग परिणतिको धारण करता है—बनाये रखता है तब विरोधी शक्तिसे रहित होनेके कारण अपना कार्य करनेके लिये समर्थ है ऐसा चारित्रवान होनेसे साक्षात् मोक्षको प्राप्त करता है और जब वह धर्म-परिणत स्वभाववाला होनेपर भी शुभोपयोग परिणतिके साथ युक्त होता है तब जो विरोधी शक्ति सहित होनेसे स्वकार्य करनेमें असमर्थ और कथंचित् विरुद्ध कार्य करनेवाला है ऐसे चारित्रसे युक्त होनेसे, जैसे अग्निसे गर्म किया गया घी किसी मनुष्यपर डाल दिया जाये तो वह उसकी जलनसे दुःखी होता है, उसीप्रकार वह स्वर्गके सुखके बन्धको प्राप्त होता है, इसलिये शुद्धोपयोग उपादेय (प्रगट करनेके लिए) है और शुभोपयोग हेय है।

(प्रवचनसार गाथा ११ की टीका

मिथ्यादृष्टिको या सम्यग्दृष्टिको भी, राग तो बन्धका ही कारण है;
शुद्धस्वरूप परिणमन मात्रसे ही मोक्ष है।

३—समयसारके पुण्य-पाप अधिकारके ११० वें कलशमें श्री आचार्यदेव कहते हैं कि:—

यावत्पाकमुपैति कर्मविरतिर्ज्ञानस्य सम्यङ् न सा,
कर्मज्ञानसमुच्चयोऽपि विहितस्तावन्न काचित्क्षतिः।
किंत्वत्रापि समुल्लसत्यवशतो यत्कर्मबन्धाय तत्,
मोक्षाय स्थितमेकमेव परमं ज्ञानं विमुक्तं स्वतः॥ ११०॥

अर्थः—जब तक ज्ञानकी कर्मविरति बराबर परिपूर्णताको प्राप्त नहीं होती तब तक कर्म और ज्ञानका एकत्वपना शास्त्रमें कहा है; उनके एक साथ रहनेमें कोई भी क्षति अर्थात् विरोध नहीं है। परन्तु यहाँ इतना विशेष जानना कि आत्मामें अवशरूपसे जो कर्म प्रगट होते हैं अर्थात् उदय होता है **वह तो बन्धका कारण होता है, और मोक्षका कारण तो, जो एक परम ज्ञान ही है वह एक ही होता है** कि जो ज्ञान स्वतः विमुक्त है (अर्थात् त्रिकाल परद्रव्य-भावोंसे भिन्न है।)

भावार्थः—जब तक यथाख्यातचारित्र नहीं होता, तब तक सम्यग्दृष्टिको दो धारायें रहती हैं—शुभाशुभ कर्मधारा और ज्ञानधारा। वे दोनों साथ रहनेमें कुछ भी विरोध नहीं है। (जिस प्रकार मिथ्याज्ञानको और सम्यग्ज्ञानको परस्पर विरोध है, उसी प्रकार कर्मसामान्यको और ज्ञानको विरोध नहीं है।) **उस स्थितिमें कर्म अपना कार्य करता है और ज्ञान अपना कार्य करता है। जितने अंशमें शुभाशुभ कर्मधारा है उतने अंशमें कर्मबन्ध होता है; और जितने अंशमें ज्ञानधारा है उतने अंशमें कर्मका नाश होता जाता है। विषय-कषायके विकल्प अथवा व्रत-नियमके विकल्प-शुद्धस्वरूपका विकल्प तक कर्म बन्धका कारण है। शुद्ध परिणतिरूप ज्ञानधारा ही मोक्षका कारण है।**

(समयसार नई गुजराती आवृत्ति; पृष्ठ २६३-६४)

पुनश्च, इस कलशके अर्थमें श्री राजमल्लजी भी साफ स्पष्टीकरण करते हैं कि:—

"यहाँ कोई भ्रान्ति करेगा—'मिथ्यादृष्टिको यतिपना क्रियारूप है वह तो बन्धका कारण है, किन्तु सम्यग्दृष्टिको जो यतिपना शुभ--क्रियारूप है वह मोक्षका कारण है; क्योंकि अनुभवज्ञान तथा दया, व्रत, तप, संयमरूपी क्रिया—यह दोनों मिलकर ज्ञानावरणादि कर्मोंका क्षय करते हैं।'—**ऐसी प्रतीति कोई अज्ञानी जीव करता है, उसका समाधान इस प्रकार है**—

जो कोई भी शुभ-अशुभ क्रिया—बहिर्जल्परूप विकल्प अथवा अन्तर्जल्परूप अथवा द्रव्यके विचाररूप अथवा शुद्धस्वरूपके विचार इत्यादि हैं—वह सब कर्मबंधका कारण है, ऐसी क्रियाका ऐसा ही स्वभाव है। सम्यग्दृष्टि, मिथ्यादृष्टिका ऐसा तो कोई भेद नहीं है (अर्थात् अज्ञानीके उपरोक्त कथनानुसार शुभक्रिया मिथ्यादृष्टिको तो बन्धका कारण हो और वही क्रिया सम्यग्दृष्टिको मोक्षका कारण हो—ऐसा तो उनका भेद नहीं है) ऐसी क्रियासे तो उसे (सम्यक्त्वीको भी) बन्ध है और शुद्धस्वरूप परिणमन मात्रसे मोक्ष है। यद्यपि एक ही कालमें सम्यग्दृष्टि जीवको शुद्धज्ञान भी है और क्रियारूप परिणाम भी है, किन्तु उसमें जो विक्रियारूप परिणाम है उससे तो मात्र बन्ध होता है; उससे कर्मका क्षय एक अंश भी नहीं होता—ऐसा वस्तुका स्वरूप है,—तो फिर इलाज क्या ?—उस काल ज्ञानीको शुद्ध स्वरूपका अनुभवज्ञान भी है, उस ज्ञान द्वारा उस समय कर्मका क्षय होता है, उससे एक अंशमात्र भी बन्धन नहीं होता,—ऐसा ही वस्तुका स्वरूप है, वह जैसा है वैसा कहते हैं।"

(देखो, समयसार कलश-टीका हिन्दी पुस्तक पृष्ठ ११२ सूरतसे प्रकाशित)

उपरोक्तानुसार स्पष्टीकरण करके फिर उस कलशका अर्थ विस्तारपूर्वक लिखा है, उसमें तत्सबंधी भी स्पष्टता है, उसमें अन्तमें लिखते हैं कि—"शुभक्रिया कदापि मोक्षका साधन नहीं हो सकती, वह मात्र बन्धन ही करनेवाली है—ऐसी श्रद्धा करनेसे ही मिथ्याबुद्धिका नाश होकर सम्यग्ज्ञानका लाभ होगा। मोक्षका उपाय तो एकमात्र निश्चयरत्नत्रयमय आत्माकी शुद्ध वीतराग-परिणति है।"

४—श्री राजमलजी कृत समयसार कलश टीका (सूरतसे प्रकाशित) पृ० ११४ पंक्ति १० में ऐसा लिखा है कि—"यहाँ पर इस बातको दृढ़ किया है कि कर्म-निर्जराका साधन मात्र शुद्ध ज्ञानभाव है, जितने अंश कालिमा है उतने अंश तो बन्ध ही है, शुभक्रिया कभी भी मोक्षका साधन नहीं हो सकती, केवल बन्धको ही करनेवाली है, ऐसा श्रद्धान करनेसे ही मिथ्याबुद्धिका नाश होकर सम्यग्ज्ञानका लाभ होता है।

मोक्षका उपाय तो एकमात्र निश्चयरत्नत्रयमयी आत्माकी शुद्ध-वीतराग-परिणति है। जैसे पु० सिद्ध्युपाय कहा है "असमग्रं भावयतो... गा० २११॥ येनांशेन सुदृष्टि ॥ २१२ ॥ फिर भावार्थमें लिखा है कि—जहाँ शुद्ध भावकी पूर्णता नहीं है वहाँ भी रत्नत्रय है परन्तु जो वहाँ कर्मोंका बन्ध है सो रत्नत्रयसे नहीं है, किन्तु अशुद्धतासे—रागभावसे है। क्योंकि जितनी वहाँ अपूर्णता है या शुद्धतामें कमी है वह मोक्षका उपाय नहीं है, वह तो कर्म-बन्ध ही करनेवाली है। जितने अंशमें शुद्धदृष्टि है या सम्यग्दर्शन सहित शुद्धभावको

परिणति है उतने अंश नवीन कर्म-बन्ध नहीं करती किन्तु संवर-निर्जरा करती है और उसी समय जितने अंश रागभाव है उतने अंशसे कर्म-बन्ध भी होता है।

५—श्री राजमल्लजीने 'वृत्त कर्म स्वभावेन ज्ञानस्य भवनं नहि' पुण्य-पाप अ० की इस कलशकी टीकामें लिखा है कि 'जितनी शुभ या अशुभ क्रियारूप आचरण है—चारित्र है उससे स्वभावचारित्र—ज्ञानका (शुद्ध चैतन्यवस्तुका) शुद्ध परिणमन न होइ इसी निहचो छै (-ऐसा निश्चय है।) भावार्थ—जितनी शुभाशुभ क्रिया-आचरण हैं अथवा बाह्य वक्तव्य या सूक्ष्म अन्तरंग रूप चितवन अभिलाषा, स्मरण इत्यादि समस्त अशुद्ध परिणमन है वह शुद्ध परिणमन नहीं है इससे वह बन्धका कारण है—मोक्षका कारण नहीं है। जैसे—कम्बलका नाहर-(कपड़े पर चित्रित शिकारी पशु) कहनेका नाहर है वैसे-अशुभक्रिया आचरणरूप चारित्र कथनमात्र चारित्र है परन्तु चारित्र नहीं है निःसंदेहपने ऐसा जानो।

(देखो रा० कलश टीका हिन्दी पृ० १०८)

६—राजमल्लजी कृत समयसार कलश टीका पृ० ११३ में सम्यग्दृष्टिके भी शुभभावकी क्रियाको बन्धक कहा है—'बन्धाय समुल्लसति' कहते जितनी क्रिया है उतनी ज्ञानावरणादि कर्म-बन्ध करती है, संवर-निर्जरा अंशमात्र भी नहीं करती; 'तत् एकं ज्ञानं मोक्षाय स्थितं' परन्तु वह एक शुद्ध चैतन्यप्रकाश ज्ञानावरणादि कर्मक्षयका निमित्त है। भावार्थ ऐसा है जो एक जीवमें शुद्धत्व, अशुद्धत्व एक ही समय (एक ही साथमें) होते हैं, परन्तु जितना अंश शुद्धत्व है उतना अंश कर्मक्षपन है और जितने अंश अशुद्धत्व है उतने अंश कर्मबन्ध होते हैं, एक ही समय दोनों कार्य होते हैं, ऐसे ही है उसमें संदेह करना नहीं।

(कलश टीका पृष्ठ ११३)

कविवर बनारसीदासजीने कहा है कि ××× पुण्य-पापकी दोउ क्रिया मोक्षपंथकी कतरणी; बन्धकी करैया दोउ, दुहूमें न भली कोउ, बाधक विचार में निषिद्ध कीनी करनी ॥१३॥

जौलों अष्ट कर्मको विनाश नाहि सरवथा,
तौलो अन्तरातमामें धारा दोई बरनी॥
एक ज्ञानधारा एक शुभाशुभ कर्मधारा,
दुहकी प्रकृति न्यारी न्यारी न्यारी धरनी॥
इतनी विशेष जु करमधारा बन्धरूप,
पराधीन सकति विविध बन्ध करनी॥
ज्ञानधारा मोक्षरूप मोक्षकी करनहार,
दोषकी हरनहार भौ-समुद्र तरनी॥ १४॥

३—श्री अमृतचन्द्राचार्यकृत पु० सि० उपाय गाथा २१२ से १४ में सम्यग्दृष्टिके सबधमें कहा है कि जिन अशोंसे यह आत्मा अपने स्वभावरूप परिणमता है वे अश सर्वथा बन्धके हेतु नहीं है, किन्तु जिन अशोंसे यह रागादिक विभावरूप परिणमन करता है वे ही अश बन्धके हेतु हैं। श्री रायचन्द्र जैन शास्त्रमालासे प्रकाशित पु० सि० में गा० १११ का अर्थ भाषा टीकाकारने असगत कर दिया है जो अब निम्न लेखानुसार दिखाते हैं। [-अनगार धर्मामृतमें भी फुटनोटमें गलत अर्थ है]

असमग्र भावयतो रत्नत्रयमस्ति कर्मबन्धो य ।
स विपक्षकृतोऽवश्य मोक्षोपायो न बन्धनोपाय ॥२११॥

अन्वयार्थ —असम्पूर्ण रत्नत्रयको भावन करनेवाले पुरुषके जो शुभकर्मका बन्ध है सो बन्ध है सो बन्ध विपक्षकृत या बन्ध रागकृत होनेसे अवश्य ही मोक्षका उपाय है, बन्धका उपाय नहीं। अब सुसगत-सच्चे अर्थके लिये देखो, श्री टोडरमलजीकृत पु० सि० ग्रन्थ, प्रकाशक जिनवाणी-प्रचारक कार्यालय कलकत्ता पृ० ११२ गा० १११।

अन्वयार्थ —असमग्र रत्नत्रय भावयत य कर्मबन्ध अस्ति स विपक्षकृत रत्नत्रय तु मोक्षोपाय अस्ति, न बन्धनोपाय।

अर्थ.—एकदेशरूप रत्नत्रयको पालनेवाले पुरुषके जो कर्मबन्ध होता है वह रत्नत्रयसे नहीं होता। किन्तु रत्नत्रयके विपक्षी जो राग-द्वेष हैं उनसे होता है। वह रत्नत्रय तो वास्तवमें मोक्षका उपाय है बन्धका उपाय नहीं होता।

भावार्थः—सम्यग्दृष्टि जीव जो एकदेश रत्नत्रयको धारण करता है, उनमें जो कर्म-बन्ध होता है वह रत्नत्रयसे नहीं होता किन्तु उसकी जो शुभ कषायें हैं उन्हींसे होता है। इससे सिद्ध हुआ कि कर्मबन्ध करनेवाली शुभ कषायें हैं किन्तु रत्नत्रय नहीं है।

अब रत्नत्रय और रागका फल दिखाते हैं। वहाँ पर गा० २१२ से २१४ में गुणस्थानानुसार सम्यग्दृष्टिके रागको बन्धका ही कारण कहा है और वीतरागभावरूप सम्यक्रत्नत्रयको मोक्षका ही कारण कहा है। फिर गा० २२० में कहा कि—'रत्नत्रयरूप धर्म मोक्षका कारण है और दूसरी गतिका कारण नहीं है और फिर जो रत्नत्रयके सद्भावमें जो शुभप्रकृतियोंका आस्रव होता है वह सब शुभ कषाय शुभोपयोगसे ही होता है अर्थात् वह शुभोपयोगका ही अपराध है किन्तु रत्नत्रयका नहीं है। कोई ऐसा मानते हैं कि सम्यग्दृष्टिके शुभोपयोगमें (-शुभभावमें) आंशिक शुद्धता है, किन्तु ऐसा मानना विपरीत है, कारण कि निश्चय सम्यक्त्व होनेके बाद चारित्रकी आंशिक शुद्धता सम्यग्दृष्टिके होती है, वह तो चारित्रगुणकी शुद्ध परिणति है, और जो शुभोपयोग है वह तो अशुद्धता है।

कोई ऐसा मानते हैं कि, सम्यग्दृष्टिका शुभोपयोग मोक्षका सच्चा कारण है अर्थात् उससे संवर-निर्जरा है अतः वे बन्धका कारण नहीं हैं, तो यह दोनों मान्यता अयथार्थ ही हैं ऐसा उपरोक्त शास्त्राधारोंसे सिद्ध होता है।

६. इस सूत्रका सिद्धान्त

जीवोंको सबसे पहले तत्वज्ञानका उपाय करके सम्यग्दर्शन-ज्ञान प्रगट करना चाहिये, उसे प्रगट करनेके बाद निजस्वरूपमें स्थिर रहनेका प्रयत्न करना और जब स्थिर न रह सके तब अशुभभावको दूर कर देशव्रत-महाव्रतादि शुभभावमें लगे किन्तु उस शुभको धर्म न माने तथा उसे धर्मका अंश या धर्मका सच्चा साधन न माने। पश्चात् उस शुभभावको भी दूर कर निश्चय-चारित्र प्रगट करना अर्थात् निर्विकल्प-दशा प्रगट करना चाहिये।

व्रतके भेद

देशसर्वतोऽणुमहती ॥ २ ॥

अर्थः—व्रतके दो भेद हैं-[**देशतः अणु**] उपरोक्त हिंसादि पापोंका एकदेश त्याग करना सो अणुव्रत और [**सर्वतः महती**] सर्वदेश त्याग करना सो महाव्रत है।

टीका

१—शुभभावरूप व्यवहारव्रतके ये दो भेद हैं। पांचवें गुणस्थानमें देशव्रत होता है। और छट्ठे गुणस्थानमें महाव्रत होता है। अध्यायके २९ वें सूत्रमें कहा गया है कि यह व्यवहारव्रत आस्रव है। निश्चयव्रतकी अपेक्षा से ये दोनों प्रकारके व्रत एकदेश व्रत हैं (देखो, सूत्र १ की टीका, पैरा ५) सातवें गुणस्थानमें निर्विकल्प दशा होने पर यह व्यवहार महाव्रत भी छूट जाता है और आगे की अवस्थामें निर्विकल्प दशा विशेष विशेष दृढ़ होती है इसीलिये वहां भी ये महाव्रत नही होते।

२—सम्यग्दृष्टि देशव्रती श्रावक होता है। वह संकल्प पूर्वक त्रस जीवकी हिंसा न करे, न करावे तथा यदि दूसरा कोई करे तो उसे भला नहीं समझता। उसके स्थावर जीवोंकी हिंसाका त्याग नहीं तथापि बिना प्रयोजन स्थावर जीवोंकी विराधना नही करता और प्रयोजनवश पृथ्वी, जल इत्यादि जीवोंकी विराधना होती है उसे भली-अच्छी नही जानता।

प्रश्नः—इस शास्त्रके अध्याय ६ के सूत्र १८ में व्रतको संवर कहा है और अध्याय ९ के सूत्र २ में उसे संवरके कारणमें गर्भित किया है, वहां दस प्रकारके धर्ममें अथवा संयममें उसका समावेश है अर्थात उत्तम क्षमामें अहिंसा, उत्तम सत्यमें सत्य वचन, उत्तम शौचमें अचौर्य, उत्तम ब्रह्मचर्यमें ब्रह्मचर्य और उत्तम आकिंचन्यमें परिग्रह-त्याग—इस तरह

व्रतों का समावेश उसमें हो जाता है, तथापि यहाँ व्रतको आस्रवका कारण क्यों कहा है ?

उत्तरः—इसमें दोष नहीं, नवमां संवर अधिकार है वहाँ निवृत्तिस्वरूप वीतराग-भावरूप व्रतको संवर कहा है और यहा आस्रव अधिकार है इसमें प्रवृत्ति दिखाई जाती है, क्योंकि हिंसा, असत्य, चोरी इत्यादि छोड़ देने पर अहिंसा, सत्य, अचौर्य वस्तुका ग्रहण वगैरह क्रिया होती है इसीलिये ये व्रत शुभकर्मोंके आस्रवके कारण हैं। इन व्रतोंमें भी अव्रतोंकी तरह कर्मोंका प्रवाह होता है, इससे कर्मोंकी निवृत्ति नहीं होती, इसलिये आस्रव अधिकारमें व्रतोंका समावेश किया है। (देखो, सर्वार्थसिद्धि अध्याय ७ सूत्र १ की टीका, पृष्ठ ५-६)

४—मिथ्यात्व सदृश महापापको मुख्यरूपसे छुड़ानेकी प्रवृत्ति न करना और कुछ बातोंमें हिंसा बताकर उसे छुड़ानेकी मुख्यता करना सो क्रम-भंग उपदेश है। (आधुनिक हिन्दी मोक्षमार्ग प्रकाशक अ० ५ पृष्ठ १६१)

५—एकदेश वीतराग और श्रावककी व्रतरूप दशाके निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, अर्थात् एकदेश वीतरागता होने पर श्रावकके व्रत होते ही हैं। इस तरह वीतरागताके और महाव्रतके भी निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, धर्मकी परीक्षा अन्तरंग वीतरागभावसे होती है, शुभभाव और बाह्य-संयोगसे नहीं होती। (मोक्षमार्ग प्रकाशक)

६. इस सूत्रमें कहे हुए त्यागका स्वरूप

यहा छद्मस्थके बुद्धिगोचर स्थूलत्वकी अपेक्षासे लोक-प्रवृत्तिकी मुख्यता सहित कथन किया है किन्तु केवलज्ञानगोचर सूक्ष्मत्वकी दृष्टिसे नहीं कहा, क्योंकि इसका आचरण हो नहीं सकता। इसका उदाहरण—

(१) अहिंसा व्रत सम्बन्धी

अणुव्रतीके त्रसहिंसाका त्याग कहा है, उसके स्त्रीसेवनादि कार्योंमें जो त्रसहिंसा होती है, पुनश्च यह भी जानता है कि जिनवाणीमें यहा त्रसजीव कहे हैं, परन्तु उसके त्रस-जीव मारनेका अभिप्राय नहीं तथा लोकमें जिसका नाम त्रसघात है उसे वह नहीं करता, इस अपेक्षासे उसके त्रसहिंसाका त्याग है।

महाव्रतधारी मुनिके स्थावर हिंसाका भी त्याग कहा। अब मुनि पृथ्वी, जलादिकमें गमन करते हैं, वहां त्रसका भी सर्वथा अभाव नहीं है क्योंकि त्रस जीवोंकी भी ऐसी सूक्ष्म अवगाहना है कि जो दृष्टिगोचर भी नहीं होती, तथा उनकी स्थिति भी पृथ्वी जलादिकमें है। पुनश्च मुनि जिनवाणीसे यह जानते हैं और किसी समय अवधिज्ञानादिके द्वारा भी जानते है, परन्तु मुनिके प्रमादसे स्थावर-त्रसहिंसाका अभिप्राय नहीं होता। लोकमें

पृथ्वी खोदना, अप्रासुक जलसे क्रिया करना इत्यादि प्रवृत्तिका नाम स्थावर-हिंसा है। और स्थूल त्रस जीवों को पीड़ा पहुँचानेका नाम त्रसहिंसा है। उसे मुनि नहीं करते इसलिये उनके हिंसका सर्वथा त्याग कहा जाता है। (मोक्षमार्ग प्रकाशक)

(२) सत्यादि चार व्रत सम्बन्धी

मुनिके असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रहका त्याग है, परन्तु केवलज्ञानमें जानने-की अपेक्षासे असत्य वचनयोग बारहवें गुणस्थान पर्यन्त कहा है, अदत्त कर्म-परमाणु आदि परद्रव्योंका ग्रहण तेरहवे गुणस्थान तक है, वेदका उदय नववें गुणस्थान तक है, अंतरंग परिग्रह दसवें गुणस्थान तक है, तथा समवशरणादि बाह्य परिग्रह केवली भगवानके भी होता है, परन्तु वहाँ प्रमादपूर्वक पापरूप अभिप्राय नहीं है। लोक-प्रवृत्तिमें जिन क्रियाओंसे ऐसा नाम प्राप्त करता है कि 'यह झूठ बोलता है, चोरी करता है, कुशील सेवन करता है तथा परिग्रह रखता है', वे क्रियायें उनके नहीं हैं, इसलिये उनके असत्यादिकका त्याग कहा गया है।

(३) मुनिके मूलगुणोंमे पांच इन्द्रियोंके विषयोंका त्याग कहा है किन्तु इन्द्रियोंका जानना तो नही मिटता; तथा यदि विषयोंमें राग-द्वेष सर्वथा दूर हुआ हो तो वहा यथा-ख्यातचारित्र हो जाय वह तो यहा हुआ, परन्तु स्थूलरूपसे विषय-इच्छाका अभाव हुआ है तथा बाह्य विषय-सामग्री मिलाने की प्रवृत्ति दूर हुई है इसीलिये उनके इन्द्रियके विषयों-का त्याग कहा है। (मोक्षमार्ग प्रकाशक)

(४) त्रसहिंसाके त्याग सम्बन्धी

यदि किसीने त्रसहिंसाका त्याग किया तो वहा उसे चरणानुयोगमें अथवा लोकमें जिसे त्रसहिंसा कहते हैं उसका त्याग किया है। किन्तु केवलज्ञानके द्वारा जो त्रसजीव देखे जाते है उनकी हिंसाका त्याग नही बनता। यहां जिस त्रसहिंसाका त्याग किया उसमें तो उस हिंसारूप मनका विकल्प न करना सो मनसे त्याग है, वचन न बोलना सो वचनसे त्याग है और शरीरसे न प्रवर्तना सो कायसे त्याग है॥२॥ (मोक्षमार्ग प्रकाशक से)

अब व्रतोंमें स्थिरताके कारण बतलाते हैं

तत्स्थैर्यार्थं भावनाः पंच पंच ॥३॥

अर्थः—[**तत्स्थैर्यार्थं**] उन व्रतोंकी स्थिरताके लिये [**भावनाः पंच पंच**] प्रत्येक व्रतकी पाँच-पाँच भावनायें है।

किसी वस्तुका बारम्बार विचार करना सो भावना है॥३॥

सत्य व्रतकी पाँच भावनायें

क्रोधलोभभीरुत्वहास्यप्रत्याख्यानान्यनुवीचिभाषणं च पंच ॥ ५ ॥

अर्थः—[क्रोधलोभभीरुत्वहास्यप्रत्याख्यानानि] क्रोधप्रत्याख्यान, लोभप्रत्याख्यान, भीरुत्वप्रत्याख्यान हास्यप्रत्याख्यान अर्थात् क्रोधका त्याग करना, लोभका त्याग करना, भयका त्याग करना, हास्यका त्याग करना, [अनुवीचिभाषणं च] और शास्त्रकी आज्ञानुसार निर्दोष वचन बोलना [पंच] ये पांच सत्यव्रतकी भावनायें हैं।

टीका

१. प्रश्नः—सम्यग्दृष्टि निर्भय है इसीलिये निःशंक है और ऐसी अवस्था चौथे गुणस्थानमे होती है तो फिर यहा सम्यग्दृष्टि श्रावकको और मुनिको भयका त्याग करनेको क्यों कहा ?

उत्तरः—चतुर्थ गुणस्थानमे सम्यग्दृष्टि अभिप्रायकी अपेक्षासे निर्भय है। अनंतानुबंधी कषाय होती है तब जिसप्रकारका भय होता है उसप्रकारका भय उनके नही होता इसलिये उनको निर्भय कहा है; किन्तु वहाँ ऐसा कहनेका आशय नही है कि वे चारित्रकी अपेक्षासे सर्वथा निर्भय हुए है। चारित्र की अपेक्षा आठवें गुणस्थान पर्यंत भय होता है इसीलिये यहाँ श्रावकको तथा मुनिको भय छोड़नेकी भावना करनेको कहा है।

२. प्रत्याख्यान दो प्रकारका होता है—(१) निश्चयप्रत्याख्यान और (२) व्यवहार-प्रत्याख्यान। निश्चयप्रत्याख्यान निर्विकल्पदशारूप है, इसमें बुद्धिपूर्वक होनेवाले शुभाशुभ भाव छूटते हैं। व्यवहारप्रत्याख्यान शुभभावरूप है; इसमें सम्यग्दृष्टिके अशुभ-भाव छूटकर-दूर होकर शुभभाव रह जाते हैं। आत्मस्वरूपके अज्ञानीको—(वर्तमानमें आत्मस्वरूपका निश्चयज्ञान करनेकी मना करनेवालेको)-अर्थात् आत्मस्वरूपके ज्ञानका उपदेश वर्तमानमें मिलानेके प्रति जिसे अरुचि हो उसे शुभभावरूप व्यवहारप्रत्याख्यान भी नहीं होता। मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिंगी मुनि पांच महाव्रत निरतिचार पालते हैं उनके भी इस भावनामें बताये हुये प्रत्याख्यान नही होते। क्योंकि ये भावनायें पांचवें और छट्ठे गुणस्थानमें सम्यग्दृष्टिके ही होती हैं, मिथ्यादृष्टिके नही होती।

३. अनुवीचिभाषणः—यह भावना भी सम्यग्दृष्टि ही कर सकता है, क्योंकि उसे ही शास्त्रके मर्मकी खबर है, इसीलिये वह सत्-शास्त्रके अनुसार निर्दोष वचन बोलनेका भाव करता है। इस भावनाका रहस्य यह है कि सच्चे सुखकी खोज करनेवालेको जो सत्-

शास्त्रोंके रहस्यका ज्ञाता हो और अध्यात्म-रस द्वारा अपने स्वरूपका अनुभव जिसे हुआ हो ऐसे *आत्मज्ञानकी सगतिपूर्वक* शास्त्रका अभ्यास करके उसका मर्म समझना चाहिये। शास्त्रोंके भिन्न-भिन्न स्थानों पर प्रयोजन साधनेके लिये अनेक प्रकारका उपदेश दिया है, उसे यदि सम्यग्ज्ञानके द्वारा यथार्थ प्रयोजन पूर्वक पहिचाने तो जीवके हित-अहितका निश्चय हो। इसलिये 'स्यात्' पदकी सापेक्षता सहित जो जीव सम्यग्ज्ञान द्वारा ही प्रीति सहित जिन-वचनमें रमता है वह जीव थोड़े ही समयमें स्वानुभूतिसे शुद्धआत्म-स्वरूपको प्राप्त करता है। मोक्षमार्गका प्रथम उपाय आगम-ज्ञान कहा है, इसलिये सच्चा आगम क्या है इसकी परीक्षा करके आगमज्ञान प्राप्त करना चाहिये। आगमज्ञानके बिना धर्मका यथार्थ साधन नहीं हो सकता। इसलिये प्रत्येक मुमुक्षु जीवको यथार्थ बुद्धिके द्वारा सत्य आगमका अभ्यास करना और सम्यग्दर्शन प्रगट करना चाहिये। इसीसे जीवका कल्याण होता है ॥ ५ ॥

अचौर्यव्रतकी पाँच भावनायें

शून्यागारविमोचितावासपरोपरोधाकरणभैक्ष्यशुद्धि-सधर्माऽविसंवादाः पंच ॥ ६ ॥

अर्थ—[शून्यागारविमोचितावासपरोपरोधाकरणभैक्ष्यशुद्धिसधर्माऽविसंवादाः] शून्यागारवास-पर्वतोंकी गुफा, वृक्षकी पोल इत्यादि निर्जन स्थानोंमें रहना, विमोचितावास दूसरोंके द्वारा छोड़े गये स्थानमें निवास करना, किसी स्थान पर रहते हुये दूसरोंको न हटाना तथा यदि कोई अपने स्थानमें आवे तो उसे न रोकना, शास्त्रानुसार भिक्षाकी शुद्धि रखना और साधर्मियोंके साथ यह मेरा है—यह तेरा है ऐसा क्लेश न करना [पंच] ये पाँच अचौर्यव्रतकी भावनायें हैं।

टीका

समान धर्मके धारक जैन साधु-श्रावकोंको परस्परमें विसंवाद नहीं करना चाहिये, क्योंकि विसंवादसे यह मेरा-यह तेरा ऐसा पक्ष ग्रहण होता है और इससे अग्राह्यके ग्रहण करनेकी सम्भावना हो जाती है ॥ ६ ॥

ब्रह्मचर्य व्रतकी पाँच भावनायें

स्त्रीरागकथाश्रवणतन्मनोहराङ्गनिरीक्षणपूर्वरतानुस्मरण-वृष्येष्टरसस्वशरीरसंस्कारत्यागाः पंच ॥ ७ ॥

अर्थ—[स्त्रीरागकथाश्रवणत्याग] स्त्रियोंमें राग बढ़ानेवाली कथा सुननेका त्याग,

[तन्मनोहरांगनिरीक्षणत्यागः] उनके मनोहर अंगोंको निरखकर देखनेका त्याग, [**पूर्वरतानुस्मरणत्यागः**] अव्रत अवस्थामें भोगे हुए विषयोंके स्मरणका त्याग, [**वृष्येष्टरसत्यागः**] कामवर्धक गरिष्ठ रसोंका त्याग और [**स्वशरीरसंस्कारत्यागः**] अपने शरीरके संस्कारोंका त्याग [**पंच**] ये पाँच ब्रह्मचर्यव्रतकी भावनायें हैं ।

टीका

प्रश्नः—परवस्तु आत्माको कुछ लाभ-नुकसान नहीं करा सकती तथा आत्मासे परवस्तुका त्याग हो नहीं सकता, तो फिर यहां स्त्रीरागकी कथा सुनने आदिका त्याग क्यों कहा है ?

उत्तरः—आत्माने परवस्तुओंको कभी ग्रहण नहीं किया और ग्रहण कर भी नहीं सकता, इसीलिये उनका त्याग ही किस तरह बन सकता है ? इसलिये वास्तवमें परका त्याग ज्ञानियोंने कहा है ऐसा मान लेना योग्य नहीं है । ब्रह्मचर्य पालन करनेवालोंको स्त्रियों और शरीरके प्रति राग दूर करना चाहिये, अतः इस सूत्रमें उनके प्रति रागका त्याग करनेको कहा है । व्यवहारके कथनोंको ही निश्चयके कथनकी तरह नहीं मानना, परन्तु इस कथनका जो परमार्थरूप अर्थ हो वही समझना चाहिये ।

यदि जीवके स्त्री आदिके प्रति राग दूर हो गया हो तो उस सम्बन्धी रागवाली बात सुननेकी तरफ उसकी रुचिका झुकाव क्यों हो ? इस तरहकी रुचिका विकल्प इस ओरका राग बतलाता है, इसलिये उस रागको त्याग करनेकी भावना इस सूत्रमें बतलाई है ॥ ६ ॥

परिग्रहत्याग व्रतकी पांच भावनायें

मनोज्ञामनोज्ञेन्द्रियविषयरागद्वेषवर्जनानि पंच ॥ ८ ॥

अर्थः—[**मनोज्ञामनोज्ञेन्द्रियविषयरागद्वेषवर्जनानि**] स्पर्शन आदि पाँचों इन्द्रियोंके इष्ट-अनिष्ट विषयोंके प्रति राग-द्वेषका त्याग करना [**पंच**] सो पाँच परिग्रहत्यागव्रतकी भावनायें हैं ।

टीका

इन्द्रियाँ दो प्रकारकी हैं—द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय । इसकी व्याख्या दूसरे अध्यायके १७-१८ सूत्रकी टीकामें दी है । भावेन्द्रिय वह ज्ञानका विकास है, वह जिन पदार्थोंको जानती है वे पदार्थ ज्ञानके विषय होनेसे ज्ञेय हैं, किन्तु यदि उनके प्रति राग-द्वेष किया जावे तो

उसे उपचारसे इन्द्रियोंका विषय कहा जाता है। वास्तवमें वह विषय (ज्ञेयपदार्थ) स्वयं इष्ट या अनिष्ट नहीं, किन्तु जिस समय जीव राग-द्वेष करता है तब उपचारसे उन पदार्थोंको इष्टानिष्ट कहा जाता है। इस सूत्रमें उन पदार्थोंकी ओर राग-द्वेष छोड़नेकी भावना करना बताया है।

रागका अर्थ प्रीति, लोलुपता और द्वेषका अर्थ नाराजी, तिरस्कार है ॥८॥

हिंसा आदिसे विरक्त होनेकी भावना

हिंसादिष्विहामुत्रापायावद्यदर्शनम् ॥९॥

अर्थः—[हिंसादिषु] हिंसा आदि पांच पापोंसे [इह अमुत्र] इस लोकमें तथा परलोकमें [अपायावद्यदर्शनम्] नाशकी (दुःख, आपत्ति, भय तथा निंद्यगतिकी) प्राप्ति होती है-ऐसा बारम्बार चिन्तवन करना चाहिये।

टीका

अपायः-अभ्युदय और मोक्षमार्गकी जीवकी क्रियाको नाश करनेवाला जो उपाय है सो अपाय है। अवद्य-निंद्य, निंदाके योग्य है।

हिंसा आदि पापोंकी व्याख्या सूत्र १३ से १७ तकमें की जायगी ॥९॥

दुःखमेव वा ॥१०॥

अर्थः—[वा] अथवा ये हिंसादिक पांच पाप [दुःखमेव] दुःखरूप ही है—ऐसा विचारना।

टीका

१ यहाँ कारणमें कार्यका उपचार समझना, क्योंकि हिंसादि तो दुःखके कारण हैं किन्तु उन्हें ही कार्य अर्थात् दुःखरूप बतलाया है।

प्रश्नः—हम ऐसा देखते हैं कि विषय-रमणतासे तथा भोग-विलाससे रतिसुख उत्पन्न होता है तथापि उसे दुःखरूप क्यों कहा ?

उत्तरः—इन विषयादिमें सुख नहीं, अज्ञानी लोग भ्रांतिसे उन्हें सुखरूप मानते हैं। ऐसा मानना कि परसे सुख होता है सो बड़ी भूल है-भ्रांति है। जैसे, चर्म-मांस-रुधिरमें

जब विकार होता है तब नख (नाखून) पत्थर आदिसे शरीरको खुजाता है; वहाँ यद्यपि खुजलानेसे अधिक दुःख होता है तथापि भ्रांतिसे सुख मानता है, उसीप्रकार अज्ञानी जीव परसे दुःख मानता है यह बड़ी भ्रांति-भूल है।

जीव स्वयं इन्द्रियोंके वश हो यही स्वाभाविक दुःख है। यदि उसे दुःख न हो तो जीव इन्द्रिय-विषयोंमें प्रवृत्ति क्यों करता है ? निराकुलता ही सच्चा सुख है; बिना सम्यग्दर्शन-ज्ञानके वह सुख नहीं हो सकता। अपने स्वरूपकी भ्रांतिरूप मिथ्यात्व और उस पूर्वक होनेवाला मिथ्याचारित्र ही सर्व दुःखोंका कारण है। दुःख कम हो उसे अज्ञानी सुख मानते हैं किन्तु वह सुख नहीं है। सुख-दुःखके वेदनका न होना ही सुख है अथवा जो अनाकुलता है सो सुख है—अन्य नहीं; और यह सुख सम्यग्ज्ञानका अविनाभावी है।

३. प्रश्नः-धन-संचयसे तो सुख दिखायी देता है तथापि वहां भी दुःख क्यों कहते हो ?

उत्तरः-धनसंचय आदिमें सुख नहीं। एक पक्षीके पास मांसका टुकड़ा पड़ा हो तब दूसरे पक्षी उसे नोंचते हैं और उस पक्षीको भी चोंचें मारते हैं, उस समय उस पक्षीकी जैसी हालत होती है वैसी हालत धन-धान्य आदि परिग्रहधारी मनुष्योंकी होती है। लोग संपत्तिशाली पुरुषको उसी तरह नोंचते है। धनकी संभाल करनेमें आकुलतासे दुःखी होना पड़ता है, अर्थात् यह मान्यता भ्रमरूप है कि धनसंचयसे सुख होता है। ऐसा मानना कि 'परवस्तुसे सुख-दुःख या लाभ-हानि होते हैं' यही बड़ी भूल है। परवस्तुमें इस जीवके सुख-दुःखका संग्रह किया हुआ नहीं है कि जिससे वह परवस्तु जीवको सुख-दुःख दे।

४. प्रश्नः—हिंसादि पांच पापोंसे विरक्त होनेकी भावना करनेको कहा, परन्तु मिथ्यात्व तो महापाप है तथापि छोड़नेके लिये क्यों नहीं कहा ?

उत्तरः—यह अध्याय इसका प्ररूपण करता है कि सम्यग्दृष्टि जीवके कैसा शुभास्रव होता है। सम्यग्दृष्टिके मिथ्यात्वरूप महापाप तो होता ही नहीं इसीलिये इस सम्बन्धी वर्णन इस अध्यायमें नहीं। इस अध्यायमें सम्यग्दर्शनके बाद होनेवाले व्रत सम्बन्धी वर्णन हैं। जिसने मिथ्यात्व छोड़ा हो वही असंयत सम्यग्दृष्टि देशविरति और सर्वविरति हो सकता है—यह सिद्धांत इस अध्यायके १८ वें सूत्रमे कहा है।

मिथ्यादर्शन महापाप है, उसे छोड़नेको पहले छट्ठे अध्यायके १३ वें सूत्रमें कहा है तथा अब फिर आठवे अध्यायके पहले सूत्रमे कहेंगे ॥१०॥

व्रतधारी सम्यग्दृष्टिकी भावना

मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थानि च सत्वगुणाधिक-क्लिश्यमानाविनयेषु ॥११॥

अर्थः— [सत्त्वेषु मैत्री] प्राणीमात्रके प्रति निर्वैर बुद्धि [गुणाधिकेषु प्रमोदं] अधिक गुणवालोंके प्रति प्रमोद (हर्ष) [क्लिश्यमानेषु कारुण्य] दुःखी रोगी जीवोंके प्रति करुणा और [अविनयेषु माध्यस्थ] हठाग्रही मिथ्यादृष्टि जीवोंके प्रति माध्यस्थ भावना-ये चार भावना अहिंसादि पाँच व्रतोंकी स्थिरताके लिये बारम्बार चिंतवन करने योग्य हैं।

टीका

सम्यग्दृष्टि जीवोंके यह चार भावनायें शुभभावरूपसे होती हैं। ये भावना मिथ्यादृष्टिके नहीं होती, क्योंकि उसे वस्तुस्वरूपका विवेक नहीं है।

मैत्रीः—जो दूसरेको दुःख न देनेकी भावना है सो मैत्री है।

प्रमोदः—अधिक गुणोंके धारक जीवोंके प्रति प्रसन्नता आदिसे अन्तरंग-भक्ति प्रगट होना सो प्रमोद है।

कारुण्य.—दुःखी जीवोंको देखकर उनके प्रति करुणाभाव होना सो कारुण्य है।

माध्यस्थः—जो जीव तत्त्वार्थ-श्रद्धासे रहित है और तत्त्वका उपदेश देनेसे उलटा चिढ़ता है उसके प्रति उपेक्षाभाव रखना सो माध्यस्थपन है।

२ इस सूत्रके अर्थकी पूर्णता करनेके लिये निम्न तीन वाक्योंमेंसे कोई एक वाक्य लगाना—

(१) 'तत्स्थैर्यार्थं भावयितव्यानि' इन अहिंसादिक पाँच व्रतोंकी स्थिरताके लिये भावना करनी योग्य है।

(२) 'भावयतः पूर्णान्यहिंसादीनि व्रतानि भवन्ति' इस भावनाके भानेसे अहिंसादिक पाँच व्रतोंकी पूर्णता होती है।

(३) 'तत्स्थैर्यार्थम् भावयेत्' इन पाँच व्रतोंकी दृढ़ताके लिये भावना करे।

[देखो, सर्वार्थसिद्धि अध्याय ७ पृष्ठ २९]

३. ज्ञानी पुरुषोंको अज्ञानी जीवोंके प्रति द्वेष नहीं होता, किन्तु करुणा होती है। इस सम्बन्धमे श्री आत्मसिद्धि शास्त्रकी तीसरी गाथा मे कहा है कि—

कोई क्रियाजड़ हो रहे शुष्क ज्ञानमें कोई।
माने मारग मोक्षका करुणा उपजे जोई ॥३॥

अर्थः—कोई क्रियामें ही जड़ हो रहा है, कोई ज्ञानमें शुष्क होरहा है और वे इनमें मोक्षमार्ग मान रहे हैं, उन्हें देखकर करुणा पैदा होती है।

गुणाधिकः—जो सम्यग्ज्ञानादि गुणोंमें प्रधान—मान्य—वड़ा हो वह गुणाधिक है।

क्लिश्यमानः—जो महामोहरूप मिथ्यात्वसे ग्रस्त है, कुमति, कुश्रुतादिसे परिपूर्ण हैं, जो विषय-सेवन करनेकी तीव्र तृष्णारूप अग्निसे अत्यन्त दग्ध हो रहे हैं और वास्तविक हितकी प्राप्ति और अहितका परिहार करनेमें जो विपरीत हैं—इस कारणसे वे दुःखसे पीड़ित हैं, वे जीव क्लिश्यमान हैं।

अविनयीः—जो जीव मिट्टीके पिंड, लकड़ी या दीवालकी तरह जड़-अज्ञानी हैं वे वस्तुस्वरूपको ग्रहण करना (समझना और धारण करना) नहीं चाहते, तर्कशक्तिसे ज्ञान नहीं करना चाहते तथा दृढ़रूपसे विपरीत श्रद्धावाले है, और जिनने द्वेषादिकके वश हो वस्तुस्वरूपको अन्यथा ग्रहण कर रखा है, ऐसे जीव अविनयी है, ऐसे जीवोंको अपदृष्टि-मूढ़दृष्टि भी कहते है ॥११॥

व्रतोंकी रक्षाके लिये सम्यग्दृष्टिकी विशेष भावना

जगत्कायस्वभावौ वा संवेगवैराग्यार्थम् ॥१२॥

अर्थः—[**संवेगवैराग्यार्थम्**] संवेग अर्थात् संसारका भय और वैराग्य अर्थात् राग-द्वेषका अभाव करनेके लिये (जगत्कायस्वभावौ वा) क्रमसे संसार और शरीरके स्वभावका चिन्तवन करना चाहिये।

टीका

१. जगत्का स्वभाव

छह द्रव्योंके समूहका नाम जगत् है। प्रत्येक द्रव्य अनादि–अनन्त है। इनमे जीवके अतिरिक्त पांच द्रव्य जड़ है और जीवद्रव्य चेतन है। जीवोंकी संख्या अनन्त है, पांच अचेतन

द्रव्योंके सुख-दुःख नहीं, जीवद्रव्यके सुख-दुःख है। अनन्त जीवोंमें कुछ सुखी हैं और बहुभागके जीव दुःखी हैं। जो जीव सुखी हैं वे सम्यग्ज्ञानी ही हैं, बिना सम्यग्ज्ञान के कोई जीव सुखी नहीं हो सकता। सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञानका कारण । इस तरह सुखका प्रारम्भ सम्यग्दर्शनसे ही होता है और सुखकी पूर्णता सिद्धदशामें होती है। स्वस्वरूपको नहीं समझनेवाले मिथ्या-दृष्टि जीव दुःखी हैं। इन जीवोंके अनादिसे दो बड़ी भूलें चली हुई हैं, वे भूलें निम्नप्रकार हैं—

(१) ऐसी मान्यता मिथ्यादृष्टिकी है कि शरीरादि परद्रव्यका मैं कर सकता हूं और परद्रव्य मेरा कर सकते हैं, इसप्रकार परवस्तुसे मुझे लाभ-हानि होती है और जीवको पुण्यसे लाभ होता है। यह मिथ्या मान्यता है। शरीरादिके प्रत्येक परमाणु स्वतन्त्र द्रव्य हैं, जगत्का प्रत्येक द्रव्य स्वतन्त्र है। परमाणु द्रव्य स्वतन्त्र है तथापि जीव उसे हला-चला सकता है, इसकी व्यवस्था संभाल सकता है, ऐसी मान्यता द्रव्योंकी स्वतन्त्रता छीन लेनेके बराबर है और इसमें प्रत्येक रजकणपर जीवका स्वामित्व होनेकी मान्यता आती है, यह अज्ञानरूप मान्यता अनन्त संसारका कारण है। प्रत्येक जीव भी स्वतन्त्र है। यदि यह जीव पर जीवोंका कुछ कर सकता और यदि पर जीव इसका कुछ कर सकते तो एक जीव पर दूसरे जीवका स्वामित्व हो जायगा और स्वतन्त्र वस्तुका नाश हो जायेगा। पुण्यभाव विकार है, स्वद्रव्यका आश्रय चूककर अनन्त परद्रव्योंके आश्रयसे यह भाव होता है, इससे जीवको लाभ होता है, यदि ऐसा मानें तो यह सिद्धान्त निश्चित होता है कि परद्रव्यके आलम्बनसे (—पराश्रय-पराधीनतासे) लाभ है—सुख है, किन्तु यह मान्यता अपसिद्धान्त है—मिथ्या है।

(२) मिथ्यादृष्टि जीवकी अनादिकालसे दूसरी भूल यह है कि जीव विकारी अवस्था जितना ही है अथवा जन्मसे मरण पर्यन्त ही है—ऐसा मानकर किसी समयमें भी ध्रुवरूप त्रिकाल शुद्ध चैतन्य-चमत्कार स्वरूपको नहीं पहचानता और न उसका आश्रय करता है।

इन दो भूलोंरूप ही संसार है, यही दुःख है, इन्हें दूर किये बिना कोई जीव सम्यग्ज्ञानी-धर्मी-सुखी नहीं हो सकता। जहां तक यह मान्यता हो वहां तक जीव दुःखी ही है।

श्री समयसार भाष्य गाथा ३०८ से ३११ मेंसे इस सम्बन्धी कुछ प्रमाण दिये जाते हैं —

"समस्त द्रव्योंके परिणाम जुदे-जुदे हैं, सभी द्रव्य अपने अपने परिणामोंके कर्ता हैं, वे इन परिणामोंके कर्ता हैं, वे परिणाम उनके कर्म हैं। निश्चयसे वास्तवमें किसीका किसीके साथ कर्ताकर्म-सम्बन्ध नहीं है, इसलिए जीव अपने परिणामका ही कर्ता है, अपना परिणाम कर्म है। इसी तरह अजीव अपने परिणामका ही कर्ता है, अपना परिणाम कर्म है। इसप्रकार जीव दूसरेके परिणामोंका अकर्ता है।"

(स० सार कलश १९९) "जो अज्ञान-अन्धकारसे आच्छादित होकर आत्माको (परका) कर्ता मानते हैं वे चाहे मोक्षके इच्छुक हों तो भी सामान्य (लौकिक) जनोंकी तरह उनको भी मोक्ष नहीं होता।"

'जो जीव व्यवहारसे मोहित होकर परद्रव्यका कर्तापन मानता है वह लौकिकजन हो या मुनिजन हो--मिथ्यादृष्टि ही है।' (कलश २०१)

"क्योंकि इस लोकमें एक वस्तुका अन्य वस्तुके साथ सारा सम्बन्ध ही निषेध किया गया है, इसीलिये जहां वस्तुभेद है अर्थात् भिन्न वस्तुयें हैं वहां कर्ता-कर्मकी घटना नहीं होती—इसप्रकार मुनिजनो और लौकिकजनो! तत्त्वको (वस्तुके यथार्थ स्वरूपको) अकर्ता देखो (-ऐसा श्रद्धान करना कि कोई किसीका कर्ता नहीं, परद्रव्य परका अकर्ता ही है)"

ऐसी सत्यः-यथार्थ बुद्धिको शिवबुद्धि अथवा कल्याणकारी बुद्धि कहते हैं।

—शरीर, स्त्री, पुत्र, धन, इत्यादि पर वस्तुओंमें जीवका संसार नहीं है, किन्तु मैं उन परद्रव्योंका कुछ कर सकता हूं अथवा मुझे उनसे सुख-दुःख होते हैं ऐसी विपरीत मान्यता (मिथ्यात्व) ही संसार है। संसार यानी (सं०+सृ) अच्छी तरह खिसक जाना। जीव अपने स्वरूपकी यथार्थ मान्यतामेंसे अनादिसे अच्छी तरह खिसक जानेका कार्य (विपरीत मान्यतारूपी कार्य) करता है इसीलिए वह संसार-अवस्थाको प्राप्त हुआ है। अतः जीवकी विकारी अवस्था ही संसार है, किन्तु जीवका संसार जीवसे बाहर नहीं है। प्रत्येक जीव स्वयं अपने गुण-पर्यायोंमें है, जो अपने गुण-पर्याय हैं सो जीवका जगत् है। न तो जीवमें जगत्के अन्य द्रव्य हैं और न यह जीव जगत्के अन्य द्रव्योंमें है।

सम्यग्दृष्टि जीव जगत्के स्वरूपका इसप्रकार चिंतवन करते हैं।

२. शरीरका स्वभाव

शरीर अनन्त रजकणोंका पिण्ड है। जीवका कार्माणशरीर और तैजसशरीरके साथ अनादिसे संयोग-सम्बन्ध है। सूक्ष्म होनेसे यह शरीर इन्द्रियगम्य नहीं। इसके अलावा जीवके एक स्थूल शरीर होता है, परन्तु जब एक शरीर छोड़कर दूसरा शरीर धारण करता है तब बीचमें जितना समय लगता है उतने समय तक (अर्थात् विग्रहगतिमें) जीवके यह स्थूल शरीर नहीं होता। मनुष्य तथा एकेन्द्रियसे पंचेन्द्रिय तकके तिर्यंचोंके जो स्थूल शरीर होता है वह औदारिकशरीर है और देव तथा नारकियोंके वैक्रियिकशरीर होता है। इसके सिवाय एक आहारकशरीर होता है, और वह विशुद्ध संयमके धारक मुनिराजके ही होता है। वास्तव में ये पांचों प्रकारके शरीर जड़ हैं-अचेतन हैं अर्थात् यथार्थमें ये शरीर

जीवके नहीं। कार्माणशरीर तो इन्द्रियसे दिखाई नहीं देता तथापि ऐसा व्यवहार-कथन सुनकर कि 'संसारी जीवोंके कार्माण शरीर होता है' इसका यथार्थ आशय समझनेके बदले उसे निश्चय कथन मानकर अज्ञानी ऐसा मान लेते हैं कि वास्तवमें जीवका ही शरीर होता है।

शरीर अनन्त रजकणोंका पिण्ड है और प्रत्येक रजकण स्वतंत्र द्रव्य है, यह हलन-चलनादिरूप अपनी अवस्था अपने कारणसे स्वतन्त्ररूपसे धारण करता है। प्रत्येक परमाणु-द्रव्य अपनी नवीन पर्याय प्रतिसमय उत्पन्न करता है और पुरानी पर्यायका अभाव करता है। इस तरह पर्यायके उत्पाद-व्ययरूप कार्य करते हुए वे प्रत्येक परमाणु ध्रुवरूपसे हमेशा बने रहते हैं। अतएव जगत्के समस्त द्रव्य स्थिर रहकर बदलनेवाले हैं। ऐसा होने पर भी अज्ञानी जीव ऐसा भ्रम सेवन करते हैं कि जीव शरीरके अनन्त परमाणुद्रव्योंकी पर्याय कर सकता है और जगत्के अज्ञानियोंकी ओरसे जीवको अपनी इस विपरीत मान्यताकी बलवान-पनेसे—विशेषरूपसे पुष्टि मिला करती है। शरीरके साथ जो एकत्वबुद्धि है सो इस अज्ञानका कारण है अतः इसके फलस्वरूप जीवके अपने विकारभावके अनुसार नये-नये शरीरका संयोग हुआ करता है। इस भूलको दूर करनेके लिये चेतन और जड़वस्तुके स्वभावकी स्वतन्त्रता समझनेकी आवश्यकता है।

सम्यग्दृष्टि जीव इस वस्तुस्वभावको सम्यग्ज्ञानसे जानता है। यहाँ इस सम्यग्ज्ञान और यथार्थ मान्यताको विशेष स्थिर-निश्चल करनेके लिये इसका बारम्बार विचार-चिंतवन करना कहा है।

३. संवेग

सम्यग्दर्शनादि धर्ममें तथा उसके फलमें उत्साह होना और संसारका भय होना सो संवेग है। परवस्तु संसार नहीं किन्तु अपना विकारीभाव संसार है। इस विकारीभावका भय रखना अर्थात् इस विकारी भावके न होनेकी भावना रखना और वीतरागदशाकी भावना बढ़ाना चाहिये। सम्यग्दृष्टि जीवोंके जहाँ तक पूर्ण वीतरागता प्रगट न हो वहाँ तक अनित्य राग-द्वेष रहता है, इसीलिये उससे भय रखनेको कहा है। जिस किसी भी तरह विकारभाव नहीं होने देना और अशुभराग दूर होने पर जो शुभराग रह जाय उससे भी धर्म न मानना, किन्तु उसके दूर करनेकी भावना करना चाहिये।

४. वैराग्य

राग-द्वेषके अभावको वैराग्य कहते हैं। यह शब्द 'नास्ति' वाचक है, किन्तु कहीं भी अस्तिके बिना नास्ति नहीं होती। जब जीवमें राग-द्वेषका अभाव होता है तब जिसका सद्भाव

होता है ? जीवमें जितने अंशमें राग-द्वेषका अभाव होता है उतने अंशमें वीतरागता-ज्ञान-आनन्द-सुखका सद्भाव होता है। यहाँ सम्यग्दृष्टि जीवोंको संवेग और वैराग्यके लिये जगत् और शरीरके स्वभाव का बारम्बार चिन्तवन करनेको कहा है।

५. विशेष स्पष्टीकरण

प्रश्नः— यदि जीव शरीरका कुछ नहीं करता और शरीरकी क्रिया उससे स्वयं ही होती है तो शरीरमेंसे जीव निकल जानेके बाद शरीर क्यों नहीं चलता ?

उत्तरः— परिणाम (पर्यायका परिवर्तन) अपने-अपने द्रव्यके आश्रयसे होता है; एक द्रव्यके परिणामको अन्य द्रव्यका आश्रय नहीं होता। पुनश्च, कोई भी कार्य बिना कर्ताके नहीं होता, तथा वस्तुकी एकरूप स्थिति नहीं होती। इस सिद्धान्तके अनुसार जब मृतक शरीरके पुद्गलोंकी योग्यता लम्बाई रूपमें स्थिर पड़े रहनेकी होती है तब वे वैसी दशामें पड़े रहते हैं और जब उस मृतक शरीरके पुद्गलोंके पिंडकी योग्यता घरके बाहर अन्य क्षेत्रांतरकी होती है तब वे अपनी क्रियावतीशक्तिके कारणसे क्षेत्रांतर होते हैं और उस समय रागी जीव वगैरह निमित्तरूप उपस्थित होते हैं, परन्तु वे रागी जीव आदि पदार्थ मुर्देकी कोई अवस्था नहीं करते। मुर्देके पुद्गल स्वतंत्र वस्तु है, उस प्रत्येक रजकणका परिणमन उसके अपने कारणसे होता है; उन रजकणोंकी जिस समय जैसी अवस्था होने योग्य हो वैसी ही अवस्था उसके स्वाधीनरूपसे होती है। परद्रव्योंकी अवस्थामें जीवका कुछ भी कर्तृत्व नहीं है। इतनी बात जरूर है कि उस समय रागी-जीवके अपनेमें जो कषायवाला उपयोग और योग होता है उसका कर्ता स्वयं वह जीव है।

सम्यग्दृष्टि जीव ही जगत् (अर्थात् संसार) और शरीर के स्वभावका यथार्थ विचार कर सकता है। जिनके जगत् और शरीरके स्वभावकी यथार्थ प्रतीति नहीं ऐसे जीव (मिथ्यादृष्टि जीव) 'यह शरीर अनित्य है, संयोगी है, जिसका संयोग होता है उसका वियोग होना है' इस प्रकार शरीराश्रित मान्यतासे ऊपरी वैराग्य (अर्थात् मोहगर्भित या द्वेषगर्भित वैराग्य) प्रगट करते हैं, किन्तु वह सच्चा वैराग्य नहीं है। सम्यक् ज्ञानपूर्वक वैराग्य ही सच्चा वैराग्य है। आत्माके स्वभावको जाने बिना यथार्थ वैराग्य नहीं होता। आत्मज्ञानके बिना मात्र जगत और शरीरकी क्षणिकताके आश्रयसे हुआ वैराग्य अनित्य जानिका है, इस भावमें धर्म नहीं है। सम्यग्दृष्टिके अपने असंयोगी नित्य ज्ञायकस्वभावके आलम्बन पूर्वक अनित्य भावना होती है, यही सच्चा वैराग्य है ॥१२॥

हिंसा पापका लक्षण

प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा ॥१३॥

अर्थः—[प्रमत्तयोगात्] कषाय-राग-द्वेष अर्थात् अयत्नाचार (असावधानी प्रमाद) के सम्बन्धसे अथवा प्रमादी जीवके मन-वचन-काय योगसे [प्राणव्यपरोपणं] जीवके भाव-प्राणका, द्रव्यप्राणका अथवा इन दोनोंका वियोग करना सो [हिंसा] हिंसा है।

टीका

१ जैनशासनका यह एक महासूत्र है। इसे ठीक-ठीक समझनेकी जरूरत है।

इस सूत्रमें 'प्रमत्तयोगात्' शब्द भाववाचक है, वह यह बतलाता है कि प्राणोंके वियोग होने मात्रसे हिंसाका पाप नहीं किन्तु प्रमादभाव हिंसा है और उससे पाप है। शास्त्रोंमें कहा है कि—प्राणियोंके प्राण अलग होने मात्रसे हिंसाका बंध नहीं होता, जैसे कि ईर्यासमितिवाले मुनिके उनके गमनके स्थानमें यदि कोई जीव आ जाय और पैरके संयोगसे वह जीव मर जाय तो वहा उस मुनिके उन जीवकी मृत्युके निमित्त से जरा भी बन्ध नहीं होता, क्योंकि उनके भावमें प्रमाद-योग नहीं है।

२ आत्माके शुद्धोपयोगरूप परिणामको घातनेवाला भाव ही सम्पूर्ण हिंसा है, असत्य वचनादि भेद मात्र शिष्योंको समझानेके लिये उदाहरणरूप कहे हैं। वास्तवमें जैन-शास्त्रका यह थोड़ेमें रहस्य है कि 'रागादिभावोंकी उत्पत्ति न होना सो अहिंसा है और रागादि भावोंकी उत्पत्ति होना सो हिंसा है'। (पुरुषार्थसिद्धि-उपाय गाथा ४२-४४)

प्रश्नः—चाहे जीव मरे या न मरे तो भी प्रमादके योगसे (अयत्नाचारसे) निश्चय हिंसा होती है, तो फिर यहा सूत्रमें 'प्राणव्यपरोपणं' इस शब्दका किसलिये प्रयोग किया है?

उत्तरः—प्रमादयोगसे जीवके अपने भावप्राणोंका घात (मरण) अवश्य होता है। प्रमादमें प्रवर्तनेसे प्रथम तो जीव अपने ही शुद्ध भावप्राणोंका वियोग करता है, फिर वहाँ अन्य जीवके प्राणोंका वियोग (व्यपरोपण) हो या न हो, तथापि अपने भावप्राणोंका वियोग तो अवश्य होता है—यह बतानेके लिये 'प्राणव्यपरोपण' शब्दका प्रयोग किया है।

४ जिस पुरुषके क्रोधादि कषाय प्रगट होती है उसके अपने शुद्धोपयोगरूप भाव-प्राणोंका घात होता है। कषायके प्रगट होनेसे जीवके भावप्राणोंका जो व्यपरोपण होता

है-सो भाव-हिंसा है और इस हिंसाके समय यदि प्रस्तुत जीवके प्राणका वियोग हो तो वह द्रव्य-हिंसा है।

५. यह जैन-सिद्धान्तका रहस्य है कि आत्मामें रागादिभावोंकी उत्पत्ति होनेका नाम ही भाव-हिंसा है। जहाँ धर्मका लक्षण अहिंसा कहा है वहाँ ऐसा समझना कि 'रागादि भावोंका जो अभाव है सो अहिंसा है'। इसलिये विभावरहित अपना स्वभाव है, ऐसे भाव-पूर्वक जिस तरह जितना बने उतना अपने रागादि भावोंका नाश करना सो धर्म है। मिथ्या-दृष्टि जीवके रागादि भावोंका नाश नहीं होता; उसके प्रत्येक समयमें भाव-मरण हुआ ही करता है। जो भावमरण है वही हिंसा है, इसीलिये उसके धर्मका अंश भी नहीं है।

६. इन्द्रियोंकी प्रवृत्ति पापमें हो या पुण्यमें हो, किन्तु उस प्रवृत्तिके दूर करनेका विचार न करना सो प्रमाद है। (तत्त्वार्थसार पृष्ठ २२३)

७. इस हिंसा-पापमें असत्य आदि दूसरे चार पाप गर्भित हो जाते हैं। असत्य इत्यादि भेद तो मात्र शिष्यको समझानेके लिये दृष्टान्तरूपसे पृथक् बतलाये हैं।

८. यदि कोई जीव दूसरेको मारना चाहता हो किन्तु ऐसा प्रसंग न मिलनेसे नहीं मार सका, तो भी उस जीवके हिंसाका पाप लगा, क्योंकि वह जीव प्रमादभावसहित है और प्रमादभाव ही भावप्राणोंकी हिंसा है।

९. जो ऐसा मानता है कि 'मैं पर जीवोंको मारता हूँ और पर जीव मुझे मारते हैं' वह मूढ़ है-अज्ञानी है और इससे विपरीत अर्थात् जो ऐसा नहीं मानता वह ज्ञानी है। (देखो, समयसार गाथा २४७)

जीवोंको मारो या न मारो—अध्यवसान से ही कर्मबन्ध होता है। प्रस्तुत जीव मरे या न मरे, इस कारणसे बन्ध नहीं है। (देखो, समयसार गाथा २६२)

१०. यहां योगका अर्थ सम्बन्ध होता है। 'प्रमत्तयोगात्' का अर्थ है प्रमादके सम्बन्ध से। यहां ऐसा अर्थ भी हो सकता है कि मन-वचन-कायके आलम्बनसे आत्माके प्रदेशोंका हलन-चलन होना सो योग है। प्रमादरूप परिणामके सम्बन्धसे होनेवाला योग 'प्रमत्तयोग' है।

११. प्रमादके १५ भेद हैं-४ विकथा (स्त्रीकथा, भोजनकथा, राजकथा, चोरकथा), ५ इंद्रियोंके विषय, ४ कषाय (क्रोध, मान, माया, लोभ), १ निद्रा और १ प्रणय। इंद्रियां वगैरह तो निमित्त हैं और जीवका जो असावधान भाव है सो उपादानकारण है; प्रमादका अर्थ अपने स्वरूपकी असावधानी भी होता है।

१२. तेरहवें सूत्रका सिद्धान्त

जीवका प्रमत्तभाव शुद्धोपयोगका घात करता है इसलिये वही हिंसा है, और स्वरूपके उत्साहसे जितने अंशमें शुद्धोपयोगका घात न हो—जागृति हो—उतने अंशमें अहिंसा है। मिथ्यादृष्टिके सच्ची अहिंसा कभी नहीं होती ॥१३॥

असत्यका स्वरूप

असदभिधानमनृतम् ॥१४॥

अर्थः— प्रमादके योगसे [असदभिधानं] जीवोंको दुःखदायक अथवा मिथ्यारूप वचन बोलना सो [अनृतम्] असत्य है।

टीका

१ प्रमादके सम्बन्धसे झूठ बोलना सो असत्य है। जो शब्द निकलता है वह तो पुद्गल द्रव्यकी अवस्था है, उसे जीव नहीं परिणमाता, इसीसे मात्र शब्दोंके उच्चारणका पाप नहीं किन्तु जीवका असत्य बोलनेका जो प्रमादभाव है वही पाप है।

२. सत्यका परमार्थ स्वरूप

(१) आत्माके अतिरिक्त अन्य कोई पदार्थ आत्माका नहीं हो सकता और दूसरे किसीका कार्य आत्मा नहीं कर सकता—ऐसा वस्तुस्वरूपका निश्चय करना चाहिये, और देह, स्त्री, पुत्र, मित्र, धन, धान्य, गृह इत्यादि परवस्तुओंके सम्बन्धमें भाषा बोलनेके विकल्पके समय यह उपयोग (—अभिप्राय) रखना चाहिये कि 'मैं आत्मा हूँ, एक आत्माके अलावा अन्य कोई मेरा नहीं, मेरे आधीन नहीं और मैं किसीका कुछ भी कर नहीं सकता, अन्य आत्माके सम्बन्धमें बोलने पर भी यह अभिप्राय, यह उपयोग (—विवेक) जाग्रत रखना चाहिये कि वास्तवमें 'जाति, लिंग, इन्द्रियादिक उपचरित भेदवाला यह आत्मा कभी नहीं है, परन्तु स्थूल व्यवहारसे ऐसा कहा जाता है।' यदि इस तरहकी पहचानके उपयोग पूर्वक सत्य बोलनेका भाव हो तो वह पारमार्थिक सत्य है। वस्तुस्वरूपकी प्रतीतिके बिना परमार्थ सत्य नहीं होता। इस सम्बन्धमें और स्पष्ट समझाते हैं—

(अ) यदि कोई जीव आरोपित भाव करे कि मेरी देह, मेरा घर, मेरी स्त्री, मेरा पुत्र, इत्यादि प्रकारसे भाषा बोलता है, (—बोलनेका भाव करता है) उस समय मैं इन अन्य द्रव्योंसे भिन्न हूं, वास्तवमें वे कोई मेरे नहीं, मैं उनका कुछ कर नहीं सकता, मैं भाषा बोल नहीं सकता, ऐसी स्पष्टतासे यदि उस भावके प्रतीति हो तो वह परमार्थ सत्य कहा जाता है।

(च) कोई ग्रन्थकार राजा श्रेणिक और चेलना रानी का वर्णन करता हो, उस समय 'वे दोनो ज्ञानस्वरूप आत्मा थे और मात्र श्रेणिक और चेलनाके मनुष्यभवमें उनका सम्बन्ध था' यदि यह बात उनके लक्षमें हो और ग्रन्थ रचनेकी प्रवृत्ति हो तो वह परमार्थ सत्य है।
(देखो, श्रीमद् राजचंद्र आवृत्ति २ पृष्ठ ६१३)

(२) जीवने लौकिक-सत्य बोलनेका अनेकबार भाव किया है, किन्तु परमार्थ सत्यका स्वरूप नहीं समझा, इसीलिये जीवका भव-भ्रमण नहीं मिटता। सम्यग्दर्शनपूर्वक अभ्याससे परमार्थ सत्यकथनकी पहचान हो सकती है और उसके विशेष अभ्याससे सहज उपयोग रहा करता है। मिथ्यादृष्टिके कथनमें कारण विपरीतता, स्वरूप विपरीतता और भेदाभेद विपरीतता होती है, इसीलिये लौकिक अपेक्षासे यदि वह कथन सत्य हो, तो भी परमार्थसे उसका सर्व कथन सत्य है।

(३) जो वचन प्राणियोंको पीड़ा देनेके भावसहित हों वे भी अप्रशस्त हैं, और बादमें चाहे वचनोंके अनुसार वस्तुस्थिति विद्यमान हो तो भी वह असत्य है।

(४) स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावसे अस्तित्वरूप वस्तुको अन्यथा कहना सो असत्य है। वस्तुके द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावका स्वरूप निम्नप्रकार है:—

द्रव्यः—गुणोंके समूह अथवा अपनी त्रैकालिक सर्व पर्यायोंका समूह सो द्रव्य है। द्रव्यका लक्षण सत् है, वह उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य सहित है। गुण-पर्यायके समुदायका नाम द्रव्य है।

क्षेत्रः—स्वके जिस प्रदेशमें द्रव्य स्थिति हो वह उसका क्षेत्र है।

कालः—जिस पर्यायरूपसे द्रव्य परिणमे वह उसका काल है।

भावः—द्रव्यकी जो निजशक्ति-गुण है सो उसका भाव है।

इन चार प्रकारसे द्रव्य जिस तरह है उस तरह न मानकर अन्यथा मानना अर्थात् जीव स्वयं शरीर इत्यादि परद्रव्यरूप हो जाता है, अपनी अवस्था कर्म या शरीर इत्यादि परद्रव्य कराते हैं, कर सकते हैं और अपने गुण दूसरेसे हो सकते हैं, अथवा वे देव-गुरु-शास्त्रके अवलम्बनसे प्रगट हो सकते हैं; इत्यादि प्रकारसे मानना तथा उस मान्यताके अनुसार बोलना सो असत्य-वचन है। स्वके द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावमें परवस्तुयें नास्तिरूप हैं; यह भूलकर उनका स्वयं कुछ कर सकता है ऐसी मान्यतापूर्वक बोलना सो भी असत्य है।

(५) ऐसा कहना कि आत्मा कोई स्वतंत्र पदार्थ नहीं है अथवा परलोक नहीं है सो असत्य है। ये दोनो पदार्थ आगमसे, युक्तिसे तथा अनुभवसे सिद्ध हो सकते हैं तथापि

उनका अस्तित्व न मानना सो असत्य है, और आत्माका स्वरूप जैसा न हो उसे वैसा कहना सो भी असत्य-वचन है।

३ प्रश्नः—वचन तो पुद्गल द्रव्यकी पर्याय है, उसे जीव नहीं कर सकता, तथापि असत्य-वचनसे जीवको पाप क्यों लगता है ?

उत्तरः—वास्तवमें पाप या बन्धन असत्य-वचनसे नहीं होता, किन्तु 'प्रमत्तयोगात्' अर्थात् प्रमादभावसे ही पाप लगता है और बन्ध होता है। असत्य-वचन जड़ है, वह तो मात्र निमित्त है। जब जीव असत्य बोलनेका भाव करता है तब यदि पुद्गल परमाणु वचनरूपसे परिणमनेके योग्य हों तो वे असत्य वचनरूपसे परिणमते हैं। जीव तो मात्र असत्य बोलनेका भाव करता है तथापि वहां भाषावर्गणा वचनरूप नहीं भी परिणमती, ऐसा होनेपर भी जीवका विकारीभाव ही पाप है वह बन्धका कारण है।

आठवें अध्यायके पहले सूत्रमें यह कहेंगे कि प्रमाद बन्धका कारण है।

४—अकषाय स्वरूपमें जाग्रत-सावधान रहनेसे ही प्रमाद दूर होता है। सम्यग्दृष्टि जीवोंके चौथे गुणस्थानमें अनन्तानुबन्धी कषाय पूर्वक होनेवाला प्रमाद दूर हो जाता है, पाँचवें गुणस्थानमें अनन्तानुबन्धी तथा अप्रत्याख्यान कषायपूर्वक होनेवाला प्रमाद दूर हो जाता है, छट्ठे गुणस्थानमें अनन्तानुबन्धी अप्रत्याख्यान कषायपूर्वक होनेवाला प्रमाद दूर हो जाता है, किन्तु तीव्र संज्वलन कषायपूर्वक होनेवाला प्रमाद होता है। इसप्रकार उत्तरोत्तर प्रमाद दूर होता जाता है और बारहवें गुणस्थानमें सब कषायका नाश हो जाता है।

५—उज्ज्वल वचन, विनय वचन और प्रिय वचनरूप भाषावर्गणा समस्त लोकमें भरी हुई है, उसकी कुछ कमी नहीं, कुछ कीमत नहीं देनी पड़ती। सुन्दर मीठे कोमलरूप वचन बोलनेसे जीभ नहीं दुखती, शरीरमें कष्ट नहीं होता, ऐसा समझकर असत्यवचनको दुःखका मूल जानकर शीघ्र उस प्रमादका भी त्याग करना चाहिये और सत्य तथा प्रिय-वचनकी ही प्रवृत्ति करनी चाहिए, ऐसा व्यवहारका उपदेश है ॥१४॥

स्तेय (चोरी) का स्वरूप

अदत्तादानं स्तेयम् ॥१५॥

अर्थः—[अदत्तादानं] बिना दी हुई किसी भी वस्तुको ग्रहण करना सो [स्तेयम्] चोरी है

टीका

प्रश्नः—कर्मवर्गणा और नोकर्मवर्गणाओंका ग्रहण चोरी कहलायगा या नही ?

उत्तरः—वह चोरी नहीं कहा जायगा; जहां लेना-देना सम्भव हो वहां चोरीका व्यवहार होता है, इस कारणसे 'अदत्त' शब्द दिया है।

प्रश्नः—मुनिराजके ग्राम-नगर इत्यादिमें भ्रमण करने पर गली-दरवाजा आदिमें प्रवेश करनेसे क्या अदत्तादान होता है ?

उत्तरः—यह अदत्तादान नही कहलाता, क्योंकि यह स्थान सभीके आने-जानेके लिए खुला है। पुनश्च, गली आदिमें प्रवेश करनेसे मुनिके प्रमत्तयोग नहीं होता।

चाहे वाह्य-वस्तुका ग्रहण हो या न भी हो तथापि चोरी करनेका जो भाव होता है वही चोरी है और वही वंधका कारण है। वास्तवमें परवस्तुको कोई ग्रहण कर ही नहीं सकता। परवस्तुके ग्रहण करनेका जो प्रमादयुक्त भाव है वही दोप है ॥१५॥

कुशील (अब्रह्मचर्य) का स्वरूप—

मैथुनमब्रह्म ॥१६॥

अर्थः—[**मैथुनमब्रह्म**] जो मैथुन है सो अब्रह्म अर्थात् कुशील है।

टीका

१. मैथुनः—चारित्र मोहनीयके उदयमे युक्त होनेसे राग-परिणाम सहित स्त्रीपुरुषोंकी जो परस्परमे स्पर्श करनेकी इच्छा है सो मैथुन है। (यह व्याख्या व्यवहार मैथुनकी है)

मैथुन दो प्रकारका है—निश्चय और व्यवहार। आत्मा स्वयं ब्रह्मस्वरूप है; आत्माकी अपने ब्रह्मस्वरूपमें जो लीनता है सो वास्तवमें ब्रह्मचर्य है और पर निमित्तसे-रागसे लाभ माननेरूप संयोगवुद्धि या कपायके साथ एकत्वकी वुद्धि होना सो अब्रह्मचर्य है, यही निश्चय-मैथुन है। व्यवहार-मैथुनकी व्याख्या ऊपर दी गई है।

२—तेरहवें सूत्र में कहे हुए 'प्रमत्तयोगात्' शब्दकी अनुवृत्ति इस सूत्रमें भी आती है, इसीलिये ऐसा समझना कि स्त्री-पुरुषके युगल संबंधसे रति-सुखके लिये जो चेष्टा (-प्रमाद परिणति) की जाती है वह मैथुन है।

३—जिसके पालनसे अहिंसादिक गुण वृद्धिको प्राप्त हों वह ब्रह्म है और जो ब्रह्मसे विरुद्ध है सो अब्रह्म है। अब्रह्म (-मैथुन) में हिंसादिक दोप पुष्ट होते हैं, पुनश्च उसमें

त्रस-स्थावर जीव भी नष्ट होते हैं, मिथ्यावचन बोले जाते हैं, बिना दी हुई वस्तुका ग्रहण किया जाता है और चेतन तथा अचेतन परिग्रहका भी ग्रहण होता है -इसलिये यह अब्रह्म छोड़ने लायक है ॥ १६ ॥

परिग्रहका स्वरूप

मूर्च्छा परिग्रहः ॥ १७ ॥

अर्थः—[मूर्च्छा परिग्रहः] जो मूर्च्छा है सो परिग्रह है ।

टीका

१—अन्तरंगपरिग्रह चौदह प्रकारके हैं—एक मिथ्यात्व, चार कषाय और नौ नोकषाय ।

बाह्यपरिग्रह दस प्रकारके हैं—खेत, मकान, चाँदी, सोना, धन, धान्य, दासी, दास, कपड़े और बर्तन ।

२—परद्रव्यमें ममत्वबुद्धिका नाम मूर्च्छा है । जो जीव बाह्य-संयोग विद्यमान न होने पर भी ऐसा संकल्प करता है कि 'यह मेरा है' वह परिग्रह सहित है, बाह्य द्रव्य तो निमित्तमात्र है ।

३ प्रश्नः—यदि तुम 'यह मेरा है' ऐसी बुद्धिको परिग्रह कहोगे तो सम्यग्ज्ञान आदि भी परिग्रह ठहरेंगे, क्योंकि ये मेरे हैं ऐसी बुद्धि ज्ञानीके भी होती है ?

उत्तरः—परद्रव्यमें ममत्वबुद्धि परिग्रह है । स्वद्रव्यको अपना मानना सो परिग्रह नहीं है । सम्यग्ज्ञानादि तो आत्माका स्वभाव है अतः इसका त्याग नहीं हो सकता, इसलिए उसे अपना मानना सो अपरिग्रहत्व है ।

रागादिमें ऐसा संकल्प करना कि 'यह मेरा है' सो परिग्रह है, क्योंकि रागादिसे ही सब दोष उत्पन्न होते हैं ।

४—तेरहवें सूत्रके 'प्रमत्तयोगात्' शब्दकी अनुवृत्ति इस सूत्रमें भी है, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रवान जीवके जितने अंशमें प्रमादभाव न हो उतने अंशमें अपरिग्रहीपना है ॥१७॥

व्रतीकी विशेषता

निःशल्यो व्रती ॥१८॥

अर्थः—[व्रती] व्रती जीव [निःशल्यः] शल्य रहित ही होता है ।

टीका

१. शल्यः—शरीरमें भोंका गया वाण, कांटा इत्यादि शस्त्रकी तरह जो मनमें बाधा करे सो शल्य है, अथवा जो आत्माको कांटेकी तरह दुःख दे सो शल्य है।

शल्यके तीन भेद हैं-मिथ्यात्वशल्य, मायाशल्य और निदानशल्य।

मिथ्यादर्शनशल्यः—आत्माके स्वरूपकी श्रद्धाका जो अभाव है सो मिथ्यादर्शनशल्य है।

मायाशल्यः—छल, कपट, ठगाईका नाम मायाशल्य है।

निदानशल्यः—आगामी विषय-भोगोंकी वांछाका नाम निदानशल्य है।

२—मिथ्यादृष्टि जीव शल्य सहित ही है, इसीलिये उसके सच्चे व्रत नहीं होते, बाह्य-व्रत होते हैं। द्रव्यलिंगी मिथ्यादृष्टि है इसीलिये वह भी यथार्थ व्रती नहीं। मायावी-कपटीके सभी व्रत झूठे हैं। इन्द्रियजनित विषय-भोगोंकी जो वांछा है सो तो आत्मज्ञानरहित राग है, उस राग सहित जो व्रत हैं वे भी अज्ञानीके व्रत हैं, वह धर्मके लिये निष्फल हैं, संसारके लिए सफल हैं, इसलिए परमार्थसे शल्य रहित ही व्रती हो सकता है।

३—द्रव्यलिंगीका अन्यथापन

प्रश्नः—द्रव्यलिंगी मुनि जिनप्रणीत तत्त्वोंको मानता है, तथापि उसे मिथ्यादृष्टि क्यों कहते हो ?

उत्तरः—उसके विपरीत अभिनिवेश है, अतः शरीराश्रित क्रियाकांडको वह अपना मानता है (यह अजीवतत्त्वमें जीवतत्त्वकी श्रद्धा हुई); आस्रव-बन्धरूप शील-संयमादि परिणामोंको वह संवर-निर्जरारूप मानता है। यद्यपि वह पापसे विरक्त होता है परन्तु पुण्यमें उपादेय-बुद्धि रखता है, इसीलिये उसे तत्त्वार्थकी यथार्थ श्रद्धा नहीं; अतः वह मिथ्यादृष्टि है।

प्रश्नः—द्रव्यलिंगीके धर्मसाधनमें अन्यथापन क्यों है ?

उत्तरः—(१) संसारमें नरकादिकके दुःख जानकर तथा स्वर्गादिकमें भी जन्ममरणादिके दुःख जानकर संसारसे उदास हो वह मोक्षको चाहता है। अब इन दुःखोंको तो सभी दुःख जानते हैं, किन्तु इन्द्र, अहमिन्द्रादिक विषयानुरागसे इन्द्रियजनित सुख भोगते हैं, उसे भी दुःख जानकर निराकुल अवस्थाको पहचानकर जो उसे मोक्ष जानता है वह सम्यग्दृष्टि है।

(२) विषय सुखादिकका फल नरकादिक है। शरीर अशुचिमय और विनाशीक है, वह पोषण करने योग्य नहीं, तथा कुटुम्बादिक स्वार्थके सगे हैं–इत्यादि परद्रव्योंका दोष विचारकर उसका त्याग करता है। परद्रव्योंमें इष्ट-अनिष्टरूप श्रद्धा करना सो मिथ्यात्व है।

(३) व्रतादिकका फल स्वर्ग-मोक्ष है, तपश्चरणादिक पवित्र फल देनेवाले हैं, इनके द्वारा शरीर शोषण करने योग्य है तथा देव-गुरु-शास्त्रादि हितकारी हैं–इत्यादि परद्रव्योंके गुण विचारकर उन्हें अंगीकार करता है। परद्रव्यको हितकारी या अहितकारी मानना वह मिथ्यात्वसहित राग है।

(४) इत्यादि प्रकारसे कोई परद्रव्योंको बुरा जानकर अनिष्टरूप श्रद्धान करता है तथा कोई परद्रव्योंको भला जानकर इष्टरूप श्रद्धान करता है। परद्रव्यमें इष्ट-अनिष्टरूप श्रद्धान करना सो मिथ्यात्व है। पुनश्च इसी श्रद्धानसे उसकी उदासीनता भी द्वेषरूप होती है क्योंकि किन्हीं परद्रव्योंको बुरा जानना सो द्वेष है।　　　　　(मो० प्र०)

(५) पुनश्च, जैसे वह पहले शरीराश्रित पापकार्योंमें कर्तृत्व मानता था उसी तरह अब शरीराश्रित पुण्यकार्योंमें अपना कर्तृत्व मानता है। इसप्रकार पर्यायाश्रित (शरीराश्रित) कार्योंमें अहंबुद्धि माननेकी समता हुई। जैसे पहले–मैं जीवको मारता हूँ, परिग्रहधारी हूँ, इत्यादि मान्यता थी, उसी तरह अब मैं जीवोंकी रक्षा करता हूँ, मैं परिग्रह रहित नग्न हूँ, ऐसी मान्यता हुई, जो शरीर-आश्रित कार्यमें अहंबुद्धि है सो ही मिथ्यादृष्टि है।

(७) अठारहवें सूत्रका सिद्धान्त

(१) अज्ञान-अन्धकारसे आच्छादित हुए जो जीव आत्माको (परका) कर्ता मानते हैं वे यद्यपि मोक्षके इच्छुक हों तो भी लौकिक-जनोंकी तरह उनको भी मोक्ष नहीं होता, ऐसे जीव चाहे मुनि हुये हों तथापि वे लौकिक-जनकी तरह ही हैं। लोक (सधार) ईश्वरको कर्ता मानता है और उन मुनियोंने आत्माको परद्रव्यका कर्ता (पर्यायाश्रित क्रियाका-शरीरका और उसकी क्रियाका कर्ता) माना, इसप्रकार दोनोंकी मान्यता समान हुई। तत्त्वको जानने वाला पुरुष ऐसा जानता है कि 'सर्वलोकके कोई भी परद्रव्य मेरे नहीं हैं' और यह भी सुनिश्चितरूपसे जानता है कि लोक और श्रमण (द्रव्यलिंगी मुनि) इन दोनोंके जो इस परद्रव्यमें कर्तृत्वका व्यवसाय है वह उनके सम्यग्दर्शन-ज्ञान रहितपनेके कारण ही है। जो परद्रव्यका कर्तृत्व मानता है वह चाहे लौकिकजन हो या मुनिजन-मिथ्यादृष्टि ही है।

(देखो, श्री समयसार गा० ३२१ से ३२७ की टीका)

प्रश्नः—क्या सम्यग्दृष्टि भी परद्रव्योंको बुरा जानकर त्याग करता है ?

उत्तरः—सम्यग्दृष्टि परद्रव्योंको बुरा नही जानता; वह ऐसा जानता है कि परद्रव्यका ग्रहण-त्याग हो ही नही सकता। वह अपने रागभावको बुरा जानता है इसीलिये सराग-भावको छोड़ता है और उसके निमित्तरूप परद्रव्योंका भी सहजमें त्याग होता है। पदार्थका विचार करनेपर कोई परद्रव्य भला या बुरा है ही नहीं। मिथ्यात्वभाव ही सबसे बुरा है। सम्यग्दृष्टिने वह मिथ्याभाव तो पहले ही छोडा हुआ है।

(३) **प्रश्नः**—जिसके व्रत हो उसे ही व्रती कहना चाहिये, उसके बदले ऐसा क्यों कहते हो कि 'जो निःशल्य हो वह व्रती होता है ?'

उत्तरः—शल्यका अभाव हुये विना कोई जीव हिंसादिक पापभावोंके दूर होने मात्रसे व्रती नही हो सकता। शल्यका अभाव होनेपर व्रतके सम्बन्धसे व्रतीपना होता है, इसीलिये सूत्रमें निःशल्य शब्दका प्रयोग किया है ॥ १८ ॥

व्रतीके भेद

अगार्यनगारश्च ॥ १९ ॥

अर्थः—[**अगारी**] अगारी अर्थात् सागार (गृहस्थ) [**अनगारः च**] और अनगार (गृहत्यागी भावमुनि) इस प्रकार व्रतीके दो भेद हैं।

नोटः—निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक महाव्रतोंको पालनेवाले मुनि अनगारी कहलाते हैं और देशव्रतको पालनेवाले श्रावक सागारी कहलाते हैं ॥ १९ ॥

सागारका लक्षण

अणुव्रतोऽगारी ॥ २० ॥

अर्थः—[**अणुव्रतः**] अणुव्रत अर्थात् एकदेशव्रत पालनेवाले सम्यग्दृष्टि जीव [**अगारी**] सागार कहे जाते हैं।

टीका

यहांसे अणुव्रतधारियोंका विशेष वर्णन प्रारम्भ होता है और इस अध्यायके समाप्त होने तक यही वर्णन है। अणुव्रतके पांच भेद हैं—(१) अहिंसाणुव्रत (२) सत्याणुव्रत (३) अचौर्याणुव्रत (४) ब्रह्मचर्याणुव्रत और (५) परिग्रहपरिमाणाणुव्रत ॥ २० ॥

अब अणुव्रतके सहायक सात शीलव्रत कहते हैं

दिग्देशानर्थदंडविरतिसामायिकप्रोषधोपवासोपभोगपरिभोग-परिमाणातिथिसंविभागव्रतसंपन्नश्च ॥२१॥

अर्थ.—[च] और फिर वे व्रत [दिग्देशानर्थदंडविरतिसामायिकप्रोषधोपवासोपभोगपरिभोगपरिमाणातिथिसंविभागव्रतसंपन्नः] दिग्व्रत, देशव्रत तथा अनर्थदंडव्रत ये तीन गुणव्रत और सामायिक, प्रोषधोपवास, उपभोगपरिभोग परिमाण (मर्यादा) तथा अतिथिसंविभागव्रत ये चार शिक्षाव्रत सहित होते हैं अर्थात् व्रतधारी श्रावक पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत इन बारह व्रत सहित होता है।

टीका

१—पहले ११ से १७ तकके सूत्रोंमें हिंसादि पांच पापोंका जो वर्णन किया है उनका एकदेश त्याग करना सो पांच अणुव्रत हैं। जो अणुव्रतोंको पुष्ट करे सो गुणव्रत है और जिसमें मुनिव्रत पालन करनेका अभ्यास हो वह शिक्षाव्रत है।

२—तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतोंका स्वरूप निम्नप्रकार है—

दिग्व्रत—मरणपर्यंत सूक्ष्म पापोंकी भी निवृत्तिके लिए दशों दिशाओंमें आने जानेकी मर्यादा करना सो दिग्व्रत है।

देशव्रत—जीवनपर्यन्तको ली गई दिग्व्रतकी मर्यादामेंसे भी घड़ी, घण्टा, मास, वर्ष आदि समय तक अमुक गली आदि तक जाने आनेकी मर्यादा करना सो देशव्रत है।

अनर्थदंडव्रत—प्रयोजनरहित, पापको बढ़ानेवाली क्रियाओंका परित्याग करना सो अनर्थदंडविरतिव्रत है। अनर्थदंडके पांच भेद हैं—(१) पापोपदेश (हिंसादि पापारम्भका उपदेश करना), (२) हिंसादान (तलवार आदि हिंसाके उपकरण देना), (३) अपध्यान (दूसरेका बुरा विचारना) (४) दुःश्रुति (राग द्वेषके बढ़ानेवाले खोटे शास्त्रोंका सुनना) और (५) प्रमादचर्या (बिना प्रयोजन जहां-तहां जाना, वृक्षादिकका छेदना, पृथ्वी खोदना, जल बखेरना, अग्नि जलाना वगैरह पाप-कार्य)

शिकार, जय, पराजय, युद्ध, परस्त्रीगमन, चोरी, इत्यादिका किसी भी समय चिंतवन नहीं करना, क्योंकि इन बुरे ध्यानोंका फल पाप ही है।

—ये तीन गुणव्रत हैं।

सामायिकः—मन, वचन, कायके द्वारा कृत, कारित, अनुमोदनासे हिंसादि पांच पापोंका त्याग करना सो सामायिक है। यह सामायिक शुभभावरूप है। (सामायिक चारित्रका स्वरूप नववें अध्यायमें दिया जायगा)

प्रोषधोपवासः—अष्टमी और चतुर्दशीके पहले और पीछेके दिनोंमें एकाशनपूर्वक अष्टमी और चतुर्दशीको उपवास आदि करके, एकान्तवासमें रहकर, सम्पूर्ण सावद्ययोगको छोड़, सर्व इन्द्रियोंके विषयोंसे विरक्त होकर धर्म-ध्यानमें रहना सो प्रोषधोपवास है।

उपभोगपरिभोगपरिमाणव्रतः—श्रावकोंको भोगके निमित्तसे हिंसा होती है। भोग और उपभोगकी वस्तुओंका परिमाण करके (मर्यादा बांधकर) अपनी शक्तिके अनुसार भोग-उपभोगको छोड़ना सो उपभोगपरिभोगपरिमाणव्रत है।

अतिथिसंविभागव्रतः—अतिथि अर्थात मुनि आदिके लिये आहार, कमंडलु, पीछी, वसतिका आदिका दान देना सो अतिथिसंविभागव्रत है।

—ये चार शिक्षाव्रत हैं।

३. ध्यानमें रखने योग्य सिद्धान्त

अनर्थदण्डनामक आठवें व्रतमे दुःश्रुतिका त्याग कहा है, वह यह बतलाता है कि—जीवोंको दुःश्रुतिरूप शास्त्र कौन है और सुश्रुतिरूप शास्त्र कौन है इस बातका विवेक करना चाहिये। जिस जीवके धर्मके निमित्तरूपसे दुःश्रुति हो उसके सम्यग्दर्शन प्रगट ही नहीं होता और जिसके धर्मके निमित्त सुश्रुति (सत्-शास्त्र) हो उसको भी इसका मर्म जानना चाहिये। यदि उसका मर्म समझे तो ही सम्यग्दर्शन प्रगट कर सकता है और यदि सम्यग्दर्शन प्रगट कर ले तो ही अणुव्रतधारी श्रावक या महाव्रतधारी मुनि हो सकता है। जो जीव सुशास्त्रका मर्म जानता है वही जीव इस अध्यायके पांचवे सूत्रमें कही गई सत्यव्रत सम्बन्धी अनुवीचि-भाषण अर्थात् शास्त्रकी आज्ञानुसार निर्दोष वचन बोलनेकी भावना कर सकता है। प्रत्येक मनुष्य सुशास्त्र और कुशास्त्रका विवेक करनेके लिये योग्य है, इसलिये मुमुक्षु जीवोंको तत्व-विचारकी योग्यता प्रगट करके वह विवेक अवश्य करना चाहिये। यदि जीव सत्-असत्का विवेक न समझे, न करे तो वह सच्चा व्रतधारी नहीं हो सकेगा ॥२१॥

व्रतीको सल्लेखना धारण करनेका उपदेश

मारणांतिकीं सल्लेखनां जोषिता ॥ २२ ॥

अर्थः—व्रतधारी श्रावक [**मारणांतिकीं**] मरणके समय होनेवाली [**सल्लेखनां**] सल्लेखनाको [**जोषिता**] प्रीतिपूर्वक सेवन करे।

टीका

१—इस लोक या परलोक सम्बन्धी किसी भी प्रयोजनकी अपेक्षा किये बिना शरीर और कषायको सम्यक् प्रकार कृश करना सो सल्लेखना है।

२. प्रश्न•—शरीर तो परवस्तु है, जीव उसे कृश नहीं कर सकता, तथापि यहाँ शरीरको कृश करनेके लिये क्यों कहा ?

उत्तरः—कषायको कृश करनेपर शरीर उसके अपने कारणसे कृश होने योग्य हो तो कृश होता है ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध बतानेके लिये उपचारसे ऐसा कहा है। वात, पित्त, कफ इत्यादिके प्रकोपसे मरणके समय परिणाममें आकुलता न करना और स्व-सन्मुख आराधनासे चलायमान न होना ही यथार्थ काय-सल्लेखना है, मोह राग-द्वेषादिसे मरणके समय अपने सम्यग्दर्शन ज्ञान परिणाम मलिन न होने देना सो कषाय सल्लेखना है।

३ प्रश्नः—समाधिपूर्वक देहका त्याग होनेमें आत्मघात है या नहीं ?

उत्तरः—राग-द्वेष-मोहसे लिप्त हुये जीव यदि जहर शस्त्र आदिसे घात करे तो आत्मघात है किन्तु यदि समाधिपूर्वक सल्लेखना मरण करे तो उसके रागादिक नहीं और आराधना है, इसीलिये उसके आत्मघात नहीं है। प्रमत्तयोग रहित और आत्मज्ञान सहित जो जीव-यह जानकर कि 'शरीर अवश्य विनाशीक है' उसके प्रति राग कम करता है उसे हिंसा नहीं ॥ २२ ॥

सम्यग्दर्शनके पाँच अतिचार

शंकाकांक्षाविचिकित्सान्यदृष्टिप्रशंसासंस्तवाः
सम्यग्दृष्टेरतीचाराः ॥२३॥

अर्थ—[शंकाकांक्षाविचिकित्सान्यदृष्टिप्रशंसासंस्तवाः] शंका कांक्षा, विचिकित्सा, अन्यदृष्टिकी प्रशंसा और अन्यदृष्टिका संस्तव ये पाँच [सम्यग्दृष्टेः अतिचाराः] सम्यग्दर्शनके अतिचार हैं।

टीका

१—जिस जीवका सम्यग्दर्शन निर्दोष हो वह बराबर व्रत पाल सकता है, इसीलिये यहाँ पहले सम्यग्दर्शनके अतिचार बतलाये गये हैं, जिससे वे अतिचार दूर किये जा सकते हैं। औपशमिक सम्यक्त्व और क्षायिक सम्यक्त्व तो निर्मल होते हैं, इनमें अतिचार नहीं

होते। क्षायोपशमिक सम्यक्त्व चल, मल और अगाढ दोष सहित होता है अर्थात् इसमें अतिचार लगता है।

२—सम्यग्दृष्टिके आठ गुण (अंग, लक्षण अर्थात् आचार) होते हैं, उनके नाम इस-प्रकार हैं—निःशंका, निःकांक्षा, निर्विचिकित्सा, अमूढ़दृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना।

३—सम्यग्दर्शनके जो पांच अतिचार कहे हैं उनमेंसे पहले तीन तो निःशंकितादि पहले तीन गुणोंमें आनेवाले दोष हैं और वाकीके दो अतिचारोंका समावेश अंतिम पांच गुणोंके दोषमें होता है। चौथेसे सातवें गुणस्थानवाले क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टिके ये अतिचार होते हैं अर्थात् क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शनवाले मुनि, श्रावक या सम्यग्दृष्टि—इन तीनोंके ये अतिचार हो सकते हैं। जो अंशरूपसे भंग हो (अर्थात् दोष लगे) उसे अतिचार कहते हैं, और उससे सम्यग्दर्शन निर्मूल नही होता, मात्र मलिन होता है।

४—शुद्धात्मस्वभावकी प्रतीतिरूप निश्चय सम्यग्दर्शनके सद्भावमें सम्यग्दर्शन सम्बन्धी व्यवहार दोष होते हैं तथापि वहां मिथ्यात्व-प्रकृतियोंका वन्ध नहीं होता। पुनश्च, दूसरे गुणस्थानमें भी सम्यग्दर्शनसम्बन्धी व्यवहारदोष होते हैं तथापि वहां भी मिथ्यात्वप्रकृतिका वन्धन नहीं है।

५—सम्यग्दर्शन धर्मरूपी वृक्षकी जड़ है, मोक्षमहलकी पहली सीढ़ी है; इसके विना ज्ञान और चारित्र सम्यक्पनेको प्राप्त नही होते। अतः योग्य जीवोंको यह उचित है कि जैसे भी वने वैसे आत्माके वास्तविक स्वरूपको समझकर सम्यग्दर्शनरूपी रत्नसे अपनी आत्माको भूषित करे और सम्यग्दर्शनको निरतिचार वनावे। धर्मरूपी कमलके मध्यमें सम्यग्दर्शनरूपी नाल शोभायमान है, निश्चयव्रत, शील इत्यादि उसकी पंखुड़ियाँ है। इसलिये गृहस्थों और मुनियोंको इस सम्यग्दर्शनरूपी नालमें अतीचार न आने देना चाहिये।

६. पंच अतिचारके स्वरूप

शंकाः—निज-आत्माको ज्ञाता-दृष्टा, अखंड, अविनाशी और पुद्गलसे भिन्न जानकर भी इस लोक, परलोक, मरण, वेदना, अरक्षा, अगुप्ति और अकस्मात्—इन सात भयोंको प्राप्त होना अथवा अर्हन्त सर्वज्ञ वीतरागदेवके कहे हुये तत्त्वके स्वरूपमें सन्देह होना सो शंका नामक अतिचार है।

काँक्षाः— इस लोक या परलोक सम्वन्धी भोगोमें तथा मिथ्यादृष्टियोंके ज्ञान या आचरणादिमें वांछा हो आना सो वाँछा अतिचार है। यह राग है।

विचिकित्साः—रत्नत्रयके द्वारा पवित्र किन्तु बाह्यमें मलिन शरीरवाले मुनियोंको देखकर उनके प्रति अथवा धर्मात्माके गुणोंके प्रति या दुःखी दरिद्री जीवोंको देखकर उनके प्रति ग्लानि हो जाना सो विचिकित्सा अतिचार है। यह द्वेष है।

अन्यदृष्टि प्रशंसाः—आत्मस्वरूपके अजानकार जीवोंके ज्ञान, तप, शील, चारित्र, दान आदिको निजमें प्रगट करनेका मनमें विचार होना अथवा उसे भला जानना सो अन्यदृष्टिप्रशंसा अतिचार है। (अन्यदृष्टिका अर्थ मिथ्यादृष्टि है)

अन्यदृष्टि संस्तवः—आत्मस्वरूपके अनजान जीवोंके ज्ञान तप, शील, चारित्र, दानादिकके फलको भला जानकर वचन द्वारा उसकी स्तुति करना सो अन्यदृष्टि संस्तव अतिचार है।

७—ये समस्त दोष होनेपर सम्यग्दृष्टि जीव उन्हें दोषरूपसे जानता है और इन दोषोंका उसे खेद है, इसलिये ये अतिचार हैं। किन्तु जो जीव इन दोषोंको दोषरूप न माने और उपादेय माने उसके तो ये अनाचार हैं अर्थात् वह तो मिथ्यादृष्टि ही है।

८—आत्माका स्वरूप समझनेके लिये शंका करके जो प्रश्न किया जावे वह शंका नहीं किन्तु आशंका है। अतिचारोंमें जो शंका-दोष कहा है उसमें इसका समावेश नहीं होता। प्रशंसा और संस्तवमें इतना भेद है कि प्रशंसा मनके द्वारा होती है और संस्तव वचन द्वारा होता है ॥ २३ ॥

अब पाँच व्रत और सात शीलोंके अतिचार कहते हैं

व्रतशीलेषु पंच पंच यथाक्रमम् ॥२४॥

अर्थः—[व्रतशीलेषु] व्रत और शीलोंमें भी [यथाक्रमं] अनुक्रमसे प्रत्येकमें [पंच पंच] पाँच-पाँच अतिचार हैं।

नोटः—व्रत कहनेसे अहिंसादि पाँच अणुव्रत समझना और शील कहनेसे तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत ये सात शील समझना। इन प्रत्येकके पाँच पाँच अतिचारोंका वर्णन अब आगेके सूत्रोंमें कहते हैं ॥ २३ ॥

अहिंसाणुव्रतके पाँच अतिचार

बंधवधच्छेदातिभारारोपणान्नपाननिरोधाः ॥२५॥

अर्थः—[बंधवधच्छेदातिभारारोपणान्नपाननिरोधाः] बन्ध, वध, छेद, अधिक भार

लादना और अन्नपानका निरोध करना—ये पाच अहिंसाणुव्रतके अतिचार है ।

टीका

बंधः— प्राणियोंको इच्छित स्थानमें जानेसे रोकने के लिये रस्सी इत्यादिसे बांधना ।

वधः— प्राणियोंको लकड़ी इत्यादिसे मारना ।

छेदः— प्राणियोंके नाक, कान आदि अग छेदना ।

अतिभारारोपणः— प्राणीकी शक्तिसे अधिक भार लादना ।

अन्नपाननिरोधः— प्राणियोंको ठीक समयपर खाना-पीना न देना ।

यहां अहिंसाणुव्रतके अतिचार 'प्राण व्यपरोपण' को नही गिनना, क्योंकि प्राणव्यपरोपण हिंसाका लक्षण है अर्थात् यह अतिचार नही किन्तु अनाचार है । इसके सम्बन्धमें पहले १३ वें सूत्रमें कहा जा चुका है ॥ २५ ॥

सत्याणुव्रतके पाँच अतिचार

मिथ्योपदेशरहोभ्याख्यानकूटलेखक्रियान्यासापहार-साकारमन्त्रभेदाः ॥ २६ ॥

अर्थः—[**मिथ्योपदेशरहोभ्याख्यानकूटलेखक्रियान्यासापहारसाकारमन्त्रभेदाः**] मिथ्या उपदेश, रहोभ्याख्यान, कूटलेखक्रिया, न्यासापहार, और साकारमन्त्रभेद—ये पांच सत्याणुव्रतके अतिचार हैं ।

टीका

मिथ्या-उपदेशः—किसी जीवके अभ्युदय या मोक्षके साथ सम्बन्ध रखनेवाली क्रियामें सन्देह उत्पन्न हुआ और उसने आकर पूछा कि इस विषयमे मुझे क्या करना ? इसका उत्तर देते हुये सम्यग्दृष्टि व्रतधारीने अपनी भूलसे विपरीत मार्गका उपदेश दिया तो वह मिथ्या-उपदेश कहा जाता है; और यह सत्याणुव्रतका अतिचार है । और यदि जानते हुये भी मिथ्या-उपदेश करे तो वह अनाचार है । विवाद उपस्थित होनेपर सम्बन्धको छोड़कर असम्बन्धरूप उपदेश देना सो भी अतिचाररूप मिथ्या-उपदेश है ।

रहोभ्याख्यानः—किसीकी गुप्त बात प्रगट करना ।

कूटलेखक्रिया—परके प्रयोगके वशसे (अनजानपनेसे) कोई खोटा लेख लिखना।

न्यासापहार—कोई मनुष्य कुछ वस्तु दे गया और फिर वापस मांगते समय उसने कम मांगी तब ऐसा कहकर कि 'तुम्हारा जितना हो उतना ले जाओ' तथा बादमें कम देना सो न्यासापहार है।

साकार मन्त्रभेद—हाथ आदिकी चेष्टा परसे दूसरेके अभिप्रायको जानकर उसे प्रगट कर देना सो साकार मन्त्रभेद है।

व्रतधारीको इन दोषोंके प्रति खेद होता है इसलिये ये अतिचार है, किन्तु यदि जीवको उनके प्रति खेद न हो तो वह अनाचार है अर्थात् वहां व्रतका अभाव ही है ऐसा समझना॥ २६॥

अचौर्याणुव्रतके पांच अतीचार

स्तेनप्रयोगतदाहृतादानविरुद्धराज्यातिक्रमहीनाधिकमानोन्मान-प्रतिरूपकव्यवहाराः ॥ २७ ॥

अर्थः—चोरीके लिये चोरको प्रेरणा करना या उसका उपाय बताना, चोरसे चुराई हुई वस्तुको खरीदना, राज्यकी आज्ञाके विरुद्ध चलना, देने-लेनेके बांट तराजू आदि कम-ज्यादा रखना, और कीमती वस्तुमें कम कीमतकी वस्तु मिलाकर असली भावसे बेचना ये अचौर्याणुव्रतके अतिचार हैं।

टीका

इन अतिचारोंरूप विकल्प पुरुषार्थकी कमजोरी (निर्बलता) से कभी आये तो भी धर्मीजीव उनका स्वामी नहीं होता, दोषको जानता है परन्तु उसे भला नहीं मानता, इस-लिये वह दोष अतिचाररूप है, अनाचार नहीं है।

ब्रह्मचर्याणुव्रतके पांच अतिचार

परविवाहकरणेत्वरिकापरिगृहीतापरिगृहीतागमनानंगक्रीड़ाकाम-तीव्राभिनिवेशाः ॥ २८ ॥

अर्थ—दूसरेके पुत्र पुत्रियोंका विवाह करना-कराना, पतिसहित व्यभिचारिणी स्त्रियोंके पास आना-जाना, लेन-देन रखना, रागभाव पूर्वक बात-चीत करना, पतिरहित व्यभिचारिणी स्त्री (वेश्यादि) के यहां जाना-आना, लेन-देन आदिका व्यवहार रखना, अनंगक्रीड़ा अर्थात् कामसेवनके लिये निश्चित् अंगोंको छोड़कर अन्य अंगोंसे काम सेवन करना और कामसेवनकी तीव्र अभिलाषा—ये पांच ब्रह्मचर्याणुव्रतके अतिचार हैं॥ २८॥

परिग्रहपरिमाण अणुव्रतके पांच अतिचार

क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्णधनधान्यदासीदासकुप्यप्रमाणातिक्रमाः ॥ २९ ॥

अर्थः—[क्षेत्रवास्तुप्रमाणातिक्रमाः] क्षेत्र और रहनेके स्थानके परिमाणका उल्लंघन करना, [हिरण्यसुवर्णप्रमाणातिक्रमाः] चांदी और सोनेके परिमाणका उल्लंघन करना [धनधान्यप्रमाणातिक्रमाः] धन (पशु आदि) तथा धान्यके परिमाणका उल्लघन करना [दासीदासप्रमाणातिक्रमाः] दासी और दासके परिमाणका उल्लंघन करना तथा [कुप्यप्रमाणातिक्रमाः] वस्त्र, वर्तन आदिके परिमाणका उल्लंघन करना-ये पांच अपरिग्रह अणुव्रतमें अतिचार हैं ॥ २९ ॥

इस तरह पांच अणुव्रतोंके अतिचारोंका वर्णन किया, अब तीन गुणव्रतोंके अतिचारोंका वर्णन करते हैं।

दिग्व्रतके पांच अतिचार

ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्व्यतिक्रमक्षेत्रवृद्धिस्मृत्यन्तराधानानि ॥ ३० ॥

अर्थः—[ऊर्ध्वव्यतिक्रमः] मापसे अधिक ऊंचाईवाले स्थलोंमे जाना, [अधःव्यतिक्रमः] मापसे नीचे (कुआ, खान आदि) स्थानोंमें उतरना [तिर्यक्व्यतिक्रमः] समान स्थानके मापसे बहुत दूर जाना [क्षेत्रवृद्धिः] की हुई मर्यादामें क्षेत्रको बढ़ा लेना और [स्मृत्यंतराधानं] क्षेत्रकी की हुई मर्यादाको भूल जाना—ये पाच दिग्व्रतके अतिचार हैं ॥ ३० ॥

देशव्रतके पांच अतिचार

आनयनप्रेष्यप्रयोगशब्दरूपानुपातपुद्गलक्षेपाः ॥ ३१ ॥

अर्थः—[आनयनं] मर्यादासे बाहरकी चीजको मंगाना, [प्रेष्यप्रयोगः] मर्यादासे बाहर नौकर आदिको भेजना [शब्दानुपात] खांसी शब्द आदिसे मर्यादाके बाहर जीवोंको अपना अभिप्राय समझा देना, [रूपानुपातः] अपना रूप आदि दिखाकर मर्यादाके बाहरके जीवोंको इशारा करना और [पुद्गलक्षेपाः] मर्यादाके बाहर कंकर, पत्थर आदि फेंककर अपने कार्यका निर्वाह कर लेना—ये पांच देशव्रतके अतिचार हैं ॥ ३१ ॥

अनर्थदंडव्रतके पांच अतिचार

**कन्दर्पकौत्कुच्यमौखर्याऽसमीक्ष्याधिकरणोपभोग-
परिभोगानर्थक्यानि ॥ ३२ ॥**

अर्थः—[कन्दर्प] रागसे हास्यसहित अशिष्ट वचन बोलना, [कौत्कुच्य] शरीरकी कुचेष्टा करके अशिष्ट वचन बोलना, [मौखर्य] धृष्टतापूर्वक जरूरतसे ज्यादा बोलना, [असमीक्ष्याधिकरण] बिना प्रयोजन मन, वचन, कायकी प्रवृत्ति करना और [उपभोग-परिभोगानर्थक्य] भोग-उपभोगके पदार्थोंका जरूरतसे ज्यादा संग्रह करना—ये पांच अनर्थ-दण्डव्रतके अतिचार हैं ॥ ३२ ॥

इस तरह तीन गुणव्रतके अतिचारोंका वर्णन किया, अब चार शिक्षाव्रतके अति-चारोंका वर्णन करते हैं।

सामायिक शिक्षाव्रतके पांच अतिचार

योगदुष्प्रणिधानानादरस्मृत्यनुपस्थानानि ॥ ३३ ॥

अर्थः—[योगदुष्प्रणिधान] मन सम्बन्धी परिणामोंकी अन्यथा प्रवृत्ति करना, वचन सबंधी परिणामोंकी अन्यथा प्रवृत्ति करना, काय सबंधी परिणामोंकी अन्यथा प्रवृत्ति करना, [अनादर] सामायिकके प्रति उत्साह रहित होना और [स्मृत्यनुपस्थान] एकाग्रताके अभावको लेकर सामायिकके पाठ आदि भूल जाना—ये पांच सामायिक शिक्षाव्रतके अति-चार हैं ॥ ३३ ॥

नोट—सूत्रमें 'योगदुष्प्रणिधान' शब्द है उसे मन, वचन और काय इन तीनोंमें लागू करके ये तीन प्रकारके तीन अतिचार गिने गये हैं।

प्रोषधोपवास शिक्षाव्रतके पांच अतिचार

अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्गादानसंस्तरोपक्रमणाना-दरस्मृत्यनुपस्थानानि ॥ ३४ ॥

अर्थः—[अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्गादानसंस्तरोपक्रमणानादरस्मृत्यनुपस्थानानि] बिना देखी बिना शोधी जमीनमें मल-मूत्रादि क्षेपण करना, बिना देखे बिना शोधे पूजनके उपकरण ग्रहण करना, बिना देखे बिना शोधे, जमीनपर चटाई, वस्त्र आदि बिछाना, भूख आदिसे व्याकुल हो आवश्यक धर्म-कार्य उत्साहरहित होकर करना और आवश्यक धर्म-कार्योंको भूल जाना—ये पांच प्रोषधोपवास शिक्षाव्रतके अतिचार हैं ॥ ३४ ॥

उपभोग-परिभोगपरिमाण शिक्षाव्रतके पांच अतिचार

सचित्तसंबंधसम्मिश्राभिषवदुःपक्वाहाराः ॥ ३५ ॥

अर्थ—१-सचित्त-जीववाले (कच्चे फल आदि) पदार्थ, २-सचित्त पदार्थके साथ

सम्बन्धवाले पदार्थ, ३—सचित्त पदार्थसे मिले हुए पदार्थ, ४-अभिषव-गरिष्ठ पदार्थ, और ५—दुःपक्व अर्थात् आधे पके या अधिक पके हुए या बुरी तरहसे पके पदार्थ-इनका आहार करना ये पांच उपभोग-परिभोग परिणाम शिक्षाव्रतके अतिचार हैं।

टीका

भोगः—जो वस्तु एक ही वार उपभोगमें लाई जाय सो भोग है, जैसे अन्न। इसे परिभोग भी कहा जाता है।

उपभोगः—जो वस्तु वारवार भोगी जाय उसे उपभोग कहते है, जैसे वस्त्र आदि।

अतिथिसंविभाग व्रतके पांच अतिचार

सचित्तनिक्षेपापिधानपरव्यपदेशमात्सर्यकालातिक्रमाः ॥ ३६ ॥

अर्थः—[**सचित्तनिक्षेपः**] सचित्त पत्र आदिमें रखकर भोजन देना, [**सचित्तापिधानं**] सचित्त पत्र आदिसे ढके हुये भोजन आदिको देना [**परव्यपदेशः**] दूसरे दातारकी वस्तुको देना [**मात्सर्यं**] अनादरपूर्वक देना अथवा दूसरे दातारकी ईर्षापूर्वक देना और [**कालातिक्रमः**] योग्य कालका उल्लंघन करके देना—ये पांच अतिथिसंविभाग शिक्षाव्रतके अतिचार है। इस तरह चार शिक्षाव्रतके अतिचार कहे ॥ ३६ ॥

अब सल्लेखनाके अतिचार कहते हैं

जीवितमरणाशंसामित्रानुरागसुखानुबन्धनिदानानि ॥ ३७ ॥

अर्थः—[**जीविताशंसा**] सल्लेखना धारण करनेके बाद जीनेकी इच्छा करना, [**मरणाशंसा**] वेदनासे व्याकुल होकर शीघ्र मरनेकी इच्छा करना, [**मित्रानुरागः**] अनुरागके द्वारा मित्रोंका स्मरण करना [**सुखानुबंधं**] पहले भोगे हुये सुखोंका स्मरण करना और [**निदान**] निदान करना अर्थात् आगामी विषय-भोगोंकी वांछा करना,-ये पाच सल्लेखना व्रतके अतिचार हैं।

इस तरह श्रावकके अतिचारोंका वर्णन पूर्ण हुआ। ऊपर कहे अनुसार सम्यग्दर्शनके ५, वारह व्रतके ६०, और सल्लेखनाके ५ इस तरह कुल ७० अतीचारोंका जो त्याग करता है वही निर्दोष व्रती है ॥ ३७ ॥

दानका स्वरूप

अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम् ॥ ३८ ॥

अर्थ—[अनुग्रहार्थं] अनुग्रह-उपकारके हेतुसे [स्वस्यातिसर्गो] धन आदि अपनी वस्तुका त्याग करना सो [दान] दान है।

टीका

१—अनुग्रहका अर्थ है अपनी आत्माके अनुसार होनेवाला उपकारका लाभ। अपनी आत्माको लाभ हो इस भावसे किया गया कोई कार्य यदि दूसरेके लाभमें निमित्त हो तब यों कहा जाता है कि परका उपकार हुआ। वास्तवमें अनुग्रह स्व-का है, पर तो निमित्तमात्र है।

धन इत्यादिके त्यागसे यथार्थरीत्या स्वके शुभभावका अनुग्रह है क्योंकि इससे अशुभभाव रुकता है और स्वके लोभ-कषायका आंशिक त्याग होता है। यदि वह वस्तु (धन आदि) दूसरेके लाभका निमित्त हो तो उपचारसे ऐसा कहा जाता है कि दूसरेका उपकार हुआ, किन्तु वास्तवमें दूसरेका जो उपकार हुआ, वह उसके भावका है। उसने अपनी आकुलता मन्द की इसीलिये उपकार हुआ, किन्तु यदि आकुलता मंद न करे, नाराजी, क्रोध करे अथवा लोलुपता करके आकुलता बढ़ावे तो उसके उपकार नहीं होता। प्रत्येक जीवके अपनेमें ही स्वकीय भावका उपकार होता है। परद्रव्यसे या पर-मनुष्यसे किसी जीवके सचमुच तो उपकार नहीं होता।

२—श्री मुनिराजको दान देनेके प्रकरणमें यह सूत्र कहा गया है। मुनिको आहारका और धर्मके उपकरणोंका दान भक्तिभावपूर्वक दिया जाता है। दान देनेमें स्वका अनुग्रह तो यह है कि निजके अशुभ राग दूर होकर शुभ होता है और धर्मानुराग बढ़ता है, और परका अनुग्रह यह है कि दान लेनेवाले मुनिके सम्यग्ज्ञान आदि गुणोंकी वृद्धिका निमित्त होता है। ऐसा कहना कि किसी जीवके द्वारा परका उपकार हुआ सो कथनमात्र है। व्यवहारसे भी मैं परको कुछ दे सकता हूं ऐसा मानना मिथ्या-अभिप्राय है।

३—यह बात ध्यानमें रहे कि यह दान शुभरागरूप है इससे पुण्यका बंध होता है, इसीलिये वह सच्चा धर्म नहीं है, अपनेसे अपनेमें अपने लिये शुद्ध स्वभावका दान ही धर्म है। जैसा शुद्धस्वभाव है वैसी शुद्धता पर्यायमें प्रगट करना इसीका नाम शुद्धस्वभावका निश्चय दान है।

दूसरोंके द्वारा अपनी ख्याति, लाभ या पूजा हो इस हेतुसे जो कुछ दिया जावे सो दान नहीं, किन्तु अपने आत्मकल्याणके लिये तथा पात्र जीवोंको रत्नत्रयकी प्राप्तिके लिये, रक्षाके लिये या पुष्टिके लिये शुभभावपूर्वक जो कुछ दिया जावे सो दान है। इसमें जो

शुभभाव है सो व्यवहार दान है। वस्तु लेन-देनेकी जो क्रिया है वह तो परसे स्वतः होने योग्य परद्रव्यकी क्रिया है, और परद्रव्यकी क्रिया (-पर्याय) में जीवका व्यवहार नही है।

४—जिससे स्वके तथा परके आत्मधर्मकी वृद्धि हो ऐसा दान गृहस्थोंका एक मुख्य व्रत है। इस व्रतको अतिथिसंविभाग व्रत कहते हैं। श्रावकोंके प्रतिदिन करने योग्य छह कर्तव्यों में भी दानका समावेश होता है।

५—इस अधिकारमें शुभास्रवका वर्णन है। सम्यग्दृष्टि जीवोंको शुद्धताके लक्षसे शुभभावरूप दान कैसे हो यह इस सूत्रमें बताया है। सम्यग्दृष्टि ऐसा कभी नही मानते कि शुभभावसे धर्म होता है, किन्तु निज-स्वरूपमें स्थिर नही रह सकते तब शुद्धताके लक्षसे अशुभभाव दूर होकर शुभभाव रह जाता है अर्थात् स्वरूप सन्मुख जागृतिका मंद प्रयत्न करनेसे-अशुभराग न होकर शुभराग होता है। वहां ऐसा समझता है कि जितना अशुभराग दूर हुआ उतना लाभ है और जो शुभराग रहा वह आस्रव है, बन्ध मार्ग है, ऐसा समझकर उसे भी दूर करनेकी भावना रहती है, इसीलिये उनके आंशिक शुद्धताका लाभ होता है। मिथ्यादृष्टि जीव इस प्रकारका दान नहीं कर सकते। यद्यपि वे सम्यग्दृष्टिकी तरह दानकी बाह्य-क्रिया करते हैं किन्तु इस सूत्रमें कहा हुआ दानका लक्षण उनके लागू नही होता क्योंकि उसे शुद्धताकी प्रतीति नही है और वह शुभको धर्म और अपना स्वरूप मानता है। इस सूत्र मे कहा हुआ दान सम्यग्दृष्टि के ही लागू होता है।

६—यदि इस सूत्रका सामान्य अर्थ किया जावे तो वह सब जीवोंके लागू हो। आहार आदि तथा धर्म-उपकरण या धन आदि देनेकी जो बाह्य-क्रिया है सो दान नही, परन्तु उस समय जीवका जो शुभभाव है सो दान है। श्रीपूज्यपाद स्वामी सर्वार्थसिद्धिमें इस सूत्रकी सूचनिकामे दानकी व्याख्या निम्नप्रकार करते हैं:—

'शीलविधानमें अर्थात् शिक्षाव्रतोके वर्णनमें अतिथिसंविभागव्रत कहा गया, किन्तु उसमें दानका लक्षण नहीं बताया इसलिये वह कहना चाहिये, अतएव आचार्य दानके लक्षणका सूत्र कहते हैं।

उपरोक्त कथनसे मालूम होता है कि इस सूत्रमे कहा हुआ दान सम्यग्दृष्टि जीवके शुभभावरूप है।

७—इस सूत्रमें प्रयोग किया गया स्व-शब्दका अर्थ धन होता है, और धनका अर्थ होता है 'अपने स्वामित्व-अधिकारकी वस्तु।'

८. करुणादान

करुणादानका भाव सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि दोनोंको होता है किन्तु उनके भावमें

महान् अन्तर है। दानके यह चार भेद हैं–१ आहारदान २ औषधिदान ३ अभयदान और ४ ज्ञानदान। आवश्यकतावाले जन-अजैन, मनुष्य या तिर्यंच आदि किसी भी प्राणीके प्रति अनुकम्पा बुद्धिसे यह दान हो सकता है। मुनिको जो आहारदान दिया जाता है वह करुणा-दान नहीं किन्तु भक्तिदान है। जो अपनेसे महान् गुण धारण करनेवाले हों उनके प्रति भक्तिदान होता है। इस सम्बन्धी विशेष वर्णन इसके बादके सूत्रकी टीकामें किया है ॥३८॥

दानमें विशेषता

विधिद्रव्यदातृपात्रविशेषात्तद्विशेषः ॥३९॥

अर्थ,—[विधिद्रव्यदातृपात्रविशेषात्] विधि, द्रव्य, दातृ और पात्रकी विशेषतासे [तद्विशेषः] दानमें विशेषता होती है।

टीका

१ विधिविशेषः—नवधाभक्तिके क्रमको विधि-विशेष कहते हैं।

द्रव्य विशेषः—तप, स्वाध्याय आदिकी वृद्धिमें कारण ऐसे आहारादिकको द्रव्य-विशेष कहते हैं।

दातृविशेषः—जो दातार श्रद्धा आदि सात गुणोंसहित हो उसे दातृविशेष कहते हैं।

पात्रविशेषः–जो सम्यक्चारित्र आदि गुणोंसहित हो ऐसे मुनि आदिको पात्रविशेष कहते हैं।

२ नवधाभक्तिका स्वरूप

(१) संग्रहः—(प्रतिग्रहण) 'पधारो, पधारो, यहां शुद्ध आहार जल है' इत्यादि शब्दोंके द्वारा भक्ति-सत्कार पूर्वक विनय से मुनिका आह्वान करना।

(२) उच्चस्थानः—उनको ऊँचे आसन पर बिठाना।

(३) पादोदकः—गरम किए हुए (प्रासुक) शुद्ध जलसे उनके चरण धोना।

(४) अर्चनः—उनकी भक्ति-पूजा करना।

(५) प्रणामः—उन्हें नमस्कार करना।

(६-७-८) मनशुद्धि, वचनशुद्धि और कायशुद्धि।

(९) एषणाशुद्धिः—आहारकी शुद्धि।

ये नव क्रियाएं क्रमसे होनी चाहिए। यदि ऐसा क्रम न हो तो मुनि आहार नहीं सकते।

१. प्रश्न:—इस प्रकार नवधाभक्तिपूर्वक स्त्री मुनिको आहार दे या नहीं ?

उत्तर:—हां, स्त्रीका किया हुआ और स्त्रीके हाथसे भी साधु आहार लेते हैं। यह वात प्रसिद्ध है कि जव भगवान महावीर छद्मस्थ मुनि थे तव चंदनवालाने नवधाभक्तिपूर्वक उनको आहार दिया था।

मुनिको 'तिष्ठ ! तिष्ठ ! तिष्ठ !' (यहां विराजो) इसप्रकार अति पूज्यभावसे कहना तथा अन्य श्रावकादिक योग्य पात्र-जीवोंको उनके पदके अनुसार आदरके वचन कहना सो संग्रह है। जिसके हृदयमें नवधाभक्ति नहीं उसके यहां मुनि आहार करते ही नहीं, और अन्य धर्मात्मा पात्र जीव भी विना आदरके, लोभी होकर धर्मका निरादर कराकर कभी भोजनादिक ग्रहण नहीं करते। वीतरागधर्मकी दृढ़तासहित, दीनतारहित, परम सन्तोष धारण करना सो जैनत्व है।

३. द्रव्यविशेष

पात्रदानकी अपेक्षासे देने योग्य पदार्थ चार तरहके है-(१) आहार (२) औषध (३) उपकरण (पीछी, कमण्डल, शास्त्र आदि) और (४) आवास। ये पदार्थ ऐसे होने चाहिये कि तप, स्वाध्यायादि धर्मकार्यमे वृद्धिके कारण हों।

४. दातृविशेष

दातारमें निम्नलिखित सात गुण होने चाहिये—

(१) ऐहिक फल अनपेक्षा:—सासारिक लाभकी इच्छा न होना।

(२) क्षांति:—दान देते समय क्रोधरहित शांत-परिणाम होना।

(३) मुदित:—दान देते समय प्रसन्नता होना।

(४) निष्कपटता:—मायाचार-छल कपटसे रहित होना।

(५) अनसूयत्व:—ईर्ष्यारहित होना।

(६) अविषादित्व:—विषाद (खेद) रहित होना।

(७) निरहंकारित्व:—अभिमान रहित होना।

दातारमें रहे हुये इन गुणोंकी हीनाधिकताके अनुसार उसके दानका फल होता है।

५ पात्रविशेष

सत्पात्र तीन तरहके हैं—

(१) उत्तमपात्रः—सम्यक्‌चारित्रवान् मुनि।

(२) मध्यमपात्रः—व्रतधारी सम्यक्‌दृष्टि।

(३) जघन्यपात्रः—अविरत सम्यग्दृष्टि।

ये तीनों सम्यग्दृष्टि होनेसे सुपात्र हैं। जो जीव बिना सम्यग्दर्शनके बाह्य व्रत सहित हो वह कुपात्र है और जो सम्यग्दर्शनसे रहित तथा बाह्य व्रत चारित्रसे भी रहित हों वे जीव अपात्र हैं।

६ दान सम्बन्धी जानने योग्य विशेष बातें

(१) अपात्र जीवोंको दुःखसे पीड़ित देखकर उनपर दयाभावके द्वारा उनके दुःख दूर करनेकी भावना गृहस्थ अवश्य करे, किन्तु उनके प्रति भक्तिभाव न करे, क्योंकि ऐसोंके प्रति भक्तिभाव करना सो उनके पापकी अनुमोदना है। कुपात्रको योग्य रीतिसे आहारादिकका दान देना चाहिये।

२. प्रश्नः-अज्ञानीके अपात्रको दान देते समय यदि शुभभाव हो तो उसका क्या फल है? जो कोई यों कहते हैं कि अपात्रको दान देनेका फल नरक-निगोद है सो क्या यह ठीक है?

उत्तरः—अपात्रको दानदेते समय जो शुभभाव है उसका फल नरक-निगोद नहीं हो सकता। जो आत्माके ज्ञान और आचरणसे रहित परमार्थशून्य हैं ऐसे अज्ञानी छद्मस्थ विपरीत गुरुके प्रति सेवा भक्तिसे, वैयावृत्य तथा आहारादिक दान देनेकी क्रियासे जो पुण्य होता है उसका फल नीच देव और नीच मनुष्यत्व है।

(प्रवचनसार गा० २५७, चर्चा-समाधान पृष्ठ ४८)

(२) आहार, औषध, अभय और ज्ञानदान ऐसे जो दानके चार भेद हैं। केवली-भगवानके दानांतरायका सर्वथा नाश होनेसे क्षायिक दानशक्ति प्रगट हुई है। इसका मुख्य कार्य संसारके शरणागत जीवोंको अभय प्रदान करना है। इस अभयदानकी पूर्णता केवल-ज्ञानियोंके होती है। तथा दिव्यध्वनिके द्वारा तत्त्वोपदेश देनेसे भव्य जीवोंके ज्ञानदानकी प्राप्ति भी होती है। बाकीके दो दान रहे (आहार और औषध) सो गृहस्थके कार्य हैं।

इन दो के अतिरिक्त पहलेके दो दान भी गृहस्थोंके यथाशक्ति होते हैं। केवली भगवान वीतरागी हैं, उनके दानकी इच्छा नही होती ॥३९॥ (तत्त्वार्थसार पृ० २५७)

उपसंहार

१—इस अधिकारमें पुण्यास्रवका वर्णन है। व्रत पुण्यास्रवका कारण है। अठारहवें सूत्रमें व्रतीकी व्याख्या दी है। उसमें बतलाया है कि जो जीव मिथ्यात्व, माया, निदान इन तीन शल्योंसे रहित हो वही व्रती हो सकता है। ऐसी व्याख्या नही की कि 'जिसके व्रत हो सो व्रती है', इसलिये यह खास ध्यानमें रहे कि व्रती होनेके लिये निश्चय-सम्यग्दर्शन और व्रत दोनों होने चाहिये।

२—सम्यग्दृष्टि जीवके आंशिक वीतराग-चारित्रपूर्वक महाव्रतादिरूप शुभोपयोग हो उसे सरागचारित्र कहते हैं। यह सरागचारित्र अनिष्ट फलवाला होनेसे छोड़ने योग्य है। जिसमें कषायकण विद्यमान हैं अतः जो जीवको पुण्यबन्धकी प्राप्तिका कारण है ऐसा सराग-चारित्र बीचमें आ गया हो तथापि सम्यग्दृष्टिके उसके दूर हो जानेका प्रयत्न चालू होता है। (देखो, प्रवचनसार गाथा १-५-६ टीका)

३—महाव्रतादि शुभोपयोगको उपादेयरूप-ग्रहणरूप मानना सो मिथ्यादृष्टित्व है। इस अध्यायमे उन व्रतोंको आस्रवरूपसे वर्णित किया है तो वे उपादेय कैसे हो सकते हैं? आस्रव तो बन्धका ही साधक है और चारित्र मोक्षका साधक है, इसीलिये इन महाव्रतादि-रूप आस्रवभावोंमे चारित्रका संभव नहीं होता। चारित्र-मोहके देशघाती स्पर्द्धकोंके उदयमें युक्त होनेसे जो महामंद प्रशस्त राग होता है वह तो चारित्रका दोष है। उसे अमुक दशातक न छूटनेवाला जानकर ज्ञानी उसका त्याग नहीं करते और सावद्ययोगका ही त्याग करते हैं। किन्तु जैसे कोई पुरुष कन्दमूलादि अधिक दोषवाली हरितकायका त्याग करता है और कोई हरितकायका आहार करता है किन्तु उसे धर्म नहीं मानता, उसीप्रकार मुनि हिंसादि तीव्र कषायरूप भावोंका त्याग करते हैं तथा कोई मन्द-कषायरूप महाव्रतादिको पालते हैं परन्तु उसे मोक्षमार्ग नहीं मानते।

(आधुनिक हिन्दी मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ, २२९–२३०)

४—इस आस्रव अधिकारमें अहिंसादि व्रतोंका वर्णन किया है। इससे ऐसा समझना कि किसी जीवको न मारना ऐसे शुभभावरूप अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह-भाव ये सब पुण्यास्रव हैं। इस अधिकारमें संवर-निर्जराका वर्णन नहीं है। यदि ये अहिंसादि संवर-निर्जराका कारण होते तो इस आस्रव अधिकारमे आचार्यदेव उनका वर्णन नहीं करते।

५—व्रतादिके समय भी चार घातिया कर्म बँधते हैं और घातिकर्म तो पाप है। सम्यग्दृष्टि जीवके सच्ची-यथार्थ श्रद्धा होनेसे दर्शनमोह-अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान-माया-लोभ तथा नरकगति इत्यादि ४१ कर्मप्रकृतियोंका बन्ध नहीं होता। यह तो चौथे गुणस्थानमें सम्यग्दर्शनका फल है और ऊपरकी अवस्थामें जितने अंशमें चारित्रकी शुद्धता प्रगट होती है वह वीतरागचारित्रका फल है, परन्तु महाव्रत या देशव्रतका फल शुद्धता नहीं। महाव्रत या देशव्रतका फल बन्धन है।

६—साधारण जीव लौकिकदृष्टिसे यह तो मानते हैं कि अशुभभावमें धर्म नहीं है अर्थात् इस सम्बन्धी विशेष कहनेकी जरूरत नहीं। परन्तु जिनको धर्मी और समझदार माननेवाला जीव भी बड़े भागमें शुभभावको धर्म या धर्मका सहायक मानता है। यह मान्यता यथार्थ नहीं है। यह बात छठ्ठे और सातवें अध्यायमें कही गई है कि शुभभाव धर्मका कारण नहीं किन्तु कर्मबन्धका कारण है। उसके कुछ नोट निम्नप्रकार हैं—

१—शुभभाव पुण्यका आस्रव है	अध्याय ६ सूत्र ३
२—सम्यक्त्व क्रिया, ईर्यापथ समिति	अध्याय ६ सूत्र ५
३—जो मन्दकषाय है सो आस्रव है	अध्याय ६ सूत्र ६
४—सर्वप्राणी और व्रतधारीके प्रति अनुकम्पा	अध्याय ६ सूत्र १२
५—मार्दव	अध्याय ६ सूत्र १८
६—सरागसंयम, संयमासंयम	अध्याय ६ सूत्र २०
७—योगोंकी सरलता	अध्याय ६ सूत्र २३
८—तीर्थंकरनामकर्मबन्धके कारणरूप सोलह भावना	अध्याय ६ सूत्र २४
९—परप्रशंसा, आत्मनिंदा, नम्रवृत्ति, मदका अभाव	अध्याय ६ सूत्र २६
१०—महाव्रत, अणुव्रत	अध्याय ७ सूत्र १ से ८ तथा २१
११—मैत्री आदि चार भावनायें	अध्याय ७ सूत्र ११
१२—जगत् और कायके स्वभावका विचार	अध्याय ७ सूत्र १२
१३—सल्लेखना	अध्याय ७ सूत्र २२
१४—दान	अध्याय ७ सूत्र ३८ ३९

उपरोक्त सभी भावोंको आस्रवकी रीतिसे वर्णन किया है। इस तरह छठ्ठे और सातवें अध्यायमें आस्रवका वर्णन पूर्ण करके अब आठवें अध्यायमें बन्ध तत्त्वका वर्णन किया जायगा।

७—हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रहका त्याग करना सो व्रत है—ऐसा श्री अमृतचन्द्राचार्यने तत्त्वार्थसारके चौथे अध्यायकी १०१ वीं गाथामें कहा है अर्थात् यों बतलाया है कि यह व्रत पुण्यास्रव ही है। गाथा १०३ में कहा है कि संसारमार्गमें पुण्य और पापके बीच भेद है किन्तु उसके बाद पृ० २५६ गाथा १०४ में **स्पष्टरूपसे कहा है कि—मोक्षमार्गमें पुण्य और पापके बीच भेद (विशेष, पृथक्त्व) नहीं है। क्योंकि ये दोनों संसारके कारण हैं—** इस तरह बतलाकर आस्रव अधिकार पूर्ण किया है।

८. प्रश्नः—व्रत तो त्याग है, यदि त्यागको पुण्यास्रव कहोगे और धर्म न कहोगे तो फिर त्यागका त्याग धर्म कैसे हो सकता है ?

उत्तरः—(१) व्रत शुभभाव है; शुभभावका त्याग दो प्रकारसे होता है—एक प्रकारका त्याग तो यह कि 'शुभको छोड़कर अशुभमें जाना' सो यह तो जीव अनादिसे करता आया है, लेकिन यह त्याग धर्म नहीं किंतु पाप है। दूसरा प्रकार यह है कि—सम्यग्ज्ञान पूर्वक शुद्धता प्रगट करने पर शुभका त्याग होता है; यह त्यागधर्म है। इसीलिये सम्यग्दृष्टि जीव स्वद्रव्यके आलंबन द्वारा व्रतरूप शुभभावका भी त्याग करके ज्ञानमें स्थिरता करते हैं; यह स्थिरता ही चारित्रधर्म है। इस प्रकार जितने अंशमें वीतरागचारित्र बढ़ता है उतने अंशमें व्रत और अव्रतरूप शुभाशुभभावका त्याग होता है।

(२) यह ध्यान रहे कि व्रतमें शुभ-अशुभ दोनोंका त्याग नहीं है, परन्तु व्रतमें अशुभभावका त्याग और शुभभावका ग्रहण है अर्थात् व्रत राग है, और अव्रत तथा व्रत (अशुभ तथा शुभ) दोनोंका जो त्याग है सो वीतरागता है। शुभ-अशुभ दोनोंका त्याग तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रपूर्वक ही हो सकता है।

(३) 'त्याग' तो नास्तिवाचक है। यदि वह अस्ति सहित हो तब यथार्थ नास्ति कही जाती है। अब यदि व्रतको त्याग कहे तो वह त्यागरूप नास्ति होने पर आत्मामें अस्ति-रूपमें क्या हुआ ? इस अधिकारमें यह बतलाया है कि वीतरागता तो सम्यक्चारित्रके द्वारा प्रगट होती है और व्रत तो आस्रव है, इसीलिये व्रत सच्चा त्याग नहीं, किन्तु जितने अंशमें वीतरागता प्रगट हुई उतना सच्चा त्याग है। क्योंकि जहाँ जितने अंशमें वीतरागता हो वहाँ उतने अंशमें सम्यक्चारित्र प्रगट हो जाता है, और उसमें शुभ-अशुभ दोनोंका (अर्थात् व्रत-अव्रत दोनोंका) त्याग होता है।

इसप्रकार श्री उमास्वामीविरचित मोक्षशास्त्रकी गुजराती टीकाके हिन्दी अनुवादमें यह सातवाँ अध्याय पूर्ण हुआ।



मोक्षशास्त्र-अध्याय आठवाँ

भूमिका

पहले अध्यायके प्रथम सूत्रमें कहा है कि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रकी एकता मोक्षका मार्ग है। दूसरे सूत्रमें कहा है कि तत्त्वार्थका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। उसके बाद चौथे सूत्रमें सात तत्त्वोंके नाम बतलाये, इनमेंसे जीव, अजीव और आस्रव इन तीन तत्त्वोंका वर्णन सातवें अध्याय तक किया। आस्रवके बाद बन्ध-तत्त्वका नम्बर है, इसीलिये आचार्यदेव इस अध्यायमें बन्ध-तत्त्वका वर्णन करते हैं।

बन्धके दो भेद हैं—भावबन्ध और द्रव्यबन्ध। इस अध्यायके पहले दो सूत्रोंमें जीवके भावबन्धका और उस भावबन्धका निमित्त पाकर होनेवाले द्रव्यकर्मके बन्धका वर्णन किया है। इसके बादके सूत्रोंमें द्रव्यबन्धके भेद, उनकी स्थिति और कब छूटते हैं इत्यादिका वर्णन किया है।

बन्धके कारण बतलाते हैं

मिथ्यादर्शनाऽविरतिप्रमादकषाययोगा बंधहेतवः ॥ १ ॥

अर्थः—[मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगाः] मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये पाँच [बंधहेतवः] बन्धके कारण हैं।

टीका

१—यह सूत्र बहुत उपयोगी है। यह सूत्र बतलाता है कि संसार किस कारणसे है। धर्ममें प्रवेश करनेकी इच्छा करनेवाले जीव तथा उपदेशक जबतक इस सूत्रका मर्म नहीं समझते तबतक एक बड़ी भूल करते हैं। वह इस प्रकार है—बन्धके ५ कारणोंमेंसे सबसे पहले मिथ्यादर्शन दूर होता है और फिर अविरति आदि दूर होते हैं, तथापि वे पहले मिथ्यादर्शनको दूर किये बिना अविरतिको दूर करना चाहते हैं और इस हेतुसे उनके माने हुए बालव्रत आदि ग्रहण करते हैं तथा दूसरोंको भी वैसा उपदेश देते हैं। पुनश्च, ऐसा मानते हैं कि ये बालव्रत आदि-ग्रहण करनेसे और उनका पालन करनेसे मिथ्यादर्शन दूर होगा। उन जीवोंकी यह मान्यता पूर्णरूपेण मिथ्या है इसलिये इस सूत्रमें 'मिथ्यादर्शन' पहले बताकर सूचित किया है।

२—इस सूत्रमें बन्धके कारण जिस क्रमसे दिये हैं उसी क्रमसे वे नष्ट होते हैं।

परन्तु यह क्रमभंग नहीं होता कि पहला कारण विद्यमान हो और उसके बादके कारण दूर हो जांय। उनके दूर करनेका क्रम इसप्रकार है—(१) मिथ्यादर्शन चौथे गुणस्थानमें दूर होता है, (२) अविरति पांचवें-छट्ठे गुणस्थानमें दूर होती है, (३) प्रमाद सातवें गुणस्थानमें दूर होता है, (४) कषाय बारहवें गुणस्थानमें नष्ट होती है और (५) योग चौदहवें गुणस्थानमें नष्ट होता है। वस्तुस्थितिके इस नियमको न समझनेसे अज्ञानी पहले बालव्रत अंगीकार करते हैं और उसे धर्म मानते हैं। इसप्रकार अधर्मको धर्म माननेके कारण उनके मिथ्यादर्शन और अनन्तानुबन्धी कषायका पोषण होता है। इसलिये जिज्ञासुओंको वस्तुस्थितिके इस नियमको समझना विशेष आवश्यक है। इस नियमको समझकर असत् उपाय छोड़कर पहले मिथ्यादर्शन दूर करनेके लिये सम्यग्दर्शन प्रगट करनेका पुरुषार्थ करना योग्य है।

३—मिथ्यात्वादि या जो बन्धके कारण हैं वे जीव और अजीवके भेदसे दो प्रकारके हैं। जो मिथ्यात्वादि परिणाम जीवमें होते हैं वे जीव हैं, उसे भावबन्ध कहते हैं और जो मिथ्यात्वादि परिणाम पुद्गलमें होते हैं वे अजीव हैं, उसे द्रव्यबन्ध कहते हैं।

(देखो, समयसार गाथा ८७-८८)

४. बन्धके पांच कारण कहे, उनमें अंतरंग भावोंकी पहचान करना चाहिये

यदि जीव मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योगके भेदोंको बाह्यरूपसे जाने किन्तु अन्तरंगमें इन भावोंकी किस्म (जाति) की पहचान न करे तो मिथ्यात्व दूर नहीं होता। अन्य कुदेवादिकके सेवनरूप गृहीत मिथ्यात्वको तो मिथ्यात्वरूपसे जाने किन्तु जो अनादि अगृहीत मिथ्यात्व है उसे न पहिचाने, तथा बाह्य त्रस-स्थावरकी हिंसाके तथा इन्द्रिय-मनके विषयोंमें प्रवृत्ति हो उसे अविरति समझे किन्तु हिंसामें मूल जो प्रमाद परिणति है तथा विषय-सेवनमें अभिलाषा मूल है उसे न देखे तो मिथ्या मान्यता दूर नहीं होती। यदि बाह्य-क्रोध करनेको कषाय समझे किन्तु अभिप्रायमें जो राग-द्वेष रहता है वही मूल क्रोध है उसे न पहचाने तो मिथ्या-मान्यता दूर नहीं होती। बाह्य-चेष्टा हो उसे योग समझे किन्तु शक्तिभूत (आत्मप्रदेशोंके परिस्पंदनरूप) योगको न जाने तो मिथ्या-मान्यता दूर नहीं होती। इसलिये उनके अंतरंग भावको पहिचानकर उस सम्बन्धी अन्य मान्यता दूर करनी चाहिये।

(आधुनिक हिन्दी मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ २२६-२२७)

५. मिथ्यादर्शनका स्वरूप

(१) अनादिसे जीवके मिथ्यादर्शनरूप अवस्था है। समस्त दुःखोंका मूल मिथ्यादर्शन

है। जीवके जैसा श्रद्धान है वैसा पदार्थस्वरूप न हो और जैसा पदार्थस्वरूप न हो वैसा वे माने, उसे मिथ्यादर्शन कहते हैं। जीव स्वको और शरीरको एक मानता है। किसी समय शरीर दुबला हो, किसी समय मोटा हो, किसी समय नष्ट हो जाय और किसी समय नवीन पैदा हो तब ये सब क्रियायें शरीराधीन होती हैं तथापि जीव उसे अपने आधीन मानकर खेद-खिन्न होता है।

दृष्टांत—जैसे किसी जगह एक पागल बैठा था। वहां अन्य स्थानसे आकर मनुष्य, घोड़ा और धनादिक उतरे, उन सबको वह पागल अपना मानने लगा, किन्तु वे सभी अपने-अपने आधीन हैं, अतः इसमें कोई आवे, कोई जाय और कोई अनेक अवस्थारूपसे परिणमन करता है, इसप्रकार सबकी क्रिया अपने-अपने आधीन है तथापि यह पागल उसे अपने आधीन मानकर खेदखिन्न होता है।

सिद्धान्त—उसीप्रकार यह जीव जहां शरीर धारण करता है वहां किसी अन्य स्थानसे आकर पुत्र, घोड़ा, धनादिक स्वयं प्राप्त होते हैं, यह जीव उन सबको अपना जानता है, परन्तु ये सभी अपने अपने आधीन होनेसे कोई आते कोई जाते और अनेक अवस्थारूपसे परिणमते हैं, क्या यह उसके आधीन है? ये जीवके आधीन नहीं हैं, तो भी यह जीव उसे अपने आधीन मानकर खेदखिन्न होता है।

(२) यह जीव स्वयं जिसप्रकार है उसीप्रकार अपनेको नहीं मानता, किन्तु जैसा नहीं है वैसा मानता है सो मिथ्यादर्शन है। जीव स्वयं अमूर्तिक प्रदेशोंका पुंज, प्रसिद्ध ज्ञानादि गुणोंका धारक, अनादिनिधन वस्तुरूप है, तथा शरीर मूर्तिक पुद्गल द्रव्योंका पिंड प्रसिद्ध ज्ञानादि गुणोंसे रहित, नवीन ही जिसका संयोग हुआ है ऐसे यह शरीरादि पुद्गल जोकि स्वसे पर हैं—इन दोनोंके संयोगरूप मनुष्य-तिर्यंचादि अनेक प्रकारकी अवस्थायें होती हैं, उनमें यह मूढ़ जीव निजत्व धारण कर रहा है, स्व-परका भेद नहीं कर सकता, जिस पर्यायको प्राप्त हुआ है उसे ही निजरूपसे मानता है। इस पर्यायमें (१) जो ज्ञानादि गुण हैं वे तो निजके गुण हैं (२) जो रागादिकभाव होते हैं वे विकारीभाव हैं, तथा (३) जो वर्णादिक हैं वे निजके गुण नहीं किन्तु शरीरादिक पुद्गलके गुण हैं और (४) शरीरादिमें भी वर्णादिका तथा परमाणुओंका परिवर्तन पृथक्-पृथक् रूपसे होता है, वे सब पुद्गलकी अवस्थायें हैं, यह जीव इन सभीको निजरूप और निजाधीन मानता है, स्वभाव और परभावका विवेक नहीं करता। पुनश्च, स्वसे प्रत्यक्ष भिन्न धन, कुटुम्बादिकका संयोग होता है वे अपने अपने आधीन परिणमते हैं इस जीवके आधीन होकर नहीं परिणमते तथापि यह जीव उनमें ममत्व करता है कि ये सब मेरे हैं, परन्तु वे किसी भी प्रकारसे इसके नहीं

होते, यह जीव मात्र अपनी भूलसे (मिथ्या मान्यतासे) उन्हें अपना मानता है ।

(३) मनुष्यादि अवस्थामें किसी समय देव-गुरु-शास्त्र अथवा धर्मका जो अन्यथा कल्पित स्वरूप है उसकी तो प्रतीति करता है किन्तु उनका जो यथार्थ स्वरूप है उसका ज्ञान नहीं करता ।

(४) जगत्की प्रत्येक वस्तु अर्थात् प्रत्येक द्रव्य अपने अपने आधीन परिणमते हैं, किन्तु यह जीव ऐसा नहीं मानता और यों मानता है कि स्वयं उसे परिणमा सकता है अथवा किसी समय आंशिक परिणमन करा सकता है ।

ऊपर कही गई सब मान्यता मिथ्यादृष्टिकी है । स्वका और परद्रव्योंका जैसा स्वरूप नहीं है वैसा मानना तथा जैसा है वैसा न मानना सो विपरीत अभिप्राय होनेके कारण मिथ्यादर्शन है ।

(५) जीव अनादिकालसे अनेक शरीर धारण करता है, पूर्वका छोड़कर नवीन धारण करता है; वहाँ एक तो स्वयं आत्मा (जीव) तथा अनन्त पुद्गलपरमाणुमय शरीर—इन दोनोंके एक पिंडबन्धनरूप यह अवस्था होती है; उन सबमें यह ऐसी अहंबुद्धि करता है कि 'यह मैं हूँ ।' जीव तो ज्ञानस्वरूप है और पुद्गल परमाणुओंका स्वभाव वर्ण-गंध-रस-स्पर्शादि है—इन सबको अपना स्वरूप मानकर ऐसी बुद्धि करता है कि 'ये मेरे हैं ।' हलन-चलन आदि क्रिया शरीर करता है, उसे जीव ऐसा मानता है कि 'मैं करता हूँ ।' अनादिसे इन्द्रिय-ज्ञान है—बाह्यकी ओर दृष्टि है इसीलिये स्वयं अमूर्तिक तो अपनेको नहीं मालूम होता और मूर्तिक शरीर ही मालूम होता है, इसी कारण जीव अन्यको अपना स्वरूप जानकर उसमें अहंबुद्धि धारण करता है । निजका स्वरूप निजको परसे भिन्न नहीं मालूम हुआ अर्थात् शरीर, ज्ञानादिगुण, क्रोधादि विकार तथा सगे-सम्बन्धियोंका समुदाय इन सबमें स्वयं अहंबुद्धि धारण करता है, इससे स्वका और शरीरका स्वतंत्र निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध क्या है यह नहीं जाननेसे यथार्थरूपसे शरीरसे स्वकी भिन्नता नहीं मालूम होती ।

(६) स्वका स्वभाव तो ज्ञाता-दृष्टा है तथापि स्वयं केवल देखनेवाला तो नहीं रहता किन्तु जिन जिन पदार्थोंको देखता-जानता है, उनमें इष्ट-अनिष्टरूप मानता है । यह इष्टानिष्टरूप मानना सो मिथ्या है, क्योंकि कोई भी पदार्थ इष्टानिष्टरूप नहीं है । यदि पदार्थोंमें इष्ट-अनिष्टपन हो तो जो पदार्थ इष्टरूप हो वह सभीको इष्टरूप ही हो तथा जो पदार्थ अनिष्टरूप हो वह सबको अनिष्टरूप ही हो, किन्तु ऐसा तो नहीं होता । जीव मात्र स्वयं कल्पना करके उसे इष्ट-अनिष्टरूप मानता है । यह मान्यता मिथ्या है—कल्पित है ।

(७) जीव किसी पदार्थका सद्भाव तथा किसीके अभावको चाहता है, किन्तु उसका सद्भाव या अभाव जीवका किया हुआ नहीं होता क्योंकि कोई द्रव्य किसी अन्य द्रव्यका या उसकी पर्यायका कर्ता है ही नहीं, किन्तु समस्त द्रव्य स्वसे ही अपने-अपने स्वरूपमें निरन्तर परिणमते हैं।

(८) मिथ्यादृष्टि जीव तो रागादि भावोंके द्वारा सर्व द्रव्योंको अन्य प्रकारसे परिणमानेकी इच्छा करता है, किन्तु वे सर्व द्रव्य जीवकी इच्छाके आधीन नहीं परिणमते। इसीलिये उसे आकुलता होती है। यदि जीवकी इच्छानुसार ही सब कार्य हों, अन्यथा न हों तो ही निराकुलता रहे, किंतु ऐसा तो हो ही नहीं सकता। क्योंकि किसी द्रव्यका परिणमन किसी द्रव्यके आधीन नहीं है। इसलिये सम्यक् अभिप्राय द्वारा स्वसन्मुख होनेसे ही जीवके रागादिभाव दूर होकर निराकुलता होती है-ऐसा न मानकर मिथ्या अभिप्रायवश ऐसा मानता है कि मैं स्वयं परद्रव्यका कर्ता, भोक्ता, दाता, हर्ता, आदि हूँ और परद्रव्यसे अपनेको लाभ-हानि होती है।

८ मिथ्यादर्शनकी कुछ मान्यतायें

१-स्वपर एकत्वदर्शन, २-परकी कर्तृत्वबुद्धि, ३-पर्यायबुद्धि, ४-व्यवहार-विमूढ़, ५-अतत्त्व श्रद्धान, ६-स्व-स्वरूपकी भ्रांति, ७-रागसे शुभभावसे आत्मलाभ हो ऐसी बुद्धि, ८-बहिर्दृष्टि, ९-विपरीत रुचि, १०-जैसा वस्तुस्वरूप हो वैसा न मानना और जैसा न हो वैसा मानना, ११-अविद्या, १२-परसे लाभ-हानि होती है ऐसी मान्यता, १३-अनादि-अनन्त चतन्यमात्र त्रिकाली आत्माको न मानना किन्तु विकार जितना ही आत्मा मानना, १४-विपरीत अभिप्राय, १५-परसमय, १६-पर्यायमूढ़, १७-ऐसी मान्यता कि जीव शरीरकी क्रिया कर सकता है १८-जीवको परद्रव्यकी व्यवस्था करनेवाला तथा उसका कर्ता, भोक्ता, दाता, हर्ता मानना, १९-जीवको जीव न मानना, २०-निमित्ताधीन दृष्टि, २१-ऐसी मान्यता कि पराश्रयसे लाभ होता है, २२-शरीराश्रित क्रियासे लाभ होता है ऐसी मान्यता, २३-सर्वज्ञकी वाणीमें जैसा आत्माका पूर्ण स्वरूप कहा है वैसे स्वरूपकी अश्रद्धा, २४-व्यवहारनय वास्तवमें आदरणीय होनेकी मान्यता, २५-शुभाशुभभावका स्वामित्व, २६-शुभ विकल्पसे आत्माको लाभ होता है ऐसी मान्यता, २७-ऐसी मान्यता कि व्यवहार-रत्नत्रय करते-करते निश्चय रत्नत्रय प्रगट होता है, २८-शुभ-अशुभमें सदृशता न मानना अर्थात् ऐसा मानना कि शुभ अच्छा है और अशुभ खराब है २९-ममत्वबुद्धिसे मनुष्य और तिर्यंचके प्रति करुणा होना।

६ मिथ्यादर्शनके दो भेद

(१) मिथ्यात्वके दो भेद हैं—अगृहीत मिथ्यात्व और गृहीत मिथ्यात्व। अगृहीत

मिथ्यात्व अनादिकालीन है। जो ऐसी मान्यता है कि जीव परद्रव्यका कुछ कर सकता है या शुभ विकल्पसे आत्माको लाभ होता है सो यह अनादिका अगृहीत मिथ्यात्व है। संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्यायमें जन्म होनेके बाद परोपदेशके निमित्तसे जो अतत्त्वश्रद्धान करता है सो गृहीत मिथ्यात्व है। अगृहीत मिथ्यात्वको निसर्गज मिथ्यात्व और गृहीत मिथ्यात्वको बाह्य प्राप्त मिथ्यात्व भी कहते हैं। जिसके गृहीत मिथ्यात्व हो उसके अगृहीत मिथ्यात्व तो होता ही है।

अगृहीत मिथ्यात्वः—शुभ विकल्पसे आत्माको लाभ होता है ऐसी अनादिसे चली आयी जो जीवकी मान्यता है सो मिथ्यात्व है; यह किसीके सिखानेसे नहीं हुआ इसलिये अगृहीत है।

गृहीत मिथ्यात्वः—खोटे देव-शास्त्र-गुरुकी जो श्रद्धा है सो गृहीत मिथ्यात्व है।

२. प्रश्नः—जिस कुलमें जीव जन्मा हो उस कुलमें माने हुए देव, गुरु, शास्त्र सच्चे हों और यदि जीव लौकिकरूढ दृष्टिसे सच्चा मानता हो तो उसके गृहीत मिथ्यात्व दूर हुआ या नहीं ?

उत्तरः—नहीं, उसके भी गृहीत मिथ्यात्व है, क्योंकि सच्चे देव, सच्चे गुरु और सच्चे शास्त्रका स्वरूप क्या है तथा कुदेव, कुगुरु और कुशास्त्रमें क्या दोष हैं इसका सूक्ष्म दृष्टिसे विचार करके सभी पहलुओंसे उसके गुण (Merits) और दोष (Demerits) का यथार्थ निर्णय न किया हो वहाँ तक जीवके गृहीत मिथ्यात्व है और वह सर्वज्ञ वीतरागदेवका सच्चा अनुयायी नहीं है।

३. प्रश्नः—इस जीवने पहले कई बार गृहीत मिथ्यात्व छोड़ा होगा या नहीं ?

उत्तरः—हाँ, जीवने पहले अनन्तबार गृहीत मिथ्यात्व छोडा और द्रव्यलिंगी मुनि हो निरतिचार महाव्रत पाले, परन्तु अगृहीत मिथ्यात्व नहीं छोड़ा इसीलिये संसार बना रहा; और फिर गृहीत मिथ्यात्व स्वीकार किया। निर्ग्रन्थदशापूर्वक पंच महाव्रत तथा अट्ठाईस मूल गुणादिकका जो शुभविकल्प है सो द्रव्यलिंग है। गृहीत मिथ्यात्व छोड़े बिना जीव द्रव्यलिंगी नहीं हो सकता और द्रव्यलिंगके बिना निरतिचार महाव्रत नहीं हो सकते। वीतराग भगवानने द्रव्यलिंगीके निरतिचार महाव्रतको भी बालव्रत और असंयम कहा है क्योंकि उसने अगृहीत मिथ्यात्व नहीं छोड़ा।

७-गृहीतमिथ्यात्वके भेद

गृहीतमिथ्यात्वके पाँच भेद हैं— (१) एकान्तमिथ्यात्व (२) संशयमिथ्यात्व

(३) विनयमिथ्यात्व (४) अज्ञानमिथ्यात्व और (५) विपरीत मिथ्यात्व । इन प्रत्येककी व्याख्या निम्नप्रकार है—

(१) एकान्त मिथ्यात्वः—आत्मा, परमाणु आदि सर्व पदार्थोंका स्वरूप अपने-अपने अनेकान्तमय (अनेक धर्मवाला) होने पर भी उसे सर्वथा एक ही धर्मवाला मानना सो एकान्त मिथ्यात्व है। जैसे जीवको सर्वथा क्षणिक अथवा नित्य ही मानना, गुण-गुणीको सर्वथा भेद या अभेद ही मानना सो एकान्त मिथ्यात्व है।

(२) संशय मिथ्यात्वः—'धर्मका स्वरूप यों है या यों है' ऐसे परस्पर विरुद्ध दो रूपका श्रद्धान। जैसे—आत्मा अपने कार्यका कर्ता होता होगा या परवस्तुके कार्यका कर्ता होगा ? निमित्त और व्यवहारके आलम्बनसे धर्म होगा या अपने शुद्धात्माके आलम्बनसे धर्म होगा ? इत्यादिरूपसे संशय रहना सो संशय मिथ्यात्व है।

(३) विपरीत मिथ्यात्वः—आत्माके स्वरूपको अन्यथा माननेकी रुचिको विपरीत मिथ्यात्व कहते हैं। जैसे-सग्रन्थको निर्ग्रन्थ मानना, मिथ्यादृष्टि साधुको सच्चे गुरु मानना, केवलीके स्वरूपको विपरीतरूपसे मानना, इत्यादि रूपसे जो विपरीत रुचि है सो विपरीत मिथ्यात्व है।

(४) अज्ञान मिथ्यात्वः—जहां हित-अहितका कुछ भी विवेक न हो या कुछ भी परीक्षा किये बिना धर्मकी श्रद्धा करना सो अज्ञान मिथ्यात्व है। जैसे-पशुवधमें अथवा पापमें धर्म मानना सो अज्ञान मिथ्यात्व है।

(५) विनय मिथ्यात्वः—समस्त देवोंको तथा समस्त धर्म-मतोंको समान मानना सो विनय मिथ्यात्व है।

८-गृहीतमिथ्यात्वके ५ भेदोंका विशेष स्पष्टीकरण

(१) एकांत मिथ्यात्वः—आत्मा, परमाणु आदि सर्व पदार्थका स्वरूप अपने-अपने अनेक धर्मोंसे परिपूर्ण है, ऐसा नहीं मानकर वस्तुको सर्वथा अस्तिरूप, सर्वथा नास्तिरूप, सर्वथा एकरूप, सर्वथा अनेकरूप, सर्वथा नित्य, सर्वथा अनित्य, गुण-पर्यायोंसे सर्वथा अभिन्न, गुण-पर्यायोंसे सर्वथा भिन्न इत्यादि रूपसे मानना सो एकांत मिथ्यात्व है। पुनश्च, काल ही सब करता है, काल ही सबका नाश करता है, काल ही फल-फूल आदि उत्पन्न करता है, काल ही संयोग-वियोग करता है, काल ही धनको प्राप्त कराता है, इत्यादि मान्यता मिथ्या है, यह एकांत मिथ्यात्व है।

निरंतर प्रत्येक वस्तु स्वयं अपने कारणसे अपनी पर्यायको धारण करती है, यही

उस वस्तुका स्वकाल है और उस समय वर्तनेवाली जो कालद्रव्यकी पर्याय (समय) है सो निमित्त है, ऐसा समझना सो यथार्थ समझ है। इसके द्वारा एकांत मिथ्यात्वका नाश होता है।

कोई कहता है कि-आत्मा तो अज्ञानी है, आत्मा अनाथ है, आत्माके सुख-दुःख, जीवन-मरण, लाभ-अलाभ, ज्ञानीपन, पापीपन, धर्मित्व, स्वर्गगमन, नरकगमन इत्यादि सब ईश्वर करता है, ईश्वर संसारका कर्ता है, हर्ता भी ईश्वर है, ईश्वरसे ही संसारकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय होती है, इत्यादि प्रकारसे ईश्वरकर्तृत्वकी कल्पना करता है सो मिथ्या है। ईश्वरत्व तो आत्माकी सम्पूर्ण शुद्ध (सिद्ध) दशा है। आत्मा निज-स्वभावसे ज्ञानी है किन्तु अनादिसे अपने स्वरूपकी विपरीत मान्यताके कारण स्वयं अपनी पर्यायमें अज्ञानीपन दुःख, जीवन, मरण, लाभ, अलाभ, पापीपन आदि प्राप्त करता है, और जब स्वयं अपने स्वरूपकी विपरीत मान्यता दूर करे तब स्वयं ही ज्ञानी, धर्मी होता है; ईश्वर (सिद्ध) तो उसका ज्ञाता-दृष्टा है।

(२) विपरीत मिथ्यात्वः--१. आत्माके स्वरूपको तथा देव-गुरु-धर्मके स्वरूपको अन्यथा माननेकी रुचिको विपरीत मिथ्यात्व कहते हैं। जैसे—१. शरीरको आत्मा मानना; सर्वज्ञ वीतराग भगवानको ग्रासाहार, रोग, उपसर्ग, वस्त्र, पात्र, पाटादि सहित और क्रमिक उपयोग सहित मानना अर्थात् रोटी आदि खानेवाला, पानी आदि पीनेवाला, बीमार होना, दवाई लेना, निहारका होना इत्यादि दोष सहित जीवको परमात्मा, अर्हंतदेव, केवलज्ञानी मानना। २ वस्त्र-पात्रादि सहितको निर्ग्रन्थ गुरु मानना, स्त्रीका शरीर होनेपर भी उसे मुनिदशा और उसी भवसे मोक्ष मानना, सती स्त्रीको पाँच पतिवाली मानना। ३. गृहस्थ-दशामें केवलज्ञानकी उत्पत्ति मानना। ४. सर्वज्ञ-वीतरागदशा प्रगट होनेपर भी वह छद्मस्थ-गुरुकी वैयावृत्य करे ऐसा मानना। ५. छट्ठे गुणस्थानके ऊपर भी वंद्यवंदकभाव होता है और केवली भगवानको छद्मस्थ गुरुके प्रति, चतुर्विध संघ अर्थात् तीर्थके प्रति या अन्य केवलीके प्रति वंद्यवंदकभाव मानना, ६. मुनिदशामें वस्त्रोंको परिग्रहके रूपमें न मानना अर्थात् वस्त्रसहित होनेपर भी मुनिपद और अपरिग्रहित्व मानना, ७. वस्त्रके द्वारा संयम और चारित्रका अच्छा साधन हो सकता है ऐसी जो मान्यताएँ हैं सो विपरीत मिथ्यात्व है।

८—सम्यग्दर्शन प्राप्त होनेसे पहले और बादमें छट्ठे गुणस्थान तक जो शुभभाव होता है, उस शुभभावमें भिन्न-भिन्न समयमें भिन्न-भिन्न व्यक्तियोंके भिन्न-भिन्न पदार्थ निमित्त होते हैं, क्योंकि जो शुभभाव है सो विकार है और वह परालंबनसे होता है। कितने ही जीवोंके शुभरागके समय वीतरागदेवकी तदाकार प्रतिमाके दर्शन-पूजनादि निमित्तरूपसे

होते हैं। वीतरागी प्रतिमाका जो दर्शन-पूजन है सो भी राग है, परन्तु किसी भी जीवके शुभरागके समय वीतरागी प्रतिमाके दर्शन-पूजनादिका निमित्त हो न हो ऐसा मानना सो शुभभावके स्वरूपकी विपरीत मान्यता होनेसे विपरीत मिथ्यात्व है।

१—वीतरागदेवकी प्रतिमाके दर्शन-पूजनादिके शुभरागको धर्मानुराग कहते हैं, परन्तु वह धर्म नहीं है, धर्म तो निरावलम्बी है। जब देव-शास्त्र-गुरुके अवलम्बनसे छूटकर शुद्ध श्रद्धा द्वारा स्वभावका आश्रय करता है तब धर्म प्रगट होता है। यदि उस शुभरागको धर्म माने तो उस शुभभावके स्वरूपकी विपरीत मान्यता होनेसे विपरीत मिथ्यात्व है।

छट्ठे अध्यायके ११ वें सूत्रकी टीकामें अवर्णवादके स्वरूपका वर्णन किया है उसका समावेश विपरीत मिथ्यात्वमें होता है।

(३) संशय मिथ्यात्वः—सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रको मोक्षमार्ग कहा है, यही सच्चा मोक्षमार्ग होगा या अन्य, समस्त मतोंमें भिन्न-भिन्न मार्ग बतलाया है, वह सच्चा मार्ग होगा? उनके वचनमें परस्पर विरुद्धता है और कोई प्रत्यक्ष जाननेवाला सर्वज्ञ नहीं है, परस्पर एक-दूसरेके शास्त्र नहीं मिलते, इसीलिये कोई निश्चय (-निर्णय) नहीं हो सकता,-इत्यादि प्रकारका जो अभिप्राय है सो संशय मिथ्यात्व है।

(४) विनय मिथ्यात्वः—१—सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तप-संयम-ध्यानादिके बिना मात्र गुरु-पूजनादिक विनयसे ही मुक्ति होगी ऐसा मानना सो विनय मिथ्यात्व है, २—सब देव, सब शास्त्र, समस्त मत तथा समस्त भेष धारण करनेवालोंको समान मानकर उन सभीका विनय करना सो विनय मिथ्यात्व है और ३—ऐसा मानना कि विनय मात्रसे ही अपना कल्याण हो जायगा सो विनय मिथ्यात्व है। ४—संसारमें जितने देव पूजे जाते हैं और जितने शास्त्र या दर्शन प्रचलित हैं वे सब सुखदाई हैं, उनमें भेद नहीं है, उन सबसे मुक्ति (अर्थात् आत्मकल्याणकी प्राप्ति) हो सकती है—ऐसी जो मान्यता है सो विनय मिथ्यात्व है और इस मान्यतावाला जीव वैनयिक मिथ्यादृष्टि है।

गुण ग्रहणकी अपेक्षासे अनेक धर्मम प्रवृत्ति करना अर्थात् सत्-असत्‌का विचार किये बिना सच्चे तथा खोटे सभी धर्मोंको समान रूपसे जानकर उनके सेवन करनेमें अज्ञानकी मुख्यता नहीं है किन्तु विनयके अतिरेककी मुख्यता है इसीलिये उसे विनय मिथ्यात्व कहते हैं

(५) अज्ञान मिथ्यात्वः—१—स्वर्ग, नरक और मुक्ति किसने देखी? २—स्वर्गके समाचार किसके आये? सभी धर्मशास्त्र झूठे हैं, कोई यथार्थ ज्ञान बतला ही नहीं सकता,

३–पुण्य–पाप कहां लगते हैं ? अथवा पुण्य–पाप कुछ हैं ही नही, ४–परलोकको किसने जाना ? क्या किसीके परलोकके समाचार–पत्र या तार आये ?, ५–स्वर्ग–नरक आदि सब कथनमात्र है, स्वर्ग–नरक तो यही है, यहां सुख भोगना तो स्वर्ग है और दुःख भोगना है सो नरक है, ६–हिंसाको पाप कहा है, और दयाको पुण्य कहा है सो यह कथनमात्र है, कोई स्थान हिंसा रहित नही है, सबमें हिंसा है, कहीं पैर रखनेको स्थान नही, जमीन पवित्र है यह पैर रखने देती है, ७–ऐसा विचार भी निरर्थक है कि यह भक्ष्य और यह अभक्ष्य है, एकेन्द्रिय वृक्ष तथा अन्न इत्यादि खानेमें और मांस–भक्षण करनेमें अन्तर नही है, इन दोनोंमें जीवहिंसा समान है, ८–भगवानने जीवको जीवका ही आहार बताया है अथवा जगतकी सभी वस्तुयें खाने–भोगनेके लिये ही हैं, सांप-विच्छू, शेर वन्दर, तिड्डी, मच्छर-खटमल आदिक मार डालना चाहिये। इत्यादि यह सभी अभिप्राय अज्ञान मिथ्यात्व है।

९. ऊपर कहे गये अनुसार मिथ्यात्वका स्वरूप जानकर सब जीवोंको गृहीत तथा अगृहीत मिथ्यात्व छोड़ना चाहिये। सब प्रकारके बंधका मूल कारण मिथ्यात्व है। मिथ्यात्वको नष्ट किये बिना–दूर किये अन्य बंधके कारण (अविरति आदि) कभी दूर नहीं होते, इसलिये सबसे पहले मिथ्यात्व दूर करना चाहिये।

१०. अविरतिका स्वरूप

पांच इन्द्रिय और मनके विषय एवं पांच स्थावर और एक त्रसकी हिंसा इन बारह प्रकारके त्यागरूप भाव न होना सो बारह प्रकारकी अविरति है।

जिसके मिथ्यात्व होता है उसके अविरति तो होती ही है, परन्तु मिथ्यात्व छूट जानेपर भी वह कितनेक समय तक रहती है। अविरतिको असंयम भी कहते हैं। सम्यग्दर्शन प्रगट होनेके बाद देशचारित्रके बलके द्वारा एकदेशविरति होती है उसे अणुव्रत कहते हैं। मिथ्यात्व छूटनेके बाद तुरन्त ही अविरतिका पूर्ण अभाव हो जाय और यथार्थ महाव्रत तथा मुनिदशा प्रगट करें ऐसे जीव तो अल्प और विरले ही होते हैं।

११. प्रमादका स्वरूप

उत्तम क्षमादि दस धर्मोंमें उत्साह न रखना, इसे सर्वज्ञ देवने प्रमाद कहा है। जिसके मिथ्यात्व और अविरति हो उसके प्रमाद तो होता ही है। परन्तु मिथ्यात्व और अविरति दूर होनेके बाद प्रमाद तत्क्षण ही दूर हो जाय ऐसा नियम नहीं है, इसीलिये सूत्रमें अविरतिके बाद प्रमाद कहा है, यह अविरतिसे भिन्न है। सम्यग्दर्शन प्रगट होते ही प्रमाद दूर करके अप्रमत्तदशा प्रगट करनेवाला जीव कोई विरला ही होता है।

१२. कषायका स्वरूप

कषायके २५ भेद हैं। क्रोध, मान, माया, लोभ, इन प्रत्येकके अनन्तानुबंधी आदि चार भेद, इस तरह १६ तथा हास्यादिक ९ नोकषाय ये सब कषाय हैं और इन सबमें आत्मघात करनेकी सामर्थ्य है। मिथ्यात्व, अविरति और प्रमाद ये तीन अथवा अविरति और प्रमाद ये दो अथवा जहाँ प्रमाद हो वहाँ कषाय तो अवश्य ही होती है, किन्तु ये तीनों दूर हो जाने पर भी कषाय हो सकती है।

१३ योगका स्वरूप

योगका स्वरूप छट्ठे अध्यायके पहले सूत्रकी टीकामें आ गया है। (देखो, पृष्ठ ४०६) मिथ्यादृष्टिसे लेकर तेरहवें गुणस्थानपर्यंत योग रहता है। ११-१२ और १३ वें गुणस्थानमें मिथ्यात्वादि चारका अभाव हो जाता है तथापि योगका सद्भाव रहता है।

केवलज्ञानी गमनादि क्रिया रहित हुए हों तो भी उनके अधिक योग है और दो इन्द्रियादि जीव गमनादि क्रिया करते हैं तो भी उनके अल्प योग होता है, इससे सिद्ध होता है कि योग बन्धका गौण कारण है, यह तो प्रकृति और प्रदेशबन्धका कारण है। बन्धका मुख्य कारण तो मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और कषाय है और इन चारमें भी सर्वोत्कृष्ट कारण तो मिथ्यात्व ही है, मिथ्यात्वको दूर किये बिना अविरति आदि बन्धके कारण दूर ही नहीं होते—यह अबाधित सिद्धान्त है।

१४ किस गुणस्थानमें क्या बन्ध होता है ?

मिथ्यादृष्टि (गुणस्थान १) के पाँचों बन्ध होते हैं। सासादन सम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और असंयत सम्यग्दृष्टि (गुणस्थान २-३-४) के मिथ्यात्वके सिवाय अविरति आदि चार बन्ध होते हैं। देशसंयमी (गुणस्थान ५) के आंशिक अविरति तथा प्रमादादि तीनों बंध होते हैं। प्रमत्तसंयमी (गुणस्थान ६) के मिथ्यात्व और अविरतिके अलावा प्रमादादि तीन बन्ध होते हैं। अप्रमत्तसंयमीके (७ से १० वें गुणस्थान तकके) कषाय और योग ये दो ही बन्ध होते हैं। ११-१२ और १३ वें गुणस्थानमें सिर्फ एक योगका ही सद्भाव है और चौदहवें गुणस्थानमें किसी प्रकारका बन्ध नहीं है, यह अबन्ध है और वहाँ सम्पूर्ण संवर है।

१५. महापाप

प्रश्नः—जीवके सबसे बड़ा पाप कौन है ?

उत्तरः—एक मिथ्यात्व ही है। जहाँ मिथ्यात्व है वहाँ अन्य सब पापोंका सद्भाव है। मिथ्यात्वके समान दूसरा कोई पाप नहीं है।

१६. इस सूत्रका सिद्धान्त

आत्मस्वरूपकी पहिचानके द्वारा मिथ्यात्वके दूर होनेसे उसके साथ अनंतानुबंधी कषायका तथा ४१ प्रकृतियोंके बंधका अभाव होता है, तथा बाकीके कर्मोंकी स्थिति अंतःकोड़ाकोड़ी सागरकी रह जाती है, और जीव थोड़े ही कालमें मोक्षपदको प्राप्त कर लेता है। संसारका मूल मिथ्यात्व है और मिथ्यात्वका अभाव किये विना अन्य अनेक उपाय करनेपर भी मोक्ष या मोक्षमार्ग नहीं होता। इसलिये सबसे पहले यथार्थ उपायोंके द्वारा सर्व प्रकारसे उद्यम करके इस मिथ्यात्वका सर्वथा नाश करना योग्य है ॥ १ ॥

वन्धका स्वरूप

सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान्पुद्गलानादत्ते स बंधः ॥ २ ॥

अर्थः—[जीवः सकषायत्वात्] जीव कषायसहित होनेसे [कर्मणः योग्यान्पुद्गलान्] कर्मके योग्य पुद्गल परमाणुओंको [आदत्ते] ग्रहण करता है [स बन्धः] वह बन्ध है।

टीका

१—समस्त लोकमें कार्माणवर्गणारूप पुद्गल भरे हैं। जब जीव कषाय करता है तब उस कषायका निमित्त पाकर कार्माणवर्गणा स्वयं कर्मरूपसे परिणमती है और जीवके साथ संबंध प्राप्त करती है, इसे बन्ध कहा जाता है। यहां जीव और पुद्गलके एकक्षेत्रावगाहरूप सम्बन्धको बन्ध कहा है। बन्ध होनेसे जीव और कर्म एक पदार्थ नहीं हो जाते, तथा वे दोनों एकत्रित होकर कोई कार्य नहीं करते अर्थात् जीव और कर्म ये दोनों मिलकर पुद्गल कर्ममें विकार नहीं करते। कर्मोंका उदय जीवमें विकार नहीं करता, जीव कर्मोंमें विकार नहीं करता, किन्तु दोनों स्वतंत्ररूपसे अपनी-अपनी पर्यायके कर्ता हैं। जब जीव अपनी विकारी अवस्था करता है तब पुराने कर्मोंके विपाकको 'उदय' कहा जाता है और यदि जीव विकारी अवस्था न करे तो उसके मोहकर्मकी निर्जरा हुई—ऐसा कहा जाता है। परका आश्रय किये विना जीवमें विकार नहीं होता; जीव जब पराश्रय द्वारा अपनी अवस्थामें विकारभाव करता है तब उस भावके अनुसार नवीन कर्म बंधते हैं—ऐसा जीव और पुद्गलका निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, ऐसा यह सूत्र बतलाता है।

२—जीव और पुद्गलका जो निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है वह त्रिकाली द्रव्यमें नहीं है, किन्तु सिर्फ एक समयकी उत्पादरूप पर्यायमें है अर्थात् एक समयकी अवस्था जितना है। जीवमें कभी दो समयका विकार एकत्रित नहीं होता, इसीलिये कर्मके साथ इसका सम्बन्ध भी दो समयका नहीं।

प्रश्नः—यदि यह सम्बन्ध एक ही समय मात्रका है तो जीवके साथ लम्बी स्थिति-वाले कर्मका सम्बन्ध क्यों बतलाया है ?

उत्तरः—वहाँ भी यह बतलाया है कि सम्बन्ध तो वर्तमान एक समयमात्र ही है, परन्तु जीव यदि विभावके प्रति ही पुरुषार्थ चालू रखेगा और यदि सम्यग्दर्शनरूप सत्य-पुरुषार्थ न करे तो उसका कर्मके साथ कहाँ तक सम्बन्ध रहेगा।

३—इस सूत्रमें सकषायत्वात् शब्द है वह जीव और कर्म दोनोंको (अर्थात् कषाय-रूप भाव और कषायरूप कर्म इन दोनोंको) लागू हो सकता है, और ऐसा होनेपर उनमेंसे निम्न मुद्दे निकलते हैं:—

(१) जीव अनादिसे अपनी प्रगट अवस्थामें कभी शुद्ध नहीं हुआ, किन्तु कषायसहित ही है और इसीलिये जीव-कर्मका सम्बन्ध अनादिकालीन है।

(२) कषायभाववाला जीव कर्मके निमित्तसे नवीन बंध करता है।

(३) कषायकर्मको मोहकर्म कहते हैं। आठ कर्मोंमेंसे यह एक ही कर्मबन्धका निमित्त होता है।

(४) पहले सूत्रमें जो बंधके पाँच कारण बताये हैं उनमेंसे पहले चारका यहाँ कहे हुये कषाय शब्दमें समावेश हो जाता है।

(५) यहाँ जीवके साथ कर्मका बन्ध होना कहा है। यह कर्म पुद्गल है ऐसा बतानेके लिये सूत्रमें पुद्गल शब्द कहा है। इसीसे कितने जीवोंकी जो ऐसी मान्यता है कि 'कर्म आत्माका अदृष्ट गुण है' वह दूर हो जाती है।

४—'सकषायत्वात्'—यहाँ पाँचवीं विभक्ति लगानेका ऐसा हेतु है कि जीव जैसी तीव्र, मध्यम या मन्द कषाय करे उसके अनुसार कर्मोंमें स्वयं स्थिति और अनुभागबन्ध होता है ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है।

५—जीवकी सकषाय अवस्थामें द्रव्यकर्म निमित्त है। यह ध्यान रहे कि प्रस्तुत कर्मका उदय हो इसलिये जीवको कषाय करना ही पड़े, ऐसा नहीं है। यदि कर्म उपस्थित है तथापि स्वयं यदि जीव स्वाश्रयमें स्थिर रहकर कषायरूपसे न परिणमे तो उन कर्मोंको बंधका निमित्त नहीं कहा जाता, परन्तु उन कर्मोंकी निर्जरा हुई ऐसा कहा जाता है।

६—जीवके कर्मके साथ जो संयोग सम्बन्ध है वह प्रवाह अनादिसे चला आता है, किन्तु वह एक ही समय मात्रका है। प्रत्येक समय अपनी योग्यतासे जीव नये-नये विकार

करता है इसीलिये यह सम्बन्ध चालू रहता है; किन्तु जड़कर्म जीवको विकार नहीं कराते। यदि जीव अपनी योग्यतासे विकार करे तो होता है और न करे तो नहीं होता। जैसे अधिक समयसे गरम किया हुआ पानी क्षणमें ठण्डा हो जाता है उसीप्रकार अनादिसे विकार (-अशुद्धता) करता आया तो भी वह योग्यता एक ही समय मात्रकी होनेसे शुद्ध स्वभावके आलम्बनके बल द्वारा वह दूर हो सकता है। रागादि विकार दूर होनेसे कर्मके साथका सम्बन्ध भी दूर हो जाता है।

७. प्रश्नः—आत्मा तो अमूर्तिक है, हाथ-पैरसे रहित है और कर्म मूर्तिक है, तब वह कर्मोंको किस तरह ग्रहण करता है?

उत्तरः—वास्तवमें एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका ग्रहण नहीं कर सकता; इसीलिये यहाँ ऐसा समझना कि जो 'ग्रहण' करना बतलाया है वह मात्र उपचारसे कहा है। जीवके अनादिसे कर्मपुद्गलके साथ सम्बन्ध है और जीवके विकारका निमित्त पाकर प्रति समय पुराने कर्मोंके साथ नवीन कर्म स्कन्धरूप होता है—इतना सम्बन्ध बतानेके लिये यह उपचार किया है; वास्तवमें जीवके साथ कर्मपुद्गल नहीं बँधते किन्तु पुराने कर्मपुद्गलोंके साथ नवीन कर्म-पुद्गलोंका बन्ध होता है; परन्तु जीवमें विकारकी योग्यता है और उस विकारका निमित्त पाकर नवीन कर्मपुद्गल स्वयं-स्वतः बँधते हैं इसलिए उपचारसे जीवके कर्मपुद्गलोंका ग्रहण कहा है।

८—जगतमें अनेक प्रकारके बन्ध होते हैं, जैसे गुण-गुणीका बन्ध इत्यादि। इन सब प्रकारके बंधसे यह बंध भिन्न है, ऐसा बतानेके लिये इस सूत्रमें बंधसे पहले 'सः' शब्दका प्रयोग किया है।

'सः' शब्दसे यह बतलाया है कि जीव और पुद्गलके गुण-गुणी संबंध या कर्ता-कर्म सम्बन्ध नहीं है, इसीलिये यहाँ उनका एकक्षेत्रावगाहरूप सम्बन्ध अथवा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध समझना। कर्मका बन्ध जीवके समस्त प्रदेशोंसे होता है और बन्धमें अनन्तानन्त परमाणु होते हैं। (अ० ८ सूत्र २४)

९—यहाँ बन्ध शब्दका अर्थ व्याकरणकी दृष्टिसे नीचे बतलाये हुये चार प्रकारसे समझनाः—

(१) आत्मा बँधा सो बंध, यह कर्मसाधन है।

(२) आत्मा स्वयं ही बंधरूप परिणमता है, इसीलिये बंधको कर्ता कहा जाता है, यह कर्तृसाधन है।

(३) पहले बंधकी अपेक्षासे आत्मा बंधके द्वारा नवीन बंध करता है इसीलिये बन्ध करणसाधन है।

(४) बंधनरूप जो क्रिया है सो ही भाव है, ऐसी क्रियारूप भी बंध है यह भावसाधन है ॥२॥

बन्धके भेद

प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशास्तद्विधयः ॥३॥

अर्थः—[तत्] उस बन्धके [प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशाः] प्रकृतिबंध, स्थितिबंध, अनुभागबंध और प्रदेशबंध [विधयः] ये चार भेद हैं।

टीका

१ प्रकृतिबंधः—कर्मोंके स्वभावको प्रकृतिबंध कहते हैं।

स्थितिबंध—ज्ञानावरणादि कर्म अपने स्वभावरूपसे जितने समय रहे सो स्थितिबंध है।

अनुभागबंधः—ज्ञानावरणादि कर्मोंके रसविशेषको अनुभागबन्ध कहते हैं।

प्रदेशबंधः—ज्ञानावरणादि कर्मरूपसे होनेवाले पुद्गलस्कन्धोंके परमाणुओंकी जो संख्या है सो प्रदेशबंध है। बंधके उपरोक्त चार प्रकारमेंसे प्रकृतिबंध और प्रदेशबंधमें योग निमित्त है और स्थितिबंध तथा अनुभागबंधमें कषाय निमित्त है।

२—यहाँ जो बन्धके भेद वर्णन किये हैं वे पुद्गलकर्मबंधके हैं, अब उन प्रत्येक प्रकारके भेद-उपभेद अनुक्रमसे कहते हैं ॥३॥

प्रकृतिबन्धके मूल भेद

आद्यो ज्ञानदर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायुर्नामगोत्रान्तरायाः ॥४॥

अर्थः—[आद्यो] पहला अर्थात् प्रकृतिबन्ध [ज्ञानदर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायुर्नामगोत्रान्तरायाः] ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम गोत्र और अन्तराय इन आठ प्रकारका है।

टीका

१-ज्ञानावरण—जब आत्मा स्वयं अपने ज्ञानभावका घात करता है अर्थात् ज्ञान-

शक्तिको व्यक्त नही करता तब आत्माके ज्ञानगुणके घातमे जिस कर्मका उदय निमित्त हो उसे ज्ञानावरण कहते हैं।

दर्शनावरणः—जब आत्मा स्वयं अपने दर्शनभावका घात करता है तब आत्माके दर्शनगुणके घातमे जिस कर्मके उदयका निमित्त हो उसे दर्शनावरण कहते हैं।

वेदनीयः—जब आत्मा स्वय मोहभावके द्वारा आकुलता करता है तब अनुकूलता-प्रतिकूलतारूप संयोग प्राप्त होनेमे जिस कर्मका उदय निमित्त हो उसे वेदनीय कहते हैं।

मोहनीयः—जीव अपने स्वरूपको भूलकर अन्यको अपना समझे अथवा स्वरूपाचरणमें असावधानी करता है तब जिस कर्मका उदय निमित्त हो उसे मोहनीय कहते हैं।

आयुः—जीव अपनी योग्यतासे जब नारकी, तिर्यंच, मनुष्य या देवके शरीरमे रुका रहे तब जिस कर्मका उदय निमित्त हो उसे आयुकर्म कहते हैं।

नामः—जिस शरीरमे जीव हो उस शरीरादिककी रचनामे जिस कर्मका उदय निमित्त हो उसे नामकर्म कहते हैं।

गोत्रः—जीवको उच्च या नीच आचरणवाले कुलमे पैदा होनेमें जिस कर्मका उदय निमित्त हो उसे गोत्रकर्म कहते हैं।

अंतरायः—जीवके दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्यके विघ्नमें जिस कर्मका उदय निमित्त हो उसे अन्तरायकर्म कहते हैं।

२—प्रकृतिबन्धके इन आठ भेदोमेंसे ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अंतराय ये चार घातिया कर्म कहलाते है, क्योंकि वे जीवके अनुजीवी गुणोंकी पर्यायके घातमें निमित्त है और बाकीके वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र इन चारको अघातिया कर्म कहते हैं, क्योंकि ये जीवके अनुजीवी गुणोंकी पर्यायके घातमे निमित्त नही किन्तु प्रतिजीवी गुणोंकी पर्यायके घातमें निमित्त है।

वस्तुमें भावस्वरूप गुण अनुजीवी गुण और अभावस्वरूप गुण प्रतिजीवी गुण कहे जाते है।

३—जैसे एक समयमें खाया हुआ आहार उदराग्निके संयोगसे रस, रक्त आदि भिन्न भिन्न प्रकारसे हो जाता है, उसीप्रकार एक ही समयमे ग्रहण किये हुये कर्म जीवके परिणामानु-

सार ज्ञानावरण इत्यादि अनेक भेदरूप हो जाता है। यहाँ उदाहरणसे इतना अन्तर है कि आहार तो रस, रुधिर आदि रूपसे क्रम-क्रमसे होता है परन्तु कर्म तो ज्ञानावरणादिरूपसे एक साथ हो जाते हैं॥४॥

प्रकृतिबंधके उत्तर भेद

पंचनवद्व्यष्टाविंशतिचतुर्द्विचत्वारिंशद्द्विपंचभेदा यथाक्रमम् ॥५॥

अर्थः—[यथाक्रमम्] उपरोक्त ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंके अनुक्रमसे [पंचनवद्व्यष्टाविंशतिचतुर्द्विचत्वारिंशद्द्विपंचभेदाः] पांच, नव, दो, अट्ठाईस, चार, ब्यालीस, दो और पांच भेद हैं।

नोट—इन भेदोंके नाम अब आगेके सूत्रोंमें अनुक्रमसे बतलाते हैं॥५॥

ज्ञानावरणकर्मके पांच भेद

मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानाम् ॥ ६ ॥

अर्थः—[मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानाम्] मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण अवधिज्ञानावरण, मनःपर्ययज्ञानावरण और केवलज्ञानावरण, ये ज्ञानावरणकर्मके पांच भेद हैं।

टीका

प्रश्नः—अभव्य जीवके मनःपर्ययज्ञान तथा केवलज्ञानकी प्राप्ति करनेकी सामर्थ्य नहीं है, यदि यह सामर्थ्य हो तो अभव्यत्व नहीं कहा जा सकता, इसलिये इन दो ज्ञानोंकी सामर्थ्यसे रहित उसके इन दो ज्ञानोंका आवरण कहना क्या निरर्थक नहीं है?

उत्तरः—द्रव्यार्थिकनयसे अभव्य जीवके भी इन दोनों ज्ञानकी शक्ति विद्यमान है और पर्यायार्थिकनयसे अभव्य जीव ये दोनों ज्ञानरूप अपने अपराधसे परिणमता नहीं है, इससे उसके किसी समय भी उसकी व्यक्ति नहीं होती, शक्तिमात्र है, किंतु प्रगटरूपसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र अभव्यके नहीं होते। इसलिये शक्तिमेंसे व्यक्ति न होनेके निमित्तरूप आवरण कर्म होना ही चाहिये, इसीलिये अभव्य जीवके भी मनःपर्ययज्ञानावरण तथा केवलज्ञानावरण विद्यमान हैं।

दर्शनावरण कर्मके नौ भेद

चक्षुरचक्षुरवधिकेवलानां निद्रानिद्रानिद्राप्रचलाप्रचलाप्रचला-स्त्यानगृद्धयश्च

अर्थः—[चक्षुरचक्षुरवधिकेवलानां] चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण, केवलदर्शनावरण [निद्रानिद्रानिद्राप्रचलाप्रचलाप्रचलास्त्यानगृद्धयश्च] निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचलाप्रचला और स्त्यानगृद्धि ये नव भेद दर्शनावरण कर्मके हैं।

टीका

१छद्मस्थ जीवोंके दर्शन और ज्ञान क्रमसे होते हैं अर्थात् पहले दर्शन और पीछे ज्ञान होता है; परन्तु केवली भगवानके दर्शन और ज्ञान दोनों एक साथ होते हैं, क्योंकि दर्शन और ज्ञान दोनोंके बाधक कर्मोंका क्षय एक साथ होता है।

२—मनःपर्ययदर्शन नहीं होता, क्योंकि मनःपर्ययज्ञान मतिज्ञानपूर्वक ही होता है; इसीलिये मनःपर्ययदर्शनावरण कर्म नहीं है।

३—इस सूत्रमें आये हुए शब्दोंका अर्थ श्री जैनसिद्धान्त प्रवेशिकामेंसे देख लेना ॥७॥

वेदनीय कर्मके दो भेद

सदसद्वेद्ये ॥ ८ ॥

अर्थः—[सदसद्वेद्ये] सातावेदनीय और असातावेदनीय ये दो वेदनीयकर्मके भेद हैं।

टीका

वेदनीयकर्मकी दो ही प्रकृतियां हैं—सातावेदनीय और असातावेदनीय।

साता नाम सुखका है। इस सुखका जो वेदन अर्थात् अनुभव करावे सो सातावेदनीय है। असाता नाम दुःखका है, इसका जो वेदन अर्थात् अनुभव करावे सो असातावेदनीय है।

शंकाः—यदि सुख और दुःख कर्मोंसे होता है तो कर्मोंके नष्ट हो जानेके बाद जीवको सुख और दुःखसे रहित हो जाना चाहिये; क्योंकि उसके सुख और दुःखके कारणीभूत कर्मोंका

अभाव हो गया है। यदि यों कहा जावे कि कर्म नष्ट हो जानेसे जीव सुख और दुःख रहित ही हो जाता है, तो ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि जीवद्रव्यके निःस्वभाव हो जानेसे अभावका प्रसंग प्राप्त होता है, अथवा यदि दुःखको ही कर्मजनित माना जावे तो सातावेदनीय कर्मका अभाव हो जायगा, क्योंकि फिर इसका कोई फल नहीं रहता।

समाधानः—दुःख नामकी कोई भी वस्तु है तो वह मोह और असातावेदनीय कर्मके उदयमें युक्त होनेसे होती है, और वह सुखगुणकी विपरीत दशा है किन्तु वह जीवका असली स्वरूप नहीं है। यदि जीवका स्वरूप माना जावे तो क्षीणकर्मा अर्थात् कर्मरहित जीवोंके भी दुःख होना चाहिये, क्योंकि ज्ञान और दर्शनकी तरह कर्मका विनाश होनेपर दुःखका विनाश नहीं होता। किंतु सुख कर्मसे उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि वह जीवका स्वभाव है और इसीलिये वह कर्मका फल नहीं है। सुखका जीवका स्वभाव माननेसे सातावेदनीयकर्मका अभाव भी नहीं होता, क्योंकि दुःखके उपशमनके कारणीभूतक्ष सुद्रव्योंके सम्पादनमें साता-वेदनीयकर्मका व्यापार होता है।

---

* धन, स्त्री, पुत्र इत्यादि बाह्य-पदार्थोंके संयोग-वियोगमें पूर्वकर्मका उदय (निमित्त) कारण है। इसका आधार—

समयसार—गाथा ८४ की टीका प्रवचनसार—गाथा १४ की टीका, पंचास्तिकाय—गाथा २७ ६७ की टीका, परमात्मप्रकाश—अ० २ गाथा ५७, ६० तथा पृष्ठ २०—११८, नियमसार—गाथा १५७ की टीका, पंचाध्यायी अध्याय १ गाथा १८१, पंचाध्यायी अ० १ गाथा ५८१ अध्याय २ गाथा ५०, ४४० ४४१, रयणसार गा० १६, स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा १० १९, ५६ ५७, ३१९, ३२० ४२७, ४३२, पद्मनंदि पंचविंशति पृष्ठ १०१, १०३, १०४, १०६, ११९, ११०, ११६, १२८ १३१ १३८, १४०, १५५, मोक्षमार्ग प्रकाशक गु० अनुवाद पृ० ८ २८, ३०, ४५, [illegible] ६२, ६४, ६८, ७०, ७१, ७२, ७३, १०८ इत्यादि अनेक स्थलोंमें, गोम्मटसार-कर्मकांड पृष्ठ ९०३, श्लोकवार्तिक अध्याय ८ सूत्र ११ की टीका, अध्याय ६ सूत्र १६, राजवार्तिक अध्याय ८ सूत्र [illegible] की टीका अध्याय ६ सूत्र १६।

श्रीमद् राजचन्द्र (गुजराती द्वितीयावृत्ति) पृष्ठ २३५, ४४३ तथा मोक्षमाळा पाठ ३ सत्-स्वरूप पृष्ठ २५, अनगार धर्मामृत—पृष्ठ ६०, ७६।

श्रीषट्खण्डागम पुस्तक १ पृ० १०५, गोम्मटसार जी० पीठिका पृ० १४, १५, ३७५, गो० क० गा० २ पृ० ३ पृ० ९०२—९०३ गा० ३८० समयसार गा० १३२ से १३६ की तथा २२४, २२७, २७५, ३२४ से ३२७ जयसेनाचार्यकृत टीका; स० सार गा० २२५ मूल। पं० राजमल्लजी स० सार कलश टीका पृ० १६३ से १६६, १७१ १७२, १७५, १७८ १६५। प्रवचनसार गा० ७२ की

ऐसी व्यवस्था माननेसे सातावेदनीय प्रकृतिको पुद्गलविपाकित्व प्राप्त हो जायगा, ऐसी आशंका नहीं करना; क्योंकि दुःखके उपशमसे उत्पन्न हुए दुःखके अविनाभावी, उपचारसे ही सुख संज्ञाको प्राप्त और जीवसे अभिन्न ऐसे स्वास्थ्यके कणका हेतु होनेसे सूत्रमें सातावेदनीयकर्मको जीवविपाकित्व और सुखहेतुत्वका उपदेश दिया गया है। यदि ऐसा कहा जावे कि उपरोक्त व्यवस्थानुसार तो सातावेदनीय कर्मको जीवविपाकित्व और पुद्गलविपाकत्व प्राप्त होता है; तो यह भी कोई दोष नहीं है, क्योंकि जीवका अस्तित्व अन्यथा नहीं बन सकता, इसीसे इसप्रकारके उपदेशके अस्तित्वकी सिद्धि हो जाती है। सुख और दुःखके कारणभूत द्रव्योंका संपादन करनेवाला दूसरा कोई कर्म नहीं है, क्योंकि ऐसा कोई कर्म मिलता नहीं। (धवला-टीका पुस्तक ६ पृष्ठ ३५-३६)

मोहनीय कर्मके अट्ठाईस भेद बतलाते हैं

दर्शनचारित्रमोहनीयाकषायकषायवेदनीयाख्यास्त्रिद्विनवषोडशभेदाः सम्यक्त्वमिथ्यात्वतदुभयान्यकषायकषायौ हास्यरत्यरतिशोकभय-जुगुप्सास्त्रीपुंनपुंसकवेदा अनन्तानुबंध्यप्रत्याख्यान प्रत्याख्यान-संज्वलनविकल्पाश्चैकशः क्रोधमानमायालोभाः ॥ ९ ॥

अर्थः—[दर्शनचारित्रमोहनीयाकषायकषायवेदनीयाख्याः] दर्शनमोहनीय, चारित्र-मोहनीय, अकषायवेदनीय और कषायवेदनीय इन चार भेदरूप मोहनीयकर्म है और इसके भी अनुक्रमसे [त्रिद्विनवषोडशभेदाः] तीन, दो, नव और सोलह भेद हैं। वे इसप्रकारसे हैं—[सम्यक्त्वमिथ्यात्वतदुभयानि] सम्यक्त्व मोहनीय मिथ्यात्व मोहनीय, और सम्यग्-मिथ्यात्वमोहनीय ये दर्शन मोहनीयके तीन भेद हैं; [अकषायकषायौ] अकषायवेदनीय और कषायवेदनीय ये दो भेद चारित्र मोहनीयके हैं; [हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सा-

---

जयसेनाचार्यकृत टीका। नियमसार शास्त्रमें कलश २९। रयणसार गा० २६। भगवती आराधना पृ० ५४७-८, तथा गाथा १७३१ १७३३, १७३४-५, १७४२, १७४३, १७४८, १७५२। पद्मनंदि पंचविंशति प्रथम अ० गा० १८१, १८४ से १९१, १९५-९६, पद्मनंदी अ० श्लोक २०, ३८, ४६, अनित्य अ० श्लो० ६, ९, १०, ४२। आत्मानुशासन गा० २१, ३१, ३७, १४८। सुभाषित रत्नसंदोह गा० ३५६-५७-५९-६०-६६-३७०, ३७२। महापुराण सर्ग० ५ श्लोक १४ से १८; सर्ग ६ में श्लोक १९५, २०२-३; सर्ग २८ में श्लोक ११३ से २२०; पर्व ३७ श्लोक १९० से २००। सत्तास्वरूप पृ० १७ जैन सि० प्रवेशिका पृ० ३३६-३७ पुण्यकर्म, पापकर्म।

स्त्रीपुंनपुंसकवेदाः] हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद ये अकषायवेदनीयके नव हैं, और [अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानसंज्वलनविकल्पाः च] अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान तथा संज्वलनके भेदसे तथा [एकशः क्रोधमानमायालोभाः] इन प्रत्येकके क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार प्रकार—ये सोलह भेद कषायवेदनीयके हैं। इस तरह मोहनीयके कुल अट्ठाईस भेद हैं।

नोटः—अकषायवेदनीय और कषायवेदनीयका चारित्रमोहनीयमें समावेश हो जाता है, इसीलिये इनको अलग नहीं गिनाया गया है।

टीका

१—मोहनीयकर्मके मुख्य दो भेद हैं—दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय। जीवका मिथ्यात्वभाव ही संसारका मूल है, इसमें मिथ्यात्व मोहनीयकर्म निमित्त है, यह दर्शनमोहनीयका एक भेद है। दर्शनमोहनीयके तीन भेद हैं—मिथ्यात्वप्रकृति, सम्यक्त्वप्रकृति, और सम्यक्मिथ्यात्वप्रकृति। इन तीनमेंसे एक मिथ्यात्व प्रकृतिका ही बन्ध होता है। जीवका ऐसा कोई भाव नहीं है कि जिसका निमित्त पाकर सम्यक्त्वमोहनीयप्रकृति या सम्यग्मिथ्यात्वमोहनीय प्रकृति बँधे। जीवके प्रथम सम्यग्दर्शन प्रगट होनेके कालमें (उपशम कालमें) मिथ्यात्वप्रकृतिके तीन टुकड़े हो जाते हैं, इनमेंसे एक मिथ्यात्वरूपसे रहता है, एक सम्यक्त्वप्रकृतिरूपसे होता है और एक सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृतिरूपसे होता है। चारित्रमोहनीयके पच्चीस भेद हैं, उनके नाम सूत्रमें ही बतलाये हैं। इसप्रकार सब मिलकर मोहनीयकर्मके अट्ठाईस भेद हैं।

२—इस सूत्रमें आये हुये शब्दोंका अर्थ जैनसिद्धान्त प्रवेशिकामेंसे देख लेना।

३—यहाँ हास्यादिक नवको अकषायवेदनीय कहा है, इसे नोकषायवेदनीय भी कहते हैं।

४—अनन्तानुबंधीका अर्थः—अनन्त = मिथ्यात्व, संसार; अनुबंधी=जो इसको अनुसरण कर बन्धको प्राप्त हो। मिथ्यात्वको अनुसरण कर जो कषाय बंधती है उसे अनन्तानुबन्धी कषाय कहते हैं। अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान-माया-लोभकी व्याख्या निम्नप्रकार है—

(१) जो आत्माके शुद्धस्वरूपकी अरुचि है सो अनन्तानुबन्धी क्रोध है।

(२) 'मैं परका कर सकता हूं, ऐसी मान्यतापूर्वक जो अहङ्कार है सो अनन्तानुबंधी मान-अभिमान है।

(३) अपना स्वाधीन सत्यस्वरूप समझमें नहीं आता ऐसी वक्रतामें समस्त शक्तिको

छुपाकर आत्माको ठगना सो अनन्तानुबन्धी माया है।

(४) पुण्यादि विकारसे और परसे लाभ मानकर अपनी विकारी दशाकी वृद्धि करना सो अनन्तानुबन्धी लोभ है।

अनंतानुबन्धी कषाय आत्माके स्वरूपाचरण चारित्रको रोकती है। शुद्धात्माके अनुभवको स्वरूपाचरण चारित्र कहते हैं। इसका प्रारम्भ चौथे गुणस्थानसे होता है और चौदहवें गुणस्थानमें इसकी पूर्णता होकर सिद्धदशा प्रगट होती है ॥९॥

अब आयुकर्मके चार भेद बतलाते हैं

नारकतैर्यग्योनमानुषदैवानि ॥१०॥

अर्थः—[नारकतैर्यग्योनमानुषदैवानि] नरकायु, तिर्यंचायु, मनुष्यायु और देवायु—ये चार भेद आयुकर्मके हैं ॥१०॥

नामकर्मके ४२ भेद बतलाते हैं

४ ५ ५ ३ २ ५ ५ ६ ६

गतिजातिशरीरांगोपांगनिर्माणबंधनसंघातसंस्थानसंहनन-

८ ५ २ ५ ४

स्पर्शरसगंधवर्णानुपूर्व्यागुरुलघूपघातपरघातातपोद्योतोच्छ्वास-

२

विहायोगतयः प्रत्येकशरीरत्रससुभगसुस्वरशुभसूक्ष्मपर्याप्ति-स्थिरादेययशःकीर्तिसेतराणि तीर्थकरत्वं च ॥११॥

अर्थः—[गतिजातिशरीरांगोपांगनिर्माणबंधनसंघातसंस्थानसंहननस्पर्शरसगंधवर्णानुपूर्व्यागुरुलघूपघातपरघातातपोद्योतोच्छ्वासविहायोगतयः] गति, जाति, शरीर, अंगोपांग, निर्माण बन्धन, संघात, संस्थान, संहनन, स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, आनुपूर्वी, अगुरुलघु, उपघात, परघात, आतप, उद्योत, उच्छ्वास और विहायोगति ये इक्कीस तथा [प्रत्येकशरीरत्रससुभगसुस्वरशुभसूक्ष्मपर्याप्तिस्थिरादेययशःकीर्तिसेतराणि] प्रत्येक शरीर, त्रस सुभग, सुस्वर, शुभ, सूक्ष्म, पर्याप्ति, स्थिर, आदेय और यशःकीर्ति, ये दश तथा इनसे उलटे दस अर्थात् साधारण शरीर, स्थावर, दुर्भग, दुस्वर, अशुभ, बादर (—स्थूल) अपर्याप्ति, अस्थिर, अनादेय और

अयशःकीर्ति ये दस [तीर्थंकरत्व च] और तीर्थकरत्व, इस तरह नाम कर्मके कुल ब्यालीस भेद हैं।

टीका

सूत्रके जिस शब्द पर जितने अङ्क लिखे हैं वे यह बतलाते हैं कि उस शब्दके उतने उपभेद हैं। उदाहरणार्थ—गति शब्द पर ४ का अङ्क लिखा है वह यह बतलाता है कि गतिके चार उपभेद हैं। गति आदि उपभेद सहित गिना जाय तो नाम कर्मके कुल ९३ भेद होते हैं।

इस सूत्रमें आये हुए शब्दोंका अर्थ श्री जैनसिद्धान्त प्रवेशिकामेंसे देख लेना ॥ ११ ॥

गोत्रकर्मके दो भेद

उच्चैर्नीचैश्च ॥१२॥

अर्थ—[उच्चैर्नीचैश्च] उच्चगोत्र और नीचगोत्र ये दो भेद गोत्रकर्मके हैं ॥१२॥

अन्तरायकर्मके पांच भेद बतलाते हैं

दानलाभभोगोपभोगवीर्याणाम् ॥१३॥

अर्थ—[दानलाभभोगोपभोगवीर्याणाम्] दानांतराय, लाभांतराय, भोगांतराय, उपभोगांतराय और वीर्यान्तराय ये पांच भेद अन्तराय कर्मके हैं। प्रकृतिबन्धके उपभेदोंका वर्णन यहां पूर्ण हुआ ॥१३॥

अब स्थितिबन्धके भेदोंमें ज्ञानावरण, वेदनीय और अन्तराय कर्मकी उत्कृष्ट स्थिति बतलाते हैं—

आदितस्तिसृणामन्तरायस्य च त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोट्यः परा स्थितिः ॥१४॥

अर्थ—[आदितस्तिसृणाम्] आदिके तीन अर्थात् ज्ञानावरण, दर्शनावरण, तथा वेदनीय [अन्तरायस्य च] और अन्तराय, इन चार कर्मोंकी [परा स्थितिः] उत्कृष्ट स्थिति [त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोट्यः] तीस कोड़ाकोड़ी सागर की है।

नोटः—(१) इस उत्कृष्ट स्थितिका बन्ध मिथ्यादृष्टि संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक जीवके ही होता है। (२) एक करोड़को करोड़से गुणनेसे जो गुणनफल हो वह कोड़ाकोड़ी कहलाता है ॥१४॥

मोहनीय कर्मकी उत्कृष्ट स्थिति बतलाते हैं

सप्ततिर्मोहनीयस्य ॥१५॥

अर्थः—[मोहनीयस्य] मोहनीय कर्मकी उत्कृष्ट स्थिति [सप्ततिः] सत्तर कोड़ाकोड़ी सागरकी है।

नोटः—यह स्थिति भी मिथ्यादृष्टि संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक जीवके ही बँधती है ॥१५॥

नाम और गोत्रकर्मकी उत्कृष्ट स्थिति बतलाते हैं

विंशतिर्नामगोत्रयोः ॥१६॥

अर्थः—[नामगोत्रयोः] नाम और गोत्र कर्मकी उत्कृष्ट स्थिति [विंशतिः] बीस कोड़ाकोड़ी सागरकी है ॥१६॥

आयु कर्मकी उत्कृष्ट स्थितिका वर्णन

त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्यायुषः ॥१७॥

अर्थः—[आयुषः] आयु कर्मकी उत्कृष्ट स्थिति [त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि] तैंतीस सागरकी है ॥ १७ ॥

वेदनीय कर्मकी जघन्य स्थिति बतलाते हैं

अपरा द्वादशमुहूर्ता वेदनीयस्य ॥१८॥

अर्थः—[वेदनीयस्य अपरा] वेदनीय कर्मकी जघन्य स्थिति [द्वादशमुहूर्ताः] बारह मुहूर्तकी है ॥१८॥

नाम और गोत्र कर्मकी जघन्य स्थिति

नामगोत्रयोरष्टौ ॥१९॥

अर्थः—[नामगोत्रयोः] नाम और गोत्र कर्मकी जघन्य स्थिति [अष्टौ] आठ मुहूर्त की है ॥१९॥

अब शेष ज्ञानावरणादि पाँच कर्मोंकी जघन्य स्थिति बतलाते हैं

शेषाणामन्तर्मुहूर्ता ॥ २० ॥

अर्थः—[शेषाणां] बाकीके अर्थात् ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अन्तराय और आयु—इन पांच कर्मोंकी जघन्य स्थिति [अन्तर्मुहूर्ता] अन्तर्मुहूर्तकी है।

यहाँ स्थितिबन्धके उपभेदोंका वर्णन पूर्ण हुआ ॥ २० ॥

अब अनुभागबन्धका वर्णन करते हैं (अनुभागबन्धको अनुभवबन्ध भी कहते हैं।)

अनुभवबन्धका लक्षण

विपाकोऽनुभवः ॥ २१ ॥

अर्थः—[विपाकः] विविध प्रकारका जो पाक है [अनुभवः] सो अनुभव है।

टीका

(१) मोहकर्मका विपाक होनेपर जीव जिसप्रकारका विकार करे उसीरूपसे जीवने फल भोगा कहा जाता है। इसका इतना ही अर्थ है कि जीवको विकार करनेमें मोहकर्मका विपाक निमित्त है। कर्मका विपाक कर्ममें होता है, जीवमें नहीं होता। जीवको अपने विभावभावका जो अनुभव होता है सो जीवका विपाक-अनुभव है।

(२) यह सूत्र पुद्गलकर्मके विपाक-अनुभवको बतानेवाला है। बन्ध होते समय जीवका जैसा विकारीभाव हो उसके अनुसार पुद्गलकर्ममें अनुभाग बन्ध होता है और जब वह उदयमें आवे तब यह कहा जाता है कि कर्मका विपाक, अनुभाग या अनुभव हुआ ॥२१॥

अनुभाग बन्ध कर्मके नामानुसार होता है

स यथानाम ॥ २२ ॥

अर्थ—[सः] वह अनुभाग बन्ध [यथानाम] कर्मोंके नामके अनुसार ही होता है।

टीका

जिस कर्मका जो नाम है उस कर्ममें वैसा ही अनुभाग बन्ध पड़ता है। जैसे कि

ज्ञानावरण कर्ममें ऐसा अनुभाग होता है कि 'जब ज्ञान रुके तब निमित्त हों' दर्शनावरण कर्ममें 'जब दर्शन रुके तब निमित्त हों' ऐसा अनुभाग होता है ॥ २२॥

अब यह बतलाते हैं कि फल देनेके बाद कर्मोंका क्या होता है ?

ततश्च निर्जरा ॥ २३ ॥

अर्थः—[ततः च] तीव्र, मध्यम या मन्द फल देनेके बाद [निर्जरा] उन कर्मोंकी निर्जरा हो जाती है अर्थात् उदयमें आनेके बाद कर्म आत्मासे पृथक् हो जाते हैं।

१—आठों कर्म उदय होनेके बाद झड़ जाते हैं। इनमें कर्मकी निर्जराके दो भेद हैं:—सविपाक निर्जरा और अविपाक निर्जरा।

(१) सविपाक निर्जराः—आत्माके साथ एक क्षेत्रमें रहे हुए कर्म अपनी स्थिति पूरी होनेपर अलग हो गये यह सविपाक निर्जरा है।

(२) अविपाक निर्जराः—उदयकाल प्राप्त होनेसे पहले जो कर्म आत्माके पुरुषार्थके कारण आत्मासे पृथक् हो गये वह अविपाक निर्जरा है। इसे सकाम निर्जरा भी कहते हैं।

२—निर्जराके दूसरी तरहसे भी दो भेद होते हैं, उनका वर्णन—

(१) अकाम निर्जराः—इसमें बाह्यनिमित्त तो यह है कि इच्छारहित भूख-प्यास सहन करना और वहां यदि मन्दकषायरूप भाव हो तो व्यवहारसे पापकी निर्जरा और देवादि पुण्यका बन्ध हो—इसे अकाम निर्जरा कहते हैं।

जिस अकाम निर्जरासे जीवकी गति कुछ ऊँची होती है, वह प्रतिकूल संयोगके समय जीव मंद कषाय करता है उससे होती है, किन्तु कर्म जीवको ऊँची गतिमें नहीं ले जाते।

(२) सकाम निर्जराः—इसकी व्याख्या ऊपर अविपाक निर्जराके अनुसार समझना। यहां विशेष बात यह है कि जीवके उपादानकी अस्ति प्रथम दिखाकर निर्जरामें भी पुरुषार्थका कारणपना दिखाया।

३—इस सूत्रमें जो 'च' शब्द है वह नववां अध्यायके तीसरे सूत्र (तपसा निजरा च) के साथ सम्बन्ध कराता है।

यहां अनुभागबन्धका वर्णन पूर्ण हुआ ॥ २३ ॥

अब प्रदेशबन्धका वर्णन करते हैं—

प्रदेशबन्धका स्वरूप

नामप्रत्ययाः सर्वतो योगविशेषात्सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाहस्थिताः सर्वात्मप्रदेशेष्वनन्तानन्तप्रदेशाः ॥ २४ ॥

अर्थः—[नामप्रत्ययाः] ज्ञानावरणादि कर्मप्रकृतियोंका कारण, [सर्वतः] सर्व तरफसे अर्थात् समस्त भवोंमें [योगविशेषात्] योग विशेषसे [सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाहस्थिताः] सूक्ष्म, एकक्षेत्रावगाहरूप स्थित [सर्वात्मप्रदेशेषु] और सर्व आत्मप्रदेशोंमें [अनन्तानन्तप्रदेशाः] जो कर्मपुद्गलके अनन्तानन्त प्रदेश हैं सो प्रदेशबन्ध है।

निम्न छह बातें इस सूत्रमें बतलाई हैं—

(१) सर्व कर्मके ज्ञानावरणादि मूलप्रकृतिरूप, उत्तरप्रकृतिरूप और उत्तरोत्तरप्रकृतिरूप होनेका कारण कार्माणवर्गणा है।

(२) त्रिकालवर्ती समस्त भवोंमें (भवोंमें) मन-वचन-कायके योगके निमित्तसे यह कर्म आते हैं। (३) ये कर्म सूक्ष्म हैं—इन्द्रियगोचर नहीं हैं।

(४) आत्माके सर्व प्रदेशोंके साथ दूध-पानीकी तरह एक क्षेत्रमें यह कर्म व्याप्त हैं।

(५) आत्माके सर्व प्रदेशोंमें अनन्तानन्त पुद्गल स्थित होते हैं।

(६) एक एक आत्माके असंख्य प्रदेश हैं, इस प्रत्येक प्रदेशमें संसारी जीवोंके अनन्तानन्त पुद्गलस्कन्ध विद्यमान हैं।

यहां प्रदेशबन्धका वर्णन पूर्ण हुआ ॥ २४ ॥

इस तरह चार प्रकारके बन्धका वर्णन किया। अब कर्मप्रकृतियोंमेंसे पुण्यप्रकृतियां कितनी हैं और पापप्रकृतियां कितनी हैं यह बताकर इस अध्यायको पूर्ण करते हैं।

पुण्यप्रकृतियां बतलाते हैं

सद्वेद्यशुभायुर्नामगोत्राणि पुण्यम् ॥ २५ ॥

अर्थः—[सद्वेद्यशुभायुर्नामगोत्राणि] सातावेदनीय, शुभआयु, शुभनाम और शुभगोत्र [पुण्यम्] ये पुण्यप्रकृतियां हैं।

टीका

१—घातिया कर्मोंकी ४७ प्रकृतियाँ हैं, ये सब पापरूप हैं। अघातिया कर्मोंकी १०१ प्रकृतियाँ हैं, उनमें पुण्य और पाप दोनों प्रकार हैं। उनमेंसे निम्नोक्त ६८ प्रकृतियाँ पुण्यरूप हैं—

(१) सातावेदनीय (२) तिर्यंचायु (३) मनुष्यायु (४) देवायु (५) उच्चगोत्र (६) मनुष्य-गति (७) मनुष्यगत्यानुपूर्वी (८) देवगति (९) देवगत्यानुपूर्वी (१०) पंचेन्द्रिय जाति (११-१५) पांच प्रकारका शरीर (१६–२०) शरीरके पांच प्रकारके बन्धन, (२१–२५) पांच प्रकारका संघात (२६–२८) तीन प्रकारका अंगोपांग (२९–४८) स्पर्श, वर्णादिककी वीस प्रकृतियां (४९) समचतुरस्रसंस्थान (५०) वज्रर्षभनाराचसंहनन, (५१) अगुरुलघु (५२) परघात, (५३) उच्छ्वास (५४) आतप (५५) उद्योत (५६) प्रशस्त विहायोगति (५७) त्रस (५८) वादर (५९) पर्याप्ति (६०) प्रत्येक शरीर (६१) स्थिर (६२) शुभ (६३) सुभग (६४) सुस्वर (६५) आदेय (६६) यशःकीर्ति (६७) निर्माण और (६८) तीर्थंकरत्व। भेद–विवक्षासे ये ६८ पुण्यप्रकृतियां हैं और अभेद–विवक्षासे ४२ पुण्यप्रकृतियां हैं, क्योंकि वर्णादिकके १६ भेद, शरीरमें अन्तर्गत ५ बंधन और ५ संघात—इस प्रकार कुल २६ प्रकृतियां घटानेसे ४२ प्रकृतियां रहती हैं।

२—पहले ११वें सूत्रमे नामकर्मकी ४२ प्रकृतियां बतलाई हैं, उनमें गति, जाति, शरीरादिकके उपभेद नहीं बतलाये; परन्तु पुण्यप्रकृति और पापप्रकृति ऐसे भेद करनेसे उनके उपभेद आये विना नहीं रहते ॥ २५ ॥

अब पापप्रकृतियां बतलाते हैं:—

अतोऽन्यत्पापम् ॥ २६ ॥

अर्थः—[अतः अन्यत्] इन पुण्यप्रकृतियोंसे अन्य अर्थात् असातावेदनीय, अशुभ आयु, अशुभ नाम और अशुभ गोत्र [पापम्] ये पाप-प्रकृतियाँ हैं।

टीका

१—पाप प्रकृतियां १०० हैं, जो निम्नप्रकार हैं:—

४७–घातिया कर्मोंकी सर्व प्रकृतिया, ४८-नीच गोत्र, ४९-असातावेदनीय, ५०–नरकायु, [नामकर्मकी ५०] १–नरकगति, २–नरकगत्यानुपूर्वी, ३–तिर्यंचगति, ४–तिर्यंचगत्यानुपूर्वी,

५-८-एकेन्द्रियसे चतुरिन्द्रिय तक चार जाति, ९ से १३-पांच संस्थान, १४ से १८-पांच संहनन, १९-३८-वर्णादिक २० प्रकार, ३९-उपघात, ४०-अप्रशस्त विहायोगति, ४१-स्थावर, ४२-सूक्ष्म, ४३-अपर्याप्ति, ४४-साधारण, ४५-अस्थिर, ४६-अशुभ, ४७-दुर्भग, ४८-दुःस्वर, ४९-अनादेय और ५०-अयशःकीर्ति। भेद विवक्षासे ये सब १०० पापप्रकृतियां हैं और अभेद-विवक्षासे ८४ हैं; क्योंकि वर्णादिकके १६ उपभेद घटानेसे ८४ रहते हैं। इनमेंसे भी सम्यक्-मिथ्यात्वप्रकृति तथा सम्यक्त्वमोहनीयप्रकृति इन दो प्रकृतियोंका बन्ध नहीं होता, अतः इन दो को कम करनेसे भेदविवक्षासे ९८ और अभेदविवक्षासे ८२ पापप्रकृतियोंका बन्ध होता है, परन्तु इन दोनों प्रकृतियोंकी सत्ता तथा उदय होता है इसीलिये सत्ता और उदय तो भेदविवक्षासे १०० तथा अभेदविवक्षासे ८४ प्रकृतियोंका होता है।

२—वर्णादिक चार अथवा उनके भेद गिने जायें तो २० प्रकृतियां हैं, ये पुण्यरूप भी हैं और पापरूप भी हैं, इसीलिये ये पुण्य और पाप दोनोंमें गिनी जाती हैं।

३—इस सूत्रमें आये हुये शब्दोंका अर्थ भी जैनसिद्धान्त प्रवेशिकामेंसे देख लेना।

उपसंहार

१—इस अध्यायमें बन्धतत्त्वका कथन है। पहले सूत्रमें मिथ्यात्वादि पांच विकारी परिणामोंका बन्धके कारणरूपसे बताया है, इनमें पहला मिथ्यात्व बतलाया है, क्योंकि इन पांच कारणोंमें संसारका मूल मिथ्यादर्शन है। ये पांचों प्रकारके जीवके विकारी परिणामोंका निमित्त पाकर आत्माके एक-एक प्रदेशमें अनन्तानन्त कार्माणवर्गणारूप पुद्गलपरमाणु एक क्षेत्रावगाहरूपसे बन्धते हैं, यह प्रबन्ध है।

२—बन्धके चार प्रकार वर्णन किये हैं। इसमें ऐसा भी बतलाया है कि कर्मबन्ध जीवके साथ कितने समय तक रहकर फिर उसका वियोग होता है। प्रकृतिबन्धके मुख्य आठ भेद होते हैं, इनमेंसे एक मोहनीय प्रकृति ही नवीन कर्मबन्धमें निमित्त है।

३—वर्तमान-गोचर जो देश है उनमें किसी भी स्थानमें ऐसा स्पष्ट और वैज्ञानिक ढगसे या न्याय-पद्धतिसे जीवके विकारी भावोंका तथा उसके निमित्त से होनेवाले पुद्गलबन्धके प्रकारोंका स्वरूप, और जीवके शुद्धभावोंका स्वरूप जैनदर्शनके अतिरिक्त दूसरे किसी दर्शनमें नहीं कहा गया और इसप्रकारका नवतत्त्वके स्वरूपका सत्य कथन सर्वज्ञ वीतरागके बिना हो ही नहीं सकता। इसलिये जैनदर्शनकी अन्य किसी भी दर्शनके साथ समानता मानना सो विनय-मिथ्यात्व है।

४—मिथ्यात्वके सम्बन्धमें पहले सूत्रमें जो विवेचन किया गया है वह यथार्थ समझना।

५-वन्धतत्त्व सम्वन्धी ये खास सिद्धान्त ध्यानमें रखने योग्य हैं कि शुभ तथा अशुभ दोनों ही भाववन्धके कारण हैं, इसलिये उनमें अन्तर नही है अर्थात् दोनों वुरे हैं। जिस अशुभभाव के द्वारा नरकादिरूप पापवन्ध हो उसे तो जीव वुरा जानता है, किन्तु जिस शुभभावके द्वारा देवादिरूप पुण्यवन्ध हो उसे वह भला जानता है; इस तरह दु.ख सामग्रीमें (पापवन्धके फलमें) द्वेप और सुखसामग्रीमें (पुण्यवन्धके फलमें) राग हुआ; इसलिये पुण्य अच्छा और पाप वुरा है, यदि ऐसा माने तो ऐसी श्रद्धा हुई कि राग-द्वेप करने योग्य हैं, और जैसे इस पर्याय सम्वन्धी राग-द्वेप करनेकी श्रद्धा हुई वैसी भावी पर्याय सम्वन्धी भी सुख-दु ख सामग्रीमें राग-द्वेप करने योग्य है ऐसी श्रद्धा हुई। अशुद्ध (शुभ-अशुभ) भावोके द्वारा जो कर्मवन्ध हो उसमें अमुक अच्छा और अमुक वुरा ऐसा भेद मानना ही मिथ्याश्रद्धा है; ऐसी श्रद्धासे वन्धतत्त्वका सत्य श्रद्धान नही होता। शुभ या अशुभ दोनों वन्धभाव है, इन दोनोंसे घातिकर्मोका वन्ध निरन्तर होता है; सव घातियाकर्म पापरूप ही है और यही आत्मगुणके घातनेमें निमित्त है। तो फिर शुभभावसे जो वन्ध हो उसे अच्छा क्यों कहा है ? (मोक्षमार्ग प्रकाशक)

६—यहा यह वतलाते है कि जीवके एक समयके विकारीभावमे सात कर्मके वन्धमे और किसी समय आठों प्रकारके कर्मके वन्धमें निमित्त होनेकी योग्यता किस तरह होती है—

(१) जीव अपने स्वरूपकी असावधानी रखता है, यह मोहकर्मके वन्धका निमित्त होता है।

(२) स्वरूपकी असावधानी होनेसे जीव उस समय अपना ज्ञान अपनी ओर न मोडकर परकी तरफ मोड़ता है, यह भाव ज्ञानावरण कर्मके वन्धका निमित्त होता है।

(३) उसी समय स्वरूपकी असावधानीको लेकर अपना (निजका) दर्शन अपनी तरफ न मोड़कर परकी तरफ मोड़ता है, यह भाव दर्शनावरणकर्मके वन्धका निमित्त होता है।

(४) उसी समयमें स्वरूपकी असावधानी होनेसे अपना वीर्य अपनी तरफ नहीं मोड़कर परकी तरफ मोडता है, यह भाव अन्तरायकर्मके वन्धका निमित्त होता है।

(५) परकी ओरके झुकावसे परका संयोग होता है, इसलिये इस समयका (स्वरूपकी असावधानीके समयका) भाव शरीर इत्यादि नामकर्मके वन्धका निमित्त होता है।

(६) जहाँ शरीर हो वहाँ ऊँच-नीच आचारवाले कुलमें उत्पत्ति होती है, इसलिये इस समयका रागभाव गोत्रकर्मके वन्धका निमित्त होता है।

(७) जहां शरीर होता है वहाँ बाहरकी अनुकूलता, प्रतिकूलता, रोग निरोग आदि होते हैं, इसलिये इस समयका रागयान वेदनीयकर्मके बन्धका निमित्त होता है।

अज्ञानदशामें ये सात कर्म तो प्रति समय बँधा ही करते हैं। सम्यक्दर्शन होनेके बाद क्रम-क्रमसे जिस जिस प्रकार स्वसन्मुखताके बलसे चारित्रकी असावधानी दूर होती है उसी-उसी प्रकार जीवमें शुद्धदशा-अविकारीदशा बढ़ती जाती है और यह अविकारी (निर्मल) भाव पुद्गलकर्मके बन्धमें निमित्त नहीं होता, इसलिये उतने अंशमें बन्धन दूर होता है।

(८) शरीर संयोगी वस्तु है, इसलिये जहां यह संयोग हो वहां वियोग भी होता ही है, अर्थात् शरीरकी स्थिति अमुक कालकी होती है। वर्तमान भवमें जिस भवके योग्य भाव जीवने किये हों वैसी आयुका बन्ध नवीन शरीरके लिये होता है।

७—बन्धतत्त्वके जो पाँच कारण हैं उनमें मिथ्यात्व मुख्य है और इस कर्मबन्धका अभाव करनेके लिये सबसे पहला कारण सम्यग्दर्शन ही है। सम्यग्दर्शन होनेसे ही मिथ्यादर्शनका अभाव होता है और उसके बाद ही स्वरूपके आलम्बनके अनुसार क्रम-क्रमसे अविरति आदिका अभाव होता है।

इस प्रकार श्री उमास्वामीविरचित मोक्षशास्त्रके
आठवें अध्यायकी गुजराती टीकाका
हिन्दी अनुवाद पूर्ण हुआ।



मोक्षशास्त्र-अध्याय नववाँ

भूमिका

१—इस अध्यायमें संवर और निर्जरातत्त्वका वर्णन है। यह मोक्षशास्त्र है, इसलिये सबसे पहले मोक्षका उपाय बतलाया है कि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रकी एकता है सो मोक्षमार्ग है। फिर सम्यग्दर्शनका लक्षण तत्त्वार्थश्रद्धान कहा और तत्त्वोंके नाम बतलाये; इसके बाद अनुक्रमसे इन तत्त्वोंका वर्णन किया है। इसमें जीव, अजीव, आस्रव और बंध इन चार तत्त्वोंका वर्णन इस आठवें अध्याय तक किया। अब बाकी रहे हुए संवर और निर्जरा-तत्त्व इन दोनों तत्त्वोंका वर्णन है और इसके बाद अंतिम अध्यायमें मोक्षतत्त्वका वर्णन करके आचार्यदेवने यह शास्त्र पूर्ण किया है।

२—अनादि मिथ्यादृष्टि जीवके पहले संवर और निर्जरातत्त्व कभी प्रगट नहीं हुए; इसीलिये उसके यह संसाररूप विकारीभाव बना रहा है और प्रति समय अनन्त दुःख पाता है। इसका मूल कारण मिथ्यात्व ही है। धर्मका प्रारम्भ संवरसे होता है और सम्यग्दर्शन ही प्रथम संवर है; इसीलिये धर्मका मूल सम्यग्दर्शन है। संवरका अर्थ जीवके विकारीभावको रोकना है। सम्यक्दर्शन प्रगट करने पर मिथ्यात्व आदि भाव रुकता है इसीलिये सबसे पहले मिथ्यात्वभावका संवर होता है।

३—संवरका स्वरूप

(१) 'संवर' शब्दका अर्थ 'रोकना' होता है। छट्ठे-आठवें अध्यायमें बतलाये हुये आस्रवको रोकना सो संवर है। जब जीव आस्रवभावको रोके तब जीवमें किसी भावकी उत्पत्ति तो होनी ही चाहिये। जिस भावका उत्पाद होनेपर आस्रवभाव रुके वह संवरभाव है। संवरका अर्थ विचारनेमें इसमें निम्नोक्त भाव मालूम होते हैं—

१—आस्रवके रोकनेपर आत्मामें जिस पर्यायकी उत्पत्ति होती है वह शुद्धोपयोग है; इसीलिये उत्पादकी अपेक्षासे संवरका अर्थ शुद्धोपयोग होता है। उपयोगस्वरूप शुद्धात्मामें उपयोगका रहना-स्थिर होना सो संवर है। (देखो, समयसार गाथा १८१)

२—उपयोगस्वरूप शुद्धात्मामें जब जीवका उपयोग रहता है तब नवीन विकारी पर्याय (–आस्रव) रुकता है अर्थात् पुण्य-पापके भाव रुकते हैं। इस अपेक्षासे संवरका अर्थ 'जीवके नवीन पुण्य-पापके भावको रोकना' होता है।

३—ऊपर बतलाये हुये निर्मलभाव प्रगट होनेसे आत्माके साथ एकक्षेत्रावगाहरूपमें आनेवाले नवीन कर्म रुकते है, इसीलिये कर्मोंकी अपेक्षासे संवरका अर्थ होता है 'नवीन कर्मके आस्रवका रुकना।'

(२) उपरोक्त तीनों अर्थ नयकी अपेक्षासे किये गये हैं। वे इसप्रकार हैं—१-प्रथम अर्थ आत्माकी शुद्ध पर्याय प्रगट करना बतलाता है, इसीलिये पर्यायकी अपेक्षासे यह कथन शुद्ध निश्चयनयका है। २-दूसरा अर्थ यह बतलाता है कि आत्मामें कौन पर्याय रुकी, इसीलिये यह कथन व्यवहारनयका है और ३-अब इसका ज्ञान कराता है कि जीवकी इस पर्यायके समय परवस्तुकी कैसी स्थिति होती है, इसीलिये यह कथन असद्भूतव्यवहारनयका है। इसे असद्भूत कहनेका कारण यह है कि आत्मा जड़ कर्मका कुछ कर नहीं सकता किन्तु आत्माके इसप्रकारके शुद्धभावको और नवीन कर्मके आस्रवके रुक जानेको मात्र निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है।

(३) ये तीनों व्याख्यायें नयकी अपेक्षासे हैं, अतः इस प्रत्येक व्याख्यामें बाकीकी दो व्याख्यायें गर्भितरूपसे अन्तर्भूत होती हैं, क्योंकि नयापेक्षाके कथनमें एकको मुख्यता और दूसरेकी गौणता होती है। जो कथन मुख्यतासे किया हो उसे इस शास्त्रके पांचवें अध्यायके ३२ वें सूत्रमें 'अर्पित' कहा गया है। और जिस कथनको गौण रखा गया हो उसे 'अनर्पित' कहा गया है। अर्पित और अनर्पित इन दोनों कथनोंको एकत्रित करनेसे जो अर्थ हो वह पूर्ण (प्रमाण) अर्थ है, इसीलिये यह व्याख्या सर्वांग है। अर्पित कथनमें यदि अनर्पितकी गौणता रखी गई तो यह नय-कथन है। सर्वांग व्याख्यारूप कथन किसी पहलूको गौण न रख सभी पहलुओंको एक साथ बतलाता है। शास्त्रमें नयदृष्टिसे व्याख्या की हो या प्रमाणदृष्टिसे व्याख्या की हो किन्तु वहां सम्यक् अनेकान्तके स्वरूपको समझकर अनेकान्त स्वरूपसे जो व्याख्या हो उसके अनुसार समझना।

(४) संवरकी सर्वांग व्याख्या श्री समयसारजी गाथा १८७ से १८९ तक निम्नोक्त प्रकार दी गई है—

"आत्माको आत्माके द्वारा दो पुण्य-पापरूप शुभाशुभ योगोंसे रोककर दर्शन-ज्ञानमें स्थित होता हुआ और अन्य वस्तुकी इच्छासे विरक्त (-निवृत्त) हुआ जो आत्मा, सर्व संगसे रहित होता हुआ निजात्माको आत्माके द्वारा ध्याता है, कर्म और नोकर्मको नहीं ध्याता, चेतयिता होनेसे एकत्वका ही चिंतवन करता है, विचारता है—अनुभव करता है। यह आत्मा, आत्माका ध्याता, दर्शनज्ञानमय और अनन्यमय हुआ संता अल्पकालमेंही कर्मसे रहित आत्माको प्राप्त करता है।"

इस व्याख्यामें सम्पूर्ण कथन है अतः यह कथन अनेकान्तदृष्टिसे है; इसलिये किसी शास्त्रमें नयकी अपेक्षासे व्याख्या की हो या किसी शास्त्रमें अनेकान्तकी अपेक्षासे सर्वांग व्याख्या की हो तो वहाँ विरोध न समझकर ऐसा समझना चाहिये कि दोनोंमें समान रूपसे व्याख्या की है।

(५) श्री समयसार कलश १२५ में संवरका स्वरूप निम्नप्रकार कहा है:—

१—आस्रवका तिरस्कार करनेसे जिसको सदा विजय मिली है ऐसे संवरको उत्पन्न करनेवाली ज्योति।

२—पररूपसे भिन्न अपने सम्यक् स्वरूपमें निश्चलरूपसे प्रकाशमान, चिन्मय, उज्ज्वल और निजरसके भारवाली ज्योतिका प्रगट होना।

(इस वर्णनमें आत्माकी शुद्ध पर्याय और आस्रवका निरोध इस तरह आत्माके दोनों पहलू आ जाते हैं।)

(६) श्री पुरुषार्थसिद्धयुपायकी गाथा २०५ में बारह अनुप्रेक्षाओंके नाम कहे हैं, उनमें एक संवर अनुप्रेक्षा है; वहां पण्डित उग्रसेन कृत टीका पृष्ठ २१८ में 'संवर' का अर्थ निम्नप्रकार किया है—

जिन पुण्य-पाप नहिं कीना, आतम अनुभव चित दीना।
तिन ही विधि आवत रोके, संवर लहि सुख अवलोके॥

अर्थः—जिन जीवोंने अपने भावको पुण्य-पापरूप नहीं किया और आत्म-अनुभवमें अपने ज्ञानको लगाया है उन जीवोंने आते हुए कर्मोंको रोका है और वे संवरकी प्राप्तिरूप सुखको देखते हैं।

(इस व्याख्यामें ऊपर कहे हुए तीनों पहलू आ जाते हैं, इसीलिये अनेकान्तकी अपेक्षासे यह सर्वांग व्याख्या है।)

(७) श्री जयसेनाचार्यने पंचास्तिकाय गाथा १४२ की टीकामें संवरकी व्याख्या निम्नप्रकार की है:—

अत्र शुभाशुभसंवरसमर्थः शुद्धोपयोगो भावसंवरः।
भावसंवराधारेण नवतरकर्मनिरोधो द्रव्यसंवर इति तात्पर्यार्थः॥

अर्थः—यहाँ शुभाशुभभावको रोकनेमें समर्थ जो शुद्धोपयोग है सो भावसंवर है;

भावसंवरके आधारसे नवीन कर्मका निरोध होना सो द्रव्यसंवर है। यह तात्पर्य अर्थ है।'

(रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला पंचास्तिकाय पृष्ठ २०७)

(संवरकी यह व्याख्या अनेकान्तकी अपेक्षासे है, इसमें पहले तीनों अर्थ आ जाते हैं।)

(८) श्री अमृतचन्द्राचार्यने पंचास्तिकाय गाथा १४४ की टीकामें संवरकी व्याख्या निम्नप्रकार की है—

'शुभाशुभपरिणामनिरोधः संवरः शुद्धोपयोगः' अर्थात् शुभाशुभ 'परिणामके निरोधरूप' संवर है सो शुद्धोपयोग है।' (पृष्ठ २०८)

(संवरकी यह व्याख्या अनेकान्तकी अपेक्षासे है, इसमें पहले दोनों अर्थ आ जाते हैं।)

(९) प्रश्नः—इस अध्यायके पहले सूत्रमें संवरकी व्याख्या 'आस्रवनिरोधः संवरः' की है, किन्तु सर्वांग व्याख्या नहीं की, इसका क्या कारण है?

उत्तरः—इस शास्त्रमें वस्तुस्वरूपका कथन नयकी अपेक्षासे बहुत ही थोड़ेमें दिया गया है। पुनश्च, इस अध्यायका वर्णन मुख्यरूपसे पर्यायार्थिकनयसे होनेसे 'आस्रवनिरोधः संवरः' ऐसी व्याख्या पर्यायकी अपेक्षासे की है और इसमें द्रव्यार्थिक नयका कथन गौण है।

(१०) पांचवें अध्यायके ३२ वें सूत्रकी टीकामें जैन-शास्त्रोंके अर्थ करनेकी पद्धति बतलायी है। इसी पद्धतिके अनुसार इस अध्यायके पहले सूत्रका अर्थ करनेसे समयसार, श्री पंचास्तिकाय आदि शास्त्रोंमें संवरका जो अर्थ किया है वही अर्थ यहाँ भी किया है ऐसा समझना चाहिए।

४—ध्यानमें रखने योग्य बातें

(१) पहले अध्यायके चौथे सूत्रमें जो सात तत्त्व कहे हैं उनमें संवर और निर्जरा यह दो तत्त्व मोक्षमार्गरूप हैं। पहले अध्यायके प्रथम सूत्रमें मोक्षमार्गकी व्याख्या 'सम्यग्दर्शनज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गः' इस तरह की है, यह व्याख्या जीवमें मोक्षमार्ग प्रगट होने पर आत्माकी शुद्ध पर्याय कैसी होती है यह बतलाती है। और इस अध्यायके पहले सूत्रमें 'आस्रवनिरोधः संवरः' ऐसा कहकर मोक्षमार्गरूप शुद्ध पर्याय होनेसे यह बतलाया है कि शुद्ध पर्याय होनेसे अशुद्ध पर्याय तथा नवीन कर्म रुकते हैं।

(२) इस तरह इन दोनों सूत्रोंमें (अध्याय १ सूत्र १ तथा अध्याय ९ सूत्र १ में) बतलाई हुई मोक्षमार्गकी व्याख्या साथ लेनेसे इस शास्त्रमें अबाध कथन हो जाता है। श्री समयसार, पंचास्तिकाय आदि शास्त्रोंमें मुख्यरूपसे द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षासे कथन है, इसमें संवरकी जो व्याख्या दी गई है वही व्याख्या पर्यायार्थिकनयसे इस शास्त्रमें पृथक् शब्दोंमें दी है।

(३) शुद्धोपयोगका अर्थ सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र होता है।

(४) संवर होनेसे जो अशुद्धि दूर हुई और शुद्धि बढ़ी वही निर्जरा है, इसलिये 'शुद्धोपयोग' या 'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र' कहनेसे ही इसमें निर्जरा आ जाती है।

(५) संवर तथा निर्जरा दोनों एक ही समयमें होते हैं, क्योंकि जिस समय शुद्धपर्याय (शुद्धपरिणति) प्रगट हो उसी समय नवीन अशुद्धपर्याय (शुभाशुभ परिणति) रुकती है सो संवर है और इसी समय आंशिक अशुद्धि दूर हो और शुद्धता बढ़े सो निर्जरा है।

(६) इस अध्यायके पहले सूत्रमें संवरकी व्याख्या करनेके बाद दूसरे सूत्रमें इसके छह भेद कहे हैं। इन भेदोंमें समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्र ये पाँच भेद भाववाचक (अस्तिसूचक) हैं और छट्ठा भेद गुप्ति है सो अभाववाचक (नास्तिसूचक) है। पहले सूत्रमें संवरकी व्याख्या नयकी अपेक्षासे निरोधवाचक की है, इसलिये यह व्याख्या गौणरूपसे यह बतलाती है कि 'संवर होनेसे कैसा भाव हुआ' और मुख्यरूपसे यह बतलाती है कि—'कैसा भाव रुका।'

(७) 'आस्रवनिरोधः संवरः' इस सूत्रमें निरोध शब्द यद्यपि अभाववाचक है तथापि यह शून्यवाचक नहीं है; अन्य प्रकारके स्वभावपनेका इसमें सामर्थ्य होनेसे, यद्यपि आस्रवका निरोध होता है तथापि आत्मा संवृत स्वभावरूप होता है, यह एक तरहकी आत्माकी शुद्धपर्याय है। संवरसे आस्रवका निरोध होता है इस कारण आस्रव बन्धका कारण होनेसे संवर होनेपर बन्धका भी निरोध होता है।

(देखो, श्लोकवार्तिक संस्कृत टीका, इस सूत्रके नीचेकी कारिका २ पृष्ठ ४८६)

(८) श्री समयसारजीकी १८६ वीं गाथामें कहा है कि—'शुद्ध आत्माको जानने-अनुभव करनेवाला जीव शुद्ध आत्माको ही प्राप्त होता है और अशुद्ध आत्माको जानने अनुभव करनेवाला जीव अशुद्ध आत्माको ही प्राप्त होता है।'

इसमें शुद्ध आत्माको प्राप्त होना सो संवर है और अशुद्ध आत्माको प्राप्त होना सो आस्रव-बन्ध है।

(९) समयसार नाटककी उत्थानिकामें २३वें पृष्ठमें संवरकी व्याख्या निम्नप्रकार की है:—

जो उपयोग स्वरूप धरि, वरते जोग विरत्त।
रोके आवत करमको, सो है संवर तत्त ॥ ३९ ॥

अर्थः—आत्माका जो भाव ज्ञान-दर्शनरूप उपयोगको प्राप्त कर (शुभाशुभ) योगोंकी क्रियासे विरक्त होता है और नवीन कर्मके आस्रवको रोकता है सो संवर तत्त्व है।

५—निर्जराका स्वरूप

उपरोक्त ८ बातोंमें निर्जरा सम्बन्धी कुछ विवरण आ गया है। संवर पूर्वक जो निर्जरा है सो मोक्षमार्ग है, इसलिये इस निर्जराकी व्याख्या जानना आवश्यक है।

(१) श्री पंचास्तिकायकी १४४ गाथामें निर्जराकी व्याख्या निम्न प्रकार है—

संवरजोगेहिं जुदो तवेहिं जो चिट्ठदे बहुविहेहिं।
कम्माणं णिज्जरणं बहुगाणं कुणदि सो णियदं॥

अर्थ—शुभाशुभ परिणाम निरोधरूप संवर और शुद्धोपयोगरूप योगोंसे संयुक्त ऐसा जो भेदविज्ञानी जीव अनेक प्रकारके अन्तरंग-बहिरंग तपों द्वारा उपाय करता है सो निश्चयसे अनेक प्रकारके कर्मोंकी निर्जरा करता है।

इस व्याख्यामें ऐसा कहा है कि 'कर्मोंकी निर्जरा होती है' और इसमें यह गर्भित रखा है कि इस समय आत्माकी शुद्ध पर्याय कैसी होती है, इस गाथाकी टीका करते हुये श्री अमृतचन्द्राचार्यने कहा है कि—

'—स खलु बहूनां कर्मणां निर्जरणं करोति। तदत्र कर्मवीर्य शातनसमर्थो बहिरंगांतरंग तपोभिर्बृंहितः शुद्धोपयोगो भावनिर्जरा।'

अर्थः—यह जीव वास्तवमें अनेक कर्मोंकी निर्जरा करता है इसीलिये यह सिद्धान्त हुआ कि अनेक कर्मोंकी शक्तिका नाश करनेमें समर्थ बहिरंग अन्तरंग तपोंसे वृद्धिको प्राप्त हुआ जो शुद्धोपयोग है सो भाव-निर्जरा है। (देखो, पंचास्तिकाय पृष्ठ २०६)

(२) श्री समयसार गाथा २०६ में निर्जराका स्वरूप निम्न प्रकार बताया है—

'एदम्हि रदो णिच्चं संतुट्ठो होहि णिच्चमेदम्हि।
एदेण होहि तित्तो होहदि तुह उत्तमं सोक्खं॥२०६॥

अर्थ—हे भव्य प्राणी! तू इसमें (ज्ञानमें) नित्य रत अर्थात् प्रीतिवाला हो, इसीमें नित्य सन्तुष्ट हो और इससे तृप्त हो, ऐसा करनेसे तुझे उत्तम सुख होगा।

इस गाथामें यह बतलाया है कि निर्जरा होनेपर आत्माकी शुद्ध पर्याय कैसी होती है।

(३) संवरके साथ अविपाकरूप निर्जरा होती है। निर्जराके आठ आचार (अङ्ग, लक्षण) हैं, इनमें उपबृंहण और प्रभावना ये दो आचार शुद्धिकी वृद्धि बतलाते हैं। इस सम्बन्धमें श्री समयसार गाथा २३३ की टीकामें निम्न प्रकार बतलाया है।

"क्योंकि सम्यग्दृष्टि, टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकस्वभावमयपनेके कारण समस्त आत्म-शक्तियोंकी वृद्धि करनेवाला होनेके कारण, उपबृंहक अर्थात् आत्मशक्तिका बढ़ानेवाला है, इसीलिये उसके जीवकी शक्तिको दुर्बलतासे (अर्थात् मन्दतासे) होनेवाला बन्ध नहीं होता परन्तु निर्जरा ही है।"

(४) और फिर गाथा २३६ की टीका तथा भावार्थमें कहा है—

टीका:—क्योंकि सम्यग्दृष्टि, टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकस्वभावमयपनेको लेकर ज्ञानकी समस्त शक्तिको प्रगट करनेसे-विकसित करनेसे, फैलानेसे प्रभाव उत्पन्न करता है। अतः प्रभावना करनेवाला है, इसलिये इसके ज्ञानकी प्रभावनाके अप्रकर्षसे (अर्थात् ज्ञानकी प्रभावनाकी वृद्धि न होनेसे) होनेवाला बन्ध नहीं होता परन्तु निर्जरा ही है।

भावार्थः—प्रभावनाका अर्थ है प्रगट करना, उद्योत करना आदि; इसलिए जो निरन्तर अभ्याससे अपने ज्ञानको प्रगट करता है—बढ़ाता है उसके प्रभावना अङ्ग होता है। और उसके अप्रभावना कृत कर्मोंका बन्धन नहीं है, कर्मरस देकर खिर जाता है-झड़ जाता है, इसलिये निर्जरा ही है।

(५) इस प्रकार अनेकान्त दृष्टिसे स्पष्टरूपसे सर्वाङ्ग व्याख्या कही जाती है। जहां व्यवहारनयसे व्याख्या की जाय वहा निर्जराका ऐसा अर्थ होता है—'आंशिकरूपसे विकारकी हानि और पुराने कर्मोंका खिर जाना', किन्तु इसमें 'जो शुद्धिकी वृद्धि है सो निर्जरा है' ऐसा गर्भितरूपसे अर्थ कहा है।

[६) अष्टपाहुड़में भावप्राभृतकी १४४ वी गाथाके भावार्थमें संवर, निर्जरा तथा मोक्षकी व्याख्या निम्न प्रकार की है—

'पाचवां संवर तत्त्व है। राग-द्वेष-मोहरूप जीवके विभावका न होना और दर्शन ज्ञानरूप चेतनाभावका स्थिर होना सो संवर है। यह जीवका निजभाव है और इससे पुद्गलकर्मजनित भ्रमण दूर होता है। इसतरह इन तत्त्वोंकी भावनामें आत्मतत्त्वकी भावना प्रधान है; इससे कर्मकी निर्जरा होकर मोक्ष होता है। अनुक्रमसे आत्माके भाव शुद्ध होना सो निर्जरातत्व है और सर्वकर्मका अभाव होना सो मोक्षतत्व है।'

६—इस तरह संवर तत्वमें आत्माकी शुद्ध पर्याय प्रगट होती है और निर्जरा-तत्वमें आत्मा की शुद्ध पर्यायकी वृद्धि होती है। इस शुद्ध पर्यायको एक शब्दसे 'शुद्धोपयोग' कहते हैं, दो शब्दोंसे कहना हो तो संवर और निर्जरा कहते हैं और तीन शब्दोंसे कहना

हो तो 'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र' कहते हैं। संवर और निर्जरामें आंशिक शुद्ध पर्याय होती है ऐसा समझना।

इस शास्त्रमें जहाँ जहाँ संवर और निर्जराका कथन हो वहाँ-वहाँ ऐसा समझना कि आत्माकी पर्याय जिस अंशमें शुद्ध होती है वह संवर-निर्जरा है। जो विकल्प, राग या शुभभाव है वह संवर-निर्जरा नहीं है, परन्तु इसका निरोध होना और आंशिक अशुद्धिका खिर जाना-रुक जाना सो संवर निर्जरा है।

७—अज्ञानी जीवने अनादिसे मोक्षका बीजरूप संवर-निर्जराभाव कभी प्रगट नहीं किया और इसका यथार्थ स्वरूप भी नहीं समझा। संवर-निर्जरा स्वयं धर्म है, इनका स्वरूप समझे बिना धर्म कैसे हो सकता है ? इसलिये मुमुक्षु जीवोंको स्वरूप समझना आवश्यक है, आचार्यदेव इस अध्यायमें इसका वर्णन थोड़ेमें करते हैं। इसमें पहले संवरका स्वरूप वर्णन करते हैं।

संवरका लक्षण

आस्रवनिरोधः संवरः ॥१॥

अर्थ:—[आस्रवनिरोध] आस्रवका रोकना सो [संवरः] संवर है अर्थात् आत्मामें जिन कारणोंसे कर्मोंका आस्रव होता है उन कारणोंको दूर करनेसे कर्मोंका आना रुक जाता है उसे संवर कहते हैं।

टीका

१—संवरके दो भेद हैं—भावसंवर और द्रव्यसंवर। इन दोनोंकी व्याख्या भूमिकाके तीसरे पैराके (७) उपभेदमें दी है।

२—संवर धर्म है। जीव जब सम्यग्दर्शन प्रगट करता है तब संवरका प्रारम्भ होता है, सम्यग्दर्शनके बिना कभी भी यथार्थ संवर नहीं होता। सम्यग्दर्शन प्रगट करनेके लिये जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष-इन सात तत्त्वोंका स्वरूप यथार्थरूपसे और विपरीत अभिप्राय रहित जानना चाहिये।

३—सम्यग्दर्शन प्रगट होनेके बाद जीवके आंशिक वीतरागभाव और आंशिक सराग-भाव होता है। वहाँ ऐसा समझना कि वीतरागभावके द्वारा संवर होता है और सरागभावके द्वारा बन्ध होता है।

४—बहुत से जीव अहिंसा आदि शुभास्रवको संवर मानते हैं, किन्तु यह भूल है।

शुभास्रवसे तो पुण्यबन्ध होता है। जिस भाव द्वारा बन्ध हो उसी भावके द्वारा संवर नहीं होता।

५—आत्माके जितने अंशमें सम्यग्दर्शन है उतने अंशमें संवर है और बन्ध नहीं; किन्तु जितने अंशमें राग है उतने अंशमें बन्ध है; जितने अंशमें सम्यग्ज्ञान है उतने अंशमें संवर है, बन्ध नहीं, किन्तु जितने अंशमें राग है उतने अंशमें बन्ध है तथा जितने अंशमें सम्यक्चारित्र है उतने अंशमें संवर है बन्ध नहीं, किन्तु जितने अंशमें राग है उतने अंशमें बन्ध है। (देखो, पुरुषार्थसिद्धयुपाय गाथा २१२ से २१४)

६, प्रश्नः—सम्यग्दर्शन संवर है और बन्धका कारण नहीं, तो फिर अध्याय ६ सूत्र २१ में सम्यक्त्वको भी देवायुकर्मके आस्रवका कारण क्यों कहा ? तथा अध्याय ६ सूत्र २४ में दर्शनविशुद्धिसे तीर्थंकर नामकर्मका आस्रव होता है ऐसा क्यों कहा ?

उत्तरः—तीर्थंकर नामकर्मका बन्ध चौथे गुणस्थानसे आठवें गुणस्थानके छट्ठे भाग-पर्यंत होता है और तीन प्रकारके सम्यक्त्वकी भूमिकामें यह बन्ध होता है। वास्तवमें (भूतार्थनयसे-निश्चयनयसे) सम्यग्दर्शन स्वयं कभी भी बन्धका कारण नहीं है, किन्तु इस भूमिकामें रहे हुए रागसे ही बन्ध होता है। तीर्थंकर नामकर्मके बन्धका कारण भी सम्यग्दर्शन स्वयं नहीं, परन्तु सम्यग्दर्शनकी भूमिकामें रहा हुआ राग बन्धका कारण है। जहाँ सम्यग्दर्शनको आस्रव या बन्धका कारण कहा हो वहां मात्र उपचार (व्यवहार) से कथन है ऐसा समझना; इसे अभूतार्थनयका कथन भी कहते हैं। सम्यग्ज्ञानके द्वारा नयविभागके स्वरूपको यथार्थ जाननेवाला ही इस कथनके आशयको अविरुद्धरूपसे समझता है।

प्रश्नमें जिस सूत्रका आधार दिया गया है उन सूत्रोंकी टीकामें भी खुलासा किया है कि सम्यग्दर्शन स्वयं बन्धका कारण नहीं है।

७—निश्चय सम्यग्दृष्टि जीवके चारित्र अपेक्षा दो प्रकार हैं—सरागी और वीतरागी। उनमेंसे सराग-सम्यग्दृष्टि जीव रागसहित हैं अतः रागके कारण उनके कर्म-प्रकृतियोंका आस्रव होता है और ऐसा भी कहा जाता है कि इन जीवोंके सरागसम्यक्त्व है; परन्तु यहां ऐसा समझना कि जो राग है वह सम्यक्त्वका दोष नहीं किन्तु चारित्रका दोष है। जिन सम्यग्दृष्टि जीवोंके निर्दोष चारित्र है उनके वीतरागसम्यक्त्व कहा जाता है। वास्तवमें ये दो जीवोंके सम्यग्दर्शनमें भेद नहीं किन्तु चारित्रके भेदकी अपेक्षा ये दो भेद हैं। जो सम्यग्दृष्टि जीव चारित्रके दोष सहित हैं उनके सरागसम्यक्त्व है ऐसा कहा जाता है और जिस जीवके निर्दोष चारित्र है उनके वीतरागसम्यक्त्व है ऐसा कहा जाता है। इस तरह

चारित्रकी सदोषता या निर्दोषताकी अपेक्षासे ये भेद हैं। सम्यग्दर्शन स्वयं संवर है और यह तो शुद्ध भाव ही है, इसीलिये यह आस्रव या बन्धका कारण नहीं है।

संवरके कारण

स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रैः ॥ २ ॥

अर्थः—[गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रैः] तीन गुप्ति, पांच समिति, दश धर्म, बारह अनुप्रेक्षा, बाईस परीषहजय और पांच चारित्र—इन छह कारणोंसे [सः] संवर होता है।

टीका

१—जिस जीवके सम्यग्दर्शन होता है उसके ही संवरके ये छह कारण होते हैं; मिथ्यादृष्टिके इन छह कारणोंमेंसे एक भी यथार्थ नहीं होता। सम्यग्दृष्टि गृहस्थके तथा साधुके ये छहों कारण यथासम्भव होते हैं (देखो, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय गाथा २०३ की टीका) संवरके इन छह कारणोंका यथार्थ स्वरूप समझे बिना संवरका स्वरूप समझनेमें भी जीवकी भूल हुए बिना नहीं रहती। इसलिये इन छह कारणोंका यथार्थ स्वरूप समझना चाहिये।

२—गुप्तिका स्वरूप

(१) कुछ लोग मन-वचन-कायकी चेष्टा दूर करने, पापका चिंतवन न करने, मौन धारण करने तथा गमनादि न करनेको गुप्ति मानते हैं किन्तु यह गुप्ति नहीं है, क्योंकि जीवके मनमें भक्ति आदि प्रशस्त रागादिकके अनेक प्रकारके विकल्प होते हैं और वचनकायकी चेष्टा रोकनेका जो भाव है सो तो शुभ प्रवृत्ति है, प्रवृत्तिमें गुप्तिपना नहीं बनता। इसलिये वीतरागभाव होनेपर जहां मन-वचन-कायकी चेष्टा नहीं होती वहां यथार्थ गुप्ति है। यथार्थतया गुप्तिका एक हीप्रकार है और वह वीतरागभावरूप है। निमित्तकी अपेक्षासे गुप्तिके ३ भेद कहे हैं। मन-वचन-काय ये तो पर-द्रव्य हैं, इनकी कोई क्रिया बन्ध या अबन्धका कारण नहीं है। वीतरागभाव होनेपर जीव जितने अंशमें मन-वचन-कायकी तरफ नहीं लगता उतने अंशमें निश्चयगुप्ति है और यही संवरका कारण है।

(मोक्षमार्ग प्रकाशकसे)

(२) जो जीव नयोंके रागको छोड़कर निज-स्वरूपमें गुप्त होता है उस जीवके गुप्ति होती है। उसका चित्त विकल्प-जालसे रहित शांत होता है और वह साक्षात् अमृतरसका

पान करते हैं। यह स्वरूपगुप्तिकी शुद्ध क्रिया है। जितने अंशमें वीतरागदशा होकर स्व-रूपमें प्रवृत्ति होती है उतने अंशमें गुप्ति है; इस दशामें क्षोभ मिटता है और अतीन्द्रिय सुख अनुभवमें आता है। (देखो, श्री समयसार कलश ६९ पृष्ठ १७५)

(३) सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान पूर्वक लौकिक वांछा रहित होकर योगोंका यथार्थ निग्रह करना सो गुप्ति है। योगोंके निमित्तसे आने वाले कर्मोंका आना बन्द पड़ जाना सो संवर है। (तत्त्वार्थसार अ० ६ गा० ५)

(४) इस अध्यायके चौथे सूत्रमें गुप्तिका लक्षण कहा है; उसमें बतलाया है कि जो 'सम्यक् योग-निग्रह' है सो गुप्ति है। इसमें सम्यक् शब्द अधिक उपयोगी है, वह यह बतलाता है कि बिना सम्यग्दर्शनके योगोंका यथार्थ निग्रह नहीं होता अर्थात् सम्यग्दर्शन पूर्वक ही योगोंका यथार्थ निग्रह हो सकता है।

(५) प्रश्नः—योग चौदहवें गुणस्थानमें रुकता है और तेरहवें गुणस्थान तक वह होता है, तो फिर नीचेकी भूमिकावालेके 'योगका निग्रह' (गुप्ति) कहासे हो सकता है ?

उत्तरः—आत्माका उपयोग मन-वचन-कायकी तरफ जितना न लगे उतना योगका निग्रह हुआ कहलाता है। यहां योग शब्दका अर्थ 'प्रदेशोंका कम्पन' न समझना। प्रदेशोंके कंपनके निग्रहको गुप्ति नहीं कहा जाता, किन्तु इसे तो अकम्पता या अयोगता कहा जाता है; यह अयोग अवस्था चौदहवें गुणस्थानमें प्रगट होती है और गुप्ति तो चौथे गुणस्थानमें भी होती है।

(६) वास्तवमें आत्माका स्वरूप (निजरूप) ही परम गुप्ति है, इसीलिये आत्मा जितने अंशमें अपने शुद्धस्वरूपमें स्थिर रहे उतने अंशमें गुप्ति है।

[देखो, श्री समयसार कलश १५८]

३—आत्माका वीतरागभाव एकरूप है और निमित्तकी अपेक्षासे गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्र ऐसे पृथक्-पृथक् भेद करके समझाया जाता है; इन भेदोंके द्वारा भी अभेदता बतलायी है। स्वरूपकी अभेदता संवर-निर्जराका कारण है।

४—गुप्ति, समिति आदिके स्वरूपका वर्णन चौथे सूत्रसे प्रारम्भ करके अनुक्रमसे कहेंगे ॥२॥

निर्जरा और संवरका कारण

तपसा निर्जरा च ॥३॥

अर्थः—[तपसा] तप से [निर्जरा च] निर्जरा होती है और संवर भी होता है।

टीका

१—दस प्रकारके धर्ममें तपका समावेश हो जाता है तो भी उसे यहाँ पृथक् कहनेका कारण यह है कि यह संवर और निर्जरा दोनोंका कारण है और उसमें संवरका यह प्रधान कारण है।

२—यहाँ जो तप कहा है सो सम्यक्तप है, क्योंकि यह तप ही संवर-निर्जराका कारण है। सम्यग्दृष्टि जीवके ही सम्यक्तप होता है, मिथ्यादृष्टिके तपको बालतप कहते हैं और वह आस्रव है, ऐसा छट्ठे अध्यायके १२ वें सूत्रकी टीकामें कहा है। इस सूत्रमें दिये गये 'च' शब्दमें बालतपका समावेश होता है। जो सम्यग्दर्शन और आत्मज्ञानसे रहित हैं ऐसे जीव चाहे जितना तप करें तो भी उनका समस्त तप बालतप (अर्थात् अज्ञानतप, मूढतावाला तप) कहलाता है (देखो, समयसार गाथा १५२) सम्यग्ज्ञान पूर्वक होने वाले तपको उत्तमतपके रूपमें इस अध्यायके छट्ठे सूत्रमें वर्णन किया है।

(३) तपका अर्थ

श्री प्रवचनसारकी गाथा १४ में तपका अर्थ इस तरह किया है—'स्वरूपविश्रांत-निस्तरंगचैतन्यप्रतपनाच्च तपः, अर्थात् स्वरूपमें विश्रांत, तरंगोंसे रहित जो चैतन्यका प्रतपन है सो तप है।'

(४) तपका स्वरूप और उस सम्बन्धी होनेवाली भूल

(१) बहुतसे अनशनादिको तप मानते हैं और उस तपसे निर्जरा मानते हैं, किन्तु बाह्यतपसे निर्जरा नहीं होती, निर्जराका कारण तो शुद्धोपयोग है। शुद्धोपयोगमें जीवकी रमणता होनेपर अनशनके बिना 'जो शुभ-अशुभ इच्छाका निरोध होता है' सो संवर है। यदि बाह्यदुःख सहन करनेसे निर्जरा हो तो तिर्यंचादिक भी भूख-प्यासादिकके दुःख सहन करते हैं इसलिये उनके भी निर्जरा होनी चाहिये। (मो० प्र०)

प्रश्नः—तिर्यंचादिक तो पराधीनरूपसे भूख-प्यासादिक सहन करते हैं, किन्तु जो स्वाधीनतासे धर्मकी बुद्धिसे उपवासादिरूप तप करे उसके तो निर्जरा होगी न?

उत्तर—धर्मकी बुद्धिसे बाह्य उपवासादिक करे किन्तु वहाँ शुभ, अशुभ या शुद्धरूप जैसा उपयोग परिणमता है उसीके अनुसार बंध या निर्जरा होती है। यदि अशुभ या शुभ-रूप उपयोग हो तो बंध होता है और सम्यग्दर्शन पूर्वक शुद्धोपयोग हो तो धर्म होता है। यदि बाह्य उपवाससे निर्जरा होती हो तो ज्यादा उपवासादि करनेसे ज्यादा निर्जरा हो और

थोड़े उपवासादि करनेसे थोड़ी निर्जरा होगी ऐसा नियम हो जायगा तथा निर्जराका मुख्य कारण उपवासादि ही हो जायगा किन्तु ऐसा नहीं होता, क्योंकि बाह्य उपवासादि करने पर भी यदि दुष्ट-परिणाम करे तो उसके निर्जरा कैसे होगी ? इससे यह सिद्ध होता है कि अशुभ, शुभ या शुद्धरूपसे जैसा उपयोगका परिणाम होता है उसीके अनुसार बंध या निर्जरा होती है। इसलिये उपवासादि तप निर्जराके मुख्य कारण नहीं हैं, किन्तु अशुभ तथा शुभ परिणाम तो बन्धके कारण हैं और शुद्ध परिणाम निर्जराके कारण हैं।

(३) प्रश्नः—यदि ऐसा है तो सूत्रमें ऐसा क्यों कहा कि 'तपसे भी निर्जरा होती है ?'

उत्तरः—बाह्य उपवासादि तप नहीं, किन्तु तपकी व्याख्या इसप्रकार है कि 'इच्छा-निरोधस्तपः' अर्थात् इच्छाको रोकना सो तप है। जो शुभ-अशुभ इच्छा है सो तप नहीं है किन्तु शुभ-अशुभ इच्छाके दूर होनेपर जो शुद्धउपयोग होता है सो सम्यक्तप है और इस तपसे ही निर्जरा होती है।

(४) प्रश्नः—आहारादि लेनेरूप अशुभभावकी इच्छा दूर होनेपर तप होता है किन्तु उपवासादि या प्रायश्चित्तादि शुभकार्य है, इनकी इच्छा तो रहती है न ?

उत्तरः—ज्ञानी पुरुषके उपवासादिकी इच्छा नहीं किन्तु एक शुद्धोपयोगकी ही भावना है। ज्ञानी पुरुष उपवासादिके कालमें शुद्धोपयोग बढ़ाता है, किन्तु जहां उपवासादिसे शरीरकी या परिणामोंकी शिथिलताके द्वारा शुद्धोपयोग शिथिल होता जानता है वहां आहारादिक ग्रहण करता है। यदि उपवासादिसे ही सिद्धि होती हो तो श्री अजितनाथ आदि तेईस तीर्थंकर दीक्षा लेकर दो उपवास ही क्यों धारण करते ? उनकी तो शक्ति भी बहुत थी, परन्तु जैसा परिणाम हुआ वैसे ही साधनके द्वारा एक वीतराग शुद्धोपयोगका अभ्यास किया।

(आधुनिक हिन्दी मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ २३१)

(५) प्रश्नः—यदि ऐसा है तो अनशनादिककी तप संज्ञा क्यों कही है ?

उत्तरः—अनशनादिकको बाह्यतप कहा है। बाह्य अर्थात् बाहरमें दूसरोंको दिखाई देता है कि यह तपस्वी है। तथापि वहां भी स्वयं जैसा अंतरंग परिणाम करेगा वैसा ही फल प्राप्त करेगा। शरीरकी क्रिया जीवको कुछ फल देनेवाली नहीं है। सम्यग्दृष्टि जीवके वीतरागता बढ़ती है वही सच्चा (यथार्थ) तप है। अनशनादिकको मात्र निमित्तकी अपेक्षा-से 'तप' संज्ञा दी गई है।

५ — तपके बारेमें स्पष्टीकरण

सम्यग्दृष्टिके तप करनेसे निर्जरा होती है और साथमें पुण्यकर्मका बन्ध भी होता है,

परन्तु ज्ञानी पुरुषोंके तपका प्रधान फल निर्जरा है इसीलिये इस सूत्रमें ऐसा कहा है कि तपसे निर्जरा होती है। जितनी तपमें न्यूनता होती है उतना पुण्यकर्मका बन्ध भी हो जाता है, इस अपेक्षासे पुण्यका बन्ध होना यह तपका गौण फल कहलाता है। जैसे खेती करनेका प्रधान फल तो धान्य उत्पन्न करना है, किन्तु भूसा आदि उत्पन्न होना यह उसका गौणफल है, उसीप्रकार यहाँ ऐसा समझना कि सम्यग्दृष्टिके तपका जो विकल्प आता है वह रागरूप होता है, अतः उसके फलमें पुण्यबन्ध हो जाता है और जितना राग टूटकर (दूर होकर) वीतरागभाव-शुद्धोपयोग बढ़ता है वह निर्जराका कारण है। आहार पेटमें जाय या न जाय वह बन्ध या निर्जराका कारण नहीं है, क्योंकि वह परद्रव्य है और परद्रव्यका परिणमन आत्माके आधीन नहीं है इसीलिये उसके परिणमनसे आत्माको लाभ-हानि नहीं होती। जीवके अपने परिणामसे ही लाभ या हानि होती है।

९—अध्याय ८ सूत्र २३ में भी निर्जरा सम्बन्धी वर्णन है अतः उस सूत्रकी टीका यहाँ भी पढ़ना। तपके १२ भेद बतलाये हैं, इस सम्बन्धी विशेष स्पष्टीकरण इसी अध्यायके १९-२० वें सूत्रमें किया गया है अतः वहाँसे देख लेना ॥३॥

गुप्तिका लक्षण और भेद

सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः ॥४॥

अर्थ—[सम्यक्योगनिग्रहो] भले प्रकार योगका निग्रह करना सो [गुप्तिः] गुप्ति है।

टीका

१—इस सूत्रमें सम्यक् शब्द बहुत उपयोगी है। वह यह बतलाता है कि सम्यग्दर्शन-पूर्वक ही गुप्ति होती है, अज्ञानीके गुप्ति नहीं होती। तथा सम्यक् शब्द यह भी बतलाता है कि जिस जीवके गुप्ति होती है उस जीव के विषय-सुखकी अभिलाषा नहीं होती। यदि जीवके सक्लेशता (आकुलता) हो तो उसके गुप्ति नहीं होती। दूसरे सूत्रकी टीकामें गुप्तिका स्वरूप बतलाया है वह यहाँ भी लागू होता है।

२ गुप्तिकी व्याख्या

(१) जीवके उपयोगका मनके साथ युक्त होना सो मनोयोग है, वचनके साथ युक्त होना सो वचनयोग है और कायके साथ युक्त होना सो काययोग है तथा उसका अभाव होना अनुक्रमसे मनगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति है। इस तरह निमित्तके अभावकी अपेक्षासे गुप्तिके तीन भेद हैं।

पर्यायमें शुद्धोपयोगकी हीनाधिकता होती है तथापि उसमें शुद्धता तो एक ही प्रकारकी है। निमित्तकी अपेक्षासे उसके अनेक भेद कहे जाते हैं।

जब जीव वीतरागभावके द्वारा अपनी स्वरूपगुप्तिमें रहता है तब मन, वचन और कायकी ओरका आश्रय छूट जाता है, इसीलिये उसके नास्तिकी अपेक्षासे तीन भेद होते हैं; ये सब भेद निमित्तके हैं ऐसा जानना।

(२) सर्व मोह-राग-द्वेषको दूर करके खण्डरहित अद्वैत परम चैतन्यमें भलीभांति स्थित होना सो निश्चयमनोगुप्ति है। सम्पूर्ण असत्यभाषाको इस तरह त्यागना कि (अथवा इस तरह मौनव्रत रखना कि) मूर्तिक द्रव्यमें, अमूर्तिक द्रव्यमें या दोनोंमें वचनकी प्रवृत्ति रुके और जीव परमचैतन्यमें स्थिर हो सो निश्चयवचनगुप्ति है। संयमधारी मुनि जब अपने चैतन्यस्वरूप चैतन्यशरीरसे जड़ शरीरका भेदज्ञान करता है (अर्थात् शुद्धात्माके अनुभवमें लीन होता है) तब अन्तरंगमें स्वात्माकी उत्कृष्ट मूर्तिकी निश्चलता होना सो कायगुप्ति है।

(नियमसार गाथा ६९-७० और टीका)

(३) अनादि अज्ञानी जीवोंने कभी सम्यग्गुप्ति धारण नहीं की। अनेकबार द्रव्यलिंगी मुनि होकर जीवने शुभोपयोगरूप गुप्ति—समिति आदि निरतिचार पालन की किन्तु वह सम्यक् न थी। किसी भी जीवको सम्यग्दर्शन प्राप्त किये बिना सम्यग्गुप्ति नहीं हो सकती और उसका भव-भ्रमण दूर नहीं हो सकता। इसलिये पहले सम्यग्दर्शन प्रगट करके क्रम-क्रमसे आगे बढ़कर सम्यग्गुप्ति प्रगट करनी चाहिये।

(४) छट्ठे गुणस्थानवर्ती साधुके शुभभावरूप गुप्ति भी होती है, इसे व्यवहारगुप्ति कहते है, किन्तु वह आत्माका स्वरूप नहीं है, वह शुभ विकल्प है इसीलिये ज्ञानी उसे हेयरूप समझते हैं, क्योंकि इससे बन्ध होता है। इसे दूर कर साधु निर्विकल्पदशामें स्थिर होता है; उस स्थिरताको निश्चयगुप्ति कहते हैं। यह निश्चयगुप्ति संवरका सच्चा कारण है ॥ ४ ॥

दूसरे सूत्रमें संवरके ६ कारण बतलाये हैं, उनमेंसे गुप्तिका वर्णन पूर्ण हुआ। अब समितिका वर्णन करते हैं।

समितिके ५ भेद

ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गाः समितयः ॥ ५ ॥

अर्थः—[ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गाः] सम्यक् ईर्या, सम्यक् भाषा, सम्यक् एषणा, सम्यक् आदाननिक्षेप और सम्यक् उत्सर्ग—ये पांच [समितयः] समिति हैं (चौथे सूत्रका 'सम्यक्' शब्द इस सूत्रमें भी लागू होता है।)

टीका

१—समितिका स्वरूप और उस सम्बन्धी होनेवाली भूलः—

(१) अनेकों लोग परजीवोंकी रक्षाके लिये यत्नाचार प्रवृत्तिको समिति मानते हैं, किन्तु यह ठीक नहीं है, क्योंकि हिंसाके परिणामोंसे तो पाप होता है, और यदि ऐसा माना जावे कि रक्षाके परिणामोंसे संवर होता है तो फिर पुण्यबन्धका कारण कौन होगा? पुनश्च, एषणा समितिमें भी यह अर्थ घटित नहीं होता, क्योंकि वहां तो दोष दूर होता है किन्तु किसी पर जीवकी रक्षाका प्रयोजन नहीं है।

(२) प्रश्नः—तो फिर समितिका यथार्थ स्वरूप क्या है?

उत्तरः—मुनिके किंचित् राग होनेपर गमनादि क्रिया होती है वहां उस क्रियामें अति आसक्तिके अभावसे उनके प्रमादरूप प्रवृत्ति नहीं होती, तथा दूसरे जीवोंको दुःखी करके अपना गमनादिरूप प्रयोजन नहीं साधते, इसीलिये उनसे स्वयं दया पलती है, इसी रूपमें यथार्थ समिति है। (आधुनिक हिन्दी मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ २२८)

अ—अभेद उपचाररहित जो रत्नत्रयका मार्ग है, उस मार्गरूप परम धर्म द्वारा अपने आत्मस्वरूपमें 'सम' अर्थात् सम्यक् प्रकारसे 'इता' गमन तथा परिणमन है सो समिति है। अथवा—

ब—स्व-आत्माके परमतत्त्वमें लीन स्वाभाविक परमज्ञानादि परम धर्मोंकी जो एकता है सो समिति है। यह समिति संवर-निर्जरारूप है।

(देखो, श्री नियमसार गाथा ६१)

(३) सम्यग्दृष्टि जीव जानता है कि आत्मा परजीवका घात नहीं कर सकता, परद्रव्योंका कुछ नहीं कर सकता, भाषा नहीं बोल सकता, शरीरकी हलन-चलनादिरूप क्रिया नहीं कर सकता, शरीर चलने योग्य हो तब स्वयं उसकी क्रियावती शक्तिसे चलता है, परमाणु भाषारूपसे परिणमनेके योग्य हो तब स्वयं परिणमता है, पर जीव उसके आयुकी योग्यताके अनुसार जीता या मरता है, लेकिन उस कार्यके समय अपनी योग्यतानुसार किसी जीवके राग होता है, इतना निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है इसीलिये निमित्तकी अपेक्षासे समितिके पांच भेद होते हैं, उपादान अपेक्षा से तो भेद नहीं पड़ता।

(४) गुप्ति निवृत्तिस्वरूप है और समिति प्रवृत्तिस्वरूप है। सम्यग्दृष्टि की समितिमें जितने अंशमें वीतरागभाव है उतने अंशमें संवर है और जितने अंशमें राग है उतने अंशमें बन्ध है।

(५) मिथ्यादृष्टि जीव तो ऐसा मानता है कि मैं पर जीवोंको बचा सकता हूं तथा मैं परद्रव्योंका कुछ कर सकता हूँ, इसीलिये उसके समिति होती ही नहीं। द्रव्यलिंगी मुनिके शुभोपयोगरूप समिति होती है किन्तु वह सम्यक् समिति नहीं है और संवरका कारण भी नहीं है। पुनश्च, वह तो शुभोपयोगको धर्म मानता है, इसलिये वह मिथ्यात्वी है।

२—पहले समितिको आस्रवरूप कहा था और यहां संवररूप कहा है; इसका कारण बतलाते हैं—

छट्ठे अध्यायके ५ वें सूत्रमें पच्चीस प्रकारकी क्रियाओंको आस्रवका कारण कहा है. वहां गमन आदिमें होनेवाली जो शुभरागरूप क्रिया है सो ईर्यापथ क्रिया है और वह पांच समितिरूप है ऐसा बतलाया है और उसे बन्धके कारणोंमें गिना है। परन्तु यहां समितिको संवरके कारणमें गिना है, इसका कारण यह है कि जैसे सम्यग्दृष्टिके वीतरागताके अनुसार पांच समिति संवरका कारण होती हैं वैसे उसके जितने अंशमें राग है उतने अंशमें वह आस्रवका भी कारण होती है। यहां संवर अधिकारमें संवरकी मुख्यता होनेसे समितिको संवरके कारणरूपसे वर्णन किया है और छट्ठे अध्यायमें आस्रवकी मुख्यता है अतः वहां समितिमें जो राग है उसे आस्रवके कारणरूपसे वर्णन किया है।

३—उपरोक्त प्रमाणानुसार समिति वह चारित्रका मिश्रभावरूप है ऐसा भाव सम्यग्दृष्टिके होता है, उसमें आंशिक वीतरागता है और आंशिक राग है। जिस अंशमें वीतरागता है उस अंशके द्वारा तो संवर ही होता है और जिस अंशमें सरागता है उस अंशके द्वारा बन्ध ही होता है। सम्यग्दृष्टिके ऐसे मिश्ररूप भावसे तो संवर और बन्ध ये दोनों कार्य होते हैं किन्तु अकेले रागके द्वारा ये दो कार्य नहीं हो सकते; इसलिये 'अकेले प्रशस्त राग' से पुण्यास्रव भी मानना और संवर-निर्जरा भी मानना सो भ्रम है। मिश्ररूप भावमें भी यह सरागता है और यह वीतरागता है ऐसी यथार्थ पहिचान सम्यग्दृष्टिके ही होती है, इसीलिये वे अवशिष्ट सरागभावको हेयरूपसे श्रद्धान करते हैं। मिथ्यादृष्टिके सरागभाव और वीतरागभावकी यथार्थ पहिचान नहीं है, इसीलिये वह सरागभावमें संवरका भ्रम करके प्रशस्त रागरूप कार्योंको उपादेयरूप श्रद्धान करता है।

(आधुनिक हिन्दी मोक्षमार्ग प्रकाशक-पृष्ठ २२८)

४—समितिके पांच भेद

जब साधु गुप्तिरूप प्रवर्तनमें स्थिर नहीं रह सकते तब वे ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेप और उत्सर्ग इन पांच समितिमें प्रवर्तते हैं, उस समय असंयमके निमित्तसे बन्धनेवाला कर्म नहीं बंधता सो उतना संवर होता है।

यह समिति मुनि और श्रावक दोनों यथायोग्य पालते हैं।

(देखो, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय गाथा २०३ का भावार्थ)

पांच समितियोंकी व्याख्या निम्नप्रकार है—

ईर्यासमितिः—चार हाथ आगे भूमि देखकर शुद्धमार्गमें चलना।

भाषासमितिः—हित, मित और प्रिय वचन बोलना।

एषणासमितिः—श्रावकके घर विधिपूर्वक दिनमें एक ही बार निर्दोष आहार लेना सो एषणासमिति है।

आदाननिक्षेपसमितिः—सावधानी पूर्वक निर्जन्तु स्थानको देखकर वस्तुको रखना, देना तथा उठाना।

उत्सर्गसमितिः—जीव रहित स्थानमें मल-मूत्रादिका क्षेपण करना।

यह व्यवहार-व्याख्या है; यह मात्र निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध बतलाती है, परन्तु ऐसा नहीं समझना कि जीव परद्रव्यका कर्ता है और परद्रव्यकी अवस्था जीवका कर्म है॥५॥

दूसरे सूत्रमें संवरके ६ कारण बतलाये हैं, उनमेंसे समिति और गुप्तिका वर्णन पूर्ण हुआ। अब दस धर्मका वर्णन करते हैं।

दस धर्म

उत्तमक्षमामार्दवार्जवशौचसत्यसंयमतपस्त्यागाकिंचन्य-ब्रह्मचर्याणि धर्मः॥ ६॥

अर्थः—[उत्तमक्षमामार्दवार्जवशौचसत्यसंयमतपस्त्यागाकिंचन्यब्रह्मचर्याणि] उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम शौच, उत्तम सत्य, उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिंचन्य और उत्तम ब्रह्मचर्य ये दस [धर्मः] धर्म हैं।

टीका

१. प्रश्नः—ये दस प्रकारके धर्म किसलिये कहे?

उत्तरः— प्रवृत्तिको रोकनेके लिये प्रथम गुप्ति बतलायी; उस गुप्तिमें प्रवृत्ति करनेमें जब जीव असमर्थ होता है तब प्रवृत्तिका उपाय करनेके लिये समिति कही है। इस समितिमें प्रवर्तनेवाले मुनिको प्रमाद दूर करनेके लिये ये दस प्रकारके धर्म बतलाये हैं।

२—इस सूत्रमें बतलाया गया 'उत्तम' शब्द क्षमा आदि दसों धर्मोंमें लागू होता है; यह गुणवाचक शब्द है। उत्तम क्षमादि कहनेसे यहां रागरूप क्षमा न लेना किन्तु स्वरूपकी प्रतीति सहित क्रोधादि कषायके अभावरूप क्षमा समझना। उत्तम क्षमादि गुण प्रगट होनेपर क्रोधादि कषायका अभाव होता है, उसीसे आस्रवकी निवृत्ति होती है अर्थात् संवर होता है।

३-धर्मका स्वरूप और उस सम्बन्धी होनेवाली भूल

जिसमें न राग-द्वेष है, न पुण्य है, न कषाय है, न न्यून-अपूर्ण है और न विकारित्व है, ऐसे पूर्ण वीतराग ज्ञायकमात्र एकरूप स्वभावकी जो प्रतीति-लक्ष-ज्ञान और उसमें स्थिर होना सो सच्चा धर्म है। यह वीतरागकी आज्ञा है।

बहुतसे जीव ऐसा मानते हैं कि बंधादिकके भयसे अथवा स्वर्ग मोक्षकी इच्छासे क्रोधादि न करना सो धर्म है। परन्तु उनकी यह मान्यता मिथ्या है—असत् है, क्योंकि उनके क्रोधादि करनेका अभिप्राय तो दूर नहीं हुआ। जैसे कोई मनुष्य राजादिकके भयसे या महन्तपनके लोभसे परस्त्री सेवन नहीं करता तो इस कारणसे उसे त्यागी नहीं कहा जा सकता; इसी प्रकारसे उपरोक्त मान्यता वाले जीव भी क्रोधादिकके त्यागी नहीं हैं, और उनके धर्म होता है। (मोक्षमार्ग प्रकाशक)

प्रश्नः—तो क्रोधादिकका त्याग किस तरह होता है ?

उत्तरः—पदार्थके इष्ट-अनिष्ट मालूम होनेपर क्रोधादिक होते हैं। तत्त्वज्ञानके अभ्याससे जब कोई पदार्थ इष्ट-अनिष्ट मालूम न हो तब क्रोधादिक स्वयं उत्पन्न नहीं होते और तभी यथार्थ धर्म होता है।

४—क्षमादिककी व्याख्या निम्नप्रकार है—

(१) क्षमाः— निंदा, गाली, हास्य, अनादर, मारना, शरीरका घात करना आदि होनेपर अथवा ऐसे प्रसंगोंको निकट आते देखकर भावोंमें मलिनता न होना सो क्षमा है।

(२) मार्दवः—जाति आदि आठ प्रकारके मदके आवेशसे होनेवाले अभिमानका अभाव सो मार्दव है; अथवा मैं परद्रव्यका कुछ भी कर सकता हूं ऐसी मान्यतारूप अहंकारभावको जड़मूलसे उखाड़ देना सो मार्दव है।

(३) आर्जवः—माया-कपटसे रहितपन, सरलता-सीधापनको आर्जव कहते हैं।

(४) शौचः—लोभसे उत्कृष्टरूपसे उपराम पाना-निवृत्त होना सो शौच-पवित्रता है।

(५) सत्यः—सत् जीवोंमें-प्रशंसनीय जीवोंमें साधु-वचन (सरल वचन) बोलनेका जो भाव है सो सत्य है।

प्रश्नः—उत्तम सत्य और भाषा-समितिमें क्या अन्तर है ?

उत्तरः—समितिरूपमें प्रवर्तने वाले मुनिके साधु और असाधु पुरुषोंके प्रति वचन-व्यवहार होता है और वह हित, परिमित वचन है। उन मुनिको शिष्यों तथा उनके भक्तों (श्रावकों) में उत्तम सत्य ज्ञान, चारित्रके लक्षणादिक सीखने-सिखानेमें अधिक भाषाव्यवहार करना पड़ता है, उसे उत्तम सत्य धर्म कहा जाता है।

(६) संयमः—समितिमें प्रवर्तनेवाले मुनिके प्राणियोंको पीड़ा न पहुंचाने-रूप जो भाव है सो संयम है।

(७) तपः—भावकर्मका नाश करनेके लिये स्वकी शुद्धताके प्रतपनको तप कहते हैं

(८) त्याग—संयमी जीवोंको योग्य ज्ञानादिक देना सो त्याग है।

(९) आकिंचन्यः—विद्यमान शरीरादिकमें भी संस्कारके त्यागके लिये 'यह मेरा है' ऐसे अनुरागकी निवृत्तिको आकिंचन्य कहते हैं। आत्माके स्वरूपसे भिन्न ऐसे शरीरादिकमें या रागादिकमें ममत्वरूप परिणामोंके अभावको आकिंचन्य कहते हैं।

(१०) ब्रह्मचर्यः—स्त्री-मात्रका त्याग कर अपने आत्मस्वरूपमें लीन रहना सो ब्रह्मचर्य है। पूर्वमें भोगे हुये स्त्रियोंके भोगका स्मरण तथा उनकी कथा सुननेके त्यागसे तथा स्त्रियोंके पास बैठनेके छोड़नेसे और स्वच्छन्द प्रवृत्ति रोकनेके लिये गुरुकुलमें रहनेसे पूर्णरूपेण ब्रह्मचर्य पलता है। इन दसों शब्दोंमें 'उत्तम' शब्द जोड़नेसे 'उत्तम क्षमा' आदि दस धर्म होते हैं। उत्तम क्षमा आदि कहनेसे उसे शुभरागरूप न समझना किन्तु कषाय रहित शुद्धभावरूप समझना। (स० सि०)

४—दस प्रकारके धर्मोंका वर्णन

क्षमाके निम्नप्रकार ५ भेद हैं—

(१) जैसे स्वयं निर्बल होनेपर सबलका विरोध नहीं करना, उसी प्रकार 'यदि मैं क्षमा करूं तो मुझे कोई परेशान न करेगा' ऐसे भावसे क्षमा रखना। इस क्षमामें ऐसी

प्रतीति नहीं हुई कि मैं क्रोध रहित ज्ञायक ऐसे त्रिकाल स्वभावसे शुद्ध हूँ' किन्तु प्रतिकूलताके भयवश सहन करनेका राग हुआ इसलिये वह यथार्थ क्षमा नहीं है, धर्म नहीं है।

(२) यदि मैं क्षमा करूं तो दूसरी तरफसे मुझे नुकसान न हो किंतु लाभ हो-ऐसे भावसे सेठ आदिके उलाहनेको सहन करे, प्रत्यक्षमें क्रोध न करे, किन्तु वह यथार्थ क्षमा नहीं है, धर्म नहीं है।

(३) यदि मैं क्षमा करूं तो कर्मबन्धन रुक जायगा, क्रोध करनेसे नीच गतिमें जाना पड़ेगा इसलिये क्रोध न करूं-ऐसे भावसे क्षमा करे, किन्तु यह भी सच्ची क्षमा नहीं है, यह धर्म नहीं है, क्योंकि उसमें भय है, किन्तु नित्य ज्ञातास्वरूपकी निर्भयता-निःसंदेहता नहीं है।

(४) ऐसी वीतरागकी आज्ञा है कि क्रोधादि नहीं करना। इसी प्रकार शास्त्रमें कहा है, इसलिये मुझे क्षमा रखना चाहिये, जिससे मुझे पाप नहीं लगेगा और लाभ होगा—ऐसे भावसे शुभपरिणाम रखे और उसे वीतरागकी आज्ञा माने किन्तु यह यथार्थ क्षमा नहीं है; क्योंकि यह पराधीन क्षमा है, यह धर्म नहीं है।

(५) 'सच्ची क्षमा' अर्थात् 'उत्तम क्षमा' का स्वरूप यह है कि आत्मा अविनाशी, अबंध, निर्मल, ज्ञायक ही है, उसके स्वभावमें शुभाशुभ परिणामका कर्तृत्व भी नहीं है। स्वयं जैसा है वैसा स्वको जानकर, मानकर उसमें ज्ञाता रहना-स्थिर होना सो वीतरागकी आज्ञा है और यह धर्म है। यह पांचवीं क्षमा क्रोधमें युक्त न होना, क्रोधका भी ज्ञाता ऐसा सहज अकषाय क्षमास्वरूप निजस्वभाव है। इसप्रकार निर्मल विवेककी जागृति द्वारा शुद्धस्वरूपमें सावधान रहना सो उत्तम क्षमा है।

नोट—जैसे क्षमाके पांच भेद बतलाये तथा उसके पांचवें प्रकारको उत्तम क्षमाधर्म बतलाया, उसी प्रकार मार्दव, आर्जव, आदि सभी धर्मोंमें ये पाँचों प्रकार समझना और उन प्रत्येकमें पांचवां भेद ही धर्म है ऐसा समझना।

(६) क्षमाके शुभ विकल्पका मैं कर्ता नहीं हूँ-ऐसा समझकर राग-द्वेषसे छूटकर स्वरूपकी सावधानी करना सो स्वकी क्षमा है। स्व-सन्मुखताके अनुसार रागादिकी उत्पत्ति न हो वही क्षमा है। 'क्षमा करना, सरलता रखना' ऐसा निमित्तकी भाषामें बोला तथा लिखा जाता है, परन्तु इसका अर्थ ऐसा समझना कि शुभ या शुद्ध परिणाम करनेका विकल्प करना सो भी सहज स्वभावरूप क्षमा नहीं है। 'मैं सरलता रखूं, क्षमा करूं' ऐसा भंगरूप विकल्प राग है, क्षमाधर्म नहीं है, क्योंकि यह पुण्य-परिणाम भी बंधभाव है, इससे अबंध अरागी मोक्षमार्गरूप धर्म नहीं होता और पुण्यसे मोक्षमार्गमें लाभ या पुष्टि हो ऐसा भी नहीं है॥ ६॥

दूसरे सूत्रमें कहे गये संवरके छह कारणोंमेंसे पहले तीन कारणोंका वर्णन पूर्ण हुआ। अब चौथा कारण बारह अनुप्रेक्षा है, उनका वर्णन करते हैं।

बारह अनुप्रेक्षा

अनित्याशरणसंसारैकत्वान्यत्वाशुच्यास्रवसंवरनिर्जरा-
लोकबोधिदुर्लभधर्मस्वाख्याततत्त्वानुचिंतनमनुप्रेक्षाः ॥७॥

अर्थः—[अनित्याशरणसंसारैकत्वान्यत्वाशुच्यास्रवसंवरनिर्जरालोकबोधिदुर्लभधर्मस्वाख्याततत्त्वानुचिंतनम्] अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ और धर्म इन बारहके स्वरूपका बारम्बार चिंतवन करना सो [अनुप्रेक्षाः] अनुप्रेक्षा है।

टीका

१—कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि अनित्यादि चिंतवनसे शरीरादिको बुरा जान—हितकारी न जान उनसे उदास होना सो अनुप्रेक्षा है, किन्तु यह ठीक नहीं है। यह तो जैसे पहले कोई मित्र था तब उसके प्रति राग था और बादमें उसके अवगुण देखकर उदासीन हुआ, उसी प्रकार पहले शरीरादिसे राग था किन्तु बादमें उसके अनित्यत्व आदि अवगुण देखकर उदासीन हुआ, उसकी यह उदासीनता द्वेषरूप है, यह यथार्थ अनुप्रेक्षा नहीं है।

(मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ २२९)

प्रश्नः—तो यथार्थ अनुप्रेक्षाका स्वरूप क्या है?

उत्तरः—जैसा अपना आत्माका और शरीरादिका स्वभाव है वैसा पहिचानकर भ्रम छोड़ना और इन शरीरादिको भला जानकर राग न करना तथा बुरा जानकर द्वेष न करना, ऐसी यथार्थ उदासीनताके लिये अनित्यत्व आदिका यथार्थ चिंतवन करना सो ही सच्ची अनुप्रेक्षा है। उसमें जितनी वीतरागता बढ़ती है उतना संवर है और जो राग रहता है वह बंधका कारण है। यह अनुप्रेक्षा सम्यग्दृष्टिके ही होती है क्योंकि यहाँ सम्यक् अनुप्रेक्षा बतलाना है। अनुप्रेक्षाका अर्थ है कि आत्माका अनुसरण कर उसे देखना।

२—जैसे अग्निसे तपाया हुआ लोहा तन्मय (अग्निमय) हो जाता है उसी प्रकार जब आत्मा क्षमादिकमें तन्मय हो जाता है तब क्रोधादिक उत्पन्न नहीं होते। उस स्वरूपको प्राप्त करनेके लिये तत्त्वानुचिंतवनपूर्वक अनित्य आदि बारह भावनाओंका बारम्बार चिंतवन करना चाहिये। ये बारह भावनायें आचार्यदेवने इस सूत्रमें बतलाई हैं।

३—बारह भावनाओंका स्वरूप

(१) अनित्यानुप्रेक्षाः—दृश्यमान, संयोगी ऐसे शरीरादि समस्त पदार्थ इन्द्रधनुष, बिजली अथवा पानीके बुदबुदेके समान शीघ्र नाश हो जाते हैं, ऐसा विचार करना सो अनित्य अनुप्रेक्षा है।

शुद्ध निश्चयसे आत्माका स्वरूप देव, असुर और मनुष्यके वैभवादिकसे रहित है, आत्मा ज्ञानस्वरूपी सदा शाश्वत है और संयोगीभाव अनित्य हैं—ऐसा चितवन करना सो अनित्यभावना है।

(२) अशरणानुप्रेक्षाः जैसे निर्जन वनमें भूखे सिंहके द्वारा पकड़े हुये हिरणके बच्चेको कोई शरण नहीं है, उसी प्रकार संसारमें जीवको कोई शरणभूत नहीं है। यदि जीव स्वयं स्वके शरणरूप स्वभावको पहिचानकर शुद्धभावसे धर्मका सेवन करे तो वह सभी प्रकारके दुःखसे बच सकता है, अन्यथा वह प्रतिसमय भाव-मरणसे दुःखी है-ऐसा चितवन करना सो अशरण अनुप्रेक्षा है।

आत्मामें ही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप रहते हैं, इससे आत्मा ही शरणभूत है और इनसे पर ऐसे सब अशरण हैं—ऐसा चितवन करना सो अशरण भावना है।

(३) संसारानुप्रेक्षाः—इस चतुर्गतिरूप संसारमें भ्रमण करता हुआ जीव जिसका पिता था उसीका पुत्र, जिसका पुत्र था उसीका पिता, जिसका स्वामी था उसीका दास, जिसका दास था उसीका स्वामी हो जाता है, अथवा वह स्वयं स्वका ही पुत्र हो जाता है। स्त्री, धन, देहादिकको अपना संसार मानना भूल है। जड़ कर्म जीवको संसारमें रुलानेवाला नहीं है। इत्यादि प्रकारसे संसारके स्वरूपका और उसके कारणरूप विकारीभावोंके स्वरूपका विचार करना सो संसार अनुप्रेक्षा है।

यद्यपि आत्मा अपनी भूलसे अपनेमें राग-द्वेष-अज्ञानरूप मलिन भावोंको उत्पन्न करके संसाररूप घोर वनमें भटका करता है-तथापि निश्चय नयसे आत्मा विकारी भावोंसे और कर्मोंसे रहित है—ऐसा चितवन करना सो संसार भावना है।

(४) एकत्वानुप्रेक्षाः—जीवन, मरण-संसार और मोक्ष आदि दशाओंमें जीव स्वयं अकेला ही है। स्वयं स्वसे ही विकार करता है, स्वयं स्वसे ही धर्म करता है, स्वयं स्वसे ही सुखी-दुःखी होता है। जीवमें पर द्रव्योंका अभाव है, इसलिये कर्म या पर द्रव्य, पर क्षेत्र, पर कालादि जीवको कुछ भी लाभ या हानि नहीं कर सकते—ऐसा चितवन करना सो एकत्व अनुप्रेक्षा है।

मैं एक हूँ, ममता रहित हूँ, शुद्ध हूँ, ज्ञान-दर्शन स्वभावाला हूँ, कोई अन्य परमाणु-मात्र भी मेरा नहीं है, शुद्ध एकत्व ही उपादेय है—ऐसा चिंतवन करना सो एकत्व भावना है।

(५) अन्यत्वानुप्रेक्षा—प्रत्येक आत्मा और सर्व पदार्थ सदा भिन्न-भिन्न हैं, वे प्रत्येक अपना-अपना कार्य करते हैं। जीव पर पदार्थोंका कुछ कर नहीं सकते और पर पदार्थ जीवका कुछ कर नहीं सकते। जीवके विकारीभाव भी जीवके त्रिकालिक स्वभावसे भिन्न हैं, क्योंकि वे जीवसे अलग हो जाते हैं। विकारीभाव चाहे तीव्र हो या मन्द तथापि उससे आत्माको लाभ नहीं होता। आत्माको परद्रव्योंसे और विकारसे पृथक्त्व है—ऐसे तत्त्वज्ञानकी भावनापूर्वक वैराग्यकी वृद्धि होनेसे अन्तमें मोक्ष होता है—इसप्रकार चिंतवन करना सो अन्यत्व अनुप्रेक्षा है।

आत्मा ज्ञान-दर्शनस्वरूप है और जो शरीरादिक बाह्य-द्रव्य हैं वे सब आत्मासे भिन्न हैं। परद्रव्य छेदा जाय या भेदा जाय, या कोई ले जाय अथवा नष्ट हो जाय अथवा चाहे जैसा भी रहे, किन्तु परद्रव्यका परिग्रह मेरा नहीं है—ऐसा चिंतवन करना सो अन्यत्व भावना है।

(६) अशुचित्व अनुप्रेक्षा—शरीर स्वभावसे ही अशुचिमय है और जीव (-आत्मा) स्वभावसे ही शुचिमय (शुद्धस्वरूप) है, शरीर रुधिर, मांस, मल आदिसे भरा हुआ है, वह कभी पवित्र नहीं हो सकता, इत्यादि प्रकारसे आत्माकी शुद्धताका और शरीरकी अशुद्धताका ज्ञान करके शरीरका ममत्व तथा राग छोड़ना और निज आत्माके लक्षसे शुद्धिको बढ़ाना। शरीरके प्रति द्वेष करना अनुप्रेक्षा नहीं है किन्तु शरीरके प्रति इष्ट-अनिष्टपनेकी मान्यता और राग-द्वेष दूर करना और आत्माके पवित्र स्वभावकी तरफ लक्ष करनेसे तथा सम्यग्दर्शनादिककी भावनाके द्वारा आत्मा अत्यन्त पवित्र होता है—ऐसा बारम्बार चिंतवन करना सो अशुचित्व अनुप्रेक्षा है।

आत्मा देहसे भिन्न, कर्मरहित, अनन्त सुखका पवित्र स्थान है। इसकी नित्य भावना करना और विकारी भाव अनित्य, दुःखरूप, अशुचिमय है—ऐसा जानकर उनसे विमुख हो जानेकी भावना करना सो अशुचिभावना है।

(७) आस्रव अनुप्रेक्षा—मिथ्यात्व और राग-द्वेषरूप अपने अपराधसे प्रति समय नवीन विकारीभाव उत्पन्न होता है। मिथ्यात्व मुख्य आस्रव है क्योंकि यह संसारकी जड़ है, इसलिये इसका स्वरूप जानकर उसे छोड़नेका चिंतवन करना सो आस्रव भावना है।

मिथ्यात्व, अविरत आदि आस्रवके भेद कहे हैं, वे आस्रव निश्चयनयसे जीवके नहीं

है। द्रव्य और भाव दोनों प्रकारके आस्रवरहित शुद्ध आत्माका चिंतवन करना सो आस्रव भावना है।

(८) संवर अनुप्रेक्षाः—मिथ्यात्व और राग-द्वेषरूप भावोंका रुकना सो भावसंवर है, उससे नवीन कर्मका आना रुक जाय सो द्रव्यसंवर है। प्रथम तो आत्माके शुद्ध स्वरूपके लक्षसे मिथ्यात्व और उसके सहचारी अनन्तानुबन्धी कषायका संवर होता है। सम्यग्दर्शनादि शुद्धभाव संवर है और उससे आत्माका कल्याण होता है—ऐसा चिंतवन करना सो संवर अनुप्रेक्षा है।

परमार्थनयसे आत्मामें संवर ही नहीं है; इसलिये संवरभाव-विमुक्त शुद्ध आत्माका निरन्तर चिंतवन करना सो संवर भावना है।

(९) निर्जरा अनुप्रेक्षाः—अज्ञानीके सविपाक निर्जरासे आत्माका कुछ भी भला नहीं होता; किन्तु आत्माका स्वरूप जानकर उसके त्रिकाली स्वभावके आलम्बनके द्वारा शुद्धता प्रगट करनेसे जो निर्जरा होती है उससे आत्माका कल्याण होता है-इत्यादि प्रकारसे निर्जराके स्वरूपका विचार करना सो निर्जरा अनुप्रेक्षा है।

स्वकाल पक्व निर्जरा (सविपाक निर्जरा) चारों गतिवालोंके होती है, किन्तु तपकृत निर्जरा (अविपाक निर्जरा) सम्यग्दर्शनपूर्वक व्रतधारियोंके ही होती है—ऐसा चिंतवन करना सो निर्जरा भावना है।

(१०) लोक अनुप्रेक्षाः—लोकालोकरूप अनन्त आकाशके मध्यमें चौदह राजू प्रमाण लोक है। इसके आकार तथा उसके साथ जीवका निमित्त-नैमित्तिक संबंध विचारना और परमार्थकी अपेक्षासे आत्मा स्वयं ही स्वका लोक है इसलिये स्वयं स्वको ही देखना लाभदायक है आत्माकी अपेक्षासे परवस्तु उसका अलोक है, इसलिये आत्माको उसकी तरफ लक्ष करनेकी आवश्यकता नहीं है। स्वके आत्मस्वरूप लोकमें (देखने-जाननेरूप स्वभावमें) स्थिर होनेसे परवस्तुएं ज्ञानमें सहजरूपसे जानी जाती हैं-ऐसा चिंतवन करना सो लोकानुप्रेक्षा है, इससे तत्वज्ञानकी शुद्धि होती है।

आत्मा निजके अशुभभावसे नरक तथा तिर्यंच गति प्राप्त करता है, शुभभावसे देव तथा मनुष्यगति पाता है और शुद्धभावसे मोक्ष प्राप्त करता है—ऐसा चिंतवन करना सो लोक भावना है।

(११) बोधिदुर्लभ अनुप्रेक्षाः—रत्नत्रयरूप बोधि प्राप्त करनेमें महान् पुरुषार्थकी जरूरत है, इसलिये इसका पुरुषार्थ बढ़ाना और उसका चिंतवन करना सो बोधिदुर्लभ अनुप्रेक्षा है।

निश्चयनयसे ज्ञानमें हेय और उपादेयपनका भी विकल्प नहीं है, इसलिये मुनिजनोंके द्वारा संसारसे विरक्त होनेके लिये चितवन करना सो बोधिदुर्लभ भावना है।

(१२) धर्मानुप्रेक्षाः—सम्यक् धर्मके यथार्थ तत्त्वोंका बारम्बार चितवन करना, धर्म वस्तुका स्वभाव है, आत्माका शुद्ध स्वभाव ही स्वका-आत्माका धर्म है तथा आत्माके सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप धर्म अथवा दश लक्षणरूप धर्म अथवा स्वरूपकी हिंसा नहीं करनेरूप अहिंसाधर्म, वही धर्म आत्माको इष्ट स्थानमें (सम्पूर्ण पवित्र दशामें) पहुँचाता है। धर्म ही परम रसायन है, धर्म ही चिंतामणि रत्न है, धर्म ही कल्पवृक्ष-कामधेनु है और धर्म ही मित्र है, धर्म ही स्वामी है, धर्म ही बन्धु, हितू, रक्षक और साथ रहनेवाला है, धर्म ही शरण है, धर्म ही धन है, धर्म ही अविनाशी है, धर्म ही सहायक है, और इसी धर्मका जिनेश्वर भगवानने उपदेश किया है—इसप्रकार चितवन करना सो धर्म अनुप्रेक्षा है।

निश्चयनयसे आत्मा श्रावकधर्म या मुनिधर्मसे भिन्न है, इसलिये माध्यस्थभाव अर्थात् राग-द्वेष रहित निर्मल भाव द्वारा शुद्धात्माका चितवन करना सो धर्म भावना है।

(श्री कुन्दकुन्दाचार्यकृत द्वादशानुप्रेक्षा)

ये बारह भेद निमित्तकी अपेक्षासे हैं। धर्म तो वीतरागभावरूप एक ही है, इसमें भेद नहीं होता। जहां राग हो वहां भेद होता है।

४—ये बारह भावनायें ही प्रत्याख्यान, प्रतिक्रमण, आलोचना और समाधि हैं, इसलिये निरन्तर अनुप्रेक्षाका चितवन करना चाहिये। (भावना और अनुप्रेक्षा ये दोनों एकार्थवाचक हैं)

५—इन अनुप्रेक्षाओंका चितवन करनेवाले जीव उत्तम क्षमादि धर्म पालते हैं और परीषहोंको जीतते हैं, इसलिये इनका कथन दोनोंके बीचमें किया गया है ॥ ७ ॥

दूसरे सूत्रमें कहे हुए संवरके छह कारणोंमेंसे पहले चार कारणोंका वर्णन पूर्ण हुआ। अब पांचवें कारण परीषहजयका वर्णन करते हैं।

परीषह सहन करनेका उपदेश

मार्गाच्यवननिर्जरार्थं परिसोढव्याः परीषहाः ॥ ८ ॥

अर्थः—[मार्गाच्यवननिर्जरार्थं] संवरके मार्गसे च्युत न होने और कर्मोंकी निर्जराके लिये [परीषहाः परिसोढव्याः] बाईस परीषह सहन करने योग्य हैं (यह संवरका प्रकरण चल रहा है, अतः इस सूत्रमें कहे गये 'मार्ग' शब्दका अर्थ 'संवरका मार्ग' समझना।)

टीका

१—यहाँसे लेकर सत्रहवें सूत्र तक परीषहका वर्णन है। इस विषयमें जीवोंकी बड़ी भूल होती है, इसलिये यह भूल दूर करनेके लिये यहाँ परीषहजयका यथार्थ स्वरूप बतलाया है। इस सूत्रमें प्रथम 'मार्गाच्यवन' शब्दका प्रयोग किया है; इसका अर्थ है मार्गसे च्युत न होना। जो जीव मार्गसे (सम्यग्दर्शनादिसे) च्युत हो जाय उसके संवर नहीं होता किन्तु बन्ध होता है, क्योंकि उसने परीषहजय नही किया किन्तु स्वयं विकारसे घाता गया। अब इसके बादके सूत्र ९-१०-११ के साथ सम्बन्ध बतानेकी विशेष आवश्यकता है।

२—दसवें सूत्रमें कहा गया है कि—दसवें, ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थानमें बाईस परीषहोंमेंसे आठ तो होती ही नहीं अर्थात् उनको जीतना नहीं है, और बाकीकी चौदह परीषह होती हैं उन्हें वह जीतता है अर्थात् क्षुधा, तृषा आदि परीषहोंसे उस गुणस्थानवर्ती जीव घाता नहीं जाता किन्तु उनपर जय प्राप्त करता है अर्थात् उन गुणस्थानोंमें भूख, प्यास आदि उत्पन्न होनेका निमित्त-कारणरूप कर्मका उदय होनेपर भी वे निर्मोही जीव उनमें युक्त नहीं होते, इसीलिये उनके क्षुधा-तृषा आदि सम्बन्धी विकल्प भी नही उठता। इसप्रकार वे जीव उन परीषहों पर सम्पूर्ण विजय प्राप्त करते हैं। इसीसे उन गुणस्थानवर्ती जीवोंके रोटी आदिका आहार, औषधादिका ग्रहण, पानी आदिका ग्रहण नही होता ऐसा नियम है।

३—परीषहके बारेमें यह बात विशेषरूपसे ध्यानमें रखना चाहिये कि संक्लेश रहित भावोंसे परीषहोंको जीत लेनेसे ही संवर होता है। यदि दसवें, ग्यारहवें तथा बारहवें गुणस्थानमें खाने-पीने आदिका विकल्प आये तो संवर कैसे हो? और परीषहजय हुआ कैसे कहलाये? दसवें सूत्रमें कहा है कि चौदह परीषहों पर जय प्राप्त करनेसे ही संवर होता है। सातवें गुणस्थानमें ही जीवके खाने-पीनेका विकल्प नहीं उठता क्योंकि वहाँ निर्विकल्प दशा है; वहाँ बुद्धिगम्य नही ऐसा अबुद्धिपूर्वक विकल्प होता है, किन्तु वहाँ खाने-पीनेके विकल्प नही होते, इसलिये उन विकल्पोंके साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध रखनेवाली आहार-पानीकी क्रिया भी नही होती। तो फिर दसवें गुणस्थानमें तो कषाय बिलकुल सूक्ष्म हो गई है और ग्यारवें तथा बारहवें गुणस्थानमें तो कषायका अभाव होनेसे निर्विकल्पदशा जम जाती है; वहां खाने-पीनेका विकल्प ही कहाँसे हो सकता है? खाने-पीनेका विकल्प और उसके साथ निमित्तरूपसे सम्बन्ध रखनेवाली खाने-पीनेकी क्रिया तो बुद्धिपूर्वक विकल्प दशामें ही होती है; इसलिये वह विकल्प और क्रिया तो छट्ठे गुणस्थान तक ही हो सकती है किन्तु उससे ऊपर नही होती अर्थात् सातवें आदि गुणस्थानमें नही होती। अतएव दसवें,

ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थानमें उस प्रकारका विकल्प तथा बाह्य-क्रिया अशक्य है।

४—दसवें सूत्रमें कहा है कि दस-ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थानमें अज्ञान परीषहका जय होता है, सो अब इसके तात्पर्यका विचार करते हैं।

अज्ञानपरीषहका जय यह बतलाता है कि वहां अभी केवलज्ञान उत्पन्न नहीं हुआ, किन्तु अपूर्ण ज्ञान है और उसके निमित्तरूप ज्ञानावरणीयकर्मका उदय है। उपरोक्त गुणस्थानोंमें ज्ञानावरणीयका उदय होने पर भी जीवके उस सम्बन्धी रंचमात्र आकुलता नहीं है। दसवें गुणस्थानमें सूक्ष्म कषाय है किन्तु वहां भी ऐसा विकल्प नहीं उठता कि 'मेरा ज्ञान न्यून है' और ग्यारहवें तथा बारहवें गुणस्थानमें तो अकषायभाव रहता है इसलिये वहां भी ज्ञानकी अपूर्णताका विकल्प नहीं हो सकता। इस तरह उनके अज्ञान (ज्ञानकी अपूर्णता) है तथापि परीषहजय वर्तता है। इसी प्रमाणसे उन गुणस्थानोंमें भोजन-पानका परीषहजय सम्बन्धी सिद्धान्त भी समझना।

५—इस अध्यायके सोलहवें सूत्रमें वेदनीयके उदयसे ११ परीषह बतलाई हैं। उनके नाम—क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दंशमशक, चर्या, शय्या, वध, रोग, तृणस्पर्श और मल हैं।

दसवें, ग्यारवें और बारहवें गुणस्थानमें जीवके निज स्वभावसे ही इन ग्यारह परीषहोंका जय होता है।

६—कर्मका उदय दो तरहसे होता है—प्रदेशउदय और विपाकउदय। जब जीव विकार करता है तब उस उदयको विपाकउदय कहते हैं और यदि जीव विकार न करे तो उसे प्रदेशउदय कहते हैं। इस अध्यायमें संवर-निर्जराका वर्णन है। यदि जीव विकार करे तो उसके न परीषहजय हो और न संवर-निर्जरा हो। परीषहजयसे संवर-निर्जरा होती है। दसवें-ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थानमें भोजन-पानका परीषहजय कहा है, इसीलिये वहां उस सम्बन्धी विकल्प या बाह्य-क्रिया नहीं होती।

७—परीषहजयका यह स्वरूप तेरहवें गुणस्थानमें विराजमान तीर्थंकर भगवान और सामान्य केवलियोंके भी लागू होता है। इसीलिये उनके भी क्षुधा तृषा आदि भाव उत्पन्न ही नहीं होते और भोजन-पानकी बाह्य-क्रिया भी नहीं होती। यदि भोजन-पानकी बाह्य-क्रिया हो तो वह परीषहजय नहीं कहा जा सकता, परीषहजय तो संवर-निर्जराका कारण है। यदि भूख-प्यास आदिके विकल्प होनेपर भी क्षुधा परीषहजय, तृषा परीषहजय आदि माना जावे तो परीषहजय संवर-निर्जराका कारण नहीं ठहरेगा।

८—श्री नियमसारकी छट्ठी गाथामें भगवान श्री कुन्दकुन्द-आचार्यने कहा है कि—१ क्षुधा, २ तृषा, ३ भय, ४ रोष, ५ राग, ६ मोह, ७ चिंता, ८ जरा, ९ रोग १० मरण,

११ स्वेद-(पसीना), १२ खेद, १३ मद-(घमण्ड), १४ रति, १५ विस्मय, १६ निद्रा, १७ जन्म और १८ उद्वेग—ये अठारह महादोष आप्त अर्हन्त वीतराग भगवानके नहीं होते।

९—भगवानके उपदिष्ट मार्गसे न डिगने और उस मार्गमें लगातार प्रवर्त्तन करनेसे कर्मका द्वार रुक जाता है और इसीसे संवर होता है, तथा पुरुषार्थके कारणसे निर्जरा होती है और उससे मोक्ष होता है, इसलिये परीषह सहन करना योग्य है।

१०—परीषहजयका स्वरूप और उस सम्बन्धी होनेवाली भूल

परीषहजयका स्वरूप ऊपर कहा गया है कि क्षुधादि लगने पर उस सम्बन्धी विकल्प भी न होने–न उठनेका नाम परीषहजय है। कितने ही जीव भूख आदि लगने पर उसके नाशके उपाय न करनेको परीषह सहना मानते हैं, किन्तु यह मिथ्या मान्यता है। भूख प्यास आदिके दूर करनेका उपाय न किया परन्तु अन्तरंगमें क्षुधादि अनिष्ट सामग्री मिलनेसे दुःखी हुआ तथा रति आदिका कारण (इष्ट सामग्री) मिलनेसे सुखी हुआ, ऐसा जो सुख-दुःखरूप परिणाम है वही आर्त–रौद्र ध्यान है, ऐसे भावोंसे संवर कैसे हो और उसे परीषहजय कैसे कहा जाय? यदि दुःखके कारण मिलने पर दुःखी न हो तथा सुखके कारण मिलनेमें सुखी न हो, किन्तु ज्ञेयरूपमें उसका जाननेवाला ही रहे तभी वह परीषहजय है।

(मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ २२९)

परीषहके बाईस भेद

क्षुत्पिपासाशीतोष्णदंशमशकनाग्न्यारतिस्त्रीचर्यानिषद्याशय्याक्रोशवध-याचनाऽलाभरोगतृणस्पर्शमलसत्कारपुरस्कारप्रज्ञाऽज्ञानाऽदर्शनानि ॥९॥

अर्थः—[**क्षुत्पिपासाशीतोष्णदंशमशकनाग्न्यारतिस्त्रीचर्यानिषद्याशय्याक्रोशवधयाचनाऽलाभरोगतृणस्पर्शमलसत्कारपुरस्कारप्रज्ञाऽज्ञानाऽदर्शनानि**] क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दंशमशक, नाग्न्य, अरति, स्त्री, चर्या, निषद्या, शय्या, आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, सत्कारपुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान और अदर्शन, ये बाईस परीषह हैं।

टीका

१—आठवें सूत्रमें आये हुये 'परिसोढव्याः' शब्दका अध्याहार इस सूत्रमें समझना; इसीलिये प्रत्येक शब्दके साथ 'परिसोढव्याः' शब्द लागू करके अर्थ करना अर्थात् इस सूत्रमें कही गई २२ परीषह सहन करने योग्य है। जहाँ सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक चारित्रदशा हो वहाँ परीषहका सहन होता है अर्थात् परीषह सही जाती है। मुख्यरूपसे मुनि अवस्थामें परीषह-

क्षय होती है। अज्ञानीके परीषहजय होती ही नहीं, क्योंकि परीषहजय तो सम्यग्दर्शनपूर्वक वीतरागभाव है।

२—अज्ञानी ऐसा मानते हैं, कि परीषह सहन करना दुःख है, किन्तु ऐसा नहीं है, 'परीषह सहन करने' का अर्थ दुःख भोगना नहीं होता। क्योंकि जिस भावसे जीवके दुःख होता है वह तो आर्त्तध्यान है और वह पाप है, उसीसे अशुभबन्धन है, और यहाँ तो संवरके कारणोंका वर्णन चल रहा है। लोगोंकी अपेक्षासे बाह्य-संयोग चाहे प्रतिकूल हो या अनुकूल हो तथापि राग या द्वेष न होने देना अर्थात् वीतरागभाव प्रगट करनेका नाम ही परीषह-जय है अर्थात् उसे ही परीषह सहन किया कहा जाता है। यदि अच्छे-बुरेका विकल्प उठे तो परीषह सहन करना नहीं कहलाता, किन्तु राग-द्वेष करना कहलाता है। राग-द्वेषसे कभी संवर होता ही नहीं किन्तु बंध ही होता है। इसलिये ऐसा समझना कि जितने अंशमें वीत-रागता है उतने अंशमें परीषहजय है और यह परीषहजय सुख-शांतिरूप है। लोग परीषह-जयको दुःख कहते हैं सो असत् मान्यता है। पुनश्च, अज्ञानी ऐसा मानते हैं कि पार्श्वनाथ भगवान और महावीर भगवानने परीषहके बहुत दुःख भोगे, परन्तु भगवान तो स्वके शुद्धो-पयोग द्वारा आत्मानुभवमें स्थिर थे और स्वात्मानुभवके शांत रसमें झूलते थे—लीन थे इसीका नाम परीषहजय है। यदि उस समय भगवानके दुःख हुआ हो तो वह द्वेष है और द्वेषसे बंध होता किंतु संवर निर्जरा नहीं होती। लोग जिसे प्रतिकूल मानते हैं ऐसे संयोगोंमें भी भगवान निज-स्वरूपसे च्युत नहीं हुये थे इसीलिये उन्हें दुःख नहीं हुआ किन्तु सुख हुआ और इसीसे उनके संवर-निर्जरा हुई थी। यह ध्यान रहे कि वास्तवमें कोई भी संयोग अनुकूल या प्रतिकूलरूप नहीं है, किन्तु जीव स्वयं जिस प्रकार के भाव करता है उसमें वैसा आरोप किया जाता है और इसीलिये लोग उसे अनुकूल संयोग या प्रतिकूल संयोग कहते हैं।

३—बाईस परीषहजयका स्वरूप

(१) क्षुधाः—क्षुधा परीषह सहन करना योग्य है, साधुओंका भोजन तो गृहस्थ पर ही निर्भर है, भोजनके लिये कोई वस्तु उनके पास नहीं होती, वे किसी पात्रमें भोजन नहीं करते किन्तु अपने हाथमें ही भोजन करते हैं, उनके शरीरपर वस्त्रादिक भी नहीं होते, मात्र एक शरीर उपकरण है। पुनश्च, अनशन, अवमोदर्य (भूखसे कम खाना) वृत्तिपरि-संख्यान (आहारको जाते हुए घर वगैरहका नियम करना) आदि तप करते हुए दो दिन, चार दिन, आठ दिन, पक्ष, महीना आदि व्यतीत हो जाते हैं, और यदि योग्य कालमें, योग्य क्षेत्रमें अंतराय रहित शुद्ध निर्दोष आहार न मिले तो वे भोजन (भिक्षा) ग्रहण नहीं करते और चित्तमें कोई भी विषाद-दुःख या खेद नहीं करते किन्तु धैर्य धारण करते हैं।

इस तरह क्षुधारूपी अग्नि प्रज्वलित होती है तथापि धैर्यरूपी जलसे उसे शांत कर देते हैं और राग-द्वेष नहीं करते, ऐसे मुनियोंको क्षुधा-परीषह सहना योग्य है।

असाता वेदनीयकर्मकी उदीरणा हो तभी क्षुधा-भूख उत्पन्न होती है और उस वेदनीयकर्मकी उदीरणा छट्ठे गुणस्थानपर्यन्त ही होती है उससे ऊपरके गुणस्थानोंमें नहीं होती। छट्ठे गुणस्थानमें रहनेवाले मुनिके क्षुधा उत्पन्न होती है तथापि वे आकुलता नहीं करते और आहार नहीं लेते, किन्तु धैर्यरूपी जलसे उस क्षुधाको शांत करते हैं तब उनके परीषहजय करना कहलाता है। छट्ठे गुणस्थानमें रहनेवाले मुनिके भी इतना पुरुषार्थ होता है कि यदि योग्य समय निर्दोष भोजनका योग न बने तो आहारका विकल्प तोड़कर निर्विकल्पदशामें लीन हो जाते हैं तब उनके परीषह जय कहा जाता है।

(२) तृषाः—प्यासको धैर्यरूपी जलसे शांत करना सो तृषा परीषहजय है।

(३) शीतः—ठंडको शांतभावसे अर्थात् वीतरागभावसे सहन करना सो शीत परीषहजय है।

(४) उष्णः—गर्मीको शांतभावसे सहन करना अर्थात् ज्ञानमें ज्ञेयरूप करना सो उष्ण परीषहजय है।

(५) दंशमशकः—डांस, मच्छर, चींटी, बिच्छू इत्यादिके काटनेपर शांतभाव रखना सो दंशमशक परीषहजय है।

(६) नाग्न्य—नग्न रहनेपर भी स्वमें किसी प्रकारका विकार न होने देना सो नाग्न्य परीषहजय है। प्रतिकूल प्रसंग आनेपर वस्त्रादि पहिन लेना नाग्न्य परीषह नहीं है किन्तु यह तो मार्गसे ही च्युत होना है और परीषह तो मार्गसे च्युत न होना है।

(७) अरतिः—अरतिका कारण उपस्थित होनेपर भी संयममें अरति न करना सो अरति परीषहजय है।

(८) स्त्रीः—स्त्रियोंके हाव भाव प्रदर्शन आदि चेष्टाको शांतभावसे सहन करना अर्थात् उसे देखकर मोहित न होना सो स्त्री परीषहजय है।

(९) चर्याः—गमन करते हुए खेद-खिन्न न होना सो चर्या परीषहजय है।

(१०) निषद्याः—नियमित काल तक ध्यानके लिये आसनसे च्युत न होना सो निषद्या परीषहजय है।

(११) शय्याः—विषम, कठोर, कंकरीले स्थानोंमें एक करवटसे निद्रा लेना और अनेक उपसर्ग आनेपर भी शरीरको चलायमान न करना सो शय्या परीषहजय है।

(१२) आक्रोशः—दुष्ट जीवों द्वारा कहे गये कठोर शब्दोंको शांतभावसे सह लेना सो आक्रोश परीषहजय है।

(१३) वधः—तलवार आदिसे शरीर पर प्रहार करनेवालेके प्रति भी क्रोध न करना सो वध परीषहजय है।

(१४) याचनाः—अपने प्राणोंका वियोग होना भी सम्भव हो तथापि आहारादिकी याचना न करना सो याचना परीषहजय है।

नोट—याचना करनेका नाम याचना परीषहजय नहीं है किन्तु याचना न करनेका नाम याचना परीषहजय है। जैसे अरति-द्वेष करनेका नाम अरति परीषह नहीं, किन्तु अरति न करना सो अरति परीषहजय है, उसी तरह याचनामें भी समझना। यदि याचना करना परीषहजय हो तो गरीब लोग आदि बहुत याचना करते हैं इसलिये उन्हें अधिक धर्म हो, किन्तु ऐसा नहीं है। कोई कहता है कि 'याचना की, इसमें मानकी कमी-न्यूनतासे परीषहजय कहना चाहिये' यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि किसी तरहका तीव्र कषायी कायके लिये यदि किसी प्रकारकी कषाय छोड़े तो भी वह पापी ही है, जैसे कोई लोभके लिये अपने अपमानको न समझे तो उसके लोभकी अति तीव्रता ही है, इसीलिये इस अपमान करानेसे भी महापाप होता है, तथा यदि स्वयके किसी तरहकी इच्छा नहीं है और कोई स्वयं अपमान करे तो उसे सहन करनेवालेके महान धर्म होता है। भोजनके लोभसे याचना करके अपमान कराना सो तो पाप ही है, धर्म नहीं। पुत्र, वस्त्रादिकके लिये याचना करना सो पाप है, धर्म नहीं, (मुनिके तो वस्त्र होते ही नहीं) क्योंकि वस्त्रादि धर्मके अंग नहीं हैं, वे तो शरीर-सुखके कारण हैं, इसीलिये उसकी याचना करना याचना परीषहजय नहीं किन्तु याचना दोष है, अतएव याचनाका निषेध है ऐसा समझना।

याचना तो धर्मरूप उच्चपदको नीचा करती है और याचना करनेसे धर्मकी हीनता होती है।

(१५) अलाभः—आहारादि प्राप्त न होनेपर भी अपने ज्ञानानन्दके अनुभव द्वारा विशेष सन्तोष धारण करना सो अलाभ परीषहजय है।

(१६) रोगः—शरीरमें अनेक रोग हैं तथापि शांतभावसे उन्हें सहन कर लेना सो रोग परीषहजय है।

(१७) तृणस्पर्शः—चलते समय पैरमें तिनका, कांटा, कंकर आदि लगने या स्पर्श होनेपर आकुलता न करना सो तृणस्पर्श परीषहजय है।

(१८) मलः—मलिन शरीर देखकर ग्लानि न करना सो मल परीषहजय है।

(१९) सत्कारपुरस्कारः—जिनमें गुणोंकी अधिकता है तथापि यदि कोई सत्कार-पुरस्कार न करे तो चित्तमें कलुषता न करना सो सत्कारपुरस्कार परीषहजय है। (प्रशंसाका नाम सत्कार है और किसी अच्छे कार्यमें मुखिया बनाना सो पुरस्कार है)।

(२०) प्रज्ञाः—ज्ञानकी अधिकता होनेपर भी मान न करना सो प्रज्ञा परीषहजय है।

(२१) अज्ञानः—ज्ञानादिककी हीनता होनेपर लोगों द्वारा किये गये तिरस्कारको शांतभावसे सहन कर लेना और स्वयं भी अपने ज्ञानकी न्यूनताका खेद न करना सो अज्ञान-परीषहजय है।

(२२) अदर्शनः—अधिक समय तक कठोर तपश्चरण करने पर भी मुझे अवधि-ज्ञान तथा चारणऋद्धि आदिकी प्राप्ति नहीं हुई इसलिये तपश्चर्या आदि धारण करना व्यर्थ है–ऐसा अश्रद्धाका भाव न होने देना सो अदर्शन परीषहजय है।

इन बाईस परीषहोंको आकुलता रहित जीतनेसे संवर, निर्जरा होती है।

४–इस सूत्रका सिद्धान्त

इस सूत्रमें यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया है कि परद्रव्य अर्थात् जड़ कर्मका उदय अथवा शरीरादि नोकर्मका संयोग-वियोग जीवके कुछ विकार नही कर सकते। उसका प्रति-पादन कई तरहसे होता है, सो कहते हैं:—

(१) भूख और प्यास ये नोकर्मरूप शरीरकी अवस्था है। यह अवस्था चाहे जैसी हो तो भी जीवका कुछ नहीं कर सकती। यदि जीव शरीरकी उस अवस्थाको ज्ञेयरूपसे जाने-उसमें रागादि न करे तो उसके शुद्धता प्रगट होती है और यदि उस समय राग-द्वेष करे तो अशुद्धता प्रगट होती है। यदि जीव शुद्ध अवस्था प्रगट करे तो परीषहजय कहलाये तथा संवर-निर्जरा हो और यदि अशुद्ध अवस्था प्रगट करे तो बन्ध होता है। सम्यग्दृष्टि जीव ही शुद्ध अवस्था प्रगट कर सकता है। मिथ्यादृष्टिके शुद्ध अवस्था नहीं होती, इसलिये उसके परीषहजय भी नहीं होता।

(२) सम्यग्दृष्टियोंके नीची अवस्थामें चारित्र मिश्ररूप होता है अर्थात् आंशिक मूढ़ता और आंशिक अमूढ़ता होती है। जितने अंशमें मूढ़ता होती है उतने अंशमें संवर-निर्जरा है और वह यथार्थ चारित्र है और जितने अंशमें अमूढ़ता है उतने अंशमें बन्ध है। असाता-वेदनीयका उदय जीवके कोई विक्रिया-विकार उत्पन्न नहीं करता। किसी भी कर्मका उदय शरीर तथा शब्दादि नोकर्मका प्रतिकूल संयोग जीवको विकार नहीं कराते।

(देखो समयसार, गाथा ३७२ से ३८२)

(३) शीत और उष्ण ये दोनों शरीरके साथ सम्बन्ध रखनेवाले बाह्य जड़ द्रव्योंकी अवस्थायें हैं और दंशमशक शरीरके साथ सम्बन्ध रखनेवाले जीव-पुद्गलके संयोगरूप तिर्यंचादि जीवोंके निमित्तसे हुई शरीरकी अवस्था है। यह संयोग या शरीरकी अवस्था जीवके दोषका कारण नहीं किन्तु शरीरके प्रति स्वका ममत्वभाव ही दोषका कारण है। शरीर आदि तो परद्रव्य हैं और वे जीवको विकार पैदा नहीं कर सकते अर्थात् ये परद्रव्य जीवको लाभ या हानि (-गुण या दोष) उत्पन्न नहीं कर सकते। यदि ये परद्रव्य जीवको कुछ करते हों तो जीव कभी मुक्त हो ही नहीं सकता।

(४) नाग्न्य अर्थात् नग्नत्व शरीरकी अवस्था है। शरीर अनन्त जड़ परद्रव्यका स्कंध है। एक रजकण दूसरे रजकणका कुछ कर नहीं सकते तथा रजकण जीवको कुछ कर नहीं सकते, तथापि यदि जीव विकार करे तो वह उसकी अपनी असावधानी है। यह असावधानी न होने देना सो परीषहजय है। चारित्रमोहका उदय जीवको विकार नहीं करा सकता क्योंकि वह भी परद्रव्य है।

(५) अरति अर्थात् द्वेष, उसमें जीवकृत दोष चारित्रगुणकी अशुद्ध अवस्था है और द्रव्यकर्म पुद्गलकी अवस्था है। अरतिके निमित्तरूप माने गये संयोगरूप कार्य यदि उपस्थित हों तो वे उस जीवको अरति पैदा नहीं करा सकते, क्योंकि वह तो परद्रव्य है, किन्तु जब जीव स्वयं अरति करे तब चारित्रमोहनीय कर्मका विपाक उदयरूप निमित्त कहा जाता है।

(६) यही नियम स्त्री, निषद्या, आक्रोश, याचना और सत्कारपुरस्कार इन पांच परीषहोंमें भी लागू होता है।

(७) जहां प्रज्ञा परीषह कही है वहाँ ऐसा समझना कि प्रज्ञा तो ज्ञानकी दशा है, वह कोई दोषका कारण नहीं है, किन्तु जब जीवके ज्ञानका अपूर्ण विकास हो तब ज्ञाना-

वरणीयका उदय भी होता है और उस समय यदि जीव मोहमें युक्त हो तो जीवमे स्वके कारणसे विकार होता है; इसलिये यहाँ 'प्रज्ञा' का अर्थ मात्र 'ज्ञान' न करके 'ज्ञानमें होनेवाला मद' ऐसा करना। यहाँ प्रज्ञा शब्दका उपचारसे प्रयोग किया है किन्तु निश्चयार्थमें वह प्रयोग नही है ऐसा समझना। दूसरी परीषहके सम्बन्धमें कही गई समस्त बाते यहाँ भी लागू होती हैं।

(८) ज्ञानकी अनुपस्थिति (गैरमौजूदगी) का नाम अज्ञान है, यह ज्ञानकी अनुपस्थिति किसी बंधका कारण नही है, किन्तु यदि जीव उस अनुपस्थितिको निमित्त बनाकर मोह करे तो जीवमें विकार होता है। अज्ञान तो ज्ञानावरणीकर्मके उदयकी उपस्थिति बतलाता है। परद्रव्य बंधके कारण नही किन्तु स्वके दोष-अपराध बंधका कारण हैं। जीव जितना राग-द्वेष करता है, उतना बंध होता है। सम्यग्दृष्टिके मिथ्यात्व-मोह नही होता किन्तु चारित्रकी अस्थिरतासे राग-द्वेष होता है। जितने अंशमें राग दूर करे उतने अंशमें परीषहजय कहलाता है।

(९) अलाभ और अदर्शन परीषहमें भी उपरोक्त प्रमाणानुसार अर्थ समझना; अन्तर मात्र इतना है कि अदर्शन यह दर्शनमोहनीयकी मौजूदगी बतलाता है और अलाभ अन्तराय कर्मकी उपस्थिति बतलाता है। कर्मका उदय, अदर्शन या अलाभ यह कोई बंधका कारण नही है। जो अलाभ है सो परद्रव्यका वियोग (अभाव) बतलाता है, परन्तु यह जीवके कोई विकार नही करा सकता, इसलिये यह बंधका कारण नही है।

(१०) चर्या, शय्या, वध, रोग, तृणस्पर्श और मल—ये छहों शरीर और उसके साथ सम्बन्ध रखनेवाले परद्रव्योकी अवस्था है। वह मात्र वेदनीयका उदय बतलाता है, किन्तु यह किसी भी जीवके विक्रिया-विकार उत्पन्न नहीं कर सकता ॥ ९ ॥

बाईस परीषहोंका वर्णन किया, उनमेंसे किस गुणस्थानमें कितनी परीषह होती हैं, यह वर्णन करते हैं:—

दसवेंसे बारहवें गुणस्थान तककी परीषहें

सूक्ष्मसांपरायछद्मस्थवीतरागयोश्चतुर्दश ॥ १० ॥

अर्थः—[**सूक्ष्मसांपरायछद्मस्थवीतरागयोः**] सूक्ष्मसांपराय वाले जीवोंके और छद्मस्थ वीतरागोंके [**चतुर्दश**] १४ परीषह होती है।

टीका

मोह और योगके निमित्तसे होनेवाले आत्मपरिणामोंकी तारतम्यताको गुणस्थान कहते हैं, वे चौदह हैं। सूक्ष्मसांपराय यह दसवाँ गुणस्थान है और छद्मस्थ वीतरागता ग्यारहवें तथा बारहवें गुणस्थानमें होती है। इन तीन गुणस्थानों अर्थात् दसवें, ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थानोंमें चौदह परीषह होती हैं, वे इस प्रकार हैं:—

१ क्षुधा, २ तृषा, ३ शीत, ४ उष्ण, ५ दंशमशक, ६ चर्या, ७ शय्या, ८ वध, ९ अलाभ, १० रोग, ११ तृणस्पर्श, १२ मल, १३ प्रज्ञा और १४ अज्ञान। इनके अतिरिक्त १ नग्नता, २-संयममें अप्रीति (अरति) ३-स्त्री अवलोकन-स्पर्श, ४-आसन (निषद्या) ५-दुर्वचन (आक्रोश), ६-याचना, ७-सत्कार-पुरस्कार और ८-अदर्शन, मोहनीय कर्मजनित ये आठ परीषहें वहाँ नहीं होतीं।

१ प्रश्नः—दसवें सूक्ष्मसांपराय गुणस्थानमें तो लोभ-कषायका उदय है, तो फिर वहाँ ये आठ परीषहें क्यों नहीं होतीं ?

उत्तरः—सूक्ष्मसांपराय गुणस्थानमें मोहका उदय अत्यन्त सूक्ष्म है—अल्प है अर्थात् नाममात्र है, इसीलिये वहाँ उपरोक्त १४ परीषहोंका सद्भाव और बाकीकी ८ परीषहोंका अभाव कहा सो ठीक है, क्योंकि इस गुणस्थानमें एक संज्वलन लोभ-कषायका उदय है और वह भी बहुत थोड़ा है, कथनमात्रको है, इसलिये सूक्ष्मसांपराय और वीतराग छद्मस्थकी समानता मानकर चौदह परीषह कही हैं, यह नियम युक्ति-युक्त है।

२. प्रश्नः—ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थानमें मोहकर्मके उदयका अभाव है तथा दसवें गुणस्थानमें वह अति सूक्ष्म है, इसीलिये उन जीवोंके क्षुधा, तृषादि चौदह प्रकारकी वेदना नहीं होती, तो फिर ऐसा क्यों कहा कि इन गुणस्थानोंमें परीषह विद्यमान है ?

उत्तरः—यह तो ठीक ही है कि वहाँ वेदना नहीं है, किन्तु सामर्थ्य (शक्ति) की अपेक्षासे वहाँ चौदह परीषहोंकी उपस्थिति कहना ठीक है। जैसे सर्वार्थसिद्धि विमानके देवोंके सातवें नरकमें जानेकी सामर्थ्य है, किन्तु उन देवोंके वहाँ जानेका प्रयोजन नहीं है तथा वैसा रागभाव नहीं इसीलिये गमन नहीं है, उसी प्रकार दसवें, ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थानमें चौदह परीषहोंका कथन उपचारसे किया है।

३. प्रश्नः—इस सूत्रमें नय-विभाग किस तरह लागू होता है ?

उत्तरः—निश्चयनयसे दस, ग्यारह या बारहवें गुणस्थानमें कोई भी परीषह नहीं,

हैं, किन्तु व्यवहारनयसे वहाँ चौदह परीषह हैं। 'व्यवहारनयसे हैं' का अर्थ यह है कि यथार्थमें ऐसा नहीं है किन्तु निमित्तादिककी अपेक्षासे उनका उपचार किया है—ऐसा समझना। इस प्रकार जाननेका नाम ही दोनों नयोंका ग्रहण है, किन्तु दोनों नयोंके व्याख्यानको समान सत्यार्थ जानकर 'इस रूप भी है और इस रूप भी है' अर्थात् वहा परीषह हैं यह भी ठीक है और नहीं भी हैं यह भी ठीक है, ऐसे भ्रमरूप प्रवर्तनसे तो दोनों नयोंका ग्रहण नहीं होता।

(आधुनिक हिन्दी मोक्षमार्ग प्रकाशक पृ० २५१)

सारांश यह है कि वास्तवमें उन गुणस्थानोंमें कोई भी परीषह नहीं होती, सिर्फ उस चौदह प्रकारके वेदनीय कर्मका मंद उदय है, इतना वतानेके लिये उपचारसे वहाँ परीषह कही हैं, किन्तु यह मानना मिथ्या है कि वहां जीव उस उदयमें युक्त होकर दुःखी होता है अथवा उसके वेदना होती है।

अब तेरहवें गुणस्थानमें परीषह वतलाते हैं:—

एकादश जिने ॥ ११ ॥

अर्थः—[जिने] तेरहवें गुणस्थानमें जिनेन्द्रदेवके [एकादश] ऊपर वतलाई गई चौदहमेंसे अलाभ, प्रज्ञा और अज्ञान इन तीनको छोड़कर वाकीकी ग्यारह परीषह होती हैं।

टीका

१—यद्यपि मोहनीयकर्मका उदय न होनेसे भगवानके क्षुधादिककी वेदना नहीं होती, इसलिये उनके परीषह भी नहीं होती; तथापि उन परीषहोंके निमित्तकारणरूप वेदनीय कर्मका उदय विद्यमान है। अतः वहां भी उपचारसे ग्यारह परीषह कही हैं। वास्तवमें उनके एक भी परीषह नहीं है।

२. **प्रश्नः**—यद्यपि मोहकर्मके उदयकी सहायताके अभावमें भगवानके क्षुधा आदिकी वेदना नहीं है तथापि वहां वह परीषह क्यों कही है?

उत्तरः—यह तो ठीक है कि भगवानके क्षुधादिकी वेदना नहीं है, किन्तु मोहकर्मजनित वेदनाके न होनेपर भी द्रव्यकर्मकी विद्यमानता वतानेके लिये वहां उपचारसे परीषह कही गई हैं। जिस प्रकार समस्त ज्ञानावरण कर्मके नष्ट होनेसे युगपत् समस्त वस्तुओंके जाननेवाले केवलज्ञानके प्रभावसे उनके चिंताका निरोधरूप ध्यान सम्भव नहीं है तथापि ध्यानका फल जो अवशिष्ट कर्मोंकी निर्जरा है उसकी सत्ता वतानेके लिये वहां उपचारसे ध्यान वतलाया है उसी प्रकार यहाँ ये परीषह भी उपचारसे वतलाई हैं। प्रवचनसार गाथा १९८ में कहा है कि भगवान परमसुखको ध्याते हैं।

३. प्रश्नः—इस सूत्रमें नय-विभाग किस तरहसे लागू होता है ?

उत्तरः—तेरहवें गुणस्थानमें ग्यारह परीषह कहना सो व्यवहारनय है। व्यवहार-नयका अर्थ करनेका तरीका यों है कि 'वास्तवमें ऐसा नहीं है किन्तु निमित्तादिकी अपेक्षासे वह उपचार किया है,' निश्चयनयसे केवलज्ञानीके तेरहवें गुणस्थानमें परीषह नहीं होतीं।

४ प्रश्नः—व्यवहारनयका क्या दृष्टान्त है और वह यहाँ कैसे लागू होता है ?

उत्तर.—'घीका घड़ा' यह व्यवहार-नयका कथन है। इसका ऐसा अर्थ है कि 'जो घड़ा है सो मिट्टीरूप है, घीरूप नहीं है' (देखो, श्री समयसार गाथा ६७ टीका तथा कलश ४०), उसी प्रकार 'जिनेन्द्रदेवके ग्यारह परीषह हैं' यह व्यवहार-नयका कथन है। इसका अर्थ इसप्रकार है कि 'जिन अनन्त पुरुषार्थरूप हैं, परीषहके दुःखरूप नहीं, मात्र निमित्तरूप परद्रव्यकी उपस्थितिका ज्ञान करानेके लिए ऐसा कथन किया है कि 'परीषह हैं' परन्तु इस कथनसे ऐसा नहीं समझना कि वीतरागके दुःख या वेदना है। यदि उस कथनका ऐसा अर्थ माना जावे कि वीतरागके दुःख या वेदना है तो व्यवहार-नयके कथनका अर्थ निश्चय-नयके कथनके अनुसार ही किया, और ऐसा अर्थ करना बड़ी भूल है-अज्ञान है।

(देखो, समयसार गाथा ३२४ से ३२७ टीका)

५ प्रश्नः—इस शास्त्रमें, इस सूत्रमें जो ऐसा कथन किया कि 'जिन भगवानके ग्यारह परीषह हैं,' सो व्यवहार-नयका कथन निमित्त बतानेके लिये है, ऐसा कहा तो इस सम्बन्धी निश्चय-नयका कथन किस शास्त्रमें है ?

उत्तरः—श्री नियमसारजी गाथा ६ में कहा है कि वीतराग भगवान तेरहवें गुण-स्थानमें हों तब उनके अठारह महादोष नहीं होते। वे दोष इस प्रकार हैं—१-क्षुधा, २-तृषा, ३-भय, ४-क्रोध, ५-राग, ६ मोह, ७-चिंता, ८-जरा, ९-रोग, १०-मृत्यु, ११-पसीना, १२-खेद, १३ मद, १४ रति, १५-आश्चर्य, १६ निद्रा, १७-जन्म और १८-आकुलता।

यह निश्चयनयका कथन है और यह यथार्थ स्वरूप है।

केवली भगवानके आहार नहीं होता, इस सम्बन्धी कुछ स्पष्टीकरण

(१) यदि ऐसा माना जाय कि इस सूत्रमें कही गई परीषहोंकी वेदना वास्तवमें भगवानके होती है तो बहुत दोष आते हैं। यदि क्षुधादिक दोष हों तो आकुलता हो और यदि आकुलता हो तो फिर भगवानके अनन्त सुख कैसे हो सकता है ? हाँ, यदि कोई ऐसा कहे कि शरीरको भूख लगती है इसीलिये आहार लेता है किन्तु आत्मा तद्रूप नहीं होता। इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—यदि आत्मा तद्रूप नहीं होता तो फिर ऐसा क्यों कहते

हो कि क्षुधादिक दूर करनेके उपायरूप आहारादिकका ग्रहण किया ? क्षुधादिकके द्वारा पीड़ित होनेवाला ही आहार ग्रहण करता है। पुनश्च, यदि ऐसा माना जाय कि जैसे कर्मोदयसे विहार होता है वैसे ही आहार ग्रहण भी होता है, सो यह भी यथार्थ नही है क्योंकि विहार तो विहायोगति नामक नामकर्मके उदयसे होता है, तथा वह पीड़ाका कारण नही है और विना इच्छाके भी किसी जीवके विहार होता देखा जाता है परन्तु आहार-ग्रहण तो प्रकृतिके उदयसे नही किन्तु जब क्षुधादिकके द्वारा पीड़ित हो तभी जीव आहर ग्रहण करते हैं। पुनश्च, आत्मा पवन आदिकको प्रेरित करनेका भाव करे तभी आहारका निगलना होता है, इसीलिये विहारके समान आहार सम्भव नही होता। अर्थात् केवली भगवानके विहार तो सम्भव है किन्तु आहार सम्भव नहीं है।

(२) यदि यों कहा जाय कि केवलीभगवानके सातावेदनीय कर्मके उदयसे आहारका ग्रहण होता है सो भी नही बनता, क्योंकि जो जीव क्षुधादिकके द्वारा पीड़ित हो और आहारादिकके ग्रहणसे सुख माने उसके आहारादि साताके उदयसे हुये कहे जा सकते हैं। सातावेदनीयके उदयसे आहारादिकका ग्रहण स्वयं तो होता नही, क्योंकि यदि ऐसा हो तो देवोके तो सातावेदनीयका उदय मुख्यरूपसे रहता है तथापि वे निरन्तर आहार क्यों नही करते ? पुनश्च, महामुनि उपवासादि करते हैं, उनके साताका भी उदय होता है तथापि आहारका ग्रहण नही और निरन्तर भोजन करने वालेके भी असाताका उदय सम्भव है। इसलिये केवली भगवानके विना इच्छाके भी जैसे विहायोगतिके उदयसे विहार सम्भव है वैसे ही विना इच्छाके केवल सातावेदनीय कर्मके उदयसे ही आहार-ग्रहण सम्भव नहीं होता।

(३) पुनश्च, कोई यह कहे कि—सिद्धान्तमें केवलीके क्षुधादिक ग्यारह परीषह कही हैं इसलिये उनके क्षुधाका सद्भाव सम्भव है और वह क्षुधा आहारके विना कैसे शांत हो सकती है, इसलिये उनके आहारादिक भी मानना चाहिये। इसका समाधान—कर्मप्रकृतियोंका उदय मंद-तीव्र भेद सहित होता है। वह अति मन्द होने पर उसके उदय-जनित कार्यकी व्यक्तता मालूम नही होती, इसीलिये मुख्यरूपसे उसका अभाव कहा जाता है, किन्तु तारतम्यरूपसे उसका सद्भाव कहा जाता है। जैसे नववें गुणस्थानमें वेदादिकका मन्द उदय है, वहाँ मैथुनादिक क्रिया व्यक्त नही है, इसीलिये वहां ब्रह्मचर्य ही कहा है तथापि वहां तारतम्यतासे मैथुनादिकका सद्भाव कहा जाता है। उसीप्रकार केवली भगवानके आसाताका अति मंद उदय है, उसके उदयमें ऐसी भूख नही होती कि जो शरीरको क्षीण करे। पुनश्च, मोहके अभावसे क्षुधाजनित दुःख भी नही है और इसीलिये आहार ग्रहण करना भी नही है। अतः केवली भगवानके क्षुधादिकका अभाव ही है, किन्तु मात्र उदयकी अपेक्षासे तारतम्यतासे उसका सद्भाव कहा जाता है।

(४) शंका:—केवली भगवानके आहारादिक के बिना भूख (-क्षुधा) की शांति कैसे होती है ?

उत्तर:—केवलीके असाताका उदय अत्यन्त मन्द है, यदि ऐसी भूख लगे कि जो आहारादिकके द्वारा ही शांत हो तो मन्द उदय कहाँ रहा ? देव, भोगभूमिया आदिके असाताका किंचित् मन्द उदय है तथापि उनके बहुत समयके बाद किंचित् ही आहार ग्रहण होता है, तो फिर केवलीके तो असाताका उदय अत्यन्त ही मन्द है इसलिये उनके आहारका अभाव ही है। असाताका तीव्र उदय हो और मोहके द्वारा उसमें युक्त हो तो ही आहार हो सकता है।

(५) शंका:—देवों तथा भोगभूमियोंका शरीर ही ऐसा है कि उनको अधिक समयके बाद थोड़ी भूख लगती है, किन्तु केवली भगवानका शरीर तो कर्मभूमिका औदारिक शरीर है, इसलिये उनका शरीर बिना आहारके उत्कृष्टरूपसे कुछ कम एक कोटि पूर्व तक कैसे रह सकता है ?

समाधान:—देवादिकोंका शरीर भी कर्मके ही निमित्तसे है। यहाँ केवली भगवानके शरीरमें पहले केश-नख बढ़ते थे, छाया होती थी और निगोदिया जीव रहते थे, किन्तु केवलज्ञान होने पर अब केश-नख नहीं बढ़ते, छाया नहीं होती और निगोदिया जीव नहीं होते। इस तरह अनेक प्रकारसे शरीरकी अवस्था अन्यथा हुई, उसीप्रकार बिना आहारके भी शरीर जैसाका तैसा बना रहे-ऐसी अवस्था भी हुई।

प्रत्यक्षमें देखो ! अन्य जीवोंके वृद्धत्व आने पर शरीर शिथिल हो जाता है, परन्तु केवली भगवानके तो आयुके अन्त तक भी शरीर शिथिल नहीं होता।—इसलिये अन्य मनुष्योंके शरीरमें और केवली भगवानके शरीरमें समानता सम्भव नहीं।

(६) शंका:—देव आदिके तो आहार ही ऐसा है कि अधिक समयकी भूख मिट जाय, किन्तु केवली भगवानके बिना आहारके शरीर कैसे पुष्ट रह सकता है ?

समाधान:—भगवानके असाताका उदय अति मन्द होता है तथा प्रति समय परम औदारिक शरीर-वर्गणाओंका ग्रहण होता है। इसलिये ऐसी नोकर्म-वर्गणाओंका ग्रहण होता है कि जिससे उनके क्षुधादिककी उत्पत्ति ही नहीं होती और न शरीर शिथिल होता है।

(७) पुनश्च, अन्न आदिका आहार ही शरीरकी पुष्टताका कारण नहीं है। प्रत्यक्षमें देखो कि कोई थोड़ा आहार करता है तथापि शरीर अधिक पुष्ट होता है और कोई अधिक आहार करता है तथापि शरीर क्षीण रहता है।

पवनादिका साधन करनेवाले अर्थात् प्राणायाम करनेवाले अधिक कालतक आहार

नहीं लेते तथापि उनका शरीर पुष्ट रहता है और ऋद्धिधारी मुनि बहुत उपवास करते हैं तथापि उनका शरीर पुष्ट रहता है। तो फिर केवली भगवानके तो सर्वोत्कृष्टता है इसलिये उनके अन्नादिकके विना भी शरीर पुष्ट बना रहता है, इसमें आश्चर्य ही क्या है ?

(८) पुनश्च, केवलीभगवान आहारके लिये कैसे जाँय तथा किस तरह याचना करें ? वे जब आहारके लिये जाँय तब समवसरण खाली क्यों रहे ? अथवा यदि ऐसा मानें कि कोई अन्य उनको आहार लाकर दे तो उनके अभिप्रायकी बातको कौन जानेगा ? और पहले उपवासादिककी प्रतिज्ञा की थी उसका निर्वाह किस तरह होगा ? पुनश्च, जीव-अन्तराय (प्राणियोंका घातादि) सर्वत्र मालूम होता है, वहां आहार किस तरह करें ? इसलिये केवलीके आहार मानना सो विरुद्धता है।

(९) पुनश्च, कोई यों कहे कि 'वे आहार ग्रहण करते हैं परन्तु किसीको दिखाई नहीं देता ऐसा अतिशय है' सो यह भी असत् है, क्योंकि आहार-ग्रहण तो निंद्य हुआ; यदि ऐसा अतिशय भी मानें कि उन्हें कोई नहीं देखता तो भी आहार-ग्रहणका निंद्यपना रहता है। पुनश्च, भगवानके पुण्यके कारणसे दूसरेके ज्ञानका क्षयोपशम (-विकास) किस तरह आवृत हो जाता है ? इसलिये भगवानके आहार मानना और दूसरा न देखे ऐसा अतिशय मानना ये दोनों बातें न्याय-विरुद्ध है।

५. कर्म-सिद्धांतके अनुसार केवलीके अन्नाहार होता ही नहीं

(१) जब असातावेदनीयकी उदीरणा हो तब क्षुधा उत्पन्न होती है। इस वेदनीयकी उदीरणा छट्ठे गुणस्थान तक ही है, इससे ऊपर नहीं। अतएव वेदनीयकी उदीरणाके बिना केवलीके क्षुधादिकी बाधा कहाँसे हो ?

(२) जैसे निद्रा और प्रचला इन दो दर्शनावरणी प्रकृतियोंका उदय बारहवें गुणस्थान पर्यंत है, परन्तु उदीरणाके बिना निद्रा नहीं व्यापती-अर्थात् निद्रा नहीं आती। पुनश्च, यदि निद्राकर्मके उदयसे ही ऊपरके गुणस्थानोंमें निद्रा आ जाय तो वहाँ प्रमाद हो और ध्यानका अभाव हो जाय। यद्यपि निद्रा, प्रचलाका उदय बारहवें गुणस्थान तक है तथापि अप्रमत्त-दशामें मन्द उदय होनेसे निद्रा नहीं व्यापती (-नहीं रहती)। पुनश्च, संज्वलनका मन्द उदय होनेसे अप्रमत्त गुणस्थानोंमें प्रमादका अभाव है, क्योंकि प्रमाद तो संज्वलनके तीव्र उदयमें ही होता है। संसारी जीवके वेदके तीव्र उदयमें युक्त होनेसे मैथुन संज्ञा होती है और वेदका उदय नववें गुणस्थान तक है; परन्तु श्रेणी चढ़े हुए संयमी मुनिके वेद नोकषायका मन्द उदय होनेसे मैथुन संज्ञाका अभाव है। उदयमात्रसे मैथुनकी वांच्छा उत्पन्न नहीं होती।

(३) केवली भगवानके वेदनीयका अति मन्द उदय है, इसीसे क्षुधादिक उत्पन्न नहीं होते, शक्तिरहित असातावेदनीय केवलीके क्षुधादिकके लिये निमित्तताके योग्य नहीं है। जैसे स्वयम्भूरमण समुद्रके समस्त जलमें अनन्तवें भाग जहरकी कणी उस पानीको विषरूप होनेके लिये योग्य निमित्त नहीं है, उसीप्रकार अनन्तगुण अनुभागवाले सातावेदनीयके उदयसहित केवली भगवानके अनन्तवें भागमें जिसका असंख्यातवार खंड हो गया है ऐसा असातावेदनीयकर्म क्षुधादिककी वेदना उत्पन्न नहीं कर सकता।

(४) अशुभकर्म प्रकृतियोंकी विष-हलाहलरूप जो शक्ति है उसका अधःप्रवृत्तकरणमें अभाव हो जाता है और निम्ब (नीम) कांजीरूप रस रह जाता है। अपूर्वकरण गुणस्थानमें गुणश्रेणी निर्जरा, गुणसंक्रमण, स्थितिकांडोत्कीर्ण और अनुभागकांडोत्कीर्ण ये चार आवश्यक होते हैं, इसलिये केवली भगवानके असातावेदनीय आदि अप्रशस्त प्रकृतियोंका रस असंख्यात-बार घटकर अनन्तानन्तवें भाग रह गया है, इसी कारण असातामें सामर्थ्य कहां रही है जिससे केवली भगवानके क्षुधादिक उत्पन्न करनेमें निमित्त होता?

(अर्थप्रकाशिका पृष्ठ ४४९ द्वितीयावृत्ति)

६. सूत्र १०-११ का सिद्धान्त और ८ वें सूत्रके साथ उसका संबंध

यदि वेदनीयकर्मका उदय हो किन्तु मोहनीयकर्मका उदय न हो तो जीवके विकार नहीं होता (सूत्र ११) क्योंकि जीवके अनन्तवीर्य प्रगट हो चुका है।

वेदनीयकर्मका उदय हो और यदि मोहनीयकर्मका मंद उदय हो तो वह भी विकारका निमित्त नहीं होता (सूत्र १०) क्योंकि वहाँ जीवके अधिक पुरुषार्थ प्रगट हो गया है।

दसवें गुणस्थानसे लेकर १२ वें गुणस्थान तकके जीवोंके पूर्णपरीषहजय होता है और इसीलिये उनके विकार नहीं होता। यदि उत्तम गुणस्थानवाले परीषहजय नहीं कर सकते तो फिर आठवें सूत्रका यह उपदेश व्यर्थ हो जायगा कि 'संवरके मार्गसे च्युत न होना और निर्जराके लिये परीषह सहन करना योग्य है।' दसवें तथा ग्यारहवें सूत्रमें उत्तम गुणस्थानोंमें जो परीषह कही हैं वे उपचारसे हैं निश्चयसे नहीं, ऐसा समझना ॥ ११ ॥

छट्ठेसे नवें गुणस्थान तककी परीषह

बादरसाम्पराये सर्वे ॥ १२ ॥

अर्थः—[बादरसाम्पराये] बादरसाम्पराय अर्थात् स्थूलकषायवाले जीवोंके [सर्वे] सब परीषह होती हैं।

टीका

१—छट्ठे से नववें गुणस्थानको बादरसांपराय कहते हैं। इन गुणस्थानोंमें परीषहके कारणभूत सभी कर्मोंका उदय है, किन्तु जीव जितने अंशमें उनमें युक्त नहीं होता उतने अंशमें (आठवें सूत्रके अनुसार) परीषहजय करता है।

२—सामायिक, छेदोपस्थापना और परिहारविशुद्धि इन तीन संयमोंमेंसे किसी एकमें समस्त परीषहें सम्भव हैं॥ १२॥

इस तरह यह वर्णन किया कि किस गुणस्थानमें कितनी परीषहजय होती हैं। अब किस-किस कर्मके उदयसे कौन-कौनसी परीषह होती है सो बतलाते हैं—

ज्ञानावरण कर्मके उदयसे होनेवाली परीषह

ज्ञानावरणे प्रज्ञाऽज्ञाने ॥ १३ ॥

अर्थः—[**ज्ञानावरणे**] ज्ञानावरणीयके उदयसे [**प्रज्ञाऽज्ञाने**] प्रज्ञा और अज्ञान ये दो परीषहें होती हैं।

टीका

प्रज्ञा आत्माका गुण है, वह परीषहका कारण नहीं होता; किन्तु ज्ञानका विकास हो और उसके मदजनित परीषह हो तो उस समय ज्ञानावरणकर्मका उदय होता है। यदि ज्ञानी जीव मोहनीय कर्मके उदयमें लगे-जुड़े तो उसके अनित्य मद आ जाता है, किन्तु ज्ञानी जीव पुरुषार्थपूर्वक जितने अंशमें उसमें युक्त न हो उतने अंशमें उनके परीषहजय होता है।
(देखो, सूत्र ८)

दर्शनमोहनीय तथा अन्तराय कर्मके उदयसे होनेवाली परीषह

दर्शनमोहांतराययोरदर्शनाऽलाभौ ॥ १४ ॥

अर्थः—[दर्शनमोहांतराययोः] दर्शनमोह और अन्तराय कर्मके उदयसे [**अदर्शनाऽलाभौ**] क्रमसे अदर्शन और अलाभ परीषह होती है।

यहाँ तेरहवें सूत्रकी टीकाके अनुसार समझना॥ १४॥

अब चारित्रमोहनीयके उदयसे होनेवाली परीषह बतलाते हैं

चारित्रमोहे नाग्न्यारतिस्त्रीनिषद्याक्रोशयाचनासत्कारपुरस्काराः ॥ १५ ॥

अर्थः—[**चारित्रमोहे**] चारित्रमोहनीयके उदयसे [**नाग्न्यारतिस्त्रीनिषद्याक्रोशयाचना-**

[सत्कारपुरस्काराः] नग्नता, अरति, स्त्री, निषद्या, आक्रोश, याचना और सत्कारपुरस्कार ये सात परीषह होती हैं।

यहाँ तेरहवें सूत्रकी टीकाके अनुसार समझना ॥ १५ ॥

वेदनीय कर्मके उदयसे होनेवाली परीषह

वेदनीये शेषाः ॥ १६ ॥

अर्थ—[वेदनीये] वेदनीय कर्मके उदयसे [शेषाः] बाकीकी ग्यारह परीषह अर्थात् क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दंशमशक, चर्या, शय्या, वध, रोग, तृणस्पर्श और मल ये परीषह होती हैं।

यहाँ भी तेरहवें सूत्रकी टीकाके अनुसार समझना ॥ १६ ॥

अब एक जीवके एक साथ होनेवाली परीषहोंकी संख्या बतलाते हैं

एकादयो भाज्या युगपदेकस्मिन्नैकोनविंशतेः ॥ १७ ॥

अर्थः—[एकस्मिन् युगपत्] एक जीवके एक साथ [एकादयो] एकसे लेकर [आ एकोनविंशतेः] उन्नीस परीषह तक [भाज्याः] जानना चाहिये।

१—एक जीवके एक समयमें अधिकसे अधिक १९ परीषह हो सकती हैं, क्योंकि शीत और उष्ण इन दोमेंसे एक समयमें एक ही होती है और शय्या, चर्या तथा निषद्या (सोना, चलना तथा आसनमें रहना) इन तीनमेंसे एक समयमें एक ही होती है। इस तरह इन तीन परीषहोंके कम करनेसे बाकीकी उन्नीस परीषह हो सकती हैं।

२—प्रश्नः—प्रज्ञा और अज्ञान ये दोनों भी एक साथ नहीं हो सकते, इसलिये एक परीषह इन सबमेंसे कम करना चाहिये।

उत्तरः—प्रज्ञा और अज्ञान इन दोनोंके साथ रहनेमें कोई बाधा नहीं है, एक ही कालमें एक जीवके श्रुतज्ञानादिकी अपेक्षासे प्रज्ञा और अवधिज्ञानादिकी अपेक्षासे अज्ञान, ये दोनों साथ रह सकते हैं।

३—प्रश्नः—औदारिक शरीरकी स्थिति कवलाहार (अन्न-पानी)के बिना देशोनकोटी पूर्व (कुछ कम एक करोड पूर्व) कैसे रहती है ?

उत्तर—आहारके ६ भेद हैं—१ नोकर्म आहार, २ कर्माहार, ३ कवलाहार, ४ लेपाहार, ५ ओजाहार और ६ मनसाहार। ये छह प्रकार यथायोग्य देहकी स्थितिके

कारण हैं। जैसे (१) केवलीके नोकर्म आहार बताया है। उनके लाभान्तरायकर्मके क्षयसे अनन्त लाभ प्रगट हुआ है, अतः उनके शरीरके साथ अपूर्व असाधारण पुद्गलोंका प्रतिसमय सम्बन्ध होता है; यह नोकर्म केवलीके देहकी स्थितिका कारण है, दूसरा नहीं, इसी कारण केवलीके नोकर्मका आहार कहा है। (२) नारकियोंके नरकायु नामकर्मका उदय है वह उनके देहकी स्थितिका कारण है, इसलिये उनके कर्माहार कहा जाता है। (३) मनुष्यों और तिर्यंचोंके कवलाहार प्रसिद्ध है। (४) वृक्ष जातिके लेपाहार है। (५) पक्षीके अण्डेके ओजाहार है। शुक्र नामकी धातुकी उपधातुको ओज कहते हैं। जो अण्डोंको पक्षी सेवे उसे ओजाहार नहीं समझना। (६) देव मनसे तृप्त होते हैं, उनके मनसाहार कहा जाता है।

यह छह प्रकारका आहार देहकी स्थितिका कारण है। इस सम्बन्धी गाथा निम्नप्रकार है:—

णोकम्मकम्महारो कवलाहारो य लेप्पाहारो य।
उज्जमणोऽविय कमसो आहारो छव्विहो भणिओ॥
णोकम्मतित्थयरे कम्मं च णयरे मानसो अमरे।
णरपसु कवलाहारो पंखी उज्जो इगि लेऊ॥

अर्थः—१ नोकर्म आहार, २ कर्माहार, ३ कवलाहार, ४ लेपाहार, ५ ओजाहार और ६ मनोआहार, इसप्रकार क्रमसे ६ प्रकारका आहार है। उनमें नोकर्म आहार तीर्थंकरके, कर्माहार नारकीके, मनोआहार देवके, कवलाहार मनुष्य तथा पशुके, ओजाहार पक्षीके अण्डोंके और वृक्षके लेपाहार होता है।

इससे सिद्ध होता है कि केवलीके कवलाहार नहीं होता।

प्रश्नः—मुनिकी अपेक्षासे छट्ठे गुणस्थानसे लेकर तेरहवें गुणस्थान तककी परीषहोंका कथन इस अध्यायके १३ से १६ तकके सूत्रोंमें किया है। यह व्यवहारनयकी अपेक्षासे है या निश्चयकी अपेक्षासे?

उत्तरः—यह कथन व्यवहारनयकी अपेक्षासे है, क्योंकि यह जीव परवस्तुके साथका सम्बन्ध बतलाता है, यह कथन निश्चयकी अपेक्षासे नहीं है।

प्रश्नः—व्यवहारनयकी मुख्यता सहित कथन हो, उसे मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ ३६९ मे यों जाननेके लिए कहा है कि 'ऐसा नहीं किन्तु निमित्तादिककी अपेक्षासे यह उपचार किया है' तो ऊपर कहे गये १३ से १६ तकके कथनमें कैसे लागू होता है?

उत्तरः—उन सूत्रोंमें जीवके जिन परीषहोंका वर्णन किया है वह व्यवहारसे है।

इसका तात्पर्य ऐसा है कि—जीव जीवमय है परीषहमय नहीं। जितने अंशमें जीवमें परीषह-वेदन हो उतने अंशमें सूत्र ११ से १६ में कहे गये कर्मका उदय निमित्त कहलाता है,-किन्तु निमित्तने जीवको कुछ नहीं किया।

प्रश्नः—१३ से १६ तकके सूत्रोंमें परीषहोंके बारेमें जिस कर्मका उदय कहा है उसके और सूत्र १७ में परीषहोंकी जो एक साथ संख्या कही उसके इस अध्यायके ८ वें सूत्रमें कहे गये निर्जराका व्यवहार कैसे लागू होता है?

उत्तर—जीव अपने पुरुषार्थके द्वारा जितने अंशमें परीषह-वेदन न करे उतने अंशमें उसने परीषहजय किया और इसलिये उतने अंशमें सूत्र १३ से १६ तकमें कहे गये कर्मोंकी निर्जरा की, ऐसा आठवें सूत्रके अनुसार कहा जा सकता है, इसे व्यवहार-कथन कहा जाता है, क्योंकि परवस्तु (कर्म) के साथके सम्बन्धका कितना अभाव हुआ, यह इसमें बताया गया है।

इसप्रकार परीषहजयका कथन पूर्ण हुआ ॥१७॥

दूसरे सूत्रमें कहे गये संवरके ६ कारणोंमेंसे यहाँ पाँच कारणोंका वर्णन पूर्ण हुआ, अब अन्तिम कारण चारित्रका वर्णन करते हैं—

चारित्रके पाँच भेद

सामायिकछेदोपस्थापनापरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसांपराय-यथाख्यातमिति चारित्रम् ॥१८॥

अर्थः—[सामायिकछेदोपस्थापनापरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसांपराययथाख्यात] सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसांपराय और यथाख्यात [इति चारित्रम्] इस प्रकार चारित्रके ५ भेद हैं।

टीका

१. सूत्रमें कहे गये शब्दोंकी व्याख्या

(१) सामायिकः—निश्चयसम्यग्दर्शन ज्ञानकी एकाग्रता द्वारा समस्त सावद्य-योगका त्याग करके शुद्धात्मस्वरूपमें अभेद होने पर शुभाशुभभावोंका त्याग होना सो सामायिक-चारित्र है। यह चारित्र छट्ठेसे नवमें गुणस्थान तक होता है।

(२) छेदोपस्थापना—कोई जीव सामायिक चारित्ररूप हुआ हो और उससे हटकर सावद्य व्यापाररूप होजाय, पश्चात् प्रायश्चित्त द्वारा उस सावद्य व्यापारसे उत्पन्न हुये दोषोंको

छेदकर आत्माको संयममें स्थिर करे सो छेदोपस्थापना चारित्र है। यह चारित्र छट्ठेसे नववें गुणस्थान तक होता है।

(३) परिहारविशुद्धिः—जो जीव जन्मसे ३० वर्ष तक सुखी रहकर फिर दीक्षा ग्रहण करे और श्री तीर्थंकर भगवानके पादमूलमें आठ वर्ष तक प्रत्याख्यान नामक नववें पूर्वका अध्ययन करे, उसके यह संयम होता है। जो जीवोंकी उत्पत्ति-मरणके स्थान, कालकी मर्यादा, जन्म-योनिके भेद, द्रव्य-क्षेत्रका स्वभाव, विधान तथा विधि इन सभीका जाननेवाला हो और प्रमादरहित महावीर्यवान हो, उसके शुद्धताके बलसे कर्मकी बहुत (-प्रचुर) निर्जरा होती है। अत्यन्त कठिन आचरण करनेवाले मुनियोंके यह संयम होता है। जिनके यह संयम होता है उनके शरीरसे जीवोंकी विराधना नहीं होती। यह चारित्र ऊपर बतलाये गये साधुके छट्ठे और सातवें गुणस्थानमें होता है।

(४) सूक्ष्मसांपरायः—जब अति सूक्ष्म लोभकषायका उदय हो तब जो चारित्र होता है वह सूक्ष्मसांपराय है। यह चारित्र दसवें गुणस्थानमें होता है।

(५) यथाख्यातः—सम्पूर्ण मोहनीयकर्मके क्षय अथवा उपशमसे आत्माके शुद्ध-स्वरूपमें स्थिर होना सो यथाख्यातचारित्र है। यह चारित्र ग्यारहवेंसे चौदहवें गुणस्थान तक होता है।

२. शुद्धभावसे संवर होता है किन्तु शुभभावसे नहीं होता, इसलिये इन पांचों प्रकारमें जितना शुद्धभाव है उतना चारित्र है ऐसा समझना।

३. छट्ठे गुणस्थानकी दशा

सातवें गुणस्थानसे तो निर्विकल्पदशा होती है। छट्ठे गुणस्थानमें मुनिके जब आहार-विहारादिका विकल्प होता है तब भी उनके (तीन जातिकी कषाय न होनेसे) संवरपूर्वक-निर्जरा होती है और शुभभावका अल्प बन्ध होता है; जो विकल्प उठता है उस विकल्पके स्वामित्वका उनके नकार वर्तता है, अकषायदृष्टि और चारित्रसे जितने अंशमें राग दूर होता है उतने अंशमें संवर-निर्जरा है, तथा जितना शुभभाव है उतना बन्धन है। विशेष यह है कि पंचम गुणस्थानवाला उपवासादि वा प्रायश्चित्तादि तप करे उसी कालमें भी उसे निर्जरा अल्प और छट्ठे गुणस्थानवाला आहार-विहार आदि क्रिया करे उस कालमें भी उसके निर्जरा अधिक है, इससे ऐसा समझना कि बाह्य प्रवृत्तिके अनुसार निर्जरा नहीं है।

(आधुनिक हिन्दी मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ २३२)

४ चारित्रका स्वरूप

कितनेक जीव मात्र हिंसादिक पापके त्यागको चारित्र मानते हैं और महाव्रतादिरूप शुभोपयोगको उपादेयरूपसे ग्रहण करते हैं, किन्तु यह यथार्थ नहीं है। इस शास्त्रके सातवें अध्यायमें आस्रव पदार्थका निरूपण किया गया है, वहाँ महाव्रत और अणुव्रतको आस्रवरूप माना है, तो वह उपादेय कैसे हो सकता है? आस्रव तो बन्धका कारण है और चारित्र मोक्षका कारण है, इसलिये उन महाव्रतादिरूप आस्रवभावोंके चारित्रपना सम्भव नहीं होता, किन्तु जो सर्व कषायरहित उदासीन भाव है उसीका नाम चारित्र है। सम्यग्दर्शन होनेके बाद जीवके कुछ भाव वीतराग हुए होते हैं और कुछ भाव सराग होते हैं, उनमें जो अंश वीतरागरूप है वही चारित्र है और वह संवरका कारण है।

(देखो, मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ ३३९)

५ चारित्रमें भेद किसलिये बताये ?

प्रश्नः—जो वीतरागभाव है सो चारित्र है, और वीतरागभाव तो एक ही तरहका है, तो फिर चारित्रके भेद क्यों बतलाये ?

उत्तर—वीतरागभाव एक तरहका है परन्तु वह एक साथ पूर्ण प्रगट नहीं होता, किन्तु क्रम-क्रमसे प्रगट होता है इसलिये उसमें भेद होते हैं। जितने अंशमें वीतरागभाव प्रगट होता है उतने अंशमें चारित्र प्रगट होता है, इसलिये चारित्रके भेद कहे हैं।

प्रश्नः—यदि ऐसा है तो छट्ठे गुणस्थानमें जो शुभभाव है उसे भी चारित्र क्यों कहते हो ?

उत्तर—वहाँ शुभभावको यथार्थ चारित्र नहीं कहा जाता, किन्तु उस शुभभावके समय जिस अंशमें वीतरागभाव है, वास्तवमें उसे चारित्र कहा जाता है।

प्रश्न—कितनेक जगह शुभभावरूप समिति, गुप्ति, महाव्रतादिको भी चारित्र कहते हैं, इसका क्या कारण है ?

उत्तरः—वहाँ शुभभावरूप समिति आदिको व्यवहारचारित्र कहा है। व्यवहारका अर्थ है उपचार। छट्ठे गुणस्थानमें जो वीतरागचारित्र होता है, उसके साथ महाव्रतादि होते हैं ऐसा सम्बन्ध जानकर यह उपचार किया है। यह निमित्तकी अपेक्षासे अर्थात् विकल्पके भेद बतानेके लिये कहा है, किन्तु यथार्थ रीतिसे तो निष्कषायभाव ही चारित्र है, शुभराग चारित्र नहीं।

प्रश्नः—निश्चय-मोक्षमार्ग तो निर्विकल्प है, उस समय सविकल्प (-सराग व्यवहार) मोक्षमार्ग नहीं होता, तो फिर सविकल्प मोक्षमार्गको साधक कैसे कहा जा सकता है ?

उत्तरः—भूतनैगमनयकी अपेक्षासे उस सविकल्परूपको मोक्षमार्ग कहा है, अर्थात् भूतकालमें वे विकल्प (-रागमिश्रित विचार) हुये थे, यद्यपि वे वर्तमानमें नहीं हैं तथापि 'यह वर्तमान है' ऐसा भूतनैगमनयकी अपेक्षा से गिना जा सकता है-कहा जा सकता है; इसीलिये उस नयकी अपेक्षासे सविकल्प मोक्षमार्गको साधक कहा है ऐसा समझना। (देखो, परमात्मप्रकाश पृष्ठ १४२ अध्याय २ गाथा १४ की संस्कृत टीका तथा इस ग्रन्थके अन्तमें परिशिष्ट १)

६. सामायिकका स्वरूप

प्रश्नः—मोक्षके कारणभूत सामायिकका स्वरूप क्या है ?

उत्तरः—जो सामायिक सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र स्वभाववाला परमार्थ ज्ञानका भवन-मात्र (परिणमन मात्र) है, एकाग्रता लक्षणवाली है, वह सामायिक मोक्षकी कारणभूत है। (देखो, समयसार गाथा १५४ टीका)

श्री नियमसार गाथा १२५ से १३३ में यथार्थ सामायिकका स्वरूप दिया है, वह इसप्रकार है :—

जो कोई मुनि एकेन्द्रियादि प्राणियोंके समूहको दुःख देनेके कारणरूप जो सम्पूर्ण पापभाव सहित व्यापार है, उससे अलग हो मन, वचन और शरीरके शुभ-अशुभ सर्व व्यापारोंको त्यागकर तीन गुप्तिरूप रहते हैं तथा जितेन्द्रिय रहते हैं ऐसे संयमीके वास्तवमें सामायिक व्रत होता है। (गाथा १२५)

जो समस्त त्रस-स्थावर प्राणियोंमें समताभाव रखता है, माध्यस्थभावमें आरूढ़ है, उसीके यथार्थ सामायिक होती है। (गाथा १२६)

संयम पालते हुये, नियम करते तथा तप धारण करते हुये जिसके एक आत्मा ही निकटवर्ती रहा है उसीके यथार्थ सामायिक होती है। (गाथा १२७)

जिसे राग-द्वेष विकार प्रगट नहीं होते, उसके यथार्थ सामायिक होती है। (गाथा १२८)
जो आर्त और रौद्र ध्यानको दूर करता है, उसके वास्तवमें सामायिक व्रत होता है। (गाथा १२९)

जो हमेशा पुण्य और पाप इन दोनों भावोंको छोड़ता है, उसके यथार्थ सामायिक होती है। (गाथा १३०)

जो जीव सदा धर्मध्यान तथा शुक्लध्यानको ध्याता है उसके यथार्थ सामायिक होती है। (गाथा १३३)

सामायिक चारित्रको परम समाधि भी कहते हैं।

७ प्रश्न—इस अध्यायके छट्ठे सूत्रमें संवरके कारणरूपसे जो १० प्रकारका धर्म कहा है उसमें संयम आ ही जाता है और संयम ही चारित्र है तथापि यहाँ फिरसे चारित्रको संवरके कारणरूपमें क्यों कहा ?

उत्तरः—यद्यपि संयमधर्ममें चारित्र आ जाता है तथापि इस सूत्रमें चारित्रका कथन निरर्थक नहीं है। चारित्र मोक्ष-प्राप्तिका साक्षात् कारण है यह बतलानेके लिये यहाँ अन्तमें चारित्रका कथन किया है। चौदहवें गुणस्थानके अन्तमें चारित्रकी पूर्णता होनेपर ही मोक्ष होता है। अतएव मोक्ष-प्राप्तिके लिये चारित्र साक्षात् हेतु है—ऐसा ज्ञान करानेके लिये इस सूत्रमें यह अलग बतलाया है।

८ व्रत और चारित्रमें अन्तर

आस्रव अधिकारमें (सातवें अध्यायके प्रथम सूत्रमें) हिंसा, झूठ, चोरी आदिके त्यागसे अहिंसा, सत्य, अचौर्य आदि क्रियामें शुभप्रवृत्ति है इसलिये वहाँ अव्रतोंकी तरह व्रतोंमें भी कर्मका प्रवाह चलता है, किन्तु उन व्रतोंसे कर्मोंकी निवृत्ति नहीं होती। इसी अपेक्षाको लक्ष्यमें रखकर, गुप्ति आदिको संवरका परिवार कहा है। आत्माके स्वरूपमें जितनी अभेदता होती है, उतना संवर है, शुभाशुभभावका त्याग निश्चय-व्रत अथवा वीतरागचारित्र है। जो शुभभावरूप व्रत है वह व्यवहारचारित्ररूप राग है और वह संवरका कारण नहीं है। (देखो, सर्वार्थसिद्धि अध्याय ७ सूत्र १ से ७) ॥ १८ ॥

दूसरे सूत्रमें कहे गये संवरके ६ कारणोंका वर्णन पूर्ण हुआ। इस तरह संवरतत्त्वका वर्णन पूर्ण हुआ। अब निर्जरातत्त्वका कथन करते हैं—

निर्जरा तत्त्वका वर्णन

भूमिका

१—पहले अठारह सूत्रोंमें संवरतत्त्वका वर्णन किया। अब उन्नीसवें सूत्रसे निर्जरा तत्त्वका कथन प्रारम्भ होता है। जिसके संवर हो उसके निर्जरा होती है। प्रथम संवर तो

सम्यग्दर्शन है, इसलिये जो जीव सम्यग्दर्शन प्रगट करे उसीके संवर-निर्जरा हो सकती है। मिथ्यादृष्टिके संवर-निर्जरा नहीं होती।

२—यहाँ निर्जरा तत्त्वका वर्णन करना है और निर्जराका कारण तप है, (देखो, अध्याय ९ सूत्र ३) इसलिये तपका और उसके भेदोंका वर्णन किया है। तपकी व्याख्या १९ वें सूत्रकी टीकामें दी है और ध्यानकी व्याख्या २७वें सूत्रमें दी गई है।

३. निर्जराके कारणों सम्बन्धी होनेवाली भूलें और उनका निराकरण

(१) कितने ही जीव अनशनादि तपसे निर्जरा मानते हैं, किन्तु वह तो बाह्य-तप है। अब अन्तिम १९-२०वे सूत्रमें बारह प्रकारके तप कहे हैं वे सब बाह्य-तप हैं, किन्तु वे एक-दूसरेकी अपेक्षासे बाह्य-अभ्यंतर हैं, इसीलिये उनके बाह्य और अभ्यंतर ऐसे दो भेद कहे हैं। अकेले बाह्य तप करनेसे निर्जरा नहीं होती। यदि ऐसा हो कि अधिक उपवासादि करनेसे अधिक निर्जरा हो और थोड़े करनेसे थोड़ी हो तो निर्जराका कारण उपवासादिक ही ठहरें, किन्तु ऐसा नियम नहीं है। जो इच्छाका निरोध है सो तप है; इसलिये स्वानुभवकी एकाग्रता बढ़नेसे शुभाशुभ इच्छा दूर होती है, उसे तप कहते हैं।

(२) यहाँ अनशनादिकको तथा प्रायश्चित्तादिकको तप कहा है, इसका कारण यह है कि—यदि जीव अनशनादि तथा प्रायश्चित्तादिरूप प्रवर्ते और रागको दूर करे तो वीतराग-भावरूप सत्य तप पुष्ट किया जा सकता है, इसलिये उन अनशनादि तथा प्रायश्चित्तादिको उपचारसे तप कहा है। यदि कोई जीव वीतरागभावरूप सत्य तपको तो न जाने और उन अनशनादिकको ही तप जानकर संग्रह करे तो वह संसारमें ही भ्रमण करता है।

(३) इतना विशेष समझ लेना कि निश्चयधर्म तो वीतरागभाव है, अन्य अनेक प्रकारके जो भेद कहे जाते हैं वे भेद बाह्य-निमित्तकी अपेक्षासे उपचारसे कहे हैं, इनके व्यवहारमात्र धर्म संज्ञा जानना। जो जीव इस रहस्यको नहीं जानता उसके निर्जरातत्त्वकी यथार्थ श्रद्धा नहीं है। (मोक्षमार्ग प्रकाशक)

तप निर्जराके कारण है, इसीलिये उनका वर्णन करते हैं। उसमें पहले तपके भेद कहते हैं—

बाह्य-तपके ६ भेद

अनशनावमौदर्यवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागविविक्तशय्यासन-
कायक्लेशाः बाह्यं तपः ॥ १९ ॥

अर्थः—[अनशनावमौदर्यवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागविविक्तशय्यासनकायक्लेशाः]

सम्यक् प्रकारसे अनशन, सम्यक् अवमौदर्य, सम्यक् वृत्तिपरिसंख्यान, सम्यक् रसपरित्याग, सम्यक् विविक्तशय्यासन और सम्यक् कायक्लेश ये [बाह्य तपः] छह प्रकारके बाह्य तप हैं।

नोट:—इस सूत्रमें 'सम्यक्' शब्दका अनुसंधान इस अध्यायके चौथे सूत्रसे आता है—किया जाता है। अनशनादि छहों प्रकारमें 'सम्यक्' शब्द लागू होता है।

टीका

१. सूत्रमें कहे गये शब्दोंकी व्याख्या

(१) सम्यक् अनशन'—सम्यग्दृष्टि जीवके आहारके त्यागका भाव होनेपर विषय-कषायका भाव दूर होकर अंतरंग परिणामोंकी शुद्धता होती है वह सम्यक् अनशन है।

(२) सम्यक् अवमौदर्य।—सम्यग्दृष्टि जीवके रागभाव दूर करनेके लिये जितनी भूख हो उससे कम भोजन करनेका भाव होने पर जो अंतरंग परिणामोंकी शुद्धता होती है उसे सम्यक् अवमौदर्य कहते हैं।

(३) सम्यक् वृत्तिपरिसंख्यानः—सम्यग्दृष्टि जीवके संयमके हेतुसे निर्दोष आहारकी भिक्षाके लिये जाते समय, भोजनकी वृत्ति तोड़ने वाले नियम करने पर अंतरंग परिणामोंकी जो शुद्धता होती है उसे सम्यक् वृत्तिपरिसंख्यान कहते हैं।

(४) सम्यक् रसपरित्यागः—सम्यग्दृष्टि जीवके इन्द्रियों सम्बन्धी रागका दमन करनेके लिये घी, दूध, दही, तेल, मिठाई, नमक आदि रसोंका यथाशक्ति त्याग करनेका भाव होनेसे अन्तरंग परिणामोंकी जो शुद्धता होती है उसे सम्यक् रसपरित्याग कहते हैं।

(५) सम्यक् विविक्तशय्यासनः—सम्यग्दृष्टि जीवके स्वाध्याय, ध्यान आदिकी प्राप्तिके लिये किसी एकांत निर्दोष स्थानमें प्रमादरहित सोने, बैठनेकी वृत्ति होने पर अंतरंग परिणामोंकी जो शुद्धता होती है उसे सम्यक् विविक्तशय्यासन कहते हैं।

(६) सम्यक् कायक्लेशः—सम्यग्दृष्टि जीवके शारीरिक आसक्ति घटानेके लिये आतापन आदि योग धारण करते समय जो अन्तरंग परिणामोंकी शुद्धता होती है उसे सम्यक् कायक्लेश कहते हैं।

२—'सम्यक्' शब्द यह बतलाता है कि सम्यग्दृष्टिके ही ये तप होते हैं, मिथ्यादृष्टिके तप नहीं होते।

३—जब सम्यग्दृष्टि जीव अनशनकी प्रतिज्ञा करता है उस समय निम्न-लिखित बातें जानता है—

(१) आहार न लेनेका राग-मिश्रित विचार होता है वह शुभभाव है और उसका फल पुण्यबन्धन है; मैं उसका स्वामी नही हूँ।

(२) अन्न, जल आदि परवस्तुयें हैं। आत्मा उन्हें किसी प्रकार न तो ग्रहण कर सकता और न छोड़ सकता है, किन्तु जब सम्यग्दृष्टि जीव परवस्तु सम्बन्धी उस प्रकारका राग छोड़ता है तब पुद्गलपरावर्तनके नियम अनुसार ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध होता है कि उतने समय उनके अन्न-पानी आदिका संयोग नहीं होता।

(३) अन्न-जल आदिका संयोग न हुआ यह परद्रव्यकी क्रिया है, उससे आत्माके धर्म या अधर्म नही होता।

(४) सम्यग्दृष्टि जीवके रागका स्वामित्व न होनेकी जो सम्यक् मान्यता है वह दृढ होती है, और इसलिये यथार्थ अभिप्रायपूर्वक जो अन्न, जल आदि लेनेका राग दूर हुआ वह सम्यक् अनशन तप है, वह वीतरागताका अंश है, इसीलिये वह धर्मका अंश है। उसमें जितने अंशमें अंतरंग परिणामोंकी शुद्धता हुई वही निर्जराका कारण है।

छह प्रकारके बाह्य और छह प्रकारके अन्तरंग-इन बारह प्रकारके तपके सम्बन्धमें ऊपर लिखे अनुसार समझ लेना।

सम्यक् तपकी व्याख्या

(१) 'स्वरूपविश्रांतनिस्तरंगचैतन्यप्रतपनात् तप.' अर्थात् स्वरूपकी स्थिरतारूप,-तरंगोंके बिना--लहरोंके बिना (निर्विकल्प) चैतन्यका प्रतपन होना (देदीप्यमान होना) सो तप है।
(प्रवचनसार अ० १ गा० १४ की टीका)

(२) 'सहजनिश्चयनयात्मकपरमस्वभावात्मपरमात्मनि प्रतपनं तपः' अर्थात् सहज निश्चयनयरूप परमस्वभावमय परमात्माका प्रतपन होना अर्थात् दृढतासे तन्मय होना सो तप है।
(नियमसार गा० ५५ की टीका)

(३) 'प्रसिद्धशुद्धकारणपरमात्मतत्त्वे सदान्तर्मुखतया प्रतपनं यत्तत्तपः' अर्थात् प्रसिद्ध शुद्धकारणपरमात्मतत्त्वमें सदा अन्तर्मुखरूपसे जो प्रतपन अर्थात् लीनता है सो तप है।
(नियमसार टीका गाथा ११८ का शीर्षक)

(४) 'आत्मानमात्मना संधत्त इत्यध्यात्मं तपनं' अर्थात् आत्माको आत्माके द्वारा धरना सो अध्यात्म-तप है। (नियमसार गा० १२३ की टीका)

(५) 'इच्छानिरोधः तपः' अर्थात् शुभाशुभ इच्छाका निरोध करना (--अर्थात् स्वरूपमें विश्रांत होना) सो तप है।

५. तपके भेद किसलिये हैं ?

प्रश्नः—यदि तपकी व्याख्या उपरोक्त प्रमाणानुसार है तो उस तपके भेद नहीं हो सकते, तथापि यहाँ तपके बारह भेद क्यों कहे हैं ?

उत्तरः—शास्त्रोंका कथन किसी समय उपादान (निश्चय) की अपेक्षासे और किसी समय निमित्त (व्यवहार) की अपेक्षासे होता है। भिन्न-भिन्न निमित्त होनेसे उसमें भेद होते हैं किन्तु उपादान तो आत्माका शुद्ध स्वभाव है अतः उसमें भेद नहीं होता। यहाँ तपके जो बारह भेद बतलाये हैं वे भेद निमित्तकी अपेक्षासे हैं।

६—जिस जीवके सम्यग्दर्शन न हो वह जीव वनमें रहे, चातुर्मासमें वृक्षके नीचे रहे, ग्रीष्म ऋतुमें अत्यन्त प्रखर किरणोंसे संतप्त पर्वतके शिखर पर आसन लगावे, शीतकालमें खुले मैदानमें ध्यान करे, अन्य अनेक प्रकारके काय-क्लेश करे, अधिक उपवास करे, शास्त्रोंके पढ़नेमें बहुत प्रवीण हो, मौनव्रत धारण करे इत्यादि सब कुछ करे, किन्तु उसका यह सब वृथा है—संसारका कारण है, इनसे धर्मका अंश भी नहीं होता। जो जीव सम्यग्दर्शनसे रहित हो यदि वह जीव अनशनादि बारह तप करे तथापि उसके कार्यकी सिद्धि नहीं होती। इसलिये हे जीव ! आकुलता रहित समतादेवीका कुल-मन्दिर जोकि अपना आत्मतत्त्व है,
इसलिये हे जीव ! आकुलता रहित समतादेवीका कुल-मन्दिर जोकि अपना आत्मतत्त्व है,
उसका ही भजन कर ॥१९॥ (देखो, नियमसार गाथा १२४)

अब आभ्यंतर तपके ६ भेद बताते हैं

प्रायश्चित्तविनयवैयावृत्यस्वाध्यायव्युत्सर्गध्यानान्युत्तरम् ॥२०॥

अर्थ—[प्रायश्चित्तविनयवैयावृत्यस्वाध्यायव्युत्सर्गध्यानानि] सम्यक्‌रूपसे प्रायश्चित्त, सम्यक् विनय, सम्यक् वैयावृत्य, सम्यक् स्वाध्याय, सम्यक् व्युत्सर्ग और सम्यक् ध्यान [उत्तरम्] ये छह प्रकारका आभ्यन्तर तप है।

नोट—इस सूत्रमें 'सम्यक्' शब्दका अनुसन्धान इस अध्यायके चौथे सूत्रसे किया जाता है, वह प्रायश्चित्तादि छहों प्रकारमें लागू होता है। यदि 'सम्यक्' शब्दका अनुसन्धान न किया जाये तो नाटक इत्यादि सम्बन्धी अभ्यास करना भी स्वाध्याय तप ठहरेगा। परन्तु सम्यक् शब्दके द्वारा उसका निषेध हो जाता है।

टीका

१—ऊपरके सूत्रकी जो टीका है वह यहाँ भी लागू होती है।

२—सूत्रमें कहे गये शब्दोंकी व्याख्या करते हैं—

(१) सम्यक् प्रायश्चित्तः—प्रमाद अथवा अज्ञानसे लगे हुए दोषोंकी शुद्धता करनेमें वीतरागस्वरूपके आलंबनके द्वारा जो अन्तरंग परिणामोंकी शुद्धता होती है उसे सम्यक् प्रायश्चित्त कहते हैं।

(२) सम्यक् विनयः—पूज्य पुरुषोंका आदर करने पर वीतरागस्वरूपके लक्षके द्वारा अंतरंग परिणामोंकी जो शुद्धता होती है, उसे सम्यक् विनय कहते हैं।

(३) सम्यक् वैयावृत्यः—शरीर तथा अन्य वस्तुओंसे मुनियों की सेवा करने पर वीतरागस्वरूपके लक्षके द्वारा अंतरंग परिणामोंकी जो शुद्धता होती है उसे वैयावृत्य कहते हैं।

(४) सम्यक् स्वाध्यायः—सम्यग्ज्ञानकी भावनामें आलस्य न करना-उसमें वीतराग-स्वरूपके लक्षके द्वारा अंतरंग परिणामोंकी जो शुद्धता होती है वह सम्यक् स्वाध्याय है।

(५) सम्यक् व्युत्सर्गः—बाह्य और आभ्यंतर परिग्रहके त्यागकी भावनामें वीतराग-स्वरूपके लक्षके द्वारा अंतरंग परिणामोंकी जो शुद्धता होती है सो सम्यक् व्युत्सर्ग है।

(६) सम्यक् ध्यानः—चित्तकी चंचलताको रोककर तत्वके चिन्तवनमें लगना, इसमें वीतरागस्वरूपके लक्ष द्वारा अंतरंग परिणामोंकी जो शुद्धता होती है सो सम्यक् ध्यान है।

३—सम्यग्दृष्टिके ही ये छहों प्रकारके तप होते हैं। इन छहों प्रकारमें सम्यग्दृष्टिके निज-स्वरूपकी एकाग्रतासे जितनी अंतरंग परिणामोंकी शुद्धता हो उतना ही तप है। (जो शुभ विकल्प है उसे उपचारसे तप कहा जाता है, किन्तु यथार्थमें तो वह राग है; तप नहीं।)

अब अभ्यंतर तपके उपभेद बतलाते हैं

नवचतुर्दशपंचद्विभेदा यथाक्रमं प्राग्ध्यानात् ॥२१॥

अर्थः—[प्राक् ध्यानात्] ध्यानसे पहलेके पांच तपके [यथाक्रमं] अनुक्रमसे [नवचतुर्दशपंचद्विभेदाः] नव, चार, दस, पांच और दो भेद हैं अर्थात् सम्यक् प्रायश्चित्तके नव, सम्यक् विनयके चार, सम्यक् वैयावृत्यके दस, सम्यक् स्वाध्यायके पांच और सम्यक् व्युत्सर्गके दो भेद हैं।

नोट—आभ्यंतर तपका छठवां भेद ध्यान है। उसके भेदोंका वर्णन २८ वें सूत्रमें किया जायगा।

अब सम्यक् प्रायश्चित्तके नव भेद बतलाते हैं

आलोचनप्रतिक्रमणतदुभयविवेकव्युत्सर्गतपश्छेद-परिहारोपस्थापनाः ॥२२॥

अर्थ - [आलोचनप्रतिक्रमणतदुभयविवेकव्युत्सर्गतपश्छेदपरिहारोपस्थापनाः] आलोचना, प्रतिक्रमण, तदुभय, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, परिहार, उपस्थापना, ये प्रायश्चित्त तपके नव भेद हैं।

टीका

१—सूत्रमें आये हुये शब्दोंकी व्याख्या करते हैं—

प्रायश्चित्तः—प्राय = अपराध, चित्त = शुद्धि, अर्थात् अपराधकी शुद्धि करना सो प्रायश्चित्त है।

(१) आलोचनाः—प्रमादसे लगे हुये दोषोंको गुरुके पास जाकर निष्कपट रीतिसे कहना सो आलोचना है।

(२) प्रतिक्रमणः—अपने किये हुए अपराध मिथ्या होवें-ऐसी भावना करना सो प्रतिक्रमण है।

(३) तदुभयः—ये दोनों अर्थात् आलोचना और प्रतिक्रमण दोनों करना सो तदुभय है।

(४) विवेकः—आहार-पानीका नियमित समयतक त्याग करना।

(५) व्युत्सर्गः—कायोत्सर्ग करनेको व्युत्सर्ग कहते हैं।

(६) तपः—उपवासादि करना सो तप है।

(७) छेदः—एक दिन, पन्द्रह दिन, एक मास आदि समयपर्यन्त दीक्षाका छेद करना सो छेद कहलाता है।

(८) परिहारः—एक दिन, एक पक्ष, एक मास आदि नियमित समय तक संघसे अलग करना सो परिहार है।

(९) उपस्थापनः—पुरानी दीक्षाका सम्पूर्ण छेद करके फिरसे नई दीक्षा देना सो उपस्थापन है।

२—यह सब भेद व्यवहार-प्रायश्चित्तके हैं। जिस जीवके निश्चय-प्रायश्चित प्रगट हुआ हो उस जीवके इस नव प्रकारके प्रायश्चित्तको व्यवहार-प्रायश्चित्त कहा जाता है, किन्तु यदि निश्चय-प्रायश्चित्त प्रगट न हुआ हो तो वह व्यवहाराभास है।

३—निश्चय-प्रायश्चित्तका स्वरूप

निजात्माका ही जो उत्कृष्ट बोध, ज्ञान तथा चित्त है उसे जो जीव नित्य धारण करते हैं उनके ही प्रायश्चित्त होता है (बोध, ज्ञान और चित्तका एक ही अर्थ है) प्रायः= प्रकृष्टरूपसे और चित्त=ज्ञान, अर्थात् प्रकृष्टरूपसे जो ज्ञान है वही प्रायश्चित है। क्रोधादि विभावभावोंका क्षय करनेकी भावनामें प्रवर्तना तथा आत्मिक गुणोंका चिंतन करना सो यथार्थ प्रायश्चित्त है। निज आत्मिक तत्वमें रमणरूप जो तपश्चरण है वही शुद्ध निश्चय-प्रायश्चित्त है। (देखो, नियमसार गाथा ११३ से १२१)

४—निश्चय-प्रतिक्रमणका स्वरूप

जो कोई वचनकी रचनाको छोड़कर तथा राग-द्वेषादि भावोंका निवारण करके स्वात्माको ध्याता है उसके प्रतिक्रमण होता है। जो मोक्षार्थी जीव सम्पूर्ण विराधना अर्थात् अपराधको छोड़कर स्वरूपकी आराधनामें वर्तन करता है उसके यथार्थ प्रतिक्रमण है।

(श्री नियमसार गाथा ८३-८४)

५—निश्चय-आलोचनाका स्वरूप

जो जीव स्वात्माको—नोकर्म, द्रव्यकर्म तथा विभावगुण-पर्यायसे रहित ध्यान करते हैं उनके यथार्थ आलोचना होती है। समताभावमें स्वकीय परिणामको धरकर स्वात्माको देखना सो यथार्थ आलोचना है। (देखो, श्री नियमसार गाथा १०७ से ११२) ॥ २२ ॥

अब सम्यक् विनयतपके चार भेद बतलाते हैं

ज्ञानदर्शनचारित्रोपचाराः ॥२३॥

अर्थः—[**ज्ञानदर्शनचारित्रोपचाराः**] ज्ञानविनय, दर्शनविनय, चारित्रविनय और उपचारविनय, ये विनयतपके चार भेद हैं।

टीका

(१) **ज्ञानविनयः**—आदरपूर्वक योग्यकालमें सत्शास्त्रका अभ्यास करना, मोक्षके लिए ज्ञानका ग्रहण-अभ्यास-संस्मरण आदि करना सो ज्ञानविनय है।

(२) दर्शनविनयः—शंका, कांक्षा, आदि दोष रहित सम्यग्दर्शनको धारण करना सो दर्शनविनय है।

(३) चारित्रविनयः—निर्दोष रीतिसे चारित्रको पालना सो चारित्रविनय है।

(४) उपचारविनयः—आचार्य आदि पूज्य पुरुषोंको देखकर खड़ा होना, नमस्कार करना, इत्यादि उपचारविनय है। यह सब व्यवहारविनयके भेद हैं।

निश्चयविनयका स्वरूप

जो शुद्धभाव है सो निश्चयविनय है। स्वके अकषायभावमें अभेद परिणमनसे, शुद्धता करके स्थिर होना सो निश्चयविनय है, इसीलिये कहा जाता है कि "विनयवंत भगवान कहावें, नहीं किसीको शीष नमावें" अर्थात् भगवान विनयवन्त कहे जाते हैं किन्तु किसीको मस्तक नहीं नमाते ॥ २३ ॥

अब सम्यक् वैयावृत्य तपके १० भेद बतलाते हैं

आचार्योपाध्यायतपस्विशैक्ष्यग्लानगणकुलसंघसाधुमनोज्ञानाम् ॥ २४ ॥

अर्थः—[आचार्योपाध्यायतपस्विशैक्ष्यग्लानगणकुलसंघसाधुमनोज्ञानाम्] आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष्य, ग्लान, गण, कुल, संघ, साधु और मनोज्ञ—इन दस प्रकारके मुनियोंकी सेवा करना सो वैयावृत्य तपके दस भेद हैं।

टीका

१—सूत्रमें आये हुये शब्दोंका अर्थ—

(१) आचार्यः—जो मुनि स्वयं पाँच प्रकारके आचारोंका आचरण करें और दूसरोंको आचरण करावें उन्हें आचार्य कहते हैं।

(२) उपाध्याय—जिनके पाससे शास्त्रोंका अध्ययन किया जाय उन्हें उपाध्याय कहते हैं।

(३) तपस्वीः—महान उपवास करनेवाले साधुको तपस्वी कहते हैं।

(४) शैक्ष्यः—शास्त्रके अध्ययनमें तत्पर मुनिको शैक्ष्य कहते हैं।

(५) ग्लानः—रोगसे पीड़ित मुनिको ग्लान कहते हैं।

(६) गणः—वृद्ध मुनियोंके अनुसार चलनेवाले मुनियोंके समुदायको गण कहते हैं।

(७) कुलः—दीक्षा देनेवाले आचार्यके शिष्य कुल कहलाते हैं।

(८) संघः—ऋषि, यति, मुनि और अनगार—इन चार प्रकारके मुनियोंका समूह संघ कहलाता है। (संघके दूसरी तरहसे मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविका ये भी चार भेद हैं)

(९) साधुः—जिनने बहुत समयसे दीक्षा ली हो वे साधु कहलाते हैं अथवा जो रत्नत्रय भावनासे अपने आत्माको साधते हैं उन्हें साधु कहते हैं।

(१०) मनोज्ञः—मोक्षमार्ग-प्रभावक, वक्तादि गुणोंसे शोभायमान, जिसकी लोकमें अधिक ख्याति हो रही हो ऐसे विद्वान मुनिको मनोज्ञ कहते हैं, अथवा उसके समान असंयत सम्यग्दृष्टिको भी मनोज्ञ कहते हैं। (सर्वार्थसिद्धि टीका)

२—इन प्रत्येककी सेवा-सुश्रूषा करना वैयावृत्त है। यह वैयावृत्य शुभभावरूप है, इसलिये व्यवहार है। वैयावृत्यका अर्थ सेवा है। स्वके अकषायभावकी जो सेवा है वो वैयावृत्य है।

३—संघके चार भेद बतलाये, अब उनका अर्थ लिखते हैं—

ऋषिः—ऋद्धिधारी साधुको ऋषि कहते हैं।

यतिः—इन्द्रियोंको वशमें करनेवाले साधु अथवा उपशम या क्षपकश्रेणी मांडनेवाले साधु यति कहलाते हैं।

मुनिः—अवधिज्ञानी या मनःपर्ययज्ञानी साधु मुनि कहे जाते हैं।

अनगारः—सामान्य साधु अनगार कहलाते हैं।

पुनश्च ऋषिके भी चार भेद हैं—(१) राजर्षि=विक्रिया, अक्षीण ऋद्धिप्राप्त मुनि राजर्षि कहलाते हैं। (२) ब्रह्मर्षि=बुद्धि, सर्वोषधि आदि ऋद्धिप्राप्त साधु ब्रह्मर्षि कहलाते हैं। देवर्षि=आकाशगमन ऋद्धिप्राप्त साधु देवर्षि कहे जाते हैं। (४) परमर्षि=केवलज्ञानीको परमर्षि कहते हैं।

सम्यक् स्वाध्याय तपके पाँच भेद

वाचनापृच्छनानुप्रेक्षाऽऽम्नायधर्मोपदेशाः ॥ २५ ॥

अर्थः—[वाचनापृच्छनानुप्रेक्षाम्नायधर्मोपदेशाः] वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा,

आम्नाय और धर्मोपदेश ये स्वाध्यायके पांच भेद हैं।

टीका

वाचनाः—निर्दोष ग्रन्थ, उसका अर्थ तथा दोनोंका भव्य जीवोंको श्रवण कराना सो वाचना है।

पृच्छनाः—संशयको दूर करनेके लिये अथवा निश्चयको दृढ करनेके लिए प्रश्न पूछना सो पृच्छना है।

अपना उच्चपन प्रगट करनेके लिये, किसीको ठगनेके लिये, किसीको हरानेके लिये, दूसरेका हास्य करनेके लिये आदि खोटे परिणामोंसे प्रश्न करना सो पृच्छना स्वाध्याय तप नहीं है।

अनुप्रेक्षाः—जाने हुए पदार्थोंका बारम्बार चिंतवन करना सो अनुप्रेक्षा है।

आम्नायः—निर्दोष उच्चारण करके पाठको घोखना सो आम्नाय है।

धर्मोपदेशः—धर्मका उपदेश करना सो धर्मोपदेश है।

प्रश्नः—ये पांच प्रकारके स्वाध्याय किसलिये कहे?

उत्तरः—प्रज्ञाकी अधिकता, प्रशंसनीय अभिप्राय, उत्कृष्ट उदासीनता, तपकी वृद्धि, अतिचारकी विशुद्धि इत्यादिके कारण पांच प्रकारके स्वाध्याय कहे गये हैं ॥ २५ ॥

सम्यक् व्युत्सर्गतपके दो भेद बतलाते हैं—

बाह्याभ्यंतरोपध्योः ॥ २६ ॥

अर्थः—[बाह्याभ्यन्तरोपध्योः] बाह्य उपधिव्युत्सर्ग और अभ्यन्तर उपधिव्युत्सर्ग ये दो व्युत्सर्ग तपके भेद हैं।

टीका

बाह्य-उपधिका अर्थ है बाह्य-परिग्रह और अभ्यन्तर-उपधिका अर्थ अभ्यन्तरपरिग्रह है। दस प्रकारके बाह्य और चौदह प्रकारके अन्तरंग-परिग्रहका त्याग करना सो व्युत्सर्गतप है। जो आत्माका विकारी परिणाम है सो अन्तरंग-परिग्रह है। उसका बाह्य-परिग्रहके साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है।

२-प्रश्नः—इसे व्युत्सर्गतप क्यों कहा?

उत्तरः—निःसंगत्व, निर्भयता, जीनेकी आशाका अभाव करने आदिके लिये यह तप है।

३—जो चौदह अन्तरंग-परिग्रह हैं, उनमें सबसे प्रथम मिथ्यात्व दूर होता है, इसके दूर किये विना अन्य कोई भी परिग्रह दूर ही नहीं होता। यह सिद्धान्त बतानेके लिये इस शास्त्रके पहले ही सूत्रमें मोक्षमार्गके रूपमें जो आत्माके तीन शुद्धभावोंकी एकताकी आवश्यकता बतलायी है उसमें भी प्रथम सम्यग्दर्शन ही बतलाया है। सम्यग्दर्शनके विना ज्ञान या चारित्र भी सम्यक् नहीं होते। चारित्रके लिए जो 'सम्यक्' विशेषण दिया जाता है वह अज्ञानपूर्वक आचरणकी निवृत्ति बतलाता है। पहले सम्यक् श्रद्धा-ज्ञान होनेके बाद जो यथार्थ चारित्र होता है वही सम्यक्चारित्र है। इसलिये मिथ्यात्वको दूर किये विना किसी प्रकारका तप या धर्म नहीं होता ॥ २६ ॥

यह निर्जरातत्त्वका वर्णन चल रहा है। निर्जराका कारण तप है। तपके भेदोंका वर्णन चालू है, उसमें अभ्यन्तर तपके प्रारम्भके पांच भेदोंका वर्णन पूर्ण हुआ। अब छठवाँ भेद जो ध्यान है, उसका वर्णन करते हैं।

सम्यक् ध्यानतपका लक्षण

उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिंतानिरोधो ध्यानमान्तर्मुहूर्तात् ॥ २७ ॥

अर्थः—[**उत्तमसंहननस्य**] उत्तम संहननवालेके [**आ अन्तर्मुहूर्तात्**] अन्तर्मुहूर्त तक [**एकाग्रचिंतानिरोधो ध्यानम्**] एकाग्रतापूर्वक चिंताका निरोध सो ध्यान है।

टीका

१—उत्तमसंहननः—वज्रर्षभनाराच, वज्रनाराच और नाराच ये तीन उत्तमसंहनन हैं। इनमें मोक्ष प्राप्त करनेवाले जीवके पहला वज्रर्षभनाराच संहनन होता है।

एकाग्र—एकाग्रका अर्थ मुख्य, सहारा, अवलम्बन, आश्रय, प्रधान अथवा सन्मुख होता है। वृत्तिको अन्य क्रियासे हटाकर एक ही विषयमें रोकना सो एकाग्रचिंतानिरोध है और वही ध्यान है। जहाँ एकाग्रता नहीं वहाँ भावना है।

२—इस सूत्रमें ध्याता, ध्यान, ध्येय और ध्यानका समय ये चार बातें निम्नरूपसे आ जाती हैं—

(१) जो उत्तमसंहननधारी पुरुष है वह ध्याता है।

(२) एकाग्रचिंताका निरोध ध्यान है।

(३) जिस एक विषयको प्रधान किया वह ध्येय है।

(४) अन्तर्मुहूर्त ध्यानका उत्कृष्ट काल है।

मुहूर्तका अर्थ है ४८ मिनिट और अन्तर्मुहूर्तका अर्थ है ४८ मिनिटके भीतरका समय। ४८ मिनिटमें एक समय कम उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त है।

३—यहाँ ऐसा कहा है कि उत्तम संहननवालेके अन्तर्मुहूर्त तक ध्यान रह सकता है, इसका यह अर्थ हुआ कि अनुत्तम संहननवालेके सामान्य ध्यान होता है अर्थात् जितना समय उत्तमसंहननवालेके रहता है उतना समय उसके (अनुत्तम संहननवालेके) नहीं रहता। इस सूत्रमें कालका कथन किया है जिसमें यह सम्बन्ध गर्भितरूपसे आ जाता है।

(४) अष्टप्राभृतके मोक्षप्राभृतमें कहा है कि जीव आज भी तीन रत्न (रत्नत्रय) के द्वारा शुद्धात्माको ध्याकर स्वर्गलोकमें अथवा लौकांतिकमें देवत्व प्राप्त करता है और वहाँसे चयकर मनुष्य होकर मोक्ष प्राप्त करता है (गाथा ७७), इसलिये पंचमकालके अनुत्तम संहननवाले जीवोंके भी धर्मध्यान हो सकता है।

प्रश्न —ध्यानमें चिंताका निरोध है, और जो चिंताका निरोध है सो अभाव है, अतएव उस अभावके कारण ध्यान भी गधेके सींगकी तरह असत् हुआ ?

उत्तर.—ध्यान असत्रूप नहीं। दूसरे विचारोंसे निवृत्तिकी अपेक्षासे अभाव है, परन्तु स्व-विषयक आकारकी अपेक्षासे सद्भाव है अर्थात् उसमें स्वरूपकी प्रवृत्तिका सद्भाव है, ऐसा 'एकाग्र' शब्दसे निश्चय किया जा सकता है। स्वरूपकी अपेक्षासे ध्यान विद्यमान-सत्‌रूप है।

६—इस सूत्रका ऐसा भी अर्थ हो सकता है कि जो ज्ञान चंचलता रहित अचल प्रकाशवाला अथवा देदीप्यमान होता है वह ध्यान है।

ध्यानके भेद—

आर्त्तरौद्रधर्म्यशुक्लानि ॥२८॥

अर्थः—[आर्तरौद्रधर्म्यशुक्लानि] आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल ये ध्यानके चार भेद हैं।

टीका

प्रश्नः—यह संवर-निर्जराका अधिकार है और यहाँ निर्जराके कारणोंका वर्णन चल रहा है। आर्त और रौद्रध्यान तो बन्धके कारण हैं तो उन्हें यहाँ क्यों लिया ?

उत्तरः—निर्जराका कारणरूप जो ध्यान है उससे इस ध्यानको अलग दिखानेके लिये ध्यानके सब भेद समझाए हैं।

आर्तध्यानः—दुःख-पीड़ारूप चिन्तवनका नाम आर्तध्यान है।

रौद्रध्यानः—निर्दय-क्रूर आशयका विचार करना रौद्रध्यान है।

धर्मध्यानः—धर्म सहित ध्यानको धर्मध्यान कहते हैं।

शुक्लध्यानः—शुद्ध पवित्र उज्ज्वल परिणामवाला चिन्तवन शुक्लध्यान कहलाता है।

—इन चार ध्यानोंमें पहले दो अशुभ हैं और दूसरे दो धर्मरूप हैं ॥२८॥

अब मोक्षके कारणरूप ध्यान बतलाते हैं

परे मोक्षहेतू ॥ २९ ॥

अर्थः—[परे] जो चार प्रकारके ध्यान कहे उनमेंसे अन्तके दो अर्थात् धर्म और शुक्लध्यान [मोक्षहेतू] मोक्षके कारण हैं।

टीका

पहले दो ध्यान अर्थात् आर्तध्यान और रौद्रध्यान संसारके कारण हैं और निश्चय-धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान मोक्षके कारण है।

प्रश्नः—यह तो सूत्रमें कहा है कि अन्तिम दो ध्यान मोक्षके कारण हैं, किन्तु ऐसा अर्थ सूत्रमेंसे किसतरह निकाला कि पहले दो ध्यान संसारके कारण हैं ?

उत्तरः—मोक्ष और संसार इन दोके अतिरिक्त और कोई साधने योग्य पदार्थ नहीं। इस जगतमें दो ही मार्ग हैं—मोक्षमार्ग और संसारमार्ग। इन दोके अतिरिक्त तीसरा कोई साधनीय पदार्थ नहीं है, अतएव यह सूत्र यह भी बतलाता है कि धर्मध्यान और शुक्लध्यानके अतिरिक्त आर्त्त और रौद्रध्यान संसारके कारण हैं ॥ २९ ॥

आर्त्तध्यानके चार भेद हैं, अब उनका वर्णन अनुक्रमसे चार सूत्रों द्वारा करते हैं

आर्त्तममनोज्ञस्य संप्रयोगे तद्विप्रयोगाय स्मृतिसमन्वाहारः ॥३०॥

अर्थः—[अमनोज्ञस्य संप्रयोगे] अनिष्ट पदार्थका संयोग होनेपर [तद्विप्रयोगाय] उसके दूर करनेके लिये [स्मृतिसमन्वाहारः] वारम्वार विचार करना सो [आर्त्तम्] अनिष्ट संयोगज नामका आर्त्तध्यान है ॥ ३० ॥

विपरीतं मनोज्ञस्य ॥३१॥

अर्थः-[मनोज्ञस्य] मनोज्ञ पदार्थ सम्बन्धी [विपरीतं] उपरोक्त सूत्रमें कहे हुएसे विपरीत अर्थात् इष्ट-पदार्थका वियोग होनेपर उसके संयोगके लिये बारम्बार विचार करना सो 'इष्ट-वियोगज' नामका आर्तध्यान है ॥३१॥

वेदनायाश्च ॥३२॥

अर्थः-[वेदनायाः च] रोगजनित पीड़ा होनेपर उसे दूर करनेके लिये बारम्बार चिंतवन करना सो वेदनाजन्य आर्तध्यान है ॥३२॥

निदानं च ॥३३॥

अर्थः—[*निदानं च*] *भविष्यकाल सम्बन्धी विषयोंकी प्राप्तिमें चित्तको तल्लीन* कर देना सो निदानज आर्तध्यान है ॥३३॥

अब गुणस्थानकी अपेक्षासे आर्तध्यानके स्वामी बतलाते हैं

तदविरतदेशविरतप्रमत्तसंयतानाम् ॥३४॥

अर्थः-[तत्] वह आर्तध्यान [अविरतदेशविरतप्रमत्तसंयतानाम्] अविरत-पहले चार गुणस्थान, देशविरत-पांचवां-गुणस्थान और प्रमत्त संयत-छट्ठे गुणस्थानमें होता है।

नोटः—निदान नामका आर्तध्यान छट्ठे गुणस्थानमें नहीं होता।

टीका

मिथ्यादृष्टि जीव तो अविरत है और सम्यग्दृष्टि जीव भी अविरत होता है इसलिये (१) मिथ्यादृष्टि (२) सम्यग्दृष्टि अविरति (३) देशविरत और (४) प्रमत्तसंयत-इन चार प्रकारके जीवोंके आर्तध्यान होता है। मिथ्यादृष्टिके सबसे खराब आर्तध्यान होता है। और उसके बाद प्रमत्तसंयत तक वह क्रम-क्रमसे मन्द होता जाता है। छट्ठे गुणस्थानके बाद आर्तध्यान नहीं होता।

मिथ्यादृष्टि जीव परवस्तुके संयोग-वियोगको आर्तध्यानका कारण मानता है, इसलिये उसके यथार्थमें आर्तध्यान मन्द भी नहीं होता। सम्यग्दृष्टि जीवोंके आर्तध्यान क्वचित् होता है और इसका कारण उनके पुरुषार्थकी कमजोरी है ऐसा जानते हैं, इसीलिये वे स्वका पुरुषार्थ बढ़ाकर धीरे-धीरे आर्तध्यानका अभाव करके क्रमसे उसका सर्वथा नाश

करते हैं। मिथ्यादृष्टि जीवके स्वीय ज्ञानस्वभावकी अरुचि है इसीलिए उसके सर्वत्र, निरन्तर दुःखमय आर्त्तध्यान वर्तता है; सम्यग्दृष्टि जीवके स्वके ज्ञानस्वभावकी अखण्ड रुचि, श्रद्धा वर्तती है इसीलिये उसके सदैव धर्मध्यान रहता है, मात्र पुरुषार्थकी कमजोरीसे किसी समय अशुभभावरूप आर्त्तध्यान भी होता है, किन्तु वह मन्द होता है ॥३४॥

अब रौद्रध्यानके भेद और स्वामी बतलाते हैं

हिंसाऽनृतस्तेयविषयसंरक्षणेभ्यो रौद्रमविरतदेशविरतयोः ॥३५॥

अर्थः—[हिंसानृतस्तेयविषयसंरक्षणेभ्यः] हिंसा, असत्य, चोरी और विषय-संरक्षणके भावसे उत्पन्न हुआ ध्यान [रौद्रम्] रौद्रध्यान है; यह ध्यान [अविरतदेशविरतयोः] अविरत और देशविरत (पहलेसे पाँच) गुणस्थानोंमें होता है।

टीका

जो ध्यान क्रूर परिणामोंसे होता है वह रौद्रध्यान है। निमित्तके भेदकी अपेक्षासे रौद्रध्यानके ४ भेद होते हैं, वे निम्नप्रकार हैं:—

१-हिंसानन्दीः—हिंसामें आनन्द मानकर उसके साधन मिलानेमें तल्लीन रहना सो हिंसानन्दी है।

२-मृषानन्दीः—झूठ बोलनेमें आनन्द मानकर उसका चिंतवन करना।

३-चौर्यानन्दीः—चोरीमें आनन्द मानकर उसका विचार करना।

४-परिग्रहानन्दीः—परिग्रहकी रक्षाकी चिन्तामें तल्लीन हो जाना।

अब धर्मध्यानके भेद बताते हैं

आज्ञाऽपायविपाकसंस्थानविचयाय धर्म्यम् ॥३६॥

अर्थः—[आज्ञाऽपायविपाकसंस्थानविचयाय] आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचयके लिये चिन्तवन करना सो [धर्म्यम्] धर्मध्यान है।

टीका

१—धर्मध्यानके चार भेद निम्नप्रकार हैं:-

(१) आज्ञाविचय—आगमकी प्रमाणतासे अर्थका विचार करना।

(२) अपायविचयः—संसारी जीवोंके दुःखका और उसमेंसे छूटनेके उपायका विचार करना सो अपायविचय है।

(३) विपाकविचयः—कर्मके फलका (उदयका) विचार करना सो विपाकविचय है।

(४) संस्थानविचयः—लोकके आकारका विचार करना। इत्यादि विचारोंके समय स्वसन्मुखताके बलसे जितनी आत्मपरिणामोंकी शुद्धता हो, उसे धर्मध्यान कहते हैं।

२—उपरोक्त चार प्रकारके सम्बन्धमें विचार।

(१) वीतराग आज्ञा विचार, साधकदशाका विचार, मैं वर्तमानमें आत्मशुद्धिकी जितनी भूमिका (कक्षा) मे वर्तता हूँ उसीका स्वसन्मुखतापूर्वक विचार करना सो आज्ञाविचय धर्मध्यान है।

(२) बाधकताका विचार—कितने अंशमें सरागता-कषायकण विद्यमान हैं? मेरी कमजोरी ही विघ्नरूप है, रागादि ही दुःखके कारण हैं, ऐसे भावकर्मरूप बाधकभावोंका विचार, अपायविचय है।

(३) द्रव्यकर्मके विपाकका विचार—जीवकी भूलरूप मलिनभावोंमें कर्मोंका निमित्तमात्ररूप सम्बन्धको जानकर स्वसन्मुखताके बलको सँभालना, जडकर्म किसीको लाभ-हानि करनेवाला नहीं है, ऐसा विचार विपाकविचय है।

(४) संस्थानविचय—मेरे शुद्धात्मद्रव्यका प्रगट निरावरण संस्थान आकार कैसे पुरुषार्थसे प्रगट हो, शुद्धोपयोगकी पूर्णता सहित, स्वभाव व्यंजनपर्यायका स्वयं, स्थिर, शुद्ध आकार कब प्रगट होगा, ऐसा विचार करना सो संस्थानविचय है।

३—प्रश्नः—छठवें गुणस्थानमें तो निर्विकल्पदशा नहीं होती तो वहाँ यह धर्मध्यान कैसे सम्भव हो सकता है?

उत्तरः—यह ठीक है कि छट्ठे गुणस्थानमें विकल्प होता है, परन्तु वहाँ उस विकल्पका स्वामित्व नहीं और सम्यग्दर्शनकी दृढ़ता होकर अशुभ राग दूर होता है, और तीन प्रकारके कषायरहित वीतरागदशा है अतएव उतने अंशमें वहाँ धर्मध्यान है और उससे संवर-निर्जरा होती है। चौथे और पाँचवें गुणस्थानमें भी धर्मध्यान होता है और उससे उस गुणस्थानके योग्य संवर-निर्जरा होती है। जो शुभभाव होता है वह तो बंधका कारण होता है, वह यथार्थ धर्मध्यान नहीं। अतः किसीको शुभराग द्वारा धर्म हो ऐसा नहीं है।

४–धर्मध्यानः—(धर्मका अर्थ है स्वभाव और ध्यानका अर्थ है एकाग्रता) अपने शुद्धस्वभावमें जो एकाग्रता है सो निश्चय धर्मध्यान है, जिसमें क्रियाकाण्डके सर्व आडंबरोंका त्याग है, ऐसी अन्तरंग क्रियाके आधाररूप जो आत्मा है उसे, मर्यादा रहित तीनों कालके कर्मोंकी उपाधि रहित निजस्वरूपसे जानता है वह ज्ञानकी विशेष परिणति या जिसमें आत्मा स्वाश्रयमें स्थिर होता है सो निश्चय धर्मध्यान है और यही संवर-निर्जराका कारण है।

जो व्यवहार धर्मध्यान है वह शुभभाव है; कर्मके चिन्तवनमें मन लगा रहे, यह तो शुभपरिणामरूप धर्मध्यान है। जो केवल शुभपरिणामसे मोक्ष मानते हैं उन्हें समझाया है कि शुभपरिणामसे अर्थात् व्यवहार धर्मध्यानसे मोक्ष नहीं होता। (देखो, समयसार गाथा २११ की टीका तथा भावार्थ) आगम (–शास्त्र) की आज्ञा क्या है—जो यह ज्ञानस्वरूप आत्मा ध्रुव-अचल-ज्ञानस्वरूपसे परिणमित प्रतिभासते है, वही मोक्षका हेतु है, कारण कि वह स्वयं भी मोक्षस्वरूप है; उसके अतिरिक्त जो कुछ है वह बन्धका हेतु है, कारण कि वह स्वयं भी बन्धस्वरूप है, इसलिये ज्ञानस्वरूप होनेका अर्थात् अनुभूति करनेकी ही आगममें आज्ञा (–फरमान) है। (समयसार गाथा १५३ कलश १०५) ॥ ३६ ॥

अब शुक्लध्यानके स्वामी बताते हैं

शुक्ले चाद्ये पूर्वविदः ॥ ३७ ॥

अर्थः—[शुक्ले चाद्ये] पहले दो प्रकारके शुक्लध्यान अर्थात् पृथक्त्ववितर्क और एकत्ववितर्क ये दो ध्यान भी [पूर्वविदः] पूर्वज्ञानधारी श्रुतकेवलीके होते हैं।

नोटः—इस सूत्रमें च शब्द है, वह यह बतलाता है कि श्रुतकेवलीके धर्मध्यान भी होता है।

टीका

शुक्लध्यानके ४ भेद ३९ वें सूत्रमें कहेंगे। शुक्लध्यानका प्रथम भेद आठवें गुणस्थानमें प्रारम्भ होकर क्षपकमें-दसवें और उपशामकमें ११ वें गुणस्थान तक रहता है। उनके निमित्तसे मोहनीयकर्मका क्षय या उपशम होता है। दूसरा भेद बारहवें गुणस्थानमें होता है, उसके निमित्तसे बाकीके घातिकर्म-अर्थात् ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तरायकर्मका क्षय होता है। ग्यारहवें गुणस्थानमें पहला भेद होता है।

२—इस सूत्रमें पूर्वधारी श्रुतकेवलीके शुक्लध्यान होना बताया है सो उत्सर्ग कथन है, इसमें अपवाद कथनका गौणरूपसे समावेश हो जाता है। अपवाद कथन यह है कि किसी

जीवके निश्चय स्वरूपाश्रित आठ प्रवचनमाताका सम्यग्ज्ञान हो तो वह पुरुषार्थ बढ़ाकर निजस्वरूपमें स्थिर होकर शुक्लध्यान प्रगट करता है, शिवभूति मुनि इसके दृष्टांत हैं। उनके विशेष शास्त्रज्ञान न था तथापि (हेय और उपादेयका निर्मल ज्ञान था,) निश्चयस्वरूपाश्रित सम्यग्ज्ञान था, और इसीसे पुरुषार्थ बढ़ाकर शुक्लध्यान प्रगट करके केवलज्ञान प्राप्त किया था। (तत्त्वार्थसार अध्याय ६ गाथा ४६ की टीका) ॥ ३७ ॥

शुक्लध्यानके चार भेदोंमेंसे पहले दो भेद किसके होते हैं यह बतलाया,

अब यह बतलाते हैं कि बाकीके दो भेद किसके होते हैं।

परे केवलिनः ॥ ३८ ॥

अर्थः—[परे] शुक्लध्यानके अन्तिम दो भेद अर्थात् सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति और व्युपरतक्रियानिवर्ति ये दो ध्यान [केवलिनः] केवलि भगवानके होते हैं।

टीका

तेरहवें गुणस्थानके अंतिम भागमें शुक्लध्यानका तीसरा भेद होता है, उसके बाद चौथा भेद चौदहवें गुणस्थानमें प्रगट होता है ॥ ३८ ॥

शुक्लध्यानके चार भेद

पृथक्त्वैकत्ववितर्कसूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिव्युपरतक्रियानिवर्तीनि ॥ ३९ ॥

अर्थः—[पृथक्त्वैकत्ववितर्कसूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिव्युपरतक्रियानिवर्तीनि] पृथक्त्ववितर्क, एकत्ववितर्क, सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति और व्युपरतक्रियानिवर्ति ये शुक्लध्यानके चार भेद हैं ॥ ३९ ॥

अब योगकी अपेक्षासे शुक्लध्यानके स्वामी बतलाते हैं।

त्र्येकयोगकाययोगायोगानाम् ॥ ४० ॥

अर्थः—[त्र्येकयोगकाययोगायोगानाम्] ऊपर कहे गये चार प्रकारके शुक्लध्यान अनुक्रमसे तीन योगवाले, एक योगवाले, मात्र काययोगवाले और अयोगी जीवोंके होते हैं।

टीका

१—पहला पृथक्त्ववितर्कध्यान मन, वचन और काय इन तीन योगोंके धारण करनेवाले जीवोंके होता है। (गुणस्थान ८ से ११)

दूसरा एकत्ववितर्कध्यान तीनमेंसे किसी एक योगके धारकके होता है। (१२वें गुणस्थानमें होता है)।

तीसरा सूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिध्यान मात्र काययोगके धारण करनेवालेके होता है। (१३वें गुणस्थानके अन्तिम भाग मे)।

चौथा व्युपरतक्रियानिवर्तिध्यान योगरहित-अयोगी जीवोंके होता है। (चौदहवें गुणस्थानमें होता है)।

२—केवलीके मनोयोग सम्बन्धी स्पष्टीकरण

(१) केवली भगवानके अतीन्द्रियज्ञान होता है, इसका यह मतलब नहीं है कि उनके द्रव्यमन नहीं है। उनके द्रव्यमनका सद्भाव है किन्तु उनके मन-निमित्तक ज्ञान नहीं है। क्योंकि मानसिकज्ञान तो क्षायोपशमरूप है और केवली भगवानके क्षायिकज्ञान है अतः उसका अभाव है।

(२) मनोयोग चार प्रकारका है (१) सत्य मनोयोग (२) असत्य मनोयोग (३) उभय मनोयोग और (४) अनुभय मनोयोग। इस चौथे अनुभय मनोयोगमें सत्य और असत्य दोनों नहीं होते। केवली भगवानके इन चारमेंसे पहला और चौथा मनोयोग वचनके निमित्तसे उपचारसे कहा जाता है।

३. प्रश्नः—यह तो ठीक है कि केवलीके सत्यमनोयोगका सद्भाव है, किन्तु उनके पदार्थोंका यथार्थ ज्ञान है और संशय तथा अनध्यवसायरूप ज्ञानका अभाव है इसलिये उनके अनुभय अर्थात् असत्यमृषामनोयोग कैसे संभव होता है?

उत्तरः—संशय और अनध्यवसायका कारणरूप जो वचन है उसका निमित्तकारण मन होता है, इसलिये उसमे श्रोताके उपचारसे अनुभयधर्म रह सकता है, अतः सयोगी-जिनके अनुभय मनोयोगका उपचारसे सद्भाव कहा जाता है। इसप्रकार सयोगी-जिनके अनुभय-मनोयोग स्वीकार करनेमें कोई विरोध नहीं है। केवलीके ज्ञानके विषयभूत पदार्थ अनन्त होनेसे, और श्रोताके आवरण कर्मका क्षयोपशम अतिशयरहित होनेसे केवलीके वचनोंके निमित्तसे संशय और अनध्यवसायकी उत्पत्ति हो सकती है, इसलिए उपचारसे अनुभय मनोयोगका सद्भाव कहा जाता है।

(श्री धवला पु० १ पृष्ठ २८२ से २८४ तथा ३०८)

३-केवलीके दो प्रकारका वचन-योग

केवली भगवानके क्षायोपशमिकज्ञान (भावमन) नहीं है तथापि उनके सत्य और अनुभय दो प्रकारके मनोयोगकी उत्पत्ति कही जाती है वह उपचारसे कही जाती है। उपचारसे मन द्वारा इन दोनों प्रकारके वचनोंकी उत्पत्तिका विधान किया गया है। जिस तरह दो प्रकारका मनोयोग कहा गया है उसीप्रकार दो प्रकारका वचन-योग भी कहा गया है, वह भी उपचारसे है क्योंकि केवली भगवानके बोलनेकी इच्छा नहीं है, सहजरूपसे दिव्यध्वनि है।
(श्री धवला पुस्तक १ पृष्ठ २८३ तथा ३०८)

४—क्षपक तथा उपशमक जीवोंके चार मनोयोग किस तरह हैं ?

शंकाः—क्षपक (—क्षपकश्रेणीवाले) और उपशमक (उपशमश्रेणीवाले) जीवोंके भले ही सत्यमनोयोग और अनुभय मनोयोगका सद्भाव हो किन्तु बाकीके दो-असत्यमनोयोग और उभयमनोयोगका सद्भाव किस तरह है ? क्योंकि इन दोनोंमें रहनेवाला जो अप्रमाद है वो असत्य और उभयमनोयोगके कारणभूत प्रमादका विरोधी है अर्थात् क्षपक और उपशमक प्रमाद रहित होता है, इसलिये उसके असत्यमनोयोग और उभयमनोयोग किस तरह होते हैं ?

समाधानः-आवरणकर्मयुक्त जीवोंके विपर्यय और अनध्यवसायरूप अज्ञानके कारण-भूत मनका सद्भाव माननेमें और उससे असत्य तथा उभय मनोयोग माननेमें कोई विरोध नहीं, परन्तु इस कारणसे क्षपक और उपशमक जीव प्रमत्त नहीं माने जा सकते, क्योंकि प्रमाद मोहकी पर्याय है। (श्री धवला पु० १ पृष्ठ २८५-२८६)

नोटः—ऐसा माननेमें दोष है कि समनस्क (—मनसहित) जीवोंके ज्ञानकी उत्पत्ति मनोयोगसे होती है। क्योंकि ऐसा माननेमें केवलज्ञानसे व्यभिचार आता है। किन्तु यह बात सत्य है कि समनस्क जीवोंके क्षायोपशमिक ज्ञान होता है और उसमें मनोयोग निमित्त है। और यह माननेमें भी दोष है कि-समस्त वचन होनेमें मन निमित्त है, क्योंकि ऐसा माननेसे केवली भगवानके मनके निमित्तका अभाव होनेसे उनके वचनका अभाव हो जायगा।
(श्री धवला पु० १ पृष्ठ २८७-२८८)

५–क्षपक और उपशमक जीवोंके वचनयोग सम्बन्धी स्पष्टीकरण

शंकाः—जिनके कषाय क्षीण हो गई है ऐसे जीवोंके असत्य वचनयोग कैसे हो सकता है ?

समाधानः-असत्यवचनका कारण अज्ञान है और वह बारहवें गुणस्थान तक होता

है, इस अपेक्षासे बारहवें गुणस्थान तक असत्य-वचनका सद्भाव होता है; और इसलिये इसमें भी कोई विरोध नहीं है कि उभयसंयोगज सत्यमृषावचन भी बारहवें गुणस्थान तक होता है।

शंका:—वचनगुप्तिका पूर्णरीतिसे पालन करनेवाले कपायरहित जीवोंके वचनयोग कैसे संभव होता है ?

समाधान:— कपायरहित जीवोंमें अन्तर्जल्प होनेमें कोई विरोध नहीं है ॥

(श्री धवला पुस्तक १ पृष्ठ २८६) ॥ ४० ॥

शुक्लध्यानके पहले दो भेदोंकी विशेषता बतलाते हैं

एकाश्रये सवितर्कवीचारे पूर्वे ॥४१॥

अर्थ:—[**एकाश्रये**] एक (-परिपूर्ण) श्रुतज्ञानीके आश्रयसे रहनेवाले [**पूर्वे**] शुक्लध्यानके पहले दो भेद [**सवितर्कवीचारे**] वितर्क और वीचार सहित हैं, परन्तु—

अवीचारं द्वितीयम् ॥४२॥

अर्थ:—[**द्वितीयम्**] ऊपर कहे गये शुक्लध्यानोंमेंसे दूसरा शुक्लध्यान [**अवीचारं**] वीचारसे रहित है, किन्तु सवितर्क होता है।

टीका

१—४२ वाँ सूत्र ४१ वें सूत्रका अपवादरूप है, अर्थात् शुक्लध्यानका दूसरा भेद वीचार रहित है। जिसमें वितर्क और वीचार दोनों हों वह पहला पृथक्त्ववितर्क शुक्लध्यान है और जो वीचार रहित तथा वितर्क सहित मणिके दीपककी तरह अचल है सो दूसरा एकत्ववितर्क शुक्लध्यान है; इसमें अर्थ, वचन और योगका पलटना दूर हुआ होता है अर्थात् वह संक्रांति रहित है। वितर्ककी व्याख्या ४३ वें और वीचारकी व्याख्या ४४ वें सूत्रमें आवेगी।

२—जो ध्यान सूक्ष्म काययोगके अवलंबनसे होता है उसे सूक्ष्म क्रियाप्रतिपाति (तृतीय) शुक्लध्यान कहते हैं; और जिसमें आत्मप्रदेशोंमें परिस्पंद और श्वासोच्छ्वासादि समस्त क्रियायें निवृत्त हो जाती हैं उसे व्युपरतक्रियानिवर्ति (चौथा) शुक्लध्यान कहते हैं। ॥ ४१-४२ ॥

वितर्कका लक्षण

वितर्कः श्रुतम् ॥ ४३ ॥

अर्थ—[**श्रुतम्**] श्रुतज्ञानको [**वितर्कः**] वितर्क कहते हैं।

नोटः—'श्रुतज्ञान' शब्द-श्रवणपूर्वक ज्ञानका ग्रहण बतलाता है। मतिज्ञानके भेदरूप चिंताको भी तर्क कहते हैं, वह यहाँ ग्रहण नहीं करना ॥ ४३ ॥

वीचारका लक्षण

वीचारोऽर्थव्यंजनयोगसंक्रान्तिः ॥४४॥

अर्थः—[अर्थव्यंजनयोगसंक्रान्तिः] अर्थ, व्यंजन और योगका बदलना सो [वीचारः] वीचार है।

टीका

अर्थसंक्रान्तिः— अर्थका तात्पर्य है ध्यान करने योग्य पदार्थ और संक्रान्तिका अर्थ बदलना है। ध्यान करने योग्य पदार्थमें द्रव्यको छोड़कर उसकी पर्यायका ध्यान करे अथवा पर्यायको छोड़कर द्रव्यका ध्यान करे सो अर्थसंक्रान्ति है।

व्यंजनसंक्रान्तिः—व्यंजनका अर्थ वचन और संक्रांतिका अर्थ बदलना है। श्रुतके किसी एक वचनको छोड़कर अन्यका अवलम्बन करना तथा उसे छोड़कर किसी अन्यका अवलम्बन करना तथा उसे छोड़कर किसी अन्यका अवलम्बन करना सो व्यंजनसंक्रान्ति है।

योगसंक्रान्तिः—काययोगको छोड़कर मनोयोग या वचनयोगको ग्रहण करना और उसे छोड़कर अन्य योगको ग्रहण करना सो योगसंक्रान्ति है।

यह ध्यान रहे कि जिस जीवके शुक्लध्यान होता है वह जीव निर्विकल्प दशामें ही है, इसीलिये उसे इस संक्रान्तिकी खबर नहीं है, किन्तु उस दशामें ऐसी पलटना होती है अर्थात् संक्रान्ति होती है वह केवलज्ञानी जानता है।

ऊपर कही गई संक्रान्ति—परिवर्तनको वीचार कहते हैं। जहाँ तक यह वीचार रहता है वहाँ तक इस ध्यानको सवीचार (अर्थात् पहला पृथक्त्ववितर्क) कहते हैं। पश्चात् ध्यानमें दृढ़ता होती है तब यह परिवर्तन रुक जाता है, इस ध्यानको अवीचार (अर्थात् दूसरा एकत्ववितर्क कहते हैं।

प्रश्नः—क्या केवली भगवानके ध्यान होता है ?

उत्तरः—'एकाग्रचिंतानिरोध' यह ध्यानका लक्षण है। एक-एक पदार्थका चिंतवन तो क्षायोपशमिक ज्ञानीके होता है और केवली भगवानके तो एक साथ सम्पूर्ण पदार्थोंका ज्ञान प्रत्यक्ष रहता है। ऐसा कोई पदार्थ अवशिष्ट नहीं रहा कि जिसका वे ध्यान करें। केवली भगवान कृतकृत्य हैं, उन्हें कुछ करना बाकी नहीं रहा, अतएव उनके वास्तवमें ध्यान

नही है। तथापि आयु पूर्ण होने पर तथा अन्य तीन कर्मोंकी स्थिति पूर्ण होने पर योगका निरोध और कर्मोंकी निर्जरा स्वयमेव होती है और ध्यानका कार्य भी योगका निरोध और कर्मोंकी निर्जरा होना है; इसीलिये केवली भगवानके ध्यानके सदृश कार्य देखकर—उपचारसे उनके शुक्लध्यान कहा जाता है, यथार्थमें उनके ध्यान नही है ("भगवान परम सुखको ध्याते हैं" ऐसा प्रवचनसार गाथा १९८में कहा है; वहाँ उनकी पूर्ण अनुभवदशा दिखाना है) ॥४४॥

यहाँ ध्यान तपका वर्णन पूर्ण हुआ।

इस नववें अध्यायके पहले अठारह सूत्रोंमें संवर और उसके कारणोंका वर्णन किया। उसके बाद निर्जरा और उसके कारणोंका वर्णन प्रारम्भ किया। वीतरागभावरूप तपसे निर्जरा होती है ('तपसा निर्जरा च' सूत्र-३) उसे भेद द्वारा समझानेके लिये तपके बारह भेद बतलाये, इसके बाद छह प्रकारके अन्तरंग तपके उपभेदोंका यहाँ तक वर्णन किया।

व्रत, गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय, बारह प्रकारके तप आदि सम्बन्धी खास ध्यानमें रखने योग्य स्पष्टीकरण

१—कितने ही जीव सिर्फ व्यवहारनयका अवलम्बन करते हैं, उनके परद्रव्यरूप भिन्न साधनसाध्यभावकी दृष्टि है, इसलिये वे व्यवहारमें ही खेद-खिन्न रहते है। वे निम्नलिखित अनुसार होते हैं—

श्रद्धाके सम्बन्धमें:—धर्मद्रव्यादि-परद्रव्योंकी श्रद्धा करते हैं।

ज्ञानके सम्बन्धमें:—द्रव्यश्रुतके पठन-पाठनादि संस्कारोंसे अनेक प्रकारके विकल्प-जालसे कलंकित चैतन्यवृत्तिको धारण करते हैं।

चारित्रके सम्बन्धमें—यतिके समस्त व्रत समुदायरूप तपादि-प्रवृत्तिरूप कर्मकाण्डोंको अचलितरूपसे आचरते हैं, इसमें किसी समय पुण्यकी रुचि करते है, कभी दयावन्त होते हैं।

दर्शनाचारके सम्बन्धमें:—किसी समय प्रशमता, किसी समय वैराग्य, किसी समय अनुकम्पा-दया और किसी समय आस्तिक्यमें वर्तते हैं, तथा शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, मूढदृष्टि आदि भाव उत्पन्न न हों ऐसी शुभोपयोगरूप सावधानी रखते हैं; मात्र व्यवहार-नयरूप उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य, प्रभावना इन अंगोंकी भावना विचारते हैं और इस सम्बन्धी उत्साह बार-बार बढाते हैं।

ज्ञानाचारके सम्बन्धमें:—स्वाध्यायका काल विचारते हैं, अनेक प्रकारकी विनयमें प्रवृत्ति करते हैं, शास्त्रकी भक्तिके लिये दुर्धर उपधान करते हैं—आरम्भ करते हैं, शास्त्रका

भले प्रकारसे बहुमान करते हैं, गुरु आदिमें उपकार प्रवृत्तिको नहीं भूलते, अर्थ-व्यंजन और इन दोनोंकी शुद्धतामें सावधान रहते हैं।

चारित्राचारके सम्बन्धमें.—हिंसा, झूठ, चोरी, स्त्री-सेवन और परिग्रह इन सबसे विरतिरूप पंचमहाव्रतमें स्थिर वृत्ति धारण करते हैं, योग (मन-वचन-काय) के निग्रहरूप गुप्तियोंके अवलम्बनका उद्योग करते हैं, ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेपण और उत्सर्ग इन पाँच समितियोंमें सर्वथा प्रयत्नवन्त रहते हैं।

तपाचारके सम्बन्धमें:—अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्त-शय्यासन और कायक्लेशमें निरन्तर उत्साह रखते हैं, प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, और ध्यानके लिये चित्तको वशमें करते हैं।

वीर्याचारके सम्बन्धमें:—कर्मकांडमें सर्वशक्तिपूर्वक वर्तते हैं।

ये जीव उपरोक्त प्रकारसे कर्मचेतनाकी प्रधानतापूर्वक अशुभभावकी प्रवृत्ति छोड़ते हैं, किन्तु शुभभावकी प्रवृत्तिको आदरने योग्य मानकर अंगीकार करते हैं, इसलिये सम्पूर्ण क्रियाकांडके आडम्बरसे अतिक्रांत दर्शन-ज्ञान-चारित्रकी ऐक्यपरिणतिरूप ज्ञानचेतनाको वे किसी भी समय प्राप्त नहीं होते।

वे बहुत पुण्यके भारसे मंथर (-मन्द, सुस्त) हुई चित्तवृत्तिवाले वर्तते हैं, इसीलिये स्वर्गलोकादिके क्लेश प्राप्त करके परम्परासे दीर्घकाल तक संसार-सागरमें परिभ्रमण करते हैं। (देखो, पंचास्तिकाय गाथा १७२ की टीका)

वास्तवमें तो शुद्धभाव ही संवर-निर्जरारूप है। यदि शुभभाव यथार्थमें संवर निर्जरा-का कारण हो तो केवल व्यवहारावलम्बीके समस्त प्रकारका निरतिचार व्यवहार है, इसलिये उसके शुद्धता प्रगट होनी चाहिये। परन्तु राग संवर-निर्जराका कारण ही नहीं है। अज्ञानी शुभभावको धर्म मानता है इस वजहसे तथा शुभ करते-करते धर्म होगा ऐसा माननेसे और शुभ-अशुभ दोनों दूर करने पर धर्म होगा ऐसा नहीं माननेसे उसका समस्त व्यवहार निरर्थक है, इसीलिये उसे व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि कहा जाता है।

भव्य तथा अभव्य जीवोंने ऐसा व्यवहार (जो वास्तवमें व्यवहाराभास है) अनन्तवार किया है और इसके फलसे अनन्तवार नववें ग्रैवेयक स्वर्ग तक गया है, किन्तु इससे धर्म नहीं हुआ। धर्म तो शुद्ध निश्चयस्वभावके आश्रयसे होनेवाले सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रसे ही होता है।

श्री समयसारमें कहा है कि—

वदसमिदीगुत्तीओ सीलतवं जिणवरेहिं पण्णत्तं ।
कुव्वंतो वि अभव्वो अण्णाणी मिच्छदिट्ठी दु ॥

अर्थः—जिनेन्द्र भगवान द्वारा कहे गये व्रत, समिति, गुप्ति, शील, तप करने पर भी अभव्य जीव अज्ञानी और मिथ्यादृष्टि है ।

टीकाः—यद्यपि अभव्य जीव शील और तपसे परिपूर्ण तीन गुप्ति और पाँच समितियोंके प्रति सावधानीसे वर्तता हुआ अहिंसादि पाँच महाव्रतरूप व्यवहार-चारित्र करता है तथापि वह निश्चारित्र (चारित्ररहित) अज्ञानी और मिथ्यादृष्टि ही है, क्योंकि निश्चयचारित्रके कारणरूप ज्ञान-श्रद्धानसे शून्य है—रहित है ।

भावार्थः—अभव्य जीव यद्यपि महाव्रत, समिति, गुप्तिरूप चारित्रका पालन करते हैं तथापि निश्चय सम्यग्ज्ञान-श्रद्धाके बिना वह चारित्र सम्यक्-चारित्र नाम नही पाता; इसलिये वह अज्ञानी, मिथ्यादृष्टि और निश्चारित्र ही है ।

नोटः—यहाँ अभव्य जीवका उदाहरण दिया है, किन्तु यह सिद्धान्त व्यवहारके आश्रयसे हित माननेवाले समस्त जीवोंके एक सरीखा लागू होता है ।

३—जो शुद्धात्माका अनुभव है सो यथार्थ मोक्षमार्ग है । इसलिये उसके निश्चय कहा है । व्रत, तपादि कोई सच्चे मोक्षमार्ग नही, किन्तु निमित्तादिककी अपेक्षासे उपचारसे उसे मोक्षमार्ग कहा है, इसलिये इसे व्यवहार कहते हैं । इसप्रकार यह जानना कि भूतार्थ मोक्षमार्गके द्वारा निश्चयनय और अभूतार्थ मोक्षमार्गके द्वारा व्यवहारनय कहा है । किन्तु इन दोनोंको ही यथार्थ मोक्षमार्ग जानकर उसे उपादेय मानना सो तो मिथ्याबुद्धि ही है ।

(देखो, आधुनिक हिन्दी मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ २४९–२५०)

४—किसी भी जीवके निश्चय-व्यवहारका स्वरूप समझे बिना धर्म या संवर-निर्जरा नही होती । शुद्ध आत्माका यथार्थ स्वरूप समझे बिना निश्चय-व्यवहारका यथार्थ स्वरूप समझमें नही आता; इसलिये पहले आत्माका यथार्थ स्वरूप समझनेकी आवश्यकता है ।

अब पात्रकी अपेक्षासे निर्जरामें होनेवाली न्यूनाधिकता बतलाते हैं

सम्यग्दृष्टिश्रावकविरतानन्तवियोजकदर्शनमोहक्षपकोपशमकोपशान्त-मोहक्षपकक्षीणमोहजिनाः क्रमशोऽसंख्येयगुणनिर्जराः ॥ ४५ ॥

अर्थः— [सम्यग्दृष्टिश्रावकविरतानन्तवियोजकदर्शनमोहक्षपकोपशमकोपशांतमोह-

क्षपकक्षीणमोहजिनाः] सम्यग्दृष्टि, पंचमगुणस्थानवर्ती श्रावक, विरत-मुनि, अनन्तानुबन्धीका विसंयोजन करनेवाला, दर्शनमोहका क्षय करनेवाला, उपशमश्रेणी मांडनेवाला, उपशांतमोह, क्षपकश्रेणी मांडनेवाला, क्षीणमोह और जिन—इन सबके (अन्तर्मुहूर्तपर्यन्त परिणामोंकी विशुद्धताकी अधिकतासे आयुकर्मको छोड़कर) प्रति समय [क्रमशः असंख्येयगुणनिर्जरा] क्रमसे असंख्यातगुणी निर्जरा होती है ।

टीका

(१) यहाँ पहले सम्यग्दृष्टिकी—चौथे गुणस्थानकी दशा बतलायी है । जो असंख्यातगुणी निर्जरा कही है वह निर्जरा सम्यग्दर्शन प्राप्त होनेसे पहले की एकदम समीप की (अत्यन्त निकटकी) आत्माकी दशामें होनेवाली निर्जरासे असंख्यात गुणी जानना । प्रथमोपशम-सम्यक्त्वकी उत्पत्तिके पहले तीन करण होते हैं, उनमें अनिवृत्तिकरणके अन्त समयमें वर्तनेवाली विशुद्धतासे विशुद्ध, जो सम्यक्त्वके सन्मुख मिथ्यादृष्टि है उसके आयुको छोड़कर सात कर्मोंकी जो निर्जरा होती है, उससे असंख्यातगुणी निर्जरा असंयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान प्राप्त करने पर अन्तर्मुहूर्तपर्यन्त प्रतिसमय (निर्जरा) होती है अर्थात् सम्यक्त्वके सन्मुख मिथ्यादृष्टिकी निर्जरासे सम्यग्दृष्टिके गुणश्रेणी निर्जरामें असंख्यगुणा द्रव्य है । यह चौथे गुणस्थानवाले अविरत-सम्यग्दृष्टि की निर्जरा है ।

(२) जब यह जीव पाँचवाँ गुणस्थान—श्रावकदशा प्रगट करता है तब अन्तर्मुहूर्तपर्यंत निर्जरा होने योग्य कर्मपुद्गलरूप गुणश्रेणी निर्जराद्रव्य चौथे गुणस्थानसे असंख्यातगुणा है ।

(३) पाँचवेंसे जब सकलसंयमरूप अप्रमत्तसंयत (—सातवाँ) गुणस्थान प्रगट करे तब पंचमगुणस्थानसे असंख्यातगुणी निर्जरा होती है । पाँचवेंके बाद पहले सातवाँ गुणस्थान प्रगट होता है और फिर विकल्प उठने पर छट्ठा प्रमत्त गुणस्थान होता है । सूत्रमें 'विरत' शब्द कहा है, इसमें सातवें और छट्ठे दोनों गुणस्थानवाले जीवोंका समावेश होता है ।

(४) तीन करणके प्रभावसे चार अनन्तानुबन्धी कषायको, बारह कषाय तथा नव नोकषायरूप परिणमा दे, उन जीवोंके अन्तर्मुहूर्तपर्यन्त प्रतिसमय असंख्यातगुणी द्रव्य-निर्जरा होती है । अनन्तानुबन्धीका यह विसंयोजन चौथे, पाँचवें, छट्ठे और सातवें, इन चार गुण-स्थानोंमें होता है ।

(५) अनन्तवियोजकसे असंख्यातगुणी निर्जरा दर्शनमोहके क्षपकके (उस जीवके) होती है । पहले अनन्तानुबन्धीका विसंयोजन करनेके बाद दर्शनमोहके त्रिकका क्षय करे ऐसा क्रम है ।

(६) दर्शनमोहका क्षपण करनेवालेसे 'उपशमक' के असंख्यातगुणी निर्जरा होती है।

प्रश्नः—उपशमकी वात दर्शनमोहके क्षपण करनेवालेके वाद क्यों कही ?

उत्तरः—क्षपकका अर्थ क्षायिक होता है। यहां क्षायिक सम्यक्त्वकी वात है; और 'उपशमक' कहनेसे द्वितीयोपशम सम्यक्त्वयुक्त उपशमश्रेणीवाले जीव समझना। क्षायिक सम्यग्दृष्टिसे उपशमश्रेणीवालेके असंख्यातगुणी निर्जरा होती है, इसीलिये पहले क्षपककी वात की है और उसके वाद उपशमककी वात की है। क्षायिक सम्यग्दर्शन चौथे, पांचवें, छट्ठे और सातवें गुणस्थानमें प्रगट होता है, और जो जीव चारित्रमोहका उपशम करनेको उद्यमी हुए हैं उनके आठवां, नववां और दसवां गुणस्थान होता है।

(७) उपशमक जीवकी निर्जरासे ग्यारहवें उपशान्तमोह गुणस्थानमें असंख्यातगुणी निर्जरा होती है।

(८) उपशान्तमोहवाले जीवकी अपेक्षा क्षपकश्रेणीवालेके असंख्यातगुणी निर्जरा होती है। इस जीवके आठवां, नववां और दसवां गुणस्थान होता है।

(९) क्षपकश्रेणीवाले जीवकी अपेक्षा वारहवें क्षीणमोह गुणस्थानमें असंख्यातगुणी निर्जरा होती है।

(१०) वारहवें गुणस्थानकी अपेक्षा 'जिन' के (तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानमें) असंख्यातगुणी निर्जरा होती है। जिनके तीन भेद हैं (१) स्वस्थान केवली, (२) समुद्घात केवली और (३) अयोग केवली। इन तीनोंमें भी विशुद्धताके कारण उत्तरोत्तर असंख्यात-गुणी निर्जरा है। अत्यन्त विशुद्धताके कारण समुद्घात केवलीके नाम, गोत्र और वेदनीय कर्मकी स्थिति आयुकर्मके समान हो जाती है।

इस सूत्रका सिद्धान्त

इस सूत्रमें निर्जराके लिये प्रथम पात्र सम्यग्दृष्टि वतलाया गया है, इसीसे यह सिद्ध होता है कि सम्यग्दर्शनसे ही धर्मका प्रारम्भ होता है ॥४५॥

अब निर्ग्रंथ साधुके भेद बतलाते हैं

पुलाकबकुशकुशीलनिर्ग्रंथस्नातकाः निर्ग्रंथाः ॥४६॥

अर्थ—[पुलाकबकुशकुशीलनिर्ग्रंथस्नातकाः] पुलाक, बकुश, कुशील, निर्ग्रंथ और स्नातक–ये पांच प्रकारके [निर्ग्रंथाः] निर्ग्रंथ हैं।

टीका

१–सूत्रमें आये हुये शब्दोंकी व्याख्या

(१) पुलाकः—जो उत्तरगुणोंकी भावना से रहित हो और किसी क्षेत्र तथा कालमें किसी मूलगुणमें भी अतीचार लगावे तथा जिसके अल्प विशुद्धता हो उसे पुलाक कहते हैं। (विशेष कथन सूत्र ४७ प्रतिसेवनाका अर्थ।)

(२) बकुशः—जो मूलगुणोंका निर्दोष पालन करता है किन्तु धर्मानुरागके कारण शरीर तथा उपकरणोंकी शोभा बढ़ानेके लिये कुछ इच्छा रखता है उसे बकुश कहते हैं।

(३) कुशीलः—इसके दो भेद हैं १-प्रतिसेवना कुशील और (२) कषाय कुशील। जिसके शरीरादि तथा उपकरणादिसे पूर्ण विरक्तता न हो और मूलगुण तथा उत्तरगुणोंकी परिपूर्णता हो परन्तु उत्तरगुणमें क्वचित् कदाचित् विराधना होती हो उसे प्रतिसेवना कुशील कहते हैं। और जिसने संज्वलनके सिवाय अन्य कषायोंको जीत लिया हो उसे कषाय कुशील कहते हैं।

(४) निर्ग्रन्थः—जिनके मोहकर्म क्षीण हो गया है तथा जिनके मोहकर्मके उदयका अभाव है ऐसे ग्यारहवें तथा बारहवें गुणस्थानवर्ती मुनिको निर्ग्रंथ कहते हैं।

(५) स्नातकः समस्त घातिया कर्मोंके नाश करनेवाले केवली भगवानको स्नातक कहते हैं। (इसमें तेरहवां तथा चौदहवां दोनों गुणस्थान समझना)

२–परमार्थ-निर्ग्रन्थ और व्यवहार-निर्ग्रन्थ

बारहवें, तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानमें विराजनेवाले जीव परमार्थ निर्ग्रंथ हैं, क्योंकि उनके समस्त मोहका नाश होगया है, इन्हें निश्चयनिर्ग्रंथ कहते हैं। अन्य साधु यद्यपि यद्यपि सम्यग्दर्शन और निष्परिग्रहत्वको लेकर निर्ग्रंथ हैं अर्थात् वे मिथ्यादर्शन और अविरति रहित हैं तथा वस्त्र, आभरण, हथियार, कटक, धन, धान्य आदि परिग्रहसे रहित होनेसे निर्ग्रंथ हैं तथापि उनके मोहनीय कर्मका आंशिक सद्भाव है इसीलिये वे व्यवहार-निर्ग्रंथ हैं।

कुछ स्पष्टीकरण

(१) प्रश्नः—यद्यपि पुलाक मुनिके क्षेत्र, कालके वश किसी समय किसी एक व्रतका भंग होता है तथापि उसे निर्ग्रंथ कहा, तो क्या श्रावकके भी निर्ग्रंथत्व कहनेका प्रसंग आवेगा ?

उत्तरः—पुलाक मुनि सम्यग्दृष्टि है और परवशसे या जबरदस्तीसे व्रतमें क्षणिक दोष हो जाता है किन्तु यथाजातरूप है, इसीलिये नैगमनयसे वह निर्ग्रंथ है। श्रावकके यथाजातरूप (नग्नता) नहीं है, इसीलिये उसके निर्ग्रन्थत्व नहीं कहलाता। [उद्देशिक और अधःकर्मके आहार-जलको जानते हुए भी लेते हैं उसकी गणना पुलाकादि किसी भेदमें नहीं है।]

(२) प्रश्न—पुलाक मुनिको यदि यथाजात रूपको लेकर ही निर्ग्रंथ कहोगे तो अनेक मिथ्यादृष्टि भी नग्न रहते हैं, उनको भी निर्ग्रंथ कहनेका प्रसंग आवेगा।

उत्तरः—उनके सम्यग्दर्शन नहीं है। मात्र नग्नत्व तो पागलके, बालकके तथा तिर्यंचोंके भी होता है, परन्तु इसीलिये उन्हे निर्ग्रंथ नहीं कहते। किन्तु जो निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-पूर्वक संसार और देह, भोगसे विरक्त होकर नग्नत्व धारण करता है, चारित्र-मोहकी तीन जातिके कषायका अभाव किये है उसे निर्ग्रंथ कहा जाता है, दूसरेको नहीं ॥४६॥

पुलाकादि मुनियोंमें विशेषता

संयमश्रुतप्रतिसेवनातीर्थलिंगलेश्योपपादस्थानविकल्पतः साध्याः ॥४७॥

अर्थः—उपरोक्त मुनि [**संयमश्रुतप्रतिसेवनातीर्थलिंगलेश्योपपादस्थानविकल्पतः**] संयम, श्रुत, प्रतिसेवना, तीर्थ, लिङ्ग, लेश्या, उपपाद और स्थान इन आठ अनुयोगों द्वारा [**साध्याः**] भेदरूपसे साध्य हैं, अर्थात् इन आठ प्रकारसे इन पुलाकादि मुनियोंमें विशेष भेद होते है।

टीका

(१) संयमः—पुलाक, बकुश और प्रतिसेवना कुशील साधुके सामायिक और छेदोपस्थापन ये दो संयम होते हैं। कषाय कुशील साधुके सामायिक, छेदोपस्थापन, परिहार-विशुद्धि और सूक्ष्मसांपराय, ये चार संयम होते हैं। निर्ग्रन्थ और स्नातकके यथाख्यातचारित्र होता है।

(२) श्रुतः—पुलाक, बकुश और प्रतिसेवना कुशील साधु ज्यादासे ज्यादा सम्पूर्ण दस पूर्वधारी होते हैं। पुलाकके जघन्य आचारांगमें आचार वस्तुका ज्ञान होता है और बकुश तथा प्रतिसेवना कुशीलके जघन्य अष्टप्रवचन माताका ज्ञान होता है अर्थात् आचारांगके १८००० पदोंमेंसे पांच समिति और तीन गुप्तिका परमार्थ व्याख्यान तक इन साधुओंका ज्ञान होता है; कषाय कुशील और निर्ग्रंथके उत्कृष्ट ज्ञान चौदह पूर्वका होता है और जघन्य-ज्ञान आठ प्रवचन माताका होता है। स्नातक तो केवलज्ञानी हैं, इसलिये वे श्रुतज्ञानसे दूर

हैं। [अष्ट प्रवचन माता—तीन गुप्ति, पाँच समिति]

(३) प्रतिसेवनाः—(—विराधना) पुलाकमुनिके परवशसे या जबर्दस्तीसे पाँच महाव्रत और रात्रिभोजनका त्याग इन छहोंमेंसे किसी एककी विराधना हो जाती है। महाव्रतोंमें तथा रात्रिभोजन-त्यागमें कृत, कारित, अनुमोदनासे पाँचों पापोंका त्याग है, उनमेंसे किसी प्रकारमें सामर्थ्यकी हीनतासे दूषण लगता है। उपकरण—बकुश मुनिके कमंडल पीछी, पुस्तकादि उपकरणकी शोभाकी अभिलाषाके संस्काररूप सेवन होता है, सो विराधना जानना। तथा बकुशमुनिके शरीरके सत्काररूप विराधना होती है, प्रतिसेवनाकुशील मुनि पाँच महाव्रतकी विराधना नहीं करता किन्तु उत्तरगुणमें किसी एककी विराधना करता है। कषायकुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातकके विराधना नहीं होती।

(४) तीर्थः—ये पुलाकादि पाँचों प्रकारके निर्ग्रंथ समस्त तीर्थंकरोंके धर्मशासनमें होते हैं।

(५) लिंगः—इसके दो भेद हैं १—द्रव्यलिंग और २-भावलिंग। पाँचों प्रकारके निर्ग्रंथ भावलिंगी होते हैं। वे सम्यग्दर्शन सहित संयम पालनेमें सावधान हैं। भावलिंगका द्रव्यलिंगके साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। यथाजातरूप लिंगमें किसीके भेद नहीं है किन्तु प्रवृत्तिरूप लिंगमें अन्तर होता है, जैसे कोई आहार करता है, कोई अनशनादि तप करता है, कोई उपदेश करता है, कोई अध्ययन करता है, कोई तीर्थमें विहार करता है, कोई अनेक आसनरूप ध्यान करता है, कोई दूषण लगा हो तो उसका प्रायश्चित्त लेता है, कोई दूषण नहीं लगाता, कोई आचार्य है, कोई उपाध्याय है, कोई प्रवर्तक है, कोई निर्यापक है, कोई वैयावृत्य करता है, कोई ध्यानमें श्रेणीका प्रारम्भ करता है, इत्यादि राग (-विकल्प) रूप द्रव्यलिंगमें मुनिगणके भेद होता है। मुनिके शुभभावको द्रव्यलिंग कहते हैं। इसके अनेक भेद हैं, इन प्रकारोंसे द्रव्यलिंग कहा जाता है।

(६) लेश्याः—पुलाक मुनिके तीन शुभ लेश्यायें होती हैं। बकुश तथा प्रतिसेवना-कुशील मुनिके छहों लेश्या भी होती हैं। कषायसे अनुरंजित योग-परिणति को लेश्या कहते हैं।

प्रश्न०—बकुश तथा प्रतिसेवनाकुशील मुनिके कृष्णादि तीन अशुभ लेश्यायें किस तरह होती हैं ?

उत्तरः—इन दोनों प्रकारके मुनिके उपकरणकी कुछ आसक्तिके कारण किसी समय आर्तध्यान भी हो जाता है और इसीलिये उनके कृष्णादि अशुभ लेश्याएं भी हो सकती हैं।

कषायकुशील मुनिके कापोत, पीत, पद्म और शुक्ल ये चार लेश्यायें होती हैं। सूक्ष्मसांपराय गुणस्थानवर्तीके तथा निग्रंथके शुक्ल लेश्या होती है। स्नातकके उपचारसे शुक्ल लेश्या है, अयोगकेवलीके लेश्या नहीं होती।

(७) **उपपादः**—पुलाक मुनिका—उत्कृष्ट अठारह सागरकी आयुके साथ—बारहवें सहस्रार स्वर्गमें जन्म होता है। बकुश और प्रतिसेवना कुशीलका उत्कृष्ट जन्म बाईस सागरकी आयुके साथ पन्द्रहवें आरण और सोलहवें अच्युत स्वर्गमें होता है। कषायकुशील और निग्रंथका-उत्कृष्ट जन्म तेतीस सागरकी आयुके साथ सर्वार्थसिद्धिमें होता है। इन सबका जघन्य सौधर्म स्वर्गमें दो सागरकी आयुके साथ जन्म होता है। स्नातक केवली भगवान हैं, उनका उपपाद निर्वाण-मोक्षरूपसे होता है।

(८) **स्थानः**—तीव्र या मंद कषाय होनेके कारण असंख्यात संयम-लब्धिस्थान होते हैं; उनमेंसे सबसे छोटा संयमलब्धिस्थान पुलाक मुनिके और कषायकुशीलके होता है। ये दोनों एक साथ असंख्यात लब्धिस्थान प्राप्त करते हैं; पुलाक मुनि इन असंख्यात लब्धिस्थानोंके बाद आगेके लब्धिस्थान प्राप्त नहीं कर सकते। कषायकुशील मुनि उनसे आगेके असंख्यात लब्धिस्थान प्राप्त करते है।

यहाँ दूसरी बार कहे गये असंख्यात लब्धिस्थानोंसे कषायकुशील, प्रतिसेवनाकुशील और बकुश मुनि ये तीनों एकसाथ असंख्यात लब्धिस्थान प्राप्त करते है।

बकुशमुनि इन तीसरी बार कहे गये असंख्यात लब्धिस्थानोंमें रुक जाता है, आगेके स्थान प्राप्त नहीं कर सकता। प्रतिसेवनाकुशील वहाँसे आगे असंख्यात लब्धिस्थान प्राप्त कर सकते हैं।

कषायकुशील मुनि इन चौथी बार कहे गये असंख्यात लब्धिस्थानोंमेंसे आगे असंख्यात लब्धिस्थान प्राप्त कर सकते हैं; इससे आगेके स्थान प्राप्त नहीं कर सकते।

निग्रंथ मुनि इन पाँचवीं बार कहे गये लब्धिस्थानोंसे आगे कषायरहित संयमलब्धिस्थानोंको प्राप्त कर सकता है। ये निग्रंथ मुनि भी आगेके असंख्यात लब्धिस्थानोंकी प्राप्ति कर सकते हैं, पश्चात् रुक जाते हैं। उसके बाद एक संयमलब्धिस्थानको प्राप्त करके स्नातक निर्वाणको प्राप्त करता है।

इसप्रकार संयमलब्धिके स्थान हैं। उनमें अविभागप्रतिच्छेदोंकी अपेक्षासे संयमकी प्राप्ति अनन्तगुणी होती है ॥४७॥

उपसंहार

१—इस अध्यायमें आत्माकी धर्मपरिणतिका स्वरूप कहा है, इस परिणतिको 'जिन' कहते हैं।

२—अपूर्वकरण परिणामको प्राप्त हुये प्रथमोपशम सम्यक्त्वके सन्मुख जीवोंको 'जिन' कहा जाता है। (गोम्मटसार जीवकांड गाथा १ टीका, पृष्ठ १६) यहाँसे लेकर पूर्णशुद्धि प्राप्त करनेवाले सब जीव सामान्यतया 'जिन' कहलाते हैं। श्री प्रवचनसारके तीसरे अध्यायकी पहली गाथामें श्री जयसेनाचार्य कहते हैं कि—"दूसरे गुणस्थानसे लेकर बारहवें गुणस्थान तकके जीव 'एकदेश जिन' हैं, केवली भगवान 'जिनवर' हैं और तीर्थंकर भगवान 'जिनवर-वृषभ' हैं।" मिथ्यात्व रागादिको जीतनेसे असयत सम्यग्दृष्टि, श्रावक तथा मुनिको 'जिन' कहते हैं। उनमें गणधरादि श्रेष्ठ हैं इसलिए उन्हें 'श्रेष्ठ जिन' अथवा 'जिनवर' कहा जाता है और तीर्थंकरदेव उनसे भी प्रधान-श्रेष्ठ हैं इसीलिये उन्हें 'जिनवर-वृषभ' कहते हैं। (देखो, द्रव्यसंग्रह गाथा १ टीका) श्री समयसारजीकी ३१ वीं गाथामें भी सम्यग्दृष्टिको 'जितेन्द्रिय जिन' कहा है।

सम्यक्त्वके सन्मुख मिथ्यादृष्टि और अधःकरण, अपूर्वकरण तथा अनिवृत्तिकरणका स्वरूप श्री मोक्षमार्ग प्रकाशक अध्याय ७ में दिया है। गुणस्थानोंका स्वरूप श्री जैन सिद्धान्त प्रवेशिकाके अन्तिम अध्यायमें दिया है, सो वहाँसे समझ लेना।

३—चतुर्थ गुणस्थानसे निश्चय सम्यग्दर्शन होता है और निश्चय सम्यग्दर्शनसे ही धर्मका प्रारम्भ होता है, यह बतानेके लिये इस शास्त्रमें पहले अध्यायका पहला ही सूत्र 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' दिया है। धर्ममें पहले निश्चय सम्यग्दर्शन प्रगट होता है और निश्चय सम्यग्ज्ञान प्रगट होनेके कालसे अपूर्वकरणसे संवर-निर्जराका प्रारम्भ होता है। इस अधिकारके दूसरे सूत्रमें सम्यग्दर्शनको संवर-निर्जराके कारणरूपमें पृथक् नहीं कहा। इसका कारण यह है कि इस अध्यायके ४५ वें सूत्रमें इसका समावेश हो जाता है।

४—जिनधर्मका अर्थ है वस्तुस्वभाव। जितने अंशमें आत्माकी स्वभावदशा (—शुद्ध-दशा) प्रगट होती है उतने अंशमें जीवके 'जिनधर्म' प्रगट हुआ कहलाता है। जिनधर्म कोई सम्प्रदाय, वाड़ा या मत नहीं किन्तु आत्माकी शुद्धदशा है, और आत्माकी शुद्धतामें तारतम्यता होने पर शुद्धरूप तो एक ही तरहका है। अतः जिनधर्ममें प्रभेद नहीं हो सकते। जैन-धर्मके नामसे जो बाड़ाबन्दी देखी जाती है उसे यथार्थमें जिन-धर्म नहीं कह सकते। भरत-

क्षेत्रमें जिनधर्म पाँचवें कालके अन्त तक रहनेवाला है अर्थात् वहाँ तक अपनी शुद्धता प्रगट करनेवाले मनुष्य इस क्षेत्रमें ही होते हैं और उनके शुद्धताके उपादानकारणकी तैयारी होनेसे आत्मज्ञानी गुरु और सत्-शास्त्रोंका निमित्त भी होता ही है। जैनधर्मके नामसे कहे जानेवाले शास्त्रोंमेंसे कौनसे शास्त्र परम सत्यके उपदेशक हैं इसका निर्णय धर्म करनेके इच्छुक जीवोंको अवश्य करना चाहिये। जबतक जीव स्वयं यथार्थ परीक्षा करके कौन सच्चा देव-शास्त्र और गुरु है इसका निर्णय नही करता, तथा आत्मज्ञानी गुरु कौन है इसका निर्णय नही करता तबतक गृहीत मिथ्यात्व दूर नही होता। गृहीत मिथ्यात्व दूर हुये विना अगृहीत मिथ्यात्व दूर होकर सम्यग्दर्शन तो हो ही कैसे सकता है? इसीलिये जीवोको स्वमें जिनधर्म प्रगट करनेके लिये सम्यग्दर्शन प्रगट करना ही चाहिए।

५—सम्यग्दृष्टि जीवने आत्मस्वभावकी प्रतीति करके अज्ञान और दर्शनमोहको जीत लिया है इसलिये वह रागद्वेषका कर्ता और स्वामी नही होता; वह कभी हजारों रानियोंके संयोगके बीचमें हो तथापि 'जिन' है। चौथे, पाँचवें गुणस्थानमे रहनेवाले जीवोंका ऐसा स्वरूप है। सम्यग्दर्शनका महात्म्य कैसा है यह बतानेके लिये अनन्त ज्ञानियोंने यह स्वरूप कहा है। सम्यग्दृष्टि जीवोंके अपनी शुद्धपर्यायके अनुसार (-शुद्धताके प्रमाणमे) संवर-निर्जरा होती है।

६—सम्यग्दर्शनके माहात्म्यको नही समझनेवाले मिथ्यादृष्टि जीवोंकी बाह्य-संयोगों और बाह्य-त्याग पर दृष्टि होती है, इसीलिये वे उपरोक्त कथनका आशय नही समझ सकते और सम्यग्दृष्टिके अन्तरंग परिणमनको वे नही समझ सकते। इसलिये धर्म करनेके इच्छुक जीवोंको संयोगदृष्टि छोड़कर वस्तुस्वरूप समझने की और यथार्थ तत्त्वज्ञान प्रगट करने की आवश्यकता है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और उन पूर्वक सम्यक्चारित्रके विना संवर-निर्जरा प्रगट करनेका अन्य कोई उपाय नही है। इस नववें अध्यायके २९ वें सूत्रकी टीकासे मालूम पड़ेगा कि मोक्ष और संसार इन दोके अलावा और कोई साधने योग्य पदार्थ नहीं है। इस जगतमें दो ही मार्ग हैं—मोक्षमार्ग और संसारमार्ग।

७—सम्यक्त्व मोक्षमार्गका मूल है और मिथ्यात्व संसारका मूल है। जो जीव संसार-मार्गसे विमुख हों वे ही जीव मोक्षमार्ग (अर्थात् सच्चे सुखके उपायरूप धर्म) को प्राप्त कर सकते हैं। विना सम्यग्दर्शनके जीवके संवर-निर्जरा नही होती; इसलिए दूसरे सूत्रमें संवरके कारण बतलाते हुए उनमें प्रथम गुप्ति बतलाई, उसके बाद दूसरे कारण कहे हैं।

८—यह ध्यान रहे कि इस शास्त्रमें आचार्य महाराजने महाव्रतों या देशव्रतोंको संवरके कारणरूपसे नही बतलाया, क्योंकि सातवें अध्यायके पहले सूत्रमें बताये गये प्रमाणसे

वह शुभास्रव है।

९—यह समझानेके लिये चौथे सूत्रमें 'सम्यक्' शब्दका प्रयोग किया है कि गुप्ति, समिति, अनुप्रेक्षा, दस प्रकारका धर्म, परीषहजय और चारित्र ये सभी सम्यग्दर्शनके बिना नहीं होते।

१०—छट्ठे सूत्रमें धर्मके दस भेद बतलाये हैं। उसमें दिया गया उत्तम विशेषण यह बतलाता है कि धर्मके भेद सम्यग्दर्शनपूर्वक ही हो सकते हैं। इसके बाद सातवें सूत्रमें अनुप्रेक्षाका स्वरूप और ८ वें सूत्रसे १७ वें सूत्र तक परीषहजयका स्वरूप कहा है। शरीर और दूसरी बाह्य वस्तुओंकी जिस अवस्थाको जीव प्रतिकूल मानते हैं उसे यहाँ परीषह कहा गया है। आठवें सूत्रमें 'परिषोढव्या' शब्दका प्रयोग करके उन परीषहोंको सहन करनेका उपदेश दिया है। निश्चयसे परीषह क्या है और उपचारसे परीषह किसे कहते हैं—यह नहीं समझनेवाले जीव १०-११ सूत्रका आश्रय लेकर (कुतर्क द्वारा) ऐसा मानते हैं कि—'केवली भगवानके क्षुधा और तृषा (भूख और प्यास) की व्याधिरूप परीषह होती है, और छद्मस्थ रागी जीवोंकी तरह केवली भगवान भी भूख और प्यासकी व्याधिको दूर करनेके लिए खान पान ग्रहण करते हैं और रागी जीवोंकी तरह भगवान भी अतृप्त रहते हैं,' परन्तु उनकी यह मान्यता मिथ्या है। सातवें गुणस्थानसे ही आहारसंज्ञा नहीं होती (गोम्मटसार जीवकांड गाथा १३९ की बड़ी टीका, पृष्ठ ३५१-३५२) तथापि जो लोग केवली भगवानके खान-पान मानते हैं वे भगवानको आहार संज्ञासे भी दूर हुए नहीं मानते (देखो सूत्र १०-११ की टीका।)

११—जब भगवान मुनि अवस्थामें थे तब तो करपात्री होनेसे स्वयं ही आहारके लिये निकलते, और जो दाता श्रावक भक्तिपूर्वक पड़गाहन करते तो वे खड़े रहकर करपात्रमें आहार लेते। परन्तु जो ऐसा मानते हैं कि वीतरागी होनेके बाद भी भूखके कारण भगवान आहार लेते हैं उन्हें ऐसा मानना पड़ता है या पड़ेगा कि 'भगवानके कोई गणधर या मुनि आहार लाकर देते हैं, वे स्वयं नहीं जाते।' अब देखो कि छद्मस्थ अवस्थामें तो भगवान आहारके लिये किसीसे याचना नहीं करते और अब वीतराग होनेके बाद आहार लानेके लिये शिष्योंसे याचना करें, यह बड़े आश्चर्यकी बात है। पुनश्च, भगवानको आहार-पानीका दाता तो वह आहार लानेवाला मुनि हो हुआ। भगवान कितना आहार लेंगे, क्या क्या लेंगे, मुनि जो कुछ ले आयेंगे वह सब भगवान लेंगे, उसमेंसे कुछ बचेगा या नहीं इत्यादि बातें भगवान स्वयं पहलेसे निश्चय करके मुनिको कहते हैं या आहार लाने वाले मुनि स्वयं निश्चय करते हैं? ये भी विचारणीय प्रश्न हैं। पुनश्च, नग्न मुनिके पास पात्र तो होता नहीं, इसी कारण वह आहार लानेके लिये निरुपयोगी हैं, और इसीलिये भगवान स्वयं

मुनि दशामें नग्न थे तथापि उनके वीतराग होनेके बाद उनके गणधरादिको पात्र रखने वाले अर्थात् परिग्रहधारी मानना पड़ेगा और यह भी मानना पड़ेगा कि भगवानने उस पात्रधारी मुनिको आहार लानेकी आज्ञा की। किन्तु यह सब असंगत है ठीक नहीं है।

१२—पुनश्च, यदि भगवान स्वयं अशन-पान करते हों तो भगवानकी ध्यानमुद्रा दूर हो जायगी, क्योंकि अध्यान मुद्राके अलावा पात्रमें रहे हुये आहारको देखनेका, उनके टुकड़े करने, कौर लेने, दांतसे चबाने, गलेमें उतारने आदिकी क्रियायें नहीं हो सकतीं। अब यदि भगवानके अध्यानमुद्रा या उपरोक्त क्रियायें स्वीकार करें तो वह प्रमाददशा होती है। पुनश्च, आठवें सूत्रमें ऐसा उपदेश देते हैं कि परीषहें सहन करनी चाहिये और भगवान स्वयं ही वैसा नहीं कर सकते अर्थात् भगवान अशक्य कार्योंका उपदेश देते हैं, ऐसा अर्थ करने पर भगवानको मिथ्या-उपदेशी कहना पड़ेगा।

१३–४६ वें सूत्रमें निर्ग्रंथोंके भेद बताये है, उनमें 'बकुश' नामक एक भेद बतलाया है; उनके धर्म-प्रभावनाके रागसे शरीर तथा शास्त्र, कमण्डल, पीछी पर लगे हुये मैलको दूर करनेका राग हो जाता है। इस परसे कोई यह कहना चाहते हैं कि—उस 'बकुश' मुनिके वस्त्र होनेमें बाधा नहीं, परन्तु उनका यह कथन न्याय-विरुद्ध है, ऐसा छट्ठे अध्यायके तेरहवें सूत्रकी टीकामें बतलाया है। पुनश्च, मुनिका स्वरूप नहीं समझनेवाले ऐसा भी कहना चाहते हैं कि यदि मुनिको शरीरकी रक्षाके लिये अथवा संयमकी रक्षाके लिये वस्त्र हो तो भी वे क्षपकश्रेणी माडकर केवलज्ञान प्रगट कर सकते हैं। यह बात भी मिथ्या है। इस अध्यायके ४७ वें सूत्रकी टीकामें संयमके लब्धिस्थानोंका स्वरूप दिया है, इस परसे मालूम होगा कि बकुश मुनि तीसरी बारके संयमलब्धिस्थानमें रुक जाता है और कषायरहित दशा प्राप्त नहीं कर सकता; तो फिर ऋतु इत्यादिकी विषमतासे शरीरकी रक्षाके लिये वस्त्र रखे तो ऐसे रागवाला सम्यग्दृष्टि हो तो भी मुनिपद प्राप्त नहीं कर सकता और सर्वथा अकषायदशाकी प्राप्ति तो वे कर ही नहीं सकते, यही देखा भी जाता है।

१४—गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्रके स्वरूपके सम्बन्धमें होनेवाली भूल और उसका निराकरण उन-उन विषयोंसे सम्बन्धित सूत्रोंकी टीकामें दिया है, वहाँ समझ लेना। कुछ लोग आहार न लेनेको तप मानते हैं किन्तु यह मान्यता यथार्थ नहीं। तपकी इस व्याख्यामें होनेवाली भूल दूर करनेके लिये सम्यक्तपका स्वरूप १९ वें सूत्रकी भूमिकामें तथा टीका पैराग्राफ ५ में दिया है, उसे समझना चाहिये।

१५—मुमुक्षु जीवोंको मोक्षमार्ग प्रगट करनेके लिये उपरोक्त बारेमें यथार्थ विचार करके संवर-निर्जरा तत्त्वका स्वरूप बराबर समझना चाहिये। जो जीव अन्य पांच तत्त्वों

सहित इस संवर तथा निर्जरातत्त्वकी श्रद्धा करता है, जानता है उस अपने चैतन्यस्वरूप स्वभावभावकी ओर झुककर सम्यग्दर्शन प्रगट करता है तथा संसार-चक्रको तोड़कर अल्पकालमें वीतरागचारित्रको प्रगट कर निर्वाण-मोक्षको प्राप्त करता है।

१६—इस अध्यायमें सम्यक्चारित्रका स्वरूप कहते हुए उसके अनुसंधानमें धर्मध्यान और शुक्लध्यानका स्वरूप भी बतलाया है। (देखो, सूत्र ३६ से ३९) चारित्रके विभागमें यथाख्यात चारित्र भी समाविष्ट हो जाता है। चौदहवें गुणस्थानके अन्तिम समयमें परम यथाख्यात चारित्र प्रगट होनेपर सर्वगुणोंके चारित्रकी पूर्णता होती है और उसी समय जीव निर्वाणदशा प्राप्त करता है—मोक्ष प्राप्त करता है। ४७ वें सूत्रमें संयमलब्धिस्थानका कथन करते हुए उसमें निर्वाण पद प्राप्त होने तककी दशाका वर्णन किया गया है। इस तरह इस अध्यायमें सब तरहकी 'जिन' दशाका स्वरूप आचार्य भगवानने बहुत थोड़े सूत्रों द्वारा बताया है।

इसप्रकार श्री उमास्वामी विरचित मोक्षशास्त्रकी गुजराती टीकाके
नवें अध्यायका हिन्दी अनुवाद पूर्ण हुआ।

भूमिका

१—आचार्यदेवने इस शास्त्रके प्रारम्भमें पहले अध्यायके पहले ही सूत्र में कहा था कि सम्यग्दर्शन-ज्ञान—चारित्रकी एकता मोक्षमार्ग है—कल्याणमार्ग है। उसके बाद सात तत्त्वोंकी जो यथार्थ श्रद्धा है सो सम्यग्दर्शन है; इस प्रकार बतलाकर सात तत्त्वोंके नाम बतलाये और दसवें अध्यायमें उन सात तत्त्वोंका वर्णन किया। उनमें इस अन्तिम अध्यायमें मोक्षतत्त्वका वर्णन करके यह शास्त्र पूर्ण किया है।

२—मोक्ष संवर-निर्जरा पूर्वक होता है; इसीलिये नववें अध्यायमें संवर-निर्जराका स्वरूप कहा, और चतुर्थ गुणस्थानसे लेकर चौदहवें गुणस्थानमें विराजनेवाले केवलीभगवान तकके समस्त जीवोंके संवर-निर्जरा होती है ऐसा उसमें बतलाया। इस निर्जराकी पूर्णता होनेपर जीव परम समाधानरूप निर्वाणपदमें विराजता है; इस दशाको मोक्ष कहा जाता है। मोक्षदशा प्रगट करनेवाले जीवोंने सर्व कार्य सिद्ध किया अतः 'सिद्ध भगवान' कहे जाते हैं।

३—केवली भगवानके (तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानमें) संवर-निर्जरा होती है अतः उनका उल्लेख नववें अध्यायमें किया गया है किन्तु वहाँ केवलज्ञानका स्वरूप नही बतलाया। केवलज्ञान भावमोक्ष है और उस भावमोक्षके बलसे द्रव्यमोक्ष (सिद्धदशा) होता है। (देखो, प्रवचनसार अध्याय १ गाथा ८४ जयसेनाचार्यकी टीका) इसीलिये इस अध्यायमें प्रथम भावमोक्षरूप केवलज्ञानका स्वरूप बताकर फिर द्रव्यमोक्षका स्वरूप बतलाया है।

अब केवलज्ञानकी उत्पत्तिका कारण बतलाते हैं

मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम् ॥१॥

अर्थ—[**मोहक्षयात्**] मोहका क्षय होनेसे (अन्तर्मुहूर्तपर्यन्त क्षीणकषाय नामक गुणस्थान प्राप्त करनेके बाद) [**ज्ञानदर्शनावरणांतरायक्षयात् च**] और ज्ञानावरण, दर्शनावरण, तथा अन्तराय इन तीन कर्मोंका एक साथ क्षय होनेसे [**केवलम्**] केवलज्ञान उत्पन्न होता है।

टीका

१—प्रत्येक जीवद्रव्य एक पूर्ण अखण्ड है, अतः उसका ज्ञान सामर्थ्य-संपूर्ण है।

संपूर्ण वीतराग होनेपर संपूर्ण सर्वज्ञता प्रगट होती है। जब जीव संपूर्ण वीतराग होता है तब कर्मके साथ ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध होता है कि-मोहकर्म जीवके प्रदेशमें संयोग-रूपसे रहता भी नहीं, उसे मोहकर्मका क्षय हुआ कहा जाता है। जीवको सम्पूर्ण वीतरागता प्रगट होनेके बाद अल्पकालमें तत्काल ही संपूर्णज्ञान प्रगट होता है उसे केवलज्ञान कहते हैं, क्योंकि वह ज्ञान शुद्ध, अखण्ड, रागरहित है। इस दशामें जीवको 'केवली भगवान' कहते हैं। भगवान समस्त पदार्थोंको जानते हैं इसीलिये वे केवली नहीं कहलाते, परन्तु 'केवल' अर्थात् शुद्ध आत्माको जानते-अनुभवते हैं अतः वे 'केवली' कहलाते हैं। भगवान एकसाथ परिणमनेवाले समस्त चैतन्य-विशेषवाले केवलज्ञानके द्वारा अनादिनिधन, निष्कारण, असाधारण स्वसंवेद्यमान् चैतन्यसामान्य जिसकी महिमा है तथा चेतन स्वभावके द्वारा एकरूप होनेसे जो केवल (अकेला, शुद्ध, अखण्ड) है ऐसे आत्माको आत्मासे आत्मामें अनुभव करनेके कारण केवली हैं। (देखो, श्री प्रवचनसार गाथा ३३)

यह व्यवहार-कथन है कि भगवान परको जानते हैं। ऐसा कहा जाता है कि व्यवहारसे केवलज्ञान लोकालोकको युगपत् जानता है, क्योंकि स्व-पर प्रकाशक निज-शक्तिके कारण भगवान सम्पूर्ण ज्ञानरूपसे परिणमते हैं अतः कोई भी द्रव्य, गुण या पर्याय उनके ज्ञानके बाहर नहीं है। निश्चयसे तो केवलज्ञान अपने शुद्ध स्वभावको ही अखण्डरूपसे जानता है।

२—केवलज्ञान स्वरूपसे उत्पन्न हुआ है, स्वतंत्र है तथा क्रम रहित है। यह ज्ञान जब प्रगट हो तब ज्ञानावरण कर्मका सदाके लिये क्षय होता है इसलिये इस ज्ञानको क्षायिकज्ञान कहते हैं। जब केवलज्ञान प्रगट होता है उसी समय केवलदर्शन और सम्पूर्ण वीर्य भी प्रगट होता है और दर्शनावरण तथा अन्तरायकर्मका सर्वथा अभाव (नाश) हो जाता है।

३—केवलज्ञान होनेपर भावमोक्ष हुआ कहलाता है (यह अरिहन्त दशा है) और आयुष्यकी स्थिति पूरी होनेपर चार अघातिया कर्मोंका अभाव होकर द्रव्यमोक्ष होता है, यही सिद्धदशा है। मोक्ष केवलज्ञानपूर्वक ही होता है इसलिये मोक्षका वर्णन करने पर उसमें पहले केवलज्ञानकी उत्पत्तिका सूत्र बतलाया है।

प्रश्नः—क्या यह मान्यता ठीक है कि जीवके तेरहवें गुणस्थानमें अनन्तवीर्य प्रगट हुआ है तथापि योग आदि गुणका विकार रहता है और संसारित्व रहता है उसका कारण अघातिकर्मका उदय है?

उत्तरः—यह मान्यता यथार्थ नहीं है। तेरहवें गुणस्थानमें संसारित्व रहनेका यथार्थ कारण यह है कि वहाँ जीवके योगगुणका विकार है तथा जीवके प्रदेशकी वर्तमान योग्यता

उस क्षेत्रमें (-शरीरके साथ) रहने की है, तथा जीवके अव्याबाध, *निर्नामी, निर्गोत्री और अनायुषी आदि गुण अभी पूर्ण प्रगट नहीं हुए; इस प्रकार जीव अपने ही कारणसे संसारमें रहता है। वास्तवमें जड़ अघातिकर्मके उदयके कारणसे या किसी परके कारणसे जीव संसारमें रहता है, यह मान्यता बिल्कुल असत् है। यह तो मात्र निमित्तका उपचार करनेवाला व्यवहार-कथन है कि 'तेरहवें गुणस्थानमें चार अघातिकर्मोंका उदय है इसीलिये जीव सिद्धत्वको प्राप्त नहीं होता। जीवके अपने विकारी भावके कारण संसारदशा होनेसे तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानमें भी जड़कर्मके साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध कैसा होता है यह बतानेके लिये कर्मशास्त्रोंमें ऊपर बताये अनुसार व्यवहार-कथन किया जाता है। वास्तवमें कर्मके उदय सत्ता इत्यादिके कारण कोई जीव संसारमें रहता है यह मानना सो जीव और जड़कर्मको एकमेक माननेरूप मिथ्या-मान्यता है। शास्त्रोंका अर्थ करनेमें अज्ञानियोंकी मूलभूत भूल यह है कि व्यवहारनयके कथनको वे निश्चयनयका कथन मानकर व्यवहारको ही परमार्थ मान लेते हैं। यह भूल दूर करनेके लिये आचार्य भगवानने इस शास्त्रके प्रथम अध्यायके छट्ठे सूत्रमें प्रमाण तथा नयका यथार्थ ज्ञान करनेकी आज्ञा की है (प्रमाणनयै रधिगमः) जो व्यवहारके कथनोंको ही निश्चयके कथन मानकर शास्त्रोंका वैसा अर्थ करते हैं उनके उस अज्ञानको दूर करनेके लिये श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेवने समयसारजीमें ×३२४ से ३२६ वीं गाथा कही हैं। इसलिए जिज्ञासुओंको शास्त्रोंका कथन किस नयसे है और उसका परमार्थ (भूतार्थ-सत्यार्थ) अर्थ क्या होता है यह यथार्थ समझकर शास्त्रकारके कथनके मर्मको जान लेना चाहिये, परन्तु भाषाके शब्दोंको नहीं पकड़ना चाहिये।

६. केवलज्ञान उत्पन्न होते ही मोक्ष क्यों नहीं होता?

(१) प्रश्नः—केवलज्ञानकी उत्पत्तिके समय मोक्षके कारणभूत रत्नत्रयकी पूर्णता हो

---

* इन गुणोंके नाम वृ० द्रव्यसंग्रह गा० १३-१४ की टीकामें है।

× वे गाथायें इस प्रकार हैं—

व्यवहारभाषितेन तु परद्रव्यं मम भणंत्यविदितार्थाः।
जानंति निश्चयेन तु न च मम परमाणुमात्रमपि किंचित् ॥३२४॥
यथा कोऽपि नरो जल्पति अस्माकं ग्रामविषयनगरराष्ट्रम्।
न च भवंति तस्य तानि तु भणति च मोहेन स आत्मा ॥३२५॥
एवमेव मिथ्यादृष्टिर्ज्ञानी निःसंशयं भवत्येषः।
यः परद्रव्यं ममेति जानन्नात्मानं करोति ॥३२६॥

जाती है तो फिर उसीसमय मोक्ष होना चाहिये; इसप्रकार जो सयोगी तथा अयोगी ये केवलियोंके दो गुणस्थान कहे हैं उनके रहनेका कोई समय ही नहीं रहता ?

उत्तरः—यद्यपि केवलज्ञानकी उत्पत्तिके समय यथाख्यातचारित्र हो गया है तथापि अभी परम यथाख्यातचारित्र नहीं हुआ। कषाय और योग अनादिसे अनुसंगी-(साथी) हैं तथापि प्रथम कषायका नाश होता है, इसीलिये केवली भगवानके यद्यपि वीतरागतारूप यथाख्यातचारित्र प्रगट हुआ है तथापि योगके व्यापारका नाश नहीं हुआ। योगका परिस्पंदनरूप व्यापार परम यथाख्यातचारित्रमें दूषण उत्पन्न करनेवाला है। इस योगके विकारकी क्रमक्रमसे भावनिर्जरा होती है। इस योगके व्यापारकी सम्पूर्ण भावनिर्जरा हो जाने तक तेरहवाँ गुणस्थान रहता है। योगका अगुरुलघुत्व-चंचलतारूप व्यापार बंद पड़नेके बाद भी कितनेक समय तक अव्याबाध, निर्नाम (नाम रहितत्व), अनायुष्य (आयुष्य रहितत्व) और निर्गोत्रत्व आदि गुण प्रगट नहीं होवे, इसीलिये चारित्रमें दूषण रहता है। चौदहवें गुणस्थानके अंतिम समयका व्यय होनेपर उस दोषका अभाव हो जाता है और उसीसमय परम यथाख्यातचारित्र प्रगट होनेसे अयोगी जिन मोक्षरूप अवस्था धारण करता है, इस रीतिसे मोक्ष-अवस्था प्रगट होनेसे पहले सयोगकेवली और अयोगकेवली ऐसे दो गुणस्थान प्रत्येक केवली भगवानके होते हैं।

(देखो—बृहद् द्रव्यसंग्रह गाथा १३-१४ की टीका)

(२) प्रश्नः—यदि ऐसा मानें कि जब केवलज्ञान प्रगट हो उसी समय मोक्ष-अवस्था प्रगट होजाय तो क्या दूषण लगेगा ?

उत्तरः—ऐसा मानने पर निम्नलिखित दोष आते हैं—

१—जीवमें योगगुणका विकार होनेपर, तथा अन्य (अव्याबाध आदि) गुणोंमें विकार होनेपर और परम यथाख्यातचारित्र प्रगट हुये बिना, जीवकी सिद्धदशा प्रगट हो जायगी जो कि असंभव है।

२—यदि जब केवलज्ञान प्रगट हो उसी समय सिद्धदशा प्रगट हो जाय तो धर्म-तीर्थ ही न रहे, यदि अरिहंत दशा ही न रहे तो कोई सर्वज्ञ उपदेशक-आप्त ही न हो। इसका परिणाम यह होगा कि भव्य जीव अपने पुरुषार्थसे धर्म प्राप्त करने योग्य दशा प्रगट करनेके लिये तैयार हो तथापि उसे निमित्तरूप सत्य धर्मके उपदेशका (दिव्यध्वनिका) संयोग न होगा अर्थात् उपादान-निमित्तका मेल टूट जायगा। इसप्रकार बन ही नहीं सकता, क्योंकि ऐसा नियम है। जिस समय जो जीव अपने उपादानकी जागृतिसे धर्म प्राप्त करनेकी योग्यता प्राप्त करता है उससमय उस जीवके इतना पुण्यका संयोग होता ही है कि

जिससे उसे उपदेशादिक योग्य निमित्त (सामग्री) स्वयं मिलते ही हैं। उपादानकी पर्यायका और निमित्तकी पर्यायका ऐसा ही सहज निमित्त-नैमित्तिक संबंध है। यदि ऐसा न हो तो जगतमें कोई जीव धर्म प्राप्त कर ही न सकेंगे। अर्थात् समस्त जीव द्रव्यदृष्टिसे पूर्ण हैं तथापि अपनी शुद्ध पर्याय कभी प्रगट नहीं कर सकेंगे। ऐसा होनेपर जीवोंका दुःख कभी दूर नहीं होगा और वे सुखस्वरूप कभी नहीं हो सकेंगे।

३—जगतमें यदि कोई जीव धर्म प्राप्त नहीं कर सकता तो तीर्थंकर, सिद्ध, अरिहंत, आचार्य, उपाध्याय, साधु, श्रावक, सम्यग्दृष्टि और सम्यग्दृष्टिकी भूमिकामें रहनेवाले उपदेशक इत्यादि पद भी जगतमें न रहेंगे, जीवकी साधक और सिद्धदशा भी न रहेगी, सम्यग्दृष्टिकी भूमिका ही प्रगट न होगी, तथा उस भूमिकामें होनेवाला धर्मप्रभावनादिका राग-पुण्यानुबंधी पुण्य, सम्यग्दृष्टिके योग्य देवगति-देवक्षेत्र इत्यादि अवस्थाका भी नाश हो जायग।

(३) इस परसे यह समझना कि जीवके उपादानके प्रत्येक समयकी पर्यायकी जिसप्रकारकी योग्यता हो तदनुसार उस जीवके उस समयके योग्य निमित्तका संयोग स्वयं मिलता ही है—ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध तेरहवें गुणस्थानका अस्तित्व सिद्ध करता है; एक-दूसरेके कर्तारूपमें कोई है ही नहीं। तथा ऐसा भी नहीं कि उपादानकी पर्यायमें जिस समय योग्यता हो उस समय उसे निमित्तकी ही राह देखनी पड़े; दोनोंका सहजरूपसे ऐसा ही मेल होता ही है और यही निमित्त-नैमित्तिक भाव है; तथापि दोनों द्रव्य स्वतंत्र हैं। निमित्त परद्रव्य है उसे जीव मिला नहीं सकता। उसी प्रकार वह निमित्त जीवमें कुछ कर नहीं सकता; क्योंकि कोई द्रव्य परद्रव्यकी पर्यायका कर्ता-हर्ता नहीं है ॥ १ ॥

अब मोक्षका कारण और उसका लक्षण कहते हैं—

बंधहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः ॥ २ ॥

अर्थ—[बंधहेत्वभावनिर्जराभ्यां] बंधके कारणों (मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग) का अभाव तथा निर्जराके द्वारा [कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः] समस्त कर्मोंका अत्यन्त नाश हो जाना सो मोक्ष है।

टीका

१-कर्म तीन प्रकारके हैं—(१) भावकर्म, (२) द्रव्यकर्म और (३) नोकर्म। भावकर्म जीवका विकार है और द्रव्यकर्म तथा नोकर्म जड़ हैं। भावकर्मका अभाव होनेपर द्रव्यकर्मका अभाव होता है और द्रव्यकर्मका अभाव होनेपर नोकर्म (-शरीर) का अभाव

होता है। यदि अस्तिकी अपेक्षासे कहें तो जो जीवकी सम्पूर्ण शुद्धता है सो मोक्ष है और यदि नास्तिकी अपेक्षासे कहें तो जीवकी सम्पूर्ण विकारसे जो मुक्तदशा है सो मोक्ष है। इस दशामें जीव कर्म तथा शरीर रहित होता है और इसका आकार अन्तिम शरीरसे कुछ न्यून पुरुषाकार होता है।

२. मोक्ष यत्नसे साध्य है

(१) प्रश्नः—मोक्ष यत्नसाध्य है या अयत्नसाध्य है ?

उत्तर.—मोक्ष यत्नसाध्य है। जीव अपने यत्नसे (पुरुषार्थसे) प्रथम मिथ्यात्वको दूर करके सम्यग्दर्शन प्रगट करता है और फिर विशेष पुरुषार्थसे क्रम-क्रमसे विकारको दूर करके मुक्त होता है। पुरुषार्थके विकल्पसे मोक्ष साध्य नहीं है।

(२) मोक्षका प्रथम कारण सम्यग्दर्शन और वह पुरुषार्थसे ही प्रगट होता है। श्री समयसार कलश ३४ में अमृतचन्द्र सूरि कहते हैं कि—

हे भव्य! तुझे व्यर्थ ही कोलाहल करनेसे क्या लाभ है? इस कोलाहलसे तू विरक्त हो और एक चैतन्यमात्र वस्तुको स्वयं निश्चल होकर देख, इसप्रकार छह महीना अभ्यास कर और देख कि ऐसा करनेसे अपने हृदय-सरोवरमें आत्माकी प्राप्ति होती है या नहीं? अर्थात् ऐसा प्रयत्न करनेसे अवश्य आत्माकी प्राप्ति होती है।

पुनश्च, कलश २३ में कहते हैं कि—

हे भाई! तू किसी भी तरह महाकष्टसे अथवा मरकर भी (अर्थात् कई प्रयत्नोंके द्वारा) तत्त्वोंका कौतूहली होकर इस शरीरादि मूर्त द्रव्योंका एक मुहूर्त (दो घड़ी) पड़ौसी होकर आत्माका अनुभव कर कि जिससे निज आत्माको विलासरूप, सर्व परद्रव्योंसे भिन्न देखकर इस शरीरादि मूर्तिक पुद्गलद्रव्यके साथ एकत्वके मोहको तू तत्काल ही छोड़ देगा।

भावार्थः—यदि यह आत्मा दो घड़ी, पुद्गलद्रव्यसे भिन्न अपने शुद्ध स्वरूपका अनुभव करे (उसमें लीन हो), परीषह आने पर भी न डिगे, तो घातिकर्मका नाश करके, केवलज्ञान उत्पन्न करके मोक्षको प्राप्त हो। आत्मानुभवका ऐसा माहात्म्य है।

इसमें आत्मानुभव करनेके लिये पुरुषार्थ करना बताया है।

(३) सम्यक् पुरुषार्थके द्वारा मोक्षकी प्राप्ति होती है। सम्यक् पुरुषार्थ कारण है और मोक्ष कार्य है। बिना कारणके कार्य सिद्ध नहीं होता। पुरुषार्थसे मोक्ष होता है ऐसा सूत्रकारने स्वयं, इस अध्यायके छट्ठे सूत्रमें 'पूर्वप्रयोगात्' शब्दका प्रयोग कर बतलाया है।

(४) समाधिशतकमें श्री पूज्यपाद आचार्य वतलाते हैं कि—

अयत्नसाध्यं निर्वाणं चित्तत्वं भूतजं यदि ।
अन्यथा योगतस्तस्मान्न दुखं योगिनां क्वचित् ॥ १०० ॥

अर्थ—यदि पृथ्वी आदि पंचभूतसे जीवतत्त्वकी उत्पत्ति हो तो निर्वाण अयत्नसाध्य है, किन्तु यदि ऐसा न हो तो योगसे अर्थात् स्वरूप-संवेदनका अभ्यास करनेसे निर्वाणकी प्राप्ति हो; इस कारण निर्वाण-मोक्षके लिये पुरुषार्थ करनेवाले योगियोंको चाहे जैसा उपसर्ग उपस्थित होनेपर भी दुःख नहीं होता।

(५) श्री अष्टप्राभृतमें दर्शनप्राभृत गाथा ६, सूत्रप्राभृत १६ और भावप्राभृत गाथा ८७ से ९० में स्पष्ट रीतिसे वतलाया है कि धर्म-संवर, निर्जरा, मोक्ष ये आत्माके वीर्य-वल-प्रयत्नके द्वारा ही होते हैं, उस शास्त्रकी वचनिका पृष्ठ १५-१६ तथा २४२ मे भी ऐसा ही कहा है।

(६) प्रश्नः—इसमें अनेकान्त स्वरूप कहाँ आया ?

उत्तरः—आत्माके सत्य पुरुषार्थसे ही धर्म-मोक्ष होता है और अन्य किसी प्रकारसे नही होता, यही सम्यक् अनेकान्त हुआ।

(७) प्रश्नः—आप्तमीमांसाकी ८८ वीं गाथामें अनेकान्तका ज्ञान करानेके लिये कहा है कि पुरुषार्थ और दैव दोनों होते हैं, इसका क्या स्पष्टीकरण है ?

उत्तरः—जव जीव मोक्षका पुरुषार्थ करता है तव परम-पुण्यकर्मका उदय होता है इतना वतानेके लिये यह कथन है। पुण्योदयसे धर्म या मोक्ष नही, परन्तु ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है कि मोक्षका पुरुषार्थ करनेवाले जीवके उस समय उत्तम संहनन आदि वाह्य-संयोग होता है। यथार्थ पुरुषार्थ और पुण्य इन दोनोसे मोक्ष होता है—इसप्रकार कथन करनेके लिये यह कथन नहीं है। किन्तु उससमय पुण्यका उदय नहीं होता ऐसा कहनेवालेकी भूल है—यह वतानेके लिये इस गाथाका कथन है।

इस परसे सिद्ध होता है कि मोक्षकी सिद्धि पुरुषार्थके द्वारा ही होती है, उसके विना मोक्ष नहीं हो सकता ॥ २ ॥

मोक्षमें समस्त कर्मोंका अत्यन्त अभाव होता है यह उपरोक्त सूत्रमें वतलाया; अव यह वतलाते हैं कि कर्मोंके अलावा और किसका अभाव होता है—

औपशमिकादि भव्यत्वानां च ॥ ३ ॥

अर्थः—[च] और [औपशमिकादि भव्यत्वानां] औपशमिकादि भावोंका तथा

पारिणामिक भावोंमेंसे भव्यत्व भावका मुक्त जीवके अभाव होता—हो जाता है।

टीका

'औपशमिकादि' कहनेसे औपशमिक, औदयिक और क्षायोपशमिक ये तीन भाव समझना, क्षायिकभाव इसमें नहीं गिनना-जानना।

जिन जीवोंके सम्यग्दर्शनादि प्राप्त करनेकी योग्यता हो वे भव्य जीव कहलाते हैं। जब जीवके सम्यग्दर्शनादि पूर्णरूपमें प्रगट हो जाते हैं तब उस आत्मामें 'भव्यत्व' का व्यवहार मिट जाता है। इस सम्बन्धमें यह विशेष ध्यान रहे कि यद्यपि 'भव्यत्व' पारिणामिकभाव है तथापि, जिस प्रकार पर्यायार्थिकनयसे जीवके सम्यग्दर्शनादि पर्यायोंका-निमित्तरूपसे घातक देशघाति तथा सर्वघाति नामका मोहादिक कर्म सामान्य है उसीप्रकार, जीवके भव्यत्वभावको भी कर्मसामान्य निमित्तरूपमें प्रच्छादक कहा जा सकता है। (देखो, हिन्दी समयसार श्री जयसेनाचार्यकी संस्कृत टीका पृष्ठ ४२३) सिद्धत्व प्रगट होनेपर भव्यत्वभावका नाश हो जाता है ॥३॥

अन्यत्र केवलसम्यक्त्वज्ञानदर्शनसिद्धत्वेभ्यः ॥४॥

अर्थ—[केवलसम्यक्त्वज्ञानदर्शनसिद्धत्वेभ्यः अन्यत्र] केवलसम्यक्त्व, केवलज्ञान, केवलदर्शन और सिद्धत्व, इन भावोंके अतिरिक्त अन्य भावोंके अभावसे मोक्ष होता है।

टीका

मुक्त अवस्थामें केवलज्ञानादि गुणोंके साथ जिन गुणोंका सहभावी सम्बन्ध है—ऐसे अनन्तवीर्य, अनन्तसुख, अनन्तदान, अनन्तलाभ, अनन्तभोग, अनन्तउपभोग इत्यादि गुण भी होते हैं ॥४॥

अब मुक्त जीवोंका स्थान बतलाते हैं

तदनन्तरमूर्ध्वं गच्छत्यालोकांतात् ॥५॥

अर्थ—[तदनन्तरम्] तुरन्त ही [ऊर्ध्वं आलोकांतात् गच्छति] ऊर्ध्वगमन करके लोकके अग्रभाग तक जाता है।

टीका

पीछे सूत्रमें कहा हुआ सिद्धत्व जब प्रगट होता है तब तीसरे सूत्रमें कहे हुए भाव नहीं होते, तथा कर्मोंका भी नाश हो जाता है उसी समय जीव ऊर्ध्वगमन करके सीधा

लोकके अग्रभाग तक जाता है और वहाँ शाश्वत स्थित रहता है। छट्ठे और सातवें सूत्रमें ऊर्ध्वगमन होनेका कारण बतलाया है और लोकके अन्तभागसे आगे नहीं जानेका कारण आठवें सूत्रमें बतलाया है ॥५॥

अब मुक्त जीवके ऊर्ध्वगमनका कारण बतलाते हैं

पूर्वप्रयोगादसंगत्वाद्बन्धच्छेदात्तथागतिपरिणामाच्च ॥६॥

अर्थः—[पूर्वप्रयोगात्] १-पूर्वप्रयोगसे, [असंगत्वात्] २-संगरहित होनेसे, [बन्धच्छेदात्] ३-बन्धका नाश होनेसे [तथा गतिपरिणामात् च] और ४-तथा गति-परिणाम अर्थात् ऊर्ध्वगमन स्वभाव होनेसे-मुक्त जीवके ऊर्ध्वगमन होता है।

नोटः—पूर्व प्रयोगका अर्थ है पूर्वमें किया हुआ पुरुषार्थ, प्रयत्न, उद्यम; इस सम्बन्धमें इस अध्यायके दूसरे सूत्रकी टीका तथा सातवें सूत्रके पहले दृष्टांत परकी टीका पढ़कर समझना ॥ ६ ॥

ऊपरके सूत्रमें कहे गये चारों कारणोंके दृष्टांत बतलाते हैं

आविद्धकुलालचक्रवद्व्यपगतलेपालाबुवदेरण्डबीजवद-ग्निशिखावच्च ॥७॥

अर्थ—मुक्त जीव [आविद्धकुलालचक्रवत्] १—कुम्हार द्वारा घुमाये हुए चाककी तरह पूर्व प्रयोगसे, [व्यपगतलेपालाबुवत्] २—लेप दूर हो चुका है जिसका ऐसी तूम्बेकी तरह संगरहित होनेसे, [एरंडबीजवत्] ३—एरंडके बीजकी तरह बन्धन रहित होनेसे [च] और [अग्निशिखावत्] ४—अग्निकी शिखा-(लौ) की तरह ऊर्ध्वगमनस्वभावसे ऊर्ध्वगमन (ऊपरको गमन) करता है।

टीका

१-पूर्वप्रयोगका उदाहरणः—जैसे कुम्हार चाकको घुमाकर हाथ रोक लेता है तथापि वह चाक पूर्वके वेगसे घूमता रहता है, उसीप्रकार जीव भी संसार-अवस्थामें मोक्ष-प्राप्तिके लिये बारम्बार अभ्यास (उद्यम, प्रयत्न, पुरुषार्थ) करता था, वह अभ्यास छूट जाता है तथापि पूर्वके अभ्यासके संस्कारसे मुक्त जीवके ऊर्ध्वगमन होता है।

२—असंगका उदाहरणः-जिसप्रकार तूम्बेको, जबतक लेपका संयोग रहता है तबतक वह स्वके क्षणिक उपादानकी योग्यताके कारण पानीमें डूबा हुआ रहता है, किन्तु जब लेप

(मिट्टी) गलकर दूर हो जाती है तब वह पानीके ऊपर-स्वयं अपनी योग्यतासे आ जाता है, उसीप्रकार जबतक जीव संगसहित होता है तबतक अपनी योग्यतासे संसार-समुद्रमें डूबा रहता है और संगरहित होनेपर ऊर्ध्वगमन करके लोकके अग्रभागमें चला जाता है।

३—बन्धछेदका उदाहरण—जैसे एरंड वृक्षका सूखा फल-जब चटकता है तब वह बन्धनसे छूट जानेसे उसका बीज ऊपर जाता है, उसीप्रकार जीवकी पक्वदशा (मुक्त-अवस्था) होनेपर कर्मबन्धके छेदपूर्वक वह मुक्त जीव ऊर्ध्वगमन करता है।

४—ऊर्ध्वगमन स्वभावका उदाहरण—जिसप्रकार अग्निकी शिखा (लौ) का स्वभाव ऊर्ध्वगमन करना है अर्थात् हवाके अभावमें जैसे अग्नि (दीपकादि) की लौ ऊपरको जाती है उसीप्रकार जीवका स्वभाव ऊर्ध्वगमन करना है, इसलिये मुक्तदशा होनेपर जीव भी ऊर्ध्वगमन करता है ॥७॥

लोकाग्रसे आगे नहीं जानेका व्यवहार-कारण बतलाते हैं

धर्मास्तिकायाभावात् ॥८॥

अर्थ—[धर्मास्तिकायाभावात्] आगे (अलोकमें) धर्मास्तिकायका अभाव है अतः मुक्त जीव लोकके अन्ततक ही जाता है।

टीका

१—इस सूत्रका कथन निमित्तकी मुख्यतासे है। गमन करते हुये द्रव्योंको धर्मास्तिकाय द्रव्य निमित्तरूप है, यह द्रव्य लोकाकाशके बराबर है। वह यह बतलाता है कि जीव और पुद्गलकी गति ही स्वभावसे ऐसी है कि वह लोकके अन्ततक ही गमन करता है। यदि ऐसा न हो तो अकेले आकाशमें 'लोकाकाश' और 'अलोकाकाश' ऐसे दो भेद ही न रहें। लोक छह द्रव्योंका समुदाय है और अलोकाकाशमें एकाकी आकाशद्रव्य ही है। जीव और पुद्गल इन दो ही द्रव्योंमें गमन-शक्ति है, उनकी गति-शक्ति ही स्वभावसे ऐसी है कि वह लोकमें ही रहते हैं। गमनका कारण जो धर्मास्तिकाय द्रव्य है उसका अलोकाकाशमें अभाव है, वह यह बतलाता है कि गमन करनेवाले द्रव्योंकी उपादान शक्ति ही लोकके अग्रभाग तक गमन करने की है। अर्थात् वास्तवमें जीवकी अपनी योग्यता ही अलोकमें जानेकी नहीं है, अतएव वह अलोकमें नहीं जाता, धर्मास्तिकायका अभाव तो इसमें निमित्तमात्र है।

२—बृहद्द्रव्यसंग्रहमें सिद्धके अगुरुलघुगुणका कथन करते हुये बतलाते हैं कि—यदि सिद्धस्वरूप सर्वथा गुरु हो (भारी हो) तो लोहेके गोलेकी तरह उसका सदा अधःपतन होता

रहेगा अर्थात् वह नीचे ही पड़ा रहेगा । और यदि वह सर्वथा लघु (हलका) हो तो जैसे वायुके झकोरेसे आकके वृक्षकी रुई उड जाया करती है उसीप्रकार सिद्धस्वरूपका भी निरंतर भ्रमण होता ही रहेगा; परन्तु सिद्धस्वरूप ऐसा नहीं है, इसीलिये उसमें अगुरुलघुगुण कहा गया है । (वृहद्द्रव्यसंग्रह पृष्ठ-३८)

इस अगुरुलघुगुणके कारण सिद्ध जीव सदा लोकाग्रमें स्थित रहते हैं, वहांसे न तो आगे जाते हैं और न नीचे आते हैं ॥८॥

मुक्त जीवोंमें व्यवहारनयकी अपेक्षासे भेद बतलाते हैं—

क्षेत्रकालगतिलिंगतीर्थचारित्रप्रत्येकबुद्धबोधितज्ञानावगाहनान्तर-संख्याल्पबहुत्वतः साध्याः ॥९॥

अर्थः—[**क्षेत्रकालगतिलिंगतीर्थचारित्रप्रत्येकबुद्धबोधितज्ञानावगाहनांतरसंख्याल्पबहुत्वतः साध्याः**] क्षेत्र, काल, गति, लिंग, तीर्थ, चारित्र, प्रत्येकबुद्धबोधित, ज्ञान, अवगाहना, अन्तर, संख्या और अल्पबहुत्व—इन बारह अनुयोगों से [**साध्याः**] मुक्त जीवों (सिद्धों) में भी भेद सिद्ध किये जा सकते हैं ।

टीका

१—क्षेत्रः—ऋजुसूत्रनयकी अपेक्षासे (वर्तमानकी अपेक्षासे) आत्मप्रदेशोंमें सिद्ध होता है, आकाशप्रदेशोंमें सिद्ध होता है, सिद्धक्षेत्रमें सिद्ध होता है । भूत-नैगमनयकी अपेक्षासे पन्द्रह कर्मभूमियोंमें उत्पन्न हुए पुरुष ही सिद्ध होते हैं । पन्द्रह कर्मभूमियोंमें उत्पन्न हुए पुरुषको यदि कोई देवादि अन्य क्षेत्रमें उठाकर ले जाय तो अढ़ाई द्वीप प्रमाण समस्त मनुष्य-क्षेत्रसे सिद्ध होता है ।

२—काल—ऋजुसूत्रनयकी अपेक्षासे एक समयमें सिद्ध होता है । भूत-नैगमनयकी अपेक्षासे उत्सर्पिणी तथा अवसर्पिणी दोनों कालमें सिद्ध होता है; उसने अवसर्पिणी कालके तीसरे कालके अन्तभागमें चौथे कालमें और पाँचवें कालके प्रारम्भमें (जिसने चौथे कालमें जन्म लिया है ऐसा जीव) सिद्ध होता है । उत्सर्पिणी कालके 'दुषमसुषम- कालमें चौबीस तीर्थंकर होते हैं और उस कालमें जीव सिद्ध होते हैं (त्रिलोकप्रज्ञप्ति पृष्ठ ३५०); विदेह-क्षेत्रमें उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी ऐसे कालके भेद नहीं हैं । पंचमकालमें जन्मे हुए जीव सम्यग्दर्शनादि धर्म प्राप्त करते हैं किन्तु वे उसी भवसे मोक्ष प्राप्त नही करते । विदेहक्षेत्रमें उत्पन्न हुए जीव अढाई द्वीपके किसी भी भागमें सर्वकालमें मोक्ष प्राप्त करते हैं ।

३-गति—ऋजुसूत्रनयकी अपेक्षासे सिद्धगतिसे मोक्ष प्राप्त होता है, भूत नैगमनयकी अपेक्षासे मनुष्यगतिसे ही मोक्ष प्राप्त होता है।

४-लिंग—ऋजुसूत्रनयसे लिंग (वेद) रहित ही मोक्ष पाता है, भूतनैगमनयसे तीनों प्रकारके भाववेदमें क्षपकश्रेणी मांडकर मोक्ष प्राप्त करते हैं, और द्रव्यवेदमें तो पुरुषलिंग और यथाजातरूप लिंगसे ही मुक्ति प्राप्त होती है।

५-तीर्थ—कोई जीव तीर्थंकर होकर मोक्ष प्राप्त करते हैं और कोई सामान्य केवली होकर मोक्ष पाते हैं। सामान्य केवलीमें भी कोई तो तीर्थंकरकी मौजूदगीमें मोक्ष प्राप्त करते हैं और कोई तीर्थंकरोंके बाद उनके तीर्थमें मोक्ष प्राप्त करते हैं।

६-चारित्र—ऋजुसूत्रनयसे चारित्रके भेदका अभाव करके मोक्ष पाते हैं। भूतनैगमनयसे—निकटकी अपेक्षासे यथाख्यात चारित्रसे ही मोक्ष प्राप्त होता है, दूरकी अपेक्षासे सामायिक, छेदोपस्थापन, सूक्ष्मसांपराय तथा यथाख्यातसे और किसीके परिहारविशुद्धि हो तो उनसे—इन पाँच प्रकारके चारित्रसे मोक्ष प्राप्त होता है।

७-प्रत्येकबुद्धबोधित—प्रत्येकबुद्ध जीव वर्तमानमें निमित्तकी उपस्थितिके बिना अपनी शक्तिसे बोध प्राप्त करते हैं, किन्तु भूतकालमें या तो सम्यग्दर्शन प्राप्त हुआ तो तब या उससे पहले सम्यग्ज्ञानीके उपदेशका निमित्त हो, और बोधितबुद्ध जीव वर्तमानमें सम्यग्ज्ञानीके उपदेशके निमित्तसे धर्म पाते हैं। ये दोनों प्रकारके जीव मोक्ष प्राप्त करते हैं।

८-ज्ञान—ऋजुसूत्रनयसे केवलज्ञानसे ही सिद्ध होता है। भूतनैगमनयसे कोई मति, श्रुत इन दो ज्ञानसे, कोई मति, श्रुत, अवधि इन तीनसे, अथवा मति, श्रुत, मनःपर्ययसे और कोई मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय, इन चार ज्ञानसे (केवलज्ञानपूर्वक) सिद्ध होता है।

९-अवगाहना—किसीके उत्कृष्ट अवगाहना कुछ कम पाँचसौ पच्चीस धनुषकी, किसीके जघन्य साढ़े तीन हाथमें कुछ कम और किसीके मध्य अवगाहना होती है मध्यम अवगाहनाके अनेक भेद हैं।

१०-अन्तर—एक सिद्ध होनेके बाद दूसरा सिद्ध होनेका जघन्य अन्तर एक समयका और उत्कृष्ट अन्तर छह मासका है।

११-संख्या—जघन्यरूपसे एक समयमें एक जीव सिद्ध होता है उत्कृष्टरूपसे एक समयमें १०८ जीव सिद्ध होते हैं।

१२ अल्पबहुत्वः— अर्थात् संख्यामे हीनाधिकता। उपरोक्त ग्यारह भेदोमे अल्पबहुत्व होता है वह निम्न प्रकार है:—

(१) क्षेत्रः—संहरण सिद्धसे जन्म सिद्ध संख्यातगुणे हैं। समुद्र आदि जल क्षेत्रोसे अल्प सिद्ध होते है और महाविदेहादि क्षेत्रोसे अधिक सिद्ध होते हैं।

(२) कालः—उत्सर्पिणी कालमें हुए सिद्धोंकी अपेक्षा अवसर्पिणी कालमें हुए सिद्धोंकी संख्या ज्यादा है और इन दोनों कालके विना सिद्ध हुये जीवोंकी संख्या उनसे संख्यातगुनी है, क्योंकि विदेहक्षेत्रमे अवसर्पिणी या उत्सर्पिणीका भेद नही है।

(३) गतिः—सभी जीव मनुष्यगतिसे ही सिद्ध होते हैं, इसलिये इस अपेक्षामे गतिमें अल्पबहुत्व नहीं है; परन्तु एक गतिके अन्तरकी अपेक्षासे (अर्थात् मनुष्यभवसे पहिलेकी गतिकी अपेक्षासे) तिर्यंचगतिसे आकर मनुष्य होकर सिद्ध हुए ऐसे जीव थोड़े हैं—कम हैं, उनकी अपेक्षासे संख्यातगुने जीव मनुष्यगतिसे आकर मनुष्य होकर सिद्ध होते हैं, उससे संख्यातगुने जीव नरकगतिसे आकर मनुष्य हो सिद्ध होते हैं, और उससे संख्यातगुने जीव देवगतिसे आकर मनुष्य होकर सिद्ध होते हैं।

(४) लिंगः—भावनपुंसक वेदवाले पुरुष क्षपकश्रेणी माडकर सिद्ध हों ऐसे जीव कम है—थोड़े हैं। उनसे संख्यातगुने भावस्त्री वेदवाले पुरुष क्षपकश्रेणी मांडकर सिद्ध होते हैं और उससे संख्यातगुने भावपुरुष वेदवाले पुरुष क्षपकश्रेणी माडकर सिद्ध होते हैं।

(५) तीर्थः—तीर्थंकर होकर सिद्ध होनेवाले जीव अल्प हैं, और उनसे संख्यातगुने सामान्यकेवली होकर सिद्ध होते हैं।

(६) चारित्रः—पाँचों चारित्रसे सिद्ध होनेवाले जीव थोड़े हैं, उनसे संख्यातगुने जीव परिहारविशुद्धिके अलावा चार चारित्रसे सिद्ध होने वाले हैं।

(७) प्रत्येकबुद्धबोधितः—प्रत्येकबुद्ध सिद्ध होनेवाले जीव अल्प हैं, उनसे संख्यातगुने जीव बोधितबुद्ध होते हैं।

(८) ज्ञानः—मति, श्रुत इन दो ज्ञानसे केवलज्ञान प्राप्त कर सिद्ध होनेवाले जीव अल्प हैं, उनसे संख्यातगुने चार ज्ञानसे केवलज्ञान प्राप्तकर सिद्ध होते हैं और उनसे संख्यातगुने तीन ज्ञानसे केवलज्ञान उत्पन्न कर सिद्ध होते हैं।

(९) अवगाहनाः—जघन्य अवगाहनासे सिद्ध होनेवाले जीव थोड़े हैं, उनसे संख्यातगुने उत्कृष्ट अवगाहनासे और उनसे संख्यातगुने मध्यम अवगाहनासे सिद्ध होते हैं।

अन्तर—छह मासके अन्तरवाले सिद्ध सबसे थोड़े हैं और उनसे संख्यातगुने एक समयके अन्तरवाले सिद्ध होते हैं।

संख्या:—उत्कृष्टरूपमें एक समयमें एकसौ आठ जीव सिद्ध होते हैं, उनसे अनन्तगुने एक समयमें १०७ से लगाकर ५० तक सिद्ध होते हैं, उनसे असंख्यातगुने जीव एक समयमें ४९ से २५ तक सिद्ध होनेवाले हैं और उनसे संख्यातगुने एक समयमें २४ से लेकर १ तक सिद्ध होनेवाले जीव हैं।

इस तरह बाह्य निमित्तोंकी अपेक्षासे सिद्धोंमें भेदकी कल्पना की जाती है। वास्तवमें अवगाहना गुणके अतिरिक्त अन्य आत्मीय गुणोंकी अपेक्षासे उनमें कोई भेद नहीं है। यहाँ यह न समझना कि 'एक सिद्धमें दूसरा सिद्ध मिल जाता है—इसलिये भेद नहीं है।' सिद्धदशामें भी प्रत्येक जीव अलग-अलग ही रहते हैं, कोई जीव एक-दूसरेमें मिल नहीं जाते ॥ ९ ॥

उपसंहार

१—मोक्षतत्त्वकी मान्यता सम्बन्धी होनेवाली भूल और उसका निराकरण

कितने ही जीव ऐसा मानते हैं कि स्वर्गके सुखकी अपेक्षासे अनन्तगुना सुख मोक्षमें है। किन्तु यह मान्यता मिथ्या है, क्योंकि इस गुणाकारमें वह स्वर्ग और मोक्षके सुखकी जाति एक गिनता है। स्वर्गमें तो विषयादि सामग्री-जनित इन्द्रिय-सुख होता है, उसकी जाति उसे मालूम होती है, किन्तु मोक्षमें विषयादि सामग्री नहीं है इसलिये वहाँके अतीन्द्रिय सुखकी जाति उसे नहीं प्रतिभासती-मालूम होती। परन्तु महापुरुष मोक्षको स्वर्गसे उत्तम कहते हैं इसलिये वे अज्ञानी भी बिना समझे बोलते हैं। जैसे कोई गायनके स्वरूपको तो नहीं समझता किन्तु समस्त सभा गायनकी प्रशंसा करती है इसलिये वह भी प्रशंसा करता है, उसीप्रकार ज्ञानी जीव तो मोक्षका स्वरूप जानकर उसे उत्तम कहते हैं, इसलिये अज्ञानी जीव भी बिना समझे ऊपर बताये अनुसार कहता है।

प्रश्न:—यह किस परसे कहा जा सकता है कि अज्ञानी जीव सिद्धके सुखकी और स्वर्गके सुखकी जातिको एक जानता है—समझता है?

उत्तर:—जिस साधनका फल वह स्वर्ग मानता है उसी जातिके साधनका फल वह मोक्ष मानता है। वह यह मानता है कि इस जिसके अल्प साधन हों तो उससे इन्द्रादि पद मिलते हैं और जिसके वह साधन सम्पूर्ण हों वह मोक्ष प्राप्त करता है। इस प्रकार

दोनोंके साधनकी एक जाति मानता है, इसीसे यह निश्चय होता है कि उनके कार्यकी (स्वर्ग तथा मोक्षकी) भी एक जाति होनेका उसे श्रद्धान है। इन्द्र आदिको जो सुख है वह तो कषायभावोंसे आकुलतारूप है, अतएव परमार्थतः वह दुःखी है और सिद्धके तो कषायरहित अनाकुल सुख है। इसलिये दोनोंकी जाति एक नही है ऐसा समझना चाहिये। स्वर्गका कारण तो प्रशस्त राग है और मोक्षका कारण वीतरागभाव है। इसप्रकार उन दोनोंके कारणमे अन्तर है। जिन जीवोंके ऐसा भाव नहीं भासता उनके मोक्षतत्त्वका यथार्थ श्रद्धान नही है। (आधुनिक हिन्दी मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ-२३४)

२. अनादि-कर्मबंधन नष्ट होनेकी सिद्धि

श्री तत्त्वार्थसार अध्याय ८में कहा है किः—

आद्यभावान्न भावस्य कर्मबन्धनसंततेः।
अन्ताभावः प्रसज्येत दृष्टत्वादन्तबीजवत् ॥ ६ ॥

भावार्थः—जिस वस्तुकी उत्पत्तिका आद्य समय न हो वह अनादि कहा जाता है, जो अनादि हो उसका कभी अन्त नही होता। यदि अनादि पदार्थका अन्त हो जाय तो सत्का विनाश मानना पड़ेगा; परन्तु सत्का विनाश होना—यह सिद्धान्त और युक्तिसे विरुद्ध है।

इस सिद्धान्तसे, इस प्रकरणमें ऐसी शंका उपस्थित हो सकती है कि-तो फिर अनादि कर्मबन्धनकी संततिका नाश कैसे हो सकता है? क्योकि कर्मबन्धनका कोई आद्य-समय नही है इससे वह अनादि है, और जो अनादि हो उसका अन्त भी नही होना चाहिए, कर्मबन्धन जीवके साथ अनादिसे चला आया है अतः अनन्तकाल तक सदा उसके साथ रहना चाहिए, फलतः कर्मबन्धनसे जीव कभी मुक्त नही हो सकेगा।

इस शंकाके दो रूप हो जाते हैं—(१) जीवके कर्मबन्धन कभी नही छूटना चाहिए, और (२) कर्मत्वरूप जो पुद्गल हैं उनमें कर्मत्व सदा चलता ही रहना चाहिए; क्योंकि कर्मत्व भी एक जाति है और वह सामान्य होनेसे ध्रुव है। इसलिए उसकी चाहे जितनी पर्यायें बदलती रहें तो भी वे सभी कर्मरूप ही रहनी चाहिए। सिद्धान्त है कि "जो द्रव्य जिस स्वभावका हो वह उसी स्वभावका हमेशा रहता है"। जीव अपने चैतन्यस्वभावको कभी छोड़ता नही है और पुद्गल भी अपने रस-रूपादिक स्वभावको कभी छोड़ते नहीं हैं, इसीप्रकार अन्य द्रव्य भी अपने-अपने स्वभावको छोड़ते नही हैं, फिर कर्म ही अपने कर्मत्व स्वभावको कैसे छोड़ दें?

उपरोक्त शंकाका समाधान इसप्रकार है—जीवके साथ कर्मका सम्बन्ध संतति-प्रवाहकी अपेक्षा अनादिसे है किन्तु किसी एकके एक ही परमाणुका सम्बन्ध अनादिसे नहीं है, जीवके साथ प्रत्येक परमाणुका सम्बन्ध नियत कालतक ही रहता है। कर्मपिंडरूप परिणत परमाणुओंका जीवके साथ सम्बन्ध होनेका भी काल भिन्न भिन्न है और उनके छूटनेका भी काल नियत और भिन्न-भिन्न है। इतना सत्य है कि जीवको विकारी अवस्था में कर्मका संयोग चलता ही रहता है। संसारी जीव अपनी स्वयंकी भूलसे विकारी अवस्था अनादिसे करता चला आ रहा है अतः कर्मका सम्बन्ध भी संतति-प्रवाहरूप अनादिसे इसको है, क्योंकि विकार कोई नियतकालसे प्रारम्भ नहीं हुआ है अतः कर्मका सम्बन्ध भी कोई नियतकालसे प्रारम्भ नहीं हुआ है—इसप्रकार जीवके साथ कर्मका सम्बन्ध सन्तति-प्रवाहसे अनादिका कहा जाता है, लेकिन कोई एक ही कर्म अनादिकालसे जीवके साथ लगा हुआ चला आया हो—ऐसा उसका अर्थ नहीं है।

जिसप्रकार कर्मकी उत्पत्ति है उसीप्रकार उनका नाश भी होता है, क्योंकि—"जिसका संयोग हो उसका वियोग अवश्य होता ही है" ऐसा सिद्धान्त है। पूर्व कर्मके वियोगके समय यदि जीव स्वरूपमें सम्यक् प्रकार जागृतिके द्वारा विकारको उत्पन्न नहीं होने दे तो नवीन कर्मोंका बंध नहीं होगा। इसप्रकार अनादि कर्म-बन्धनका सन्ततिरूप प्रवाह निर्मूल नष्ट हो सकता है। उसका उदाहरण—जैसे बीज और वृक्षका सम्बन्ध संततिप्रवाहरूपसे अनादिका है, कोई भी बीज पूर्वके वृक्ष बिना नहीं होता। बीजका उपादानकारण पूर्व-वृक्ष और पूर्ववृक्षका उपादान पूर्व बीज, इसप्रकार बीज-वृक्षकी संतति अनादिसे होनेपर भी उस संततिका अन्त करनेके लिए अन्तिम बीजको पीस डालें या जला दें तो उसका संतति-प्रवाह नष्ट हो जाता है। उसीप्रकार कर्मोंकी संतति अनादिसे होनेपर भी कर्मनाशके प्रयोग द्वारा समस्त कर्मोंका नाश कर दिया जाय तो उनकी संतति निःशेष—नष्ट हो जाती है। पूर्वोपार्जित कर्मोंके नाशका और नये कर्मोंकी उत्पत्ति न होने देनेका उपाय संवर निर्जराके नववें अध्यायमें बताया है। इसप्रकार कर्मोंका सम्बन्ध जीवसे कभी नहीं छूट सकता-ऐसी शंका दूर होती है।

शंकाका दूसरा प्रकार यह है कि—कोई भी द्रव्य अपने स्वभावको छोड़ता नहीं है तो कर्मरूप पदार्थ भी कर्मत्वको कैसे छोड़ें? इसका समाधान यह है कि-कर्म कोई द्रव्य नहीं है, परन्तु वह तो संयोगरूप पर्याय है। जिस द्रव्यमें कर्मत्वरूप पर्याय होती है वह द्रव्य तो पुद्गलद्रव्य है और पुद्गलद्रव्यका तो कभी नाश होता नहीं है और वह अपने वर्णादि स्वभावको भी कभी छोड़ता नहीं है। पुद्गल द्रव्योंमें उनकी योग्यतानुसार शरीरादि तथा

जल, अग्नि, मिट्टी, पत्थर वगैरह कार्यरूप अनेक अवस्थाएं होती रहती हैं, और उनकी मर्यादा पूर्ण होनेपर वे विनाशको भी प्राप्त होती रहती हैं; उसीप्रकार कोई पुद्गल जीवके साथ एकक्षेत्रावगाह सम्बन्धरूप बन्धन अवस्था होनेरूप सामर्थ्य—तथा रागी जीवको रागादि होनेमें निमित्तपनेरूप होनेकी सामर्थ्यसहित जीवके साथ रहते हैं वहाँ तक उनको 'कर्म' कहते हैं। कर्म कोई द्रव्य नहीं है, वह तो पुद्गलद्रव्यकी पर्याय है, पर्यायका स्वभाव ही पलटना है, इसलिये कर्मरूप पर्यायका अभाव होकर अन्य पर्यायरूप होता रहता है।

पुद्गल द्रव्यकी कर्म-पर्याय नष्ट होकर दूसरी जो पर्याय हो वह कर्मरूप भी हो सकती है और अन्यरूप भी हो सकती है। किसी द्रव्यके उत्तरोत्तर कालमें भी उस द्रव्यकी एक समान ही योग्यता होती रहे तो उसकी पर्यायें एक समान ही होती रहेंगी, और यदि उसकी योग्यता बदलती रहे तो उसकी पर्यायें अनेक प्रकार भिन्न-भिन्न जातिकी होती रहेंगी। जैसे मिट्टीमें जिससमय घटरूप होनेकी योग्यता हो तब वह मिट्टी घटरूप परिणमती है और फिर वही मिट्टी पूर्व अवस्था बदलकर दूसरी बार भी घट हो सकती है। अथवा अपनी योग्यतानुसार कोई अन्य पर्यायरूप (-अवस्थारूप) भी हो सकती है। इसीप्रकार कर्मरूप पर्यायमें भी समझना चाहिये। जो 'कर्म' कोई अलग द्रव्य ही हो तो उसका अन्यरूप (अकर्मरूप) होना नहीं बन सकता, परन्तु 'कर्म' पर्याय होनेसे वह जीवसे छूट सकते हैं और कर्मपना छोड़कर अन्यरूप (-अकर्मरूप) हो सकते हैं।

३. इसप्रकार पुद्गल जीवसे कर्मरूप अवस्थाको छोड़कर अकर्मरूप घट-पटादिरूप हो सकते हैं यह सिद्ध हुआ। परन्तु जीवसे कुछ कर्मोंका अकर्मरूप हो जाने मात्रसे ही जीव कर्मरहित नहीं हो जाता, क्योंकि जैसे कुछ कर्मरूप पुद्गल कर्मत्वको छोड़कर अकर्मरूप हो जाते हैं वैसे ही अकर्मरूप अवस्थावाले पुद्गल जिनमें कर्मरूप होनेकी योग्यता हो, वह जीवके विकारभावकी उपस्थितिमें कर्मरूप हुआ करते हैं। जहांतक जीव विकारी भाव करे वहाँ तक उसकी विकारदशा हुआ करती है और अन्य पुद्गल कर्मरूप होकर उसके साथ बन्धनरूप हुआ करते हैं; इसप्रकार संसारमें कर्मशृङ्खला चलती रहती है। लेकिन ऐसा नहीं है कि—कर्म सदा कर्म ही रहें, अथवा तो कोई जीव सदा अमुक ही कर्मोंसे बंधे हुए ही रहें, अथवा विकारी दशामें भी सर्व कर्म सर्व जीवोंके छूट जाते हैं और सर्व जीव मुक्त हो जाते हैं।

४. इस तरह अनादिकालीन कर्मशृङ्खला अनेक काल तक चलती ही रहती है, ऐसा देखा जाता है; परन्तु शृङ्खलाओंका ऐसा नियम नहीं है कि जो अनादिकालीन हो वह अनन्तकाल तक रहना ही चाहिए, क्योंकि शृङ्खला संयोगसे होती है और संयोगका किसी न किसी समय वियोग हो सकता है। यदि वह वियोग आंशिक हो तो वह शृङ्खला चालू

रहती है, किन्तु जब उसका आत्यंतिक वियोग हो जाता है तब शृङ्खलाका प्रवाह टूट जाता है। जैसे शृङ्खला बलवान कारणोंके द्वारा टूटती है उसीप्रकार कर्मशृङ्खला अर्थात् संसार-शृङ्खला (संसाररूपी जंजीर) भी जीवके सम्यग्दर्शनादि सत्य पुरुषार्थके द्वारा निर्मूल नष्ट हो जाती है। विकारी शृङ्खलामें अर्थात् मलिन पर्यायमें अनन्तताका नियम नहीं है, इसी-लिये जीव विकारी पर्यायका अभाव कर सकता है। और विकारका अभाव करनेपर कर्मका सम्बन्ध भी छूट जाता है और उसका कर्मत्व नष्ट होकर अन्यरूपसे परिणमन हो जाता है।

५. अब आत्माके बन्धनकी सिद्धि करते हैं—

कोई जीव कहते हैं कि आत्माके बन्धन होता ही नहीं। उनकी यह मान्यता मिथ्या है, क्योंकि बिना बन्धनके परतन्त्रता नहीं होती। जैसे गाय, भैंस आदि पशु जब बन्धनमें नहीं होते तब परतन्त्र नहीं होते, परतन्त्रता बन्धनकी दशा बतलाती है, इसलिये आत्माके बन्धन मानना योग्य है। आत्माके यथार्थ बन्धन अपने निज विकारीभावका ही है, उसका निमित्त पाकर स्वतः जडकर्मका बन्धन होता है और उसके फलस्वरूप शरीरका संयोग होता है। शरीरके संयोगमें आत्मा रहती है, वह परतन्त्रता बतलाती है। यह ध्यान रहे कि कर्म, शरीर इत्यादि कोई भी परद्रव्य आत्माको परतन्त्र नहीं करते, किन्तु जीव स्वयं अज्ञानतासे स्वको परतन्त्र मानता है और पर-वस्तुसे निजको लाभ या नुकसान होता है—ऐसी विपरीत पकड़ करके परमें इष्ट-अनिष्टत्वकी कल्पना करता है। पराधीनता दुःखका कारण है। जीवको शरीरके ममत्वसे-शरीरके साथ एकत्वबुद्धिसे दुःख होता है। इसलिये जो जीव शरीरादि परद्रव्यसे अपनेको लाभ-नुकसान मानते हैं वे परतन्त्र ही रहते हैं। कर्म या परवस्तु जीवको परतन्त्र नहीं करती, किन्तु जीव स्वयं परतन्त्र होता है। इस तरह जहाँ तक अपनेमें अपराध, अशुद्धभाव किंचित् भी हो वहाँ तक कर्म-नोकर्मका सम्बन्धरूप बन्ध है।

६. मुक्त होनेके बाद फिर बंध या जन्म नहीं होता

जीवके मिथ्यादर्शनादि विकारी भावोंका अभाव होनेसे कर्मका कारण-कार्य सम्बन्ध भी टूट जाता है। जानना-देखना यह किसी कर्मबन्धका कारण नहीं किन्तु परवस्तुओंमें तथा राग-द्वेषमें आत्मीयताकी भावना बंधका कारण होती है। मिथ्याभावनाके कारण जीवके ज्ञान तथा दर्शन (श्रद्धान) को मिथ्याज्ञान तथा मिथ्यादर्शन कहते हैं। इस मिथ्यात्व आदि विकारभावके छूट जानेसे विश्वकी चराचर वस्तुओंका जानना-देखना होता है, क्योंकि ज्ञान-दर्शन तो जीवका स्वाभाविक असाधारण धर्म है। वस्तुके स्वाभाविक असाधारण धर्मका कभी नाश नहीं होता, यदि उसका नाश हो तो वस्तुका भी नाश हो जाय। इसलिए मिथ्यावासनाके अभावमें भी जानना देखना तो होता है, किन्तु अमर्यादित

वंधके कारण-कार्यका अभाव मिथ्यावासनाके अभावके साथ ही हो जाता है। कर्मके आनेके सब कारणोंका अभाव होनेके बाद भी जानना-देखना होता है तथापि जीवके कर्मोंका बंध नहीं होता और कर्मबन्ध न होनेसे उसके फलरूप स्थूल शरीरका संयोग भी नहीं मिलता; इसलिये उसके फिर जन्म नहीं होता। (देखो, तत्त्वार्थसार पृष्ठ ३६४)

७. वंध जीवका स्वाभाविक धर्म नहीं

यदि बन्ध जीवका स्वाभाविक धर्म हो तो वह बन्ध जीवके सदा रहना चाहिये; किन्तु वह तो संयोग-वियोगरूप है; इसलिये पुराने कर्म दूर होते हैं और यदि जीव विकार करे तो नवीन बंधते हैं। यदि बन्ध स्वाभाविक हो तो बन्धसे पृथक् कोई मुक्तात्मा हो नहीं सकता। पुनश्च, यदि बन्ध स्वाभाविक हो तो जीवोंमें परस्पर अन्तर न दिखे। भिन्न कारणके बिना एक जातिके पदार्थोंमें अन्तर नहीं होता, किन्तु जीवोंमें अन्तर देखा जाता है। इसका कारण यह है कि जीवोंका लक्ष भिन्न-भिन्न पर-वस्तु पर है। पर वस्तुएँ अनेक प्रकारकी होती हैं, अतः परद्रव्योंके आलंवनसे जीवकी अवस्था एक सदृश नहीं रहती। जीव स्वयं पराधीन होता रहता है, यह पराधीनता ही बन्धनका कारण है। जैसे बन्धन स्वाभाविक नहीं, उसीप्रकार वह आकस्मिक भी नहीं अर्थात् बिना कारणके उसकी उत्पत्ति नहीं होती। प्रत्येक कार्य अपने-अपने कारणके अनुसार होता है। स्थूलबुद्धिवाले लोग उसका सच्चा कारण नहीं जानते अतः अकस्मात् कहते हैं। बन्धका कारण जीवका अपराधरूप विकारीभाव है। जीवके विकारी भावोंमें तारतम्यता देखी जाती है, इसलिये वह क्षणिक है, अतः उसके कारणसे होनेवाला कर्मबन्ध भी क्षणिक है। तारतम्यता सहित होनेसे कर्मबन्ध शाश्वत नहीं। शाश्वत और तारतम्यता इन दोनोंके शीत और उष्णताकी तरह परस्पर विरोध है। तारतम्यताका कारण क्षणभंगुर है। जिसका कारण क्षणिक हो वह कार्य शाश्वत कैसे हो सकता है ? कर्मका बन्ध और उदय तारतम्यता सहित ही होता है, इसलिये बन्ध शाश्वतिक या स्वाभाविक वस्तु नहीं; इसलिये यह स्वीकार करना ही चाहिये कि बन्धके कारणोंका अभाव होनेपर पूर्व-बन्धकी समाप्ति पूर्वक मोक्ष होता है।

(देखो, तत्त्वार्थसार पृष्ठ ३६६)

८. सिद्धोंका लोकाग्रसे स्थानांतर नहीं होता

प्रश्नः—आत्मा मुक्त होनेपर भी स्थानवाला होता है। जिसको स्थान हो वह एक स्थानमें स्थिर नहीं रहता किन्तु नीचे जाता है अथवा विचलित होता रहता है, इसलिए मुक्तात्मा भी ऊर्ध्वलोकमें ही स्थिर न रहकर नीचे जाय अर्थात् एक स्थानसे दूसरे स्थानमें जाय—ऐसा क्यों नहीं होता ?

उत्तर—पदार्थमें स्थानांतर होनेका कारण स्थान नहीं है परन्तु स्थानान्तरका कारण तो उसकी क्रियावती शक्ति है। जैसे नावमें जब पानी आकर भरता है तब वह डगमग होती है और नीचे डूब जाती है, उसी प्रकार आत्मामें भी जब कर्मास्रव होता रहता है तब वह संसारमें डूबता है और स्थान बदलता रहता है, किन्तु मुक्त अवस्थामें तो जीव कर्मास्रवसे रहित हो जाता है, इसलिये ऊर्ध्वगमन स्वभावके कारण लोकाग्रमें स्थित होनेके बाद फिर स्थानांतर होनेका कोई कारण नहीं रहता।

यदि स्थानांतरका कारण स्थानको मानें तो कोई पदार्थ ऐसा नहीं है जो स्थानवाला न हो, क्योंकि जितने पदार्थ हैं वे सब किसी न किसी स्थानमें रहे हुए हैं और इसीलिये उन सभी पदार्थोंका स्थानांतर होना चाहिये। परन्तु धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, काल आदि द्रव्य स्थानांतर रहित देखे जाते हैं, अतः वह हेतु मिथ्या सिद्ध हो जाता है। अतः सिद्ध हुआ कि संसारी जीवके अपनी क्रियावती शक्तिके परिणमनकी उस समयकी योग्यता उस क्षेत्रांतरका मूल कारण है और कर्मका उदय तो मात्र निमित्तकारण है। मुक्तात्मा कर्मास्रवसे सर्वथा रहित हैं, अतः वे स्वस्थानसे विचलित नहीं होते। (देखो तत्त्वार्थसार पृष्ठ ३८७) पुनश्च, तत्त्वार्थसार अध्याय ८ की १२ वीं गाथामें बतलाया है कि गुरुत्वके अभावका लेकर मुक्तात्माका नीचे पतन नहीं होता।

६—जीवकी मुक्त दशा मनुष्य-पर्यायसे ही होती है और मनुष्य ढाई द्वीपमें ही होता है, इसीलिये मुक्त होनेवाले जीव (मोड बिना) सीधे ऊर्ध्वगतिसे स्थानमें जाते हैं। उसमें उन्हें एक ही समय लगता है।

१० अधिक जीव थोड़े क्षेत्रमें रहते हैं

प्रश्नः—सिद्धक्षेत्रके प्रदेश तो असंख्यात हैं और मुक्त जीव अनन्त हैं तो असंख्यात प्रदेशमें अनन्त जीव कैसे रह सकते हैं?

उत्तर—सिद्ध जीवोंके शरीर नहीं है और जीव सूक्ष्म (अरूपी) है, इसीलिये एक स्थान पर अनन्त जीव एक साथ रह सकते हैं। जैसे एक ही स्थानमें अनेक दीपकोंका प्रकाश रह सकता है उसी तरह अनन्त सिद्ध जीव एक साथ रह सकते हैं। प्रकाश तो पुद्गल है, पुद्गल द्रव्य भी इस तरह रह सकता है तो फिर अनन्त शुद्ध जीवोंके एक क्षेत्रमें साथ रहनेमें कोई बाधा नहीं।

११ सिद्ध जीवोंके आकार है?

कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि जीव अरूपी है इसलिये उसके आकार नहीं होता, यह

मान्यता मिथ्या है। प्रत्येक पदार्थमें प्रदेशत्व नामका गुण है, इसीलिये वस्तुका कोई न कोई आकार अवश्य होता है। ऐसी कोई चीज नहीं हो सकती जिसका आकार न हो। जो पदार्थ है उसका अपना आकार होता है। जीव अरूपी-अमूर्तिक है, अमूर्तिक वस्तुके भी अमूर्तिक आकार होता है। जीव जिस शरीरको छोड़कर मुक्त होता है उस शरीरके आकारसे कुछ न्यून आकार मुक्त दशामें भी जीवके होता है।

प्रश्नः—यदि आत्माके आकार हो तो उसे निराकार क्यों कहते हैं?

उत्तरः—आकार दो तरहका होता है—एक तो लम्बाई चौड़ाई मोटाईरूप आकार और दूसरा मूर्तिकरूप आकार। मूर्तिकतारूप आकार एक पुद्गल द्रव्यमें ही होता है अन्य किसी द्रव्यमें नहीं होता। इसीलिये जब आकारका अर्थ मूर्तिकता किया जावे तब पुद्गलके अतिरिक्त सर्व द्रव्योंको निराकार कहते हैं। इस तरह जीवमें पुद्गलका मूर्तिक आकार न होनेकी अपेक्षासे जीवको निराकार कहा जाता है। परन्तु स्वक्षेत्रकी लम्बाई चौड़ाई मोटाईकी अपेक्षासे समस्त द्रव्य आकारवान हैं। जब इस सद्भावसे आकारका सम्बन्ध माना जाय तो आकारका अर्थ लम्बाई चौड़ाई मोटाई ही होता है। आत्माके स्वका आकार है, इसीलिये वह साकार है।

संसारदशामें जीवकी योग्यता के कारण उसके आकारकी पर्यायें संकोच-विस्तारूप होती थीं। अब पूर्ण शुद्ध होने पर संकोच-विस्तार नहीं होता। सिद्धदशा होने पर जीवके स्वभावव्यंजनपर्याय प्रगट होती है और उसी तरह अनन्तकाल तक रहा करती है।

(देखो तत्त्वार्थसार पृष्ठ ३६८ से ४०६)

इसप्रकार श्री उमास्वामी विरचित मोक्षशास्त्रकी गुजराती टीकाका दसवें अध्यायका हिन्दी अनुवाद पूर्ण हुआ।



परिशिष्ट–१

इस मोक्षशास्त्रके आधारसे श्री अमृतचन्द्रसूरिने 'श्री तत्त्वार्थसार' शास्त्र बनाया है। उसके उपसंहारमें उस ग्रन्थका सारांश २३ गाथाओं द्वारा दिया है, वह इस शास्त्रमें भी लागू होता है, अतः यहाँ दिया जाता है—

ग्रन्थका सारांश

प्रमाणनयनिक्षेपनिर्देशादिसदादिभिः।
सप्ततत्त्वमिति ज्ञात्वा मोक्षमार्गं समाश्रयेत् ॥ १ ॥

अर्थः—जिन सात तत्त्वोंका स्वरूप पहले कहा गया है उसे प्रमाण, नय, निक्षेप, निर्देशादि तथा सत् आदि अनुयोगोंके द्वारा जानकर मोक्षमार्गका यथार्थरूपसे आश्रय करना चाहिये।

प्रश्नः—इस शास्त्रके पहले सूत्रका अर्थ निश्चयनय, व्यवहारनय और प्रमाण द्वारा क्या होगा?

उत्तरः—'जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रकी एकता है सो मोक्षमार्ग है'—इस कथनमें अभेदस्वरूप निश्चयनयकी विवक्षा है, अतः यह निश्चयनयका कथन जानना, मोक्षमार्गको सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्रके भेदसे कहना, इसमें भेदस्वरूप व्यवहारनयकी विवक्षा है, अतः यह व्यवहारनयका कथन जानना, और इन दोनोंका यथार्थ ज्ञान करना सो प्रमाण है। मोक्षमार्ग पर्याय है इसीलिये आत्माके त्रिकाली चैतन्यस्वभावकी अपेक्षासे यह सद्भूतव्यवहार है।

प्रश्न.—निश्चयनयका क्या अर्थ है?

उत्तरः—'सत्यार्थ इसी प्रकार है' ऐसा जानना सो निश्चयनय है।

प्रश्न.—व्यवहारनयका क्या अर्थ है?

उत्तरः—ऐसा जानना कि 'सत्यार्थ इस प्रकार नहीं है किन्तु निमित्तादिकी अपेक्षासे उपचार किया है' सो व्यवहारनय है। अथवा पर्यायभेदका कथन भी व्यवहारनयसे कथन है।

मोक्षमार्गका दो तरहसे कथन

निश्चयव्यवहाराभ्यां मोक्षमार्गो द्विधा स्थितः।
तत्राद्यः साध्यरूपः स्याद् द्वितीयस्तस्य साधनम् ॥ २ ॥

अर्थः—निश्चयमोक्षमार्ग और व्यवहारमोक्षमार्ग ऐसे दो तरहसे मोक्षमार्गका कथन

है । उसमें पहला साध्यरूप है और दूसरा उसका साधनरूप है ।

१. प्रश्नः—व्यवहारमोक्षमार्ग साधन है इसका क्या अर्थ है ?

उत्तरः—पहले रागरहित दर्शन-चारित्रका स्वरूप जानना और उसी समय राग धर्म नही या धर्मका साधन नहीं है ' ऐसा मानना । ऐसा माननेके बाद जब जीव रागको तोड़कर निर्विकल्प हो तब उसके निश्चयमोक्षमार्ग होता है और उसी समय रागसहित दर्शन-ज्ञान-चारित्रका व्यय हुआ उसे व्यवहारमोक्षमार्ग कहते हैं । इस रीतिसे 'व्यय' यह साधन है ।

२—इस सम्बन्ध श्री परमात्म-प्रकाशमें निम्नप्रकार बताया है—

प्रश्नः—निश्चयमोक्षमार्ग तो निर्विकल्प है और उस समय सविकल्प मोक्षमार्ग है नही, तो वह (सविकल्प मोक्षमार्ग) साधक कैसे होता है ?

उत्तरः—भूतनैगमनयकी अपेक्षासे परम्परासे साधक होता है अर्थात् पहले वह था किन्तु वर्तमानमें नहीं है तथापि भूतनैगमनयसे वह वर्तमानमें है ऐसा संकल्प करके उसे साधक कहा है (पृष्ठ १४२ संस्कृत टीका) इस सम्बन्धमें छठवें अध्यायके १८ वें सूत्रकी टीकाके पाँचवें पैरेमें दिये गये अन्तिम प्रश्न और उत्तरको पढ़ें ।

३—शुद्धनिश्चयनयसे शुद्धानुभूतिरूप वीतराग (-निश्चय) सम्यक्त्वका कारण नित्य-आनन्दस्वभावरूप निज शुद्धात्मा ही है । (परमात्मप्रकाश पृष्ठ १४५)

४—मोक्षमार्ग दो नहीं

मोक्षमार्ग तो कही दो नही हैं किन्तु मोक्षमार्गका निरूपण दो तरहसे है । जहाँ सच्चे मोक्षमार्गको मोक्षमार्ग निरूपण किया है वह निश्चय (यथार्थ) मोक्षमार्ग है; तथा जो मोक्षमार्ग तो नही है किन्तु मोक्षमार्गमें निमित्त है अथवा साथमें होता है उसे उपचारसे मोक्षमार्ग कहा जाता है, लेकिन वह सच्चा मोक्षमार्ग नही है ।

निश्चय मोक्षमार्गका स्वरूप

श्रद्धानाधिगमोपेक्षाः शुद्धस्य स्वात्मनो हि याः ।
सम्यक्त्वज्ञानवृत्तात्मा मोक्षमार्गः स निश्चयः ॥३॥

अर्थः—निज शुद्धात्माकी अभेदरूप श्रद्धा करना, अभेदरूपसे ही ज्ञान करना तथा अभेदरूपसे ही उसमें लीन होना—इसप्रकार जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र आत्मा है सो निश्चयमोक्षमार्ग है ।

व्यवहारमोक्षमार्गका स्वरूप

श्रद्धानाधिगमोपेक्षा याः पुनः स्युः परात्मना ।
सम्यक्त्वज्ञानवृत्तात्मा स मार्गो व्यवहारतः ॥४॥

अर्थ—आत्मामें जो सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र भेदकी मुख्यतासे प्रगट हो रहे हैं उस सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रयको व्यवहारमार्ग समझना चाहिये ।

नोट—निश्चय और व्यवहार मुक्तिमार्गका कथन दूसरे प्रकारसे आगेके सूत्र २१ में भी बतलाया है, अतः वह भी पढ़ना ।

व्यवहारी मुनिका स्वरूप

श्रद्धानः परद्रव्यं बुध्यमानस्तदेव हि ।
तदेवोपेक्षमाणश्च व्यवहारी स्मृतो मुनिः ॥५॥

अर्थ—जो परद्रव्यको (सात तत्त्वोंको, भेदरूपसे) श्रद्धा करता है, उसी तरह भेदरूपसे जानता है और उसी तरह भेदरूपसे उपेक्षा करता है उस मुनिको व्यवहारी मुनि कहते हैं ।

निश्चयी मुनिका स्वरूप

स्वद्रव्यं श्रद्धानस्तु बुध्यमानस्तदेव हि ।
तदेवोपेक्षमाणश्च निश्चयान्मुनिसत्तमः ॥६॥

अर्थ—जो स्व द्रव्यको ही श्रद्धामय तथा ज्ञानमय बना लेते हैं और जिनके आत्माकी प्रवृत्ति उपेक्षारूप ही हो जाती है ऐसे श्रेष्ठ मुनि निश्चयरत्नत्रययुक्त हैं ।

निश्चयीके अभेदका समर्थन

आत्मा ज्ञातृतया ज्ञानं सम्यक्त्वं चरितं हि सः ।
स्वस्थो दर्शनचारित्रमोहाभ्यामनुपप्लुतः ॥७॥

अर्थ—जो जानता है सो आत्मा है, ज्ञान जानता है इसीलिये ज्ञान ही आत्मा है । इसी तरह जो सम्यक् श्रद्धा करता है सो आत्मा है, श्रद्धा करनेवाला सम्यग्दर्शन है अतएव वही आत्मा है । जो उपेक्षित होता है सो आत्मा है । उपेक्षा गुण उपेक्षित होता है अतएव वही आत्मा है अथवा आत्मा ही वह है । यह अभेद रत्नत्रयस्वरूप है, ऐसी अभेदरूप स्वस्थदशा उनके ही हो सकती है कि जो दर्शनमोह और चारित्रमोहके उदयाधीन नहीं रहता ।

इसका तात्पर्य यह है कि मोक्षका कारण रत्नत्रय बताया है, उस रत्नत्रयको मोक्षका

कारण मानकर जहाँ तक उसके स्वरूपको जाननेकी इच्छा रहती है वहां तक साधु उस रत्नत्रयको विषयरूप (ध्येयरूप) मानकर उसका चिंतवन करता है; वह विचार करता है कि रत्नत्रय इसप्रकारके होते हैं। जहां तक ऐसी दशा रहती है वहाँ तक स्वकीय विचार द्वारा रत्नत्रय भेदरूप ही जाना जाता है, इसीलिये साधुके उस प्रयत्नको भेदरूप रत्नत्रय कहते हैं; यह व्यवहारकी दशा है। ऐसी दशामें निर्विकल्प अभेदरूप रत्नत्रय कभी हो नहीं सकता। परन्तु जहां तक ऐसी दशा भी न हो अथवा ऐसे रत्नत्रयका स्वरूप समझ न ले वहाँ तक उसे निश्चयदशा कैसे प्राप्त हो सकती है ? यह ध्यान रहे कि व्यवहार करते करते निश्चयदशा प्रगट ही नहीं होती।

यह भी ध्यान रहे कि व्यवहार दशाके समय राग है इसलिये वह दूर करने योग्य है, वह लाभदायक नही है। स्वाश्रित एकतारूप निश्चयदशा ही लाभदायक है, ऐसा यदि पहलेसे ही लक्ष हो तभी उसके व्यवहारदशा होती है। यदि पहलेसे ही ऐसी मान्यता न हो और उस रागदशाको ही धर्म या धर्मका कारण माने तो उसे कभी धर्म नहीं होता और उसके वह व्यवहारदशा भी नहीं कहलाती; वास्तवमें वह व्यवहाराभास है—ऐसा समझना। इसलिये रागरूप व्यवहारदशाको टालकर निश्चयदशा प्रगट करनेका लक्ष्य पहलेसे ही होना चाहिये।

ऐसी दशा हो जानेपर जब साधु स्वसन्मुखताके बलसे स्वरूपकी तरफ झुकता है तब स्वयमेव सम्यग्दर्शनमय-सम्यक्ज्ञानमय तथा सम्यक्चारित्रमय हो जाता है। इसीलिये वह स्वसे अभेदरूप रत्नत्रयकी दशा है और वह यथार्थ वीतरागदशा होनेके कारण निश्चय-रत्नत्रयरूप कही जाती है।

इस अभेद और भेदका तात्पर्य समझ जानेपर यह बात माननी पड़ेगी कि जो व्यवहाररत्नत्रय है वह यथार्थ रत्नत्रय नही है। इसीलिये उसे हेय कहा जाता है। यदि साधु उसीमें लगा रहे तो उसका तो व्यवहारमार्ग-मिथ्यामार्ग है, निरुपयोगी है। यों कहना चाहिये कि उन साधुओंने उसे हेयरूप न जानकर उपादेयरूप समझ रखा है। जो जिसे उपादेयरूप जानता और मानता है वह उसे कदापि नहीं छोड़ता; इसीलिये उस साधुका व्यवहारमार्ग-मिथ्यामार्ग है अथवा वह अज्ञानरूप संसारका कारण है।

पुनश्च, उसीप्रकार जो व्यवहारको हेय समझकर अशुभभावमें रहता है और निश्चयका अवलम्बन नहीं करता वह उभयभ्रष्ट (शुद्ध और शुभ दोनोंसे भ्रष्ट) है। निश्चयनयका अवलम्बन प्रगट नहीं हुआ और जो व्यवहारको तो हेय मानकर अशुभमें रहा करते हैं वे निश्चयके लक्ष्यसे शुभमें भी नहीं जाते, तो फिर वे निश्चय तक नहीं पहुँच सकेंगे—यह निर्विवाद है।

इस श्लोकमें अभेद रत्नत्रयका स्वरूप कृदन्त शब्दों द्वारा शब्दोंका अभेदत्व बताकर कर्तृभावसाधन सिद्ध किया। अब आगेके श्लोकोंमें क्रियापदों द्वारा कर्ताकर्मभाव आदिमें सब विभक्तियोंके रूप दिखाकर अभेद सिद्ध करते हैं।

निश्चयरत्नत्रयकी कर्ताके साथ अभेदता

पश्यति स्वस्वरूपं यो जानाति चरत्यपि।
दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमात्मैव स स्मृतः ॥८॥

अर्थ—जो निज स्वरूपको देखता है, निजस्वरूपको जानता है और निजस्वरूपके अनुसार प्रवृत्ति करता है वह आत्मा ही है, अतएव दर्शन-ज्ञान-चारित्र इन तीनोंरूप आत्मा ही है।

कर्मरूपके साथ अभेदता

पश्यति स्वस्वरूपं यं जानाति चरत्यपि।
दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमात्मैव तन्मयः ॥९॥

अर्थ—जिस निज स्वरूपको देखा जाता है, जाना जाता है और धारण किया जाता है वह दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रय है, परन्तु तन्मय आत्मा ही है इसलिये आत्मा ही अभेदरूपसे रत्नत्रयरूप है।

करणरूपके साथ अभेदता

दृश्यते येन रूपेण ज्ञायते चर्यतेऽपि च।
दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमात्मैव तन्मयः ॥१०॥

अर्थ—जो निजस्वरूप द्वारा देखा जाता है, निजस्वभाव द्वारा जाना जाता है, और निजस्वरूप द्वारा स्थिरता होती है वह दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रय है, वह कोई पृथक् पदार्थ नहीं है किन्तु तन्मय आत्मा ही है इसलिये आत्मा ही अभेदरूपसे रत्नत्रयरूप है।

सम्प्रदानरूपके साथ अभेदता

यस्मै पश्यति जानाति स्वरूपाय चरत्यपि।
दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमात्मैव तन्मयः ॥११॥

अर्थ—जो स्वरूपकी प्राप्तिके लिये देखता है, जानता है तथा प्रवृत्ति करता है वह दर्शन-ज्ञान-चारित्र नामवाला रत्नत्रय है, वह कोई पृथक् पदार्थ नहीं है परन्तु तन्मय आत्मा ही है अर्थात् आत्मा रत्नत्रयसे भिन्न नहीं किन्तु तन्मय ही है।

अपादानस्वरूपके साथ अभेदता

यस्मात् पश्यति जानाति स्वस्वरूपाच्चरत्यपि ।
दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमात्मैव तन्मयः ॥१२॥

अर्थ—जो निश्चयरूपसे देखता है, जानता है तथा जो निजस्वरूपसे वर्तता-रहता है, वह दर्शन-ज्ञान-चारित्रस्वरूप रत्नत्रय है, वह दूसरा कोई नहीं किन्तु तन्मय हुआ आत्मा ही है।

सम्बन्धस्वरूपके साथ अभेदता

यस्य पश्यति जानाति स्वस्वरूपस्य चरत्यपि ।
दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमात्मैव तन्मयः ॥१३॥

अर्थ—जो निजस्वरूपके संबंधको देखता है, निजस्वरूपके संबंधको जानता है तथा निजस्वरूपके संबंधकी प्रवृत्ति करता है, वह दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रय है। वह आत्मासे भिन्न अन्य कोई पदार्थ नहीं, किन्तु आत्मा ही तन्मय है।

आधारस्वरूपके साथ अभेदता

यस्मिन्न पश्यति जानाति स्वस्वरूपे चरत्यपि ।
दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमात्मैव तन्मयः ॥१४॥

अर्थ—जो निजस्वरूपमें देखता है, जानता है तथा निजस्वरूपमें स्थिर होता है, वह दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रय है। वह आत्मासे कोई भिन्न वस्तु नहीं, किन्तु आत्मा ही तन्मय है।

क्रियास्वरूपकी अभेदता

ये स्वभावाद् दृशिज्ञप्तिचर्यारूपक्रियात्मकाः ।
दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमात्मैव तन्मयः ॥१५॥

अर्थ—जो देखनेरूप, जाननेरूप तथा चारित्ररूप क्रियाएँ हैं वह दर्शन-ज्ञान चारित्र-रूप रत्नत्रय है, परन्तु ये क्रियाएँ आत्मासे कोई भिन्न पदार्थ नहीं, तन्मय आत्मा ही है।

गुणस्वरूपकी अभेदता

दर्शनज्ञानचारित्रगुणानां य इहाश्रयः
दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमात्मैव तन्मयः ॥१६॥

अर्थ—जो दर्शन, ज्ञान, चारित्र गुणोंका आश्रय है वह दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप

रत्नत्रय है। आत्मासे भिन्न दर्शनादि गुण कोई पदार्थ नहीं परन्तु आत्मा ही तन्मय हुआ मानना चाहिये अथवा आत्मा तन्मय ही है।

पर्यायोंके स्वरूपका अभेदत्व

दर्शनज्ञानचारित्रपर्यायाणां य आश्रयः ।
दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमात्मैव स स्मृतः ॥ १७ ॥

अर्थ—जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रमय पर्यायोंका आश्रय है वह दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रय है। रत्नत्रय आत्मासे भिन्न कोई पदार्थ नहीं है। आत्मा ही तन्मय होकर रहता है अथवा तन्मय ही आत्मा है। आत्मा उनसे भिन्न कोई पृथक् पदार्थ नहीं है।

प्रदेशस्वरूपका अभेदपन

दर्शनज्ञानचारित्रप्रदेशा ये प्ररूपिताः ।
दर्शनज्ञानचारित्रमयस्यात्मन एव ते ॥ १८ ॥

अर्थ—दर्शन-ज्ञान-चारित्रके जो प्रदेश बताये गये हैं वे आत्माके प्रदेशोंसे कहीं अलग नहीं हैं। दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप आत्माका ही वह प्रदेश है। अथवा दर्शन-प्रदेशरूप ही आत्मा है और वही रत्नत्रय है। जिस प्रकार आत्माके प्रदेश और रत्नत्रयके प्रदेश भिन्न-भिन्न नहीं हैं उसी प्रकार परस्पर दर्शनादि तीनोंके प्रदेश भी भिन्न नहीं हैं, अतएव आत्मा और रत्नत्रय भिन्न नहीं किन्तु आत्मा तन्मय ही है।

अगुरुलघुस्वरूपका अभेदपन

दर्शनज्ञानचारित्रागुरुलघ्वाह्वया गुणाः ।
दर्शनज्ञानचारित्रत्रयस्यात्मन एव ते ॥ १९ ॥

अर्थ—अगुरुलघु नामक गुण है, अतः वस्तुमें जितने गुण हैं वे सीमासे अधिक अपनी हानि-वृद्धि नहीं करते, यही सभी द्रव्योंमें अगुरुलघु गुणका प्रयोजन है। इस गुणके निमित्तसे समस्त गुणोंमें जो सीमाका उल्लंघन नहीं होता उसे भी अगुरुलघु कहते हैं, इसलिये यहां अगुरुलघुको दर्शनादिकका विशेषण कहना चाहिये।

अर्थात्—अगुरुलघुत्व प्राप्त होनेवाले जो दर्शन-ज्ञान-चारित्र हैं वे आत्मासे पृथक् नहीं हैं और परस्परमें भी वे पृथक्-पृथक् नहीं हैं। दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप जो रत्नत्रय है,

उसका वह (अगुरुलघु) स्वरूप है और वह तन्मय ही है इस तरह अगुरुलघुरूप रत्नत्रयमय आत्मा है. किन्तु आत्मा उससे पृथक् पदार्थ नहीं। क्योंकि आत्माका लगुरुलघु स्वभाव है और आत्मा रत्नत्रयस्वरूप है इसीलिये वह सर्व आत्मा अभिन्न हैं।

उत्पाद व्यय-ध्रौव्यस्वरूपकी अभेदता

दर्शनज्ञानचारित्रध्रौव्योत्पादव्ययास्तु ये ।
दर्शनज्ञानचारित्रमयस्यात्मन एव ते ॥ २० ॥

अर्थ—दर्शन-ज्ञान-चारित्रमें जो उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य है वह सब आत्माका ही है; क्योंकि जो दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रय है वह आत्मासे अलग नहीं है। दर्शन-ज्ञान-चारित्रमय ही आत्मा है अथवा दर्शन-ज्ञान-चारित्र आत्मामय ही है इसीलिये रत्नत्रयके जो उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य हैं, वह उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य आत्माके ही हैं। उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य भी परस्परमें अभिन्न ही हैं।

इस तरह यदि रत्नत्रयके जितने विशेषण हैं वे सब आत्माके ही हैं और आत्मासे अभिन्न हैं तो रत्नत्रयको भी आत्मस्वरूप ही मानना चाहिए।

इस प्रकार अभेदरूपसे जो निजात्माका दर्शन-चारित्र है वह निश्चयरत्नत्रय है, इसके समुदायको (एकताको) निश्चयमोक्षमार्ग कहते हैं, यही मोक्षमार्ग है।

निश्चय व्यवहार माननेका प्रयोजन

स्यात् सम्यक्त्वज्ञानचारित्ररूपः पर्यायार्थादेशतो मुक्तिमार्गः ।
एको ज्ञाता सर्वदैवाद्वितीयः स्याद् द्रव्यार्थादेशतो मुक्तिमार्गः ॥ २१ ॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्ररूप पृथक् पृथक् पर्यायों द्वारा जीवको जानना सो पर्यायार्थिकनयकी अपेक्षासे मोक्षमार्ग है और इन सब पर्यायोंमें ज्ञाता जीव एक ही सदा रहता है, पर्याय तथा जीवके कोई भेद नहीं है—इस प्रकार रत्नत्रयसे आत्माको अभिन्न जानना सो द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षासे मोक्षमार्ग है।

अर्थात्—रत्नत्रयसे जीव अभिन्न है अथवा भिन्न है ऐसा जानना सो द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिकनयका स्वरूप है; परन्तु रत्नत्रयमें भेदपूर्वक प्रवृत्ति होना सो व्यवहारमोक्षमार्ग है और अभेदपूर्वक प्रवृत्ति होना सो निश्चयमोक्षमार्ग है। अतएव उपरोक्त श्लोकका तात्पर्य यह है कि—

आत्माको प्रथम द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिकनय द्वारा जानकर पर्यायपरसे लक्ष्य

हटाकर अपने त्रिकाली सामान्य चैतन्यस्वभाव-जो शुद्ध द्रव्यार्थिकनयका ओर झुकनेसे शुद्धता और निश्चयरत्नत्रय प्रगट होता है।

नोट:—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिकनयसे जो मुक्तिमार्गका स्वरूप बतलाया है, ऐसा स्वरूप श्री प्रवचनसारकी गाथा २४२ तथा उसकी टीकामें भी बतलाया है।

तत्त्वार्थसार ग्रन्थका प्रयोजन

(वसन्ततिलका)

तत्त्वार्थसारमिति यः समधीर्विदित्वा,

निर्वाणमार्गमधितिष्ठति निष्प्रकम्पः।

संसारबन्धमवधूय स धूतमोह-

श्चैतन्यरूपमचलं शिवतत्त्वमेति ॥ २२ ॥

अर्थः—बुद्धिमान और उत्साहसे उपस्थित हुए जो जीव इस ग्रन्थको अथवा तत्त्वार्थके सारको ऊपर कहे गये भाव अनुसार समझकर निश्चलतापूर्वक मोक्षमार्गमें प्रवृत्त होगा वह जीव मोहका नाश कर संसार-बन्धनको दूर करके निश्चयचैतन्यस्वरूपी मोक्षतत्त्वको (शिवतत्त्वको) प्राप्त कर सकता है।

इस ग्रन्थके कर्ता पुद्गल हैं, आचार्य नहीं—

वर्णाः पदानां कर्तारो वाक्यानां तु पदावलिः।

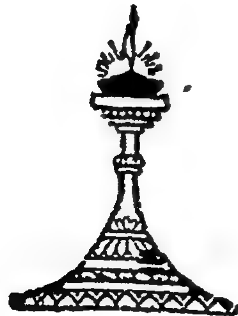
वाक्यानि चास्य शास्त्रस्य कर्तॄणि न पुनर्वयम् ॥ २३ ॥

अर्थ—वर्ण (अर्थात् अनादिसिद्ध अक्षरोंका समूह) इन पदोंके कर्ता हैं, पदावलि वाक्योंकी कर्ता है और वाक्योंने यह शास्त्र बनाया है। कोई यह न समझे कि यह शास्त्र मैंने (आचार्यने) बनाया है। (देखो, तत्त्वार्थसार पृष्ठ ४२१ से ४२८)

नोट:—(१) एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कर्ता नहीं हो सकता—यह सिद्धान्त सिद्ध करके यहाँ आचार्य भगवानने स्पष्टरूपसे बतलाया है कि जीव जड शास्त्रको नहीं बना सकता।

(२) श्री समयसारकी टीका, श्री प्रवचनसारकी टीका, श्री पंचास्तिकायकी टीका और श्री पुरुषार्थसिद्ध्युपाय शास्त्रके कर्तृत्वके सम्बन्धमें भी आचार्य भगवान श्री अमृतचन्द्रजी सूरिने बतलाया है कि—इस शास्त्रका अथवा टीकाका कर्ता पुद्गल द्रव्य है, मैं (आचार्य) नहीं। यह बात तत्त्वजिज्ञासुओंको विशेष ध्यानमें रखनेकी आवश्यकता है, अतः आचार्य भगवानने तत्त्वार्थसार पूर्ण करनेपर भी यह स्पष्टरूपसे बतलाया है। इसलिये पहले भेद-

विज्ञान प्राप्त कर यह निश्चय करना कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कुछ भी नहीं कर सकता। यह निश्चय करने पर जीवका स्वकी ओर ही झुकाव रहता है। अब स्वकी ओर झुकानेमें दो पहलू हैं। उनमें एक त्रिकाली चैतन्यस्वभावभाव जो परमपारिणामिकभाव कहा जाता है—वह है, और दूसरा स्वकी वर्तमान पर्याय। पर्यायपर लक्ष करनेसे विकल्प (राग) दूर नहीं होता, इसलिये त्रिकाली चैतन्यस्वभावकी तरफ झुकनेके लिये सर्व वीतरागी शास्त्रोंकी, और श्रीगुरुओंकी आज्ञा है। अतः उसकी तरफ झुकना और अपनी शुद्धदशा प्रगट करना यही जीवका कर्त्तव्य है। इसलिये तदनुसार ही सर्व जीवोंको पुरुषार्थ करना चाहिये। इस शुद्धदशाको ही मोक्ष कहते हैं। मोक्षका अर्थ निज-शुद्धताकी पूर्णता अथवा सर्व समाधान है। और वही अविनाशी और शाश्वत-सच्चा सुख है। जीव प्रत्येक समय सच्चा शाश्वत सुख प्राप्त करना चाहता है और अपने ज्ञानके अनुसार प्रवृत्ति भी करता है, किन्तु उसे मोक्षके सच्चे उपायकी खबर नहीं है, इसलिये दुःख (बन्धन) के उपायको सुखका (मोक्षका) उपाय मानता है। अतः विपरीत उपाय प्रति-समय किया करता है। इस विपरीत उपायसे पीछे हटकर सच्चे उपायकी ओर पात्र जीव झुकें और सम्पूर्ण शुद्धता प्रगट करें यह इस शास्त्रका हेतु है।



परिशिष्ट—२

प्रत्येक द्रव्य और उसकी प्रत्येक पर्यायकी स्वतंत्रताकी घोषणा

१—प्रत्येक द्रव्य अपनी-अपनी त्रिकाली पर्यायका पिंड है इसलिये वह तीनों कालकी पर्यायोंके योग्य है, और पर्याय प्रति-समयकी है, इसलिये प्रत्येक द्रव्य प्रत्येक समयमें उस-उस समयकी पर्यायके योग्य है और उस-उस समयकी पर्याय उस-उस समयमें होने योग्य है अतः होती है, किसी द्रव्यकी पर्याय आगे या पीछे होती ही नहीं।

२—मिट्टी द्रव्य (मिट्टीके परमाणु) अपने तीनों कालकी पर्यायोंके योग्य है तथापि यदि ऐसा माना जाय कि उसमें तीनों कालमें एक घड़ा होनेकी योग्यता है तो मिट्टी द्रव्य एक पर्याय जितना ही हो जायगा और उसके द्रव्यत्वका भी नाश हो जायगा।

३—जो यों कहा जाता है कि मिट्टी द्रव्य तीन कालमें घड़ा होनेके योग्य है सो परद्रव्यसे मिट्टीको भिन्न बतलाकर यह बतलाया जाता है कि मिट्टीके अतिरिक्त अन्य द्रव्य किसी कालमें मिट्टीका घड़ा होनेके योग्य नहीं है। परन्तु जिस समय मिट्टी द्रव्यका तथा उसकी पर्यायकी योग्यताका निर्णय करना हो तब यों मानना मिथ्या है कि 'मिट्टी द्रव्य तीनों कालमें घड़ा होनेके योग्य है, क्योंकि ऐसा माननेसे, मिट्टी द्रव्यकी अन्य जो-जो पर्यायें होती हैं उन पर्यायोंके होनेके योग्य मिट्टी द्रव्यकी योग्यता नहीं है तथापि होती है—ऐसा मानना पड़ेगा, जो सर्वथा असत् है। इसलिये मिट्टी मात्र घटरूप होने योग्य है—यह मानना मिथ्या है।

४—उपरोक्त कारणोंको लेकर यह मानना कि "मिट्टी द्रव्य तीनों कालमें घड़ा होनेके योग्य है और जहां तक कुम्हार न आवे वहां तक घड़ा नहीं होता"—यह मानना मिथ्या है, किन्तु मिट्टी द्रव्यकी पर्याय जिस समय घड़ेरूप होनेके योग्य है वह एक समयकी ही योग्यता है अतः उसी समय घड़ेरूप पर्याय होती है आगे-पीछे नहीं होती, और उस समय कुम्हार आदि निमित्त स्वयं स्वतः होते ही हैं।

५—प्रत्येक द्रव्य स्वयं ही अपनी पर्यायका स्वामी है अतः उसकी पर्याय उस-उस समयकी योग्यताके अनुसार स्वयं स्वतः हुआ ही करती है, इस तरह प्रत्येक द्रव्यकी अपनी पर्याय प्रत्येक समय उस उस द्रव्यके ही अधीन है, किसी दूसरे द्रव्यके आधीन वह पर्याय नहीं है।

६—जीव द्रव्य त्रिकाल पर्यायोंका पिंड है; इसलिये वह त्रिकाल वर्तमान पर्यायोंके योग्य है और प्रगट पर्याय एक समयकी है अतः उस–उस पर्यायके स्वयं योग्य है।

७—यदि ऐसा न माना जावे तो एक पर्यायमात्र ही द्रव्य हो जायगा। प्रत्येक द्रव्य अपनी पर्यायका स्वामी है अतः उसकी वर्तमानमें होनेवाली एक-एक समयकी पर्याय है वह उस द्रव्यके आधीन है।

८—जीवको पराधीन कहते हैं, इसका यह अर्थ नहीं है कि परद्रव्य उसे आधीन करता है अथवा परद्रव्य उसे अपना खिलौना बनाता है, किन्तु उस-उस समयकी पर्याय जीव स्वयं परद्रव्यकी पर्यायके आधीन होकर करता है। यह मान्यता मिथ्या है कि परद्रव्य या उसकी कोई पर्याय जीवको कभी भी आश्रय दे सकती है, उसे रमा सकती है, हैरान कर सकती है या सुखी-दुःखी कर सकती है।

९—प्रत्येक द्रव्य सत् है अतः वह द्रव्यसे, गुणसे और पर्यायसे भी सत् है और इसीलिये वह हमेशा स्वतंत्र है। जीव पराधीन होता है वह भी स्वतंत्ररूपसे पराधीन होता है। कोई परद्रव्य या उसकी पर्याय उसे पराधीन या परतंत्र नहीं बनाते।

१०—इस तरह श्री वीतरागदेवने संपूर्ण स्वतंत्रताकी घोषणा की है।



परिशिष्ट–३

साधक जीवकी दृष्टिको मापनेकी रीति

अध्यात्म-शास्त्रोंमें ऐसा नहीं कहा कि "जो निश्चय है सो मुख्य है"। यदि निश्चयका ऐसा अर्थ करें कि जो निश्चयनय है सो मुख्य है, तो किसी समय निश्चयनय मुख्य हो और किसी समय व्यवहारनय मुख्य हो, अर्थात् किसी समय 'द्रव्य' मुख्य हो और किसी समय 'गुण-पर्यायके भेद' मुख्य हों, लेकिन द्रव्यके साथ अभेद हुई पर्यायको भी निश्चय कहा जाता है। इसलिये निश्चय सो मुख्य न मानकर मुख्य सो निश्चय मानना चाहिये। और आगम-शास्त्रोंमें किसी समय व्यवहारनयको मुख्य और निश्चयनयको गौण करके कथन किया जाता है। अध्यात्म शास्त्रोंमें तो हमेशा 'जो मुख्य है सो निश्चयनय' है और उसीके आश्रयसे धर्म होता है—ऐसा समझाया जाता है और उसमें सदा निश्चयनय मुख्य ही रहता है। पुरुषार्थके द्वारा स्वमें शुद्ध पर्याय प्रगट करने अर्थात् विकारी पर्याय दूर करनेके लिये हमेशा निश्चयनय ही आदरणीय है। उस समय दोनों नयोंका ज्ञान होता है किन्तु धर्म प्रगट करनेके लिये दोनों नय कभी आदरणीय नहीं। व्यवहारनयके आश्रयसे कभी आंशिक धर्म भी नहीं होता, परन्तु उसके आश्रयसे तो राग-द्वेषके विकल्प ही उठते हैं।

छहों द्रव्य, उनके गुण और उनकी पर्यायोंके स्वरूपका ज्ञान करानेके लिये किसी समय निश्चयनयकी मुख्यता और व्यवहारनय की गौणता रखकर कथन किया जाता है और किसी समय व्यवहारनयको मुख्य करके तथा निश्चयनयको गौण करके कथन किया जाता है, स्वयं विचार करनेमें भी किसी समय निश्चयनयकी मुख्यता और किसी समय व्यवहार-नयकी मुख्यता की जाती है। अध्यात्म-शास्त्रमें भी जीव विकारी पर्याय स्वयं करता है इसलिये होती है और वह जीवके अनन्य परिणाम हैं—ऐसा व्यवहार द्वारा कहा और समझाया जाता है, किन्तु उस प्रत्येक समयमें निश्चयनय एक ही मुख्य और आदरणीय है ऐसा ज्ञानियोंका कथन है।

ऐसा मानना कि किसी समय निश्चयनय आदरणीय है और किसी समय व्यवहारनय आदरणीय है सो भूल है। तीनों काल अकेले निश्चयनयके आश्रयसे ही धर्म प्रगट होता है—ऐसा समझना।

प्रश्नः—क्या साधक जीवके नय होते ही नहीं ?

उत्तरः—साधक दशामें ही नय होते हैं। क्योंकि केवलीके तो प्रमाण है अतः उनके नय नहीं होते। अज्ञानी ऐसा मानते हैं कि व्यवहारनयके आश्रयसे धर्म होता है इसलिये उनको तो व्यवहारनय ही निश्चयनय होगया, इसलिये अज्ञानीके सच्चे नय नहीं होते। इस तरह साधक जीवके ही उनके श्रुतज्ञानमें नय होते हैं। निर्विकल्पदशाके अतिरिक्त कालमें जब उनके नयरूपसे श्रुतज्ञानका भेदरूप उपयोग होता है तब, और रागके शुभाशुभभावोंमें हो या स्वाध्याय, व्रत, नियमादि कार्योंमें हो तब जो विकल्प उठते हैं वह सब व्यवहारनयके विषय हैं, परन्तु उस समय भी उनके ज्ञानमें एक निश्चयनय ही आदरणीय (अतः उस समय व्यवहारनय है तथापि वह आदरणीय नहीं होनेसे) उनके शुद्धता बढ़ती है। इस तरह सविकल्पदशामें भी निश्चयनय आदरणीय है और जब व्यवहारनय उपयोगरूप हो तब भी ज्ञानमें उसी समय हेयरूपसे है; इस तरह निश्चय और व्यवहारनय—ये दोनों साधक जीवोंके एक ही समयमें होते हैं।

इसलिये यह मान्यता ठीक नहीं है कि साधक जीवोंके नय होते ही नहीं, किन्तु साधक जीवोंके ही निश्चय और व्यवहार दोनों नय एक ही साथ होते हैं। निश्चयनयके आश्रयके बिना सच्चा व्यवहारनय होता ही नहीं। जिसके अभिप्रायमें व्यवहारनयका आश्रय हो उसके तो निश्चयनय रहा ही नहीं, क्योंकि उसके तो व्यवहारनय ही निश्चयनय होगया।

चारों अनुयोगोंमें किसी समय व्यवहारनयकी मुख्यतासे कथन किया जाता है और किसी समय निश्चयनयको मुख्य करके कथन किया जाता है, किन्तु उन प्रत्येक अनुयोगमें कथनका सार एक ही है और वह यह है कि निश्चयनय और व्यवहारनय दोनों जानने योग्य हैं, किन्तु शुद्धताके लिये आश्रय करने योग्य एक निश्चयनय ही है और व्यवहारनय कभी भी आश्रय करने योग्य नहीं है—वह हमेशा हेय ही है—ऐसा समझना।

व्यवहारनयके ज्ञानका फल उसका आश्रय छोड़कर निश्चयनयका आश्रय करना है। यदि व्यवहारनयको उपादेय माना जाय तो वह व्यवहारनयके सच्चे ज्ञानका फल नहीं है। किन्तु व्यवहारनयके अज्ञानका अर्थात् मिथ्याज्ञानका फल है।

निश्चयनयका आश्रय करनेका अर्थ यह है कि निश्चयनयके विषयभूत आत्माके त्रिकाली चैतन्यस्वरूपका आश्रय करना और व्यवहारनयका आश्रय छोड़ना—उसे हेय समझना। इसका यह अर्थ है कि व्यवहारनयके विषयरूप विकल्प, परद्रव्य या स्वद्रव्यकी अपूर्ण अवस्थाकी ओरका आश्रय छोड़ना।

अध्यात्मका रहस्य

अध्यात्ममें जो मुख्य है सो निश्चय और जो गौण है सो व्यवहार, यह माप है, अतः इसमें मुख्यता सदा निश्चयनयकी ही है और व्यवहार सदा गौणरूपसे ही है। साधक जीवका यह माप है। साधक जीवकी दृष्टिको मापनेकी हमेशा यही रीति है।

साधक जीव प्रारम्भसे अन्ततक निश्चयनयकी मुख्यता रखकर व्यवहारको गौण ही करता जाता है, इसलिये साधकको साधकदशामें निश्चयकी मुख्यताके बलसे शुद्धताकी वृद्धि ही होती जाती है और अशुद्धता हटती ही जाती है। इस तरह निश्चयकी मुख्यताके बलसे ही पूर्ण केवलज्ञान होता है फिर वहां मुख्यता-गौणता नहीं होती और नय भी नहीं होते।

वस्तुस्वभाव और उसमें किस ओर झुके ?

वस्तुमें द्रव्य और पर्याय, नित्यत्व और अनित्यत्व इत्यादि जो विरुद्ध धर्मस्वभाव है वह कभी दूर नहीं होता। किन्तु जो दो विरुद्ध धर्म हैं उनमें एकके आश्रयसे विकल्प टूटता है और दूसरेके आश्रयसे राग होता है। अर्थात् द्रव्यके आश्रयसे विकल्प टूटता है और पर्यायके आश्रयसे राग होता है, इससे इन दो नयोंमें विरोध है। अब, द्रव्यस्वभावकी मुख्यता और अवस्थाकी-पर्यायकी गौणता करके जब साधक जीव द्रव्यस्वभावकी तरफ झुक गया तब विकल्प दूर होकर स्वभावमें अभेद होनेपर ज्ञान प्रमाण हो गया। अब यदि वह ज्ञान पर्यायको जाने तो भी वहां मुख्यता तो सदा द्रव्यस्वभावकी ही रहती है। इसतरह जो निज द्रव्यस्वभावकी मुख्यता करके स्व-सन्मुख होने पर ज्ञान प्रमाण हुआ वही द्रव्य-स्वभावकी मुख्यता साधक दशाकी पूर्णता तक निरन्तर रहा करती है। और जहां द्रव्य-स्वभावकी ही मुख्यता है वहां सम्यग्दर्शन से पीछे हटना कभी होता ही नहीं, इसलिये साधक जीवके सतत द्रव्यस्वभावकी मुख्यताके बलसे शुद्धता बढ़ते-बढ़ते जब केवलज्ञान हो जाता है तब वस्तुके परस्पर विरुद्ध दोनों धर्मोंको (द्रव्य और पर्यायको) एक साथ जानता है, किन्तु वहाँ अब एककी मुख्यता और दूसरेकी गौणता करके झुकना नहीं रहा। वहाँ सम्पूर्ण प्रमाणज्ञान हो जाने पर दोनो नयोंका विरोध दूर हो गया (अर्थात् नय ही दूर हो गये) तथापि वस्तुमें जो विरुद्ध धर्मस्वभाव हैं वह तो दूर नहीं होते।



८—संसारका मूल कारण मिथ्यादर्शन है। वह सम्यग्दर्शनके द्वारा ही दूर हो सकता है। बिना सम्यग्दर्शनके उत्कृष्ट शुभभावके द्वारा भी वह दूर नहीं हो सकता। संवर-निर्जरारूप धर्मका प्रारम्भ सम्यग्दर्शनसे ही होता है। सम्यग्दर्शन प्रगट होनेके बाद सम्यक्चारित्रमें क्रमशः शुद्धि प्राप्त होने पर श्रावकदशा तथा मुनिदशा कैसी होती है यह भी बतलाया है। यह भी बतलाया है कि मुनि बाईस परीषहोंपर विजय प्राप्त करते हैं। यदि किसी समय भी मुनि परीषह-जय न करें तो उनके बन्ध होता है, इस विषयका समावेश आठवें बन्ध अधिकारमें आ गया है और परीषह-जय ही संवर-निर्जरारूप है, अतः यह विषय नवमें अध्यायमें बतलाया है।

६—सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रकी एकताकी पूर्णता होने पर (अर्थात् संवर-निर्जराकी पूर्णता होने पर) अशुद्धताका सर्वथा नाश होकर जीव पूर्णतया जड़कर्म और शरीरसे पृथक् होता है और पुनरागमन रहित अविचल सुखदशा प्राप्त करता है, यही मोक्षतत्त्व है। इसका वर्णन दसवें अध्यायमें किया है।

इस प्रकार इस शास्त्रके विषयोंका संक्षिप्त सार है।

॥ मोक्षशास्त्र गुजराती टीकाका हिन्दी अनुवाद समाप्त हुआ ॥



लक्षण-संग्रह

